49

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक ३५

महाकवि धनञ्जयविरचित

द्विसन्धान महाकाव्य

[संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद सहित]

सम्पादक

प्रा० खुशालचन्द गोरावाला

एम० ए०, साहित्याचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २४९६ : विक्रम संवत् २०२७ : सन् १९७०

प्रथम संस्करण : मूल्य १५.००

प्रधान सम्पादकीय

संस्कृत भाषा का अर्थ-सामर्थ्य

संस्कृत भाषामें ऐसी उर्वरा सामर्थ्य है कि उसमें एक उक्ति एकसे अधिक अर्थों को व्यक्त करती है। सर्वप्रथम एक ही शब्द, चाहे वह क्रिया हो या संज्ञा, विभिन्न अर्थ रखता है जिसका सही निश्चय सन्दर्भके अनुसार किया जा सकता है। इस प्रकारके पद संस्कृत कोशोंमें, जिन्हें अनेकार्थ या नानार्थकोश कहा जाता है, संगृहीत हैं। दूसरे एक दीर्घ समस्त पद अक्षरोंके विभिन्न प्रकारसे वर्गीकृत वियोजित होनेपर भिन्न शब्दों और भिन्न अर्थोंको प्रकट करते हैं। तीसरे, एक एक संयुक्त पदकी विभिन्न प्रकारसे व्याख्या की जा सकती है और संयोजित शब्दों के सम्बन्धके अनुसार उनका अर्थ बदल जाता है।

संस्कृत कवियोंके निर्माणमें यह अनिवार्य उपस्करण था कि उन्हें शब्दकोश तथा व्याकरणके सूत्र कण्ठस्थ होने चाहिए। इस प्रकारसे दक्ष कवि (विदग्ध कवि) संस्कृतकी इस प्रकृतिका लाभ सहज ही ले सकता था। यह प्रवृत्ति उतनी ही पुरानी है जितना संस्कृतका उपयोग। जैसे 'इन्द्रशत्रु' इस समस्त पदमें स्वरचिह्न कैसे और क्यों सही सम्बन्ध अभिव्यक्त करते हैं। संस्कृतके इस पक्षने दोहरी अर्थवत्ता या श्लेषको तथा घुमावदार कथन या वक्रोक्तिको जन्म दिया जो काव्यालंकरण माने जाते थे जब मितव्ययिता और प्रभावकारी ढंगसे सुबन्धु और बाण जैसे नैसर्गिक प्रतिभाशाली कवियों द्वारा उपयोग किये गये।

सविशेष रूपसे दक्षता प्राप्त प्रतिभा तथा कतिपय कवियोंके श्रमपूर्ण प्रयत्नोंने संस्कृतके इस लचीलेपनको बेहिसाब हद तक विकृत किया है जिसका परिणाम संधान काव्योंमें स्पष्ट रूपसे देखा जाता है। राघवपाण्डवीय (१.३७-८, काव्यमाला, ६२; बम्बई १८९७) में कविराजने ठीक ही कहा है—

> प्रायः प्रकरणैक्येन विशेषण-विशेष्ययोः।
> परिवृत्त्या क्वचित्तद्वदुपमानोपमानयोः॥
> क्वचित्पदैश्च नानार्थैः क्वचिद्वक्रोक्तिभङ्गिभिः।
> विधास्यते मया काव्यं श्रीरामायणभारतम्॥

प्राप्त विवरणसे पता चलता है कि जब अकबर १५९२ ई० में कश्मीर जाते हुए लाहौर रुके तो उनके आमन्त्रण पर जिनचन्द्र सूरि उनकी विद्वत्सभामें गये। वहाँ उनके एक शिष्य समयसुन्दरने उनके द्वारा बनायी गयी एक कृति (अष्टलक्षार्थी ग्रन्थः) को बादशाहके सामने पढ़ा। यह अष्टलक्षी थी। उन्होंने बादशाहको स्पष्ट किया कि इसमें तीन साधारण संस्कृत शब्दोंका एक वाक्य है—'राजानो ददते सौख्यम्' जिसकी व्याख्या आठ लाख प्रकारसे की जा सकती है। यह कृति प्राप्य है तथा मुद्रित और प्रकाशित हो चुकी है (देखें भानुचन्द्रचरित, प्रस्तावना, पृष्ठ १३, सम्पा० एम० डी० देसाई, सिन्धी जैन सीरीज, संख्या १५, बम्बई १९४१)। सौ अर्थ देनेवाले एक पद्य, जिन्हें शतार्थी कहा जाता है, के उदाहरण उपलब्ध हैं, उदाहरणके रूपमें सोमप्रभ रचितको लिया जा सकता है (ई० ११७७-७९, एम० विन्टरनित्ज, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग २ पृष्ठ ५७३, तथा एच० डी० वेलणकर, जिनरत्नकोश, पूना १९४४, पृष्ठ ३७१)।

सन्धान काव्य

१—हेमचन्द्र (१०८९-११७२ ई०), जिनके द्वयाश्रय काव्य संस्कृत तथा प्राकृत दोनोंमें सुविदित हैं, वे एक सप्तसन्धान काव्य रचा बताते हैं (देखें जि० को० पृष्ठ ४१६), किन्तु अभी तक यह प्रकाशमें नहीं आया। इसी नामका एक और काव्य मेघविजयगणि (१७०३ ई०) द्वारा लिखित है। यह नौ सर्गों का एक संक्षिप्त काव्य है। इसके प्रत्येक श्लोकसे सात अर्थ निकलते हैं पाँच तीर्थंकरोंके तथा राम और कृष्ण

विषयक। यह जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला ३, बनारस १९१७ में प्रकाशित है। २—कवि शान्तिराज कृत स्वोपज्ञ टीका सहित पंचसंधान काव्य उपलब्ध है। जैन मठ कारकल (सा० क०) में इसकी दो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध बतायी जाती हैं। अब तक यह प्रकाशित नहीं हुआ है (देखें, कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची, बनारस १९४८, पृष्ठ २९१)। ३—चिदम्बर कृत राघव-पाण्डवीय-यादवीय (विन्टरनित्ज हि० ई० लि० भाग ३, आई, पृष्ठ ८३) त्रिसन्धान काव्य है, प्रत्येक पद्यसे तीन अर्थ निकलते हैं—एक रामायण से सम्बन्धित, दूसरा महाभारत तथा तीसरा भागवतपुराणसे सम्बन्धित।

द्विसन्धानकी विशेष लोकप्रियता

द्विसन्धान पद्धति अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित है और उसके कुछ नमूने हमारे समक्ष हैं। (१) नेमिनाथचरित एक साथ ऋषभ और नेमि जिनकी जीवनीको व्यक्त करनेवाला एक संस्कृत द्विसन्धानकाव्य है। धार नरेश भोजके समय १०३३ में द्रोणाचार्यके शिष्य सूराचार्यने इसकी रचना की थी (देखें जि० को० पृ० २१६)। (२) रामपालचरित काव्य सन्ध्याकरनन्दिने रचा है। इसके प्रत्येक पद्यके दो अर्थ हैं एक नायक नामसे सम्बन्धित, दूसरा राजा रामपालसे सम्बन्धित, जो ग्यारहवीं शताब्दीमें बंगालके शासक थे (विन्टरनित्ज, हि० इं० लि० भाग तीन, खण्ड १, पृष्ठ ८२)। (३) नाभेय-नेमिकाव्य (ईसवी बारहवीं शतीका प्रारम्भ अनुमानित) स्वोपज्ञ टीका युक्त एक द्विसन्धान काव्य है। इसके लेखक मुनिचन्द्र सूरिके प्रशिष्य तथा अजितदेव सूरिके शिष्य हेमचन्द्र सूरि हैं। कवि श्रीपालने, जो सिद्धराज तथा कुमारपाल राजाओंके समकालीन थे, इस रचनाको संशोधित किया था। इसमें ऋषभ तथा नेमि जिनके चरित्रका वर्णन है। (४) सूरि या पण्डित नामसे ज्ञात कविराज, जिनका सही नाम सम्भवतया माधव भट्ट था, कृत राघव-पाण्डवीय एक द्विसन्धान काव्य है। यह एक साथ रामायण तथा महाभारतकी कथा कहते हैं। जयन्तीपुरके कदम्बवंशीय नरेश कामदेव (११८३-९७ ई०) उनके आश्रयदाता थे, जिनकी उन्होंने खुलकर प्रशंसा की (१.१३)। उन्होंने उनकी तुलना धाराके मुंज (९७३-९५ ई०) से की है। उनका समय ईसाकी बारहवीं शतीका अन्तिम चरण माना जा सकता है। (५) हरदत्त जिनका समय निश्चित नहीं है, ने राघव-नैषधीयकी इस प्रकारकी पद्य रचना की है कि प्रत्येक पदके दो अर्थ हैं—एक रामसे सम्बन्धित, दूसरा नलसे सम्बन्धित। इस प्रकारकी कुछ और भी रचनाएँ हैं। (६) वेंकटाध्वरिन् कृत यादवराघवीय रामकी कथा कहती है, किन्तु उलटा पढ़नेपर कृष्ण कथा कहती है। (७) पार्वती रुक्मिणीयमें दो विवाहोंकी कहानी है—एक शिव और पार्वतीकी तथा दूसरी कृष्ण और रुक्मिणीकी (विंटरनित्ज, हि० इं० लि० भाग ३, आई, पृष्ठ ८३)।

धनंजय कृत द्विसन्धान

१—पाण्डुलिपियाँ तथा टीकाएँ—धनंजयकृत द्विसन्धानम् (द्विसं०) द्विसन्धानकाव्य अथवा राघव-पाण्डवीय (रा० पा०) यदि उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन द्विसन्धान न भी माना जाये तो भी प्राचीनोंमें-से एक अवश्य है। धनंजयके समय तक यह (द्विसन्धान) नाम पर्याप्त प्रचलित हो चुका होगा। इसकी पाण्डुलिपियाँ पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध हैं (जि० को० पृ० १८५, क० ता० ग्र० पृ० १२१-२) इसकी कतिपय टीकाओं का भी पता चलता है।

१—विनयचन्द्रके प्रशिष्य देवनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी।

२—पुष्पसेन शिष्य कृत टीका।

३—कवि देवर कृत टीका। वे रामभट (परवादि घरट्टके नामसे ख्यात) के पुत्र थे। यह उन्होंने अपने आश्रयदाता अरलु श्रेष्ठिन्के लिए लिखी थी। कहा जाता है कि इस टीका का नाम राघव पाण्डवीय-परीक्षा है। अरलु श्रेष्ठिन् कीर्ति कर्नाटकके एक बड़े व्यापारी तथा जैन धर्मके प्रति तीव्र आस्थावान् तथा जयाके पुत्र थे। उनमें नैसर्गिक अच्छे गुण थे तथा वे कवियोंके आश्रयदाता (संरक्षक) थे। देवरने प्रारम्भमें अमरकीर्ति, सिंहनन्दि, धर्मभूषण, श्री वर्धदेव तथा भट्टारकमुनिको नमस्कार किया है (जि० को०

पृ० १८५) तथा क० ता० ग्र० पृष्ठ १३१-२)। देवरकी टीकाकी एक प्रति ताडपत्र पर कन्नड लिपिमें जैन सिद्धान्त भवन, आरामें है (देखें, जैन हितैषी १५, पृ० १५३-५४)।

पूर्वप्रकाशन तथा यह संस्करण

धनंजय कृत द्विसन्धान सन् १८९५ में निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे काव्यमाला संख्या ४९ में बद्रीनाथ-की टीका, जो कि विनयचन्द्रके प्रशिष्य तथा देवनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्रकी टीकाका संक्षिप्तीकरण है, के साथ प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत संस्करणमें विनयचन्द्रके प्रशिष्य तथा देवनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी टीका शामिल की गयी है। प्रत्यक्ष ही काव्यमाला संस्करणमें दी गयी बद्रीनाथकी टीका इस टीका पर आधारित है। सूक्ष्म रूपसे तुलना करने पर पता चलता है कि बद्रीनाथने कतिपय विस्तारको छोड़ दिया तथा संक्षिप्त किया और अपना ध्यान मूलकी व्याख्या करनेमें अधिक रखा।

धनंजयकी कृतियाँ

परम्परानुसार धनंजयकी तीन कृतियाँ मानी जाती हैं : (१) विषापहार स्तोत्र (२) नाममाला तथा (३) द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय।

विषापहारस्तोत्र (काव्यमाला ७, बम्बई १९२६) ऋषभजिन की स्तुतिरूप लिखित एक ४० पद्यों (३९ उपजाति तथा अन्तिम पुष्पिताग्रा) की धार्मिक स्तुति है। यह पूर्ण रूपसे सरल शब्दावलीमें प्रभाव-कारी कल्पना और उपमाओंमें रची गयी है। अन्तिम पद्य श्लेषसे धनंजयका नामोल्लेख करता हुआ इस प्रकार है :

> वितरति विहिता यथाकथंचिज्जिन विनताय मनीषितानि भक्तिः।
> त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद् दिशति सुखानि यशो धनं जयं च ॥४०॥

दक्षिण कर्नाटकमें मूडबिद्रीके जैन मठमें इसकी एक संस्कृत टीका उपलब्ध है (देखें, क० ता० ग्र० पृष्ठ १९२-३)। सम्भवतया इसका नाम इसके १४वें श्लोकके प्रथम शब्दसे पड़ा और इस पद्यके साथ एक अनुश्रुति सम्बद्ध हो गयी कि इसका पाठ विषका नाश करता है। इसके कुछ विचार संकेत जोकि अपनी संचेतनामें पर्याप्त रूपसे परम्परागत हैं, आदिपुराणमें जिनसेनने तथा, सोमदेवने यशस्तिलकमें ग्रहण किये हैं (देखें प्रेमी कृत जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १०९, ff बम्बई १९५६)।

नाममाला (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५०) जिसे कुछ पाण्डुलिपियोंमें धनंजय निघण्टु भी कहा गया है, पर्यायवाची शब्दोंका एक संस्कृत शब्दकोश है। इन्हींके नामसे एक अनेकार्थनाममाला भी मानी जाती है। नाममालाके अन्तमें निम्नलिखित तीन पद्य हैं—

> प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
> द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥२०१॥
> कवेर्धनंजयस्येयं सत्कवीनां शिरोमणेः।
> प्रमाणं नाममालेति श्लोकानां हि शतद्वयम् ॥२०२॥
> ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात् तुषाराचल-
> स्थानस्थावरमीश्वरं सुरनदीव्याजात्तथा केशवम्।
> अप्यम्भोनिधिशायिनं जलनिधिध्वानोपदेशादहो,
> फूत्कुर्वन्ति धनंजयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः ॥२०३॥

कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें निम्नलिखित दो श्लोक सम्भवतया २०१ प्रमाण इत्यादिके बाद प्राप्त होते हैं :—

> जाते जगति वाल्मीकौ शब्दः कविरिति स्मृतः।
> कवी इति ततो व्यासे कवयश्चेति दण्डिनि ॥

कवयः कवयश्चेति बहुत्वं दूरमागतम् ।
विनिवृत्तं चिरादेतत् कलौ जाते धनंजये ॥

ये पद्य श्री एस० वी० वी० वीर राघवाचेरियरने अपने निबन्ध, जिसकी नीचे समीक्षा की गयी है, में पुनरुद्धृत किये हैं। यह एक मजेकी बात है कि पहला पद्य (तीसरे पादमें किंचित् अन्तरके साथ—व्यासे जाते कवी चेति) जल्हणने अपनी सूक्ति मुक्तावलि (बड़ौदा १९३८) में कालिदासका बताया है। इसमें दण्डिका सन्दर्भ है इसलिए यह कालिदासका बनाया नहीं हो सकता।

द्विसन्धानकी रचनासे धनंजयकी कवि-योग्यताएँ प्रमाणशास्त्रमें अकलंक तथा व्याकरणमें पूज्यपादके समकक्ष सिद्ध होती हैं, एक वास्तविक रत्नत्रय, सभी विशिष्ट तथा अप्रतिम। इन पद्योंमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि द्विसन्धान तथा नाममालाका लेखक एक ही व्यक्ति है। यह स्वाभाविक है कि एक कवि जिसका संस्कृत शब्दोंके समुद्रपर अधिकार हो, वह द्विसन्धान काव्य सहज ही लिख सकता है।

धनंजयका व्यक्तिगत परिचय

धनंजयने अपनेको अकलंक तथा पूज्यपादके समकक्ष बतानेके अतिरिक्त अन्य कोई परिचयात्मक जानकारी नहीं दी। द्विसन्धानकी टीकामें नेमिचन्द्रने द्विसन्धान सर्ग १८, श्लोक १४६ जिसमें अत्यधिक श्लेष है, के अनुसार निम्नलिखित परिचयात्मक विवरण निकाला है। धनंजय वासुदेव तथा श्रीदेवीके पुत्र थे। उनके गुरुका नाम दशरथ था। वे दशरूपकके लेखकसे भिन्न हैं।

धनंजय तथा उनकी कृतियोंके विषयमें सन्दर्भ

धनंजय तथा उनके काव्यको पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त हुई है और उनकी कविताको वह वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है कि वह द्विसन्धान कवि कहलाने लगे। द्विसन्धान शब्द या नाम दण्डि (७वीं शताब्दी अनुमानित) जितना प्राचीन तो प्रतीत होता ही है, तथा भोजके निम्नलिखित उद्धरण स्पष्ट बताते हैं कि धनंजयकी तरह दण्डिने भी द्विसन्धान प्रबन्ध रचा था, जो यद्यपि हमें उपलब्ध नहीं हुआ। सम्भवतया काव्यादर्श और दश-कुमारचरितके अतिरिक्त यह उनका तीसरा ग्रन्थ था।

जैसा कि आर० जी० भण्डारकर (नीचे देखें) ने स्पष्ट किया है कि वर्धमान (११४१-११४९ ई०) ने अपने गुणरत्नमहोदधि पृष्ठ ४३५, ४०९ तथा ९७ एगलिंग एडीशनमें धनंजय कृत द्विसन्धानके पद्य ४।६, ९।५१ तथा १८।२२ उद्धृत किये हैं।

भोज (११वीं शती ईसवीका मध्य) के अनुसार द्विसन्धान उभयालंकारके कारण होता है। यह तीन प्रकारका है—वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध। प्रथम वाक्यगत श्लेष है, द्वितीय अनेकार्थक स्थिति है तथा तीसरा राघवपाण्डवीयकी तरह पूरा काव्य दो कथाओंको कहने वाला है। भोजने यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि दण्डिने रामायण तथा भारतकी कथा पर द्विसन्धान काव्यकी रचना की थी।

तृतीयस्य यथा दण्डिनो धनंजयस्य वा द्विसन्धानप्रबन्धौ रामायणमहाभारतावर्थावनुबध्नाति। जिल्द २, पृष्ठ ४४४ (वी० राघवन्, भोजकृत—शृंगारप्रकाश, पृ० ४०६, मद्रास, १९६३) हमारे लिए सर्वाधिक रुचिकर यह है कि भोजने धनंजय और उनके द्विसन्धानका उल्लेख किया है। साथ साथ दण्डिके द्विसन्धान-प्रबन्ध का उल्लेख है।

प्रभाचन्द्र (११वीं शती ईसवी) अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (निर्णयसागर संस्करण, बम्बई १९१२, पृ० ११६, पंक्ति एक, बम्बई १९४१ पृ० ४०२)।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तदविशिष्टवैदिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तिरपि प्रसिद्धेर-श्रुतकाव्यादिवत्। तत्र प्रतिपत्तावतीन्द्रियार्थदर्शिना किंचित्प्रयोजनमित्यप्यसारम्। लौकिकवैदिकपदानामेकत्वे-ऽप्यनेकार्थत्वव्यवस्थितेरन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः। न च प्रकरणादिभ्यस्तन्नियमस्तेषा-मप्यनेकप्रवृत्तिर्द्विसन्धानादिवत्।

वादिराजने १०२५ ई० में लिखे अपने पार्श्वनाथचरित (बम्बई, १९२६) में धनंजय तथा एकसे अधिक सन्धानमें उनकी प्रवीणताका उल्लेख किया है (१।२६)।

अनेकभेदसंधाना खनन्तो हृदये मुहुः ।
बाणा धनंजयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम् ॥

जैसा कि के० बी० पाठकने स्पष्ट किया है, दुर्गसिंह (१०२५ ई० अनुमानित) ने अपने कन्नड़ पंचतन्त्र (मैसूर १८९८) में धनंजयके राघवपाण्डवीयका इन शब्दोंमें उल्लेख किया है—

अनुपमकविव्रजं जी-
येने राघवपाण्डवीय पेळदु यशो-
वनिताधीश्वरनादं
धनंजयं वाग्वधूप्रियं केमळने ॥८॥

डॉक्टर बी० एस० कुलकर्णी, धारवाड़, ने सूचित किया है कि आरा स्थित पंचतन्त्रकी ताडपत्रीय प्रतिमें पूर्ववर्ती कवियोंका उल्लेख करने वाले ये सब पद्य नहीं हैं।

विद्वानोंमें इस विषयमें मतभेद है कि एक ही नागवर्मा हुए अथवा विभिन्न समयोंमें दो नागवर्मा (९९० तथा ११४५ ई० अनुमानित)। उनके बताये जाने वाले इस या उस ग्रन्थोंके नामसे (कर्णाटक कविचरित, बेंगलोर, १९६१, पृ० ५३, १५४ ई०) कन्नड़में छन्दःशास्त्र पर लिखित उनके छन्दोम्बुधि ग्रन्थमें निम्नलिखित पद्य मिलते हैं।

जितबाणं हरियंतधःकृतमयूरं तारकारातियंततिमाघं शिशिरांत्यदंते सुरपप्रोच्चंडकोदंडदं- ।
ते तिरोभूतगुणाढ्यनब्जभवनदंताविर्भवद्‌डिभारतदंतात्तधनंजयैकविभवं वाग्गुंफदोलनाकिगं ॥

यहाँ पूर्वकवियोंमें धनंजयका उल्लेख किया गया है। आर० नरसिंहाचार्यका मत है कि यह द्विसन्धान के रचयिता धनंजयका उल्लेख है, किन्तु ए० वेंकटसुब्बय्याका मत है कि दशरूपककार धनंजयका उल्लेख अभिप्रेत है।

जल्हण (१२५७ ई० अनुमानित) ने अपनी सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखर (९०० ई० अनुमानित) के मुँहसे धनंजयके विषयमें निम्नलिखित पद्य कहा है (गा० ओ० सी० सं०, ८२, बड़ौदा १९३८, पृष्ठ ४६)

द्विसन्धाने निपुणतां स तां चक्रे धनंजयः ।
यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनंजयः ॥

यह लेखकके नामका धन तथा जय रूपमें पृथक्करण ठीक वैसा ही है जैसा स्वयं धनंजयने अपने काव्यमें किया है।

जैसा कि डॉ० हीरालाल जैनने षट्खण्डागम धवलाटीका सहित, जिल्द १, अमरावती १९३८, प्रस्तावना पृ० ६२, वीरसेन (वही जिल्द ६, पृ० १४) ने इति की व्याख्यामें उपयोगी एक पद्य उद्धृत किया है। यह ठीक वैसा ही है जैसा धनंजयकृत नाममाला का ३९वाँ पद्य।

धनंजयका समय

उपर्युक्त सन्दर्भ हमें धनंजयका समय निर्धारित करनेमें मदद करते हैं। अकलंक (७-८वीं शती ईसवी) तथा वीरसेन जिन्होंने ८१६ ईसवीमें अपनी धवला टीका पूर्ण की थी, के मध्यमें हुए। धनंजयका समय ८०० ईसवी अनुमानित निर्धारित किया जा सकता है। किसी भी प्रकार वह भोज (११वीं शतीका मध्य) जिन्होंने स्पष्ट रूपसे उनका तथा उनके द्विसन्धानका उल्लेख किया है, से बादके नहीं हो सकते।

द्विसन्धानकाव्य

धनंजयकृत द्विसन्धानमें १८ सर्ग हैं तथा कुल श्लोक संख्या ११०५ जो कि विभिन्न छन्दोंमें लिखे गये हैं (सूची अन्तमें)। प्रारम्भिक मंगल पद्यमें मुनिसुव्रत या नेमिका स्मरण किया है, उसके बाद सरस्वती की प्रशंसा की गयी है। दिगम्बर जैन लेखकोंकी यह सामान्य प्रवृत्ति है कि कथा राजा श्रेणिकके लिए गौतम द्वारा कही गयी बतायी जाती है। लेखकने घटनाओंके वर्णन की अपेक्षा विशिष्ट वर्णनों पर अधिक बल दिया है। अधिकांश श्लोक अलंकारयुक्त हैं और टीकाकारने उनको पूरी तरह अंकित किया है। अन्तिम अध्याय

(विशेष रूपसे श्लोक संख्या ४३ से आगे) में लेखकने अनेक शब्दालंकारोंका चित्रांकन किया है, जैसा कि भारवि, माघ तथा अन्य कवियोंमें समान रूपसे मिलता है; श्लोक संख्या १४३ सर्वगत प्रत्यागतका उदाहरण है। यह मान कर कि सर्गोके अन्तमें दिये हुए पुष्पिकावाक्य (१, २, १६वें सर्गोंमें उपलब्ध नहीं हैं) लेखकके स्वयंके हैं, यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना नाम धनंजय, या धनंजय कवि, अथवा द्विसन्धान-कवि दिया है तथा अपनी कृतिको द्विसन्धान काव्य अथवा अपर नाम राघवपाण्डवीय महाकाव्य कहा है। प्रत्येक सर्गके अन्तमें अन्तिम पद्यमें श्लेषसे अपना नाम धनंजय दिया है जैसा कि विषापहार स्तोत्रमें। इसका अनुकरण राजशेखरके नामसे अभिहित पद्यमें जल्हणने किया है।

यदि द्विसन्धान नाम रचना पद्धतिको व्यक्त करता है, जैसे प्रत्येक श्लोकके दो अर्थ या व्याख्या की जा सकती है, तो दूसरा नाम राघवपाण्डवीय काव्यकी विषयवस्तुका आभास देता है कि यह एक साथ राम तथा पाण्डवोंकी कथा कहता है। इन दोनोंसे सम्बद्ध कथा-परम्परा भारतीय सांस्कृतिक विरासतका एक ऐसा अपरिहार्य अंग है कि कोई भी कवि जो एक साथ दो विषय लेना चाहता है, उस ओर अभिमुख होता है, विशेषतया इसलिए कि उन दोनोंका वर्णन करने वाले तथा वैकल्पिक चुनाव प्रस्तुतिकरणके लिए बड़ी संख्यामें विस्तृत विवरण प्रदान करने वाले महाकाव्य उपलब्ध हैं। राघवपाण्डवीय नाम पर्याप्त प्रचलित है। धनंजयके अतिरिक्त कविराज, श्रुतकीर्ति आदि कवियोंने इसे चुना है तथा इसी तरहके शीर्षक राघव-यादवीय, राघव-पाण्डव-यादवीय उपलब्ध हैं।

धनंजयके काव्यका प्रथम शीर्षक द्विसन्धान है और दण्डिके बाद वह इस विधाके पुरस्कर्ता प्रतीत होते हैं : राघव-पाण्डवीय मात्र दूसरा शीर्षक है।

धनंजय तथा कविराज कृत राघव-पाण्डवीय

धनंजय तथा कविराजके काव्यकी तुलना रुचिकर है। धनंजयके काव्यका एक नाम राघव-पाण्डवीय है जो कि कविराजके काव्यका मूल शीर्षक है। धनंजयके काव्यमें अठारह सर्ग तथा ११०५ पद्य हैं, जब कि कविराजके काव्यमें तेरह सर्ग तथा ६६४ पद्य हैं। धनंजयने श्लेषसे अपने नामका उल्लेख किया है जब कि कविराजने प्रत्येक सर्गके अन्तिम पद्यमें अपने आश्रयदाता कामदेवका नामोल्लेख किया है। वास्तवमें उनका काव्य कामदेवांक है। इन दोनों काव्योंकी विषयवस्तुकी पूर्ण तुलना एक प्रबन्धका विषय है। साधारणतया पढ़ने पर लगता है कि इन दोनों काव्योंमें कोई बहुत बड़ी समानता नहीं है। धनंजयमें वर्णन अधिक है जब कि कविराजने श्लेषकी बाध्यताके बावजूद अपनी कथाके विवरणोंको सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है (देखें १.५४, ६९ आदि)। जहाँ तक श्लेषका सम्बन्ध है कविराज भाषा पर अधिक योग्यता तथा अधिकार व्यक्त करते हैं। धनंजयका काव्य सर्वोच्च काव्यका प्रतीक स्मारक कहा जाता है, निःसन्देह उनका पाण्डित्य विशाल है, विशेषरूपसे नीतिशास्त्रका और उनके कतिपय अर्थान्तरन्यास वास्तवमें गम्भीर एवं प्रभावकारी हैं। कविराजकी शैली सहज तथा संक्षिप्त है जबकि धनंजयने प्रायः कठिन संस्कृत लिखी है, जिसे समझनेके लिए प्रायः प्रयत्नकी अपेक्षा होती है। उनके वर्णनोंकी प्रस्तुतिमें द्व्यर्थक श्लोक बहुत कम हैं जब कि कविराजकी रचनामें यह सामान्य बात है। जहाँ तक हमने देखा है इन दोनों काव्योंमें किंचित् ही ऐसा होगा जिसे एक दूसरेका अनुकरण कहा जा सके।

श्रुतकीर्ति और उनका राघव-पाण्डवीय

एक और कवि हैं श्रुतकीर्ति त्रैविद्य जिन्होंने गत-प्रत्यागत पद्धतिसे राघव-पाण्डवीयकी रचना की, जो विद्वानोंके लिए आश्चर्य और औत्सुक्यको वस्तु है, जैसा कि नागचन्द्र या अभिनव पम्पने अपने कन्नडमें लिखित रामचन्द्रचरित पुराण (पाण्डुलिपि) या पम्परामायण (१.२४-५, बंगलोर, १९२१) लिखा है—

> आर्वौ वादिकथात्रयप्रवणदोळ् विद्वज्जनं मेच्चे वि-
> द्यावष्टंभमनप्पुकेय्दु परवादिक्षोणिभृत्पक्षभं।
> देवेंद्रं कडितंदर्दिदे कडिदं स्याद्वादविद्यास्त्रदि
> त्रैविद्यश्रुतकीर्ति दिव्यमुनिवोळ् विख्यातियं ताळ्दिदं ॥२४॥

श्रुतकीर्तित्रैविद्यव्रति राघवपाण्डवीयमं विबुधचमत्-
कृतियेनिसि गतप्रत्या-
गतदिं तेळ्दमळकीर्तियं प्रकटिसिदं ॥२५॥

ये दो पद्य श्रवणबेलगोलके एक शिलालेख संख्या ४० सी ६४, सन् ११६३ ई० में उद्धृत हैं। इन श्रुतकीर्ति त्रैविद्यका उल्लेख तेरदालके ११२३ ईसवीके एक शिलालेखमें है—

परतु परवादीभपंचाननर सधर्म्मर ॥ श्रुतकीतित्रैविद्यव्रतिपर् षट्तर्क्ककर्कशर परवादिप्रतिभाप्रदीपपवनर् जतदोषर् नेगळ्दरखिलभुवनान्तरदोळु ।

राजा गोंकने कोल्लागिरि या कोल्हापुरके माघनन्दि सैद्धान्तिकके (निम्ब सामन्तके गुरु) लिए भेजा था तथा उनके साथी कनकनन्दी तथा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य थे। कोल्हापुरसे प्राप्त ११३५ ईसवीके एक अन्य शिलालेख (एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १९, पृष्ठ ३०, जैन शिलालेख संग्रह भाग ४, बनारस १९६४, पृष्ठ १९२-९६) में श्रुतकीर्तिका उल्लेख कोल्हापुरकी रूपनारायण वसदिके आचार्य रूपमें हुआ है—

शकवर्षद सासिरदय्वत्तेटनेय राक्षससंवत्सरद कार्तिकबहुलपंचमिसोमवारदंदु श्रीमूळसंघदेसीयगण पुस्तकगच्छद कोल्लापुरद श्रीरूपनारायणवसदियाचार्यरप्प श्रीश्रुतकीर्तित्रैविद्यदेवर कालं कच्चि—इत्यादि।

नागचन्द्रने उन्हें व्रती कहा है। उसी तरह तेरदाल शिलालेखमें भी। अर्थात् ११२३ ईसवीमें वे व्रती थे किन्तु ११३५ ईसवीमें एक आचार्यकी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। विद्वानोंकी रायमें (आर० नरसिंहाचार्य, कर्नाटक कविचरित भाग १, बेंगलोर १९६१, पृष्ठ ११० इ०) नागचन्द्र ११०० ईसवीके लगभग हुए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रुतकीर्तिका समय ११०० से ११५० ईसवीके मध्य अनुमानित किया जा सकता है। अभी तक उनके राघव-पाण्डवीयकी कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हुई।

के० बी० पाठक धनंजय तथा श्रुतकीर्तिकी एकता श्रुतकीर्तिके राघवपाण्डवीयसे निश्चित करनेवाले प्रथम व्यक्ति थे। आर० जी० भण्डारकरने इसे स्वीकार करनेमें संकोच ठीक ही व्यक्त किया है। किन्तु इस समानताके आधारपर प्रस्तावित धनंजयके समयकी बातमें पर्याप्त वजन है।

धनंजय तथा उनका द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय श्रुतकीर्ति और उनके राघव-पाण्डवीयसे भिन्न हैं: सर्वप्रथम क्योंकि धनंजय एक गृहस्थ थे जब कि श्रुतकीर्ति एक व्रतिन् तथा बादमें एक आचार्य। दूसरे, न तो धनंजय ही न अन्य स्रोत जो श्रुतकीर्तिका उल्लेख करते हैं, ऐसा प्रमाण देते हैं कि दोनों नाम एक ही कविके हैं। तीसरे धनंजयकी नाममालासे वीरसेन (८१६ ईसवी) ने एक पद्य उद्धृत किया है तथा उनके द्विसन्धानका विशेष रूपसे धनंजयके नामोल्लेखके साथ भोजने (१०१०-६२ ईसवी अनुमानित) उल्लेख किया है, जब कि श्रुतकीर्तिका समय ११०० से ११५० ठहरता है। अन्ततः, यदि धनंजयका द्विसन्धान दण्डिकी समकक्षताके लिए प्रसिद्ध है और भोज (ग्यारहवीं शतीका मध्य) के द्वारा उल्लेख किया जा सकता है तो निश्चय ही यह श्रुतकीर्ति, जो ११२५ ईसवी में आचार्य थे, की रचना नहीं हो सकती। इसलिए इस एकताका कोई आधार नहीं है, और इसलिए इस एकताके आधार पर धनंजयका समय ११२३-४० ईसवी निर्धारित नहीं किया जा सकता।

धनंजयके अध्येता

धनंजय तथा उनके द्विसन्धानने बहुत पहलेसे ही विद्वानोंका ध्यान आकर्षित किया है। यह आवश्यक है कि विस्तारसे उनके मन्तव्योंको यहाँ प्रस्तुत किया जाये तथा उपर्युक्त प्रमाण सामग्रीके सन्दर्भमें जाँचा-परखा जाये।

पाठक द्वारा श्रुतकीर्ति तथा धनंजयकी एकता

के० बी० पाठकने इंडियन एण्टीक्वेरी जिल्द १४, पृष्ठ १४-२६ में तेरदालके एक कनड़ी शिलालेखका सम्पादन किया है। पैंतीसवीं पंक्तिमें उन्हें श्रुतकीर्ति त्रैविद्यका नाम मिला। अभिनव पम्पने श्रुतकीर्ति त्रैविद्यका उल्लेख राघवपाण्डवीयके लेखकके रूपमें किया है। मेघचन्द्रने समाधिशतक पर कन्नड भाषामें पम्प-

के सुपुत्रके निमित्त एक टीका लिखी और मेघचन्द्रके पुत्र (१) वीरनन्दिने शक सं० १०७६ में अपने आचारसारकी रचना समाप्त की। इस उल्लेखके आधारपर पाठक पम्पका समय शक सं० १०७६ के कुछ पूर्वका स्वीकार करते हैं। तेरदाल शिलालेख, जिसमें श्रुतकीर्ति त्रैविद्यका नाम उल्लिखित है, का समय शक सं० १०४५ है। "इसमें और आचारसारके रचनाकालमें इक्कीस वर्षका अन्तर है। श्रुतकीर्ति त्रैविद्यने शक सं० १०४५ के बाद ही अपने ग्रन्थका निर्माण अवश्य कर लिया होगा।" परन्तु चूंकि कविने अपना वास्तविक नाम रचनासे सम्बद्ध नहीं किया, राघवपाण्डवीयका लेखक अज्ञात रहा होगा, यहाँ तक कि अपने समकालीनोंको भी इस बातसे परिचित नहीं कराया। और पम्प, जो जैन और कविके रूपमें उससे अवश्य परिचित रहा होगा, ने उसके रचयिताके विषयमें यह महत्त्वपूर्ण तथ्य सुरक्षित हुआ। यहाँ फुटनोटमें के० बी० पाठकने लिखा है कि राघवपाण्डवीय नामके दो संस्कृत काव्य उपलब्ध हैं एक ब्राह्मण और दूसरा जैन। परन्तु उपर्युक्त जैन संस्कृत काव्य, जिसका रचयिता पम्पने श्रुतकीर्ति त्रैविद्यको बताया, ब्राह्मण संस्कृत काव्यकी अपेक्षा लम्बा है। और वह धनंजयकी रचनाके रूपमें प्रसिद्ध है यहाँ आठवें अध्यायकी पुष्पिका और प्रथम अध्यायका अन्तिम पद प्रस्तुत किया गया है।" इससे स्पष्ट है कि श्रुतकीर्ति त्रैविद्य और धनंजय एक ही व्यक्तित्व और कृतित्वके दिग्दर्शक हैं। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक नहीं कि धनंजय कोशके रचयिता कर्णाटकके दिगम्बर जैन हैं।

पाठकका निष्कर्ष तथ्य संगत दिखाई नहीं देता। उनके निर्णयमें कुछ त्रुटियाँ प्रतीत होती हैं। लगता है कि वे धनंजयको तो रचयिता मानते हैं और श्रुतकीर्तिको धनंजयकी उपाधि स्वीकार करते हैं। परन्तु द्विसन्धान काव्यमें उन्होंने कहीं भी इस श्रुतिकीर्ति त्रैविद्य जैसी उपाधिका उल्लेख नहीं किया है। यहाँ तक कि नाममालामें भी इसका कोई जिक्र नहीं जिसे पाठक धनंजयकी रचना मानते हैं। दूसरे त्रैविद्य एक उपाधि है जो आगम, तर्क और व्याकरणमें दक्षता पाने की सूचिका है परन्तु श्रुतकीर्ति इस प्रकारकी कोई उपाधि नहीं, उसे तो अनेक जैनाचार्योंने अपने नियमित नामके रूपमें स्वीकारा है। अतएव धनंजय और श्रुतकीर्तिको एक मानना युक्तियुक्त नहीं। कविराजके समान श्रुतकीर्ति त्रैविद्यने भी सम्भवतः राघवपाण्डवीय लिखा होगा वह हमें उपलब्ध नहीं। परन्तु उसे धनंजयके राघवपाण्डवीयसे पृथक् ही मानना होगा। क्योंकि धनंजय और श्रुतकीर्तिको एक व्यक्तित्व माननेके लिए कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। तीसरे, श्रुतकीर्ति तेरदाल शिलालेख और पम्पके कथनानुसार व्रती था और बादमें कोल्हापुर शिलालेखमें इन्हें आचार्यके रूपमें स्मरण किया है। परन्तु उपलब्ध प्रमाणोंसे यह हम जानते हैं कि धनंजय गृहस्थ थे, मुनि नहीं। उन्होंने अपनी ऐसी किसी परम्पराका भी उल्लेख नहीं किया और श्रुतकीर्तिके राघवपाण्डवीयके सन्दर्भमें अभिनव पम्प द्वारा प्रस्तुत वर्णन धनंजयके द्विसन्धान काव्यसे मेल नहीं खाता। श्रुतकीर्तिका राघवपाण्डवीय, गत-प्रत्यागत प्रकारका है जब कि धनंजयका द्विसन्धान इस प्रकारका नहीं, उसमें तो गत-प्रत्यागत प्रकारके एक दो पद्य ही प्राप्त हैं। इस प्रकार, जैसा स्पष्ट है, वीरसेनने नाममालासे एक पद्य उद्धृत किया है, और भोजने धनंजय और द्विसन्धानका उल्लेख किया है, श्रुतकीर्ति और धनंजय एक सिद्ध नहीं होते।

भण्डारकर द्वारा मान्य धनंजयका काल

आर० जी० भण्डारकर (रिपोर्ट आन द सर्च फार मैनुस्क्रिप्ट्स इन द बाम्बे प्रेसीडेंसी ड्यूरिंग द इयरस १८८४-८५, १८८५-८६, तथा १८८६-८७, बम्बई, १८९४) ने धनंजद नामक एक दिगम्बर जैनके काव्यकी दो प्रतियोंका उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि प्रथम भागके अन्तिम पद्यमें रचयिताको कवि कहा गया है। उन्होंने बादके पद्यको भी उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि "अकलंक की तर्कपद्धति, पूज्यपादका व्याकरण और द्विसन्धानके कविका काव्य ये त्रिरत्न हैं।" उन्होंने यह कह कर निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत कोषका रचयिता द्विसन्धानका भी रचयिता है। "काव्यका प्रत्येक पद्य द्वयर्थक है, दो प्रकारकी अर्थ-प्रस्तुतिको द्विसन्धान कहा जाता है।" उनके समक्ष काव्यकी दो प्रतियाँ (नवम्बर ११४२ और ११४३) रहीं जिनमें दूसरी प्रति नेमिचन्द्रकी टीका सहित है। उन्होंने भी लिखा है कि वर्धमान (संवत् ११७९–सन् ११४७) ने अपने गुणरत्न महोदधि (१०.५१,

१८.२२, ४.६) में द्विसन्धानको उद्धृत किया है (एगलिंगसंस्करण, पृष्ठ ९७,४०९,४३५)।" काव्यका सही शीर्षक है—राघव-पाण्डवीय : प्रत्येक पद्यमें दो अर्थ हैं, प्रथम अर्थ महाभारत कथानकसे सम्बद्ध है और दूसरा रामकथाको व्यक्त करता है।" चूंकि जैनाचार्योंने ब्राह्मण लोक-साहित्य (profane literature) का अनुकरण किया है, और हम जैनोंके मेघदूतसे परिचित हैं, यह कल्पना निरर्थक नहीं होगी कि धनंजयने राघव-पाण्डवीयकी कथा कविराज नामक किसी ब्राह्मण कविसे ली है। कविराजका समय धाराधीश मुंजके बाद होना चाहिए, क्योंकि उन्होंने अपने संरक्षक जयन्तीपुरीके कामदेवकी तुलना मुंज (मृत्यु ९९६ में हुई) से की है। वर्धमानका काल ११४७ है। अतएव भण्डारकर कविराज और धनंजयको सन् ९९६ और ११४७ के बीच रखते हैं, "यदि अनुकरणकी कल्पनाको सत्य माना जाये तो कविराजको धनंजयसे अवस्थामें बड़े होना चाहिए। भण्डारकरने पाठकके मतपर भी विचार किया है। उन्होंने लिखा है : ऐसा कोई प्रमाण नहीं जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि श्रुतकीर्ति और धनंजय एक हैं। परन्तु समकालीन पम्पके पुत्रके समयके आधारपर पूर्व निर्णीत समय सही बैठता है और निष्कर्ष दो व्यक्तियों और काव्योंको पृथक् स्वीकार करनेके विपरीत नहीं पहुँचता।"

भण्डारकरके मतकी समीक्षा

आर० जी० भण्डारकर अपने मतकी अभिव्यक्तिमें अत्यन्त सावधान रहते हैं। उन्होंने धनंजय और श्रुतकीर्तिको एक माननेमें पूर्ण स्वीकृति व्यक्त नहीं की। उनका यह दृष्टिकोण एक सामान्य कथनके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है कि जैनाचार्योंने अपने कथा-साहित्यमें ब्राह्मण कथा-साहित्यका अनुकरण किया है, परन्तु धनंजयने कविराजका अनुकरण किया है। यह तथ्य किसी विशेष प्रमाणपर आधारित होना चाहिए। यहाँ भी भण्डारकर आग्रह करते हुए दिखाई नहीं देते, क्योंकि वे कहते हैं, "यदि अनुकरणकी कल्पना सही है।" यदि धनंजयने किसीका अनुकरण किया है तो अब यह कहा जा सकता है कि उनके समक्ष दण्डीका द्विसन्धान रहा होगा जिनका उल्लेख एक नीचेके पद्यमें किया गया है। भण्डारकरका यह निष्कर्ष सही है कि कविराज मुंज (९९६ ई०) के उत्तरवर्ती और धनंजय ११४७ ई० के पूर्ववर्ती रहे होंगे। नये तथ्योंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि धनंजय भोजके पूर्ववर्ती होंगे और कविराजका समय बारहवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें नियोजित किया जा सकता है।

पाठक द्वारा स्वमतकी पुनरुक्ति

प्रो० मेक्समूलरके उत्तरमें के० बी० पाठकने १९०० में "द जैन पोइम राघवपाण्डवीय ए रिप्लाई टू प्रो० मेक्समूलर" शीर्षक एक और शोधपत्र प्रकाशित किया ("द जर्नल आव द बाम्बे ब्रांच आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी जिल्द २१, पृष्ठ १,२,३, बम्बई १९०४) उन्होंने अपनी पूर्व विचारधाराको आगे बढ़ाते हुए कहा कि तेरदाल शिलालेखके माघनन्दि सैद्धान्तिक श्रवणबेलगोलके शिलालेख नम्बर ४०में उल्लिखित किये गये हैं। उन्होंने यह बताया कि पम्पके पद्य श्रवणबेलगोल शिलालेखमें भी पाये जाते हैं। श्रुतकीर्ति त्रैविद्य और देवकीर्ति (मृत्यु शक सं० १०८५) साथी—समकालीन होना चाहिए। उन्होंने अधोलिखित गणना सम्बन्धी तथ्य हमारे समक्ष प्रस्तुत किये हैं—

१. तेरदाल शिलालेख शक सं० १०४५ में श्रुतकीर्ति त्रैविद्यका उल्लेख करता है परन्तु राघव-पाण्डवीयके रचयिताके सन्दर्भमें वह मौन है।

२. अभिनव पम्प शक सं० १०६७ में श्रुतकीर्ति त्रैविद्यके काव्यका उल्लेख करता है।

३. श्रवणबेलगोल शिलालेख (नं० ४०, शक सं० १०८५) अभिनव पम्पके पद्योंको श्रुतकीर्ति त्रैविद्यके पद्य रूपमें उल्लेख करता है और श्रुतकीर्तिकी पहचान तेरदाल शिलालेखमें उल्लिखित श्रुतकीर्तिसे करता है।

इन कारणोंसे पाठक इस निष्कर्षपर पहुँचे कि श्रुतकीर्तिका ग्रन्थ शक सं० १०४५ में लिखा नहीं गया जब कि शक सं० १०६७ और १०८५ के बीच वह एक प्रसिद्ध काव्य माना जाता था। यह भी उल्लेखनीय

है कि पम्प उसे विद्वत्ताका आश्चर्यकारी नमूना मानता है जिससे श्रुतकीर्तिने सुप्रसिद्धि अर्जित की। इन कथनोंसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पम्प केवल एक जैनकाव्यसे परिचित थे और वह था सभी द्वारा प्रशंसित राघवपाण्डवीय। पाठकने यह भी देखा कि वर्धमान (वि० सं० ११९७ अथवा शक सं० १०६२) किस प्रकार अपने गणरत्नमहोदधिमें धनंजयके राघवपाण्डवीयका अनेक बार उद्धरण देते हैं और किस प्रकार चालुक्य नृपति जगदेवमल्ल द्वितीय (शक सं० १०५९-७२ (?) का समकालीन दुर्गसिंह यह कहता है कि धनंजय राघवपाण्डवीयकी रचनासे बृहस्पति हो गये। यह कथन श्रुतकीर्तिके ग्रन्थके सन्दर्भमें होना चाहिए जिनका समय शक सं० १०४५ सिद्ध है। ऐसी कल्पना निरर्थक सिद्ध होगी कि अल्प समयमें शक सं० १०४५ और १०६२ के बीच समान शीर्षक वाले द्व्यर्थक काव्य दिगम्बर जैन सम्प्रदायके दो कवियोंने रचे होंगे। यदि ऐसा होता तो श्रुतकीर्तिका ग्रन्थ शक सं० १०६० में विद्वत्ता की आश्चर्यकारी कृतिके रूपमें माना जाना समाप्त हो जाता। अतएव यह स्पष्ट है कि धनंजय श्रुतकीर्तिका द्वितीय नाम था और उनके ग्रन्थका रचनाकाल शक सं० १०४५ से १०६२ के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

पाठकके मतकी दुर्बलताएँ

यह स्वीकार कर लिया गया है, जैसा हमने अभी देखा, कि तेरदाल, कोल्हापुर और श्रवणबेलगोल शिलालेखोंमें उल्लिखित श्रुतकीर्ति वही हैं जिन्हें पम्पने उद्धृत किया है। पम्पने और तेरदाल शिलालेख (शक सं० १०४५-११२३ ई०) ने उन्हें व्रती कहा है। परन्तु कोल्हापुर शिलालेखमें उन्हें ११३५ ई० के आचार्यके रूपमें उल्लिखित किया गया है। पम्पने राघव-पाण्डवीयको उनसे सम्बन्धित माना है। विद्वानोंके बीच उसे आश्चर्यजनक इसलिए नहीं स्वीकार किया गया था कि वह द्व्यर्थक काव्य है बल्कि इसलिए कि वह गत-प्रत्यागत प्रकारका था। पाठकने कुछ तथ्यहीन तर्क प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उन्होंने 'धनंजयका दूसरा नाम श्रुतकीर्ति है' यह सिद्ध करनेके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। अतएव वह स्वीकार्य नहीं। यह उक्त तथ्योंसे स्पष्ट है कि भोज धनंजय और उनके द्विसन्धानसे परिचित था। वह और उनका ग्रन्थ स्पष्टतः श्रुतकीर्ति और उनके राघवपाण्डवीयसे भिन्न है, परन्तु राघवपाण्डवीय प्रकाशमें नहीं आया है। हाँ, कविराज कृत राघवपाण्डवीय अवश्य प्रसिद्ध है, पर इन दोनोंसे वह भिन्न है।

धनंजय पर राघवाचारियरके विचार

एस० ई० व्ही० वीर राघवाचारियरका निघण्टुक धनंजयका काल The date of Nighan tuka Dhananjaya शीर्षक एक लेख जर्नल आव द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी, भाग २, नंबर २, पृष्ठ १८१-८४, राजमुंद्री, १९२७ में प्रकाशित हुआ था। उनका उद्देश्य द्विसन्धान महाकाव्य अथवा राघव पाण्डवीय और धनंजय निघण्टु अथवा नाममालाके रचयिता धनंजयका काल निर्णय करना था।

सुबन्धु और बाणमें श्लेष काव्य रचनेका एक विशेष गुण प्रसिद्ध है, परन्तु उनमें कोई भी द्व्यर्थी कवि नहीं अर्थात् किसीने भी ऐसा काव्य नहीं रचा जो दो कथाओं अथवा सिद्धान्तोंको लिए हुए समानान्तर रूपसे समूचे काव्यमें दो व्याख्याओंको उपस्थित कर सके। राघवपाण्डवीयके रचयिता कविराज (६५०-७२५ ई०) द्व्यर्थी प्रबन्ध लिखने में पूर्ण दक्ष हैं। निघंटुक धनंजय, जो द्विसन्धान काव्यके समकक्ष है, भी उनके इस गुणकी पुष्टि करता है। दशरूपककार धनंजयसे वे भिन्न हैं। निघंटुक धनंजयकार राजशेखर (८८०-९२० ई०) और जैन (श्रीदेवी और वासुदेवके पुत्र, देखिए द्विसन्धानकाव्य १८, १४६) से पूर्ववर्ती हैं जब कि ब्राह्मण कुलीन (विष्णुके पुत्र और मुंजका दरबारी कवि) दशरूपककार धनंजय राजशेखरका उत्तरवर्ती है। 'प्रमाणमकलंकस्य' पद्यके अतिरिक्त दो अन्य अधोलिखित पद्य (निघंटु २.४९-५०) भी उद्धृत मिलते हैं (नाममालाके ज्ञानपीठ संस्करणमें अनुपलब्ध)—

जाते जगति वाल्मीकौ शब्दः कविरिति स्मृतः।
कवी इति ततो व्यासे कवयश्चेति दण्डिनि ॥
कवयः कवयश्चेति बहुत्वं दूरमागतम्।
विनिवृत्तं चिरादेतत्कलौ जाते धनंजये ॥

इन श्लोकोंसे वीर राघवाचारियरने यह अनुमान लगाया है "कि दण्डी (६०० ई० के बाद नहीं) और धनंजयके बीच पर्याप्त अन्तर रहा है।" यह अन्तर ६०० और ८०० ई० के मध्य रखा जा सकता है।

कविराज वामन (८वीं शती) की काव्यालंकार वृत्तिमें उल्लिखित है। उनका समय सुबन्धु और बाणभट्ट (५९०-६५० ई०) के बाद ठहरता है जिनका उल्लेख कविराजने वक्रोक्तिमें दक्ष कविके रूपमें किया है। द्विसन्धान कलापूर्ण है और ऐसा होने पर यदि कविराज धनंजय अथवा उनके द्विसन्धानसे परिचित होता तो निश्चय ही वे उन्हें भी यहाँ (राघवपाण्डवीय, १.४१) सम्मिलित कर लेते। धनंजयका द्विसन्धान काव्यत्व प्रदर्शनकी भव्यता लिये हुए है। वह कविराजके राघवपाण्डवीयसे किसी भी प्रकार हीन नहीं, सम्भवतः (अथवा निश्चित ही) उच्च श्रेणीका ही बैठे। धनंजयने पूर्ववर्ती कवियोंका उल्लेख नहीं किया, अतएव कविराजका उल्लेख नहीं किया होगा, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि धनंजय कविराज अथवा उनके काव्यसे अपरिचित रहे हों। इसका कारण उपेक्षा अथवा समयका अन्तराल हो सकता है। अतएव कविराजका समय ६५०-७२५ और निघण्टुक धनंजयका समय ७५०-८०० ई० नियोजित किया जा सकता है।

राघवाचारियरके मतकी समीक्षा

राघवाचारियर अब कुछ निषेधात्मक प्रमाणोंका उपयोग करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जल्हण (१२५७ ई०) ने राजशेखर (९०० ई०) के नाम पर धनंजयके पद्यको उद्धृत किया है। इसके बाद कविराज अपने राघवपाण्डवीय (१.१८) में स्पष्टतः धार (९७३-९५ ई०) के मुंजका उल्लेख करते हैं और अपने आश्रयदाता कदम्बवंशीय कामराज (१.१३) के विषय में पर्याप्त कहते हैं। यह समझमें नहीं आता वीर राघवचारियरने इन तथ्योंकी उपेक्षा क्यों की। कविराजका कालनिर्णय करनेके लिए उनका समय आधार रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वेंकटसुब्बियका खण्डन और विचार

वेंकट सुब्बिय 'दी आथर्स आव दी राघवपाण्डवीय एण्ड गद्यचिन्तामणि' नामक शोधपत्र (जर्नल आफ द बी० बी० एस० सीरीज न्यु सीरीज ३, ब २, १९२७; पृ० १३४) में पाठकके निष्कर्षका विरोध करते हैं (१) तेरदाल शिलालेखके श्रुतकीर्ति राघवपाण्डवीयके कर्ताके रूपमें पम्परामायणमें उल्लिखित श्रुतकीर्तिसे अभिन्न होना चाहिए (२) श्रुतकीर्ति कविका मूल नाम था और धनंजय मात्र संक्षिप्त नाम था, और (३) वह तथ्य अभिनव पम्प जानते थे जिन्होंने उनका उल्लेख उनके वास्तविक नाम रामायणसे किया है।

बी० सुब्बियके अनुसार अभिनव पम्पकी रामायणका रचनाकाल ११०० ई० के बाद और १०४२ ई० के पूर्व नहीं हो सकता। अतएव श्रुतकीर्तिका राघवपाण्डवीय १०४२ ई० के पूर्व लिखा गया होगा। उन्होंने आर० नरसिंहाचार्यके मतका उल्लेख किया है कि "श्रुतकीर्तिकी रचनाका वर्णन जो पम्पकी रामायण-में किया गया है, गत-प्रत्यागत काव्य प्रकारका है, अर्थात् ऐसा काव्य जिसके एक ओर पढ़नेसे रामकथा और दूसरी ओर पढ़नेसे पाण्डुकथा निकलती है, यह धनंजयके द्विसन्धान काव्यमें लागू नहीं होता। यहाँ यद्यपि एक ही पद्यमें राम और पाण्डुकी कथा शब्द-चमत्कृति दिखाते हुए कही गयी है। फिर भी उसे गतप्रत्यागत काव्य नहीं कहा जा सकता अतएव धनंजयका राघवपाण्डवीय व श्रुतकीर्तिका राघवपाण्डवीय अभिन्न नहीं और इसलिए धनंजय और श्रुतकीर्ति एक नहीं कहे जा सकते।

वादिराज द्वारा पार्श्वनाथ चरित (समाप्तिकाल बुधवार, २७ दिसम्बर १०२५ ई०) में उल्लिखित पूर्वकवि सुब्बियके अनुसार वादिराजके पूर्ववर्ती रहे होंगे। अतएव अधिक सम्भावित यही है कि राघव-पाण्डवीयके रचयिता धनंजय वादिराजके पूर्ववर्ती थे। श्रवणबेलगोल शिलालेख नं० ५४ (६७) में प्राप्त आचार्य परम्परामें मतिसागरके पश्चात् हेमसेन (९८५ ई०) का नाम आता है। इन्हींका दूसरा नाम विद्या-

धनंजय भी था। "अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि हेमसेन राघवपाण्डवीय अथवा द्विसन्धान काव्य-के कर्ता हैं और यह काव्य ९६०–१००० ई० में लिखा गया है।"

श्रुतकीर्तिका काव्य प्रकाशमें नहीं आया। यह निश्चित ही संस्कृतमें लिखा गया होगा। तेरदाल और श्रवणबेलगोल शिलालेखके श्रुतकीर्ति ११२३ ई० में विद्यमान थे और उनका राघवपाण्डवीय १०६० ई० के पूर्व नहीं लिखा गया।

अभिनव पम्प द्वारा उल्लिखित श्रुतकीर्ति वही नहीं जिनका उल्लेख शिलालेखमें आया हुआ है, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न परम्पराओंसे सम्बद्ध हैं। "इन दोनों श्रुतकीर्ति नामक आचार्योंने राघवपाण्डवीयकी रचनाएँ कीं और वे गतप्रत्यागत प्रकारक पद्योंमें थीं, यह कल्पना तथ्यसंगत नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उक्त दोनों श्रुतकीर्तियोंमें कोई एक श्रुतकीर्ति ग्रन्थके रचयिता थे और इन श्रुतकीर्तिकी प्रशंसामें भी पम्परामायणमें अथवा श्रवणबेलगोल शिलालेखमें इन पद्योंका उपयोग किया है ताकि द्वितीय श्रुतकीर्ति भिन्न सिद्ध हो सकें। और चूँकि अभिनव पम्प जैसे उच्चकोटिके कविके सन्दर्भमें यह सोचना व्यर्थ है कि उन्होंने अन्य कवियों द्वारा निर्मित पद्योंको अपने ग्रन्थमें सम्मिलित किया होगा, अतः यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गतप्रत्यागत प्रकारक राघवपाण्डवीय पम्प रामायणमें उल्लिखित श्रुतकीर्ति द्वारा रचा गया था न कि उक्त शिलालेखमें उल्लिखित श्रुतकीर्ति द्वारा।"

धनंजय और श्रुतकीर्तिके राघव पाण्डवीय भिन्न-भिन्न ग्रन्थ हैं, और उनमें कोई एक पूर्ववर्ती होंगे। परन्तु मुझे लगता है कि गतप्रत्यागत राघवपाण्डवीय द्विसन्धानकी अपेक्षा अधिक कठिन है और इसलिए उत्तरवर्ती काव्य पहले लिखा गया और श्रुतकीर्तिने अपना ग्रन्थ धनंजयके अनुकरण पर बादमें लिखा। यदि यह विचार तथ्ययुक्त माना जाये तो श्रुतकीर्ति निश्चित रूपसे धनंजयके उत्तरवर्ती होंगे और उन्होंने अपना ग्रन्थ १०००-१२२५ ई० में लिखा होगा।"

पाठकके मतकी विस्तृत समीक्षा करनेके बाद वेंकट सुब्बय्या कविराज और उनके राघवपाण्डवीयके सन्दर्भमें इन निष्कर्षोंपर पहुँचे : कविराजका आश्रयदाता कदम्बवंशीय कामदेव द्वितीय है। कविराज धनंजय-के उत्तरवर्ती हैं, और उनका राघवपाण्डवीय १२३६ और १३०७ ई० के बीच लिखा गया है न कि ११८२-९७ ई० के बीच जैसा कि पाठकने सुझाया है।

वेंकट सुब्बियके निष्कर्षोंकी समीक्षा

वेंकट सुब्बियका यह विचार स्वीकार्य है कि श्रुतकीर्ति और उनका राघवपाण्डवीय धनंजय और उनके राघवपाण्डवीयसे भिन्न हैं। परन्तु उनका यह निष्कर्ष कि तेरदाल और श्रवणबेलगोल शिलालेखमें उल्लिखित श्रुतकीर्ति अभिनव पम्प द्वारा उल्लिखित श्रुतकीर्तिसे भिन्न होंगे, संदिग्ध सम्भावित और भ्रमित प्रमाणोंपर आधारित है। उन्होंने जो कहा वह सही हो सकता है परन्तु जैन आचार्य इतने संकीर्ण विचार-धाराके नहीं रहे कि उन्होंने संघ, गण, गच्छ और बलिसे बाह्य साहित्यकारोंको सम्मान न दिया हो। वादि-राजने अपने काव्यमें अपने पूर्ववर्ती लेखक और आचार्योंका उल्लेख किया है। वे आचार्य और लेखक वादि-राजके पारम्परिक पूर्ववर्ती हों, यह आवश्यक नहीं। धनंजय वादिराजके पारम्परिक पूर्व आचार्य थे और हेमसेन व धनंजय एक थे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह एक अन्य पहचान वैसी ही आधारहीन और प्रमाण रहित है जैसी कि पाठककी कल्पना जिसकी वेंकटसुब्बियने कटु आलोचना की है। प्रथम, धनंजय गृहस्थ थे। उन्होंने मुनि अवस्थाका कोई वर्णन नहीं किया और न आचार्य परम्पराका। अतः वे वादि-राजके निकट पूर्ववर्ती होंगे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। द्वितीय, धनंजयने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना दूसरा नाम हेमसेन सूचित नहीं किया, और अन्तिम यदि विद्या-धनंजय नाम उपयुक्त माना जाये (क्योंकि उसे 'विद्याधनंजयपदं विशदं दधानो' भी पढ़ा जा सकता है) तो 'विद्या' शब्द ही हेमसेनको किसी अन्य पूर्ववर्ती धनंजयसे पृथक् कर देता है। अथवा यदि धनंजयको अर्जुन रूपमें स्वीकारा जाये तो हेमसेन विद्या धनंजय माने जा सकते हैं। अतएव उनकी यह पहचान और तिथि ९५०–१००० ई० स्वीकार नहीं की जा सकती।

धनंजय पर साहित्यिक इतिहासकार

पाठक, भण्डारकर व अन्य विद्वानोंके अध्ययनसे यह पता चलता है कि साहित्यिक इतिहासकारोंने धनंजय और उनके द्विसन्धानके विषयमें विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। एम० विन्टरनित्ज (भा० सा० इ०, भाग ३; जर्मन संस्करण, पृ० ५४, लिपजिग, १९२२, अंग्रेजी अनुवाद पृ० [illegible], वाराणसी १९६३) यह स्वीकार करते हैं कि धनंजयने ११२३-११४० ई० के बीच अपनी उपाधि श्रुतकीर्तिके नामपर ग्रन्थ लिखा। उन्होंने कदम्बवंशीय कामदेव (११८२-९७) के दरबारी कवि कविराजसे उन्हें पूर्ववर्ती माना। वामनकी काव्यालंकार वृत्ति (४.१.१०) में उल्लिखित कविराजसे वे भिन्न हैं। ए० बी० कीथ (ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १३७, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४८) ने कहा है कि दिगम्बर जैन लेखक धनंजय, जिन्हें शायद श्रुतकीर्ति कहा जाता था, ने ११२३ और ११४० के बीच अपना ग्रन्थ लिखा। इसके बाद कविराजका नाम आता है जिनका वास्तविक नाम कदाचित् माधव भट्ट था और जिनके आश्रयदाता कदम्बवंशीय राजा कामदेव (११८२-९७) थे। एम० कृष्णमाचारी (हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० १६९, १८७, फु० मद्रास, १९३७) धनंजयको नवीं-दसवीं शतीमें रखते हैं और कविराजको १२वीं शतीके उत्तरार्धमें। अन्य प्रमाणोंमें नाममाला (वाराणसी, १९५०) की प्रस्तावना, नाथूराम प्रेमीका जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १०८, बम्बई १९५६, व डॉ० गैरोलाका संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृ० ३५०-५१, वाराणसी, १९६० भी देखा जा सकता है।

आधुनिक भारतीय भाषाओंमें निर्मित सर्जनात्मक साहित्यपर एक लाख रुपयेकी पुरस्कार योजनासे भारतीय ज्ञानपीठने हमारे देशके शैक्षणिक प्राङ्गणमें गौरवमयी कीर्ति अर्जित की है। देशके गण्यमान्य साहित्यकार इस गौरवशाली पुरस्कारसे सम्मानित किये जा चुके हैं। इसी प्रकार ज्ञानपीठने संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड प्राचीन हिन्दीमें लिखित उपेक्षित साहित्यका प्रकाशन कर अपनी शक्ति व साधनका समुचित उपयोग किया है। फलतः लगभग साठ ग्रन्थोंका प्रथम बार प्रकाशन हो चुका है। विद्वत्क्षेत्रमें इन ग्रन्थोंके सम्पादन विधिकी भरपूर प्रशंसा की गयी है। ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमालाने लगभग ३०० हिन्दी ग्रन्थोंका भी प्रकाशन किया है।

धनंजयका द्विसन्धान महाकाव्य संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध द्विसन्धान काव्योंमें सर्वाधिक पुराना और महत्त्वपूर्ण काव्य है। वह रामायण और महाभारतकी कथाको समानान्तर रूपसे प्रस्तुत करता है। अर्थात् प्रत्येक पद्य दो अर्थोंको प्रस्तुत करता है, प्रथम अर्थ रामायणसे सम्बद्ध है और द्वितीय अर्थ महाभारतसे। वह संस्कृत भाषाके विविध अर्थशक्तिका सुन्दर निदर्शन है। उसकी संस्कृत व्याख्या सहित सम्पादित एक सुन्दर संस्करणकी आवश्यकता थी।

हम ज्ञानपीठ ट्रस्टके संस्थापक श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। यह उनकी अभिरुचि और उदारताका परिणाम है कि इस प्रकारका महत्त्वपूर्ण साहित्य ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। श्रीमती रमा जैन, अध्यक्षा ज्ञानपीठ, के भी धैर्य और गाम्भीर्यकी प्रशंसाके लिए शब्द अपर्याप्त हैं, जिनके अमित सहयोगसे इस काव्यका प्रकाशन सम्भव हो सका है। प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला भी हमारे धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके लिए इस ग्रन्थका सम्पादन किया है।

कोल्हापुर
२६ जनवरी १९७०

—हीरालाल जैन
—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

द्विसंधानकाव्यस्थवृत्तसूची

वृत्तनाम सर्गाङ्कः (आंग्लः) श्लोकाङ्कः (नागरी)

१ अनुकूला 8.३०-३३ ;

२ अनुष्टुभ् 7.१-९४ ; 9.१-५१ ; 18.१-१४४ ;

३ अपरवक्त्र 13.३७ ; 15.३४-४४ ; 17.६५-६६ ;

४ इन्द्रवज्रा 8.२१,२३,४१,४२,४४ ; 10.३६ ; 17.८५-८६;

५ इन्द्रवंशा 17.७६ ;

६ उद्गता 17.१-३९ ;

७ उपजाति 2.११,३३; 3.१-३८,४०; 5.१-६४; 6.४७-४८; 8.१८,२५,२८,२९,३४-४०,४३,४५-४७, ४९,५१,५४,५५,५७; 10.३९,४० ; 11. ३२,३३,३५,३६ ; 12. ४८ ; 13.३०, ३२, ३५ ; 14. २५,२७-२८,३३-३६ ; 16.१-८२ ; 17.४५,४६,५३,५५, ५७,६०, ६२-६४,६८,७३,७७ ;

८ औपच्छन्दसिक 10.४१,४२ ; 13.३१ (विषम चरण); 17.४९,५४,६१,७९ ;

९ जलधरमाला 8.७,११,१३,१५,१७ ;

१० जलोद्धतगति 8.२४ ;

११ तोटक 8.४८,५३;

१२ द्रुतविलम्बित 5.६८ ; 6.५० ; 8.१-५,२० ;

१३ पुष्पिताग्रा 2.३४ ; 5.६७ ; 13.३८ ; 15.१-३३ ; 17.५८,८३ ;

१४ पृथ्वी 13.४४ ;

१५ प्रमिताक्षरा 8.५६ ; 12.१-४६ ; 17.४३,४४,७८,८४ ;

१६ प्रमुदितवदना 13.४०-४१ ;

१७ प्रहर्षिणी 5.६५ ; 8.६,८,२६ ; 9.५२ ; 14.१-२४ ;

१८ मत्तमयूर 3.३९ ; 8.१४,१९ ; 10.३७-३८ ; 13.१-२८,३६ ; 14.२६ ;

१९ मन्दाक्रान्ता 13.४३ ; 14.३० ;

२० मालिनी 6.५१ ; 13.४२ ; 16.८३,८५; 17.८७ ;

२१ रथोद्धता 8.१२; 10.१,३,५,७,९,११,१३,१५,१७,१९,२०,२१,२३,२५,२७,२९,३१,३३,३५,४४ ; 17.४८,५९ ;

२२ वसन्ततिलका 1.५२ ; 2.३० ; 4.५५ ; 6.५२ ; 8.९,२२,५२ ; 10.४६ ; 11.३४,३८,३९ ; 12.४७,५१,५२ ; 14.३८-३९ ; 15.४६-४८, ५० ; 16.८६-८७ ; 17. ८९,९१ ;

२३ वंशपत्रपतित 8.१६ ;

२४ वंशस्थ 1.१-५१ ; 6.१-४६ ; 10.४३ ; 11.३१ ; 13.३३,३९ ; 17.७१,७२,८२ ;

२५ वियोगिनी 4.१-५४ ; 11.३९ ; 13.३१ (समचरण) ; 17.४१-४२ ;
वैतालीय व वियोगिनी एकच.

२६ वैश्वदेवी 2.१-२९ ; 8.२७ ;

२७ शार्दूलविक्रीडित 7.९५ ; 14.३९ ; 18.१४५-१४६ ;

२८ शालिनी 2.३२ ; 3.४१-४२ ; 6.४९ ; 8.१०,५० ; 11. १-३०,४० ; 12.४९ ; 14.३२ ; 17.४७,७०,७४,७५,८०,८१,९० ;

२९ शिखरिणी 11.३७ ; 12.५० ; 13.३४ ; 14.२९ ; 15.४९ ; 16.८४ ; 17.४० ;

३० स्वागता 5.६६ ; 10.२,४,६,८,१०,१२,१४,१६,१८,२२,२४,२६,२८,३०,३२,३४ ; 14.३७ ; 17.५०,५२,५६,५९,६७, ८८ ;

३१ हरिणी 3.४३ ; 5.६९ ; 8.५८ ; 10.४५ ; 13.२९ ; 15.४५ ; 17.६९ ;

■

महाकविधनञ्जय विरचितम्

द्विसन्धानमहाकाव्यम्

कविदेवरभट्टकृत 'पदकौमुदी' टीकासमन्वितम्

श्रीमान् शिवानन्दन ईशवन्द्यो भूयाद्विभूत्यै मुनिसुव्रतो वः ।
सद्धर्मसम्भूतिनरेन्द्रपूज्यो भिन्नेन्द्रनीलोल्लसदङ्गकान्तिः ॥ १ ॥
जीयान्मृगेन्द्रो विनयेन्दुनामा सर्वित्सदाराजितकण्ठपीठः[1] ।
प्रक्षीबवादीभकपोलभित्तिं प्रमाक्षरैः स्वैर्नखरैर्विदार्य ॥ २ ॥
तस्याथ[2] शिष्योऽजनि देवनन्दी सद्ब्रह्मचर्यव्रतदेवनन्दी ।
[3]पदाम्बुजद्वन्द्वमनिन्द्यसच्यं तस्योत्तमाङ्गेन नमस्करोमि ॥ ३ ॥
त्रैलोक्यकीर्तेश्चरणारविन्दं पारे नयार्णोऽधितरां प्रणम्य ।
[4]पियासतां राघवपाण्डवीयां टीकां करिष्ये पदकौमुदीं ताम् ॥ ४ ॥

इदानीम् "नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनं पुण्यावाप्तिर्निर्विघ्नश्च शास्त्रादौ तेन संस्तुतिरिति मनसि[5] इक्ष्वाकुवंशोत्तंसीभूतस्य सकल[6]भूतलैकच्छत्रितयशोमण्डलस्य दशरथतनयस्य सलक्ष्मणो लक्ष्मणान्वितस्य त्रैलोक्योपद्रवमानमर्दनस्य रामस्य धीरोदात्तगुणास्पदस्य तथा पाण्डुराजस्य राजाधिराजनम्रमुकुटतटजटितमणिगणकरनिकररञ्जितपादारविन्दानां सोमवंश्यानां धीरोदात्तानाञ्च (राज्ञां) कथाद्योतनार्थं भगवतोर्मुनिसुव्रतनेम्योर्नमस्कारं कुर्वतो द्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य काव्यस्य नान्दीश्लोकं व्याख्यास्यामः ।

अन्तरंग तथा बहिरंग लक्ष्मीके स्वामी अतएव इन्द्रके द्वारा वन्दित शिवादेवीके नन्दन श्री मुनिसुव्रतनाथ [की भक्ति] आप लोगोंकी सम्पत्तिका कारण हो । इनके शरीरका रंग तुरन्त तोड़े गये इन्द्रनीलमणिके समान है तथा रत्नत्रयमय समीचीन धर्मके प्रकाशक होनेके कारण वे चक्रवर्तियोंके द्वारा पूजे जाते हैं ॥१॥ आचार्य विनयचन्द्र रूपी सिंह चिरजीवी हों जिन्होंने न्याय वाक्य रूपी अपने नखोंके द्वारा मदान्ध वादी (शास्त्रार्थकर्ता) रूपी हाथियोंके मस्तकोंको फोड़ (झुका) दिया था तथा जिनके कंठरूपी सिंहासन पर भगवती शारदा सदा विराजमान थीं ॥२॥ इनके शिष्य देवनन्दी हुए थे जो निरतिचार ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें ही स्वर्गोंका सुख मानते थे । सबके द्वारा प्रार्थित तथा पूज्य इनके चरणकमलोंके युगलको मस्तक झुका कर प्रणाम करता हूं ॥३॥ देवनन्दीकी कीर्ति तीनों लोकोंमें व्याप्त है । न्यायरूपी समुद्रको पार करनेके इच्छुकोंके लिए उनके चरणकमल नौकाके समान हैं । इन चरणोंको भलीभांति प्रणाम करके राघव-पाण्डव कथामय इस द्विसन्धान काव्यकी 'पदकौमुदी' नामकी टीका करता हूं, जो कि इसके पढ़नेवालोंको पार लगायेगी ।

सम्प्रति "नास्तिकताके परिहार, शिष्टाचारका पालन, पुण्यकी वृद्धि तथा विघ्नोंके विनाशके लिए शास्त्रके प्रारम्भमें इष्टदेवकी स्तुति करनी चाहिए ।" इस भावनाको मनमें लाकर इक्ष्वाकु वंशके मुकुट, सकल भूतलपर छत्रके समान छाये यशके स्वामी, शुभ लक्षण समन्वित, लक्ष्मीसे वेष्टित, तीनों लोकोंके उपद्रवोंके मर्दक तथा धीरोदात्त नायक महाराज दशरथके पुत्र रामचन्द्रजी तथा नमस्कार करते हुए राजाधिराजाओंके मुकुटोंपर जड़े मणिसमूहसे निकली किरणोंकी राशिसे रञ्जित चरणकमलधारी, चन्द्रवंशमें उत्पन्न, धीरोदात्त नायक पाण्डु राजाओंकी कथाको प्रसिद्ध करनेके लिए द्विसन्धानकाव्यके निर्माता कवि धनञ्जय-द्वारा किये गये भगवान् मुनिसुव्रतनाथ तथा नेमिनाथके नमस्कारके द्योतक मंगलश्लोककी व्याख्या करता हूं ।

---

१. पाठः प० । २. -थ प०, द० । ३. पादा- प०, द० । ४. अन्यमिति शेषः । अन्यपारं गन्तुमिच्छतामित्यर्थः । ५. मनसिकृत्य- प० । ६. भुवस्त- प०, द० ।

[1]श्रियं जगद्बोधविधौ विहायसि व्यदीपि नक्षत्रमिवैकमुद्गतम् ।
स यस्य वस्तीर्थरथस्य सुव्रतः प्रवर्तको नेमिरनश्वरीं क्रियात् ॥ १ ॥

श्रियमिति । स सुव्रतो नाम [2]विंशतितमतीर्थङ्करः अनश्वरीं नित्यां मोक्षेणोपलक्षितां श्रियं लक्ष्मीं क्रियात् । केषाम् ? वो युष्माकम् । कथम्भूतः ? तीर्थरथस्य–तीर्थम् आगमः तदेव रथः शकटस्तस्य प्रवर्तकः प्रवर्तयिता । किं विशेषणाङ्कितः सन् ? नेमिः नीयते ह्रियते[3] चमगनेनेति निर्वचनाच्चक्रधारा[4] । न हि नेमिमन्तरेणान्यो रथः सुखेन यातीत्यतो नेमिर्भूत्वा प्रवर्तक इति भावः । यस्य बोधविधौ केवलज्ञानानुष्ठाने । जगद्व्यदीपि भाति स्म । किमिव ? विहायसि गगने, उद्गतम् उदितम् । एकं नक्षत्रमिव । एतेन भगवतो ज्ञानस्यानन्त्यं सूचितमस्तीति भावः ।

इदानीं भारतीयः पक्षः—स नेमिः शिवानन्दनो द्वाविंशतितमस्तीर्थंकरोऽनश्वरीं श्रियं नित्यां लक्ष्मीं क्रियात् । किंविशिष्टः ? प्रवर्तकस्तीर्थरथस्य तीर्थचक्रिणः, सन् । वो युष्माकम् । पुनः किंविशिष्टः ? सुव्रतः शोभनानि निरतिचाराणि व्रतानि यस्य स तथोक्तः । यस्य बोधविधौ बोध एव विधुश्चन्द्रस्तस्मिन् बोधविधौ सति तथा जगद्भुवनं व्यदीपि, अभासिष्ट इव यथा विहायसि नभस्तले, बोधविधौ-सकलकलाकलापपरिपूर्णे चन्द्रे सति, नक्षत्रमेकमुद्गतं भाति । अत्र स एव भावः पूर्वोक्तः ।

अथ कवेः सुव्रतनेम्योर्नमस्कारकरणादेव रामायण-भारतीयकथयोः कालः सूचितो भवतीत्याशयः । अत्र विप्रतिपद्यते कथं न चतुर्विंशतितीर्थंकर्तॄणां साधारणत्वात् समानधर्मत्वाच्च द्वयोरेवाङ्गीकरणे कवेरपरीक्षकत्वाभिधानलक्षणो नाम पक्षपातप्रसङ्गः स्यात् ? न हि जैनानां क्वचित्कदाचित्कथञ्चित्कुतश्चित्कस्मिंश्चिद्वस्तुनि परीक्षकत्वाभावाद्विचारमन्तरेण पक्षपातोऽस्ति । नैवं मतम् । तेषां तीर्थंकरसमुदायस्यापि ग्रहणात् । सुव्रतनेम्योर्ग्रहणादेव तीर्थंकरसमुदायः कथंकारं लब्ध इति चेत्; नैवम्, स्यात्कारमुद्रामुद्रितस्य तस्याश्रयणात् । शब्दानामनेकार्थाभिधायकत्वात् । यथा श्वेतादयोऽत्र त्रयाणां ग्रहणम् । शुक्लतुरंगमस्य तथा तृतीयपाण्डवस्यार्जुनस्य भूरुहविशेषस्य चेति तथा सुव्रतोऽप्येकतीर्थंकरस्तीर्थंकरसमुदायो वा भवति, तस्य ग्रहणम् ।

अन्वय—तीर्थरथस्य प्रवर्तको नेमिः स सुव्रतः वः अनश्वरीं श्रियं क्रियात्, यस्य बोधविधौ-विहायसि उद्गतं एकं नक्षत्रमिव जगत् व्यदीपि ।

जिनतीर्थ (धर्म) रूपी रथके आवर्तनके लिए धुरा-स्वरूप उन भगवान् मुनिसुव्रतनाथ [की भक्तिके प्रसादसे] आप लोगोंको अनन्तकाल पर्यन्त स्थायी मोक्ष-लक्ष्मी हो, जिनके केवलज्ञान रूपी चन्द्रमासे समस्त जगत् वैसे ही चमक उठा था जैसे नक्षत्रोंके अग्रणी सूर्यके आकाशमें उदित होनेपर होता है ॥१॥

अन्वय—तीर्थरथस्य प्रवर्तकः सुव्रतः स नेमिः…… ।

जिनशासनरूपी रथके पुनः प्रवर्तक, निरतिचारव्रती भगवान् नेमिनाथ [की भक्तिके प्रसादसे] आप लोगोंको वह लक्ष्मी हो जिसका कभी विनाश नहीं होता है । तथा जिनके केवलज्ञानकल्याणरूपी निधि हो जानेपर सारा संसार वैसे ही आलोकित हो उठा था जैसा प्रमुख नक्षत्र सूर्यके आकाशमें उदित होनेपर समस्त लोक होता है ।

विशेषार्थ–बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रतनाथ तथा बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथको नमस्कार करनेसे श्री रामचन्द्रजी तथा श्री कृष्णचन्द्रजीके समयका संकेत हो जाता है । चौबीसों तीर्थंकरोंके एक सदृश तथा समानधर्मी होनेपर भी केवल उक्त दो तीर्थंकरोंको नमस्कार करनेके कारण क्यों न कविको अपरीक्षक तथा पक्षपाती कहा जाय ? जैनियोंको किसी भी वस्तुमें, किसी भी स्थानपर, किसी भी समय, किसी भी कारणसे परीक्षा तथा विचार बिना रञ्चमात्र भी पक्षपात नहीं होता है । अतः यहाँ भी नामोक्त दो तीर्थंकरोंसे

---

१. सर्गेऽस्मिन्वंशस्थं वृत्तम् । तल्लक्षणम्–"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" वृ० र० ३।४७ ।
२. विंशस्ती– द० । ३. सुखमनेन च- प०, द० । ४. -रा नेमिः – प०, द० ।

तद्यथा—

स सुव्रतः शोभनानि व्रतानि यस्य तीर्थंकरसमुदायस्य स तथोक्तः। क्रियात्। श्रियमनश्वरीं निर्विघ्नां लक्ष्मीम्। किंविशिष्टो, नेमिः, नीयन्ते प्राप्यन्ते सुरनरनागेन्द्राणां विभूतिं प्राणिनो धर्मपरा येनासौ नेमिः, स्वर्गफलानां विभूतीनां निःश्रेयसपर्यन्तानां दातेति भावः केषां, वो युष्माकम्। किंविशिष्टः सन्, प्रवर्त्तकः प्रणेता बोढा। कस्य, तीर्थरथस्य। यस्य घातिचतुष्टयक्षयात् क्षत्रं कैवल्यस्वभाव उद्गतं समुत्पन्नं सत्, एकमिव न व्यदीपि? अपि तु अनेकमिव शोभितम्। क्व, जगद्बोधविधौ, जगतां लोकानां बोधो हेयोपादेयफलस्तस्य विधिर्निर्माणं, तस्मिंस्तथोक्ते। किंविशिष्टे? विहायसि। विहायो विधिरूपम्। ओहाङ् गतौ। विहानं विहा। विशिष्टा गतिरनन्यसंभाविनी[1]। यस्, क्विपि रूपम्। यस् प्रयत्ने। यसनं यस्, प्रयत्नः। विहो विशिष्टगतेर्यस् प्रयत्नो यस्मिन्नसौ विहायस्तस्मिन् समवसरणप्रयत्ने, इत्यर्थः। एतेन समवसरणविहारप्रक्रमः कथितो भवतीत्यभिप्रायः काव्यटीकाकर्त्तुरलमतिप्रसङ्गेन ॥१॥

इदानीं श्रुतस्कन्धदेवतां वनदेवताव्याजेन (साम्येन) नमस्करोति—

सतीं श्रुतस्कन्धवने विहारिणीमनेकशाखागहने सरस्वतीम्।
गुरुप्रवाहेण जडानुकम्पिना स्तुवेऽभिनन्द्ये वनदेवतामिव ॥२॥

सतीमिति। स्तुवे स्तवीमि। कां, सरस्वतीं सर्वज्ञभारतीम्[2]। किंविशिष्टां सतीं पूर्वापरप्रमाणबाधारहिताम्। पुनः विहारिणीं विहरणशीलाम्। क्व, श्रुतस्कन्धवने श्रुतस्कन्धो द्वादशाङ्गं चतुर्दशपूर्वमिति यावत्, स एव वनं तस्मिंस्तथोक्ते। पुनः कथम्भूते, अनेकशाखागहने, अनेकशाखाः, प्राभृतकादीनि यावत्। ताभिर्गहने

'तीर्थंकरसमुदाय' तात्पर्य है। मुनिसुव्रत तथा नेमिनाथकी स्तुति करनेसे तीर्थंकर समुदायकी स्तुति कैसे होगी? यदि यह प्रश्न है तो स्याद्वाद दृष्टिकी शरण लेनेसे यह नहीं ही टिकेगा। शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं। 'श्वेताश्व' कहनेसे सफेद घोड़ा, पाण्डव अर्जुन तथा कायफल वृक्षका ज्ञान होता है इसी प्रकार सुव्रत-नेमि समस्त तीर्थंकरोंके द्योतक हैं—

अन्वय—सुव्रतः नेमिः सः तीर्थरथस्य प्रवर्तकः[1] वः अनश्वरीं श्रियं क्रियात् यस्य उद्गतं क्षत्रं विहायसि जगद्बोधविधौ एकमिव न व्यदीपि।

निरतिचार महाव्रती, स्वर्गसे लेकर मोक्षपर्यन्त स्थलोंमें ले जानेवाले तीर्थ (धर्म) रूपी मार्गके प्रवर्तक उन तीर्थंकरकी भक्तिके प्रसादसे आप लोगोंको निर्बाध महालक्ष्मीकी प्राप्ति हो, जिनका ज्ञानावरणी आदि चार घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न कैवल्यरूपी क्षत्र चलती हुई सभा (समवशरण) में संसारको हेय-उपादेय आदिका बोध कराता हुआ एक प्रकारसे ही नहीं चमका था अपितु अनन्त रूपोंमें प्रकट हुआ था ॥१॥

अब वनदेवताके उपलक्षणसे श्रुतस्कन्धको नमस्कार करते हैं—

अन्वय—[3]जडानुकम्पिना गुरुप्रवाहेण अभिनन्द्ये अनेकशाखा[5]गहने श्रुतस्कन्धवने विहारिणीं वनदेवतामिव सतीं सरस्वतीं स्तुवे ॥२॥

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विवेकहीन मूर्खोंके उद्धारक गुरुओंकी परम्परासे उत्तरोत्तर वर्द्धमान, प्राभृत आदि अनेक शाखाओं (भेदों) से गहन द्वादशांग तथा चतुर्दश पूर्व रूपी शास्त्रके वनमें विचरण करनेवाली अतएव वनदेवीके समान, पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण सती सर्वज्ञकी वाणी (दिव्य ध्वनि) की विनती करता हूँ।

वरुण देवताकी कृपासे आये महान पूरके द्वारा बढ़ाये गये शाखाओंके विस्तारके कारण अगम्य तथा वृक्षोंके पुष्ट तथा उन्नत तनोंके लिए प्रसिद्ध वनमें विचरण करनेवाली अतएव साध्वी सरस्वतीके समान वनदेवीको नमस्कार करता हूँ ॥२॥

१. सम्भविनी प०। २. वाणीम् द०। ३. 'जातावेकवचनम्'। ४. "डलयोरभेदः" अतएव वनदेवतापक्षे 'जलानुकम्पिना....' इत्यादि। ५. 'शाखा प्राभृतकादीनि'।

घने । पुनः कथम्भूते, अभिनन्द्ये, अभि समन्ताद्वर्धनीये । केन, कर्त्रा गुरुप्रवाहेण, गुरवो गणधरादयस्तेषां प्रवाहः परम्परा, तेन । कथम्भूतेन ? जडानुकम्पिना, जडा हेयोपादेयविकलाः[१],ताननुकम्पते, अनुकम्पाविषयीकरोतीत्येवंशीलस्तेन । कामिव वनदेवतामिव वनलक्ष्मीमिव । कथम्भूतां वनदेवताम् ? सतीं साङ्गोपाङ्गसम्पूर्णलक्षणाम् । पुनः कथम्भूताम् ? विहारिणीं[२], प्रकर्षेण विहरणशीलाम् । क ? श्रुतस्कन्धवने श्रुता विख्याताः स्कन्धाः शाखाजन्मस्थानानि [तेषां[३] वनम् तस्मिन् । कथम्भूते अनेकशाखागहने अनेकाश्च ताः शाखा विटपजन्मस्थानानि तैर्गहने] निबिडे । पुनः कथम्भूते, अभिनन्द्ये अभिवर्द्धनीये । केन, गुरुप्रवाहेण गुरुपरम्परेण । कथम्भूतेन जडानुकम्पिना, जलानुकम्पिनेति सम्बन्धः[४] ॥२॥

चिरन्तने वस्तुनि गच्छति स्पृहां विभाव्यमानोऽभिनवैर्नवप्रियः ।
रसान्तरैश्चित्तहरैर्जनोऽन्धसि प्रयोगरम्यैरुपदंशकैरिव ॥३॥

चिरन्तन इति । जनो लोको गच्छति[५] । कां, स्पृहाम्[६] । कस्मिन्, वस्तुनि पदार्थे । किंविशेषणाश्रिते ? चिरन्तने, पुरातने । कथम्भूतो जनः ? नवप्रियो नूतनाभिलाषुकः । पुनः कथम्भूतो, विभाव्यमानः, आह्लाद्यमानः । कैः ? रसान्तरैः, "शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥" [सं० अ० चि० ८५] इति रसेष्वेकैकस्य निवृत्तेरुत्तरोत्तरतया समुत्पद्यते इति कृत्वा रसान्तराणि । कथम्भूतैः ? अभिनवैः, प्रत्यग्रैः । पुनश्चित्तहरैश्चेतोरञ्जकैः । पुनः प्रयोगरम्यैः शब्दरचनारमणीयैः । इव यथार्थे । यथोपदंशकैर्व्यञ्जनैः । नवप्रियो नूतनाभिलाषी जनः । अन्धसि भक्ते । स्पृहां वाञ्छाम् । गच्छति प्राप्नोति । कथम्भूतैस्तैः ? प्रयोगरम्यैः, संस्कारविशेषोत्कर्षमनोहरैः । किंविशिष्टः सन् ? विभाव्यमानो रम्यमाणः । कैः ? रसान्तरैः—स्वादुम्लवणतिक्तोषणकषायका एते यद्येकस्मिन् मिश्रा जायन्ते ततो रसान्तराणि, तैः । किंविशिष्टैः ? चित्तहरैश्चित्ताह्ला[७]दिभिरिति[८] ॥३॥

स जातिमार्गो रचना च साऽऽकृतिस्तदेव सूत्रं सकलं पुरातनम् ।
विवर्त्तिता केवलमक्षरैः कृतिर्न कञ्चुकश्रीरिव वर्ण्यमृच्छति ॥४॥

स इति । स जातिमार्गो जगतीपङ्क्त्यादिच्छन्दःपद्धतिः । चकारोऽत्रावधारणार्थो गम्यते । रचना सैव, पदन्यासः । सैव आकृतिर्गद्यपद्यादिबन्ध[९]लक्षणः संस्थानविशेषः, सा कथा, एकपुरुषाश्रितं चरित्रं सकलं समस्तम् । तदेव सूत्रम्, गद्यपद्यबन्धादिषु शास्त्रेषु सूत्र्यन्ते रच्यन्ते गुम्फ्यन्ते कथारूपतया अर्था येन तत्सूत्रमिति

अन्वय—चित्तहरैः अभिनवैः रसान्तरैः प्रयोगरम्यैः उपदंशकैः विभाव्यमानः नवप्रियः जनः अन्धसि इव चिरन्तने वस्तुनि स्पृहां गच्छति ॥३॥

चित्तके लिए आकर्षक तथा क्रमानुसार विकसित फलतः नवीन शृङ्गार आदि रसों तथा शब्दालंकारों और अर्थालंकारोंकी सुन्दर रचनामें प्रयुक्त वर्णोंके द्वारा प्रसन्न किया गया नूतनताका उपासक मनुष्य; भातके समान, प्राचीनसे प्राचीन कथामें अनुरक्त हो जाता है।

मनमोहक नये नये मीठे, खट्टे, कसैले आदि छह स्वादों तथा सुन्दर उपायोंसे बनाये गये व्यञ्जनोंके परोसे जानेपर नवीनताका प्रेमी मनुष्य पुरानी कथाके समान सनातन भातको भी खानेके लिए तैयार हो जाता है ॥३॥

अन्वय—स जातिमार्गो रचना आकृतिश्च सैव तदेव सकलं पुरातनं सूत्रं केवलमक्षरैः[१] विवर्तिता कृतिः कञ्चुकश्रीरिव वर्ण्यं न ऋच्छति ? ॥४॥

उपजाति आदि ही छन्द रहते हैं, पदवाक्य विन्यास भी पूर्व परम्परागत होता है, गद्य-पद्य मय ही आकार रहता है और सबके सब वही पुराने अलंकार-नियम रहते हैं तो भी

---

१. ॰य विवेक-वि—द० । २. विचरणशीलाम्—द० । ३. विशेषः—द० । ४. अत्र श्लेषोपमा—द० । ५. याति कां प० । ६. वाञ्छाम् प० । ७. चित्तानन्दि—प० । ८. श्लेषोपमालंकारः प० । १. ॰दि बन्ध—द०,प० ।

निर्वचनात् । पूर्वाचार्यप्रणीतत्वात् पुरातनं चिरन्तनम् । यद्यप्येवम्, तथापि केवलमक्षरैर्वर्णैः कृत्वा । विवर्त्तिता परावृत्ता, सती । कृतिः काव्यम् । किम् वर्णं श्लाघाम् । न ऋच्छति आप्नोति ? अपि तु प्राप्नोत्येव । केव कञ्चुकश्रीरिव कूर्पासशोभेव । यथा कञ्चुकश्रीरक्षरैरक्षेण सूच्या कृत्वा परेषां ब्राह्मणादीनां[1] वर्णानां द्रव्यं रान्ति गृह्णन्तीति निरुक्तेरक्षराः [2]द्रविकास्तैः, कर्तृभिः । केवलं परम् । विवर्तिता सती । किम् ? वर्णं श्लाघाम् न याति ? अपि तु यात्येव । यद्यपि स एव जालिमार्गः, अङ्गवङ्गादिदेशोद्भवजनाभिप्रायः, सैव रचना हस्तावसरे करविन्यासः (हस्तावरणान्वर्णैकविन्यासः) सैवाकृतिः संस्थानं, केवलं सकलं तदेव सूत्रं जन्तुजालरूपं चिरन्तनमिति सम्बन्धः । श्लेषोपमा ॥४॥

कवेरपार्थामधुरा न भारती कथेव कर्णान्तमुपैति भारती ।
तनोति सालङ्कृतिलक्ष्मणान्विता सतां मुदं दाशरथेर्यथा तनुः ॥५॥

कवेरिति । कवेर्भारती वाणी । कर्णान्तं श्रुतिरन्ध्रं नोपैति नाश्रयति । कथंभूता सती ? अपार्था अर्थशून्या । अमधुरा माधुर्यगुणोज्झिता । कस्यचित् कवेरमधुरा सती, अर्थयुक्ता कर्णान्तमुपैति, कस्यचित्कवेरर्थशून्या सती मधुरा च । अर्थमाधुर्यगुणाभ्यामुज्झिता कालत्रयेऽपि कवेर्भारती कर्णान्तं नोपैतीत्यभिप्रायः । केव, भारतीकथेव कर्णान्तं नोपैति । कर्णस्य नरेन्द्रस्य, अन्तो विनाशः, कर्णान्तस्तं कर्णान्तम् । कथम्भूता सती ? अपार्था, अर्जुनशून्या तथा अमधुरा, मधुं मधुनामानं नरेन्द्रं, रौ ददौ, हतवानित्यर्थः । स मधुरो नारायणः, [राधो दानमिति] अत्र 'धानवैदाने देङो रक्षणे स्थादो मैं छेदने] इति 'दारूपाणां चतुर्णां धातूनां रूपमेकविधिना स्यादतः कारणाच्छेदनार्थो गृहीतोऽस्ति । न विद्यते मधुरो यस्यां सा अमधुरा, नारायणरहिता । [अमधुरा सती पार्थयुक्तत्वादपार्था सती मधुरयुक्तत्वात्तथा[4]] पार्थमधुराभ्यां रहिता सती कर्णवधं नाश्रयतीति । स कवेर्भारती सतां परीक्षकाणां पुरुषाणां मुदं हर्षं तनोति । कथम्भूता सती ? अलंकृतिलक्ष्मणाऽन्विता अलंकृतिरलङ्कारो लक्ष्म लक्षणं व्याकरणम् । अलंकृतिश्च लक्ष्म चालंकृतिलक्ष्म । अत्र [illegible] तेनान्विता । यथा दाशरथे रामस्य तनुः शरीरं, सतां सत्पुरुषाणां मुदं तनोति । कथम्भूता ? सालंकृतिलक्ष्मणान्विता, सालंकृतिलक्ष्मणेन सौमित्रिणा युक्तेति सम्बन्धः । अत्र श्लेषोपमा । अत्र कवेर्भारत्या दूषणभूषणे प्रदर्शिते ॥५॥

केवल अक्षरोंके विन्यासको बदल देनेसे ही क्या कोई रचना कञ्चुकके समान शोभित नहीं होती है ? अर्थात् होती ही है ।

अंग-वंग आदि देशोंके ही पहिरनेवाले होते हैं, हाथके लिए बाँह आदि चिरन्तन शकल होती है तथा ताना-बाना तो पूराका पूरा पुराना ही रहता है तथापि दर्जियोंके द्वारा पलट दिये जानेपर ही क्या कोई कपड़ा नूतन काव्यके समान शोभित नहीं होता है ? अर्थात् होता ही है ॥४॥

अन्वय—अपार्था अमधुरा कवेः भारती भारतीकथेव कर्णान्तं नोपैति, अलंकृतिलक्ष्मणान्विता सा सतां मुदं तनोति यथा दाशरथेस्तनुः । ॥५॥

अर्थ शून्य तथा माधुर्य आदि गुणोंसे रहित कविकी वाणी, महाभारतकी कथाके समान श्रोताओंके कानोंतक नहीं पहुंचती है । अलंकार शास्त्र और व्याकरण-नियमों से युक्त वही कविकी वाणी दशरथ-सुतके शरीरके समान सज्जनोंको प्रमुदित कर देती है ।

अर्जुन विहीन तथा मधुदैत्यके संहारकर्ता (श्रीकृष्ण) रहित महाभारतका चरित कविवाणीके समान राजा कर्णके वध तक नहीं जा सकता है । [विदग्धकी] शोभा (सीता) तथा लक्ष्मणसे युक्त वह दाशरथि (श्रीराम)की छवि सहज ही भक्तोंको आह्लादित कर देती है ॥५॥

---

१. -नां वर्णानां–द०, प० । २. सूईके द्वारा धन कमानेवाले–अक्षर=दर्जी । ३. रा ला दाने । रानमित्यत्र डुदाञ् दाने । दाण् वैदाने । देङ् रक्षणे । छे [छो] दो मो छेदने–द० । ४. अमधुरा सती अपार्था सती अर्थात् –इति पाठो युक्तः ।

हृतोऽपि चित्ते प्रसभं सुभाषितैर्न साधुकारं वचसि प्रयच्छति ।
कुशिष्यमुत्सेकभियावजानतः पदं गुरोर्धावति दुर्जनः क सः ॥६॥

हृत इति । क स दुर्जनः खलो यो न प्रयच्छति ? कम् ? साधुकारम् । क ? वचसि वाचि । कथम्भूतोऽपि ? हृतोऽपि, गृहीतोऽपि । कैः कृत्वा सुभाषितैः सूक्तैः । क ? चित्ते हृदये । कथम् ? प्रसभं बलात्कारेण । शिष्यं विनेयम् । उत्सेकभिया गर्वभयेन । अवजानतोऽवहेलयतोऽवज्ञाविषयीकुर्वतः । गुरोः सूरेः, पदं पदवीं क धावति ? अपि तु न । अत्र गुरुदुर्जनयोर्वैषम्यमिति भावः । विषमालङ्कारः ॥६॥

ततोऽधिके तादृशि वा कृतश्रमः परैः कृतं निन्दतु तत्र का व्यथा ।
व्यलीकवैदग्ध्यहतेऽपवादिनि ज्वलत्यनाश्वानपि मन्युना तपन् ॥७॥

तत इति । ततस्तस्मात् परकृतादधिके काव्ये । तादृशि वा परकृतकाव्यसदृशे वा । कृतश्रमो विहिताभ्यासः सन् । परैः[1] कृतं काव्यं निन्दतु दूषयतु, तत्र[2] का व्यथा पीडा ? अपि तु न कापि । युक्तमेतत् । परं, व्यलीकवैदग्ध्यहतेऽसत्यचातुरीजर्जरीभूते । अपवादिनि, '[3]अपवदत्येवंशीलः परदोषग्राहकस्तस्मिन् । अनाश्वान् तपस्वी । मन्युना कोपेन । ज्वलति दीप्तो भवति । कथम्भूतः ? तपन्नपि तपस्यन्नपि[4] ॥७॥

कृतावतारायतिपुण्यनायकैरजातशत्रुप्रमुखैरियं कृतिः ।
न वार्च्यते केन न राघवारिभिर्नरोत्तमैः कोटिशिलेव चालिता ॥८॥

कृतेति । वा, उपमानार्थः । केनेव न वार्च्यते पूज्यते कृतिरियम् ? अपितु विश्वजनेनार्च्यत इत्ययमर्थो लभ्यते[5] । "द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः" [न्यायसं० पृ० ६०] इति वचनात् । यथा विश्वेनार्च्यते[6] तथा मया कविना धनञ्जयेनेति भावः । कथम्भूता ? कृतावतारा, कृतो विहितोऽवतारोऽवतरणं यस्यां सा तथोक्ता । कैः कर्तृभिः ? राघवारिभिः रामरावणादिभिः । कथम्भूतैः ? आयतिपुण्यनायकैः, आयतिरुत्तरकालस्तया प्रधानं पुण्यभायुषः[7] स्थितिं यावत् , तस्य[8] स्वामिनस्तैः । पुनः, अजातशत्रुप्रमुखैः, न जाता शत्रवः प्रमुखाः संमुखा

अन्वय—सुभाषितैः चित्ते प्रसभं हृतोऽपि दुर्जनः वचसि साधुकारं न प्रयच्छति । सः कुशिष्यमुत्सेकभियावजानतः गुरोः पदं क धावति ? ॥६॥

मन ही मन कवियोंकी सूक्तियोंपर पूर्णरूपसे मोहित होकर भी दुर्जन मुखसे "साधु साधु" नहीं कहता है । किन्तु शिष्यकी सुन्दर रचनापर सर्वथा मुग्ध तथापि कुशिष्योंकी ईर्ष्या अथवा अहंकारके डरसे उपेक्षा दिखाकर वचनोंसे प्रशंसा न करनेवाले गुरुकी समानता क्या वह दुर्जन कभी कर सकता है ?॥६॥

यदि वह पुरुष दूसरोंके काव्यकी निन्दा करता है जिसने दूसरोंके सदृश अथवा दूसरोंसे बढ़कर रचनाएं की हैं तो इसमें दुखी होनेकी कोई बात नहीं है । किन्तु झूठ-मूठ ही विद्वत्ताकी डींग मारनेवाले दूसरोंके निन्दक पुरुषपर तो तपस्वी साधुका भी क्रोध भभक उठता है ॥ ७ ॥

अन्वय—यतिपुण्यनायकैः अजातशत्रुप्रमुखैः नरोत्तमैः कृतावतारा राघवारिभिः चालिता कोटिशिलेव इयं नवा कृतिः केन न अर्च्यते ॥८॥

विश्वबन्धु साधुओंके अग्रणी, श्रेष्ठ मनुष्य, पुण्यके स्वामी जिनसेन आदिके द्वारा पहिले लिखी गयी और रावणके द्वारा हिलायी गयी कोटिशिलाके समान यह नूतन रचना किसके लिए पूज्य नहीं है ?

---

१. इतरैः द०, प० । २. निन्दके द०, प० । ३. अपवदती–द०, प० । ४. अत्रार्थान्तरालंकारः द०, प० । ५. लब्धः–द०, प० । ६. अनेना–प०, द० । ७. मायति पुण्यमा–प०, द० । ८. -स्य नायकाः स्वा– प०, द० ।

येषां तैः । पुनः कथम्भूता ? चालिता, चर्चिता । कैः ? नरोत्तमैर्जिनसेनादिभिराचार्यैः[१] । केव चालिता ? कोटिशिलेव । कैः ? नरोत्तमैर्नारायणैः । अत्र लोकपूज्यत्वाद्बहुवचनम् । कथम्भूतैस्तैः ? कृतावतारायतिपुण्य- नायकैर्विहितावतारदीर्घदेवप्रधानैः । पुनरजातशत्रुप्रमुखैरिति सम्बन्धः ।

अथ भारतीयपक्षः—नवा नूतना सर्वदेयं कृतिरर्च्यते । केन सुखेन कृत्वा । कीदृशी ? कृतावतारा । कैः ? नरोत्तमैर्धीरोदात्तगुणास्पदैर्वीरैः । कीदृशैः ? [२]अजातशत्रुप्रमुखैर्युधिष्ठिरप्रमुखैः । पुनः कीदृशैः ? नराघ- वारिभिः, नरोऽर्जुनः, अघं विघ्नं वारयतीति[३] स्येवंशीलोऽघवारी, नरोऽघवारी येषां तैर्नराघवारिभिरिति कवेरभिप्रायः । अथवा नराणां मनुष्याणामघं पापं वारयन्तीत्यघवारिणस्तैस्तथोक्तैः । "राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः, पापे पापाः समे समाः । राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥" [चा. नी. द. १३।८।] इति वचनात् कवेर्नेमिचन्द्र- स्याशयः । चालिता प्रवर्त्तिता । कैः ? नरोत्तमैः समन्तभद्रादिभिः सूरिभिः । यथा नरोत्तमैः[४] कोटिशिला चालितोल्लिता । अत्रोभयेषामाचार्यनारायणानां विशेषणानि[५] ज्ञातव्यानीति सम्बन्धः । अत्र श्लेषोपमा ॥८॥

अथापरागोऽप्यपरागत्तां गतः स पश्चिमोऽपि प्रथमो विपश्चिताम् ।
अनुज्ञया वीरजिनस्य गौतमो गणाग्रणीः श्रेणिकमित्यवोचत ॥ ९ ॥

अथेति । अथशब्दो मङ्गलवाची । उक्तञ्च—"हेतौ निदर्शने प्रश्ने स्तुतौ कण्ठसमीकृतौ । आनन्तर्येऽ- धिकारार्थे माङ्गल्ये चाथ इष्यते ॥" गणाग्रणीर्गौतमो गणधरः । श्रेणिकं मगधदेशस्वामिनं प्रति इति वक्ष्यमाणा- प्रकारं अवोचतावादीत् । अनुज्ञयाऽऽज्ञया । कस्य ? वीरजिनस्य, वर्द्धमानस्य [६]चतुर्विंशतितमतीर्थकरस्य । कीदृशो गौतमः ? अपरागोऽप्यपरागतां गतः अपरागतां वान्यतां गतोऽपि कथमपरागो रजोमलरहितो भवतीति विरुद्धम् । परिह्रियते—अव्ययानामनेकार्थत्वादपिशब्दोऽत्र कारणार्थे गम्यते । अपि यस्मात्कारणात्, अपरागतां गतः—इष्टे वस्तुनि मातृमित्रकलत्रादौ प्रीतिः रागः, अपगतो रागो यस्य सः तथोक्तस्तस्य भावोऽपरागता तां प्रीतिराहित्यं गतः प्राप्तोऽत एवापराग [७]एनोमलरहित इति सुस्थम् । कीदृशः पुनः ? विपश्चितां[८] विदुषां प्रथम

अन्वय— कृतावतार-आयतिपुण्यनायकैः अजातशत्रुप्रमुखैः नरोत्तमैः राघवारिभिः चालिता इयं नवा कृतिः कोटिशिलेव केन न अर्च्यते ।

अवतार कर्त्ता, भावी पीढ़ीके लिए आदर्श चरित्र, तथा जिनके सामने आनेका शत्रु साहस नहीं करते थे। ऐसे नारायण रामचन्द्र जी तथा उनके शत्रु (रावण) के जीवनसे प्रचलित इस नयी काव्य (रामायण) कथाको कोटिशिलाके समान कौन नहीं पूजेगा ? अर्थात् सभी पूजेंगे।

अन्वय—......नराघवारिभिः नरोत्तमैः चालिता इयं कृतिः केन वा कोटिशिलेव न अर्च्यते ।

मनुष्य पर्यायको प्राप्त, भविष्यके लिए अनुकरणीय चरित्रवान् तथा युधिष्ठिरको (राजा अथवा बड़ा भाई) माननेवाले पाण्डवों तथा अर्जुन अथवा मनुष्य मात्रके पापोंके विनाशक शलाकापुरुष श्रीकृष्ण तथा नेमिचन्द्रके जीवनसे प्रारब्ध इस काव्य (महाभारत) कथाकी कोटिशिलाके समान कौन व्यक्ति पूजा नहीं करेगा ? ॥८॥

अन्वय—अपरागोऽपि अपरागतां गतः पश्चिमोऽपि विपश्चितां प्रथमः गणाग्रणी गौतमः वीरजिनस्य अनुज्ञया श्रेणिकम् इत्यवोचत ।

अपवादभाजन होकर भी रजोमलरहित तथा अन्तमें हो कर भी पीछेके नहीं; पहिले गौतम गणधर [विरोधाभास है , परिहार] मित्र, कलत्रादि इष्ट जनोंकी प्रीति रहित अतएव पापमल हीन महावीरप्रभुके तुरन्त बाद हुए तथा इस युगके आचार्योंके अग्रणी

---

१. कीदृशैः यतिपुण्यनायकैः । यतिषु व्रतिषु मध्ये पुण्याः प्रधानाः नायकाः स्वामिनस्तैः—प०, द० । २. अजातरिपुसम्मुखैः- प०, द० । ३. निराकरोती- पा० । ४. पुरुषोत्तमैः- प० । ५. पूर्वोक्तानि- प०, द० । ६. चतुर्विंश- प०, द० । ७. रजोमल-द० । ८. विद्वज्जनानाम्- प०, द० ।

आद्योऽपि सन् कथं पश्चिमः पाश्चात्यः ? इति विरोधः । नैवम् , पारोक्ष्यत्वात् (परापेक्षत्वात्) पदार्थधर्माणाम् । वीरजिनस्यापेक्षया पश्चिमो न विदुषामिति निरूप्यमाणत्वादिति सुस्थम् ॥ विरोधालङ्कारोऽत्र ॥ ९ ॥

इहैव जम्बूतरुमालवालवत्परीयुषोच्चैर्भरतेऽब्धिनावृते ।
निवस्तुमिष्टास्तिमितार्यकिन्नरैर्नगर्ययोध्यासमहास्तिनाख्यया ॥१०॥

इहेति । हे आर्य, गुणैर्गुणवद्भिरर्य्यते सेव्यत इत्यार्यो गुणगुणिसमाश्रयस्तस्य सम्बोधने हे आर्य, गुणगुणिसमाश्रय हे श्रेणिक । इहैव भरतक्षेत्रे किं नास्त्याख्यया नाम्नायोध्या पुरी[1] ? अपि त्वस्त्येव । कथम्भूते भरते ? आवृते वेष्टिते । केन ? अब्धिना समुद्रेण । केनेव ? आलवालवदालवालेनेव स्थालकेनेव । कथम्भूतेन ? परीयुषा वेष्टितवता । कम् ? जम्बूतरुम् । कथम् ? उच्चैरतिशयेन । कथम्भूता पुरी ? समहा सोत्सवा । पुनः कीदृशी ? इष्टाऽभिलषिता । कैः ? नरैः[2] । किं कर्तुम् ? निवस्तुं स्थातुम् । पुनः कीदृशी ? स्तिमिता स्थिरेति ।

अधुना भारतीयः—हे असमानुपम हे श्रेणिक ! हास्तिनाख्या नगरी पुरी । अस्ति विद्यते[3] । किन्नरैः यक्षैः अथवार्यकिन्नरैः प्रधानयक्षैः । पुनः मिता, योजनायामविष्कम्भसम्मिता । पुनः अयोध्या परैर्योद्धुमशक्या । भारतवर्णनं पूर्ववज्ज्ञातव्यम् । श्लेषालङ्कारः ॥१०॥

पुरी पयोधीन् कुलपर्वतानपि प्रसाधयन्ती करशुद्धमण्डला ।
बिभर्त्ति साकेतकगोत्रसूचिता सरःसु लक्ष्मीं प्रतिमा रवेरिव ॥११॥

पुरीति । तथा सरःसु सरोवरेषु । लक्ष्मीं शोभाम् । बिभर्त्ति पुरी नगरी कीदृशी ? साकेतकगोत्रसूचिता, साकेतं कायति कथयति साकेतकं, तच्च तद्गोत्रञ्च तत्पौराणमयोध्या-नामेति भावः, साकेतकगोत्रेण सूचिता । अपि शब्दः समुच्चयार्थः । आत्मीयपर्यायनाम्ना प्रसिद्धेत्यर्थः । किं कुर्वाणा सती ? [4]आत्मसात् कुलपर्वतान्,

---

श्री गौतम गणधरने महावीरप्रभुके उपदेशसे इस कथाको श्रेणिक राजाको निम्न प्रकारसे सुनाया था । ॥९॥

अन्वय—आर्य ! जम्बूतरुमालवालवत् उच्चैः परीयुषा अब्धिना आवृते इहैव भरते स्तिमिता, समहा किन्नरैः निवसितुमिष्टा आख्यया अयोध्या नगरी नास्ति ?

आर्य श्रेणिक ! जम्बू वृक्षको सर्वथा क्यारीके समान घेरे तथा स्वयं लवण समुद्रसे घिरे इस [जम्बू द्वीपके] भारत क्षेत्रमें अत्यन्त दृढ़, उत्सवोंसे परिपूर्ण अतएव निवासके लिए किन्नर देवोंको भी प्रिय और नामसे अयोध्या नामकी नगरी क्या नहीं है ? अर्थात् सर्वविदित है ।

अन्वय—हे असम !···मिता, अयोध्या, आर्यकिन्नरैः निवस्तुमिष्टा हास्तिनाख्यया नगरी अस्ति ।

हे निरुपम श्रेणिकराज ! जम्बू वृक्षके लिए थालेके समान तथा लवण समुद्रसे सब दिशाओंमें घिरे इस [जम्बू द्वीपके] भरत क्षेत्रमें योजनानुसार लम्बी-चौड़ी, शत्रुओंके आक्रमणोंसे परे अतएव आर्य लोगों तथा किन्नर आदि देवोंके रहने योग्य हस्तिनापुर नामकी नगरी है ॥ १० ॥

अन्वय—करशुद्धमण्डलापयोधीन् कुलपर्वतानपि प्रसाधयन्ती सा-केतकगोत्रसूचिता पुरी सरःसु रवेः प्रतिमा इव लक्ष्मीं बिभर्त्ति ।

व्यवस्थित राजस्व-व्यवस्थाके कारण चोरादिहीन फलतः समुद्रों तथा सीमा पर्वतों तकके लिए अलंकारभूत और साकेत नामसे भी विख्यात वह अयोध्यापुरी तालावमें प्रतिबिम्बित सूर्यकी प्रतिमाके समान सम्पत्तिका भण्डार थी । क्योंकि सूर्यमण्डल भी किरणोंसे

---

१. -ध्या नगरी पु–द० । २. नैर्जवैः द० । ३. -से कीदृशी इष्टा । किङ्कर्तुं निवसितुम् द०, प० । ४. आत्मसात् कुर्वती–प० । आत्मसात्कुर्वती–द० ।

पयोधीन् समुद्रान् प्रसाधयन्ती । अपिशब्दस्यायमर्थो न केवलं पयोधीन् कुलपर्वतांश्च । कीदृशी पुनः ? करशुद्धमण्डला, कराय (करेण) सिद्धाय (येन) शुद्धं चरटमत्तजनादिरहितं मण्डलं देशो यस्याः सा तथोक्ता । इवोपमार्थः । यथा रवेरादित्यस्य प्रतिमा बिम्बं सरःसु लक्ष्मीं बिभर्त्ति । कीदृशी ? कैतकगोत्रसूचिता, कैतकानां गोत्रं सन्तानं कैतकगोत्रं, सूचीनां भावः सूचिता, सूचिता प्रादुर्भावः, कैतकगोत्रस्य सूचिता यस्याः सकाशाद्भवति सा तथेति[1] ।

भारतीयः—हस्तिनापुरी करशुद्धमण्डला भूत्वा पयोधीन् कुलपर्वतानपि प्रसाधयन्ती सती सरःसु लक्ष्मीं बिभर्त्ति । साकेतकगोत्रसूचिता साकेतकानां राजपुत्रविशेषाणां यद्गोत्रं[2] तस्मै सूचिता सुष्ठूचिता योग्या सा तथोक्ता । यथा रवेः प्रतिमा सरःसु लक्ष्मीं बिभर्त्ति । शेषं समम् ॥११॥

विसारिभिः स्नानकषायभूषितैर्बिभीषितेव प्रियगात्रमङ्गना ।
शुचौ समालिङ्गति यत्र सारवे ह्रदे तरन्ती कलहंससंकुले ॥१२॥

विसारिभिरिति । यत्र यस्यां नगर्याम् । शुचौ ग्रीष्मे सति । कलहंससंकुले ह्रदे तरन्ती प्लवमाना सती अङ्गना कामिनी प्रियगात्रं समालिङ्गत्याश्लिष्यति । कीदृशे ? सारवे, सरय्वा नद्या अयं सारवः तस्मिन् "द्वेधिकायां सरय्वाञ्च भवे दाविकसारवौ" इत्यमरः । केवोत्प्रेक्षिता । बिभीषितेव भयं नीतेव । कैः ? विसारिभिर्मत्स्यैः । कथम्भूतैः ? स्नानकषायभूषितैः । स्नानार्थं कषायाः कुङ्कुमादयः स्नानकषायास्तैर्भूषिता लिप्तास्तैः ।

भारतीये सारवे सस्वने । उत्प्रेक्षा ॥१२॥

अरान् घटीयन्त्रगतान् गतश्रमः पयःकणैरग्रपदेन पीडयन् ।
स यत्र कच्छी सतनुः सुरालयं प्रयुज्य निःश्रेणिमिवारुरुक्षति ॥१३॥

अरानिति । यत्र यस्यां स कच्छी मालाकारः । सतनुः सशरीरः । सुरालयं स्वर्गम् । आरुरुक्षतीवारोढुमिच्छतीव । किं कृत्वा ? पूर्वं प्रयुज्य सम्बद्ध्य । काम् ? निश्रेणिम् । किं कुर्वाणः सन् ? पीडयन् कदर्थयन् । कान् ? अरान् काष्ठकीलकान् । कथम्भूतान् ? घटीयन्त्रगतान् जलपात्राश्रितान् । केन कृत्वा ? अग्रपदेन चरणाग्रेण[3] । कथम्भूतः ? गतश्रमो विगतक्लमः । कैः ? पयःकणैरुदबिन्दुभिरिति[4] ॥१३॥

उदर्कसंक्लेशभरं स्वयं वहत् परस्य सन्तापहरं फलप्रदम् ।
युतं विजात्यापि विलङ्घ्य सज्जनं विभाति यत्रोपवनं समन्ततः ॥१४॥

जगमग होता है, समुद्रों और पर्वतोंको आलोकित करता है तथा कमल-परिवारके लिए हितू होता है।

राज्य भरमें उचित राजस्वके लिए ख्यात अतएव समुद्रों और कुलाचलोंकी भी शोभाको बढ़ानेवाली तथा साकेत वंशके राजपुत्रोंके लिए सर्वथा उपयुक्त वह हस्तिनापुरी सूर्य-बिम्बके समान तालाबों और लक्ष्मीसे पूर्ण थी।

ग्रीष्म ऋतुमें जहाँ पर सुन्दर हंसोंसे पूर्ण सरयू नदीके घाटोंपर तैरती हुई युवती, स्नानके समय लगाये गये लेप आदिसे रंगी मछलियोंसे डरकर अपने पतिके शरीरसे चिपट जाती है।

हस्तिनापुरमें सुन्दर हंसोंसे व्याप्त अतएव (सारवे) कोलाहलपूर्ण स्वच्छ तालाबमें तैरती हुई अंगना·········है ॥ १२ ॥

जिन नगरियोंमें माली अपने पैरसे रेहँटके गजोंको दबाता था तथापि पानीकी फुहारसे उसकी थकान दूर हो जाती थी। वह ऐसा लगता था मानो सीढ़ी बिना लगाये ही अपने भौतिक शरीरके साथ स्वर्गमें चढ़नेका प्रयत्न कर रहा है। ॥१३॥

जिन नगरोंमें शिरपर चमकते सूर्यके आतपको स्वयं सहकर भी दूसरोंको गर्मीसे

---

१. किं कुर्वाणा सती प्रसाधयन्ती प्रच्छादयन्ती । कान् पयोधीन् कुलपर्वतांश्च । कथम्भूता भूत्वा करशुद्धमण्डला । करैः किरणैः शुद्धं मण्डलं यस्याः सा प०, द० । २. –श्रम् अन्वयः त–प०, द० । ३. अग्रचरणेन प०, द० । ४. अर्थोत्प्रेक्षा प०, द० ।

उदर्केति । समन्ततः सामस्त्येन । यत्र यस्याम् । सज्जनं सत्पुरुषम् । विलङ्घ्यातिक्रम्य । उपवनमुद्यानम् । विजात्या युतमपि विशिष्टया जात्या युतमपि । विभातीति विरुद्धम् । परिहृयते—

वीनां पक्षिणां जातिस्तया युक्तम् । कीदृशम् ? उदर्कसङ्क्लेशभरम्, ऊर्ध्वं गतोऽर्कः ऊर्ध्वं स्थितो रविरुदर्कस्तस्माद्यः संक्लेशभरः सन्तापभारस्तम् । वहत् धरत् । कथम् ? स्वयमात्मना । परस्य जनस्य सन्तापहरं सन्तापं[1] हरतीति तत्तथाभूतम् । कीदृशं पुनः ? फलप्रदं फलं प्रददातीति तत्तथा । अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामो दर्शयिष्यते । सज्जनोऽप्येवं शोभतेतराम् । कीदृशोऽपि ? युतोऽपि । कया ? विजात्या, विशिष्टा मातृपक्षलाञ्छनरहिता जातिस्तया । उक्तञ्च—"**मातुः पक्षो भवेज्जातिः पितुः पक्षो भवेत्कुलम्**" [म. पु. प. ३९–८५] इति । उदर्कसंक्लेशभरम्, उदर्कः फलमुत्तरं तस्मिन् संक्लेशभरस्तं वहन् बिभ्रत्[2] । परस्य सन्तापहरः फलप्रदश्च विरोधाभासः ॥१४॥

दशां दधानाः खलु गन्धधारिणीं महाद्रुमस्कन्धनिबद्धकन्धराः ।
स्वबन्धवैरोद्धटयेव सिन्धुराः शिरांसि यस्यां धुनतेऽरुणेक्षणाः ॥१५॥

दशामिति । यस्यां नगर्य्याम् । अरुणेक्षणाः लोहितलोचनाः । सिन्धुरा गजाः । शिरांसि शीर्षाणि धुनते कम्पयन्ते । कयेवोत्प्रेक्षिताः । स्वबन्धवैरोद्भटया इव स्वबन्धवैरमुद्घाटयितुमिव । कीदृशाः ? गन्धधारिणीमेतन्नाम्नीं दशां महावस्थां खलु निश्चयेन दधाना दधतः । पुनः कथम्भूताः ? महाद्रुमस्कन्धनिबद्धकन्धराः, महाद्रुमा उच्चवृक्षाः, स्कन्धाः शाखोत्पत्तिस्थानानि, महाद्रुमाणां स्कन्धाः महाद्रुमस्कन्धास्तेषु निबद्धा नियन्त्रिताः कन्धरा ग्रीवा येषां ते । उक्तञ्च—"**सञ्जाततिलका पूर्वा, द्वितीयार्द्रकपोलिका । तृतीयार्द्रनिबद्धा तु चतुर्थी गन्धधारिणी ॥१॥ पञ्चमी क्रोधिनी ज्ञेया षष्ठी चैव प्रवर्त्तिका । सम्भि(म्प्रभि)न्नकपोलाऽथ सप्तमी सार्वकालिका**" ॥२॥ उत्प्रेक्षालंकारः ॥१५॥

कुशासनोदीरितचेतसश्चला मनोजवा मेघपथेतिवर्त्तिनः ।
प्रसह्य नीता गुरुभिर्महापथं नरोऽतिदाम्यन्त्यपि यत्र वाजिनः ॥१६॥

कुशासनेति । यत्र यस्यां नगर्यां नरः नराः, अतिदाम्यन्ति सुशिक्षिता भवन्ति । कीदृशाः, गुरुभिः सूरिभिः, उपाध्यायैः कर्तृभिः महापथं सन्मार्गं प्रसह्य [3]बलान्नीताः प्रापिताः । कथम्भूताः ? अतिवर्त्तिनः ।

बचानेवाला, फलोंका दाता तथा कोने कोनेमें विशेष प्रकारकी वृक्ष-श्रेणियोंसे पूर्ण उपवन सज्जनोंसे भी बढ़कर शोभित होता है ।

पूर्वोपार्जित कर्मोंके दुःखद परिणामोंको स्वयं सहकर भी दूसरोंको शान्ति-मार्गके उपदेष्टा, पुण्यके प्रेरक तथा सर्वथा पवित्र मातृकुलसे सम्बद्ध सज्जन भी उपवनोंको पछाड़ कर उन नगरियोंकी शोभा बढ़ाते थे । ॥१४॥

जिस अयोध्या अथवा हस्तिना नगरीमें गन्धधारिणी (जिसमें हाथीके माथेसे मदजलकी धार लग जाती है) अवस्थाको प्राप्त अतएव बड़े-बड़े वृक्षोंके तनोंसे गलेमें भी बंधे, उन्मादसूचक लाल-लाल नेत्रोंवाले बड़े-बड़े हाथी अपने बन्धनका विरोध करनेके लिए ही माथा धुनते थे ॥१५॥

अन्वय—यत्र कुशासनोदीरितचेतसः चलाः मनोजवामे अघपथेतिवर्तिनः नराः गुरुभिः प्रसह्य महापथं नीता अतिदाम्यन्ति ॥१६॥

जिन नगरोंमें कुशिक्षित दुष्ट लोगोंकी प्रेरणासे भ्रान्त चित्त, नीति मार्गसे भ्रष्ट कामदेव मय विपरीत मार्गपर चले जानेके कारण शिष्टताकी सीमाओंके परे गये लोग भी गुरुओंकी सबल प्रेरणासे साधुमार्गमें लाये जानेपर अत्यन्त संयमी हो जाते हैं ।

---

१. –पं संस्तक्लेशं ह- प०, द० । २. भरन्- प०, द० । ३. हठात् प०, द० ।

अतिवर्त्तमानाः। क? अवपथे पापमार्गे। कथम्भूते? मनोजवामे कन्दर्पानुकूले। कीदृशाः? "तमः खलु चलं नीलम्" इति वचनात्। चलाः तमस्विनः। कीदृशाः पुनः। कुशासनोदीरितचेतसः कुशासनं दुःशिक्षा विद्यते येषां ते कुशासनाः कुशिक्षादायिनः पुरुषाः तैरुदीरितं (उदीर्णम्) उद्धूलितञ्चेतो हृदयं येषां ते तथोक्ताः। तथा वाजिनः तुरङ्गमा अप्येवं गुरुभिरश्ववारैर्महापथं बाह्यालीं प्रसह्य हठात् नीताः। दाम्यन्ति सुशिक्षिता जायन्ते। कीदृशाः। मेघपथे नभसि अतिवर्त्तिनः, उत्प्लवनशीलाः। पुनः मनोजवाः मनोवेगिनः पुनः चलाः चञ्चलाः पुनः कुशासनोदीरितचेतसः कुशा वल्गा आसनं स्थानविशेषः। कुशा च आसनञ्च कुशासने ताभ्यां कृत्वा उदीरितं दत्तं चेतो यैस्ते वल्गास्थानकदत्तचित्ता इति श्लेषालङ्कारः॥१६॥

प्रभाविरामस्य सपत्नसन्ततेः शरासनाभ्यासपदं किरीटिनः।
बहिर्यतोऽद्यापि निचाय्य दूरगं मदं विमुञ्चन्ति शरं न धन्विनः॥१७॥

प्रभेति–यतो यस्या नगर्या अयोध्याया बहिर्बाह्यप्रदेशे अद्यापि साम्प्रतमपि किरीटिनो मुकुटवतो रामस्य शरासनाभ्यासपदं चापगुणनिकारस्थानं दूरगं विप्रकृष्टं निचाय्यालोक्य मदं गर्वं विमुञ्चन्ति अपाकुर्वन्ति धन्विनो धनुर्धराः न शरं बाणं कथम्भूतम्? प्रभावि प्रभवनशीलं कस्याः, सपत्नसन्ततेः सपत्नाः शत्रवस्तेषां सन्ततेः सन्तानस्येति सम्बन्धः॥

भारतीयः[१]—किरीटिनोऽर्जुनस्य शरासनाभ्यासपदमित्यन्वयः। कथम्भूतस्य किरीटिनः, सपत्नसन्ततेः प्रभाविरामस्य प्रभाया विरामो यस्मात् तस्य शेषं पूर्ववत्॥१७॥

प्रपासभासार्थनटाश्रमव्रजैर्जनाकुलैर्भान्ति भृशं बहिर्भुवः।
प्रजाः कुतश्चित् परदेशभङ्गतो विलोलितायां शरणं गता इव॥१८॥

प्रपेति–बहिर्भुवः बहिर्भूमयो भृशमत्यर्थं भान्ति विभासन्तेतरां कैः? प्रपासभासार्थनटाश्रमव्रजैः प्रपा पानीयशालाः सभाानि योगिनां (धर्माधर्म)विचारस्थानानि सार्थाः वणिग्जनानां समूहाः नटाः बहुरूपिणः।

अन्वय—"कुशा-आसनोदीरितचेतसः चलाः मनोजवाः मेघपथेऽतिवर्तिनः वाजिनः"।

जहांपर चाबुक तथा सवारीके संकेतको समझनेके लिए बाध्य अत्यन्त चंचल, मनके समान तेज और आकाशमें उछलनेवाले घोड़े भी लम्बे-चौड़े रास्तोंपर ले जाकर साईसोंके द्वारा सुशिक्षित बनाये जाते हैं॥१६॥

अन्वय—अद्यापि यतो बहिः किरीटिनः रामस्य शरासनाभ्यासपदं दूरगं निचाय्य धन्विनः मदं विमुञ्चन्ति, सपत्नसन्ततेः प्रभावि शरं न॥१७॥

आज भी जिस अयोध्याके बाहर मुकुटधारी रामके धनुषविद्याके सीखनेके स्थानको दूरसे ही देखकर धनुषधारी लोग अहंकारको छोड़ देते हैं, शत्रुओंपर आतंक जमानेवाले बाणको नहीं चलाते हैं।

अन्वय—अद्यापि यतो बहिः सपत्नसंततेः प्रभाविरामस्य किरीटिनः दूरगं शरासनाभ्यासपदं निचाय्य धन्विन मदं विमुञ्चन्ति, शरं न॥१७॥

आज भी जिस हस्तिनापुरीके बाहरके मैदानमें शत्रु-समूहके प्रतापके अन्तक अर्जुनके धनुषविद्या सीखनेके दूर तक विस्तृत स्थानको देखकर धनुषधारी योद्धा मदको छोड़ देते हैं। तीरको नहीं छूते हैं॥१७॥

जिस अयोध्या अथवा हस्तिनापुरीके बाहरके भाग पौसरा, कर्तव्य-अकर्त्तव्य विचारक धर्मसभा, व्यापारियोंके झुण्ड, नटों, साधुओंके आश्रमों और पशु-समूहसे परिपूर्ण होनेके

---

१. भारतीयः–यस्य बहिरद्यापि अधुनापि किरीटिनोऽर्जुनस्य शरासनाभ्यासपदं दूरगमतिदूरं निचाय्य निरीक्ष्य मदमवलेपं विमुञ्चन्ति परित्यजन्ति धन्विनश्चापधराः न शरं बाणं कथम्भूतस्य प्रभाविरामस्य प्रभाया विरामो यस्मात्तस्य कस्याः? सपत्नसन्ततेररिकुलस्येति सम्बन्धः। श्लेषालंकारः–प०, द०।

आश्रमास्तपस्विनां मठाः व्रजाः गोकुलानि द्वन्द्वसमासापेक्षया तैस्तथोक्तैः । कथम्भूतैः जनाकुलैः (लोकसङ्कीर्णैः) का इव उत्प्रेक्षिताः । कुतश्चिद्धेतोः परदेशभङ्गतः शत्रुमण्डलनाशात् विलोलिताः कदर्थिताः प्रजाः कारुकादयः[1] यां नगरीं शरणं गता इवेति[2] ॥१८॥

असूयया ऽऽगम्य निशाम्य यां पुरो विलज्जयाम्भःपरिणामिनीं दशाम् ।
गताः इवाभान्ति कुलाद्रिपेशलाश्चरण्युलोलाः परिखाम्बुवीचयः ॥१९॥

असूयेति—परिखाम्बुवीचयः खातिकाजलकल्लोलाः आभान्ति भासन्ते । कीदृशाः कुलाद्रिपेशलाः कुलाचलसदृशाः । पुनः । चरण्युलोलाः, अनिलचञ्चलाः असूयया परगुणानामसहनमसूया ईर्ष्या तया आगम्य प्राप्य[3] निशाम्य यां नगरीं विलोक्य पुरोऽन्या नगर्या विलज्जया त्रपया कृत्वाम्भःपरिणामिनीमम्भसोऽम्बुनः परिणामः पर्यायोऽस्यास्तीति सा तां तथोक्ताम् [4]अल्पपरिणमनशीलां दशामवस्थाङ्गता इवोत्प्रेक्षिताः[5] ॥१९॥

इतस्ततोऽभ्रंलिहशृङ्गकोटयो विभान्ति यस्यां पुरि वप्रभूमयः ।
गजेन्द्रदन्ताहतिगाढगह्वरैर्गवाक्षजालैरिव हर्म्यपङ्क्तयः ॥२०॥

इतस्तत[6] इति—यस्यां पुरि वप्रभूमयः गिरितटादयः परिखामेदिन्यो वा अभ्रंलिहशृङ्गकोटयो गगनतलस्पर्शिशिखराग्राः विभान्ति । कैः कृत्वा ? गजेन्द्रदन्ताहतिगाढगह्वरैः दन्तीन्द्रदन्तदत्तप्रहारगाढछिद्रैः । इव यथा आकाशतलस्पर्शिशिखरा[7] हर्म्यपङ्क्तयो गृहश्रेणयः गवाक्षजालैर्वातायनवृन्दकैः कृत्वेति श्लेषोपमा ॥२०॥

समुच्छ्रिते यत्परिधौ हिरण्मये प्रहाविवागाधतले तमोरिपुः ।
भवत्यनूचान इवोग्रचर्यया स दृष्टनष्टोऽहनि मध्यमे चरन् ॥२१॥

समुच्छ्रित इति—हिरण्मये काञ्चनमये समुच्छ्रिते उन्नते यत्परिधौ यस्याः प्राकारे उग्रचर्यया तीव्रगत्या चरन् प्रवर्त्तमानः स तमोरिपुर्दिनकरो मध्यमेऽहनि मध्याह्ने दृष्टनष्टः पूर्वं दृष्टः पश्चान्नष्टो विलोकिततिरोहितो भवति अगाधतलेऽलब्धस्पर्शे प्रहाविव कूपे यथा अनूचानस्तपस्वी चरन् उग्रचर्यया तीव्रतपश्चरणेन दृष्टनष्टो भवतीत्युपमा[8] ॥२१॥

सपुष्पशय्याजगतीलतागृहाः सहेमसोपानपथाः सनिर्झराः ।
स्फुटन्तटा यत्र सुरोपसेव्यतां व्रजन्ति मेरोरिव कृत्रिमाद्रयः ॥२२॥

कारण ऐसे लगते थे मानो किसी विदेशके विनाशके कारण दुःखी जनता इस नगरकी शरणमें आ गयी है ॥१८॥

कुलाचलोंके समान उन्नत तथा वायुके वेगसे अत्यन्त चपल खाईकी लहरें ईर्ष्यापूर्वक नगरकी तरफ आती थीं तथा इसे सामने देखकर लज्जित होकर 'पानी पानी' हो जाती थीं ॥१९॥

जिस नगरमें गगनचुम्बी शिखरोंसे युक्त पर्वतोंके ढालोंकी भूमि मदोन्मत्त हाथियोंके दन्तप्रहारके द्वारा किये गये गहरे गड्ढोंके कारण ऐसी लगती थी मानो खिड़कियोंसे व्याप्त मकानोंकी श्रेणी ही हो ॥२०॥

सोनेसे बने तथा अत्यन्त उन्नत जिस नगरके प्राकारके ऊपरसे तीव्रगतिसे जाता हुआ अन्धकारविनाशक सूर्य मध्याह्नके समय भी थोड़ी देरतक दिखकर छिप जाता है। तो अत्यन्त गहरे कुँएके भीतर घोर तपस्यामें लीन कभी एकाध क्षणके लिए बाहर आनेवाले साधुके समान शोभित होता है ॥२१॥

---

१. -यः जना यां प०, द० । २. उत्प्रेक्षा प०, द० । ३. आगत्य प०, द० । ४. -लरूपप- प०, द० । ५. उत्प्रेक्षालंकारः प०, द० । ६. इतस्ततः प्रदेशेषु द० । ७. चुम्बि- प० । ८. उपमालंकारः प०, द० ।

सेति—यत्र यस्यां नगर्यां कृत्रिमाद्रयः क्रीडाचलाः सुरोपसेव्यतां मदिरानुशीलित्वं प्रजन्ति यान्ति । कथ-
म्भूताः सन्तः ? सपुष्पशय्याजगतीलतागृहाः पुष्पशय्याः कुसुमशयनानि जगत्यो वेदिकाः लतागृहा वल्लीमन्दि-
राणि तैः सह वर्त्तमानाः । पुनः सहेमसोपानपथाः हेमसोपानपथैः कनकपादस्थानीयमार्गैः सह वर्त्तमानाः ।
पुनः सनिर्झराः निर्झरैः जलप्रस्रवणैः सह वर्त्तमानाः स्फुटं निश्चयेन इव यथा मेरोः मन्दरस्य तटाः सानवः
सुरोपसेव्यतां देवाश्रयणीयतां व्रजन्ति । विशेषणानि प्राग्वत् ॥२२॥

अनेकमन्तर्वणवारितातपं तपेऽपि यन्त्रोद्धृतवारिपूरितम् ।
शिखावलान्यत्र बहुप्रणालिकं करोति धारागृहमब्दशङ्किनः ॥२३॥

अनेकेति—यत्र यस्यां नगर्यां 'बहुप्रणालिकं धारागृहकर्तृ तपेऽपि ग्रीष्मेऽपि अब्दशङ्किनः जलधरवितर्किणः
शिखावलान् मयूरान् करोति विदधाति । कीदृशम्—अनेकं विविधप्रकारं कीदृशं पुनरन्तर्वणवारितातपं वनमध्य-
निराकृतोष्मं (तोयमाणम्) पुनः 'यन्त्रोद्धृतवारिपूरितं सुगमं भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥२३॥

विशालकूटाः सुखवासहेतवः समुन्नता यत्र सुधालयालयः ।
ज्वलन्ति जालोद्गतधूमयष्टयः पुरस्य धूमोद्गमकुण्डिका इव ॥२४॥

विशालेति—यत्र यस्यां समुन्नताः, उच्चाः सुधालयालयः 'चूर्णमन्दिरश्रेणयः ज्वलन्ति भान्ति । कथ-
म्भूताः ? विशालकूटाः विस्तीर्णशिखराः आलोद्गतधूमयष्टयः वातायननिर्गतधूमभङ्ग्यः यष्टिभङ्ग्यादि-शब्दानां
प्रशंसावाचित्वाभिधाने छन्दत्वात् यष्टियोगः । पुनः सुखवासहेतवः सुखस्थितिकारणानि पुरस्य नगरस्य
धूमोद्गमकुण्डिका इवोत्प्रेक्षिताः । धूमार्थमुद्गमः प्रादुर्भावो यासां ताः' धूमोद्गमाश्च ताः कुण्डिकाश्चेति कर्म-
धारयः । सुखवासहेतवः सुखपरिपालनसिद्धानि जालोद्गतधूमयष्टयः "गवाक्षोद्गतधूमयष्टयः' ॥२४॥

सुवर्णमय्यः शुचिरत्नपीठिका हरिन्मणीनां फलकैः कृतस्थलाः ।
कलापिनां यत्र निवासयष्टयः स्फुरन्ति मायूरपताकिका इव ॥२५॥

सुवर्णेति—यत्र यस्यां नगर्यां सुवर्णमय्यो हाटकाकाराः' कलापिनां मयूराणां निवासयष्ट्यो गृहचरण्डिकाः
स्फुरन्ति भान्तीति । अथवा कं सुखं लपन्ति वदन्त्येवंशीलाः कलापिनो मृदुभाषिणः सत्पुरुषाः तेषां निवा-

---

जिस नगरोंमें पुष्प-शय्यासे ढकी वेदियोंसे युक्त कुञ्जोंसे परिपूर्ण, सोनेकी सीढ़ियोंसे बने मार्गसहित तथा झरनोंसे व्याप्त क्रीड़ापर्वत मदिरा-पान (सुरा-उपसेवन)के कार्यमें आकर स्पष्ट रूपसे सुमेरुपर्वतके ढालोंकी समता करते थे क्योंकि मेरुके तटोंपर भी देवता (सुर) क्रीड़ा करते हैं ॥२२॥

जहांपर मध्यमें खड़े अनेक वनोंके द्वारा गर्मीको दूर किये जानेके कारण, यंत्रसे निकाले गये पानीसे प्लावित तथा बड़ी-बड़ी नालियोंसे युक्त धारागृह (जलकल) ग्रीष्म कालमें भी मोरोंको मेघोंका सन्देह करा देता था ॥२३॥

जिस अयोध्या अथवा हस्तिनापुरीमें आनन्दसे रहने योग्य, खूब ऊंचे ऊंचे, उन्नत शिखरोंसे सुन्दर तथा वातायनोंसे सुगन्धित धुआं निकालते हुए चूनेसे बने विशाल भवन इन नगरोंकी धुआं देनेवाली अंगीठीके समान जगमग हो रहे थे। धूमकुण्डी भी ऊंची, बड़े शिखरयुक्त ढक्कनसे ढँकी, सुखद गंधका उद्गम, सुधा स्वाहादिकी लयसे पूर्ण तथा जालीसे धुआं निकालती रहती है ॥२४॥

जहांपर सोनेसे बने, निर्दोष रत्नोंकी पीठिकापर रखे तथा हरित मणियोंसे बनी भूमियुक्त मोरोंके बैठनेके डंडे मोरध्वजके समान लहलहाते थे।

---

१. बद्धजलप्रवाहिकं–द० । २. यन्त्राकृष्टपयःपूर्णं–द० । ३. –र्मशुभ्रमं–द०, प० । ४. कथम्भूता विशालकूटा विशालकण्ठाः सु–द०, प० । ५. –क्षरम्भोद्गीर्ण- धू–द०, प० । ६. अत्रोत्प्रेक्षा–द०, प० । ७. कनकविकाराः–द०, प० ।

सयष्ट्यो हर्म्यपङ्क्तयः[1] स्फुरन्तीति टीकाकृतः "मृदुभाषिणो हि सन्तः" [ ] इति वचनात् । [2]शुचिरत्नपीठिकाः स्फटिकमणिपीठिकाः पुनः हरिन्मणीनां[3] फलकैः पट्टिकाभिः कृतस्थलाः विहितास्पदाः का इवोत्प्रेक्षिताः मायूरपताकिका इव मायूरवैजयन्त्य इव स्फुरन्तीति सुस्पष्टमत्रोपमा ॥२५॥

सितासिताम्भोरुहसारितान्तराः प्रवृत्तपाठीनविवर्त्तनक्रियाः ।
समायता यत्र विभान्ति दीर्घिकाः कटाक्षलीला इव वारयोषिताम् ॥२६॥

सितेति—यत्र यस्यां नगर्यां समायताः समाः समकोणाः आयताः दीर्घाः दीर्घिकाः क्रीडावाप्यो विभान्ति[4] । कथम्भूताः ? सितेत्यादि [5]श्वेतनीलपद्मपूरितमध्याः । पुनः प्रवृत्तपाठीनविवर्तनक्रियाः प्रवृत्ताः सञ्जाताः पाठीनानां मीनानां विवर्त्तनक्रियाः[6] यासु ताः । इव यथा वारयोषितां[7] कटाक्षलीलाः, अपाङ्गपातशोभाः विभान्ति । कथम्भूताः ? सितासिताम्भोरुहसारितान्तराः शुक्लश्यामलाम्बुजैरिव [8]संवलितमध्याः प्रवृत्तपाठीनविवर्त्तनक्रियाः प्रवृत्ताः पाठीनानामिव विवर्त्तनक्रिया यासां तास्तथोक्ताः[9] ॥२६॥

अदृश्यपारापतनाभिहेतुषु स्थिरान्धकारेषु जलावगाहिषु ।
अधोगतिं सम्प्रतिपन्नवत्सु या न कूपदेशेष्वपि सत्सु दूषिता ॥२७॥

अदृश्येति—अधोगतिं निन्द्याचरणं सम्प्रतिपन्नवत्सु सम्प्राप्तवत्सु पुनः पतनाभिहेतुषु गृहीतव्रतप्रच्यवनाभिकारणेषु पुनः स्थिरान्धकारेषु स्थिरपापेषु पुनः जलावगाहिषु [10]डलयोरभेदात् जला जडा [11]मूढास्तानवगाहन्ते व्याप्नुवन्त्येवंशीलाः तेषु कूपदेशेषु[12] सत्सु अदृश्यपारापि अनिरीक्ष्यपर्यन्तापि या नगरी न दूषिता न दूषणविषयीकृता[13] । नैवम्-अन्यस्यार्थस्य[14] प्रतिपाद्यमानत्वात् । तथाहि अधोगतिमधस्तात् विवरमार्गं सम्प्रतिपन्नवत्सु पुनः अदृश्यपारापतनाभिहेतुषु अदृश्याः पारापताः कन्दर्पचतुराः पक्षिणो यत्र सा अदृश्यपारापता सा चासौ नाभिश्च मध्यं सा तथोक्ता, हिनोति निर्णयबुद्धिं नयति वस्तुतत्त्वमिति हेतुः इति निर्वचनात् । तस्या नाभेर्हेतवो वृद्धिप्रापकास्तेषु तथोक्तेषु पुनः स्थिरान्धकारेषु स्तिमिततमस्तोमेषु पुनः जलावगाहिषु जलमवगाहिव्यापि येषु तेषु तथोक्तेष्वपि कूपदेशेषु प्रहिप्रदेशेषु अपि सत्सु या न दूषितेति[15] ॥२७॥

स्फटिक मणियोंके आसन, हरित मणियोंके फर्शयुक्त सोनेसे बने अथवा सुन्दर रंगोंसे चित्रित मधुरभाषियों (सज्जनों) के गृहोंकी पंक्ति मोरोंसे बनी पताकाके समान शोभित होती थी ॥२५॥

जिस नगरमें समकोण आयताकार बावडियां श्वेत तथा नील कमलोंसे पूर्ण होनेके कारण तथा मछलियोंकी उछल-कूदकी क्रियाके आधार होनेसे वेश्याओंके समान सुशोभित होती थीं ।

एकत्रित श्वेत तथा कृष्ण कमलोंकी कान्तियुक्त तथा चलती मछलीके समान चंचल गतियुक्त वेश्याओंके विशाल कटाक्ष जिस नगरीमें बावड़ियोंके समान शोभित होते थे ॥२६॥

नीच गतिकी ओर उन्मुख, पतनके समर्थ कारण, दृढ़ पापी तथा मूर्खोंके लिए प्रभावशाली मिथ्या उपदेशकोंके रहते हुए भी वह विशाल नगरी दूषित नहीं हुई थी ।

खूब नीचे चले गये, मध्य भागमें कबूतरोंसे रहित, अथवा गुप्त जलस्रोतोंसे युक्त, सदैव अन्धकारपूर्ण और अथाह जलसे पूर्ण कुँओंसे व्याप्त वह हस्तिना अथवा अयोध्यापुरी निर्दोष नगर थे ॥२७॥

---

१. -यः हर्म्यपरम्पराः स्फु—द०, प० । २. -कीदृश्यस्ताः द०,प० । ३. -नां मरकतमणीनां फ—द०, प० । ४. -न्ति शोभन्तेतराम् क—द०, प० । ५. कमल—द०, प० । ६. याः परिवर्तिनि क्रिया या—द० । ७. तां पण्याङ्गनानां क—प०, द० । ८. सञ्चलित—द० । ९. उपमा प०, द० । १०. यमकश्लेषचित्रेषु ववयोर्डलयोर्न भिदिति वचनात्—द०, प० । ११. मूर्खा—द०, प० । १२. -षु कुत्सितोपदेशेषु स—द० । १३. -तेति विरुद्धम्—द०, प० । १४. —स्यार्थस्य—द० । १५. विरोधालङ्कारः द०, प० ।

अशोकसप्तच्छदनागकेशरैः सुताधिकैराततपुष्पवासनैः ।
प्रयान्त्यभिज्ञातपथाः कथञ्चन क्षपासु यस्यां प्रियवासमङ्गनाः ॥२८॥

अशोकेति—यस्यां नगर्यां क्षपासु रात्रिषु कथञ्चन महता कष्टेन अभिज्ञातपथाः, आत्मप्रतीति[1]नीतमार्गाः
प्रियवासं वल्लभसुरतमन्दिरम् अङ्गनाः[2] प्रयान्ति[3] । कैः ? अशोकसप्तच्छदनागकेशरैः अशोकाः पिण्डीद्रुमाः
सप्तच्छदाः सप्तपर्णाः नागकेशरा वृक्षविशेषाः द्वन्द्वापेक्षया तैस्तथोक्तैः । कीदृशैस्तैः सद्भिः ? सुताधिकैः पुष्पा-
धिकैः पुत्रवदधिकैर्वा आततपुष्पवासनैः प्रसृतपुष्पा[4]मोदैरित्युपमालङ्कारः ॥२८॥

विशीर्णहारा हृतकीर्णशेखराश्च्युतोरुजाला गलितावतंसकाः ।
रतोत्सवे विस्मृतसीधुशुक्तयो यदीयसङ्केतभुवश्चकासति ॥२९॥

विशीर्णेति—यदीयसङ्केतभुवः यदीयवल्लभा[5]यनोऽभिप्रेतभूमयः रतोत्सवे चकासति भान्ति । कथम्भूताः ?
विशीर्णहारास्त्रुटितमौक्तिकैकावल्यः हृतकीर्णशेखराः पूर्वं हृताः पश्चात् कीर्णाः शेखराः शिरोरुहस्रजो यासु [6]ताः
गलितावतंसकाः [7]पतितकर्णाभरणाः विस्मृतसीधुशुक्तयः विस्मृतमद्यचषका इति ॥२९॥

तनुं नटन्त्याः किल काचकुट्टिमे भुवस्तले यत्र विलोक्य बिम्बिताम् ।
इयं प्रविष्टा किमसूचिता वधूरिति भुजङ्गैर्भ्रुकुटिर्विरच्यते ॥३०॥

तनुमिति—यत्र यस्यां काचकुट्टिमे काचबद्धे भुवस्तले [8]भूतले बिम्बितां प्रतिफलितां नटन्त्यास्तनुं नर्तक्याः
शरीरं विलोक्य निरीक्ष्य [9]भुजङ्गकैः भ्रुकुटिः भ्रुवौ वक्रिमा[10] विरच्यते विधीयते । कथम् इति किल लोकोक्तौ
आश्चर्ये वा रङ्गे नर्तनस्थाने किमियं प्रविष्टा वधूः असूचिता अपरिचिता परिचितपात्रप्रवेशनियमात् भ्रान्ति-
मानलङ्कारः ॥३०॥

प्रियेषु गोत्रस्खलितेन पादयोर्नतेषु यस्यां शममागताः स्त्रियः ।
स्वबिम्बमालोक्य विपक्षशङ्कया पुनर्विकुप्यन्ति च रत्नभित्तिषु ॥३१॥

प्रियेष्विति—यस्यां नगर्यां प्रियेषु वल्लभेषु गोत्रस्खलितेन द्वितीयायाः सपत्न्या नामग्रहणेन[11] कृत्वा पादयोः
स्व-चरणयोर्नतेषु पतितेषु सत्सु शमं कोपशान्तिम्[12] आगताः सत्यः स्त्रियो रत्नभित्तिषु स्वबिम्बमालोक्य विपक्ष-
शङ्कया सपत्नीभ्रान्त्या पुनर्विकुप्यन्ति चेति । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥३१॥

सन्तानसे भी अधिक प्रिय अशोक, सप्तच्छद, नागकेशर आदि वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धि-द्वारा अभिसार मार्गके अत्यन्त स्पष्ट हो जानेके कारण उस नगरीमें रात्रिके समय भी नायिकाएं बड़ी कठिनाईसे अपने प्रेमियोंके स्थानपर जा पाती थीं ॥२८॥

रमण वेलामें टूटकर गिरी एकावली, दबकर बिखर गयी जूड़ेकी माला, खिसके हुए करधनीके जाल, गिरे हुए कर्णभूषण तथा भूले हुए सीपके प्याले जिस नगरीके प्रेमियोंके मिलनेके संकेत-स्थलोंको प्रकट करते हैं ॥२९॥

कांच जड़कर बनाये गये लीलागृहोंके धरातलपर प्रतिबिम्बित नर्तकीके शरीरकी छायाको देखकर भंडुए (स्त्रीवेषधारी पुरुष) सोचते हैं कि कोई अपरिचित स्त्री भीतर आ गयी है । अतएव वे ईर्ष्यासे भ्रुकुटि चढ़ा लेते हैं ॥३०॥

जिस नगरीमें सपत्नीका नाम मुखसे निकल जानेके कारण कुपित नायिकाएं पतियों द्वारा पैरोंमें गिरनेपर शान्त होती हैं, किन्तु रत्न जड़ी भीतोंमें अपने ही प्रतिबिम्बको देखकर सपत्नीकी आशंका कर लेती हैं और फिर रुष्ट हो जाती हैं ॥३१॥

---

१. –तीतिमार्गाः–द० । २. –नाः कमनीयकामिन्यः प्र–द०, प० । ३. –न्ति गच्छन्तितराम् द०, प० । ४. कुसुमा–द०, प० । ५. –भा वल्लभम–द० । ६. ताः च्युतोरुजाला पतितमेखलाः ग–द० । ७. च्युतकर्णभूषणाः–द०, प० । ८. भूमितले–द०, प० । ९. –कैर्वतकैः भ्रु–द० । १०. ग्रन्थिः द०, प० । ११. –न अपराधेन कु–द०, प० । १२. कोपोपशान्तिम्–द०, प० ।

प्रवालमुक्ताफलशङ्खशुक्तिभिर्विनीलकर्केतनवज्रगारुडैः ।
यदापणा भान्ति चतुःपयोधयः कुतोऽपि शुष्का इव रत्नशेषतः ॥३२॥

प्रवालेति--प्रवालमुक्ताफलशङ्खशुक्तिभिः प्रवालानि विद्रुमाणि मुक्ताफलानि[1] शङ्खाः कम्बवः शुक्तयः मुक्तास्फोटाः द्वन्द्वसमाहारापेक्षया ताभिः विनीलकर्केतनवज्रगारुडैः विनीलाः मेचकाः[2] कर्केतना लोहितमणयः वज्राः हीरकाः गारुडाः तार्क्ष्योद्गारमणयः एतेषां द्वन्द्वः तैः तथाभूतैः । यस्या आपणाः हट्टाः यदापणा भान्ति क इवोत्प्रेक्षिताः चतुःपयोधय इव रत्नशेषतः शुष्काः कुतोऽपि कस्मात्कारणादपि[3] ॥३२॥

पट्यः पटक्षौमदुकूलकम्बलं मधूनि वर्माणि च रत्नकाञ्चनम् ।
क्रयाय कर्पूरमयांसि चक्रिणो यदापणानन्तरितं समस्त्यपि ॥३३॥

पट्यः इति--पट्यः सीवितवस्त्रद्वयलक्षणाः पटक्षौमदुकूलकम्बलं पट्यः परिधानवस्त्राणि क्षौमाणि वस्त्रविशेषाः दुकूलानि पत्रोर्णानि कम्बला ऊर्णमयाः समाहारापेक्षयैकत्वम् । मधूनि क्षौद्राणि वर्माणि तनुत्राणि रत्नकाञ्चनं रत्नानि पद्मरागादीनि काञ्चनानि हिरण्यानि अत्र समाहारः । कर्पूरं घनसारं जात्यपेक्षयैकत्वम् अयांसि लौहानि चक्रिणो रथाः, इत्येवं सर्वं यदापणानन्तरितं यस्या हट्टानवच्छिन्नं समस्त्यपि क्रयाय द्रव्य-विनिमयायेति ॥३३॥

रसेषु हेमे कुसुमेषु कुङ्कुमे घनेषु वज्रे जलजेषु मौक्तिके ।
समस्तपण्ये सुलभे सुदुर्लभं यदीयवेश्याजनपण्यमुज्ज्वलम् ॥३४॥

रसेष्विति--रसेषु धातुवद्द्रव्येषु[4] हेमेषु[5] हेमे सुवर्णे सुलभे कुसुमेषु प्रसूनेषु कुङ्कुमे घुसृणे सुलभे सति घनेषु (दृढेषु) वज्रे हीरकेषु सुलभे जलजेषु वारिविकारेषु मौक्तिके शुक्तिजे सुलभे । एवं समस्तपण्ये सुलभे सति केवलं यदीयवेश्याजनपण्यमुज्ज्वलं रमणीयं सुदुर्लभमिति । अत्र[6] वासनार्थोऽभिधीयते--अत्यन्तसुलभेषु हिरण्य-हीरकादिषु व्ययीक्रियमाणेष्वपि[7] सत्सु यन्नगरीनिवासिनां वेश्याजनैः सह भोक्तुकामानां मदनमाद्यन्मनसां यूनां प्रचुरतया कन्दर्पमाद्यन्मनसां लावण्ययौवनमनो[8]हरत्वादिगुणवतां वेश्याजनानामल्पतयैवैक (को) वेश्याजनमे-(ए)कैकस्य यूनः सम्भोक्तुं न सम्पूर्यते इति कृत्वा दुर्लभं तदन्यासां वेश्यानां सुलभत्वाच्च अत्र समुच्चया-लङ्कारः ॥३४॥

मूंगा, मोती, शंख, सीप, गहरे नीले कर्केतन, लाल, हीरा, गरुडमणि आदिसे भरे बाजार ऐसे सुशोभित होते हैं मानो किसी कारणसे चारों समुद्र सूख गये हैं और केवल उनके रत्न ही शेष रह गये हैं ॥३२॥

जिस नगरके बाजारोंमें, धोती आदि परिधान, सिले कपड़े, और (रेशमी वस्त्र) दूकूल, कम्बल, मधु, कवच, विविध रत्न, सोना, चाँदी, कपूर, लोहेकी वस्तुएँ भरी पड़ी थीं ॥३३॥

जिस नगरके बाजारोंमें धातुओंमें सोना, फूलोंमें पराग, घन पदार्थोंमें वज्र, जलोत्पन्न वस्तुओंमें मोती आदि समस्त क्रय योग्य पदार्थ सुलभ थे। यदि कोई पण्य अति दुर्लभ था तो वह था वेश्यारूपी स्पष्ट पदार्थ ॥३४॥

---

१. -नि मौक्तिकानि शं-द०, प० । २. -काः कर्केतनालो-द०, प० । ३. अत्रोत्प्रेक्षा-द०, प० । ४. धातुद्रव्येषु-द० । ५. हेमेषु इति नास्ति-द०, प० । ६. अत्रावसानार्थो विधीयते-द० । ७. -पि व्ययं प्राप्तेषु स-प० । ८. मनोहरणीयत्वादि-द०, प० ।

कृतार्थसारान् व्यवहारघोषिणो न सत्पदव्याकरणेन मानितान् ।
गुरूनयदीयान्विपणीन्समाश्रितास्तृषान्यदीयान् जिहतेऽन्यवस्तुनः ॥३५॥

कृतेति—यदीयान् यस्या इमे यदीयाः तान् (गुरून् उपाध्यायान् समाश्रिताः संश्रिताः सन्तः शिष्याः अन्यदीयान्[1] गुरून्) अन्यवस्तुनः तृषा अभिलाषेण न जिहते न यान्ति । कथंभूतान् कृतार्थसारान् विहितार्थनिश्चयान् व्यवहारघोषिणः व्यवह्रियते प्रवर्त्यते वस्तुजातम् येनासौ व्यवहारो लौकिकाचारस्तं घुष्यन्ति वदन्तीत्येवंशीलास्ते तथोक्तास्तान् पुनः मानितान् सत्कृतान् । केन कृत्वा ? सत्पदव्याकरणेन सन्ति पूर्वापरप्रमाणबाधादूरीकृतानि पदानि येषां तानि तर्कसिद्धान्तकाव्यादीनि शास्त्राणि व्याक्रियन्ते व्याह्रियन्ते शब्दा येन तद्व्याकरणं[2] च तथोक्तम् । अत्र समाहारः तेन चकारः समुच्चयार्थः । तेनायमर्थो लभ्यते—

न केवलं गुरून् ; विपणींश्च संश्रिताः सन्तः ग्राहका अन्यदीयान् (विपणीन्) अन्यवस्तुनः तृषा वाञ्छया न जिहते । कथम्भूतान् ? कृतार्थसारान् कृतद्रव्यसारकान् व्यवहारघोषिणः क्रयविक्रयभाषिणः पुनः कथम्भूतान् ? मानितान् अधिष्ठितान् कया सत्पदव्या समीचीनमार्गेण करणेन च द्रव्याध्यक्ष-धर्माधर्मविचारस्थानेनेति[3] ॥३५॥

परं वचित्वा पुरि देवदारु तन्न दारु यस्यामुपयाति विक्रयम् ।
गृहाणि तार्णानि भवन्ति पक्षिणां कुरंगजातिर्न [नटेषु] सद्मसु ॥३६॥

परमिति—पुरि यस्यां नगर्यां परं केवलं देवदारु सरलद्रुमकाष्ठं वचित्वा विहाय तत्प्रसिद्धं दारु खदिरादिविक्रयं[4] नोपयाति । तार्णानि तृणविकारास्तार्णानि गृहाणि मन्दिराणि पक्षिणां चटकादीनां[5] भवन्ति न जनानां, कुरङ्गजातिः कुत्सितनृत्यस्थानजातिर्न नटेषु नर्त्तकेषु विद्यते अपि तु सद्मसु गृहेषु कुरङ्गजातिः क्रीडामृगविशेषः । परिसंख्यालङ्कारः ॥३६॥

भटा जुहूराणरथद्विपं नृपाः श्रयन्ति घातं चतुरङ्गपद्धतौ ।
परांशुकाक्षेपणमङ्गनारतौ विधौ कलङ्कोऽप्यहिषु द्विजिह्वता ॥३७॥

भटा इति—यस्यां नगर्यां चतुरङ्गपद्धतौ द्यूतविशेषे केवलं भटा वीराः जुहूराणरथद्विपं जुहूराणा वाजिनः[6] रथाः लोहबद्धाः शकटाः द्विपा दन्तिनः [7]समाहारापेक्षयैकवचनम् । नृपा नरेन्द्राश्च घातं वधं श्रयन्ति भजन्ते । अङ्गनारतौ तरुणीसम्भोगे परांशुकाक्षेपणं परेभ्यः सम्भोगचतुरेभ्यो रमणेभ्योंऽशुकस्य वस्त्रस्याक्षेपणमाकर्षणं न तु

जिस पुरके सारभूत अर्थके शिक्षक, लोकाचारके स्पष्ट उपदेशक तथा पूर्वापर विरोध रहित व्याकरण काव्य न्याय आदिके ज्ञानके लिए मान्य गुरुओंके सहवासमें आनेके बाद शिष्य लोग किसी ज्ञानकी अभिलाषासे दूसरे नगरोंके अध्यापकोंके पास नहीं जाते हैं।

जिस नगरके सारभूत वस्तुओंके संग्राहक, व्यापारकी भाषामें निपुण, शिष्ट मार्गके अनुगमन तथा आचरणके कारण राजमें प्रतिष्ठित व्यापारियोंके पास जाकर ग्राहक किसी वस्तुके क्रयकी इच्छासे दूसरे नगरको नहीं जाते हैं ॥३५॥

जिस नगरमें केवल देवदारुकी लकड़ीको छोड़कर कोई दूसरी पलाश आदिकी लकड़ी नहीं बिकती थी। घासके घोंसले केवल पक्षियोंके होते थे (मनुष्यों के झोपड़े नहीं होते थे) नटोंमें ही केवल दूषित रुचि होती थी अथवा मकानोंमें पालतू हिरण होते थे। मनुष्योंमें दूषित रुचिका आविर्भाव नहीं होता था ॥३६॥

जहांपर केवल चतुरंग युद्धके अवसरपर ही राजा लोग पदाति, योद्धा, अश्व, रथी तथा हस्तीका वध करते थे। अथवा शतरंजके खेलमें ही घोड़े, हाथी, रथ आदिका सहारा लिया जाता था तथा राजा ही प्राण-वधका दण्ड देते थे। स्त्रियोंसे रमणके समय ही

---

१. अन्यासां नगरीणामिमे अन्यदीयास्तान् द०, प०। २. -णं शब्दशास्त्रं सत्पदानि च व्याकरणं च-द०। ३. -ति श्लेषालंकारः-द०, प०। ४. -यं परावर्तं नो-द०, प०। ५. -नां विहङ्गमानां द०, प०। ६. तुरङ्गमाः-द०,प०। ७. समाहारपक्षोऽत्र तत्र नृ-द०।

तस्करादिभ्यः, विधौ चन्द्रे कलङ्कोऽपि लाञ्छनमपि अहिषु द्विजिह्वेषु सर्पेषु द्विजिह्वता द्विरसनता अस्ति नान्यत्र नान्येषु जनेषु इति[1] ॥३७॥

जडेषु बाह्येष्वपि जीवलोकतो दृशामपथ्येषु पदानतेष्वपि ।
हतावकुर्वत्सु जनस्य वेदनां नखाश्छिदां यत्र न यन्ति[2] जन्तवः ॥३८॥

जडेष्विति–यत्र यस्यां नगर्यां जडेषु अचेतनेषु कीदृशेषु जीवलोकतो बाह्येषु जीवावष्टब्धशरीरभागाद्वहिर्भूतेषु दृशां लोचनानामपथ्येषु आन्ध्यकारिषु पुनः पदानतेष्वपि चरणनतेष्वपि हतावपि ताडनायामपि सत्यां जनस्य लोकस्य वेदनां कदर्थनामकुर्वत्सु अविदधत्सु इत्थम्भूतेषु अङ्गुल्यवयवविशेषेषु सत्सु नखाः करुरुहाः[3] एव छिदां खण्डनां यन्ति यान्ति । न तु जन्तवः । भवाम्भोधौ स्वस्वकर्मणा प्रेरिता जायन्ते प्रादुर्भवन्तीति जन्तवः । प्राणिनः केषु सत्सु जीवलोकतः बाह्येषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिभ्यो[4] बहिष्कृतेषु चाण्डालादिषु कथम्भूतेषु ? जडेष्वज्ञेषु दृशामपथ्येषु सम्यग्दर्शनादीनां विरोधिषु हतावपि ताडनायां सत्यामपि पदानतेषु पदलग्नेषु जनस्य वेदनां पीडामकुर्वत्सु सत्स्विति[5] शेषः ॥३८॥

अनन्यसाधारणरूपकान्तिषु स्मरोऽन्धकारातिविघातहेतुषु ।
धनुः समारोप्य गृहीतरोपणः पुरि भ्रमन् यत्र करोत्युपप्लवम् ॥३९॥

अनन्येति–पुरि यत्र नगर्यां स्मरो मारो भ्रमन् पर्यटन् करोति विदधाति । कम् ? उपप्लवमुपद्रवं कथम्भूतः ? गृहीतरोपणः अङ्गीकृतचापः । किं कृत्वा ? समारोप्य अधिज्यं–कृत्वा किम् ? धनुश्चापम् । केषु सत्सु ? अन्धकारातिविघातहेतुषु सत्सु । अन्धकारः अनुत्साहादिलक्षणः तस्यातिशयेन विघातो विध्वंसः तस्य हेतवः कारणानि चन्द्रादयस्तेषु सत्सु कथम्भूतेषु ? अनन्यसाधारणरूपकान्तिषु न विद्यन्ते अन्येषु साधारणरूपकान्तिगुणा[6] येषां ते तथोक्तास्तेषु तथाहि "अनन्यसम्भवकान्तिगुणश्चन्द्रे[7] अनन्यसम्भवोऽसाधारणगुणो मदिरासु तेभ्यः कामोद्दीपनम् । उक्तञ्च–

> "आस्तां परेषां नरकीटकानां तपःस्थितानामपि ही मुनीनाम् ।
> चन्द्रासवाभ्यां रमणीजनेभ्यः प्रोद्दीपनं केशवनन्दनस्य ॥१॥"

अथवा–अनन्यसाधारण(णाः) रूपकान्ति(न्तयो) गुणा यासां तासु कामिनीषु विषये कथम्भूतासु अन्धकारातिविघातहेतुषु अन्धकस्य अरातिः, ईश्वरः तस्य विघातस्तपश्चरणादेश्च्यवनं तस्य हेतव इति मतं काव्यटीकाकर्तुरिति सम्बन्धः ॥३९॥

दूसरेके वस्त्रका अपहरण होता था (चोर आदि वस्त्रामोचन नहीं करते थे) । चन्द्रमामें ही कलंक था (चरित्र निर्मल था) तथा सापोंके ही दो जीभें थी (लोगोंमें पैशुन्य या असत्य नहीं था) ॥३७॥

जहां जीवसे व्याप्त शरीरके बाहर बढ़े अतएव अचेतन, आंखोंको अप्रिय, पैरोंमें पड़े, निन्द्य तथा मनुष्यके अपघात तथा वेदनाको करनेवाले केवल नख ही काटे जाते हैं । किन्तु सम्यक् दर्शनसे विमुख, दासवृत्तिको प्राप्त, सब प्रकार दण्डनीय, लोकोंके कष्टदाता ब्राह्मण वैश्य क्षत्रियोंसे पृथक् मूर्ख लोगोंका भी वध नहीं किया जाता है ॥३८॥

जिस पुरीमें लोकोत्तर रूप और कान्तिसे युक्त अन्धकारके सर्वथा विनाशके कारण चन्द्रमाका उदय होनेपर वाणहस्त कामदेव धनुषको चढ़ाकर घूमता हुआ उपद्रव करता है।

अन्वय—"अन्धक-अराति विघातहेतुषु……"

संसारमें अन्यत्र दुर्लभ रमणीयता तथा तेजके भण्डार अन्धक दैत्यके शत्रु महादेव जीकी तपस्याके छेदका कारण कामदेव धनुषपर वाण चढ़ाकर घूमता हुआ कामोपद्रव करता है ॥३९॥

---

१. परिसंख्यालंकारः -द०,प० । २. यान्ति -द० । ३. चरणरुहा -द०, प० । ४. वैश्यमार्गादि –द० । ५. -ति परिसंख्यालंकारः -द०, प० । ६. कान्तयो गु–द० । ७. सम्भवि–द० । ८. -न्द्रे अनन्य सम्भवि रूपं कामिनीषु अ–द० ।

धनुर्गुणग्राहिषु नम्रवृत्तिषु प्रशुद्धवंशेषु परस्य पीडकम् ।
ऋजुप्रकारेषु कृतायतिष्वसौ भिनत्ति यस्यां हृदयानि मार्गणः ॥४०॥

धनुरिति–यस्यां नगर्यां गुणग्राहिषु गुणो मौर्वी[1] तं गृह्णन्तीत्येवंशीलाः तेषु नम्रवृत्तिषु नम्रा नमनशीला वृत्तिर्येषां तेषु प्रशुद्धवंशेषु प्रशुद्धो गुणै रञ्जितो[2] वंशो वेणुर्येषां तेषु पदार्थेषु मध्ये धनुरेव पीडकं कस्य ? परस्यान्यस्य हृदयानि भिनत्ति । पक्षे–गुणग्राहिषु गुणः शास्त्रचातुरीलक्षणः तस्य ग्राहिषु[3] नमनस्वभावेषु[4] (प्र) शुद्धवंशेषु "शुद्धान्वयेषु जनेषु मध्ये इति शेषः । ऋजुप्रकारेषु सरलवृत्तिषु कृतायतिषु विहितदैर्घ्येषु पदार्थेषु मध्ये[5] भिनत्ति असौ मार्गणो बाण एव परं नान्यो जनः प्राञ्जलवृत्तिषु कृतोत्तरकालेषु इत्थंभूतेषु मध्य इति सम्बन्धः ॥४०॥

विलोलनेत्रेषु कुशाग्रवृत्तिषु प्रगीतरक्तेषु मृगेषु चापलम् ।
न यत्र तीक्ष्णाः परदारवृत्तयः परे कृपाणात्कलहप्रवेशिनः ॥४१॥

विलोलेति–यत्र यस्यां नगर्यां विलोलनेत्रेषु चञ्चललोचनेषु कुशाग्रवृत्तिषु[6] दर्भाग्रप्रतिषु[7] प्रगीतरक्तेषु प्रगीतं नामोत्कटगानं(तत्र)रक्तेषु मृगेषु हरिणेषु चापलं चञ्चलत्वं नेतरेषु जनेषु कथम्भूतेषु सत्सु चपलनयनेषु कुशाग्रबुद्धिषु तीक्ष्णधिषणेषु प्रगीतरक्तेषु (प्रकृष्ट) गीततत्परेषु तीक्ष्णास्तीव्राः परदारवृत्तयः परेषां दारो विदारणं तस्मिन् वृत्तिर्येषां ते । कलहप्रवेशिनः कलहं शोकं[10] प्रविशन्तीत्येवंशीला इत्थंभूताः कृपाणात्परेऽन्ये जनाः न सन्ति जना अपि कथम्भूताः तीक्ष्णहिंस्राः तथा परदारवृत्तयः परदारेषु वृत्तिर्येषां ते अन्यस्त्रीसंगसक्ताः तथा कलहप्रवेशिनः[11] कलहप्रिया[12] इति ॥४१॥

प्रकोपनिर्मीलितरक्तलोचनं तलप्रहाराहतकीर्णशेखरम् ।
रतेषु दष्टाधरमाहृतांशुकं परं न यस्यां कदनं कचाकचि ॥४२॥

प्रकोपेति–यत्र यस्यां नगर्यां प्रकोपेन निर्मीलितानि विस्फुरितानि रक्तलोचनानि लोहितनेत्राणि[13] यत्र तत् । तलप्रहारेण पूर्वमाहताः पश्चात्कीर्णाः शेखराः केशबन्धनानि यत्र तत् । दष्टा [14]अधरा यत्र तत् । [15]आहृतानि अंशुकानि[16] यत्र (तत्) [17]कचैः कचैः प्रवृत्तं युद्धं कचाकचि इत्थम्भूतं कदनं (युद्धं) रतेषु परं केवलं वर्त्तते नान्यत्रेति ॥४२॥

प्रत्यञ्चा युक्त, पर्याप्त नमनशील तथा उत्तम बांससे बना धनुष ही दूसरोंको पीड़ा देता था [गुणोंको सीखनेमें चतुर, विनम्र प्रकृति तथा शुद्ध उत्तम कुलमें उत्पन्न कोई भी व्यक्ति दूसरेको कष्ट नहीं देता था]। सरल वृत्ति तथा भविष्यमें होनहार पुरुषोंमें [अत्यन्त सीधा तथा तीक्ष्ण और खूब लम्बा] बाण ही दूसरोंके हृदयोंको भेदता था ॥४०॥

जहां चञ्चल नेत्र, कुशाकी कोंपल खाकर जीवित तथा गानेपर मूर्च्छित हिरणोंमें ही चपलता थी [कटाक्षमय नेत्रधारी अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि तथा संगीतादिके प्रेमी मनुष्योंका चरित्र अस्थिर नहीं था]। दूसरोंको काटना, संघर्षमें पड़नेकी प्रकृति तथा तीखापन तलवारके सिवा [परस्त्री सेवन, झगड़ा करना तथा उग्रता] किसी भी मनुष्यमें नहीं थी ॥४१॥

जिस हस्तिनापुरीमें अत्यन्त उद्दीप्त रागसे निर्मीलित और लाल नेत्र, हथेलिसे खींच कर बिखेरी गयी जूड़की माला, ओष्ठ दंशन तथा परस्परका वस्त्र तथा केश खींचना केवल सुरत लीलामें होता था [क्रोधसे अन्ध तथा रक्त नेत्र, ताल ठोककर वार करना और मुकुट

१. प्रत्यञ्चा–द०, प० । २. रचितः -द०, -रञ्जितः–प० । ३. -स्य ग्राहोऽङ्गीकारोऽस्ति येषां तेषु न -द०,प० । ४. -षु नम्रा मार्दवा वृत्तिः प्रवर्तनं येषां तेषु न–द०,प० । ५. -षु प्रशुद्धं वंशमन्वयो येषां तेषु ज –द०, प० । ६. दष्टो हृदयानि खान्तानि भि–द०, प० । ७. बुद्धिषु–द०, प० । ८. बुद्धिषु –द०, प० । ९. मतिषु–द०, प० । १०. कोशं–द०, प० । ११. -नः कटकप्रवेशिनः क –द० । १२. कलि-प्रियाः–द०, प० । १३. नयनानि प० । १४. -रा दन्तच्छदा य–द०, प० । १५. -नि अपाकृतानि अं–द० । १६. -नि वसनानि य–द०, -प० । १७. कचेषु कचेषु गृहीत्वा प्रवृत्तमिति विग्रहो न्याय्यः ।

जघन्यवृत्तिं पुरि यत्र काञ्चयः स्पृशन्ति कर्णेजपतां च कर्णिकाः ।
परस्य वा कण्ठकचग्रहोत्सवं व्रजन्ति मुक्तावलयो न योषितः ॥४३॥

जघन्येति—यत्र यस्यां नगर्यां जघन्यवृत्तिं काञ्चयः कटिसूत्राणि स्पृशन्ति[1] नान्ये जनाः अधमवृत्तिं, कर्णिकाः कर्णभूषणानि[2] कर्णेजपतां कर्णसामीप्यं (समाश्रयन्ति) नान्ये जनाः पैशुन्यम् । च समुच्चयार्थः । परस्य वान्यस्य कण्ठकचग्रहोत्सवं ग्रीवाकेशग्रहणं[4] मुक्तावल्यो (मौक्तिकहाराः) व्रजन्ति (यान्ति) न योषितो रमण्य इति । ॥४३॥

मदच्युता नीरदनादबृंहिता भवन्ति यस्यामवदानवृत्तयः ।
अनुत्कटा नित्यविहस्तसंश्रया महारथा न द्विरदाः कदाचन ॥४४॥

मदेति—यस्यां नगर्यां महारथा भवन्ति जायन्ते । कीदृशाः मदच्युताः जात्यादिगर्वरहिताः न तु द्विरदा निर्मदाः अहर्निशं मूत्रक्षरणलक्षणमदोज्झिता न सन्ति नीरदनादबृंहिताः मेघनादगर्जिताः[6] महारथाः सन्ति न पुनः द्विरदाः[7] दन्तनादबृंहितेभ्यो निष्क्रान्ताः अवदानं त्यागशौर्याभ्यां प्रसिद्धिः तस्मिन् वृत्तिर्वर्तनं येषां ते महारथाः सन्ति द्विरदास्तु न । द्विरदपक्षे दानवृत्तिः कटोद्भेदानान्तरीया अवगता दानवृत्तिर्येषां ते महारथाः अनुत्कटा अतीव्राः द्विरदास्तु तद्भिन्नाः कटा येषां ते उत्कटा न उत्कटा अनुत्कटा न तथाभूताः महारथास्तु नित्यं विहस्तानां निराश्रयाणां संश्रया आश्रयणीयाः द्विरदास्तु अनवरतनिविष्टकरसमाश्रयाः[8] ॥४४॥

च्युताधिकारा इव चिन्तयाकुला विनोदबिन्दोः श्रमगा मृगा इव ।
भुवं लिखन्तः कनकातुरा इव श्रयन्ति यस्यां कवयः परां व्यथाम् ॥४५॥

गिरा देना, आवेशमें ओंठ चबाना, कपड़े फाड़ देना तथा बाल पकड़ कर दे मारना, आदि क्रियाओंसे युक्त लड़ाई नहीं होती थी] ॥४२॥

जिस राजधानीमें करधनी ही जंघाओंके निकट रहती है [किसी स्त्रीका जघन्य (हीन) आचरण नहीं है], केवल कानके भूषण ही कानमें कुछ कहतेसे लगते हैं [कोई नागरिका चुगली नहीं खाती है], केवल मुक्ताहार ही दूसरेके गले या बालोंमें लटकते हैं [कोई कुल-वधू परपुरुषके आलिंगनको नहीं करती हैं] ॥४३॥

जिन पुरियोंके महारथी योद्धा ही आठ प्रकारके मदोंसे परे थे, मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनियुक्त थे, त्याग और पराक्रम ही जिनका स्वभाव था, अत्यन्त शान्त थे तथा निराश्रय लोगोंको शरण देते थे । किन्तु वहांके हाथी कदापि मद जल हीन दन्तकेलि एवं चीत्कार विमुख, गण्डस्थल भेद रहित अर्थात् विनम्र तथा सदैव सूंड़को स्थिर रखने-वाले नहीं थे ॥४४॥

---

१. -न्ति समाश्रयन्ति–द०, प० । २. ताटङ्कभूषणानि प०, द० । ३. कर्णे जपतीति कर्णेजपस्तस्य भावः कर्णेजपता तां–द०, प० । ४. शिरोरुहदानोत्सवम्–द०, प० । ५. -ता मदा जातिकुलैश्वर्य-रूपनिधानज्ञानतपःशिल्पलक्षणाः तेभ्यश्च्युताः जा–द०, प० । ६. वर्धिताः–द०, प० । ७. -दाः रदा दन्ता नादा ध्वनयो बृंहितानि चीत्कृतानि च तेभ्यो निष्का–प०, द० । ८. -श्रयाः ।

जले जने नक्रमहानियोजनं धनुर्भृतां ज्यानिहतिर्न सम्पदाम् ।
रणे यतौ चापगुणेन संग्रहो विशालतां यत्र न सा विशालता ॥४५॥

जल इति–जले वारिणि नक्रमहानियोजनं जलचरव्यापारः । जनेन वृद्धपरिपाटीहानिसंयोगः । वर्णाश्रमधर्मव्यतिक्रमो न खल्वस्तीत्यर्थः । धनुर्भृतां धनुर्धराणां ज्यानिहतिः ज्यया निहतिः ज्या-निहतिः प्रत्यञ्चाविस्फारः ज्याहानौ । ज्यानं ज्यानिः अत्र औणादिकः प्रत्ययः । ज्यानेर्हानेर्निहतिर्विघातो ज्यानिहतिः हानेर्हतिरित्यर्थः । न सम्पदाम् विभूतीनाम् । रणे संग्रामे चापगुणेन संग्रहः शरासनजीवा-स्वीकारः । अपगुणे निर्गुणे यतौ मुनौ च नास्त्यङ्गीकारः यत्र यस्यां नगर्यां सा विशालता विस्तीर्णता नास्ति विशालता विगतप्राकारता, प्राकारान्विततया दीर्घत्वमस्तीति भावः ॥४५॥

च्युतेति—यस्यां नगर्यां पराम् अनिर्वचनीयां व्यथां मानसिकं दुःखं कवयः कवयितारः[1] श्रयन्ति भजन्ति
नान्ये जनाः कथम्भूताः सन्तः च्युताधिकारा इव चिन्तयाकुलाः गतनियोगा इव चिन्तनेन व्यग्राः विनोद-
बिन्दोः श्रमगाः श्रमं 'गच्छन्तीति श्रमगाः किमर्थं विनोदबिन्दोः कुतूहललवाय अत्र षष्ठी निमित्तार्थे क इव मृगा
इव हरिणा यथा श्रमगाः विनोदबिन्दोः उदकस्य बिन्दुः उदबिन्दुः जललवः तस्मात् उदबिन्दोर्विना कीदृशा
पुनः भुवं भूमिं लिखन्तो विदारयन्तः कनकातुरा[3] इव यथेत्यत्रोपमा ॥४५॥

रथाङ्गनामा विरही क्षपाकरः स पक्षहीनो मुखरश्च कोकिलः ।
कृतोर्ध्वनाशः करभो नखक्षतं क्षतं न यस्यामपरं कुतश्चन ॥४६॥

रथाङ्गेति—यस्यां नगर्यामत्र चकारग्रहणेन नियमार्थो गम्यते । तेनायमर्थः रथाङ्गनामा चक्रवाक
एव विरही वियोगी न कोऽप्यन्यः एवं सर्वत्र नियम्यते स क्षपाकरः चन्द्रः एव पक्षहीनः पक्षशून्यः नान्यः
पक्षहीनः सन्ततिवर्जितः । कोकिलः (परपुष्ट) एव मुखरो वाचालो नान्यः । करभः उष्ट्र एव कृतोर्ध्वनाशः
विहितोर्ध्वघ्राण[4]नाशः नान्यः । नखक्षतम् एव क्षतं कररुहविदारणं[5] नान्यत्र कुतश्चनेति परिसंख्या-
लङ्कारः ॥४६॥

कुकाव्यबन्धे यतिवृत्तभङ्गयोः स्थितिः समासादिषु लोपविग्रहम् ।
सरस्सु रोधः पुरि यत्र पत्रिषु प्रयुज्यते पक्षतिरक्षरे लयः ॥४७॥

पदभ्रष्ट व्यक्तिके समान चिन्ता (कल्पना) में लीन, हिरणके सदृश पानीकी बूंदहीन
मृगमरीचिका (आंशिक चमत्कारके लिए) के पीछे समस्त कष्ट उठानेवाले, सोनेको खोजने
वालोंके समान पृथ्वीको खोदते (पृथ्वीपर यों ही कुछ लिखते) केवल कवि लोग ही जिस
नगरीमें अनिर्वचनीय (लोकोत्तर) पीड़ा (मानसिक अनुभूति)को प्राप्त होते हैं ॥४५॥

जिस नगरमें चक्रवाक पक्षी ही विरही था, कोई नायिका विरहिणी न थी । निशाकर
चन्द्रमा ही एक पक्षमें घटता था कोई दूसरा मित्रपक्षरहित न था । केवल कोयल ही खूब
बोलता था कोई नागरिक वाचाल न था, केवल ऊंटकी ही नाक ऊपरको थी । किसीकी
उन्नतिका विनाश न था तथा सुरतमें नखक्षत ही प्रहार थे और किसी प्रकारका शारीरिक
दण्ड न था ॥४६॥

अनिष्टयोगः प्रियविप्रयोगता प्रजाविलोपः पुररोधनं परैः ।
विलापितान्याचरवः पराभवः कथागमेष्वेव न यत्र जातुचित् ॥४६॥

अनिष्टेति । यत्र पुर्यां न जातुचित् कदाचिदेवैते प्रकाराः न सन्ति कथागमेष्वेव श्रूयमाणत्वात्तेषाम् ।
तथा हि अनिष्टयोगः अनिष्टं दुःखम् दुःखकारणं च । तस्य योगः सम्बन्धः । तद्योगः । प्रियविप्रयोगता
प्रियं सुखं सुखकरणं च । तस्य विप्रयोगता विप्रलम्भः स तथोक्तः । प्रजाविलोपः प्रजानाम् विलोपः अपत्य-
ग्रहणमिश्ररोदनम् । अन्यायरवः अनीतिशब्दः पराभवः अभिभव इति कोपः ॥४६॥ च्युता -प०, द० ।
दश प्रकृतीनां उच्छेदः सः तथोक्तः प्रजाविलोपः । परैः शत्रुभिः पुररोधनं नगरवेष्टनम् विलापिताः गुण-

जिस नगरमें विशाल जलचर-प्राणियोंकी स्थिति पानीमें ही थी लोगोंके द्वारा [पूर्व
परिपाटीका उल्लंघन नहीं होता था], धनुषधारी योद्धा ही प्रत्यञ्चाको फटकारते थे, वृद्धा-
वस्थामें लोगोंकी सम्पत्ति नहीं घटती थी, धनुष और प्रत्यञ्चाको युद्धमें ही लोग उठाते थे
अवगुणी साधुको नहीं मानते थे और अत्यन्त विस्तृत होकर भी वह नगरी परकोटा
रहित न थी ॥४५॥

जहांपर अप्रिय वस्तुओंका समागम, तथा प्रिय वस्तुओंका वियोग, जनता अथवा
सन्तानका अपहरण, शत्रुओंके द्वारा नगरका घेरा, इष्ट वियोगमें रुदन, अन्यायका समर्थन
तथा तिरस्कार पुराणोंके प्रवचनमें ही सुन पड़ते थे । साक्षात् कभी नहीं होते थे ॥४६॥

१. कवितारः -प० । २. च्छन्ति यान्ति -प०, द० । ३. राः सुवर्णाकुला इव-द० । ४. र्ध्वघ्राणः
नान्यः -द० । ५. -णं नापरम् ना-द० ।

कुकाव्येति—यत्र पुरि नगर्यां कुकाव्यबन्धे कुत्सितकाव्ये यतिर्विच्छेदसंज्ञिका वृत्तं नाम एकाक्षरमारभ्य एकपञ्चविंशति यावदभिधीयते यतिश्च वृत्तं च ते तथोक्ते तयोः (भङ्गौ[1]. तयोः यतिवृत्तभङ्गयोः) स्थितिरवस्थानं नान्ययोः[2], यतिर्लिङ्गी तस्य यत् वृत्तं ब्रह्मचर्यरूपं तस्य भङ्गस्वभावयोः[3] स्थितिः समासादिषु व्याकरणसम्बन्धित्वेन विद्वज्जनप्रसिद्धेषु लोपविग्रहं विभक्त्यादेः उच्छेदस्वभावो लोपः विग्रहः पदसङ्कुलनं समाहारापेक्षदैकत्वं नान्यत्र लोपः शासनप्रोञ्छनलक्षणो विग्रहो नरेन्द्रयोर्वैरं नान्यत्र । सरस्सु सरोवरेषु रोधस्तटं नान्यः कश्चिदावरणलक्षणो रोधः पत्त्रिषु विहङ्गमेषु पक्षतिः[4] पक्षमूलं नान्यत्र । अपक्षतिः अवाध्योरलोपः[5] । अक्षरे वर्णे लयः (श्लेषः) नान्यत्र जने ॥४७॥

असत्यसन्धाः परलोकवञ्चकाः कृतोपचाराः कृतकेन कर्मणा ।
मुहूर्त्तरक्तास्तरला बहुच्छलाः परे न यस्यां पुरि पण्यदारतः ॥४८॥

असत्येति—यस्यां पुरि (नगर्यां) पण्यदारतो वेश्याजनेभ्यः परेऽन्ये जनाः नेत्थंभूताः । असत्ये (अनृते) सन्धाः प्रतिज्ञा येषां ते परलोकोऽन्यो रागी जनः पारत्रिको वातस्य वञ्चकाः प्रतारकाः कृतोपचाराः विहितपरिचर्याः (केन) कृतकेन कृत्रिमेण कर्मणा (कुटिलवृत्तिगर्भपरया क्रियया मुहूर्तरक्ताः क्षणमासक्ताः तरलाश्चञ्चलाः बहुच्छलाः प्रचुरमिषा इति शेषः । परिसङ्ख्याऽलङ्कारः) ॥४८॥

गतारिपुत्रा सगुणा यशोऽधिका समानवापीवरनिम्ननाभिका ।
कथं कुलस्त्रीव सती सदानवा पुरी किल स्यादिति यत्र विस्मयः ॥४९॥

गतेति—इति वक्ष्यमाणापेक्षया यत्र यस्यां नगर्यां विस्मयो वर्त्तते किल लोकोक्तावरुचौ वा गता नष्टो कुलस्त्री कुलवधूरिव कथं स्याद्भवेत् पुरी नगरी अपितु न, कथम्भूता सती कुलवधूः अरिपुत्रासगुणा अरिपुभ्या बन्धुभ्यः त्रासो भयमेव गुणो यस्याः सा सदा सर्वदा अयशोऽधिका निन्दाबहुला 'असमानवा न जातिकुलाभ्यां समानस्तुल्यो वो वल्लभो यस्याः सा पीवरनिम्ननाभिका पीवरा घना निम्ना गम्भीरा नाभिस्तुन्दिर्यस्याः सा तथोक्ता सदा सर्वदा नवा प्राप्तयौवनभरेति वाथवा सदा सर्वदा कुलस्त्रीव कथन्न स्यादपि तु भवेदेव कथम्भूता

जिस नगरमें कुकवियोंकी रचनाओंमें ही विराम तथा छन्दके भंग होते थे साधुओं (यति) तथा सदाचार (वृत्त)के पतित होनेका अवसर नहीं आता था । व्याकरणके समासोंमें ही विभक्ति आदिका लोप तथा अर्थ सूचक पदोंपर व्याख्यान होता था जनतामें अपहरण (लोप) तथा झगड़ा (विग्रह) न थे, तालाबोंके ही बांध होते थे नागरिकोंको कारावास (लोप) नहीं होता था, पक्षियोंमें ही पंखोंका प्रयोग था जनताकी अकारण हानि-(पक्षतिः) नहीं होती थी और गतिके वर्णोंमें ही लय थी, जनताका विनाश नहीं था ॥४७॥

वेश्याओंके अतिरिक्त इस पुरीमें कोई दूसरा ऐसा न था जिसकी प्रतिज्ञा झूंठी हुई हो, दूसरोंको ठगा हो, बनावटी कापटिक रूपसे सेवा-सत्कार किया हो, केवल क्षण भर ही प्रीति निभाती हो, चपलताका प्रदर्शन किया हो अथवा खूब वञ्चना की हो ॥४८॥

अन्वय—गता रिपुत्रासगुणा, अयशोऽधिका, असमा, नवा, पीवरनिम्ननाभिका सदानवा इयं नगरी सती कुलस्त्रीव कथं स्यादिति विस्मयः ।

ह्रासोन्मुख, शत्रुओंके भयसे व्याप्त, अधिकतम कुख्यात, विसंस्थुल, कल ही बसी, किनारोंपर ऊंची तथा विशाल और मध्यमें नीची दानवोंसे व्याप्त यह नगरी, शत्रुवत् पुत्रोंको त्रिकालमें भी न जननेवाली, शीलादि गुणोंसे विभूषित, विशाल कीर्तिकी स्वामिनी, समान और शुद्ध मातृपितृ कुलवती, सर्वाङ्ग शोभा विभूषित गहरी नाभिवती पतिव्रता अतएव सदा दर्शनीय कुलवधूके समान कैसे होगी यही आश्चर्य है ? परिहार—

---

१. तयोर्भङ्गः यतिभङ्गो वृत्तभङ्गश्च तस्य स्थितिरिति युक्तः । २. नान्यत्रेति युक्तं प्रतिभाति । ३. भङ्गस्य स्थितिरित्येव वक्तव्यम् । तत्र यतिवृत्तभङ्गो नास्तीत्यर्थः । ४. अपगता क्षतिः -द०, प० । ५. अत्रापिशब्दाभावादकारलोपश्चिन्त्यः । ६. न समानो मानवो वल्लभो यस्याः सा—द० ।

सती पतिव्रता पुनः गतारिपुत्रा गता विनष्टा अरिवत् पुत्रा यस्याः सा यस्या अरिवत् पुत्रा नोत्पन्ना पुनः सगुणा शीलौदार्यादिका पुनः यशोधिका कीर्तिबहुला पुनः समाऽव्यभिचारिणी पितृमातृकुलेन तुल्या अथवा मया लक्ष्म्या सह वर्त्तमाना समा पीवरनिम्ननाभिका अपि समन्तात् ईः लक्ष्मी, शोभा तया वरा मनोज्ञा निम्ना नाभिर्यस्याः सा अपि शब्दस्याकारस्यापादरादिना लोपोऽत्रेति सम्बन्धः। (पुरी) नगरी कथम्भूता गतारिपुत्रा-सगुणा गता नष्टा आ समन्तात् रिपवः त्रासगुणेन यस्याः सा यशोऽधिका सर्वदिक्प्रसिद्धा पुनः समानवापी वरनिम्ननाभिकाः स्वच्छगम्भीरगव्यजला यस्यां सा पुनः—वरं निर्मलं निम्नम् अतलस्पर्शि नाभौ मध्ये कं जलं यासां तास्तथोक्ताः समानाः समचतुरस्रा वाप्यो दीर्घिका वरनिम्ननाभिका कीदृक् सदानवा दानवैः दैत्यैः सह वर्तमाना दानवैः कृतोपद्रवत्वात् तत्रत्यानां जनानां सती समीचीना सुखहेतुः कथं स्यादिति विरुद्धं नैवं सदा सर्वकालं नवा नूतना पश्यतामनवरतमपूर्वेवद्भातीति भावः। अत्र श्लेषोपमा विरोधश्च ॥४९॥

को वा कविः पुरमिमां परमार्थवृत्त्या शक्नोति वर्णयितुमत्र विनिर्णयेन।
नित्यं विधिः सततसन्निहितो विभूतिमन्यादृशं सृजति यत्र धनंजयाय ॥५०॥

क इति—यत्र नगर्यां नित्यं सर्वकालं सततसन्निहितः अत्यन्तनिकटवर्ती विधिश्चतुर्मुखो विभूतिं सम्पदमन्यादृशमपूर्वं धनं विनिर्णयेन विहितप्रतिज्ञतया सृजति विदधाति कस्मै जयाय रामाय। अत एवात्र जगत्यां कः कविः कवयिता[2] वेति प्रकारान्तरे दैत्यगुरुर्वा पुरीं नगरीमिमां वर्णयितुमुपश्लोकयितुं शक्नोति समर्थो भवति अपि तु न भवति कया परमार्थवृत्त्या तत्त्वत इति।

भारतीयपक्षे—धनञ्जयाय अर्जुनाय आक्षेपालङ्कारः ॥५०॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य[3] षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनय-
चन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भव-
चारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण[4] विरचितायां द्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य
राघवपाण्डवीयापरनाम्नः काव्यस्य कौमुदी-
नामदधानायां टीकायामयोध्या-
हास्तिनपुरव्यावर्णनो नाम
प्रथमः[5] सर्गः ॥१॥

अन्वय—गतारिपुत्रासगुणा, यशोऽधिका, समानवापीवरनिम्ननाभिका सदा नवा इयं सती नगरी कथं कुलस्त्री इव न स्यात्।

शत्रुओंके भयसे परे, अयोध्यतादि गुणवती, विशाल कीर्तिके कारण सर्वविदित, चौकोर सुन्दर गम्भीर जलपूर्ण वावड़ियोंसे पूर्ण, दर्शकोंके लिए सर्वदा नूतन यह प्रशस्त नगरी कुलवधूके समान क्यों न होगी अपितु होगी ही ॥४९॥

कौन ऐसा कवि है जो प्रतिज्ञा पूर्वक इस नगरका वास्तविक वर्णन कर सके, जहांपर सर्वदा उपस्थित भाग्य ही रामचन्द्रजी (जयाय)के लिए प्रतिदिन अन्यत्र अनुपलब्ध सम्पत्ति और धनकी सृष्टि करता है अथवा अर्जुनके (धनंजयके) लिए लोकोत्तर वैभवकी सृष्टि करता है ॥५०॥

निरवद्यविद्याभूषणभूषित पण्डितसमाजसे शोभित, षड्दर्शनचक्रवर्ती, श्रीविनयचन्द्र
गुरुके शिष्य, समस्त कलाओंमें निपुणता रूपी चन्द्रिकाके चकोर, देवनन्दि
द्वारा विरचित, राघवपाण्डवीय नामसे ख्यात धनञ्जयकविके-
द्विसंधान महाकाव्यकी कौमुदी टीकामें अयोध्या-
हास्तिनपुर वर्णन नामक प्रथम सर्ग समाप्त।

---

१. रतं नराणां सदृशोऽप्यपूर्वेव–द०, प०। २. कविता–द०, प०। ३. लीडितस्य -प०।
४. रेण नेमिचन्द्रेण वि -प०, प०। ५. र्गः समाप्तिमगमत् -द०।

द्वितीयः सर्गः

अथाभवत्स दशरथोग्रविक्रमः स्मरन् दिवानिशमृषिधर्मसंयमान् ।
पुरः श्रियः शशिरुचिपाण्डुराननं विकाशयन्नधिपतिरिद्धशासनः ॥१॥

अथेति–अथशब्द[1] आनन्तर्ये स लोकप्रसिद्धो दशरथोऽधिपतिः स्वामी अभवत् । कीदृश उग्रविक्रमः[2] इद्धशासनः इद्धं दीप्तमुत्कर्षं प्राप्तं शासनमाज्ञा यस्य स दिवानिशम् ऋषिधर्मसंयमान् ऋषिभिः प्रणीतो यो धर्मो नीतिशास्त्रं तस्मिन्निरूपिता ये संयमा निरवद्याचरणानि तान् स्मरन् चिन्तयन् । पुनः किं कुर्वन् पुरो नगर्याः सम्बन्धित्वेन श्रियोऽधिष्ठानदेवतायाः शशिरुचिपाण्डुराननं चन्द्रचन्द्रिकावदातवदनं विकाशयन् ।

भारतीयपक्षे–पाण्डुरधिपतिरभवत् कीदृशः सदशरथोग्रविक्रमः दशया तारुण्यपूर्णयाऽवस्थया सह वर्त्तते सदशः रथेनोग्रः[3] सोऽद्भुतशक्यो विक्रमः प्रतापो यस्य सः सदशश्चासौ रथोग्रविक्रमश्च स तथोक्तः[4] । अन्यत् स्पष्टम् ॥१॥

उरःश्रियः स्थलकमलं भुजद्वयं समस्तरक्षणकरणार्गलायुगम् ।
जयश्रियः कृतकविहारपर्वतौ समुन्नते भुजशिरसी बभार यः ॥२॥

उर इति–उरो वक्षः श्रियो लक्ष्म्याः स्थलकमलं क्षितिपद्मं[5] समस्तरक्षणकरणार्गलायुगं सकलरक्षा-विधानपरिघाद्वितयं भुजद्वयं (बाहुद्वन्द्वं) जयश्रियः वीरलक्ष्म्याः कृतकविहारपर्वतौ कृत्रिमक्रीडाचलौ समुन्नते ऊर्ध्वे भुजशिरसी स्कन्धौ बभारेति रूपकालङ्कारः[6] ॥२॥

परित्रया बहुभरणेन च प्रजामवीवृधद्विधिविहितां यतोऽखिलाम् ।
ततः प्रजापतिरिति यो मतः स तां भुवं प्रजापतिरपि यूथिताङ्गतः ॥३॥

परीति–यतः कारणात् विधिविहितां विश्वयोनिनिर्मितामखिलां निरवद्यां प्रजामष्टादशप्रकृतिमवीवृधत्

अन्वय—अथ ऋषिधर्मसंयमान् दिवानिशं स्मरन्, पुरःश्रियः शशिरुचिपाण्डुराननं विकाशयन्, इद्धशासनः उग्रविक्रमः स दशरथः अभवत् ।

ऋषियों-द्वारा प्रणीत धार्मिक संयमके विषयमें दिनरात जागरूक, चन्द्रमाकी कान्तिके समान धवल नगर लक्ष्मीके मुखकी शोभाका विकासक, वृद्धिगत राज्यका स्वामी, भीषण पराक्रमी वह विश्व विख्यात दशरथ नामका राजा हुआ था ।

अन्वय—" पुरःश्रियः शशिरुचिराननं विकाशयन्,...सदशरथोग्रविक्रमः पाण्डुः अभवत् ।

गुरुओं, सत्यधर्म तथा संयमकी आराधनामें दिन-रात लीन, चन्द्रिकाके समान निर्मल राज्य तथा नगर—लक्ष्मीके मुखोंको प्रफुल्लित कर्त्ता, प्रचण्ड शासन, एक दो क्या; दशों रथी योद्धाओंके लिए असह्य पराक्रमी वह सर्वविदित पाण्डु नामका राजा हुआ था ॥१॥

जो दशरथ या पाण्डु लक्ष्मीके निवास-भूत कमलके सदृश वक्षःस्थल, समस्त संसारकी रक्षा करनेमें समर्थ अर्गला (बेंड़ा) युगलभूत विशाल भुजाओं तथा विजय-लक्ष्मीकी क्रीड़ाके कृत्रिम पर्वतों सदृश उन्नत स्कन्धोंको धारण करते थे ॥२॥

सब प्रकारसे रक्षा तथा बहुप्रकारसे भरण-पोषण-द्वारा वह प्रकृति मण्डीसे निर्मित

---

१. -शब्दो नगरव्यावर्णनान्तर्यार्थो मङ्गलार्थो वा गृह्यते–द०, प० । २. -यः प्रधानपराक्रमः इ–द०, प० । ३. -रथतीव्रः सो–द०, प० । ४. -कः किं कुर्वन् मुनिप्रणीतानि नीतिशास्त्रोक्ताचारणानि दिवानिशं स्मरन् विकाशयँश्च किम् ? आननं कथम्भूतं (शशिरुचि) शशिरुचिरिव रुचिः कान्तिर्यस्य तत्तथोक्तम् कस्याः पुरश्रियः कथम्भूतः सन् इद्धशासन इद्धानामात्मंमन्यानां शासयतीति'क्षु' इति त्यः स तथोक्त इति शेषः । श्लेषाऽलङ्कारः–द०, प० । ५. जलरुहं–द० । ६. -रः केचिच्च समुच्चयालङ्कारं वदन्ति–द०, प० ।

वृद्धिमनैषीत् । परित्रया रक्षया, न केवलं तथा बहुभरणेन च प्रचुरपोषणेन च ततः कारणात् यो राजा सतां सत्पुरुषाणां प्रजापतिरिति स्रष्टेति मतः इष्टः ध्रुवम् अहमेवं मन्ये आद्यो यः कश्चित् प्रजापतिः सोऽपि यूथिताङ्गतः प्रजापतिसमूहमध्यं पतितः नामधारको बभूवेति भावः । उत्प्रेक्षा ॥३॥

न संममे दिशि दिशि निर्मलं यशो न पौरुषं रिपुषु वदान्यतार्थिषु ।
जगत्सु धीर्भुवि न चमूर्जनाशिषि श्रिया सह स्थितिरपि यस्य नायुषः ॥४॥

नेति—यस्य राज्ञो दिशि दिशि प्रत्याशं निर्मलं[1] यशो न सम्ममे न सम्मितम् तथा रिपुषु विपक्षेषु न पौरुषं विक्रमः । अर्थिषु याचकेषु न वदान्यता त्यागः[2] सम्ममे जगत्सु[3] धीः बुद्धिः[4] भुवि भूमौ न चमूः सेना । जनाशिषि लोकाशीर्वादे श्रिया सह लक्ष्म्या सार्द्धमायुषः प्राणधारणावतः कर्मणः न स्थितिरपि अवस्थानमपि[5] ॥४॥

गुणोऽखिलं वसु च परेण तद्द्वयं गृहीतमप्यभजत यत्र न व्ययम् ।
असत्यसंव्यवहृतिलोभविस्मयं परात्तमन्वगमदशेषतः क्षयम् ॥५॥

गुण इति—यत्र राज्ञि गुण्यते व्युत्पाद्यते चातुरी[6] क्रियते प्राणी येनासौ गुणः स्वपरहिताहितविचारणेति भावः[7] । वसन्ति प्राणिनां प्राणा अत्र इति वसु हिरण्यादि द्रव्यम् । अखिलं समस्तं तद्द्वयं कर्तृ तद्द्वयं गुणद्रव्यद्वितयं परेणान्येन गृहीतमपि आत्मसात्कृतमपि व्ययं नाशं नाभजत नासेविष्ट । असत्यसंव्यवहृतिः अलीकलौकिकाचारः लोभः ममेदं भावः, विस्मयः आश्चर्यम् । अत्र समाहारापेक्षया तत्तथोक्तम्, अशेषतः निर्मूलतः क्षयं विनाशमन्वगमत् परात्तं सत् परैरितरैर्जनैः पूर्वमात्तं गृहीतं पश्चात् क्षयं गतमिति भावः । वक्रोक्तिः ॥५॥

अभूद्गुरुर्बहुरुपदेशभूमतः स यस्य योऽजनि जगदेकसद्गुरुः ।
हिते जडे परमहिते च पण्डिते रहस्यमन्त्रयत न पञ्चकं नयम् ॥६॥

अभूदिति—यो राजा जगदेकसद्गुरुः जगतां लोकानामेकोऽसाधारणश्चासौ सद्गुरुश्च स तथोक्तोऽ(जनि अ)भवत् । कस्मात्कारणात् यस्य नरपतेरुपदेशभूमतः[8] उपदेशबाहुल्यात् स लोकप्रसिद्धो गुरुर्बहुरभूत् । इदमत्र तात्पर्यम्—नहि नाम शास्त्रोपदेशानां[9] कश्चिदेकोऽनेकं शास्त्रं जानन्समास्ते अतएव बहुलशब्दप्रयोगाद्वीप्सा ज्ञातव्या । तेनायमर्थो लभ्यते—यो यो बहुभ्योऽनेकशास्त्राण्यर्थतो ग्रन्थतश्चाज्ञासीत् स गुरुर्यस्य बभूव । अतएव स राजा जगद्गुरुरिति भावः ।

हिते जडे हेयोपादेयविवेकविकले यो नामन्त्रयत यतो मनोवृत्तेरकुटिलस्वभावत्वात् । हृदयग्रन्थिविनिर्मुक्तत्वात् मूर्खत्वाद्वा मन्त्रं भिनत्ति । तथा च परं केवलं अहिते विरुद्धे पण्डिते यथोक्तमन्त्रविवेकविदुषि नामन्त्र-

---

समस्त जनताकी वृद्धि करता था । अतएव साधु पुरुष इसे जगत्कर्ता ब्रह्मा मानते थे । वास्तवमें यह (जन-नायक) युगके मध्यमें हुआ प्रजापति ही था ॥३॥

जिस दशरथ अथवा पाण्डुकी निर्मल कीर्ति समस्त दिशाओं और विदिशाओंमें नहीं समायी थी, पराक्रम शत्रुओंसे नहीं सहा गया था, दानशीलताको याचक न सम्हाल सके थे, प्रतिभा लोकोंमें न समायी थी, सेना सारी पृथ्वीपर न समाती थी तथा विभव व्याप्त दीर्घायुकी कामना जनताके आशीर्वादोंमें न आयी थी ॥४॥

जिस राजाकी समस्त सम्पत्ति तथा साधुजनोचित गुण दूसरों (याचकों तथा अनुकरण करनेवालों) के द्वारा ग्रहण किये जानेपर कम नहीं हुए थे । किन्तु मिथ्या व्यवहार, लोभ तथा आश्चर्य सर्वथा दूसरोंमें ही चले गये थे और इसमें उनका लेशमात्र भी शेष न था ॥ ५ ॥

---

१. -लं कुन्दावदातं य-द०, प० । २. त्यागशौर्याभ्यां प्रतिष्ठिता-द०, प० । ३. सु भुवनेषु धीः-द०, प० । ४. धीः धारणावती बु-द०, प० । ५. -पि समुच्चयालङ्कारः-द०, प० । ६. चातुरी गोचरीक्रियते-द० प० । ७. -वः यद्विलोकं विलोकं न-प० । ८. मतः बहोर्भावो भूमा । बहोर्भवस्भावत्वमिति स्वभावः । उपदेशानां भूमा तस्मात् (जै० सू० ४।४।१४८) अन्येभ्योऽपि तस् उप-प०, द० । ९. -नां बाहुल्यात् क-द०, प० ।

यत यतोऽपकृतत्वादपकारं स्मरन्[1] मन्त्रं भिनत्तीति कवेरभिप्रायः। अथवा—परैरातिभिर्महिते मणिहिरण्यादिना सन्तोष्य भेदिते पण्डिते रहस्येकान्ते नामन्त्रयत यतः पण्डितत्वादुदुम्बरकृमिन्यायेन चेतोऽन्तः[2] प्रविश्य परोपरोधादयं भिनत्ति पञ्चकं नयमिति टीकाकर्तुर्मतम्।

एतेन नरपतेराकारादिना जनानामन्तर्मनः परि(ज्ञान)लक्षणकौशल्यमुपदर्शितम्। उक्तञ्च—

"आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥१॥ [म. स्मृ. ८।२६]

पञ्चकनयस्य लक्षणम्—कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गमन्त्रः। उक्तञ्च—

"सहायाः साधनोपायो देशकालबलाबलम्।
विपत्तेश्च प्रतीकारः पञ्चाङ्गो मन्त्र इष्यते[3] ॥२॥ [का. नी. ११।५६]

स्वमर्पयन् गुरुमधिदेवतामिव स्वबान्धवं गुरुमिव बह्वमन्यत।
सदापि यः स्वमिव सहायमास्तिकः कुलोचितं सुहृदमिवानुजीविनम् ॥७॥

स्वमिति—स्वमात्मानमर्पयन् ददानो गुरुमाचार्यं पितरं वा अधिदेवतामिव कुलदेवीमिव, स्वबान्धवम् आत्मभ्रातरं गुरुमिव पितरमिव सदापि सर्वकाले सहायं सहकारिणं स्वमिवात्मानमिव कुलोचितं कुलेनाम्नायेनोचितम् योग्यमनुजीविनमनुचरं सुहृदमिव मित्रमिव आस्तिको धार्मिको यो राजा बह्वमन्यत अधिकमज्ञासीदित्युपमा ॥७॥

यथायथं विधिषु चतुर्विधानया व्ययुज्यत क्षणमपि राजविद्यया।
नियुक्तया न च यदुपायचिन्तया व्यमुच्यत क्वचिदपि यो न सेनया ॥८॥

यथायथमिति—यथायथं यो यस्य स्वभावो यथायथं विधिषु सकलराजकार्येषु नियुक्तया व्यवहृतया[4] चतुर्विधानया चतुःप्रकारया राजविद्यया आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीतिलक्षणया उपायचिन्तया च सामभेदप्रदानदण्डस्वभावया च यत् यस्मात् कारणात् क्षणमपि अल्पमुहूर्तमपि न व्ययुज्यत न परित्यक्तः। अतः कारणात् क्वचिदपि कस्मिंश्चित्स्थानेऽपि सेनया गजस्यन्दनहयपत्तिरूपया न व्यमुच्यत न निर्मुक्तः राजविद्याया निरूपणम्—

"आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥१॥ [का. नी. २।७]

—समुच्चयालङ्कृतिः ॥८॥

विविध शास्त्रोंकी शिक्षा देनेके कारण जिसके बहुतसे गुरु (बहुगुरु) हुए थे तथापि वह (नीतिमार्गपर चलानेके कारण) संसारका एकमात्र (एकगुरु) सच्चा गुरु था। वह प्रिय तथा अनुकूल, अविवेकी तथा अत्यन्त विरुद्ध अथवा शत्रुओंके द्वारा पूजित पण्डितके सामने नहीं अपितु एकान्तमें सहाय आदि पञ्चांग नीतिपर मन्त्रणा करता था ॥ ६ ॥

वह श्रद्धालु दशरथ अथवा पाण्डु गुरुको कुलदेवताके समान मानकर अपनी सम्पत्ति देता था। अपने भाई-बन्धुओंको गुरुके समान बहुत मानता था। अपने अनुगामियोंको सदा ही अपने समान समझता था तथा अपने वंशके अनुरूप सेवकोंको भी मित्रके समान सम्मान देता था ॥७॥

उपस्थित यथायोग्य समस्त कार्योंको करते समय वह आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीति इन चार प्रकारकी राजविद्या व्यवहार तथा सामादि उपायोंके विचारको एक क्षणके भी लिए नहीं छोड़ता था अतएव वह कहीं भी गज, रथ, अश्व, पदातिमय चतुरंग सेनासे भी अलग न होता था ॥८॥

---

१. स्मारं स्मार—प०। २. -रन्तर्दुर्दर्ष—द०। ३. समुच्चयालङ्कारः—द०, प०। ४. अधिष्ठितया—द०।

उपाददे परसुखदुःखचिन्तया विभूतिषु क्वचिदुदसिच्यत स्वयम् ।
प्रमाद्यति स्म न विषसाद योगिवद्दिवानिशं विधिषु विभज्य यः स्थितः ॥९॥

उपाददे इति—परसुखदुःखचिन्तया परेषामात्मविलक्षणानामाश्रितानामन्यथानां च सुखदुःखे हिताहिते तत्र चिन्ता जनोऽयं केनोपायेन दुःखादपाक्रियते सुखं च भविताऽस्येति परामर्शतया स्वयं परोपदेशमनपेक्ष्य कर्तृभूतया चिन्तया उपाददे । कर्मतापन्नो यो राजा तथा विभूतिषु सम्पत्सु क्वचित्कस्मिंश्चित् स्थाने नोदसिच्यत । स्वयं गर्वेण नानुभूयते स्म । क इव योगीव औदार्यावलम्बि मुनीन्द्रवत् न प्रमाद्यति स्म न प्रमत्तो बभूव । न विषसाद न विषादेन विषण्णो बभूव । विधिषु धर्मार्थकामलक्षणेषु कार्येषु दिवानिशमहोरात्रं स्वयं विभज्य आत्मानं विभागीकृत्य यो राजा स्थित इति समुच्चयालङ्कारः ॥८॥

द्विषो जगद्विलयभयान्न्यपातयत् न्यषेवत स्मरमपि सन्ततीच्छया ।
गृहीतवान् करमपमित्यया चितुं स्वजन्म यः समगमयत्परार्थताम् ॥१०॥

द्विष इति—जगद्विलयभयात् लोकविनाशभीत्या द्विषो रिपून् न्यपातयत् व्यापादयामास । स्मरमपि काममपि सन्ततीच्छया सन्तानाभिलाषेण न्यषेवत अनुशीलयामास । अपमित्यया चितुं याचित्वा दातुं करं सिद्धार्थं गृहीतवान् स्वीकृतवान् । अनया युक्त्या यो राजा परार्थतां साफल्यं स्वजन्म आत्मोत्पत्तिं समगमयत् अनैषीत् । समुच्चयः ॥१०॥

जिगाय षड्विधमरिमन्तराश्रयं यतः स्मयं त्यजति न षड्विधं बलम् ।
न यस्य षड्व्यसनमदोऽपि सप्तकं स्थिराऽभवत् प्रकृतिषु सप्तसु स्थितिः ॥११॥

जिगायेति—यतो यस्मात् कारणात् अन्तराश्रयमन्तरङ्गोद्भवं षड्विधं षट्प्रकारमरिं रिपुं जिगाय जितवान् अयुक्तितः प्रणीताः कामक्रोधलोभ(मान)मदहर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गो हि षड्वर्गः । उक्तञ्च—

"कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः ।
अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवत्ययम् ॥१॥ [का. नी. ११५७]

अत एव यं नृपतिं बलं सैन्यं न त्यजति स्म न मुमोच हिरण्यदानसम्भाषणाभ्यामरातिनिवारणेन च स्वामिनं सतीष्ववस्थासु वलते संवृणोति दुस्तरं तारयति इति बलं तच्च मौलभृतकश्रेण्यारण्यदुर्गमित्रभेदम् । मौलं पट्टसाधनम्, भृतकं पदातिबलम्, श्रेणयोऽष्टादश; सेनापतिः, गणकः, राजश्रेष्ठी, दण्डाधिपतिः, मन्त्री, महत्तरः, [1]तलवरः, चत्वारो वर्णाः चतुरङ्गबलं, पुरोहितः, अमात्यो, महामात्यः । आरण्यमाटविकम्, दुर्गं धूलिकोट्[2]पर्वतादि, मित्रं सौहृदम् । उक्तञ्च—

जो दूसरोंकी सुखकी प्राप्ति तथा दुखहानिकी चिन्तासे प्रेरित होकर स्वयं ही लोकोपकारक कार्योंमें लगा रहता था, अपने वैभव और सम्पत्तिके कारण कभी उसके मनमें अहंकार नहीं आया था। वह न कभी प्रमादमें पड़ता था और न खेदखिन्न ही होता था तथा अपने दिन-रातको धर्म-अर्थ तथा कामके कार्योंका विभाग करके जीवन व्यतीत करता था ॥९॥

यह राजा संसारके विनाशके भयसे शत्रुओंका संहार करता था। सन्तानकी इच्छासे काम-सेवन करता था, राजस्वको भी लेकर दूसरोंको देनेके लिए प्रजासे लेता था इस प्रकार उसने अपने जन्मको ही परार्थ कर रखा था ॥१०॥

यतः इसने काम, क्रोधादि छहों प्रकारके अन्तरंग शत्रुओंको जीत लिया था अतः मौल, भृत, आदि छह प्रकारकी सेना इसे नहीं छोड़ती थी। मद्य, स्त्री, द्यूत, आदि सातों व्यसन इसके मनमें नहीं आये थे अतएव स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोश आदि सातों प्रकृतियोंकी दृष्टिसे उसकी स्थिति दृढ़ थी ॥११॥

---

१. ऽङ्गोऽरिषड्व–द०, प० । २. तलवर–प० । ३. कोटि–प०, कोट–द० ।

श्रैणं दौर्गं च सौहार्दं मौलं भार्तकमाटवम् ।
षड्विधं च बलं प्राहुर्बुधा नीतिविचक्षणाः ॥१॥

यत् यस्मात् कारणात् यस्य नरपतेर्नादीपि न दीप्तं बभूव किं दण्डपारुष्यकामवाक्पारुष्यार्थदूषणमद्यस्त्रीद्यूतपापर्द्धिकोपस्वभावं व्यसनसप्तकम्—उक्तञ्च

"दण्डपारुष्यकन्दर्पवाक्पारुष्यार्थदूषणम् ।
प्राकृतं सप्तकं प्रोक्तं नीतिशास्त्रविशारदैः ॥१॥

अतएव सप्तसु प्रकृतिषु स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गमित्रलक्षणासु स्थिरा निश्चला स्थितिरवस्थानमभवदभूत् । उक्तञ्च—

"स्वाम्यमात्यः सुहृत्कोशो राष्ट्रं दुर्गं तथा बलम् ।
प्राकृतं सप्तकं प्रोक्तं नीतिशास्त्रविशारदैः ॥१॥ [का. नी. ४।१]

एतेन नरपतेर्जितेन्द्रियत्वं प्रदर्शितम्[1] ।

विवर्ज्य यः प्रियमहिषीं युवाधिपं स्वमप्यतः परमुपनीय लक्ष्यताम् ।
सदोपधाविधिभिरमात्यमेकशो यथोचितं पदमनयद्विशोधितम् ॥१२॥

विवर्ज्येति—यो नृपतिः सदा सर्वकालं यथोचितं (यथा) योग्यं विशोधितं निर्बाधं पदं पदवीममात्यं सचिवं महत्तरं पुरोहितं दण्डनायकञ्च अनयत् नीतवान् कथमेकशः एकमेकं किं कृत्वा पूर्वं विवर्ज्य वर्जयित्वा किं किं प्रियमहिषीं पट्टराज्ञीं युवाधिपं मुख्यकुमारं स्वमपि च किं कृत्वा लक्ष्यतां विशोध्यतामुपनीय नीत्वा कथम्भूतं परं केभ्यः अत एभ्यः प्रियमहिष्यादिभ्यः कैः कृत्वा उपधाविधिभिः । धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा तस्या विषयो विधानानि तैस्तथोक्तैः । उक्तञ्च—

"छलेन परचित्तानां धर्मार्थकामभीतिषु ।
परीक्षणं विधीयेत सोपधा कथ्यते बुधैः ॥१॥

समुच्चयः ॥१२॥

वणिक्पथे खनिषु वनेषु सेतुषु व्रजेषु योऽहनि निशि दुर्गराष्ट्रयोः ।
गुणाधिकं धनमववर्द्धदुद्धतं यशोधनं ध्रुवमुपचेतुमुज्ज्वलम् ॥१३॥

वणिगिति—ध्रुवमहमेवं मन्ये उज्ज्वलं शुभ्रमुद्धतमुल्बणं यशोधनमुपचेतुमुपचयं नेतुं गुणाधिकं गुणैरौदार्यादिलक्षणैरधिकं प्रचुरं धनं कनकादिकमहनि दिवसे निशि रात्रौ अववर्द्धत् वृद्धिं प्रापयामास । क क वणिक्पथेषु वणिजां मार्गेषु खनिषु रत्नोत्पत्तिस्थानेषु वनेषु कान्तारेषु सेतुषु समुद्रतटेषु व्रजेषु गोकुलेषु दुर्गराष्ट्रयोश्च "यस्याभि (धि) योगात् परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्य (विजिगीषोः) आपदो गमयतीति दुर्गम्" [नी. वा. २०।१] स्वाभाविकमाहार्यं द्विविधम् । "पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते शोभते इति राष्ट्रम्" [नी. वा. १९. १] इति उत्प्रेक्षा—॥१३॥

अनारतं तिसृषु सतीषु शक्तिषु त्रिवर्ग्यपि व्यभिचरति स न स्वयम् ।
पदातयः किमु किमरातयः सुता सहायता किमु किल यस्य बन्धुता ॥१४॥

अपने आप, पट्टरानी तथा युवराजके अतिरिक्त अमात्य आदि प्रत्येक महान् अधिकारीको किसी व्याजसे प्रत्येक विषयकी कसौटीपर कसके ही उसके योग्य निर्दोष तथा स्थिर पदपर उसकी नियुक्ति करता था ॥१२॥

निश्चित ही वह राजा निर्मल तथा पर्याप्त यशरूपी धनको संचित करनेके लिए ही व्यवसायियोंसे भरे बाजारों, खनिक क्षेत्रों, अरण्यों, समुद्र तीरोंपर स्थित पत्तनों, पशुपालकोंकी बस्तियों, दुर्गों तथा राष्ट्रोंमें गुणोंकी अपेक्षा प्रचुर मात्रामें सम्पत्तिको बढ़ा रहा था ॥१३॥

---

1. -तम् । विरुद्धवानलङ्कारः—द०, प० ।

अनारतमिति—अनारतमनवरतं स्वयमात्मना त्रिवर्ग्येपि त्रयाणां धर्मार्थकामरूपाणां वर्गाणां समाहारस्त्रिवर्गो धर्ममभिभूय न हि तादृशमर्थोपार्जनम् तन्मूलत्वादर्थस्य यथैव नानुभवनाय कुठारच्छिन्नभूरुहप्रफुल्लफुल्लभारः यथोक्तमर्थोपार्जनमन्तरेण न यथोक्तकामानुभवनम् सजलजलधरयुक्तजलमन्तरेण स्वच्छातुच्छपल्लवजालानुभवनवत् । कामानुभवनमन्तरेण न सन्तानोत्पत्तिः वारिणा विना बीजाङ्कुरवत् सन्तानादृते नार्थोपयोगः रमणेन विना यथा विधवातरुणीतारुण्योपयोगः । अर्थोपयोगेन विना नो धर्मः यथा तपस्यया विना न स्वर्गफला विभूतयः ।

इत्यनया विरोधयुक्तया साऽपि त्रिवर्ग्येपि यत्[1] यस्य नरपतेर्न व्यभिचरति स्म न[2] तत्याज कासु सतीषु वर्त्तमानासु[3] तिसृषु शक्तिषु प्रभुमन्त्रोत्साहलक्षणासु स्वपरज्ञानविधायिन्यः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तिरुपास्थिताः शक्तयो भूभृतां विभूतिहेतवः । उक्तञ्च—

> "तिस्रो हि शक्तयः स्वामिमन्त्रोत्साहोपलक्षणाः[4] ।
> स्वपरज्ञा विधायिन्यो राज्ञां राज्यस्य हेतवः ॥१॥

तासु इति अपरार्द्धेऽध्याहार्यमत्र । अतएव उ सम्बोधने किल आश्चर्ये किमाक्षेपे किं पदातयो भृत्या व्यभिचरिष्यन्ति अपि तु न । एवं किमरातयः शत्रवः किं सुताः पुत्राः किं सहायता मित्रसमूहः । अत्राक्षेपालङ्कारः ॥१४॥

> **भुवस्तलं प्रतपति संभ्रमन् रविः शशी चरन् स्वयमभिनन्दयत्ययम् ।**
> **चरैः स्थितः पुरि सचराचरं जगत्परीक्ष्य यः स तपति सन्धिनोति च ॥१५॥**

भुव इति—भुवस्तलं भूमितलं सम्भ्रमन् सञ्चरन् रविरयं सूर्योऽयं प्रतपति सन्तापयति तथा चरन् शशी चन्द्रोऽयं स्वयमात्मनाभिनन्दयति प्रीणयति । यो भूमिपालः पुरि नगर्यां स्थितः सन् चरैः स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चक्षुरिव चरन्ति प्रवर्त्तते इति चराः तैः कृत्वा सचराचरं जगत् सजङ्गमाजङ्गमं भुवनं परीक्ष्य आत्मप्रतीतिमानीय तपति स्म सन्तापयामास सन्धिनोति स्म च प्रीणयाञ्चकार च । अत्र प्रतापनाह्लादनाभ्यां सूर्याचन्द्रमसावतिशेते स्मेति । अतिशयोक्तिः ॥१५॥

> **कृषीवलं कृषिभुवि वल्लवं बहिर्वनेचरं चरमटवीष्वयुङ्क्त यः ।**
> **वणिग्जनं पुरि पुरसीम्नि योगिनं नियोगिनं नृपसुतबन्धुमन्त्रिषु ॥१६॥**

कृषीवलमिति—यो राजा कृषिभुवि क्षेत्रभूमौ कृषीवलं कुटुम्बिकरूपं चरं गूढपुरुषमन्वयुङ्क्त प्रेरयाञ्चकार ।

प्रभु-मन्त्र-उत्साह रूप तीनों समीचीन शक्तियोंका सर्वदा उपयोग करनेपर भी जिसने धर्म-अर्थ-काम रूपी त्रिवर्गका भी परस्पराविरोधेन पालन किया था । अनुगामियों, पुत्रों तथा सहायकोंकी तो कहना ही क्या है इसके शत्रु भी मित्रके समान आचरण करते थे ॥१४॥

सूर्य स्वयं सारे संसारका परिभ्रमण करके उसे आतप देता है । चन्द्रमा भी संचार करता हुआ ही सृष्टिको अपनी चन्द्रिकासे आह्लादित करता है किन्तु यह दशरथ अथवा पाण्डुराजा राजधानीमें ही रहता हुआ स्थावर तथा जंगम संसारकी गुप्तचरोंके द्वारा पूरी जानकारी रखता था और उनपर प्रसाद तथा निग्रह करता था ॥१५॥

कृषिके क्षेत्रमें उसने किसानको ही चर बनाया था, बाह्य प्रदेशोंमें ग्वालोंको तथा जंगलोंमें भील आदिको ही गुप्तचरके पदपर नियुक्त किया था, शहरोंमें व्यवसायियोंको, देशकी सीमाओंपर कौलादि साधुओंको तथा अन्य राजाओं, राजपुत्रों, कुटुम्बियों तथा मंत्रियोंमें उनके कर्मचारियोंको चर बनाये था ॥१६॥

अन्तःपुरोंमें बहिरों, अपाङ्गों तथा कुबड़ोंपर चरत्वका भार था । इस प्रकार वह राजा

---

१. यत्र—द०, प० । २. न परस्परं त्यजति स्म—द० । ३. विद्यमानासु—प०, द० । ४. पलक्षिताः—प०, द० ।

एवं प्रतिसम्बन्धिनी क्रिया तथा बहिर्वास्य प्रदेशे बहुत्वं गोपालम्। अटवीषु अरण्यानीषु वनेचरं भिल्लं पुरि नगर्यां वणिग्जनं किराटकवेषवन्तम्। पुरसीम्नि नगरसीमायां योगिनं भट्टारकं कौल्कादिवेषधारिणं गूढपुरुषं नृपसुतबन्धुमन्त्रिषु नरपतितनयबान्धवसचिवेषु नियोगिनं व्यापारिणम् इत्यनेन नरपतेर्नीतिकौशल्यमुक्तम्। समुच्चयः ॥१६॥

वधूगृहे वधिरकिरातवामनं स्वरक्षया परबलसंग्रहेण च।
प्रयुक्तवान् प्रणिधिमनाकुलं परानबोधि यः प्रतिबुबुधे न चापरैः ॥१७॥

वधूगृह इति—वधूगृहे रामामन्दिरे वधिरकिरातवामनं वधिरः[1] प्रसिद्धः किरातो विकलाङ्गः वामनः कुब्जकः समाहारापेक्षयैकत्वं स्वरक्षया आत्मरक्षणेन तथा परबलसंग्रहेण रिपुसैन्यपरिकलनेन सह प्रणिधिं चरञ्च प्रयुक्तवान् प्रेरितवान् कथं यथा भवति अनाकुलम् विनष्टसन्त्रासव्यग्रोभतया स्वीकृतमनोधैर्यावलम्बनं यथा अतएव यो राजा परान् इतरान् शत्रून् अबोधि ज्ञातवान् कर्मतापन्नो राजा अपरैश्च शत्रुभिरपि न प्रतिबुबुधे न प्रतिज्ञात इति। समुच्चयः ॥१७॥

अवाहयत्तुरगमवाहितं गजं न चाविशद्वनमविगाहितं हितैः।
ददर्श यः सपदि न सिद्धतापसं समाययौ न तमवरोधमेककः ॥१८॥

अवाहयदिति—हितैः परीक्षितैः[2] नरैः अवाहितमनधिरूढं तुरगमश्वं गजं दन्तिनं च यो राजा नावाहयत् नाचालयत्। अविगाहितमनालोडितं वनं कान्तारं नाविशत् न प्रविष्टवान् सपदि सहसा सिद्धतापसं वेषधारिणं तपस्विनं न ददर्श नावलोकितवान् तथा तं लोकप्रसिद्धमवरोधमन्तःपुरमेककः एकाकी सन् न समाययौ न गतवान्। अत्र तात्पर्यम्—अन्तःपुररक्षिकाभिर्महत्तरीभिः सार्द्धमन्तःपुरं प्राविशत् इत्यर्थः। अनेन नीति-कौशल्यमुपपादितम्[3] ॥१८॥

इदं मया नयमपदिश्य वर्णितं शरं तु यः क्षिपति न यावदाहवे।
शरासनं शरमिषुधिं परोऽक्षिपत् परं विदुर्यमनप्रवर्त्तकं महः ॥१९॥

इदमिति—मया कविना धनञ्जयेन नयमपदिश्य नीतिमाश्रित्य इदं पूर्वोक्तं वर्णितमधुना राज्ञो विक्रमो व्यावर्ण्यते। अत्र तु प्रयोगादेवेदमुपलक्ष्यते[4]। आहवे-संग्रामे प्रथममेकं शरं यो राजा यावन्न क्षिपति न क्षेप्स्यति तावत् शरासनं धनुः शरं बाणमिषुधिं भस्त्रां परः शत्रुः अक्षिपत् मुक्तवान्। अतएव परं केवलं यं राजानमनप-वर्त्तकं नित्यं महस्तेजो विदुः विदन्तीति नीतिमन्त इति शेषः। विरोधालङ्कारः ॥१९॥

आत्मविश्वासपूर्वक अपनी रक्षा तथा शत्रुसेनाके वशीकरणके साथ-साथ सर्वत्र गुप्तचरोंका प्रयोग करता था। वह दूसरोंको भलीभांति जानता था किन्तु शत्रुओंके द्वारा इसका एक भी रहस्य न जाना गया था ॥१७॥

उस घोड़े या हाथीपर नहीं चढ़ता था जिसपर अनुगत आत्मीय जन न बैठ चुके हों। उस वनमें नहीं जाता था जिसमें पहिले उसके आदमी न घूम आये हों। सिद्ध आदि वेष-धारी साधुओंसे सहसा भेंट नहीं करता था और अन्तःपुरमें कभी भी अकेला प्रवेश नहीं करता था ॥१८॥

यह वर्णन राजाकी नीतिनिपुणताको प्रधानता देनेके लिए किया है किन्तु उसका प्रताप ऐसा था कि कहीं पर भी उसका उल्लंघन नहीं होता था—युद्धमें जबतक वह बाण छोड़े तबतक ही शत्रु बाण, धनुष और तूणीरको भी फेंककर आत्मसमर्पण या पलायन कर देते थे ॥१९॥

---

१. नष्टकर्णः—प. द.। २. परीक्षितान्तःकरणैः—प., द.। ३. समुच्चयालङ्कारः—प., द०। ४. उप लभ्यते—प., द०।

न विक्रमः शरभनिपातसन्निभः शृगालवद्भयबहुलो न यो नयः ।
न निन्द्यते स्वयमनुकम्प्यते परैर्नयेन वा चरितमधच्च तादृशम् ॥२०॥

नेति—यस्य नृपतेः विक्रमः पौरुषं शरभनिपातसन्निभः [1]शरभस्याष्टापदस्य सन्निपातेन सन्निभः तुल्यो नाभूत् । अत्रायम्भावः—विवेकविकलो हि अष्टापदः किल लीलया विचित्रोत्प्लवनविधानोपपन्नो नखराङ्कुरैर्मत्तमातङ्गगण्डस्थलं विदार्य पृष्ठोद्भवचरणचतुष्टयमध्ये निक्षिप्य तं च मृतकुथितगजेन्द्रपूयसम्भवैर्जन्तुजातैर्विदार्यमाणो म्रियत इत्यनया युक्त्या योऽपर्यालोचिततया विहितो विक्रमः स्वस्य मरणाय जायते स न बभूवेति भावः । शृगालवद्भयबहुलो नयः भयं बहुलं प्रचुरं यस्मिन् यस्येति वा स तथाभूतो नयः तस्य नृपतेर्न बभूव । क्रुष्टेव शृगालस्येव । अत्र तात्पर्यम्—

शृगालस्य यथा समर्थजन्तुजातशाखोच्चमालोक्य चकितचकितत्वेन प्रपलायनमिति तादृशो नृपतेर्न बभूवेति भावः । स्वयमात्मना तादृशं चरितं यो नृपतिरधच्च कृतवान् येन चरितेन परैः शत्रुभिर्न निन्द्यते । न निन्दाविषयीक्रियते । नानुकम्प्यते नानुकम्पाविषयीक्रियत इति[1] ॥२०॥

यदा व्यरिरंसदरिमदित्सदेष वा धनं तदारुषदतुषच्च यः परम् ।
प्रकोपसम्पदविषयो गुणः फलं विनोद्गमाद्वट इव यस्य सन्ददे ॥२१॥

यदेति—यो नृपतिर्यदा यस्मिन् काले अरिं रिपुं व्यरिंसत् हन्तुमैच्छत् वा अथवा धनं हिरण्यादिद्रव्यमदित्सत् दातुमैच्छत् परं केवलं तदा तस्मिन् काले अरुषत् रुष्टवान् अतुषच्च तुष्टवान् च । अत्र कारणापेक्षया रोषतोषव्यवस्थितचेता बभूवेति भावः । उद्गमाद्विना कुसुममन्तरेण वट इव न्यग्रोध इव यस्यावनीश्वरस्य प्रकोपसम्पदविषयो रोषतोषगोचरो गुणः फलं सन्ददे समयच्छत् । अत्र यदैव हर्षामर्षलक्षणो गुणो ह्युत्पन्नस्तदैव फलप्रदानकालव्यापनामकार्षीत् । समुच्चयालङ्कारः ॥२१॥

प्ररोपयन्नयभुवि मूलसन्ततिं प्रसारयन् दिशि बहुशाखमन्वयम् ।
फलं दिशन् विपुलमपुष्पयापनं जनस्य यः समजनि कल्पभूरुहः ॥२२॥

प्ररोपयन्निति—यो नृपः[3] जनस्य भूरुहः सुरपादपः समजनि अभूत् किं कुर्वन् नयभुवि नीतिभूमौ मूलसन्ततिं दुर्गाध्यक्षधनाध्यक्षकर्माध्यक्षसेनापतिपुरोहितामात्यज्योतिःशास्त्रज्ञा हि मूलं क्षितिपतीनां मूलस्य सन्ततिं सन्तानं प्ररोपयत् स्थापयत् । उक्तञ्च—

"भाण्डागारी चमूभर्ता दुर्गाध्यक्षः पुरोहितः ।
कर्माध्यक्षोऽथ दैवज्ञो मन्त्री मूलं हि भूभृताम् ॥१॥

दिशि आशायां बहुशाखं बह्व्यः शाखाः पुत्रपौत्रादयो यत्र तथाभूतमन्वयमाम्नायं प्रसारयन् विस्तारयन् अपुष्पयापनमनायासलभ्यं विपुलं प्रचुरं फलं दिशन् संयच्छन् कल्पवृक्षोऽप्येवंभूतः नयभुवि न्यायभूमौ मूलसन्ततिं नेत्रसमूहं प्ररोपयन् अधोऽधो नयन् अन्वयं दुमम् बहुशाखं प्रचुरविटपस्थानं प्रसारयन् प्रतानीकुर्वन् विपुलमपुष्पयापनं न पुष्पव्यापनाकालगमनिका यत्र तदित्थंभूतं फलं दिशन्निति । रूपकालङ्कारः ॥२२॥

उसका पराक्रम सिंहके अविचारित आक्रमण और आत्मविनाश सदृश न था और न उसका कूटनीतिका प्रयोग शृगालके समान अत्यधिक भीत होकर चलनेका था । अपितु इस राजाका कुछ ऐसा आचरण था जिसके कारण न तो शत्रु उसकी निन्दा कर पाते थे और न उन्हें इसपर अनुग्रह करनेका ही अवसर मिलता था ॥२०॥

यह राजा जब शत्रुका संहार करना चाहता था तभी रुष्ट होता था अथवा जब धनादि देनेकी इच्छा करता था तभी प्रसन्न होता था । उसकी रोषणता तथा प्रसन्नतारूपी गुण वट वृक्षके समान बिना फूल दिये ही फल दे देते थे ॥२१॥

राजनीति रूपी भूमिके ऊपर भण्डारी, सेनापति, दुर्गपाल आदि राजतन्त्रके सातों मूलोंको स्थिर करता हुआ, समस्त दिशाओंमें अपने कुलके ही शाखा राजोंको प्रसार करता

---

१. शार्दूलस्य—प., द. । २. समुच्चयालंकारः—प., द. । ३. भूभर्ता–द. । भूतभर्ता––प. ।

जलाशयं दिशि दिशि पङ्कजीविनं नवोत्थितं नियतिषु देशकालयोः ।
विमर्द्य षष्टिकमिव विद्विषं भुवि प्ररोपयन्नतुलमवाप[1] यः फलम् ॥२३॥

जलाशयमिति—यो नृपतिः अनुलमसाधारणं फलमलब्ध प्राप । किं कुर्वन् ? दिशि दिशि विद्विषं शत्रुं तथा प्ररोपयन् किं कृत्वा पूर्वं विमर्द्य[7] स्वस्वस्थानात् प्रचाल्य कासु सतीषु देशकालयोर्नियतिषु कथम्भूतं सन्तं जडाशयं जडचेतस्कं पङ्कजीविनं पङ्केन पापेन जीवतीत्येवंशीलं पुनः नवोत्थितं नूतनसमुत्पन्नमलब्धमूलत्वादसहायमित्यर्थः । अधुनोपमानस्यार्थः प्रदर्श्यते । इव यथा षष्टिकं व्रीहिविशेषं दिशि दिशि प्ररोपयन् काश्चिल्लाभरादिविपुलं फलं प्राप्नोति किं कृत्वा पूर्वं देशकालयोर्नियतिषु 'विमर्द्य' मर्दयित्वा कीदृशं सन्तं जलाशयं जलमेवाशयः स्थानं यस्य तं तथोक्तं पङ्कजीविनं पङ्कात् कर्दमात् जीव आत्मा अस्यास्तीति तं तथोक्तं नवोत्थितमिति शेषः[2] ॥२३॥

सुहृज्जनं क्रशयति यः स्म कर्कशं पदानतं द्विषमपि तं व्यगाहत ।
निजं मलं क्षिपति हि वार्द्धिरुद्धतं नदीनदं समुपनतं विगाहते ॥२४॥

सुहृदिति—यो नृपतिः कर्कशं निर्दयं सुहृज्जनं (मित्रलोकं) क्रशयति स्म तनूचकार । (तं लोकप्रसिद्धं) पदानतं चरणपतितं[3] द्विषमपि (शत्रुमपि) व्यगाहत स्वीचकार । अर्थान्तरं [4]न्यस्यति—

वार्द्धिः समुद्रो (हि स्फुटं) निजम् (आत्मीयम्) उद्धतम् (उत्कटं) मलं बहिः क्षिपति वहिः कुरुते । समुपनतं (सम्यक्) प्रह्वीभूतं नदीनदं पूर्ववाहिन्यो निम्नगा नद्यः पश्चिमवाहिन्यो नद्यो नदाः नद्यश्च नदाश्च नदीनदं विगाहते गृह्णाति[5] 'गुणग्राहकोऽयमिति दर्शितम् ॥२४॥

विवर्द्धितानतिकठिनान्नखानिव प्रियानिव स्खलितगतीन्समुच्छिनत् ।
पुपोष यस्तमिह नयेन विक्रिया भवत्यपि स्वपठितमन्त्रतो भयम् ॥२५॥

विवर्द्धितानिति—यो नृपतिः विवर्द्धितान् वृद्धिं प्रापितान् अतिकठिनान् अतिनिष्ठुरहृदयान् स्खलितगतीन् स्खलिते पापे गतिर्येषां तान् प्रियानपि नखानिव समच्छिनत् सम्यक् चिच्छेद । अत्र वासनेयम्—

यथा सम्पद्वर्धितान् निर्दयान् पापीयसः प्रियानपि सतः आत्मीयोच्चपदादुत्थाप्य[7] स्तोकपदे स्थापयामास । यथा दिवा कीर्तिः वृद्धिंगतान् कररुहान् भ्रष्टगतीन् प्रियान् पाणिपादशोभाविधायिनो नखान् छिनत्तीत्यर्थः ।

हुआ तथा अनायास ही सुख-शान्तिरूपी फलोंको देता हुआ वह राजा जनताके लिए कल्पवृक्षके समान था क्योंकि कल्पवृक्ष भी मर्यादापालक भोगभूमिमें होते हैं तथा पुष्टतने शाखायुक्त होते हैं और इच्छा मात्रसे वे दश प्रकारकी भोग-सामग्री देते हैं ॥२२॥

शुभ ग्रहों तथा अनुकूल देशकालमें तुरन्त हुए मूढ़मति तथा पापाचारी शत्रुको सब दिशाओंमें पराजित करके वह विनम्र हो जानेपर फिर धानके समान स्थापित करता था और इससे अतुल सम्पत्तिको प्राप्त करता था। धानके लिए भी कीचड़से पूर्ण तालाबादिको उचित समय तथा देशमें खूब जोत कर जब विधि वर्ष ले तब उगनेके बाद ही रोप देनेसे वह खूब फलता है ॥२३॥

वह राजा कठोर अथवा निर्दय मित्रको भी दण्ड देता था तथा चरणोंमें नत शत्रुको भी अपनाकर उठाता था। समुद्र भी अपने कूड़े-कचरेको बाहर फेंक देता है और नीचेकी ओर बहनेवाली नदियों तथा नदोंको अपनेमें मिला लेता है ॥२४॥

स्वयं उन्नत पदपर नियुक्त किन्तु अत्यन्त निर्दय तथा पापमार्गमें प्रवृत्त अपने प्रियलोकोंको भी नखोंकी तरह काटकर फेंक देता था [नख भी मनुष्य स्वयं बढ़ने देता है, वे कठोर होते हैं और बहुत बढ़ जानेपर चलना-फिरना कठिन कर देते हैं] यह उन्हीं लोगों-

---

१. अलब्ध–प. द. । २. अत्र नीतिमत्त्वकौशल्यमुपदर्शितम् । —श्लेषालंकारः—प., द. । ३. चरणन्यस्तमस्तकम्–प., द. । ४. उक्तार्थदृष्टान्तेन द्रढयत्याचार्यः—प., द. । ५. स्वीकरोति–प., द. । ६. गुणग्राहकत्वेन विवेचकत्वं समुपदर्शितम् । अर्थान्तरन्यासालङ्कारः—प., द. । ७. प्रचाल्य —प., द. ।

किं बहुना यो राजा तं पुपोष येन पोषितेनापि विक्रिया न भवति । युक्तमेतत् स्वपठितमन्त्रतो भयं यथा गुरुपरम्परोपदेशमन्तरेणात्माधीतात् मन्त्रात् भयं स्यात् तथात्मवर्द्धितेभ्योऽतिक्रूरेभ्यः पापरतेभ्य इत्यभिप्रायः । अर्थान्तरन्यासः ॥२५॥

अनुद्धतान् युवजरतः श्रुतागमान् जितश्रमान्नयविनयान्वितान् सुतान् ।
अयोजयन् सममविरोधयन्परैश्चकार यः प्रकटमकर्कटस्थितीन् ॥२६॥

अनुद्धतानिति—अनुद्धतान् अगर्वान् श्रुतागमान् श्रुतः[1] आगमो व्याकरणादिर्यैस्तान् जितश्रमान् कृत-शस्त्रशास्त्राभ्यासान् नयविनयान्वितान् नीतिप्रश्रययुक्तान् युवजरतः युववृद्धान् सुतान् पुत्रान् परैरितरैः समं सार्द्धमयोजयन् अघटयन् अविरोधयँश्च यो राजा प्रकटं यथा भवति तथा अकर्कटस्थितीन् न विद्यते कर्कटस्येव कुलीरस्येव स्थितिरवस्थानं येषां ते तथोक्तास्तान् चकाराकार्षीत् । अत्र वासनेयम्—इह हि समुत्पन्नाः किल कर्कटसमाः पुत्राः पितरं भक्षयन्ति इति ज्ञात्वा प्रियभाषणादिभिरात्माशाविधायिनः कृतवान् इति ॥२६॥

ऋतं वचो-विसमुदितं क्रियाफलं कृतज्ञतां स्वविभवसम्मितां मताम् ।
जिगीषुतां दिगवधृतां कुटुम्बितामशेषभूभरणभरां बभार यः ॥२७॥

ऋतमिति—यो राजा ऋतं वचः सत्यं वचनं क्रियाफलम् अचिरमुदितमविसंवादि स्वविभवसम्मितात्मविभूतिसमुदितां कृतज्ञतां मतामिष्टां दिगवधृतां दिक्षु अवधृतां विजिगीषुतां विजेतृतामशेषभूभरणभरां समस्तभूमिपोषणाधारां कुटुम्बितां प्रतिसम्बन्धं योजनीया क्रिया बभार धृतवान्[2] ॥२७॥

प्रसेदुषि स्थितिमति यत्र राजनि ध्वजांशुकान्यपि न जहार मारुतः ।
स चातकः सततृषातुरो-श्रुवाः पतिंवरावलयपरिग्रहे परम् ॥२८॥

प्रसेदुषीति—यत्र यस्मिन् प्रसेदुषि प्रसन्ने सति स्थैर्यवति राजनि मारुतोऽपि वायुरपि ध्वजांशुकानि पताकावस्त्राणि न जहार हृतवान् । स लोकप्रसिद्धः चातकः सततृषातुरः अविरततृषाव्यग्रः परं केवलं पतिंवरावलयपरिग्रहे कन्याकङ्कणाङ्गीकारे तत्प्रसिद्धमश्रु वाः बाष्पजलम् अत्रास्तिक्रियायाः अध्याहारः । परिसंख्याऽलङ्कृतिः ॥२८॥

बलेन यः स्वयमनिलोऽपि नानिलः सनीतिरप्यभवदनीतिगोचरः ।
अशीतकः शशिशिशिरः समेखलः समेखलस्त्विति न जनेन दूषितः ॥२९॥

का भरण-पोषण करता था जो अनाचारको न फैलाएं । क्योंकि गुरुके बिना स्वयं सिद्ध किये गये मन्त्रसे भी अनिष्ट हो जाता है ॥२५॥

नीति शास्त्रादिके पंडितों, परिश्रम करनेमें प्रवीण, शिष्टाचार और आस्थासे पूर्ण तथा अनुद्धत वृद्ध, युवक तथा पुत्रोंको अन्य लोगोंके साथ कार्यमें ही नहीं लगाया था अपितु उनका परस्परका विरोध भी नष्ट कर दिया था । उसने स्पष्ट ही उन लोगोंकी स्थितिको केकड़ोंकी परम्परासे विपरीत कर दिया था अर्थात् युवक वृद्धोंको नष्ट नहीं करते थे ॥२६॥

उस दशरथ अथवा [illegible] वचन सत्य थे, अनुष्ठानोंका परिणाम उपयुक्त और अनुकूल ही होता था, कृतज्ञताको अपनी विशाल सम्पत्तिसे नापता था, अभिलषित विजयकी इच्छा समस्त दिशाओंमें व्याप्त थी तथा कुटुम्बिताकी भावना समस्त संसारके भरण-पोषणमें समर्थ थी ॥२७॥

उस स्थिरमति राजाके राज्यकालमें वायु भी ध्वजाओंके कपड़ोंको नहीं चुराता (उड़ाता) था [चोरोंकी तो बात ही क्या है]। केवल चातक पक्षी ही प्याससे व्याकुल रहता था तथा पतिको वरण करके पाणिग्रहण करनेवाली कन्याकी विदाके समय ही आँसू आते थे ॥२८॥

---

१. श्रुत आकर्णित आगमो व्याकरणतर्कषड्दर्शनाभिप्रायसिद्धान्तस्वभावो यैः । २. समुच्चयालङ्कारः—प., द. ।

बलेनेति—बलेन सामर्थ्येन कृत्वा स्वयमात्मना यो राजा अनिलोऽपि वायुरपि स कथं नानिल इति विरोधः। नैवं न विद्यते इला भूमिर्यस्यासौ अनिलः न अभवत् भूमिपरित्यक्तो नाभूदित्यर्थः। सनीतिरपि सह नीत्या वर्त्तमानोऽऽपि अनीतिगोचरोऽभवदिति विरोधः। नैवं न ईतयो गोचरा लोचनविषया यस्यासौ अनीतिगोचरः। ईतयः सप्त। तदुक्तम्—

"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः।
स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः ॥१॥

शशिशिशिरः शशीव चन्द्र इव शिशिरः शीतलः स कथमशीतक इति विरोधः। न शीतको मन्दः कार्येष्वनलस इत्यर्थः। समे खलस्त्विति। यः समे औदासीन्यावलम्बिनि पुरुषे खलो दुर्जनः। इत्थमपि दूषितो न जनेन विरोधोऽयम्। परिह्रियते। मेखलया कटिसूत्रेण सह वर्त्तमानः यद्वा समे साधौ अखलः प्रतिपालकः शिष्टानां प्रतिपालनं दुष्टानां निग्रहः राज्ञां धर्म इति वचनात्। उक्तञ्च—

"दुष्टानां निग्रहो नीत्या शिष्टानां प्रतिपालनम्।
राज्ञां धर्मोऽयमेवासौ नान्यः कश्चिच्च विद्यते ॥१॥ इति[1] ॥२९॥

न्याय्यं सुखावहमहो भुवि धर्मराज्यमित्यात्मनः प्रथयतः प्रजयानुभावम्।
तस्याभवत् प्रियतमा गुणपक्षपाताल्लक्ष्म्याः स्वयंवरकृता प्रथमा सपत्नी ॥३०॥

न्याय्यमिति—अहो आश्चर्यं भुवि पृथिव्यां सुखावहं सुखमावहतीति तथोक्तं धर्मराज्यं धर्मात् प्राप्तं धर्मेणोपलक्षितं वा राज्यं न्याय्यं न्यायादनपेतं यथोक्तप्रजापालनलक्षणमात्मनः स्वस्य प्रजायाः अष्टादश प्रकृत्या कृत्वा अनुभावं माहात्म्यं प्रथयतः प्रख्यापयतः समस्तस्य दशरथस्य प्रियतमा भार्या लक्ष्म्याः प्रथमा सपत्नी अभवत् बभूव। किंविशिष्टा सती स्वयंवरकृता स्वयं परोपदेशमन्तरेण व्रियते परिणीयते राजपुत्र्या राजपुत्रो यत्रासौ स्वयंवरः। स्वयंवरो कृतो यया सा कस्मात् गुणपक्षपातात् गुणा औदार्यादयः तेषां पक्षपातोऽङ्गीकारः तस्मात् समानगुणशीलत्वमुपदर्शितम्।

इदानीं भारतीयः—अहो भुवि न्याय्यं सुखावहं धर्मराज्यं धर्मस्य पाण्डोर्नराधिपस्य राज्यं तथोक्तमिति आत्मनः अनुभावं प्रजया कृत्वा प्रथयतः तस्य पाण्डो राज्ञः प्रियतमायाः लक्ष्म्याः प्रथमा सपत्नी अभवत् गुणपक्षपातात् स्वयंवरकृता सती। श्लेषः ॥३०॥

कलागमानामधिदेवतेव वेलेव लावण्यरसाम्बुराशेः।
अन्तर्निधिर्भूरिव वीरभूमिर्या वन्द्यतेऽद्यापि सती सतीभिः ॥३१॥

कलेति—अद्यापि साम्प्रतमपि या सती पतिव्रता सतीभिः पतिव्रताभिः [2]भामिनीभिर्वन्द्यते नमस्क्रियते

वह बलमें साक्षात् अनिल (वायु) था। तो भी अनिल (भूमि-राज्य-हीन) न था, नीतिका प्रतिपालक था अनीति (अतिवृष्टि आदि छः ईतियोंसे रहित) के लिए ख्यात था। चन्द्रमाके समान शीतल था तो भी अ-शीतल (ढीला अकर्मण्य नहीं) था तथा करधनीको धारण करता था तो भी लोगोंके द्वारा उसपर समे-खल (साधु पुरुषोंके साथ दुष्टता करनेवाला) लाञ्छन नहीं लगाया गया था ॥२९॥

न्यायमार्गपर लीन, सबको सुखकर धार्मिक राज्य-द्वारा अपना तथा प्रजाका माहात्म्य प्रकट करते हुए भी उस दशरथकी राज्यलक्ष्मीकी प्रथम सौत वह प्रियतमा रानी हुई थी जिसने गुणोंपर रीझकर स्वयंवरमें उसका वरण किया था।

धर्म (पाण्डु) का राज्य न्यायप्रधान, सुखकर तथा राजा प्रजाके पुण्यका फल था तथापि आश्चर्य था कि स्वयंवरमें गुणोंपर मोहित उसकी प्रियतमा रानी राज्यलक्ष्मीकी प्रमुख सपत्नी थी ॥३०॥

सती स्त्रियां शिक्षा संगीतादि कलाओं तथा आगमोंकी मुख्य देवीके समान, लावण्य-

---

१. विरोधालंकारः प०, द०। २. कामिनीभिः—प०, द०।

सूयते वा कथम्भूता सती कलागमानां कला लिखितपठितगणितवेणुवीणादयः चतुःषष्टिः आगमाः व्याकरणतर्कसिद्धान्तादयः । कलाश्च आगमाश्च तेषामधिदेवतेव इष्टदेवीव लावण्यरसाम्बुराशेः शरीरसमुदायशोभावारिवारिनिधेर्वेलेव अन्तर्निधिरिव अन्तर्निखातनिधानावनीव वीरभूमिः वीराणामुत्पत्त्यर्थभूमिः शूरोत्पत्तिस्थानमित्यर्थः ॥२१॥

या कौशल्या रूपशीलेन चार्वी दीनां काकुंत्यागसान्निध्ययोगात् ।
दीनेष्वर्थिष्वाददे लोभवादान्नासौ राज्ञः स्वान्तमन्तर्जहार ॥२२॥

येति—असौ कौशल्या कोशलो नाम नरेन्द्रः तस्यापत्यं स्त्री कोशलायां जाता भवा वा कौशल्या[1] राज्ञी राज्ञो दशरथस्य स्वान्तं मनः अन्तः आन्तरं जहार हृतवतीति[2] भावः । कथंभूता सती रूपशीलेन कृत्वा चार्वी मनोज्ञा या दीनेषु अकिञ्चित्करेषु[3] दीनां म्लानां काकुं[4] वक्रोक्तिं नाददे न गृहीतवती । कस्मात्त्यागसान्निध्ययोगात् । दाननैकट्यसंबन्धात् । कथम्भूतात् अलोभवादात् । न विद्यते लोभस्य वाद उक्तिर्यत्र तस्मात् ।

भारतीयः—असौ कुन्ती कुन्तेरपत्यं स्त्री कुन्ती[5] कुन्तिनृपात्मजा पाण्डोर्नराधिपस्य स्वान्तमन्तर्जहार । या दीनेषु अर्थिषु विषये लोभवादान् कार्पण्यवचनानि न आददे न गृहीतवती । कस्मात् निध्ययोगात् निधेः समूहस्य अयोगः असम्बन्धः तस्मात् कैश्चामागसामपराधानाम् । कथम्भूता सती न दीनाङ्का दीनो म्लानोऽङ्को लक्षणं यस्याः सा तथोक्ता अस्मिन् विशेषणे पूर्वोक्तः न शब्दः सम्बन्ध्यते तेनायमर्थः न दीनाङ्केति लभ्यते । पुनः कथम्भूता चार्वी मनोहरा केन कृत्वा रूपशीलेन रूपं चक्षुर्विषयः शीलं गृहीतव्रतप्रतिपालनं रूपं च शीलञ्च रूपशीलं तेन कृत्वा कौशली कुशलभावः तया कौशल्या कृत्वा अत्र वेणुवीणादीनां चतुःषष्टिकलानां परिज्ञानलक्षणं दक्षत्वं प्रदर्शितमिति कवेरभिप्रायः । अथवा कौशल्या कौ पृथिव्यां शल्यमिव शल्या आत्मीयरूपशीलेनान्यासां कमनीयकामिनीनां शल्योत्पादकत्वादिति काव्यटीकाकर्तुर्मतमिति शेषः[6] ॥२२॥

सौन्दर्यवर्येऽप्यवरोधवर्गे स्थिते विशेषेण सतामियेष ।
विहाय चूतस्य समस्तमङ्गं पुष्पोद्गमं चुम्बति हि द्विरेफः ॥२३॥

सौन्दर्येति—स राजा तां राज्ञीमियेष अभिललाष केन कृत्वा अन्यासां राज्ञीनां रूपशीलादिव्यवच्छेदिना गुणेन कृत्वा क सति अवरोधवर्गे स्थितेऽपि सति कथम्भूते सौन्दर्यवर्ये लावण्यप्रधाने युक्तमेतत् चूतस्याम्रस्य समस्तं सर्वमङ्गं शाखोपशाखाक्षुभ्रादिशरीरं विहाय त्यक्त्वा द्विरेफः द्वौ मुखकण्ठकप्रस्थौ[7] रेफौ यस्य स द्विरेफः भ्रमरः हि स्फुटं पुष्पोद्गमं मञ्जरीमकरन्दं चुम्बति आस्वादयतीति सम्बन्धः । अर्थान्तरन्यासः ॥२३॥

रसके समुद्रके तीरके समान और वसुन्धरा भूमिके समान राघव पाण्डव वीरोंकी जननी उस पतिव्रता पट्टरानीकी आज भी वन्दना करती हैं ॥२१॥

अन्वय—या रूपशीलेन चार्वी त्यागसान्निध्ययोगात् दीनेषु अर्थिषु लोभवादान् दीनां काकुं नाददे असौ कौशल्या राज्ञः स्वान्तमन्तर्जहार ।

जो सौन्दर्य और सदाचारके कारण ही सुन्दरी थी, त्याग वृत्तिका सतत अभ्यास होनेके कारण दीन याचकोंसे लोभमय मनोवृत्तिसे प्रेरित तुच्छ व्यंग्य वचन न बोलती उस कौशल्या ने राजा दशरथके मनको सर्वथा चुरा लिया था ।

अन्वय···दीनाङ्का आगसान्निध्ययोगात्···लोभवादानाददे असौ कुन्ती...

जो लावण्य और पतिव्रतके कारण ही रमणीक थी, विनम्रता जिसका लक्षण था तथा पापोंके समुद्रमें डूबे दीन दुःखी याचकोंको भी जो कृपणताके द्योतक वचन नहीं कहती थी उस कुन्तीने पाण्डु राजाके हृदयको लुभा लिया था ॥२२॥

सौन्दर्यकी दृष्टिसे सर्वोत्तम अन्य अनेक रानियोंके होनेपर भी वह राजा विशेषरूपसे

---

१. वृद्धित्कुरुशलाजादकोशलाज्ञ्यः [जै. ३।१।१५३] । २. ती रञ्जितवतीति भा–प., द. । ३. तु याचकेषु दो–प., द. । ४. -कुं मनोऽभिप्रायं व- प०, द० । ५. कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम् [जै० ३।१।१५७] इति ङ्लुप्–प., द. । ६. श्लेषालङ्कारः प., द. । ७. पक्षौ–द० ।

इति रतिमनयानुरुध्यमानो हृदि शरणोत्तममङ्गलं नमस्यन् ।
व्यसनरहितराजराज्यभारः समुपचिकाय यशोधनं जयेन ॥३४॥

इतीति—जयेन अरितिरस्कारेण कृत्वा तत् स्वगात्मीयं यशोधनं यश एव धनं द्रव्यं तत् स राजा उपचिकाय वृद्धिं नीतवान् कथम्भूतः व्यसनैरर्थदूषणादिभिः रहितः विमुक्तो राजा यत्र तादृशो राज्यभारो यस्य स तथोक्तः पुनः रतिं सुखोत्सवम् अनया पट्टमहादेव्या सह इति वक्ष्यमाणापेक्षया अनुरुध्यमानः कामयमानः पुनः शरणोत्तममङ्गलं शरणयोग्यत्वात् शरणः उत्तमैः सर्वज्ञैः प्राणीतत्वात् उत्तमः । मङ्गं सुखं लाति (ददाति) मलं पापं गालयति इति वा मङ्गलो धर्मः । स च स च स च तं हृदि हृदये नमस्यन् नमस्कुर्वन् ॥३४॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितमण्डलीडितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां द्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य राघवपाण्डवीयापरनाम्नः काव्यस्य पदकौमुदी नाम दधानायां टीकायां दशरथपाण्डुराजवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

उस कौशल्या या कुन्तीके ही पास जाता था । जैसे भ्रमर आमके स्कन्ध-शाखा पत्रादि समस्त अंगोंको छोड़कर केवल बौरको ही चूमता है ॥३३॥

सब विपत्तियोंसे रहित राज्यका शासक यह राजा अपनी पट्टरानीके साथ ही भोगों की अभिलाषा करता था तथा उत्तम शरण मंगलभूत धर्मकी मनमें विनती करते हुए इसने विजयके द्वारा अपने यशरूपी धनकी परिपूर्ण उन्नति की थी ॥३४॥

निर्दोष विद्याभूषणभूषितपण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती, श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्रगुरुके शिष्य देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर नेमिचन्द्रद्वारा विरचित कवि धनञ्जयके राघवपाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसंधान काव्यकी पदकौमुदी नामक टीकामें दशरथपाण्डु-राजवर्णन नामक द्वितीय सर्ग समाप्त ।

तृतीयः सर्गः

अथास्य राज्ञः प्रियधर्मपत्नी धर्मोऽस्ति वन्ध्यः किमितीव मत्वा ।
रजःकणं तत्र फलाय काले बबन्ध चूताग्रिमपञ्जरीव ॥१॥

अथेति–अथशब्दो राज्यव्यावर्णनानन्तर्यार्थः[1] । अस्य पूर्वोक्तस्य राज्ञः नराधिपस्य प्रियधर्मपत्नी प्रियो धर्मो यस्याः सा प्रियधर्मा अथवा प्रियधर्मस्य हेतुत्वात् प्रियधर्मा सा चासौ पत्नी च सा तत्र काले तारुण्यभरप्राप्तिसमये रजःकणमार्त्तवकणं फलाय बबन्ध धृतवती । किं कृत्वा ? पूर्वं मत्वा ज्ञात्वा कथमिति । किमिव धर्मोऽस्ति वन्ध्यः निष्फल इति । केव चूताग्रिमाङ्कुरीव यथाऽग्रभूतप्रथमोद्भवपुष्पगुच्छः तत्र काले वसन्तसमये फलाय रजःकणं मकरन्दबिन्दुं बध्नातीति[2] ॥१॥

इन्द्रो विभूत्या स बृहस्पतिर्वा बुद्ध्या सुतः स्यादिति वंशवृद्धाः ।
सिद्धाय मन्त्रेण निरूपयन्तश्चरुं स दिष्ट्या ववृधे च पौरः ॥२॥

इन्द्र इति–विभूत्या सम्पदा कृत्वा इन्द्रः पुरन्दरः बृहस्पतिर्वा अथवा बुद्ध्या मत्या कृत्वा बृहस्पतिः सुरगुरुः सुतः पुत्रः स्याद्भवेत् इति हेतोः वंशवृद्धाः कुलोद्भवशतायुषः पुरुषाः सिद्धायमन्त्रेण परमेष्ठिने बीजाक्षरलक्षणेन मन्त्रेण कृत्वा सिद्धः निष्पन्नः अयः भाग्यं यस्मादसौ सिद्धायः स चासौ मन्त्रश्च तेन तथोक्तेन कृत्वा चरुम् इष्टदेवतायलिविशेषं निरूपयन्तः दत्तवन्तः । स लोकप्रसिद्धः पौरः नागरो जनः दिष्ट्या महोत्सवेन ववृधे वृद्धिं प्रापत्[3] ॥२॥

बोधातिरेकाय सरस्वतीव लक्ष्मीरिवानेकविधार्थहेतोः ।
गर्भं महिष्याधित भूमिभर्तुः पुण्यस्य पुष्पोद्गम एष सर्वः ॥३॥

बोधेति–महिषी पट्टराज्ञी गर्भमाधित धृतवती । केवोत्प्रेक्षिता ? भूमिभर्तुर्भूपस्य बोधातिरेकाय ज्ञानाधिक्याय सरस्वतीव वाणीव अनेकविधार्थहेतोः नानाप्रकारद्रव्यनिमित्तं लक्ष्मीरिव श्रीरिव युक्तं चैतत् पुण्यस्य एषोऽसौ सर्वः समस्तः पुष्पोद्गमः फलमिति सम्बन्धः । अर्थान्तरन्यासः ॥३॥

दीप्तान्तरङ्गा शिखिनारणीव निधानगर्भेण भुवः स्थलीव ।
सत्त्वेन तेन स्तिमितप्रकाशा जज्ञेऽलसोद्योगवतीव देवी ॥४॥

दीप्तेति–तेन गर्भस्थितेन सत्त्वेन प्राणिना अलसा मन्दा सती देवी पट्टराज्ञी उद्योगवतीव जज्ञे जाता । केव अरणी वह्निमन्थनकाष्ठमिव । कथम्भूता ? शिखिना कृशानुना दीप्तान्तरङ्गा दीप्तः प्रकाशमानः अन्तरङ्गो

राजाकी परमप्रिय धर्मपत्नी 'क्या धर्म निसन्तति है ?' यही सोचकर उपयुक्त वयमें आम्रके द्वारा बौरके समान धर्मसन्ततिके लिए रजोदर्शनको प्राप्त हुई थी ॥ १ ॥

वैभवकी दृष्टिसे इन्द्र, बुद्धिकी अपेक्षा बृहस्पति हो वह राजपुत्र होगा । इस विश्वासके कारण ही वंशके वृद्ध पुरुषोंने बीजाक्षर मन्त्रोंके उच्चारण सहित सिद्ध परमेष्ठीको नैवेद्य समर्पित किया था और अयोध्या तथा हस्तिनापुरके नागरिक भी आनन्दमंगल मनानेमें दिनों दिन उन्नति कर रहे थे ॥ २ ॥

कौशल्या अथवा कुन्ती पटरानीने धर्मपतिके विवेककी लोकोत्तर वृद्धिके लिए सरस्वतीके समान, विविध प्रकारके धनोंके लिए लक्ष्मीके समान गर्भको धारण किया था । अथवा यह सब पुण्यरूपी वृक्षके पुष्पके उद्गमके समान था ॥ ३ ॥

भीतर ही भीतर प्रज्वलित अग्निसे काष्ठके समान तथा नीचे छिपी हीरादि सम्पत्तिके

---

१. राजव्यावर्ण–प०, द० । २. उपमालंकारः–प०, द० । ३. समुच्चयालंकारः–प०, द० ।

मध्यभागो यस्याः । पुनः निधानगर्भेण निधियुक्तमध्येन भुवः स्थली इव यथा कथम्भूता स्तिमितप्रकाशा स्तिमितो निश्चलः प्रकाशः शरीरकान्तिर्यस्याः सा तथोक्ता । स्थली च स्थिरप्रकाशा जायते इति सम्बन्धः । उपमा ॥४॥

आपाण्डुरं रागनिबद्धमङ्गमुत्साहबाहुल्यमुदात्तमोजः ।
विश्वं जगद्वीप्सुरिवोद्वाह द्यौरभ्रलिप्ताभ्युदितार्यमेव ॥५॥

आपाण्डुरमिति—आपाण्डुरमीषत्पाण्डुरम् अङ्गरागनिबद्धमनुरागयुक्तमुत्साहस्य बाहुल्यं (प्राचुर्यं) यत्र तत्तथोक्तम् । उदात्तमुत्कटमोजश्च 'महतां तेजः एतद्द्वितयं राज्ञी उद्वाह बभार । कथम्भूतेव विश्वं समस्तं जगद्भुवनं वीप्सुरिव व्याप्तुमिच्छुरिव । केव यथा द्यौः नभस्तलमभ्युदितार्यमाऽभ्युदितः उद्गतः अर्यमा सूर्यो यस्यां सा इत्थम्भूता सती अङ्गमात्मीयस्वरूपमुद्वहति । कथम्भूता पुनः ? अभ्रैः मेघैः ईषल्लिप्ता "कादल्पे" जै० सू० [२।१।४४] इति ङीः । अङ्गमापाण्डुरमीषच्छ्वेतं रागनिबद्धं लौहित्ययुक्तम् उत्कृष्टा सा लक्ष्मीः शोभा यत्राहनि तत् उत्सं उत्सं च तदहश्च तदुत्साहं सश्रीकं दिनं तस्य बाहुल्यं यत्राङ्गे तत्तथोक्तम् । ओजश्च तेजः उदात्तमुल्बणमुद्वहति कथम्भूतेव विश्वं जगद्वीप्सुरिवेत्युपमा[1] ॥५॥

कुमारभृत्याकुशलः स तस्मिल्लोकस्थितिं प्रत्यवधातुमैच्छत् ।
अस्पृश्यमग्न्यादिभिरप्रधृष्यमन्येन तद्वंश्यमविष्यमाहुः ॥६॥

कुमारेति—तस्मिन्नापाण्डुरत्वादिधारणकाले स राजा कुमारभृत्या बालवैद्यकं तत्पोषकशास्त्रं वा कुमारभृत्या तस्यां कुशलः प्रवीणः लोकस्थितिं लोकव्यवहारं प्रत्यवधातुमवधारणीकर्तुमैच्छत् अभिलषितवान् यस्मात्, तस्मात् कारणात् तद्वंश्यं वंशे भवः वंश्यः तस्य राज्ञो वंश्यः स तथोक्तस्तमाहुः ब्रुवन्ति लोकवृद्धाः कथम्भूतमग्न्यादिभिरष्टाभिर्दैवव्यसनैः अस्पृश्यमस्पर्शविषयमगम्यमित्यर्थः । अन्येन अरिजातेन अप्रधृष्यमजेयमनभिभवनीयमित्यर्थः । अविष्यं विषेणावध्यञ्चेति ॥६॥

जाने हि मृत्स्नाऽभ्यवहारमात्रं मातुः प्रकाश्यच्छलमन्तरात्मा ।
समुद्रवेलाजलसिक्तसीमां गर्भस्थितः स ग्रसते स्म भूमिम् ॥७॥

जाने इति—जानेऽहमेवं मन्ये हि स्फुटं ससत्त्वोऽन्तरात्मा अव्यक्तमूर्तिः सन् गर्भस्थितोऽपि भूमिं पृथ्वीं ग्रसते स्म गिलितवान् । कीदृशीं समुद्रवेलाजलसिक्तसीमां वारिधिपयःप्लावितमर्यादां किं कृत्वा पूर्वं मातुर्जनन्याः मृत्स्नाभ्यवहारमात्रं छलं प्रशस्तमृत्तिकाभक्षणव्याजं प्रकाश्य प्रव्यक्तीकृत्वेति ॥७॥

द्वारा प्रकाशमान खानके समान गर्भमें आये उस पुण्यात्मा जीवके द्वारा गर्भिणी रानीकी कान्ति स्थिर हो गयी थी और गर्भभारसे अलसायी रानी उद्योगरत सदृश प्रतीत होती थी ॥ ४ ॥

समस्त संसारको व्याप्त करनेकी अभिलाषासे ही उस रानीने कुछ श्वेत-लाल कान्ति युक्त शरीर, कार्य करनेकी क्षमताकी विशालता तथा अत्यन्त प्रभावक तेजको घनाच्छन्न तथा उदित सूर्ययुक्त आकाशके समान धारण किया था । क्योंकि उक्त प्रकारके आकाशका रूप भी आंशिक धवलिमा व्याप्त लालिमा, दिवस सौन्दर्य तथा प्रखर आतपमय होता है ॥५॥

इस प्रकारकी गर्भस्थितिके समय कुमारभृत्यमें निपुण राजा दशरथ अथवा पाण्डुने लोक-व्यवहारको भी जाननेका प्रयत्न किया था । तब इसके कुल-वृद्धोंने अग्नि आदि आठ दैवी उपसर्गोंके निवारणकी विधि, शत्रु आदिके द्वारा गर्भपात निरोधके उपाय तथा विष-प्रयोगके परिहार बताये थे ॥ ६ ॥

ऐसा मानना चाहिये कि माताकी मिट्टी खानेकी चेष्टाको प्रकट करके दशरथ अथवा पाण्डु राजाकी पत्नियोंके गर्भमें स्थित अतएव गुप्त जीवने समुद्रकी लहरोंके पानीसे आर्द्र सीमायुक्त पृथ्वीको ही ग्रास कर लिया था ॥ ७ ॥

१. बातृतां—प०, द० । २. श्लेषोपमालङ्कारः—प०, द० ।

अव्यक्तभावोऽयमलब्धदेहस्तथाधितिष्ठन्नपि गर्भभूमिम् ।
कोऽप्यङ्कुरो बीजमिवानुभावात्स्वजन्महेतुं कुलमुद्बभार ॥८॥

अव्यक्तेति—अयं सत्त्वः तथापि अनुभावात् माहात्म्यात् स्वजन्महेतुमात्मोत्पत्तिहेतुं कुलम् अन्वयमुद्बभार उद्धृतवान् । किं कुर्वाणोऽपि अधितिष्ठन्नपि गर्भभूमिं यद्यपि अव्यक्तभावः अप्रकटपरिणामः अलब्धदेहः अप्राप्तशरीरः प्रवर्तते उपमार्थः प्रदर्श्यते इव यथा कोऽपि अनिर्वचनीयोऽपि अङ्कुरः प्रथमोद्भिन्नसूचिकः अनुभावात् स्वजन्महेतुं बीजं उद्बिभर्ति यद्यपि गर्भभूमिं मध्यावनिं अधितिष्ठन्नपि कीदृशः अव्यक्तभावः । अव्यक्तो गुप्तो भावः सत्तालक्षणो यस्य सः तथोक्तः अलब्धदेहः । उपमा ॥८॥

सर्वज्ञमभ्यर्च्य महामहेन व्यधत्त तस्याः क्रियया महत्या ।
यथोचितं पौंस्नवनादिकर्म धर्मोपधाशुद्धविधिः पुरोधाः ॥९॥

सर्वज्ञमिति—तस्या देव्याः यथोचितं पौंस्नवनादि पुंसो भावः पौंस्नं वनति सम्भजते यत् कर्म तत्तथोक्तम् । औषधस्नपनविधानैर्भक्तिप्रणुतिं कृत्वा गर्भसंक्रान्तिवासरमारभ्य मासस्याष्टमस्य पर्यन्तदिवसं यावत्पुत्रोत्पत्त्यर्थं मंत्राराधनं देवपूजा त्रिविधपात्रेषु च यथाक्रमं यथायोग्यं दानविधिर्यद्विधीयते तत् पौंस्नवनम् । उक्तञ्च—

> "आरभ्य सङ्क्रान्तिदिनं हि यावन्मासाष्टमस्यावधिमुत्सवेन ।
> पुत्रेप्सया धर्म (कर्म) विधीयते यत्तत् सूरयः पौंस्नवनं वदन्ति ॥
> "केचिद् हि मासे किल पञ्चमेऽपि पूर्णेऽथ गर्भे कथमष्टमावधिः ।
> यथेति धर्माद्विविधा हि सम्पत्सम्पूर्णमायुर्न रुजो भवेयुः ॥१॥"

तदादौ यस्य तत्तथोक्तं कर्मक्रियया महत्या गरिष्ठया क्रियया कृत्वा पुरोधाः पुरोहितः व्यधत्त कृतवान् किं कृत्वा अभ्यर्च्य प्रपूज्य कं सर्वज्ञं हेयादेयरूपतया सर्वं त्रैलोक्योदरविवरवर्तितत्त्वात्तत्त्वं करतलामलकवज्जानातीति सर्वज्ञः । तं तथोक्तम् । केन कृत्वा महामहेन महोत्सवेन कथम्भूतः सन् धर्मोपधा शुद्धविधिः धर्मोपधया धर्मस्य परीक्षया शुद्धो यथोक्तो विधिः क्रिया यस्य सः ॥९॥

स्वप्नेन सोमं निशि वीक्ष्य बालमादाय सारोप्य किल स्वमङ्कम् ।
लब्धोऽतिसौम्यस्तनयः प्रजानां मयेति दिष्ट्याभ्यववर्द्धदालीः ॥१०॥

स्वप्नेति—सा देवी दिष्ट्या परमोत्सवेन आलीः सखीः अभ्यववर्द्धत् आनन्दयति स्म । कथमिति लब्धोऽतिसौम्यस्तनयः प्रजानामष्टादशप्रकृतीनामतिसौम्यः अतिशयेन प्रसन्नः तनयः पुत्रः लब्धः प्राप्तो

पूर्वोक्त प्रकारसे गर्भमें वास करते हुए जीवने अपने परिणामोंका प्रकाश बिना किये ही तथा शरीरको धारण किये बिना ही अपने जन्मके निमित्त पितृकुलका अपने विशिष्ट प्रभावसे वैसा ही उद्धार कर दिया था जैसे भूमिमें बोया गया, सबके लिए अदृश्य तथा शरीरहीन कोई कोई अंकुर बीजको ऊपर उठा लाता है ॥ ८ ॥

धर्मके निमित्त शुद्ध विधि-विधानोंमें लीन पुरोहितने केवली भगवान्की महामह-द्वारा पूजा करके पटरानीका 'पौंस्न' महोत्सव बड़े आयोजनके साथ राजाओंके अनुरूप साज-सज्जा-द्वारा किया था—

[गर्भाधानकी तिथिसे लेकर आठ मास बाद पुत्रकी अभिलाषासे जो धर्म कार्यमय उत्सव किया जाता है उसे 'पौंस्नवन' कहते हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि आठवें बाद क्यों ? गर्भाधानकी तिथिसे ५ मास पूर्ण होनेपर जो आराधना-पूजा-दानमय धर्मकार्य किया जाता है उसे 'पौंस्नवन' कहते हैं। इसके कारण समृद्धि तथा आयु पूर्ण होती है और रोगादि नहीं होते हैं] ॥ ९ ॥

रात्रिमें सोते समय वह रानी स्वप्नमें बालचन्द्रमाको देखकर उठा लेती थी तथा

मयेति । किं कृत्वा पूर्वं किल अनायासेन स्वमात्मीयमङ्कमुत्सङ्गं सोमं चन्द्रं आरोप्य निवेश्य । कथम्भूतं बालं शिशुम् । किं कृत्वा पुनः आदाय गृहीत्वा । निशि रात्रौ स्वप्नेन सुप्त्वा कृत्वा वीक्ष्य आलोक्य । अत्र कर्तृकर्मक्रियाणां तिसृणां सोमभित्येकं कर्मसम्बन्धनीयम् इति ॥१०॥

[1]तेषु ग्रहेषूच्चगतेषु तस्मिन् नक्षत्रयोगे सुषुवे कुमारम् ।
अवग्रहो यैरभवन्न भूमे येनापि नक्षत्रमुदीर्णमन्यत् ॥११॥

तेष्विति—तेषु लोकप्रसिद्धेषु ग्रहेषु सूर्यादिषु उच्चगतेषु स्वस्वोच्चैः स्थानस्थितेषु सत्सु तस्मिन् लोकप्रसिद्धे नक्षत्रयोगे नक्षत्राणि अश्विन्यादीनि सप्तविंशतिर्योगाः विष्कुम्भादयः सप्तविंशतिः नक्षत्राणि योगाश्च समाहारः । तथोक्ते नक्षत्रयोगे सा देवी कुमारं सुषुवे जनयति स्म । यैः ग्रहैः भूमेः पृथिव्याः अवग्रहः प्रतिबन्धः न अभवत् नाजनि । येनापि नक्षत्रयोगेन क्षत्रं क्षात्रो धर्मः अन्यत् शात्रवं न उदीर्णं न समुत्पन्नम् । समुच्चयालङ्कारः ।

अत्र पूर्वोक्तस्य यथोचितविहितस्य पौंसवनादिकर्मणः फलमुपदर्शितमिति भावः ॥११॥

तस्मिन् सुते तत्क्षणजातमात्रे रत्नप्रदीपाः प्रभया विमुक्ताः ।
नित्यं [2]नैरालम्बितभोगभागा नागा इवोच्चैः सविषादमस्थुः ॥१२॥

तस्मिन्निति । रत्नप्रदीपाः प्रभया दीप्त्या विमुक्ताः परित्यक्ताः सन्तः उच्चैरतिशयेन अस्थुः तिष्ठन्ति स्म । कस्मिन् सति ? तस्मिन् लोकप्रसिद्धे सुते पुत्रे तत्क्षणजातमात्रे तत्समयोत्पन्नमात्रे उत्प्रेक्षार्थं प्रदर्श्यन्ते । के इवोत्प्रेक्षिताः । नागा इव यथा नागाः सर्पास्तिष्ठन्ति । कथम्भूताः नित्यं नरालम्बितभोगभागाः नित्यं नरे आलम्बितो भोगभागः फणाप्रदेशो यैस्ते तथा कथं सविषादं क्रियाविशेषणमिति उत्प्रेक्षा ॥१२॥

नालं न्यधित्सद् भुवि यत्र नाभ्यं पदे पदे तत्र निधिं निचाय्य ।
रोमाञ्चितः कञ्चुकमन्यदेकं सकञ्चुकीपर्यधितेव हृष्टः ॥१३॥

नालमिति—स (लोकप्रसिद्धः) कञ्चुकी सहवासिकः हृष्टः हर्षोत्कर्षं प्राप्तः सन् अन्यत् अपरं कञ्चुकं कूर्पासं पर्यधितेव परिदधाति स्मेव कथम्भूतः ? रोमाञ्चितः उद्धर्षितरोमा किं कृत्वा पदे पदे प्रतिपदं तत्र तस्यां भुवि निधिं निधानं निचाय्य आलोक्य कस्यां भुवि यत्र यस्यां नाभ्यं नालं न्यधित्सत् निधातुमैच्छत् । उत्प्रेक्षा ॥१३॥

दिशः प्रसेदुर्विमलं नभोऽभूत् सौवं न्यपप्तत्कुसुमं नभस्तः ।
विरिद्धमिद्धं[3] दिवि दुन्दुभीनां किं भागधेये सति दुर्लभं वा ॥१४॥

अपनी गोदमें बैठाकर कहती थी 'मैंने अठारहों श्रेणियोंके कल्याणकर्त्ता शान्त पुत्रको प्राप्त किया है।' इससे सेवामें लीन सखियोंके आनन्दका ठिकाना नहीं रहता था ॥१०॥

जिन ग्रहोंसे पृथ्वीपर उपसर्ग नहीं आता है उन सबके अपने-अपने उच्च स्थानपर रहनेपर तथा जिसके कारण विपरीत उद्धत क्षात्र (शत्रु) का उदय नहीं होता है ऐसे नक्षत्र तथा योगमें महारानीने राजपुत्रको जन्म दिया था ॥११॥

उस क्षणमें ही उत्पन्न उस राजपुत्रके सामने प्रसूतिगृहमें रखे रत्नोंके दीपक तेजहीन हो गये थे और मन्त्रवेत्ता मनुष्योंके द्वारा फणसे पकड़े गये साँपोंके समान सदाके लिए अत्यन्त उदास हो गये थे ॥१२॥

जिस स्थानपर कञ्चुकी सद्यःजात पुत्रकी नाभिके नालको गाड़ना चाहता था वहाँ पर पद-पदपर निधिको देखकर इतना हर्षित हुआ कि उसका रोम-रोम पुलकित हो गया था। मालूम होता था कि उसने एक और कञ्चुक (जामा) पहिन लिया है ॥१३॥

---

१. ग्रहेषु तेषूच्च—द० २. निरालम्बितभोगभागाः—प० १. निरालम्बितभोगभागाः नित्यं निरतिशयेनालम्बितोऽतिसंकोचितो भोगभागो यैः—प० । ३. अर्थं प्रतिभाति ।

दिश इति–दिशः (आशाः) प्रसेदुः प्रसन्नाः बभूवुः । नभो गगनं (विमलं) निरभ्रमभूत् अजनि । सौवं दिविजं कुसुमं नभस्तो गगनात् न्यपतत् पपात । दिवि नभसि दुन्दुभीनां तूर्याणां विरिवं ध्वनितमिद्धं तारमत्र बभूवेति क्रियाध्याहार्या । वा अथवा–भागधेये भाग्ये सति किं दुर्लभं प्राणिनां स्यात् । अर्थान्तरन्यासः ॥१४॥

आशीतिका वर्षवराः पुरन्ध्र्यः पञ्चाशदुत्तीर्णदशानिशान्ते ।
कुब्जाश्च पुत्रोत्सवमोहमन्त्रैरानर्तिषुः स्तोभमिवाभिनीताः ॥१५॥

आशीतिका इति–आशीतिकाः[1] अशीतिं वर्षाणामतिक्रान्ताः वर्षवराः वर्षैर्वरा अधिका इति निरुक्तेः अन्तःपुररक्षणे नियुक्ताः नपुंसकरूपा महत्तराः । पञ्चाशदुत्तीर्णदशाः पञ्चाशतं वर्षाणि उत्तीर्णा दशावस्था वयो यासां ताः पुरन्ध्र्यः कामिन्यः कुब्जाश्च अल्पुन्नतपृष्ठवंशाः पुत्रोत्सवमोहमन्त्रैः कर्तृभिः स्तोभमावेशमभिनीता इव अभि समन्तात् प्रापिता इव निशान्तेऽन्तःपुरे आनर्तिषुः नृत्यं चक्रुरित्युत्प्रेक्षा ॥१५॥

निवेदयद्भ्यः सुतजन्म राजा स राज्यचिह्नं सुतराज्यभाव्यम् ।
हित्वैतदेकं धृतवान्न किञ्चिद्देयं हि तुष्टैरपि नान्यदीयम् ॥१६॥

निवेदयद्भ्य इति–स राजा दशरथः पाण्डुर्वा सुतजन्म पुत्रोत्पत्तिं निवेदयद्भ्यः कथयद्भ्यः न धृतवान् किञ्चित् वस्तु किं कृत्वा हित्वा परित्यज्य किं एतदेकं राज्यचिह्नं कथम्भूतं सुतराज्यभाव्यं सुतराज्योपलक्षणीयम् । हि स्फुटं अन्यदीयं वस्तु तुष्टैरपि आनन्दमन्दिरं प्रविष्टैरपि न देयं न दातव्यम् । उत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासौ ॥१६॥

अन्तःपुरे राजनि राजधान्यां देशेऽप्यसम्माय दिशामधीशान् ।
व्याप्यासनक्षोभकृदुत्सवोऽयमद्यापि विश्राम्यति न प्रजासु ॥१७॥

अन्तःपुर इति–अयमुत्सवोऽद्यापि साम्प्रतमपि प्रजासु अष्टादशप्रकृतिषु विषये न विश्राम्यति न विश्रामं करोति । कथम्भूतः आसनक्षोभकृत् आसनस्य उपवेशनस्य क्षोभं सङ्कलनं करोति सः । किं कृत्वा दिशामधीशान् व्याप्य । पुनः किं कृत्वा अन्तःपुरेऽवरोधे राजनि भूपे राजधान्यां मुख्यनगर्यां देशे मण्डले असम्माय अवकाशमलब्ध्वा । समुच्चयः ॥१७॥

समं द्विषन्तः शुकसारिकाभिर्विपाशिता वल्गु शिशुं शशंसुः ।
निर्मोक्ष्यमाणं सह धेनुकेन गृहे गृहे वात्सकमभ्यमुञ्चत् ॥१८॥

पुत्र-जन्मके समय सब दिशाएँ स्वच्छ हो गयी थीं । आकाश मेघरहित अतएव निर्मल हो गया था । आकाशसे स्वर्गलोकके फूलोंकी वर्षा हो रही थी । वातावरणमें दुन्दुभियोंकी जोरकी ध्वनि व्याप्त हो गयी थी । शुभ भाग्य होनेपर संसारमें क्या दुर्लभ होता है ? १४॥

अस्सी वर्षसे भी अधिक वयके अन्तःपुरके नपुंसक प्रहरी, पचास वर्षसे भी अधिक वयकी रानीकी परिचारिकाएँ तथा कुबड़े, पुत्रजन्मके उत्सवरूपी वशीकरण मन्त्रके आवेशमें अन्तःपुरमें नाच रहे थे ॥१५॥

राजा दशरथ अथवा पाण्डुने पुत्रके जन्मकी सूचना देनेवालोंको इस प्रकार पुरस्कार दिया था कि उनके शरीरपर भावी राजा राजपुत्रके राज्यचिह्नको छोड़कर और कोई आभूषणादि न रह गये थे । क्योंकि महापुरुष परम प्रसन्न होनेपर भी दूसरोंकी वस्तु पुरस्कारमें नहीं देते हैं ॥१६॥

आसनको हिला देनेवाला पुत्रके जन्मका उत्सव रनवास, राजा, राजधानी तथा पूरे राज्यमें भी न समा सका था । अतएव समस्त दिक्पालों तक को व्याप्त करके यह आज भी समस्त जनतामें चालू ही है, रुका नहीं है ॥१७॥

---

1. काः अशीतिभूतः "तमधीष्टो भृतो भूतो वा" [जै० ३।४।७६] इति ठञ् । वर्ष–प०, द० ।

सममिति–द्विषन्तः शत्रवः शुकसारिकाभिः समं सार्द्धं विपाशिताः विमोचिताः सन्तः वल्गु मधुरं यथा शिशुं बालं शशंसुः प्रशंसयामासुः। गृहे गृहे निर्मोक्षमाणमात्मानं मोक्तुमिच्छन्तं वात्सकं तर्णकसमूहं नागरो जनः धैनुकेन गोसमूहेन सह सार्द्धमभ्यमुञ्चत् समन्तात् मुक्तवान्[1] ॥१८॥

पुरोहितावर्त्तितजातकर्मा नीरञ्जितं रत्नमिवाकरस्थम्।
पुत्रः प्रकाशोऽयमभूत् क्रिया हि द्रव्यं निसृष्टद्युति संस्करोति ॥१९॥

पुरोहितेति–पुरोहितेन पुरोधसा आवर्त्तितं जातकर्म यस्य स तथोक्तः सन् अयं पुत्रः तनयः प्रकाशहेतुत्वात् प्रकाशः तेजस्वी अभूत् अजनि। किमिव आकरस्थं खनिसमुत्पन्नं रत्नमिव मणिरिव कथम्भूतं नीरञ्जितमुत्तेजितम्। हि स्फुटं निसृष्टद्युति अविनष्टकान्ति द्रव्यं क्रिया कर्त्री संस्करोति विनयति। अर्थान्तरन्यासः ॥१९॥

पूर्वं परं ज्योतिरुपार्च्य देवं स्थेयान् प्रकृत्या विशदो गरीयान्।
मनोऽभिरामोऽयमजातशत्रुरित्यर्थयुक्तं जुहुवे नृपेण ॥२०॥

पूर्वमिति–नृपेण दशरथेन राज्ञा अर्थयुक्तं सार्थकमयं पुत्रः राम इति जुहुवे आहूतः। कथम्भूतः प्रकृत्या स्वभावेन स्थेयान स्थिरः। किं कृत्वा परं ज्योतिर्दैवं[2] [3]उपार्च्य अर्चयित्वा। कथम्भूतः रामः विशदः स्वच्छः स्वच्छाशयः कथं [4]मनोभिः मनसा पुनः कथम्भूतः गरीयान् गरिष्ठः पुनः अजातशत्रुः न जाताः शत्रवो यस्य सः अथवा यमात् मृत्योर्जातं मरणलक्षणं कर्म यत् तत् यमजं यमजं अतन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ये ते यमजाताः नन्द्यादिनेति सूत्रेणा प्रत्ययः इत्थम्भूताः शत्रवो यस्मात् सः। अथवा–यमाय यावज्जीवव्रताय जाताः शत्रवो यस्मिन्नुत्पन्ने सति स्वीयं स्वीयराज्यमपहाय पराभवभयात् वैरिणो व्रतिनो बभूवुरित्यर्थः।

भारतीयः–नृपेण पाण्डुना राज्ञा अर्थयुक्तमयं पुत्रः अजातशत्रुर्युधिष्ठिर इति जुहुवे आहूतः। कथम्भूतः मनोभिरामः कमनीयः अथवा आमः सार्द्रः कैः मनोभिः चित्तैः मनसः कौटिल्यरहितत्वात् बहुवचनमत्र। शेषं पूर्ववत्। श्लेषः ॥२०॥

शत्रुओंके साथ-साथ बन्धनसे मुक्त किये गये, तोता और मैना आदि अपनी मधुर ध्वनियोंसे नवजात राजपुत्रकी प्रशंसा करते थे। मुक्त करनेकी लोगोंको ऐसी धुन बँध गयी थी कि घर-घरसे गायोंके साथ बछड़े भी छोड़ दिये थे ॥१८॥

पुरोहितके द्वारा जन्मके संस्कार कर दिये जानेपर खानसे निकले किन्तु खरादपर चढ़ाकर चमकाये गये रत्नके समान यह राजपुत्र भी तेजस्वी दिखने लगा था। स्वभावसे कान्तिमान पदार्थको भी संस्कार अधिक कान्तिमान बना देते हैं ॥१९॥

अन्वय—नृपेण पूर्वं परं ज्योतिदेवं उपार्च्य स्थेयान्, प्रकृत्या विशदो गरीयान् मनोभिः अजातशत्रुः अयम् अर्थयुक्तं रामः इति जुहुवे।

राजाने सबसे पहिले परम ज्ञानी भगवान्की सविधि पूजा करके पुत्रको सार्थक नाम रामसे पुकारा था क्योंकि यह वह राजपुत्र स्थिर, स्वभावसे निर्मल और गम्भीर था तथा मनसे भी कोई [illegible] शत्रु नहीं था। अथवा स्वभावसे स्थिर, मनसे स्वच्छ तथा गम्भीर और इसके शत्रु आजीवन व्रत (यम) लेकर चले गये थे अथवा यमलोक (मृत्यु) चले गये थे।

अन्वय—······मनोभिराम इति अर्थयुक्तं अजातशत्रुः जुहुवे······।

सर्वप्रथम केवलज्ञानी भगवान्की पूजा करके राजा पाण्डुने राजपुत्रको सार्थक नाम अजातशत्रु (युधिष्ठिर) से पुकारा था क्योंकि वह अत्यन्त दृढ़ भावसे निष्कपट, परम गम्भीर तथा सबके मनको मोह लेता था ॥२०॥

---

१. समुच्चयालङ्कारः–प०, द०। २. दैवं देवानामिदं दैवम्–प०, द०। ३. उपार्ज्य अर्जयित्वा–प०, द०। ४. अत्र राघवीयपक्षे टीकोक्तदिशा मनोभिः रामाः इति छेदः। अत्र द्लोपदीर्घाप्रवृत्तिरूपः संधिदोषश्चिन्त्यः। भारतीयपक्षे तु मनोभिरामः मनोभिः आमः आर्द्र इतिच्छेदो युक्त एव।

दिनानि लब्ध्वा ववृधे शशीव कुब्जानवष्टभ्य विचक्रमे च ।
किञ्चिद्बभाषे सवयोभिरल्पं यात्रां जनस्योपदिशन्निवासीत् ॥२१॥

दिनानीति—दिनानि दिवसानि लब्ध्वा प्राप्य स पुत्रः ववृधे वृद्धिं गतवान् । क इव शशीव चन्द्र इव । न विचक्रमे चरणाभ्यां चचाल । किं कृत्वा कुब्जान् अवष्टभ्य अवलम्ब्य । चकारोऽत्र समुच्चये । तेनायमर्थः । न केवलं विचक्रमे बभाषे च उक्तवान् । किं किञ्चित् अल्पम् । कथं सवयोभिर्मित्रैः सह सार्द्धं जनस्य लोकस्य यात्रां लोकस्थितिम् उपदिशन्निवासीत् बभूवेति । समुच्चयः ॥२१॥

कपोलयोर्मूर्द्धनि पादयोस्तं निमीलिताक्षं नृपतिश्चुचुम्ब ।
स्वस्य प्रियायाश्च सुतेऽवतीर्णमास्वादयन् स्नेहमिवैकरूपम् ॥२२॥

कपोलयोरिति—निमीलिताक्षं संकुचितलोचनमिति क्रियाविशेषणम् । कपोलयोः गल्लयोः । मूर्द्धनि मस्तके । पदयोश्चरणयोः । एतेषु स्थानेषु तं पुत्रं नृपतिः राजा चुचुम्ब चुम्बितवान । किं कुर्वन्निव सुतेऽवतीर्णं स्वस्यात्मनः प्रियायाश्च एकरूपं स्नेहमास्वादयन्निव । उत्प्रेक्षा ॥२२॥

स प्राज्ञमाहाकुलशूरसङ्गं चकार पोतुः प्रथमं नरेन्द्रः ।
पृक्तं नवं भाजनमत्र येन तद्गन्धरूपं हि भवत्यवश्यम् ॥२३॥

स इति—स नरेन्द्रः नृपः प्रथमं पोतुः पुत्रस्य प्राज्ञमाहाकुलशूरसङ्गं प्राज्ञाः कुशाग्रबुद्धयः महाकुले जाता माहाकुलाः महान्वये जाताः सूर्यसोमादिवंशसमुद्भवाः शूरा वीरास्तेषां सङ्गं संसर्गं चकार कृतवान् हि यस्मात्कारणात् येन वस्तुना पृक्तं वासितं नवं भाजनममत्रमत्र लोकेऽवश्यं नियमेन तद्गन्धरूपं तद्गन्ध एव रूपं यस्य तादृशं भवति जायते । उक्तं च— "नवान्यमत्राणि शुभोऽशुभो वा वासोऽपि लग्नोऽनवदात्मभावम् । यान्येव तानीतरथा विधातुं शक्नोति नूनं न चतुर्मुखोऽपि ॥" अर्थान्तरन्यासः ॥२३॥

लिपिं स संख्यामपि वृत्तचौलः समाप्य वृत्तोपनयः क्रमेण ।
ब्रह्माचरन् षोडशवर्षबद्धमादत्त विद्याः कृतवृद्धसेवः ॥२४॥

लिपिमिति—स पुत्रः कृतवृद्धसेवः कृता वृद्धानां गुणवतां सेवा येन सः । विद्या आन्वीक्षिक्याद्याः आदत्त गृहीतवान् । किं कुर्वन् षोडशवर्षबद्धं (ब्रह्म) ब्रह्मचर्यमाचरन् । षोडशवर्षाणि यावदित्यर्थः । कथम्भूतः वृत्तोपनयः शिष्यत्वमुपनीयते येनासौ उपनयः मौञ्जीव्रतबन्ध इत्यर्थः । वृत्तो निष्पन्न उपनयो यस्य सः । क्रमेण इत्यस्यायमर्थः पूर्वं प्रथमं वृत्तचौलः वृत्तं चौलं चूलाकर्म यस्य सः पश्चाद्वृत्तोपनयः । किं कृत्वा समाप्य अभ्यस्य समाप्तिं नीत्वा । काम् ? लिपिं पङ्क्त्या वर्णविन्यासं संख्यां गणितमपि चेति । समुच्चयः ॥२४॥

ज्यों-ज्यों दिन बीतते थे त्यों-त्यों राजपुत्र चन्द्रमाके समान बढ़ते जाते थे । कुबड़ोंको पकड़कर चलते भी थे तथा कुछ-कुछ बोलते थे । अपनी समान वयके लोगोंके साथ जब थोड़ा भी चलते थे तो ऐसा लगता था कि जनताको जीवनयात्राकी शिक्षा दे रहे हैं ॥२१॥

राजा दशरथ अथवा पाण्डु आँखें मूँदकर राम अथवा युधिष्ठिरके गालों, मस्तक अथवा पैरोंको चूमते थे । प्रतीत होता था कि अपने और पट्टरानीके मिले हुए और पुत्रमें उतरे स्नेहका स्वाद ही ले रहे हैं ॥२२॥

उन नरपतिने प्रारम्भसे ही अपने पुत्रको अत्यन्त बुद्धिमान्, उत्तम कुलमें उत्पन्न वीर पुरुषोंके साथ कर दिया था । क्योंकि नूतन पात्रमें जिस वस्तुका संसर्ग हो जाता है उसकी गन्ध निश्चयसे बनी रहती है ॥२३॥

पहिले चूड़ाकरण उसके बाद यज्ञोपवीत संस्कारको प्राप्त उस राजपुत्रने क्रमशः वर्णमाला तथा अंकगणितकी शिक्षाको प्राप्त करके सोलह वर्षकी वयतक ब्रह्मचर्यका पालन किया था और वृद्धजनोंकी सेवा करते हुए समस्त विद्याओंको सीखा था ॥२४॥

आन्वीक्षिकीं शिष्टजनाद्यतिभ्यस्त्रयीं च वार्तामधिकारकृद्भ्यः ।
वक्तुः प्रयोक्तुश्च स दण्डनीतिं विदां मतः साधु विदाञ्चकार ।।२५।।

आन्वीक्षिकीमिति–शिष्टजनादान्वीक्षिकीं यतिभ्यः मुनिभ्यस्त्रयीम् अधिकारकृद्भ्यः नियोगिभ्यः वार्ता वक्तुः प्रयोक्तुश्च दण्डनीतिं स पुनः विदाञ्चकार । कथं साधु यथा समीचीनम् । कथम्भूतः विदां विदुषां मतः इष्टः । "आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रय्यांस्थितौ । अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥" समुच्चयः ।।२५।।

कृत्वा सपर्यां कुलदेवताभ्यो विधाय गोदानविधिं सुतस्य ।
सवृत्तविद्याभिजनानुरूपं स दारकर्मावनिपश्चकार ।।२६।।

कृत्वेति–सः अवनिपः राजा सुतस्य दारकर्म विवाहं चकार कृतवान् कथम्भूतं (सवृत्तविद्याभिजनानुरूपं) सवृत्ते समानाचारे ये विद्याभिजने विद्याकुले तयोः अनुरूपं योग्यं विद्याऽत्र व्याकरणतर्कसिद्धान्तलक्षणा ज्ञेया । किं कृत्वा कुलदेवताभ्यः सपर्यां कृत्वा विधाय पुनः किं सुतस्य गोदानविधिं मौञ्जीव्रतमोक्षणं विधाय । समुच्चयः ।।२६।।

सज्जानकीनाशमतेरपेता नवा वधूः प्रेम निदर्श्य यूनः ।
विलासिका चित्तमसौ जहार किं कोऽपि तादृग् विषयेऽस्त्यसक्तः ।।२७।।

सदिति–यूनः तारुण्यभराक्रान्तस्य रामस्य चित्तं हृदयमसौ वधूः जानकी सीता जहार हृतवती । कथम्भूता विलासिका विलासः नेत्रजो विकारः सोऽस्या अस्तीति विलासिका । कथम्भूता नवा तारुण्यवती । पुनः नाशमतेरपेता निर्गता । न वियोगविषयेत्यर्थः । किं कृत्वा ? निदर्श्य प्रकाश्य । किम् ? प्रेम स्नेहम् । कथम्भूतम् ? सत् समीचीनम् । कृतकोपचाररहितमित्यर्थः । उक्तञ्च–

"यत्रावकाशलेशोऽस्ति नोपचारविचारयोः ।
तद्ध्यानं प्रेम याऽशेषदुःखभिद्योगिभोगिनोरिति ॥"

अर्थान्तरन्यासमाह–किं कोऽपि तादृक्रामसदृशोऽप्यस्ति यो नाम विषये इष्टस्रग्वनिताचन्दनादौ असक्तः । अत्र तात्पर्यम्–यथा रामो विषयासक्तस्तथा नान्यः कश्चिदस्तीति भावः ।

भारतीयपक्षः–यूनः युधिष्ठिरस्य चित्तमसौ वधूर्न जहार न हृतवती ? कथम्भूता विलासिका विलासिनी पुनः नवा तरुणी उद्भिन्नपीनघनस्तनमण्डला । पुनः कीनाशमतेः कीनाशस्य कृपणस्य मतिरिव मतिः क्रूरबुद्धिरित्यर्थः । अथवा कीनाशा दीना चासौ मतिश्च । उक्तञ्च–"कीनाशः कृपणो लुब्धो दीनो गृध्नुश्च मर्दनः" ।

अपने-अपने विषयके प्रतिष्ठित विद्वानोंको प्रिय राजपुत्रने सिद्धपुरुषोंसे आत्मविद्याकी शिक्षा ग्रहण की थी, ऋषियोंसे धर्म-अधर्मका ज्ञान प्राप्त किया था, अधिकारियोंसे लाभ-हानि शास्त्रको पढ़ा था तथा न्यायाधीश और शासकोंसे न्याय-अन्यायकी विवेचक दण्ड-नीतिको समझा था ॥२५॥

महाराज दशरथ अथवा पाण्डुने अपने कुलके आराध्य देवताओंकी सविधि पूजा करके राजपुत्रके ब्रह्मचर्य-आश्रम समाप्तिका संस्कार किया था । तदः अपने समान आचार-विचार, शिक्षा-दीक्षा तथा कुलीनतासे युक्त स्थानपर उसका विवाह कर दिया था ॥२६॥

अन्वय—नाशमतेरपेता, विलासिका, असौ नवा वधू सज्जानकी प्रेम निदर्श्य यूनः चित्तं जहार । किं कोऽपि तादृग्विषये असक्तः अस्ति ?

वियोगकी कल्पनासे भी दूर, कटाक्षोंसे प्रीति बरसानेवाली इस नववधू गुणवती जानकीने अपने प्रगाढ प्रेमके आचरणसे युवक रामके चित्तको वशमें कर लिया था । संसारमें कौन ऐसा है जो ऐसे विषयमें अनासक्त रह सके ।

तस्या अंगेता । पुनः कथम्भूता सज्जा प्रगुणा वा सतः सत्पुरुषाज्जाता सज्जा कुलीना । किं कृत्वा ? निदर्श्य किं प्रेम । अर्थान्तरमुपन्यस्यते किं कोऽपि तादृग् यथा युधिष्ठिरोऽस्ति यो नाम विषयेऽसक्तः । अत्र तात्पर्यम्—यथा विषयेऽसक्तो युधिष्ठिरस्तथा नान्यः कश्चिदस्तीति ॥२७॥

भीमः क्रमात् वर्महरः किरीटी प्रांशुर्विशालः ककुदुन्नतांसः ।
अभूद्वृषस्कन्धधरो महेच्छः स वर्तितो वर्तिकयेव धात्रा ॥२८॥

भीम इति—[1]स रामः क्रमात् परिपाट्या भीमः भयानकोऽभूत् अजनि । कथम्भूतः ? वर्महरः कवचोद्वहनसमर्थः । किरीटी मुकुटवान् । प्रांशुः उच्चैस्तरः । विशालः विस्तीर्णः । पुनः (ककुदुन्नतांसः) ककुदिव वृषस्कन्धोर्ध्वग्रन्थिरिव उन्नतौ अंसौ स्कन्धौ यस्य सः तथोक्तः । वृषस्कन्धधरः वृषस्येव वृषभस्येव स्कन्धधरा ग्रीवा यस्य सः । अत्र ग्रीवायाः स्थूलत्वं प्रतिपादितम् । महेच्छः महत्सु सत्पुरुषेषु इच्छा वाञ्छा यस्य सः । एतैर्विशेषणैर्युक्तः सन् उत्प्रेक्ष्यते । धात्रा चतुर्मुखेन कर्त्रा वर्तिकया चित्रलेखन्या कृत्वा वर्तित इवेति ।

भारतीयः—क्रमात् आनन्तर्येण युधिष्ठिरानन्तरमित्यर्थः भीमः वृकोदरः अभूत् । कथम्भूतः वर्महरः । ततश्च किरीटी अर्जुनः । कथम्भूतः महेच्छः महती इच्छा यस्यासौ महेच्छः वा महे उत्सवे सति अच्छः अविकलहृदय[2] इति । शेषः प्राग्वत् । उत्प्रेक्षा ॥२८॥

ततः सुमित्रोदयहेतुभूतामद्रयुन्नतिं प्राप्तमसूत सूनुम् ।
योऽपप्रथत् सन्नकुलोदितारिः श्रीलक्ष्मणाख्यां सहदेवचर्यः ॥२९॥

तत इति—ततः रामोत्पत्त्यनन्तरं[3] सुमित्रा राज्ञी तं सूनुं पुत्रमसूत जनितवती । कथम्भूतं अद्रयुन्नतिं प्राप्तं पर्वतस्योच्चतां गतम् । कथम्भूतामुदयहेतुभूतां विभवकारणभूताम् यः श्रीलक्ष्मणाख्यामपप्रथत् प्रकटितवान् । कथम्भूतः सन्नकुलोदितारिः सन्ना हताः कुलोदिताः अन्वये प्रसिद्धाः अरयो येन सः पुनः सहदेवचर्यः सह सार्द्धं देवानामिव चर्यया गत्या वर्तमानः । अर्द्धचक्रधरत्वाद्देवैः परिवारित इत्यर्थः ।

अन्वय—क्षीणशमतेरपेतः, सज्जा, विलासिका, नवा असौ वधू प्रेम निदर्श्य यूनः चित्तं न जहार ? किं कोऽपि तादृग्विषये असक्तः अस्ति ?

दीन वृत्तिसे अछूती, गुणोंसे भूषित, विलासोंमें चतुर, यौवनके प्रारम्भमें वर्तमान, इस वधूने अपने प्रकृष्ट प्रेमके प्रदर्शन-द्वारा युधिष्ठिरके चित्तका हरण नहीं किया था ? [अर्थात् किया ही था] उसके समान वयका कौन ऐसा है जो विषय-भोगमें उदासीन हो ॥२७॥

रामचन्द्रकी पीठपर, उन्नत, पुष्ट, ककुद्के समान कन्धोंयुक्त तथा धर्मकी धुराको धारण करनेवाला कवचधारी, मुकुटविभूषित, प्रखर तेजस्वी और महत्त्वाकांक्षी उस भरतका जन्म हुआ था जो विधाताकी कूँचीसे चित्रित समान लगता था ।

युधिष्ठिरके बाद कवचको भी तोड़ देनेवाले भीम और लम्बे बाँके अर्जुन हुए थे ! इनके उठे विशाल कन्धे थे तथा बैलके समान बलिष्ठ ग्रीवा थी । सज्जन-समागमके प्रेमी ये जगन्नियन्ताकी टाँकीसे गढ़े गये-से प्रतीत होते थे ॥२८॥

अन्वय-ततः सुमित्रा अद्रयुन्नतिं प्राप्तं सूनुम् असूत । सन्नकुलोदितारिः सहदेवचर्यः यः उदयहेतुभूताम् श्रीलक्ष्मणाख्यां अपप्रथत् ।

भरतके जन्मके बाद दशरथकी सुमित्रा महारानीने पर्वतके समान उत्सेध युक्त पुत्र-

---

१. स भरतः । यतो हि रामानन्तरं भरतस्यैव जन्म अभूत् । वृषस्कन्धधरो इत्यनेन तस्यैव संकेतः अग्रजस्य न्यासत्वेन राज्यस्य प्रतिपालनात् भरत एव धर्मधुराधारक इति । २. अनाविलहृदयः—प० , द० । ३. भरतोत्पत्त्यनन्तरं प्रतिभाति ।

भारतीयः—ततः युधिष्ठिरभीमार्जुनोत्पत्तिव्यावर्णनान्तरं सुमित्रोदयहेतुभूता सुमित्राणां सुहृदामुदयहेतुभूता माद्री (मद्री) राज्ञी तं सूनुमसूत । कथम्भूतमुन्नतिं प्राप्तम् । यः नकुल इत्याख्यामपप्रथत् प्रकटीचकार । केन कृत्वा श्रीलक्ष्मणा श्रीश्च लक्ष्माणि लक्षणानि च अत्र समाहारापेक्षयैकत्वं श्रीलक्ष्म तेन श्रीलक्ष्मणा । पुनः सहदेवचर्यः सहदेवेन चर्या गमनं यस्य सः तथोक्तः सन् । पुनः अदितारिः अदिता भक्षिता अरयो येन सः कालकरालवदनार्पितशत्रुः । "अद भक्षणे" इत्यस्य धातोः प्रयोगः । यद्वा दिताः खण्डिताः अरयः शत्रवः येन स तथोक्तः । "दो अवखण्डने" इत्यस्य प्रयोगः । श्लेषः ॥२९॥

राज्ञस्तथा सुप्रजसः कुलस्य सर्वस्य सोऽतीव जनस्य जातः ।
शत्रुघ्ननामाऽभ्युदयैकहेतुः पुत्रं पुनानं हि कुलं निराहुः ॥३०॥

राज्ञ इति—यथा रामलक्ष्मणौ[1] द्वौ पुत्रौ जातौ तथा राज्ञो दशरथस्य सुप्रजसः कामिन्याः स लोकप्रसिद्धः शत्रुघ्ननामा पुत्रो जातः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यथेत्यध्याहार्यमत्र । काकाक्षिगोलकन्यायेन जात इति क्रिया पूर्वपरसम्बन्धपदपरामर्शिनी । तेनायमर्थः—यः अतीव अतिशयेन अभ्युदयैकहेतुः जातः । कस्य कुलस्य वंशस्य सर्वस्य जनस्य च । इदानीमर्थान्तरन्यासः । हि स्फुटं कुलं पुनानं पुत्रं निराहुर्वदन्त्याचार्याः ।

भारतीयः—स नकुलः[2] शत्रुघ्ननामा शत्रून् हतवत् शत्रुघ्नं नाम यस्यासौ शत्रुघ्ननामा भूत्वा सुप्रजसः शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजाः तस्य "प्रजामेधादस्" [जै० सू० ४।२।१२७] पाण्डो राज्ञः सम्बन्धित्वेन कुलस्य तथा तेन प्रकारेण सर्वस्य समस्तस्य जनस्य अतीव अभ्युदयैकहेतुर्जातः । अर्थान्तरं न्यस्यति कुलं पुनानं हि स्फुटं पुत्रं निराहुः । उक्तञ्च—

> "पुष्णाति धर्मं हि कुलक्रमेण समागतं यः कृपया प्रपूतम् ।
> कुलं पुनीते जनकस्य कीर्त्या पुत्रं पवित्रं प्रवदन्ति शिष्टाः" ॥१॥

अर्थान्तरन्यासः ॥३०॥

को जन्म दिया था। पीढ़ियोंसे ख्यात अपने वंशके शत्रुओंका संहारक तथा देवताओंसे अनुगत उस राजपुत्रने अभ्युदयकी प्रेरक श्रीलक्ष्मण संज्ञाको धारण किया था।

अन्वय—ततः सुमित्रोदयहेतुभूता मद्री उन्नतिं प्राप्तं सूनुम् असूत। अदितारिः सन् यः सहदेवचर्यः नकुलः श्रीलक्ष्मणाख्यां अपप्रथत्।

भीम-अर्जुनके जन्मके बाद शिष्ट बन्धु-बान्धवोंके उत्कर्षकी सहायक महारानी मद्रीने परम विकासको प्राप्त पुत्रको जन्म दिया था। शत्रुओंके मान-मर्दक होकर भी 'सहदेव' से अनुगत इस नकुल पाण्डुपुत्रने अपने नामको लक्ष्मी और सल्लक्षणोंके लिए प्रसिद्ध किया था ॥२९॥

अन्वय—तथा राज्ञः सुप्रजसः कुलस्य सर्वस्य जनस्य अतीव अभ्युदयैकहेतुः सः शत्रुघ्ननामा जातः। हि कुलं पुनानं पुत्रं निराहुः।

जैसे दशरथ राजाके भरतादि हुए थे वैसे ही सुमित्रा महारानीसे अपने वंश तथा समस्त जनताके अत्यन्त उत्कर्षका साधक वह शत्रुघ्न नामका पुत्र हुआ था। ठीक है, कुलको पवित्र करनेवालेको ही वास्तविक पुत्र कहते हैं।

अन्वय—राज्ञः सुप्रजसः तथा जातः शत्रुघ्ननामा सः कुलस्य सर्वस्य जनस्य अभ्युदयैकहेतुः।

महाराज पाण्डुकी मद्री महारानीसे पूर्वोक्त प्रकारसे उत्पन्न शत्रुओंके विनाशके कारक ख्यात वह सहदेव अपने वंश तथा समस्त जनताकी उन्नतिका प्रधान कारण था। निश्चयसे पुत्र वही है जो वंशको पवित्र करे ॥३०॥

---

१. रामभरतलक्ष्मणाः त्रयः पुत्राः जाता इति चिन्त्यम् । २. स सहदेवः नकुलसहचर इति ।

सर्वः कुमारः सुकुमारमूर्तिः सोष्णीषमूर्द्धोन्नतिरौर्णिकीभ्रूः ।
आलिङ्गितश्रीकरकङ्कणाङ्कमार्गादिवावर्तितकण्ठरेखः ॥३१॥

ललङ्घे इत्यनया क्रियया वृत्तत्रयेण सम्बन्धं दर्शयति—सर्व इति । सर्वः समस्तः कुमारः सुकुमारमूर्त्तिः सुकुमारा मूर्तिर्यस्य सः सोष्णीषमूर्धोन्नतिः उष्णीषः ब्रह्मद्वारस्योच्चप्रदेशग्रन्थिलक्षणविशेषः सहोष्णीषेण मूर्द्धोन्नतिर्यस्य सः पुनः और्णिकीभ्रूः ऊर्णायां नियुक्तः "तत्र नियुक्तः" [जै० सू० ३।३।११६] इति ठण् और्णिकी । और्णिक्यौ सूक्ष्मरोमबहुले भ्रुवौ यस्य सः और्णिकी भ्रूः "न कुहकोडः" [जै० सू० ४।२।१४९] इति पुंवद्भावनिषेधः । आवर्तितकण्ठरेखः आवर्तिताः कण्ठरेखा यस्य सः । कस्मादिव आलिङ्गितश्रीकरकङ्कणाङ्कमार्गात् आलिङ्गिता चासौ श्रीश्च लक्ष्मीः शोभा वा तस्याः करकङ्कणस्य अङ्कं चिह्नं यत्र स चासौ मार्गः । तस्मादिव उत्प्रेक्षा ॥३१॥

ऊर्जस्वलः पर्वतभित्तिवक्षा निगूढजानुद्वयलम्बबाहुः ।
गम्भीरनाभिः सबृहन्नितम्बः श्रीगोपुरस्तम्भनिभायतोरुः ॥३२॥

ऊर्जस्वल इति—स सर्वः कुमारः ऊर्जस्वलः बलवान् । पर्वतभित्तिवक्षाः विस्तीर्णोच्चभूधरसदृशोरस्क इत्यर्थः । निगूढं जानुद्वयं यस्य सः लम्बौ बाहू यस्य सः निगूढजानुद्वयश्चासौ लम्बबाहुश्च निगूढजानुद्वयलम्बबाहुः अव्यक्तसुबद्धजानुद्वितयदीर्घतरभुज इत्यर्थः । गम्भीरा नाभिस्तुन्दिर्यस्य सः । सबृहन्नितम्बः सह बृहन्नितम्बेन वर्त्तत इति । तथा श्रीगोपुरस्तम्भेन निभे तुल्ये आयते दीर्घे ऊरू जङ्घे यस्य सः तथोक्तः । उपमा ॥३२॥

चतुर्दशद्वन्द्वसमानदेहः सर्वेषु शास्त्रेषु कृतावतारः ।
गुणाधिकः प्रश्रयभङ्गभीरुः पितुः कथञ्चिद्गुरुतां ललङ्घे ॥३३॥

चतुर्दशेति—पुनः कीदृशः चतुर्दशद्वन्द्वसमानदेहः चतुर्दशद्वन्द्वेन समानो न्यूनाधिक्यरहितो देहः शरीरं यस्य सः । भ्रूलोचननासाकपोलकर्णौष्ठस्कन्धबाहुपाणिस्तनपार्श्वोरुजङ्घापादाः एतेषां चतुर्दशानां द्वन्द्वं तेन । पुनः कृतावतारः कृतोऽवतारो येन सः विहिताभ्यासः । केषु सर्वेषु शास्त्रेषु । गुणाधिकः गुणपरिपूर्णः । प्रश्रयभङ्गभीरुः विनयनाशभीलुकः । इत्थम्भूतः सन् पितुः जनकस्य कथञ्चित् केनापि प्रकारेण गुरुतां गौरवं ललङ्घे लङ्घितवान् इति । अन्त्यदीपकम् ॥३३॥

तत्याज पुत्रो विनयं कथञ्चिज्जहौ पिता नानुनयं कदाचित् ।
यतः पिता पुत्रमनन्यदाशं कस्यापि नाभूदपरुद्धवृत्तम् ॥३४॥

तत्याजेति—यतः यस्मात् कारणात् कश्चित् रामादिकः युधिष्ठिरादिको वा पुत्रः स्वपितरि विनयं न तत्याज नात्याक्षीत् तथा पिता च स्वपुत्रेषु अनुनयं प्रसादं कदाचित् काले न जहौ न त्यक्तवान् । तस्मात्

सभी राजपुत्रोंकी काया सुकुमार थी, मुकुट बाँधनेसे शिर उन्नत थे, भ्रुकुटियोंमें ऊर्णा थी, गलेमें सब ओर गोल रेखाएँ थीं जो गलेमें आलिंगन करती हुई लक्ष्मीके हाथके कंकणके निशानकी रेखाओंके समान लगती थीं ॥३१॥

वे सबके सब बलवान् थे, पर्वतके पार्श्वके समान विशाल और उभरी छाती थी, खूब पुष्ट अतएव आवृत जानुओं-पर्यन्त लम्बी भुजाएँ थीं। नाभि गहरी थी, पौंद बड़े और पुष्ट थे तथा प्रवेश-द्वारके स्तम्भोंके समान विशाल जंघाएँ थीं ॥३२॥

उनके शरीरके भ्रू, नेत्र, नासिका आदि चौदहों अंग एक सदृश थे, समस्त शास्त्रोंका इन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था, अधिकतम गुणोंसे भूषित थे तथा शिष्टताके अतिक्रमणसे सदैव डरते थे। अतएव अपने गुणोंके कारण इन्होंने पिताकी गुरुताको भी मात कर दिया था ॥३३॥

पुत्रोंने रंचमात्र भी विनयको नहीं छोड़ा था तथा पिताने कभी भी इनपर स्नेहकी

कारणात् पितापुत्रं पिता च पुत्रश्च समाहारापेक्षयैकत्वम्[1] । अनन्यदाशं सत् न विद्यतेऽन्यस्मिन् आशा वाञ्छा यस्य तत्तथोक्तं सत् अपरुद्धवृत्तं लौकिकव्यवहारनिन्द्याचरणं नाभूत् न जातम् । कस्य ? कस्यापि । कस्याप्यत्र सामान्योक्तौ सत्यमव्ययानामनेकार्थत्वात् । अपिशब्देन परस्परार्थो गम्यते । तेनायमर्थः । पितुः पुत्रादपरुद्धवृत्तं नाभूत् पुत्रस्य पितुः सकाशादिति । निश्चयालङ्कारः ॥२४॥

तं द्रोणसंशब्दनमादधानं गुरुं प्रणम्यादित चापविद्याम् ।
राजन्यकं तां विजहौ विरुद्धां ग्राह्यश्च हेयश्च भवेद् गुरुभ्यः ॥२५॥

तमिति—तं लोकप्रसिद्धं गुरुं दशरथं प्रणम्य नमस्कृत्य राजन्यकं राज्ञः अपत्यानि राजन्याः राजपुत्राः रामादयस्तेषां समूहः राजन्यकं कर्तृ चापविद्यां धनुर्विद्यामादित गृहीतवान् । कथम्भूतं सत् द्रोणसंशब्दनं मेघध्वनिमादधानम् । विरुद्धाञ्च सम्यक् । विद्याविपरीता तां च अविद्यां विजहौ त्यजति स्म । अर्थान्तरन्यासमाह—गुरुभ्यः सकाशात् सम्यग्भूतं वस्तु ग्राह्यमादेयं भवेत्, असम्यग्भूतं हेयञ्चेति ।

भारतीयः—राजन्यकं पाण्डुपुत्रसमूहः चापविद्यामादित स्वीकृतवान् । किं कृत्वा तं लोकप्रसिद्धं गुरुमाचार्यं प्रणम्य । कथम्भूतं द्रोणसंशब्दनं द्रोणसंज्ञामादधानं द्रोणाचार्यमित्यर्थः । अन्यत्प्राग्वत् ॥२५॥

पदप्रयोगे निपुणं विनामे सन्धौ विसर्गे च कृतावधानम् ।
सर्वेषु शास्त्रेषु जितश्रमं तच्चापेऽपि न व्याकरणं मुमोच ॥२६॥

पदेति—तत् राजन्यकं चापेऽपि चापलात्मकचापः धनुरभ्यास इत्यर्थः तस्मिन्नपि, व्याकरणं शब्दशास्त्रं न मुमोच न मुञ्चति स्म । कीदृशं सत् पदप्रयोगे चरणविन्यासे (सुप्तिङन्तलक्षणपदरचनायां) निपुणं दक्षम् । पुनः विनामे पत्वणत्वयोः संज्ञायां कृतावधानम् । सन्धौ प्रसृतानां वर्णानामेकत्रीकरणे विसर्गे विसृज्यते प्रकटीक्रियते कारकसंश्लिष्टोऽर्थो येन स विसर्गस्तस्मिंश्च कृतावधानम् । पुनः सर्वेषु शास्त्रेषु समासकृत्तद्धितादिषु जितश्रमं विहिताभ्यासमित्यर्थः । श्लेषपक्षे कथम्भूतं राजन्यकं पदप्रयोगे ये स्थानालीढ-प्रत्यालीढलक्षणोपलक्षितानि पदानि तेषां प्रयोगः स्थापनभेदः तत्र निपुणम् । विनामे नम्रीकरणे सन्धौ शरसन्धाने विसर्गे शरमोक्षणे कृतावधानम् । सर्वेषु शास्त्रेषु राजीव्यधापत्रच्छेद्यादिचित्रेषु जितश्रममिति । अत्र राजन्यकस्य व्याकरणपरिज्ञानपूर्वकत्वेन धनुर्विद्यापरिज्ञानमुपदर्शितम् । श्लेषालङ्कारः ॥२६॥

उत्प्रेक्षणे लक्ष्यविधौ च दक्षं धर्मे नदीष्णं पटु शब्दभेदे ।
निष्णातमुच्चै रचनासु चैतच्चापेऽपि तत्याज न काव्यकर्म ॥२७॥

कभी नहीं की थी । अतएव पिता या पुत्रने कभी भी अपने आचरणकी मर्यादाका लोप नहीं किया था क्योंकि पुत्र तथा पिता दोनों परस्परमें एक दूसरेसे निरपेक्ष थे ॥२४॥

मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनिसे बोलनेवाले राम आदि राजपुत्रोंने अपने गुरु तथा पिताको प्रणाम करके धनुष विद्याको सीखा था । तथा लोकविरुद्ध कुविद्याओंको छोड़ दिया था । गुरुजनोंकी साक्षी पूर्वक ही सीखना और छोड़ना उचित होता है ।

समीचीन द्रोण नामके धारक गुरुदेव (द्रोणाचार्य) को प्रणाम करके युधिष्ठिरादि पाँचों पाण्डवोंने शस्त्र-विद्याको सीखा था । तथा अविद्याओंका त्याग किया था—गुरुसे प्रशस्त ग्राह्य और अप्रशस्त त्याज्य होते हैं ॥२५॥

पैर जमानेमें कुशल, धनुष खींचने, लक्ष्य बाँधने तथा बाण मोचनेमें अत्यन्त सावधान तथा समस्त शास्त्रोंका अभ्यास करके भी न थकनेवाले वे राजपुत्र धनुष-विद्याके अभ्यासके समय भी व्याकरणका परित्याग नहीं करते थे ।

शब्द और धातुरूपोंके प्रयोगमें निपुण, षत्व-णत्वकरण, सन्धि तथा विसर्ग करनेमें न चूकनेवाले तथा समस्त शास्त्रोंके परिश्रमपूर्वक अध्येता वैयाकरण भी व्याकरणके अध्ययनके समान चापविद्याको बना देते हैं ॥२६॥

---

1. -कत्वम् । "ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धात्" [जै० ४।३।१३६] अन-प०, द० ।

उत्प्रेक्षण इति—एतद्राजन्यकं चापेऽपि धनुरभ्यासेऽपि काव्यकर्म न तत्याज न मुञ्चति स्म । कथम्भूतं राजन्यकम् ? उत्प्रेक्षणे उत्प्रेक्षाऽलङ्कारे लक्ष्यविधौ अर्थनिरूपणायाञ्च दक्षम् । पुनः नदीष्णं प्रवीणम् । क नर्मे अष्टादशस्थलव्यावर्णनलक्षणे अथवा धर्मस्योपलक्षणत्वादर्थकामयोर्ग्रहणम् । तेनायमर्थः—धर्मे धर्मार्थकामलक्षणे वर्गे । पुनः पटु । क ? शब्दभेदे मातरिश्वेत्येवमादौ । पुनः उच्चैः रचनासु खड्गचक्रलाङ्गलमुरजादिबन्धेषु निष्णातम् । श्लेषार्थोऽधुना प्रदर्श्यते—कीदृशं राजन्यकमुत्प्रेक्षणे दृढमुष्ट्योरवलोकने लक्ष्यविधौ च वेधे व्यधायाञ्च दक्षम् । धर्मे धनुर्गुणे (नदीष्णं) शब्दभेदे शब्दमेव लक्ष्यं कृत्वा शरमोक्षणं यत्र विधीयते स खलु शब्दभेदः तस्मिन् पटु । उच्चैः रचनासु दण्डस्वस्तिकाहितुरगचक्रव्यूहादिषु सैन्यरचनासु निष्णातमिति । अत्र राजन्यकस्य काव्यविद्यापुरस्सरत्वेन धनुर्विद्यापरिज्ञानकौशल्यमुपदर्शितम्[१] ॥३७॥

आमण्डलीभूतशरासनस्य ज्याघातवित्रासितदिग्गजस्य ।
त्रैलोक्यमालीढपदस्य मध्यमापत्य लीनं तदमंस्त रुष्टम् ॥३८॥

आमण्डलीति—तत् राजन्यकं कर्त्तृ रुष्टं कुपितं सत् त्रैलोक्यं भुवनत्रयममंस्त मन्यते स्म । कथम्भूतं लीनमिव अभावेन परिणतं (इव) । किं कृत्वा आपत्य आगत्य किं मध्यं अन्तः कस्य संबन्धित्वेन ? आलीढपदस्य आलीढस्थानविशेषस्य । कथम्भूतस्य आमण्डलीभूतशरासनस्य आ समन्तात् मण्डलीभूतं शरासनं धनुर्यस्य (यस्मिन्) तस्य । पुनः कथम्भूतस्य ज्याघातवित्रासितदिग्गजस्य ज्याघातेन प्रत्यञ्चाविस्फारणेन वित्रासिता भयं नीता दिग्गजाः आशाकरिणो येन (यस्मिन्) तस्य । उत्प्रेक्षा ॥३८॥

एवं चूडाताडितपादं परभूपा भक्त्यै कैकेयेयमुपेयुः शरणं यम् ।
सोऽभीतोऽयं तत्र समन्ताद् भरतोऽभूत्पुत्रः सर्वोपायविधानैर्जितशत्रुः ॥३९॥

एवमिति–एवं [२]रामलक्ष्मणशत्रुघ्नोत्पत्तिप्रकारेण सः अयमभीतः निर्भयो भरतो नाम पुत्रः अभूत् [३]अजनि । क तत्र दशरथे नृपे । कथम्भूतः ? जितशत्रुः जिताः शत्रवो येन सः । कैः कृत्वा ? सर्वोपायविधानैः सामभेददण्डादिप्रयोगैः । कथं समन्तात् सामस्त्येन । यं कैकेयेयं कैकेयस्य नरपतेरपत्यं स्त्री कैकेयी कैकेय्या अपत्यं पुमान् कैकेयेयः कुमारः तं कैकेयेयं परभूपाः रिपवः शरणमुपेयुरागताः । कस्यै भक्त्यै सेवानिमित्तम् । कथं यथा भवति चूडाताडितपादं मुकुटाग्रमणिचुम्बितचरणम् ।

धनुष चलाने तथा लक्ष्यके भेदनमें प्रवीण, युद्धके धर्म (कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य) में पारंगत, शब्दभेदी बाण-संचालनमें दक्ष, अहि-तुरग-चक्र आदि व्यूहोंकी रचनामें कुशल राजपुत्रोंने चापविद्यामें भी कवित्व ला दिया था।

उत्प्रेक्षादि अलंकार तथा अर्थप्ररूपणमें प्रवीण, धर्म पुरुषार्थमें सफल, शब्दालंकारोंके पण्डित तथा उत्तमसे उत्तम प्रबन्धकी रचनामें समर्थ कवि लोग भी काव्य-कर्तृत्वको धनुर्विद्याके समान कर देते हैं ॥३७॥

वे राजपुत्र धनुषको खींचकर गोल कर देते थे, उनके धनुषकी डोरीकी फटकारसे दिग्गज डर जाते थे और बलपूर्वक पैर जमा देनेपर तीनों लोक सिकुड़कर एक जगह समा जाते थे तथा इन्हें रुष्ट समझते थे ॥३८॥

अन्वय–एवं तत्र सर्वोपायविधानैर्जितशत्रुः समन्ताद् भरतः अयं पुत्रः अभीतोऽभूत् । चूडाताडितपादं यं कैकेयेयं परभूपा भक्त्यै शरणं उपेयुः ।

इस प्रकारसे उन सब भाइयोंमें सामदानादि उपायों-द्वारा शत्रुओंका विजेता, सब प्रकारसे कान्तिमान यह भरत नामका पुत्र अभय हुआ था। राजमुकुटोंके ऊपर लात मारने वाले इस कैकेयीके पुत्रकी शरणमें शत्रु राजा भी भक्तिपूर्वक आते थे।

---

१. श्लेषाऽलङ्कारः–प०, द० । २. रामादिसमस्तसुतानां शिक्षादिकमेणेति चिन्त्यम् । ३. मातुलादिपक्षस्य प्रबलतया सर्वेषु सुतेष्वधिकसमर्थ इति ।

भारतीयः—एवं दिवसक्रमेण तत्र पाण्डुनृपे राज्यं कुर्वाणे सति स सर्वः पुत्रः पाण्डवः भरतः तत्परतया कृत्वा जितशत्रुरभूत्। कैः कृत्वा? अपायविधानैः नीतिशास्त्रीयमार्गविपरीतक्रियाभिः। कथम्भूतः सन्? अभीतः अभि समन्तात् इतः प्राप्तः सन्। कमयं भाग्यम् एकैके असह्या याः भूत्वा परभूपाः भक्त्या अंगुलिखण्डनया कृत्वा यं पाण्डुपुत्रं शरणमुपेयुः आयाताः। कथं यथा चूडाताडितपादं किरीटकोटिस्थमणिप्रघृष्टचरणं यथा। कथम्भूतं पाण्डुपुत्रमयेयं न यातुं शक्यमजेयमित्यर्थः। कथं समन्तात् सर्वप्रकारेणेति। श्लेषः ॥३९॥

श्रिया विलोलो भरतो न जातः सुतो विनीतः सकलो बभूव।
भज्येत राज्यं ह्यविनीतपुत्रं घुणाहतं काष्ठमिव क्षणेन ॥४०॥

श्रियेति—[1]भरतो नाम सुतः पुत्रः श्रिया विलोलः चञ्चलो न जातः। कीदृशः? सकलः गणितादिकलासहितः। पुनः विनीतः विनयवान् बभूव। हि स्फुटम्, इव यथा घुणाहतं घुणभक्षितं काष्ठं क्षणेन मुहूर्तेन भज्येत भङ्गं भजेत् तथा अविनीतपुत्रं न विनीताः पुत्रा यत्र तत् राज्यं भङ्गं गच्छेत्।

[2]भारतीयः—सकलः समस्तः सुतः पाण्डुपुत्रः[3] श्रिया लक्ष्म्या आविलः युतः सन् लोभरतः कृपणो न जातः। तथा "द्रव्यं क्रिया विनयति" इति वचनात् विनीतः सुशिक्षितः बभूव। अर्थान्तरमुपन्यस्यति। सोपस्कराणि हि वाक्यानि भवन्त्यतः कावचेदं व्याख्यायते। इव यथा घुणाहतं काष्ठं क्षणेन भज्येत तथा अविनीतपुत्रम्, अ इव नारायण इव विनीताः सुशिक्षिताः पुत्राः यत्र तदित्थं भूतं राज्यं कथं भङ्गं लभेत अपि तु नैव। यद्वा "अवयः शैलमेषार्काः" इति वचनात् अविना मेषेण नीयत इत्यविनीतोऽग्निस्तद्वत्तेजस्विनः पुत्रा यत्र तत्[4] ॥४०॥

तस्मिन्काले लीलया धार्तराष्ट्रास्ते कौरव्या भासमानस्वरूपाः।
आलोकान्तक्रान्तकीर्तिप्रतापा न्याय्यस्थित्याऽपारपारा इवास्थुः ॥४१॥

अन्वय—एवं तत्र अपायविधानैः समन्ताद् जितशत्रुः अयं अभि-इतः सः सर्वः भरतः अभूत्। चूडाताडितपादं अजेयं यम् एकैके परभूपाः भक्त्या शरणं उपेयुः।

नीतिशास्त्रके अनुसार प्रयत्नों-द्वारा सब तरफके शत्रुओंके विजेता, सब प्रकारसे सौभाग्यको प्राप्त वे सब पाण्डुपुत्र भरतवंशी (तथा कान्तिमान) हुए थे। उनके पैरोंपर राजमुकुट झुकते थे तथा उनपर कोई आक्रमण नहीं कर सकता था। अतएव असहाय शत्रु राजा भक्तिपूर्वक इनकी शरण लेते थे ॥३९॥

अन्वय—विनीतः सकलः श्रियाविलः सुतः बभूव लोभरतो न जातः। अविनीतपुत्रं राज्यं हि घुणाहतं काष्ठमिव क्षणेन भज्येत।

समस्त राजपुत्र विनम्र, विद्यावान तथा लक्ष्मीसे सुशोभित थे। किसीमें भी लुब्ध वृत्ति न थी। जिस राजाके पुत्रोंकी उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा नहीं होती है वह राज्य घुनसे खाये काष्ठकी तरह क्षणभरमें टूट जाता है।

अन्वय—भरतः सुतः श्रिया विलोलो न जातः सकलः विनीतः बभूव। अविनीतपुत्रं राज्यं हि घुणाहतं काष्ठमिव क्षणेन भज्येत?

भरतवंशी पाण्डुपुत्र लक्ष्मीके अहंकारसे चंचल न हुए थे। वे सब गणित आदि कलाओंसे युक्त थे तथा विनम्र थे। अवि (मेष) के द्वारा ले जायी जानेवाली (नीत) अग्निके समान तेजस्वी पुत्र जिस राज्यमें हों क्या वह घुनसे खायी लकड़ीके समान साधारण धक्केसे टूट सकता है? अर्थात् नहीं ॥४०॥

---

1. भारतीयपक्षार्थोऽयम्। जाताबेकवचनम्। भरतवंशोद्भव इति। 2. राघवीयपक्षे इति। 3. रघुपुत्रः। 4. अर्थान्तरन्यासालङ्कारः–प०, द०।

तस्मिन्निति—तस्मिन्काले तारुण्यभरोदयसमये ते लोकप्रसिद्धाः रामादयः कौ पृथिव्यां न्याय्यस्थित्या कृत्वा अपारपारा इव समुद्रा यथा तथा अस्थुः तस्थिवांसः। कीदृशाः लीलया गतिविशेषेण कृत्वा धार्त्तराष्ट्राः "पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजत इति राष्ट्रम्" [नी० वा० १९।१]। धृतं राष्ट्रं यैस्ते धृतराष्ट्राः धृतराष्ट्रा एव धार्त्तराष्ट्राः "स्वार्थेऽण्"। पुनः कीदृशाः? रव्याभासमानस्वरूपाः रविरिव सूर्य इव आभासमानं दीप्यमानं स्वरूपं मूर्तिर्येषां ते तथोक्ताः। पुनः आलोकान्तक्रान्तकीर्तिप्रतापाः आलोकान्तं त्रिभुवनमध्यं क्रान्तं व्याप्तं याभ्यां तौ आलोकान्तक्रान्तौ कीर्तिप्रतापौ येषां ते।

अथ भारतीयः—तस्मिन्काले प्राप्तोत्तरलतारुण्यभरा पाण्डवाः सुखं सुखेन राज्यं कुर्वाणा अस्थुः, तस्मिन्काले ते लोकविख्याताः धार्त्तराष्ट्राः धृतराष्ट्रस्यापत्यानि पुमांसः धार्त्तराष्ट्राः कौरव्याः अपारपारा इव जलाशय इव न्याय्यस्थित्या कृत्वा अस्थुः स्थिताः। कीदृशाः भास्वमानस्वरूपाः दीप्यमानमूर्त्तयः। कया लीलया शोभया। पुनः आलोकान्तक्रान्तकीर्त्तिप्रतापाः त्रिभुवनमध्यक्रान्तयशोविक्रमाः ॥४१॥

सर्वस्वादुर्योधनेनार्जयित्वा दत्त्वा पित्रे येन सम्पद् फलानाम्।
पृक्तास्तेन ज्यायसा भ्रातरस्ते जग्मुर्लोकालम्बनस्तम्भमूर्तिम् ॥४२॥

सर्वेति—तेन रामेण ज्यायसा गरिष्ठेन पृक्ताः युक्ताः सन्तः ते पूर्वोक्ता लक्ष्मणादयो भ्रातरो बान्धवाः लोकालम्बनस्तम्भमूर्तिं भुवनावष्टम्भनस्तम्भस्वभावं जग्मुः गताः। येन रामेण कर्तृभूतेन पित्रे दशरथाय फलानां सम्पत् दत्ता समर्पिता। किं कृत्वा? पूर्वं योधनेन धनुर्युद्धेन करणभूतेन अर्जयित्वा उपार्ज्य। कथंभूता सम्पत्? सर्वस्वादुः सर्वेषां स्वपरवंशोद्भवानां साधुवृत्तीनां स्वादुः सर्वस्वादुः विश्वरुचिरेत्यर्थः।

भारतीयः—येन पूर्वोक्तेन ज्यायसा गरीयसा युधिष्ठिरेण पित्रे पाण्डुनरेन्द्राय फलानां सम्पद्दत्ता। किं कृत्वा? पूर्वं दुर्योधनेन गान्धारीपुत्रेण कृत्वा अर्जयित्वा। कथम्भूता सम्पत्? सर्वस्वा सर्वं स्वं द्रव्यं यस्यां सा सर्वस्वा अथवा सर्वेषां बन्धुजनानां[1] स्वा आत्मीया या सा सर्वस्वेति। श्लेषालङ्कारः ॥४२॥

अन्वय—तस्मिन् काले लीलया धार्त्तराष्ट्राः, रव्या भासमानस्वरूपाः आलोकान्तक्रान्तकीर्तिप्रतापाः ते न्याय्यस्थित्या कौ अपारपारा इव आस्थुः।

उस कच्ची अवस्थामें भी अनायास राष्ट्रके भारको सहनेवाले, सूर्यके समान देदीप्यमान कान्तिधारी तथा लोकके अन्त तक व्याप्त यश और प्रतापके स्वामी वे राघव राजपुत्र अपनी नीति-निपुणताके कारण पृथ्वीपर समुद्रके समान शोभित थे।

अन्वय—तस्मिन्काले भासमानस्वरूपाः आलोकान्तक्रान्तकीर्तिप्रतापा धार्त्तराष्ट्राः ते कौरव्याः लीलया न्याय्यस्थित्या अपारपाराः इव आस्थुः।

तेजस्वी पाण्डुपुत्रोंके समयमें ही कान्तिमान् शरीरधारी, संसार भरमें व्याप्त कीर्ति और यशके स्वामी, धृतराष्ट्रके पुत्र वे कौरव भी दैवसंयोगसे न्यायोचित मार्गपर चलनेके कारण समुद्रके समान विराजमान थे ॥ ४१ ॥

अन्वय—येन योधनेन अर्जयित्वा सर्वस्वादुः फलानाम् सम्पत् पित्रे दत्ता तेन ज्यायसा पृक्ताः ते भ्रातरः लोकालम्बनमूर्तिं जग्मुः।

जिस रामचन्द्रने युद्धके द्वारा अर्जित, सब प्रकारसे प्रिय, लौकिक भोगोंकी साधक सम्पत्ति पिताको दी थी। उस बड़े भाईसे युक्त उन भरत आदि भाइयोंकी स्थिति संसारके लिए शरणभूत थी।

अन्वय—येन दुर्योधनेन सर्वस्वा फलानाम् सम्पत् अर्जयित्वा पित्रे दत्ता तेन ज्यायसा संपृक्ताः ते भ्रातरः लोकालम्बनस्तम्भमूर्तिं जग्मुः?

जिस दुर्योधनने समस्त (पाण्डव तथा कौरवों) कुटुम्बके लिए सुखोंको देनेवाली सम्पत्ति अपने अधीन करके पिता धृतराष्ट्रको समर्पित कर दी थी। ऐसे बड़े भाईसे प्रभावित शेष कौरव भाई संसारको सम्हालनेमें सार्थक मर्यादापुरुषपनेको क्या प्राप्त हुए थे? ॥४२॥

---

१. पाण्डवानामिति यावत्।

हरिणी

इति विनमयन्नुच्चैस्तब्धान्नतानतिवर्धय-
न्स परिणमयन्पृथ्वीं पुत्रैर्वसून्युपहारयन् ।
सुखमगमयत्कालं हर्म्ये स्मरन्परमेष्ठिनं
न हि सुतवतां नामासाध्यं धनञ्जयमिच्छताम् ॥४३॥

इति श्री द्विसन्धानकाव्ये कवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये
राघव-कौरवोत्पत्तिर्नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

इतीति । स दशरथः पाण्डुश्च सुखं यथा सुखेन कालं समयमगमयत् नीतवान् । किं कुर्वाणः सन्नि-त्युक्तप्रकारेण पुत्रैः कृत्वा उच्चैस्तब्धान् रिपून् विनमयन् विशेषेण नम्रान् विदधन् तथा तेनैव प्रकारेण नतान् शत्रून् अतिवर्द्धयन् वृद्धिं प्रापयन् पृथ्वीं मेदिनीं परिणमयन् हस्ते कारयन् वसूनि द्रव्याण्युपहारयन्पुष्टिं प्रापयन् । पुनः किं कुर्वन् ? परमेष्ठिनं[1] परमपुरुषं स्मरन् स्मरणविषये नयन्, क्व हर्म्ये मन्दिरे, अर्थान्तरमाह—हि स्फुटं धनञ्जयञ्च इच्छतामभिलषतां सुतवतां पुत्रवतां नाम अहो नासाध्यं किमपीति[2] ॥४३॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितमण्डलीहितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य
गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिका-
चकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदीनामदधानायां टीकायां
द्विसंधानकवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये
राघवकौरवोत्पत्तिवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

पुत्रोंके द्वारा अहंकारसे मदोन्मत्त शत्रुओंको झुकाते हुए, शरणागतोंको सब प्रकारसे बढ़ाते हुए तथा पृथ्वीको अपने वशमें करते हुए तथा पुत्रोंके द्वारा सम्पत्ति अर्जित कराते हुए महाराज दशरथ तथा पाण्डु अपने राजभवनोंमें अरिहन्तादि पंच परमेष्ठीका ध्यान करके आनन्दसे जीवन बिता रहे थे। धन और जयके इच्छुक पुत्रोंके पिताओंको संसारमें कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ४३ ॥

निर्दोषविद्याभूषणभूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती, श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके
शिष्य देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्यचन्द्रिकाके चकोर नेमिचन्द्र-द्वारा
विरचित कवि धनञ्जयके राघवपाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसंधान-
काव्यकी पदकौमुदी टीकामें राघव-पाण्डव उत्पत्ति वर्णन
नामका तृतीय सर्ग समाप्त।

---

१. परमे सुरनरोरगेन्द्रपूजितपदे तिष्ठतीति परमेष्ठी तं परमेष्ठिनं—प०, द०। २. अर्थान्तर-न्यासालङ्कारः·प०, द०।

चतुर्थः सर्गः

अथ जातु न यौवनोदये सहवासाय मामयमस्मरद् ।
इति जातरुषेव भूपतेर्जरसाऽगृह्यत केशवल्लरी ॥ १ ॥

अथेति—अथ राघवादिजन्मानन्तरं भूपतेः नरेन्द्रस्य केशवल्लरी कर्मतापन्ना जरसा वार्द्धक्येन कर्त्तृभूतेनागृह्यत गृहीता। कथम्भूतयेव ? जातरुषेव जातकोपयेव। कथमिति ? जातु कदाचित् यौवनोदये तारुण्योदयेऽयं दशरथः पाण्डुश्च सहवासाय एकत्र स्थितये नास्मरत् न स्मरति स्म। कस्य ? मामिति। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १ ॥

प्रथमस्तनयोऽभिषिच्यतामिति सापत्न्यभयादिवाजपत् ।
पलितं तमुपेत्य कर्णयोर्निजगुप्तिप्रशमो हि वर्द्धिमा ॥ २ ॥

प्रथम इति—पलितं सितकेशः कर्त्तृ तं दशरथं पाण्डुञ्चोपेत्य समीपमागत्य कर्णयोरजपदब्रवीत्। कथमिति प्रथमस्तनयः रामः युधिष्ठिरश्च कर्मतापन्नः अभिषिच्यताम् राज्ये स्थाप्यतामिति। कस्मादिव (सापत्न्यभयादिव) सपत्न्या अपत्यं सापत्नः तस्य भावः सापत्न्यं तस्माद्यद् भयं तस्मात्तथोक्तात्। हि स्फुटं (निजगुप्तिप्रशमः) निजाधारभीयौ गुप्तिप्रशमौ यस्य स निजगुप्तिप्रशमः तस्य वर्द्धिमा वृद्धभावः जायत इति ॥ २ ॥

विनिरूप्य स दर्पणे जरां निभृतं मौलिमुपोपवीजयन् ।
इति निर्विविजे विशांपतिर्विरतिं याति हि संसृतेर्बुधः ॥ ३ ॥

विनिरूप्येति— इति वक्ष्यमाणापेक्षया स पूर्वोक्तः विशांपतिः प्रजापतिः निर्विविजे निर्वेदं गतवान्। किं कुर्वन् ? मौलिं मस्तकं निभृतं सङ्कुचितं यथा [1]उपोपवीजयन् विधुन्वन्। किं कृत्वा ? पूर्वं दर्पणे आदर्शे जरां पलितं विनिरूप्यावलोक्य। अर्थान्तरमाह—हि स्फुटं संसृतेः संसाराद्बुधः आत्मदर्शी पुमान् विरतिं वैराग्यं यातीति ॥ ३ ॥

किमभुक्तमनुष्ठितं जनैर्यदपूर्वं प्रतिपालयन्त्यमी ।
ननु भुक्तसमैव वेदना सुखनामा विषयेषु भाविषु ॥ ४ ॥

किमिति—अमी जनाः यदपूर्वमदृष्टं प्रतिपालयन्ति प्रतीक्षन्ते ननु किं तदभुक्तमननुभूतं कर्मतापन्नं जनैः कर्त्तृभिरनुष्ठितमङ्गीकृतम् ? अपि तु भुक्तमेव। ननु च भाविनं वैषयिकं भोगं प्रति प्रतीक्षन्ते सङ्कल्पजन्मान्धचञ्चलमनोमृगा जन्तव इत्याकूतम्। नैष दोषः; तु पुनः भाविषु विषयेषु सुखमेव नाम यस्याः सा,

---

इस राजा दशरथ अथवा पाण्डुने अपने यौवनमें कभी भी सहवासके लिए मेरा स्मरण तक नहीं किया था इस प्रकारसे कुपित वृद्धावस्थाने राजाके केशोंको पकड़ लिया था ॥१॥

मानो सौतेले भाइयोंके डरसे ही धवलिमाने (कानके सफेद बालोंने) राजा दशरथ अथवा पाण्डुके कानके पास जाकर कहा था कि ज्येष्ठ पुत्रका राज्याभिषेक कर दीजिये। उचित ही है क्योंकि बुढ़ापेके सगे सम्बन्धी गुप्ति और प्रशम ही हैं ॥ २ ॥

दर्पणमें बुढ़ापेके चिह्नोंको देखकर राजाके मस्तकपर वलियाँ पड़ गयीं थीं। ऐसे मस्तकको हिलाते हुए ही भूपतिको परम वैराग्य हो गया था। उचित ही है क्योंकि आत्मदर्शी ज्ञानियोंको संसारसे वैराग्य होता ही है ॥ ३ ॥

लोकोंने संसारमें किसका भोग नहीं किया है जो नूतन कर्मोंकी प्रतीक्षा करते हैं।

---

1. उपोपवाजयन्--प०, द०।

सुखनामा, वेदना । विद्यते परिज्ञायते यतः मनोव्यापारेणेन्द्रियव्यापाराद्भवं सुखमनया सा वेदनाऽनुभवनमित्यर्थः । भुक्तसमा भुक्तं रमणीस्रक्चन्दनादिविषयलक्षणम् । भुक्तेन समा भुक्तसमा अनुभवनकालीनेत्यर्थः । अत्र तात्पर्यमिदम् । शीतबहुले शिशिरे तृणाग्निसंयोगसुखानुकारित्वाद्विषयाणामापातरम्यत्वमवसाने वैरस्यमुपदर्शितम् ॥ ४ ॥

त्यजतो न जहाति योऽखिलान्विषयांस्तद्विषयैकमानसः ।
स जहातु दुरन्तभावनामजहद्वृत्तिमिमां कथं जनः ॥ ५ ॥

त्यजत इति—अखिलान् समस्तान् विषयान् इष्टस्रग्वनिताचन्दनादींस्त्यजतः सतः यो जनः न जहाति न परित्यजति । कथम्भूतः सन् ? तद्विषयैकमानसः तेषाम् इन्द्रियाणां विषयेष्वेकमसाधारणं मानसं यस्य सः तादृशः सन् इमां दुरन्तभावनाम् दुःखेनान्तः पर्यन्तो येषां ते दुरन्ता रागादयस्तेषु या भावना मनःपरिणतिः सा तथोक्ता तामजहद्वृत्तिमजहती अपरित्यजन्ती वृत्तिः वर्तनं यस्यास्तां स जनः कथं जहातु अपि तु नेति ॥ ५ ॥

क्षणभङ्गुरमङ्गमङ्गिनां न गता यौवनिका निवर्तते ।
विभवास्तृणवारिचञ्चला निचया मर्मरपत्रसन्निभाः ॥ ६ ॥

क्षणेति—अङ्गिनां (प्राणिनां) अङ्गं शरीरं क्षणभङ्गुरं क्षणध्वंसनम् । गता नष्टा सती यौवनिका तरुणं वयः न निवर्तते न व्यावर्तते । विभवाः विभूतयः तृणवारिचञ्चलाः तृणजलतरलाः । निचयाः आत्मभिन्नकलत्रपुत्रादयः मर्मरपत्रसन्निभाः शुष्कपत्रसदृशाः सन्ति । अत्र तात्पर्यम् । यथा तीव्रतरवाताहतानि शुष्कपत्राणि यदृच्छया क्वापि क्वापि यान्ति तथा मित्रकलत्रादयोऽपीति[1] ॥ ६ ॥

द्विषि मित्रमतिं हितप्रिये रिपुबुद्धिं जनयन्ति जन्तवः ।
विपरीततया तनूभृतामिह तत्रापि दवीयसी मतिः ॥ ७ ॥

द्विषीति—द्विषि अनन्तसंसारभ्रमणहेतुत्वात् कलत्रादौ शत्रौ मित्रमतिं सहायबुद्धिः हितप्रिये भवभवोद्भवानवरतानन्तदुःखपरम्पराविनाशहेतुत्वादनन्तानन्तनिरयसुखविधातृत्वादात्मकार्ये धर्मलक्षणे रिपुबुद्धिं प्रतिकूलमतिं जन्तवः प्राणिनः जनयन्ति कुर्वन्ति । कया कृत्वा ? विपरीततया कमनीयकामिन्यादिबाह्यवस्तुनि परकीये आत्मीया बुद्धिः, आत्मस्वभावोपलब्धिनिमित्ते श्रेयसि आत्मीये परकीया बुद्धिश्चेति परिमाणविपर्ययेण कृत्वा । अर्थान्तरन्यासमाह—तनूभृतां शरीरवतामिह लोके अपि शब्दप्रयोगात् परलोके च तत्र मित्रशत्रुपरिज्ञाने दवीयसी दूरतरा मतिर्बुद्धिरित्यर्थः[2] ॥ ७ ॥

भविष्यत्के विषय-भोगोंमें भी सुख नामसे ख्यात वैसा ही अनुभव होगा जैसा कि भुक्त भोगोंमें था ॥ ४ ॥

संसारके विषयोंमें लुब्धचित्त जो व्यक्ति बिछुड़नेवाले समस्त भोगोपभोगोंको नहीं छोड़ता है वह व्यक्ति स्थिर-स्वभाव रूपको प्राप्त भोगोंकी अभिलाषाको कैसे छोड़ेगा ? क्योंकि भावना तो बड़े परिश्रमसे छूटती है ॥ ५ ॥

देहधारियोंकी देह ही देखते-देखते क्षणभरमें नष्ट हो जाती है । यौवन बीत जानेपर फिर वापस नहीं आता है । घासकी नोकपर जमी ओसकी बूँदके समान सम्पत्ति चंचल और रमणीय है और पुत्र, कलत्र, आदि सगे सम्बन्धी सूखे पत्तोंके ढेरके समान एक झोंकेमें बिछुड़ जानेवाले हैं ॥ ६ ॥

संसारी प्राणी संसारके कारण अतएव शत्रुभूत भोगादिमें मित्रकी कल्पना करता है और कल्याणकारी अतएव प्रिय संयमादिको दुःख (शत्रु) मानता है । इस प्रकार विपरीत बुद्धि होनेके कारण देहधारीसे इस लोक अथवा परलोकमें भी सन्मति दूर ही रहती है ॥ ७ ॥

---

१. उपमालङ्कारः–प०, द० । २. अर्थान्तरन्यासालङ्कारः–प०, द० ।

क्व नृपो भरतोऽमरार्चितो भुवनं येन बभूव भारतम् ।
क्षणिकाः सकलाः समागमाः कृतमेकं हि विवर्तते परम् ॥ ८ ॥

क्वेति—येन भरतेन आदिनाथपुत्रेण भुवनं भारतं बभूव जातम् । स भरतः नृपः नरेन्द्रः अमरार्चितः देवपूजितः सन् क्व ? अत्रास्थिरत्वं भवभाजां सूचितम् । यथा सकलाः समस्ताः समागमाः बन्धुमित्रादयः क्षणिकाः जलबुद्बुदसदृशाः । एवञ्च सति हि स्फुटं कृतं विहितं परं केवलमेकं धर्मो(र्मः) विवर्त्तते परिणमति प्राणिनामिति ॥ ८ ॥

हिममुष्णहतस्य यत्सुखं शिशिराभ्यर्दितचेतसोऽनलः ।
क्षणदुःखनिषेधकारणं न सुखं नित्यमुशन्ति योगिनः ॥ ९ ॥

हिममिति—यत् यस्मात्कारणादुष्णहतस्य घर्मतप्तस्य हिमं सुखं जायते तथा शिशिराभ्यर्दितचेतसः तुहिनकदर्थितचित्तस्यानलः ज्वलनः सुखं भवितुमर्हति । तस्मात्कारणात् क्षणदुःखनिषेधकारणं मुहूर्त्तदुःखनिराकरणनिमित्तमिन्द्रियव्यापारोत्पन्नं सुखं न नित्यमुशन्ति मन्यन्ते योगिन इति ॥ ९ ॥

यदपायि पयः सुतेन यद्विसुताभिः ससृजेऽश्रु मातृभिः ।
मधुरं लवणञ्च किं द्वयं न पयः क्षारपयोधितोऽधिकम् ॥१०॥

यदिति—सामान्योक्त्या व्याख्यायते यत् पयः क्षीरं कर्मतापन्नं सुतेन पुत्रेणापायि पीतं यदश्रु बाष्पजलं मातृभिः ससृजे विसृष्टम् । कथम्भूताभिः ? विसुताभिः पुत्ररहिताभिः । तन्मधुरं लवणं च किं द्वयं किं नाधिकमपि तु अधिकमेव, काभ्यां पयःक्षारपयोधितः क्षीरक्षारसमुद्राभ्याम् । अत्र मोहमाहात्म्यं प्रदर्शितम् ॥१०॥

विगणय्य तदेवमंहसो विरिरंसन्नभिषेक्तुमग्रिमम् ।
इति तं व्यनयत्सुतं सतामृणनिश्चिन्ततया स्वनिर्वृतिः ॥११॥

विगणय्येति—इति वक्ष्यमाणापेक्षया तं पूर्वोक्तं सुतमग्रिमं रामं युधिष्ठिरञ्च दशरथः पाण्डुश्च व्यनयत् शासितवान् । किं कर्त्तुम् ? अभिषेक्तुं राज्यपट्टाभिषेकं कर्त्तुम् । किं कुर्वन् ? विरिरंसन् विरामं विधातुमिच्छन् । कस्मात् ? अंहसः । किं कृत्वा ? पूर्वमेवमुक्तप्रकारेण तत्संसारवृत्तं विगणय्य हेयरूपतया विचार्य । अर्थान्तरमाह । सतां सत्पुरुषाणां स्वनिर्वृतिः सुखं स्यात् । कया ? ऋणनिश्चिन्ततया ऋणात् निष्क्रान्तं चित्तं यस्य स ऋणनिश्चिन्तः तस्य भावस्तया ॥११॥

युगवद्धमिमं भरं भुवस्त्वमिहैको नृपपुङ्गवः परम् ।
धवलो वहसे ततोऽधुना न ममाज्ञामवमन्तुमर्हसि ॥१२॥

जिसके नामपर इस देशका नाम भारत पड़ा वह देवोंसे पूज्य, आदिनाथका पुत्र राजा भरत कहाँ है ? संसारके समस्त सम्बन्ध तथा पदार्थ क्षणिक हैं । केवल अपना कर्म ही शेष रहता है ॥ ८ ॥

गर्मीसे सताये के लिए शीत सुखकर है। शीतसे थरराये व्यक्तिके लिए अग्नि ही सुखद है अतएव एक क्षणभरके दुखके निषेधके कारण सुखको योगी लोग नित्य नहीं मानते हैं ॥९॥

पुत्रके द्वारा माताके स्तनसे जो दूध पिया जाता है तथा निपूती माताओंके द्वारा जो आँसू बहाये जाते हैं क्या ये दोनों ही क्रमशः मीठे और क्षार हैं ? वे क्षीरसागर तथा लवणसागरसे बड़े तो नहीं ही हैं ! (तथापि संसारी प्राणी इन्हें ही सबसे बड़ा सुख और दुःख मानता है) ॥१०॥

इस प्रकार भावना करके राजा दशरथ अथवा पाण्डुने पापसे वैराग्य लेनेके लिए ज्येष्ठ पुत्र राम अथवा युधिष्ठिरको निम्न प्रकारसे उपदेश दिया था । सज्जनोंको दायित्वोंसे उऋण होनेपर ही आत्मशान्ति सुहाती है ॥११॥

युगेति—यस्मात्कारणात् इह लोके परं केवलं भुवः पृथिव्या इमं प्रत्यक्षीभूतं भरं भारं युगबद्ध-मेकोऽसहायः नृपपुङ्गवो नरेन्द्राग्रणीः भारवहनक्षमः धवलः सन् वहसे। ततस्तस्मात्। अधुनेदानीं ममाज्ञा-मादेशमवमन्तुमवज्ञातुं नार्हसि न योग्यो भवसीति ॥१२॥

विजयाय जय स्वमादितो निजकर्म प्रकृतिं ततो रिपुम्।
गमिनः परलोकसाधनं तव मेऽपि स्थितिरीदृशी मता ॥१३॥

विजयायेति—आदितः प्रथमतो विजयाय जयनिमित्तं स्वमात्मानं जय प्रशमय। ततः पश्चान्निजकर्म दिवसरात्रिविभागक्रियाम्। ततः प्रकृतिममात्यसप्तकम्। इतो रिपुं कामादिषट्कम् इत्येतत्सर्वं जयेति क्रियाया कर्म बोद्धव्यम्। ईदृशी स्थितिर्मता परलोकसाधनं शत्रुलोकसाधनं स्यात्। कस्य? तव। कथम्भूतस्य तव? गमिनो गन्तुमिच्छतः। तथाऽऽदितः विजयाय स्वमात्मानं जयामि। ततो निजकर्मप्रकृतिमात्मीयकर्मस्वभावम्। ततो रिपुं मोहनीयकर्मैत्येवमीदृशी स्थितिर्मता परलोकसाधनम्। कस्य? मे ममापि। कथम्भूतस्य मम? गमिनः गन्तुमुद्यतस्येति ॥१३॥

विहिताखिलसत्त्वरक्षणं धृतसत्यस्थिति वीतमत्सरम्।
त्वमितोऽहमिवाभयैकवागसिधाराव्रतधर्ममाचर ॥१४॥

विहितेति—इतोऽद्य प्रभृति हे पुत्र अभयैकवागभयैकवचनः सन् त्वमसिधाराव्रतधर्ममाचर। असिधारैव व्रतं यस्मिन्सोऽसिधाराव्रतः, स चासौ धर्मश्च तमसिधाराव्रतधर्मं वीरव्रतमित्यर्थः। कीदृशं विहि-ताऽखिलसत्त्वरक्षणं कृतसकलप्राणिपालनम्। कथं यथा भवति धृतसत्यस्थिति धृता सत्येन स्थितिर्यत्र आचरण-कर्मणि तद्यथा भवति धृतसत्यस्थिति धृतसत्यगुणावस्थमित्यर्थः। पुनरपि कथम्भूतम्? वीतमत्सरं विशेषेण इतः प्राप्तः मत्सरोऽहङ्कारो येन स तं विशेषणप्राप्ता-हमहमिकम्। न हि मत्सरमन्तरेण वीरव्रतं सम्भवतीति वचनात्। उपमार्थः प्रदर्श्यते। अहमिव यथाऽहमभयैकवाक् आचरिष्यामि। किमसिधाराव्रतधर्मम्। व्रतं सर्वदर्शनसंमतं ब्रह्मचर्यम्। धर्मो जीवदया। व्रतञ्च धर्मश्च व्रतधर्मम्। अत्र समाहारापेक्षयैकवचनम्। असिधारेव व्रतधर्ममसि-धाराव्रतधर्मम् अत्र धर्तुं कर्तुमल्पसत्त्वैरशक्यत्वात् व्रतधर्मयोरतएव तौ खड्गधारयोपमीयेते। कथम्भूतं तत् विहिताखिलसत्त्वरक्षणम्। सत्त्वा एकेन्द्रियादयः पञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः जन्तवः अखिलाश्च ते सत्त्वाश्च अखिलसत्त्वाः विहितमखिलसत्त्वेषु, रक्षणं यस्मिन् तत्तथोक्तम्। पुनः धृतसत्यस्थिति। धृता सत्येऽनलीकवचने स्थितिर्यस्मिन् तत्। कथम्भूतं पुनः वीतमत्सरं विशेषेण इतः गतः मत्सरः आत्मंमन्यता यत्र तथोक्तम्। विनष्टात्मंमन्यत-मित्यर्थः। श्लेषोपमा ॥१४॥

युगोंसे चले आये पृथ्वीके राज्यके इस दायित्वको अब तुम अकेले ही इस संसारमें प्रशान्त रूपसे धारण करोगे और श्रेष्ठ राजा बनोगे अतएव इस समय तुम्हें मेरी आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ॥१२॥

शत्रुओंको वशमें करनेके लिए जाने वाले तुम और परलोककी सिद्धिके लिए गृह-त्यागी मेरे लिए भी वैसी परिस्थिति है कि विजयके लिए सबसे पहिले अपनेको संयमित करो, तब अपनी दिनचर्याको व्यवस्थित करो, इसके बाद मंत्री आदि जनताका विश्वास प्राप्त करो। तब शत्रुओंको जीतो [मुनिको भी आत्मविजय, कर्मोंकी प्रकृतियोंको जीतनेके बाद ही रिपु मोहनीयपर विजय प्राप्त होती है] ॥१३॥

मेरे समान तुम भी समस्त प्राणियोंकी सुरक्षाकी व्यवस्था करके आदर्श मर्यादाओंका पालन करते हुए, विशिष्ट आत्मगौरवकी भावनाके साथ अभयका एकमात्र नारा देते हुए आजसे ही खड्ग-धारण व्रतके कर्त्तव्योंका पालन करो। मैं भी तुम्हारे समान षट्कायके जीवोंकी रक्षा करता हुआ सत्य महाव्रतको पालूँगा। ईर्ष्या द्वेषको छोड़कर सबको अभय-दान दूँगा और असिधाराव्रत (ब्रह्मचर्य) का तथा क्षमादि धर्मोंका पालन करूँगा ॥१४॥

विविधानि वसूनि वाहनं बहुदेशो दिशतीति वर्णितः ।
स यथोक्तिमिमामुपप्लवैर्न विहास्यत्यभिरक्ष्यतां तथा ॥१५॥

विविधानीति—विविधानि नानाप्रकाराणि वसूनि द्रव्याणि वाहनञ्च मत्तमातङ्गतुरङ्गम् कर्मतया वर्णितं सर्वं बहु दिशति ददातीति निरुक्त्या देशो वर्णितः कथितः । यथा इमामुक्तिं निर्वचनं स देशः न विहास्यति न त्यक्ष्यति । कैः कृत्वा ? उपप्लवैरुपद्रवैः कृत्वा । तथा हे पुत्र ! त्वया रक्ष्यतामिति । स्वरूपाख्यानम् ॥ १५ ॥

उपसान्त्वय कृत्यमात्मनस्त्वमकृत्यं नयवृद्धिमृद्धिभिः ।
उभयं परकीयमात्मसात् कुरु नीतेः प्रथमोऽयमुद्यमः ॥१६॥

उपेति—उपसान्त्वय प्रशमय त्वम् । कम् ? कृत्यम् । परैः कर्त्तुमात्मनः शक्यः अथवा परैः कर्त्तुं भेत्तुं शक्यः कृत्यः तं कृत्यं भेद्यम् । कस्य ? आत्मनः । तथा ऋद्धिभिः कृत्वा वृद्धिं नय प्रापय त्वम् । कम् ? लोकविख्यातम् अकृत्यमभेद्यम् । कस्यात्मनः । तथा उभयं कृत्याकृत्यं परकीयं शात्रवीयं कुरु विधेहि कथमात्मसादात्मायत्तम् । इति नीतेः अयं प्रथमः आद्य उद्यमः इति । स्वभावाख्यानम् ॥ १६ ॥

विधिना खलु दीयतेऽखिलं न नृपो दत्त इति स्म मा भवत् ।
विधिरेष सतां यमोऽसतामिति भूयाज्जनतासु ते कथा ॥१७॥

विधिनेति—स्म मा भवत् । मा स्म भवत् भवान् । कथमिति ? विधिना दैवेन खलु निश्चयेन दीयते अखिलं वस्तुजातम् । न दत्ते न ददाति नृपो राजा इति । तथा हे पुत्र ते तव इति इत्थम्भूता कथा स्वभावाख्यानं जनतासु लोकसमूहेषु विषये भूयात्स्यात् । कथमिति एष सतां महतां पुंसां विधिः दैवं तथा एष असतामवृत्तिकारणं यमः यमस्येव कार्यकर्तृत्वात् यमो मृत्युरिति । स्वभावाख्यानम् ॥ १७ ॥

वसुनोपचितेन सम्भवेदिह धर्मेण परत्र तु त्रयम् ।
उभयत्र न तन्मनोभुवा भुवि येन त्रयमत्र तत्क्रियाः ॥१८॥

वसुनेति—इह लोके वसुना अर्थेन उपचितेन पुष्टिं नीतेन त्रयं धर्मार्थकामलक्षणं सम्भवेत् समुत्पद्यते । तु पुनः परत्र परलोके धर्मेणोपचितेन त्रयं सम्भवेत् । उभयत्र इह लोके परलोके च मनोभुवा कामेनोपचितेन तत्त्रयं न सम्भवेत् । भुवि पृथिव्यां हे पुत्र येन तेषां मध्ये येनाचरितेन अत्र इह लोके परलोके च त्रयं स्यात्तत्क्रियाः कुरु त्वम् ॥ १८ ॥

नाना प्रकारकी सम्पत्ति तथा अनेक अश्वादि वाहनोंको प्रचुर मात्रामें जो दे उसे देश कहते हैं । उपद्रवों और संकटोंके कारण यह देश जिस प्रकार इस व्याख्याको न छोड़ उस प्रकारसे ही इसका राज्य करना ॥१५॥

अपने छिद्रों अथवा शत्रुके आघातोंको शान्त कर दो तथा विभवके द्वारा अपने पक्ष, दुर्ग, आदि अथवा शत्रुपर किये प्रबल प्रहारोंको सुपुष्ट करो । तथा शत्रुकी दुर्बलताओं और समर्थकोंको अपने वशमें करो, नीतिशास्त्रका यही प्रथम पाठ है ॥१६॥

अपने-अपने भाग्यसे सबको सब कुछ मिलता है अतएव हे पुत्र ! 'राजा नहीं देता है' ऐसा तुम्हारा अपवाद न हो । 'यह राजा सज्जनोंका विधाता है और दुर्जनोंका काल है' यही जनतामें तुम्हारे विषयमें कहा जाय ॥१७॥

इस लोकमें पर्याप्त सम्पत्ति संकलित करनेसे धर्म-अर्थ-काम संभव हो सकेंगे । यहाँ धर्म संचय करनेसे परलोकमें तीनों वर्ग निभ जायँगे । काम पुरुषार्थके द्वारा दोनों लोकोंमें सबका विघात होगा अतएव वही करना जिससे दोनों लोकोंमें तीनों पुरुषार्थोंका साधन हो सके ॥१८॥

अभिवृद्धिमियर्ति विप्रियैर्वैरं प्रशमं ततः प्रियैः ।
समुदेति हि सस्यमातपे न तरुच्छायहतं विवर्धते ॥१९॥

अभीति—यस्मात्कारणात् विप्रियैः दण्डादिभिः कृत्वा वैरमभिवृद्धिमियर्ति गच्छति । ततः कारणात् प्रियैः सामादिभिः कृत्वा वैरं नय प्रापय त्वं प्रशमम् । हि स्फुटम् आतपे उष्णे सस्यं धान्यं समुदेति वृद्धिमायाति । तरुच्छायहतं तरुश्च छाया च तरुच्छायं[1] तेन हतं तरुच्छायहतं सत् न विवर्धते नश्यतीत्यर्थः । अत्र सामप्रयोगमाहात्म्यं प्रदर्शितम्[2] । उक्तञ्च—

"सामप्रेमपरं वाक्यं दानं वित्तस्य चार्पणम् ।
भेदो रिपुजनाकृष्टिः दण्डः प्राणसंहृतिः ॥१९॥"

न निजो न परोऽस्ति कस्यचिद्गुणतः स्वः परतांश्च जायते ।
तदिदं सकलं भुवस्तलं प्रणयेनानुवशं स्वमानय ॥२०॥

नेति—सोपस्कराणि वाक्यानि भवन्ति । अतः कस्यचित्प्राणिनो निजो नास्ति न परः । यस्मात्स्वः आत्मीयः सन् परवान् परकीयो जायते । कस्मात् गुणतः । षड्गुणात् सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसंश्रयरूपात् तत् तस्मात्कारणात् इदं सकलं समस्तं भुवस्तलं पृथ्वीतलं प्रणयेन प्रेमपरवाक्येन कृत्वा अनुवशमात्मवशमानय त्वम् । अत्र साममाहात्म्यमुपदर्शितम् । स्वभावाख्यानम् ॥ २० ॥

इदमित्यनुशिष्य मेदिनीमुपलभ्यां प्रथमेन सूनुना ।
विदधे विरिरंसुरेनसो गृहमेधी हि सुतावधिर्मतः ॥२१॥

इदमिति—इत्युक्तप्रकारेण इदं पूर्वोक्तमनुशिष्य[3] शिक्षयित्वा स दशरथः पाण्डुश्च प्रथमेन सूनुना ज्येष्ठेन पुत्रेण रामेण युधिष्ठिरेण च उपलभ्यां प्राप्यां मेदिनीं पृथिवीं विदधे कृतवान् । कीदृशः ? विरिरंसुः निवर्तितुमनाः । कस्मात् ? एनसः पापात् । हि स्फुटं गृहे मेधाऽस्यास्तीति गृहमेधी गृहस्थः सुतावधिः सुतोऽवधिः यस्य स सुतावधिर्मत इष्टः । अत्र तात्पर्यं पुत्रमुखमवलोक्य आत्मश्रेयसे यतते गृहमेधी । अर्थान्तरन्यासः ॥ २१ ॥

पणवाः प्रणिनेदुराहता ननृतुर्वारविलासिनीजनाः ।
नटगाथकसूतसूनवः पटवः पेठुरुपेत्य मङ्गलम् ॥२२॥

पणवा इति—पणवाः पटहा आहताः ताडिताः सन्तः प्रणिनेदुः ध्वनितवन्तः । वारविलासिनीजनाः वेश्याः ननृतुः नटन्ति स्म । किं कृत्वा ? उपेत्यागत्य । तथा पटवः पटिष्ठाः सन्तः नटगाथकसूतसूनवः

विरुद्ध कार्य दण्डादिके द्वारा बैर बढ़ता है अतएव उसे प्रिय कर्मोंके द्वारा शान्त कर देना चाहिये । धान्य सूर्यके आतपमें खूब बढ़ता है किन्तु वृक्षकी छायाके द्वारा दब जानेपर उसमें अंकुर ही नहीं फूटते हैं ॥१९॥

यहाँ न तो कोई अपना है और न कोई पराया है । गुणों (संधि-विग्रह-यानादि) के द्वारा ही राजाओंके अपने और विराने बनते हैं । इसलिए तुम इस समस्त पृथ्वीको प्रेमके द्वारा अपने वशमें कर लो ॥२०॥

इस प्रकार शिक्षा देकर आरम्भ परिग्रहसे विरक्त राजाने राज्य-भारको ज्येष्ठ पुत्रके भोग्य कर दिया था । क्योंकि आदर्श व्यक्ति तब तक ही गृहस्थ रहते हैं जबतक पुत्र समर्थ न हो जाय ॥२१॥

मंगलके लिए बजाये गये पटह आदि बाजे जोरसे बजने लगे थे । वेश्याओंके झुंडके-

---

१. -रुच्छायम् । अत्र "वा तरुमृगादि" [जै० सू० १।४।८८] सूत्रेणैकवद्भावः-प०, द० । २. अर्थान्तरन्यासालङ्कारः-प०, द० । ३. अनुशिष्य द० ।

नटा नर्त्तनाचार्याः गाथकाः गायकाचार्याः सूताः मागधास्तेषां सूनवः पुत्रास्ते मङ्गलं पेठुः पठितवन्तः । समुच्चयः ॥ २२ ॥

स पताकमुदात्तनायकं कृतनानारसभावविभ्रमम् ।
प्रतिरङ्गनिविष्टपात्रकं नगरं नाट्यमिवाद्युतत्तराम् ॥२३॥

सपताकेति—नगरं पत्तनमद्युतत्तराम् (अतिशयेन) शुशुभे । कीदृशं सत् ? सपताकं सध्वजम् । उदात्तनायकं मोच्चाधिपम् । पुनः कृतनानारसभावविभ्रमम् रसाः शृङ्गारादयः भावाश्चेतोविकाराः विभ्रमाः कुटिलभ्रूभङ्गतयाऽर्द्धावलोकनानि कृता नाना बहुविधा रसभावविभ्रमा यत्र तत्तथोक्तम् । प्रतिरङ्गनिविष्टपात्रकं प्रतिप्राङ्गणस्थापितमङ्गलसद्द्रव्यपरिपूर्णस्थालकम् । किमिव ? नाट्यमिव । कथंभूतं नाट्यम् ? सपताकं प्रक्षिप्ताङ्गुलिविन्यासेन वर्त्तमानहस्तम् । उदात्तनायकं सत्यागवत्नायकम् । प्रतिरङ्गनिविष्टपात्रकं प्रतिनृत्यस्थानप्रविष्टनर्त्तक्यादि[1] ॥ २३ ॥

श्रवणेषु मृदङ्गनिस्वनाज्जनतोवाच परस्परं वचः ।
ललनाश्च कपोलघट्टनाच्चिरविक्षन्विनिमीलितेक्षणम् ॥ २४ ॥

श्रवणेष्विति—श्रवणेषु कर्णेषु जनता जनसमूहः परस्परमन्योन्यं वचः वचनमुवाच उक्तवती । कस्मात् मृदङ्गनिस्वनात् मृदङ्गशब्दश्रवणात् । ललनाः कामिन्यः चिरविक्षन् विवेशुः चकारेण समुच्चयोऽवगम्यते । तेनायमर्थः प्रविशन्ति स्म चेत्यर्थः । कथं यथा भवति विनिमीलितेक्षणं संकुचितलोचनं कस्मात्कपोलघट्टनादिति सम्बन्धः । समुच्चयालंकृतिः ॥ २४ ॥

भुवि पुष्पमपूरि गुल्फकं पटवासोऽपि वितस्तरे दिशः ।
वियतोऽपि तलं वितेनिरे पुरि कालागुरुधूमपङ्क्तयः ॥ २५ ॥

भुवीति—भुवि पृथिव्यां पुष्पं कुसुमं कर्तृ अपूरि पूरयति स्म । किम् ? गुल्फकं पादघुटिका । दिशः आशाः 'कर्म' पटवासोऽपि 'कर्ता' वितस्तरे प्रच्छादयति स्म [?] । क्व पुरि नगर्याम् । वियतोऽपि तलं 'कर्म' कालागुरुधूमपङ्क्तयः कालेयकधूमश्रेणयः वितेनिरे विस्तारयन्ति स्म[2] ॥ २५ ॥

अधिरुह्य जनेन पश्यता गृहचैत्यद्रुमशालगोपुरम् ।
परितोऽनवकाशकारणान्नगरीवोपरि तस्थुषी पुरः ॥ २६ ॥

झुंड राजमहलपर आकर नाच रहे थे । नृत्योंके आचार्य नट, गायनाचार्य तथा अभिनयाचार्योंके कुशल वंशधर आकर मंगलपाठ कर रहे थे ॥२२॥

अयोध्या अथवा हस्तिनापुर नगर नाटकके समान अत्यन्त सुशोभित हो उठा था क्योंकि पताकाएँ फहरा रहीं थी, राजा महान् था, विविध रसों, भावनाओं और वेशभूषाओंकी बाढ़ आ गयी थी तथा प्रत्येक आँगनमें मंगलपात्र रखे हुए थे। [नाटक भी पताका (मंगलाचरण) से प्रारम्भ होता है, नायक धीरोदात्त होता है, शृङ्गारादि रस, स्थायी, व्यभिचारी आदि भावोंकी भरमार रहती है, तथा अभिनेता सज्जागृहमें इकट्ठे होते हैं] ॥२३॥

नगाड़ोंके नादके कारण नागरिक एक दूसरेके कानमें बातें करते थे । भीड़ तथा कानमें बात कहनेके कारण नागरिक युवतियोंके भी परस्परमें गाल रगड़ जाते थे । फलतः वे आँखें झपाये हुए ही भीतर-बाहर आ-जा रही थीं ॥२४॥

नगरीमें विटप-कुञ्जोंने पृथ्वीपर फूलोंको बिछा दिया था । पटवासोंके कारण समस्त दिशाएँ व्याप्त हो गयी थीं । तथा घर-घरमें ज्वलित कालागुरु धूपके धूएँके द्वारा आकाशतलमें भी चँदोवा-सा बँधा लगता था ॥२५॥

1. भट्टाचार्याः प०, द० । २. श्लेषालङ्कारः प०, द० । ३. समुच्चयालङ्कारः प०, द० ।

अभिरुह्येति—अनवकाशकारणात् पुरः नगर्या उपरि नगरी तस्थुषीव स्थितवतीव । अत्र बभूवेति क्रियाऽध्याहार्या । कैन ? पश्यताऽवलोकमानेन जनेन । किं कृत्वा ? पूर्वं परितः सामस्त्येन अभिरुह्य । किम् ? गृहचैत्यद्रुमशालगोपुरं मन्दिरदेवकुलवृक्षप्राकारतोरणद्वारम् । अत्र समाहारापेक्षयैकत्वम्[1] ॥ २६ ॥

अभिषेकजलप्लवेन सा वसुधा दीर्घमुदश्वसीत्तदा ।
नवसङ्गमघर्मवारिणा स्नपिताङ्गाऽभिनवा वधूरिव ॥ २७ ॥

अभिषेकेति—तदा तस्मिन् काले अभिषेकजलप्लवेन राज्यपदाभिषेकवारिणा कृत्वा सा वसुधा पृथ्वी दीर्घं बहुतरकालम् उदश्वसीदुच्छ्वसितवती । केव अभिनवा संभवद्यौवनभरा वधूरिव । कथम्भूता सती ? नवसङ्गमघर्मवारिणा नूतनसंयोगस्वेदजलेन स्नापिताङ्गाऽभिषिक्तशरीरा[2] ॥ २७ ॥

कमला च दलान्तरस्रवज्जलबिन्दूज्ज्वललम्बमौक्तिकम् ।
कमलातपवारणं तदा शशिशुभ्रं बिभरांबभूव तत् ॥ २८ ॥

कमलेति—तदा तस्मिन् काले कमला लक्ष्मीः कमलातपवारणं कमलच्छत्रं बिभरांबभूव धृतवती । कीदृशं दलान्तरस्रवज्जलबिन्दूज्ज्वललम्बमौक्तिकम् । दलान्तरेभ्यः पत्रान्तरालेभ्यः स्रवन्तश्च ते जलबिन्दवश्चेति दलान्तरस्रवज्जलबिन्दवः [3]तद्वदुज्ज्वलानि लम्बानि मौक्तिकानि यस्य तत् । पुनः शशिशुभ्रमिन्दुधवलम् ॥२८॥

हरिविष्टरमध्यमास्थितः प्रचलच्चामरचारुसंहतिः ।
स जिगाय समुद्रवीचिभिः खलु वेलाचलमाहतं युवा ॥ २९ ॥

हरीति—स युवा रामः युधिष्ठिरश्च खलु निश्चयेन समुद्रवीचिभिः जलधिकल्लोलैराहतं ताडितं वेलाचलं जिगाय जितवान् । कथम्भूतः सन् ? हरिविष्टरमध्यं सिंहासनमध्यमास्थितः उपविष्टः । पुनः प्रचलच्चामरचारुसंहतिः प्रचलन्ती चामराणाञ्चार्वी मनोज्ञा संहतिः श्रेणी यस्यासौ ॥ २९ ॥

उपकर्ण्य तथा नरेश्वरं पितरि प्रागपि कोपधूमिते ।
हृदये द्विषतां समुत्थितः प्रलयज्वाल इवानलोऽधिकः ॥ ३० ॥

उपकर्ण्येति—द्विषतां शत्रूणां सम्बन्धित्वेन तथा तेनैव प्रकारेण हृदयेऽधिकः प्रचुरोऽनलोऽग्निः समुत्थितः उत्पन्नः । क इव ? प्रलयज्वाल इव प्रलयानल इव । किं कृत्वा ? पूर्वं नरेश्वरं रामं युधिष्ठिरञ्चोपकर्ण्य

भवन, देवालय, वृक्ष, प्राकार तथा तोरण-द्वारके ऊपर चढ़कर जब लोग चारों ओर दृष्टि डालते थे तो ऐसा प्रतीत होता था कि स्थानकी कमीके कारण नगरीके ऊपर दूसरी नगरी-सी बस गयी है ॥२६॥

राज्याभिषेकके जलके प्रवाहके द्वारा वह कोशल अथवा कुरुक्षेत्रकी भूमि उस समय हर्षके रोमाञ्च और पसीनेसे अभिभूत होकर नूतन वधूके समान लगती थी । क्योंकि प्रथम संयोगमें आये पसीनेसे वह भी लथपथ रहती है ॥२७॥

लक्ष्मी स्वयमेव चन्द्रमाके समान श्वेत कमलके छत्रको लेकर खड़ी हुई थी । जिसकी पंखुड़ियोंके बीचसे टपकती हुई पानीकी बूँदें ही लटकते हुए मोतियोंकी छटाको प्राप्त हो रही थीं ॥२८॥

सिंहासनके मध्यमें विराजमान और ढुरते हुए चमरोंकी पंक्तिसे शोभायमान उस युवक राम अथवा युधिष्ठिर राजाने समुद्रकी लहरोंसे ताडित तीरस्थ पर्वतोंको ही जीत लिया था ॥२९॥

पूर्वोक्त प्रकारसे राम अथवा युधिष्ठिरके राज्याभिषेकको सुनकर इनके पिता दशरथ

---

१. उत्प्रेक्षालङ्कारः प०, द० । २. उपमाऽलङ्कारः प०, द० । ३. स्वभावाख्यानम्-प०, द० ।

श्रुत्वा। कथम्भूते हृदये प्रागपि पूर्वमपि कोपधूमिते। क पितरि दशरथे पाण्डुनृपे च। अत्र तात्पर्यं रामस्य युधिष्ठिरस्य च राज्यपट्टाभिषेकं श्रुत्वा द्विषतां हृदयानि "क यामः किं कुर्मः" इति चिन्ताभरनिर्भराणि बभूवुः। उपमालङ्कारः ॥ ३० ॥

स नवाजिषु लब्धविक्रमः कृतरूढिर्न गजेषु दन्तिषु।
निजघान तथापि विद्विषं सहसा पत्तिचयेन वर्जितः ॥३१॥

स इति—वाजिस्कन्धेषु न लब्धविक्रमः गजेषु दन्तिषु। दन्तिष्विति विशेषणेन माणिक्यदण्डसमुद्भवानां हस्तिनां ग्रहणं न तु मरवद्वीपसमुद्भवानां दन्तरहितानामिति विशेषणं सार्थकम्। तेषु तथाभूतेषु गजेषु न कृतरूढिः। पत्तिचयेन पदातिसमूहेन वर्जितः परित्यक्त इति विशेषणेन विशिष्टः सन् सहसा शीघ्रं तथापि स कुमारः विद्विषं निजघान हतवानिति विरुद्धं परिहियते। नवाश्च ता आजयश्च नवाजयः तासु नवाजिषु नूतनसङ्ग्रामेषु लब्धविक्रमः नगजेषु गिरिसमुद्भवेषु दन्तिषु हस्तिषु कृतरूढिः अभ्यस्तावरोहणः आपत्तिचयेन वर्जितः इति विशेषणत्रयेण युक्तस्तथापि सहसा स रामः युधिष्ठिरश्च विद्विषं निजघानेति। विरोधाभासः ॥३१॥

अजरोऽवनिवृत्तचेष्टितस्ततपङ्कोद्भवविष्टरागतः।
स पितामहतां च सङ्गतो विधिरप्येकमुखत्वमागमत् ॥३२॥

अजर इति—सः अजरः न विद्यते जरा वार्द्धक्यं यस्य स अजरः तरुणः कुमारः सङ्गतः प्राप्तः कां पितामहतां प्रजापतित्वम्। कथम्भूतः सन्? अवनिवृत्तचेष्टितः अवनौ धरायां वृत्तमवृत्तञ्चेष्टितमाज्ञा यस्य सः। पुनः ततपङ्कोद्भवविष्टरागतः तते विस्तीर्णे पङ्कोद्भवे दुर्यशसि विष्टानां प्रविष्टानां रागमिष्टवस्तुषु प्रीतिं तस्यति क्षयं नयतीति क्विप् स तथोक्तः विस्तीर्णदुर्यशःप्रविष्टरागविनाशकः तथा स पिता दशरथः पाण्डुश्च महतां महस्य भावो महता तां महतामुत्सवतां च सङ्गतः। कथम्भूतः अजरोऽजे ब्रह्मणि रः शब्दो यस्य सोऽजरोः ब्रह्मैकनिष्ठवचनः। पुनः अवनिवृत्तचेष्टितोऽव समन्तान्निवृत्तं चेष्टितं यस्य सः सकलवाह्यवस्तुनिवृत्तव्यापारः। पुनः ततपङ्कोद्भवविष्टरागतः पङ्कात्पापादुद्भवो येषां ते पङ्कोद्भवाः विष्टाश्च ते रागाश्च विष्टरागाः ततश्च ते पङ्कोद्भवविष्टरागाश्च ते ततपङ्कोद्भवविष्टरागास्तान् तस्यति क्षयं नयतीति क्विप् स तथोक्तः। विस्तीर्णपापसमुद्भवरागोच्छेदक इत्यर्थः। सोपस्करत्वेन व्याख्यायते—अजरो नित्यत्वात् जगज्ज्येष्ठत्वात् प्राप्ततपोऽतिशयत्वाच्च न जीर्यत्यजरः।

अथवा पाण्डुके समयसे ही धुँधाती शत्रुताकी अग्नि शत्रु राजाओंके हृदयमें प्रलयकालकी अग्निके समान जोरसे प्रज्वलित हो उठी थी ॥३०॥

उस राजाने न तो अश्वारोही युद्धमें पराक्रम दिखाया था, न बड़े-बड़े दाँतोंवाले हाथियोंके ऊपर चढ़कर हस्तियुद्ध किया था और न जिसके साथ पैदल सेना ही थी तथापि उसने अकस्मात् शत्रुओंका विध्वंस कर दिया था।

नूतन युद्धोंमें (नव-आजिषु) किये गये पराक्रमके लिए ख्यात, पर्वतोंमें उत्पन्न (नगजेषु), उत्तम हाथियोंपर चढ़नेमें दक्ष तथा अनायास ही आपत्ति (सहसा-आपत्ति) को दूर हटानेवाले इस राजाने शत्रुओंका विनाश कर दिया था ॥३१॥

अन्वय-अवनिवृत्तचेष्टितः ततपङ्कोद्भवविष्टरागतः अजरोऽपि स पितामहतां सङ्गतः च विधिरपि एकमुखत्वं आगमत्।

समस्त पृथ्वीपर शासन चलाते तथा महान् अपकार्योंमें रत लोगोंके विनाश करनेके कारण वह राम अथवा युधिष्ठिर युवक होते हुए भी भले बाबा (पितामह-ब्रह्मा) बन गये थे। [यह हुआ एक विरोध। और जब वह ब्रह्मा हुए तो चतुर्मुख होना चाहिये था वह हुआ नहीं अतएव] ब्रह्मा भी एक मुख हो गये थे। [यह हुआ दूसरा विरोध] क्योंकि ब्रह्मा भी कूटस्थ होनेके कारण वृद्ध नहीं होते हैं, पृथ्वीकी सृष्टिके लिए प्रयत्न करते हैं, विकसित पंकजरूपी आसनपर बैठते हैं, संसारके पिता (गुरु) हैं और विष्णु आदि महापुरुषोंकी संगतिमें रहते हैं। परिहार—

पुनरपरिणमनशील इत्यर्थः । अवनिवृत्तचेष्टितः त्रैलोक्यनिर्माणपर्याप्तकृत्यत्वादवगतं निवृत्तं चेष्टितं कार्यान्तरं येनात्मनोऽसौ तथोक्तः । पुनः ततपङ्कोद्भवविष्टरागतः विस्तीर्णपङ्कजविष्टरप्राप्तः । लोकविधातृत्वात् पिता जगत्कर्तेत्यर्थः । विशेषणसंयोगेन महतां सत्पुरुषाणां सङ्गतः संसर्गाद्विधिरपि चतुर्मुखत्वात् कथमेकमुखत्वमगमदिति विरोधः परिह्रियते—एकमुखत्वं नाम सत्यवादमिति । विरोधाभासः ॥३२॥

तमुदीक्ष्य नवोदयस्थितं परितापोऽर्कमिवाभवत्तदा ।
बहुलो भरतस्य भूभुजो निजमातुर्धृतराष्ट्रजन्मनः ॥३३॥

तमिति—तदा तस्मिन्काले तं जगद्विख्यातं रामं नवोदयस्थितमर्कमिव सूर्यमिवोदीक्ष्यावलोक्य बहुलः प्रचुरः परितापः सन्तापोऽभवत्सञ्जातः । कस्य ? भूभुजः नरपतेः भरतस्य कैकेयस्य सम्बन्धित्वेन निजमातुः स्वकीयजनन्याः । कथम्भूतायाः ? धृतराष्ट्रजन्मनः राष्ट्रजन्म यस्य तद्राष्ट्रजन्म धनधान्यहिरण्यादि धृतं राष्ट्रजन्म यया तस्याः हस्त्यश्वादिविभूतिर्मम पुत्रस्य कथं भवेदिति चेतोवृत्तिमत्याः ।

भारतीयः—तं युधिष्ठिरं नवोदयस्थितमर्कमिवोदीक्ष्य तदा राज्यपट्टाभिषेककाले भूभुजः नरेन्द्रस्य धृतराष्ट्रजन्मनः दुर्योधनस्य परितापो अभवत् बभूव । कथम्भूतस्य बहुलोभरतस्य प्रचुराभिलाषसक्तस्य निजमातुः निजस्य स्वकीयस्य माता निश्चायकोऽथवा निजस्यात्मनो माता निश्चायकोऽसौ निजमाता तस्य आत्मानं स्वकीयञ्च निश्चेतुकामस्येत्यर्थः । श्लेषालङ्कारः ॥३३॥

न विषादितया यदागमत्फलसिद्धिं सुलभामसौ तदा ।
प्रतिपद्य भुवः पतिं वरं कृतकाक्षं रमणं त्वयाचत ॥३४॥

नेति—यदा यस्मिन्कालेऽसौ कैकेयी सुलभां सुप्रापां फलसिद्धिं नागमत् न गृहीतवती । कया कृत्वा ? विषादितया विषादिनो भावेन । तस्मिन्काले फलसिद्धिं प्रतिपद्याङ्गीकृत्य पुनः भुवः पतिं पृथिवीनाथं रमणं वल्लभमसौ कैकेयी अयाचत प्रार्थयामास । कम् ? वरं वरप्रदानम् । कथम् ? यथा भवति कृतकाक्षं कृतं कं जलं ययोस्ते कृतके कृतकेऽक्षिणी यस्मिन्कर्मणि तत्कृतकाक्षं कृताश्रुजललोचनमित्यर्थः ।

अन्वय–अज-रः अव-निवृत्तचेष्टितः ततपङ्कोद्भवविष्टराग-तः पिता-महतां संगतः च विधिः एकमुखत्वं आगमत् ।

परमात्माकी स्तुतिमें लीन, सब ओरसे इन्द्रियोंके व्यापारोंका संकोचकर्ता, अनादि पापोंकी परम्परासे उत्पन्न विशाल मोहका विनाशक, पिताके आनन्दका प्रशस्त निमित्त और निर्माणका कर्ता वह राम अथवा युधिष्ठिर सत्य वचन बोलनेके लिए कटिबद्ध था ॥३२॥

अन्वय–तदा अर्कमिव नवोदयस्थितं तं उदीक्ष्य भूभुजः भरतस्य धृतराष्ट्रजन्मनः निजमातुः बहुलो परितापोऽभवत् ।

राज्याभिषेकके समय सूर्यके समान नूतन तेजयुक्त रामको देखकर राज्यकी सम्पत्ति-पर मुग्धचित्त राजा भरतकी अपनी माता कैकेयीको अत्यधिक मनस्ताप हुआ था ।

अन्वय–……बहु-लोभ-रतस्य, निजमातुः धृतराष्ट्रजन्मनः भूभुजः परितापोऽभवत् ।

राज्याभिषेकके समय नवीन उदित सूर्यके समान प्रतापी युधिष्ठिरको देखकर अत्यन्त लोभी तथा विषयासक्त, अपनेको युधिष्ठिर सदृश माननेवाले, धृतराष्ट्रसे उत्पन्न कौरव राजाओंको भीषण मत्सर हुआ था ॥३३॥

अन्वय–यदा विषादितया सुलभां फलसिद्धिम् असौ न अगमत् तदा भुवः पतिं प्रतिपद्य कृतकाक्षं तु रमणं वरं अयाचत ।

जब महारानी कैकेयी शोक, विलाप आदिके द्वारा अपने परमप्रिय कार्यको न करा सकीं तब उन्होंने पृथ्वीपति राजा दशरथके पास जाकर आँखोंमें बनावटी आँसू भरके अनुरक्त पतिसे वर माँगा था ।

भारतीयः—यदा यस्मिन्कालेऽसौ दुर्योधनः सुलभां फलसिद्धिं नागमत् न गृहीतवान्। कया ?
विषादितया विरमादिर्येषां ते विषादयः पदार्थाः तेषां भावः विषादिता तया विषतृणदारुलाक्षाजलानल-
प्रपञ्चेनेत्यर्थः। तदा तस्मिन्काले फलसिद्धिं प्रतिपद्य स्वीकृत्य तु पुनः भुवः पतिं युधिष्ठिरं दुर्योधनोऽभ्यर्थयत।
कम् ? वरं रमणं गारित्युतम्। कथम्भूतम् ? कृतकाक्षं कृतकौ कृत्रिमौ अक्षौ पाशकौ यत्र तत्कृतकाक्षं कृत्रि-
मपाशकमित्यर्थः। श्लेषालङ्कारः ॥ ३४ ॥

सकलत्रमुपेक्ष्य सत्कुलं किल कैकेयमकार्यकारणा।
ननु चेत्यनिरूप्य कैतवं मतिमक्षैकजयेऽकरोत्प्रभुः ॥३५॥

सकलत्रमिति—कलत्रं भार्यां तथा सत्कुलं निष्कलङ्कान्वयं कैकेयं पुत्रञ्च भरताह्वयमुपेक्ष्यानवधीर्य।
कथमिति ? किल लोकोक्तौ परमार्थे वा। नन्वहो अकार्यकारणा अकार्यकारिका कैकेयीति मत्वा कैतवं
कुटिलस्वभावमनिरूप्याविचार्य स प्रभुः दशरथोऽक्षैकजये इन्द्रियैकपराभवे मतिं बुद्धिमकरोत् कृतवानिति
सम्बन्धः। अथ तात्पर्यं रामं सम्बोध्य कैकेय्या वचनात् स्वप्रतिज्ञाभङ्गभयात् भरताय राज्यं दत्वा संसारसा-
गरोत्तरणैकतरीं चैतरामां दीक्षामङ्गीचकार।

भारतीयः पक्षः—स प्रभुः युधिष्ठिरः अक्षैकजये पाशकैकजये मतिमकरोत्। किं कृत्वा ? पूर्वमुपेक्ष्य
किं कुलं कथम्भूतं सत् समीचीनम्। पुनः कथम्भूतम् ? सकलत्रं सकलान् स्वपरवर्गीयान् त्रायते पालयतीति
सकलत्रम्। किं कृत्वा ? पूर्वं पुनः अनिरूप्य अपरिज्ञाय च। कम् ? कितवानामयं व्यवहारः कैतवस्तं कैतवं
द्यूतकारव्यवहारम्। कथमिति ? किल। ननु अहो का एकाऽसाधारणेयमकार्यकारणेति। श्लेषः ॥३५॥

स परेण तदा जितां महीं लघु मुक्त्वा सहसादरोदरैः।
स्वगुरुस्थितिभङ्गभीरुकः प्रययौ भ्रातृबलेन काननम् ॥३६॥

स इति—स रामः भ्रातृबलेन बान्धवसामर्थ्येन काननं कान्तारं प्रययौ गन्तुं प्रारब्धवान्।
कथम्भूतः ? स्वगुरुस्थितिभङ्गभीरुकः आत्मीयजनकस्थितिभङ्गभीरुकः। पुनः सादरः सोद्यमः। कथम् ? तदा

अन्वय-···विषादितया कृतक-अक्षं वरं रमणं अयाचत।

जब दुर्योधन विषप्रयोग, लाक्षागृह-प्रवेश आदि उपायोंके द्वारा अपने परम आदर्श-को सफल न कर सका तब उसने युधिष्ठिर महाराजके पास जाकर जाली पाशोंसे उत्तम द्यूत (जुआ) क्रीड़ाके लिए प्रस्ताव किया था ॥ ३४ ॥

अन्वय-सत्कुलं उपेक्ष्य कैकेयं कलत्रं किल अकार्यकारणा च कैतवं अनिरूप्य स प्रभुः ननु अक्षैकजये मतिम् अकरोत्।

अपने दोनों श्रेष्ठ कुलोंकी उपेक्षा करके कैकयकी पुत्री कैकेयी रानी निश्चित ही अकार्य कर रही है अतः स्त्री-सुलभ कुटिलताका विचार न करके राजा दशरथने केवल इन्द्रियोंके जीतने (तपस्या) का संकल्प किया था यही आश्चर्य है।

अन्वय-प्रभुः सकलत्रं सत्कुलं उपेक्ष्य, ननु कैतवं अनिरूप्य अक्षैकजये मतिम् अकरोत् इयं का एका अकार्यकारणा किल।

खेद है कि धर्मराजने अपने समीचीन महान् कुल तथा पटरानीकी भी उपेक्षा करके और दुर्योधनके धूर्ततापूर्ण व्यवहारको दृष्टिमें न रखकर पाशोंके द्वारा कौरवोंको जीतनेका विचार किया था। यह अकेला ही कितना बड़ा पापकर्म था ॥ ३५ ॥

अन्वय-तदा परेण अजितां महीं अदरैः सह लघु मुक्त्वा स्वगुरुस्थितिभङ्गभीरुकः सादरः सः भ्रातृबलेन काननं प्रययौ।

दशरथके विरक्त होनेपर अत्यन्त विनम्र तथा अपने पिता-द्वारा दत्त वचनके भंगसे भयभीत वह रामचन्द्रजी अबतक शत्रुओंके लिए अजेय कोशलके राज्य तथा निर्भय भटपूर्ण सेनाको तुरन्त छोड़कर भाईके साथ वनको चले गये थे।

तस्मिन्काले। किं कृत्वा ? पूर्वं मुक्त्वा परित्यज्य। कां महीं पृथिवीम्। कथम्? सह सार्द्धम्। कैः? अदरैः न दरः भयं विद्यते येषां तेऽदरा अभयास्तैः अदरैर्निर्भयैर्भटैः। कथम्? लघु शीघ्रम्। कथम्भूतां महीम्? अजितामनभिभूताम्। केन? परेण शत्रुणेति।

भारतीयः–तदा तस्मिन्काले स युधिष्ठिरः भ्रातृबलेन काननं प्रययौ लघु शीघ्रम्। कथम्भूतम्? स्वगुरुस्थितिभङ्गभीरुकः स्वस्यात्मनः गुर्वी या स्थितिस्तस्याः भङ्गे भीरुकः। किं कृत्वा? पूर्वं मुक्त्वा। काम्? महीम्। कथम्? सहसा शीघ्रम्। कथम्भूताम्? परेण दुर्योधनेन दरोदरैः पाशकैर्जिताम्[१]॥ ३६॥

स निवर्त्य समन्वितान्नृपांस्तलवर्गान्सचिवान्पुरोधसः।
स्थितवान्पथि सीतयाच्युतो गहने द्रौपदिकानुजान्वितः॥३७॥

स इति—स रामः गहने वनेऽद्रौ पर्वते च स्थितवान्। कथम्भूतः अच्युतोऽपरित्यक्तः युक्त इत्यर्थः। कया? सीतया जानक्या। पुनः? पदिकानुजान्वितः पदाभ्यां चरतीति पदिकः स चासावनुजश्च तेनान्वितो युक्तोऽनुचरलक्ष्मणान्वित इत्यर्थः। किं कृत्वा? पूर्वं निवर्त्य पश्चात् प्रस्थाप्य। कान्? नृपान्। नरेन्द्रान् तलवर्गान् तलवर्गान्योधीतुरगगजपति (?)आदीन्, तथा सचिवानमात्यान् पुरोधसः पुरोहितान्। एतान्कथम्भूतान्? समन्वितान् अनुव्रजितुमागतान्।

भारतीयः–स युधिष्ठिरः स्थितवान्। क्व? गहने। कीदृशः सन्? सीतया भूम्या च्युतः परित्यक्तः। पुनः? द्रौपदिकानुजान्वितः द्रौपदिका द्रौपदी द्रुपदतनया अनुजा भीमादयस्तैर्युतः। किं कृत्वा? पथि मार्गे समन्वितान्नृपादीन्निवर्त्य। श्लेषालङ्कारः॥ ३७॥

अपि यस्य जगाम मुद्रया सकलो वारिनिधिः समुद्रताम्।
हृदि पश्यत संसृतेः स्थितिं स नरेन्द्रोऽपि पदातिताङ्गतः॥३८॥

अपीति—यस्य रामस्य युधिष्ठिरस्य च मुद्रया सकलोऽपि वारिनिधिः समुद्रतां मुद्रया सह वर्त्तत इति समुद्रः तस्य भावः तत्ता तां मुद्रायुक्तिमत्त्वं जगाम ययौ। संसृतेः संसारस्य स्थितिं हृदि हृदये पश्यत। स पूर्वोक्तः नरेन्द्रोऽपि पदातितां पदाभ्यामततीति पदातिस्तस्य भावं पदिकत्वं गत इति॥ ३८॥

अन्वय–तदा दरोदरैः परेण सहसा जितां महीं लघु मुक्त्वा स्वगुरुस्थितिभङ्गभीरुकः स भ्रातृबलेन काननं प्रययौ।

द्यूतके पाशोंसे शत्रुके द्वारा अकस्मात् जीते गये हस्तिनापुरके विशाल राज्यको तुरन्त छोड़कर वह धर्मराज युधिष्ठिर केवल भाइयोंके भरोसे ही वनवासमें चले गये थे क्योंकि उन्हें इस बातका भय था कि कहीं इनकी महान् सत्यनिष्ठाका उल्लंघन न हो जाय॥ ३६॥

अन्वय–समन्वितान् नृपान्, तलवर्गान्, सचिवान् पुरोधसः पथि निवर्त्य सीतयाच्युतः पदिक-अनुजान्वितः स गहने-अद्रौ स्थितवान्।

साथ चलनेके लिए आये राजाओं, अश्वारोहियों-गजारूढ़ों, मंत्रियों तथा पुरोहितोंको थोड़े रास्तेसे ही वापस करके सीताको साथ लिये पैदल चलते छोटे भाई लक्ष्मणको ही अनुगामी रूपसे लिये वह राम गहनवन अथवा पर्वतोंपर रहने लगे थे।

अन्वय–पथि समन्वितान्…निवर्त्य सीतयाच्युतः द्रौपदिकानुजान्वितः स गहने स्थितवान्।

वनवासके मार्गमें आकर मिलनेवाले मित्रराजाओं, सेनापतियों, मंत्रियों तथा पुरोहित आदिको घर लौट जानेके लिए कहकर राज्यके द्वारा परित्यक्त वह धर्मराज द्रौपदी तथा भीम आदि छोटे भाइयोंके साथ वनमें वास करने लगे थे॥३७॥

जिसकी राजमुद्राके द्वारा शत्रुओंके समस्त वैभवपर मुद्रा लगायी गयी थी अथवा समस्त सागर भी जिसके राज-चिह्नसे अंकित थे वह राजराजेश्वर भी पदाति—(पैदल चलनेवाला) हो गया था। संसारकी वास्तविकतापर मनमें विचार तो कीजिये॥३८॥

---

१. श्लेषोपमाऽलङ्कारः प०, द०।

अपि चीरिकया द्विषोऽभवन्ननु चामीकरदाश्च्युतौजसः ।
कुसुमैरपि यस्य पीडना शयने शार्करमध्यशेत सः ॥३९॥

अपीति—नन्वहो यस्य सम्बन्धित्वेन चीरिकया लेखेनापि द्विषः शत्रवश्च्युतौजसो नष्टबला भूत्वा चामीकरदा हिरण्यप्रदा अभवन् सञ्जाताः । अथवा चकारः समुच्चये । अमी द्विषश्च्युतौजसः करदाश्चाभवन् । यस्य च कुसुमैः पुष्पैरपि शयने पीडना पीडाऽभवत् स रामो युधिष्ठिरश्च शार्करं शर्करावन्तं प्रदेशमध्यशेत आश्रित्य सुप्तवान् ॥ ३९ ॥

घनसारसुगन्ध्ययाचितं हृदयज्ञैश्चषकेऽम्बु पायितः ।
स विमृग्य वनेष्वनापिवानटनीखातसमुत्थितं पपौ ॥४०॥

घनसारेति—यः पूर्वं हृदयज्ञैः पुरुषैः चषके रत्नमयकचोलके घनसारसुगन्धि कर्पूरवासितमयाचितम- प्रार्थितमम्बु पानीयं पायितः । स वनेषु विमृग्यावलोक्यानापिवानलब्धवान्सन् अटनीखातसमुत्थितं धनुरग्रप्र- देशोल्लिखितनिर्गतं जलं पपौ आस्वादितवान्[१] ॥ ४० ॥

कुलजं शमिनं बहुश्रुतं स्थिरसत्त्वं ध्रुवयुद्धमूर्जितम् ।
यदि तादृशमप्यपैति तन्न खलु श्रीः श्रिय एव तादृशी ॥४१॥

कुलजमिति—कुलजमन्वयोत्पन्नं शमिनमुपशमवन्तं बहुश्रुतं प्रचुरशास्त्रवन्तं स्थिरसत्त्वं ध्रुवबलं ध्रुवयुद्धं स्थिरसंग्राममूर्जितं बलिष्ठं तादृशमपि श्रीर्लक्ष्मीर्यदि चेत् यस्मात्कारणात् अपैति खलु परित्यजति तत्तस्मात्कारणात् श्रीरेव तादृशी न श्रियः । भाग्यवन्तं श्रयति सेवत इति श्रीः तस्याः श्रियः । अत्र तात्पर्यं यदि भाग्यवन्तं पुरुषं त्यजति श्रीस्तदा यथोक्तनिरुक्तिमस्याः श्रियः शभा न भवतीति ॥ ४१ ॥

क्रमशोऽतिजगाम नर्मदां स दुरन्तां जलधीरितोद्यमाम् ।
अवधीरणयाऽतिलङ्घिनीं स्खलितप्रायगतिं प्रियामिव ॥४२॥

क्रमश इति—दुरन्तामलब्धमध्यां जलधीरितोद्यमां जलधौ समुद्रे ईरितः प्रेरितः उद्यमो यया सा तां समुद्रप्रेरितोद्यमाम् अवधीरणयाऽवहेलयाऽतिलङ्घिनीमतिदूरगमनशीलां स्खलितप्रायगतिं स्खलितप्राया स्खलित- सदृशी गतिर्यस्यास्तामिति विशेषणचतुष्टयगोचरां नर्मदां लोकप्रसिद्धां नदीं स रामो युधिष्ठिरश्च क्रमशः क्रमेण कृत्वा अतिजगाम अतिक्रान्तवान् । उपमार्थः प्रदर्श्यते—कामिव प्रियामिव यथा कश्चिन्नरो नारीमवधीरणया अव- ज्ञयाऽतिक्रामति । कथम्भूताम् ? नर्मदां नर्म वर्करं ददातीति ताम् । पुनः जलधीरितोद्यमां जले जडे मूर्खादिपथे

जिस राम अथवा युधिष्ठिरके लेख मात्रसे शत्रुओंका तेज गल जाता था तथा वे शत्रुलोग सोनेकी भेंट अथवा कर देने लगते थे । शय्यापर फूल भी जिसको चुभते थे वही अब बालूपर सोते थे ॥३९॥

जिन्हें पहिले बिना माँगे ही मनकी बात समझनेवाले परिचारक चन्दन आदिसे सुग- न्धित जलको रत्नोंके पात्रोंसे पिलाते थे उन्हें ही आज वनमें खोजनेपर भी पानी नहीं मिलता था, धनुषके कोनेसे बालूमें गड्ढा करके वे पानी पीते थे ॥४०॥

वैसे कुलीन, मन्दकषायी, प्रतिष्ठित, बलशाली, अनेक शास्त्रोंके पण्डित, युद्धके निश्चित विजेता तथा मनस्वी व्यक्तिको भी यदि लक्ष्मी छोड़ देती है तो वह श्री (कान्ति) नहीं है अपितु ऐसी सम्पत्तिको श्रिय (भाग्यवानका सहारा लेनेवाली) ही कहना ठीक होगा ॥४१॥

कष्टसे अवगाहन योग्य, समुद्रकी दिशामें बहती हुई, असावधान होते ही बहा ले जानेवाली तथा पत्थरोंके कारण टकराती या नीची-ऊँची बहती हुई अतएव प्रियाके समान नर्मदा नदीको क्रमशः वह राम अथवा युधिष्ठिर पार कर गये थे [परिहासशील, कुकर्मरत,

---

१. श्लेषोपमाऽलङ्कारः—प०, द० ।

धिया बुद्ध्या कृत्वा ईरितः प्रेरित उद्यमो यया सा ताम्, अथ जलेन जडेन धिया कृत्वा ईरितः उद्यमो यस्यास्तां जडबुद्धिप्रेरितोद्यमाम्। पुनः अतिलङ्घिनीमतिक्रमणशीलां पुनः स्खलितप्रायगतिं मन्दमन्दगमनाम्॥ ४२ ॥

अनुकूलफलासु भूभुजा पथि शोकापनुदासु विश्रमम्।
व्यपदिश्य दरीष्ववस्थितं तनयानां वसतिष्विव क्षणम्॥४३॥

अनुकूलेति–पथि मार्गे भूभुजा रामेण युधिष्ठिरेण च दरीषु कन्दरासु अवस्थितम्। किं कृत्वा? पूर्वं विश्रमं व्यपदिश्य विश्रमितुमुद्दिश्य। कथम्? क्षणं मुहूर्त्तमेकम्। किं विशिष्टासु दरीषु? अनुकूलफलासु कूलमनु अनुकूलं तटं तटं प्रति फलान्याम्रादीनि यासु ताः अनुकूलफलास्तासु। पुनः? शोकापनुदासु चेतोग्लानिस्फेटिकासु। कास्विव? तनयानां पुत्राणां पुत्रीणां वा अनुकूलफलास्वनायासलभ्यफलासु तथा शोकापनुदासु वसतिष्विव। उत्प्रेक्षालङ्कारः॥ ४३ ॥

नृपतिं तमवेक्ष्य तापसाः कृपयाऽऽर्द्रे हृदयेऽश्रु तत्यजुः।
भुवि कः किल कर्कशाशयो महतामुत्सहते विपत्तिषु॥ ४४ ॥

नृपतिमिति–तं रामं युधिष्ठिरञ्च नृपतिं नरेश्वरमवेक्ष्य अवलोक्य तापसाः तपस्विनः अश्रु बाष्पजलं तत्यजुः परित्यक्तवन्तः। क्व? हृदये चेतसि। कथम्भूते? आर्द्रे द्रवीभूते। कया? कृपया करुणया। किल-लोकोक्तौ भुवि पृथिव्यां कः पुमान् कर्कशाशयः निष्ठुरचेताः भूत्वा महतां सत्पुरुषाणां सम्बन्धित्वेन विपत्तिषु आपन्निमित्तमुत्सहते सोद्यमो जायते। अर्थान्तरन्यासः॥ ४४ ॥

सरितः सरितो नगान्नगानवतीर्णः स बहूपकारकः।
विषयान्विषयानपेक्षितां वशवर्तीव गतो न्यशामयत्॥ ४५ ॥

सरित इति–स रामः युधिष्ठिरश्च विषयान् विषयान् देशान् देशान् न्यशामयत् ददर्श। कथम्भूतः? सरितः सरितो नदीः नदीस्तथा नगान्नगान् पर्वतान् पर्वतान् अवतीर्णः उल्लङ्घितवान्। कथम्भूतः? स बहूपकारकः बहूनां समस्तानां राज्ञामुपकारो यस्मात् सः, अस्यायमर्थः स्थाने स्थाने समस्तानामवनीश्वराणामुपकारित्वेन आनुषङ्गिकी कथानुसम्बन्धनीयेति। कथम्भूतान्? विषयानपेक्षितान[1]भिलषितान्। क इव? वशवर्तीव यतिरिव। कथम्भूतः? विषयानपेक्षितां गतः विषयान् स्रग्वनिताचन्दनादीन् न पेक्षत इत्येवं शीलः विषयानपेक्षी तस्य भावस्तत्ता तां जितेन्द्रियत्वं गतः प्राप्तः[2]॥ ४५ ॥

निगमान्निनदैः शिखण्डिनां सुभगान्धेनुकहुङ्कृतैरपि।
स ददर्श वनस्य गोचरान् कुरबाकूलपतनक्षमान्नृपः॥४६॥

मूर्खतापूर्ण कार्य करनेवाली, अवज्ञा करनेमें रत तथा करीब-करीब भ्रष्टाचारको प्राप्त प्रियाको भी लोग सहज ही छोड़ देते हैं]॥४२॥

अभीष्ट फलादिसे व्याप्त तथा मार्गकी थकानको दूर करनेमें समर्थ अतएव अपने पुत्रोंके मकानोंके सदृश सुखद गुफाओंमें राम या युधिष्ठिरके द्वारा विश्राम किया गया था ॥४३॥

राजा राम अथवा युधिष्ठिरको देखकर तपस्वियोंके भी हृदय द्रुत हो जाते थे और वे आँसू बहा देते थे। संसारमें कौन ऐसा कठोर हृदय है जो पुण्यात्मा पुरुषोंकी विपत्ति देखकर प्रफुल्लित होता हो ॥४४॥

राज्य (इन्द्रियोंके भोग) के विषयमें उदासीन भावके धारक तथा अनेक लोगोंके उपकारक अतएव इन्द्रियजेता यतिके समान वे राम अथवा युधिष्ठिर एक नदीसे दूसरी नदी तक अथवा एक पर्वतसे दूसरे पर्वततक भूमि पार करते हुए देशोंको देखते चले जाते थे ॥४५॥

---

१. अत्र पादान्तत्वाच्चकारस्यानुस्वारश्चिन्त्यः। प०, द० पुस्तकयोस्तु विषयानपेक्षितां गतः इत्येव नृप-यतिपक्षयोर्योजितः। २. उपमालङ्कारः—प०, द०।

निगमानिति–स रामः युधिष्ठिरश्च निगमान् भक्तग्रामान् ददर्श दृष्टवान्। कथम्भूतान्? शिखण्डिनां मयूराणां निनदैः शब्दैः तथा धेनुकहुङ्कृतैरपि धेनुकदम्बहम्भारवैः सुभगान् मनोहरान्। पुनः कथम्भूतान्? वनस्य गोचरान् विषयान्। पुनः कृकवाकुत्पतनक्षमान् [1]कुक्कुटोत्पातयोग्यान्। समुच्चयः॥ ४६॥

स विषाणविधूतरोधसं सहसापस्किरमाणमैक्षत।

शिरसि स्थितपङ्कमिच्छया प्रधनस्येव भटं गवां पतिम्॥४७॥

स इति–स रामः युधिष्ठिरश्च गवां पतिं वृषभमैक्षत ददर्श। कथम्भूतं विषाणविधूतरोधसं शृङ्गोल्लिखिततटम्। पुनः शिरसि स्थितपङ्कम् मूर्ध्नि स्थितकर्दमम्। पुनः। प्रधनस्य रणस्य इच्छया वाञ्छया सहसाऽपस्किरमाणमग्रखुरेण भूमिमुल्लिखन्तम्। कमिव? भटमिव वीरमिव[2]॥ ४७॥

तृणकौतुककङ्कणोचितां विलुलोके स विवृत्य गोपिकाम्।

स्तनभारनतां प्रजापतेः श्रममस्थानगतं विचिन्तयन्॥४८॥

तृणेति–स नृपः रामो युधिष्ठिरश्च गोपिकां गोपभार्यां विलुलोकेऽपश्यत्। किं कृत्वा? विवृत्य पूर्वं परावृत्य। किं कुर्वन्? प्रजापतेर्विधातुरस्थानगतमयोग्यपदवीमायान्तं श्रमं विचिन्तयन् चिन्ताविषयं नयन्। कीदृशीम्? तृणकौतुककङ्कणोचिताम्, पुनः स्तनभारनतां कुचभारनम्रामिति॥ ४८॥

अमुनाभिशपन्धनं रुदन्नभिधावन्पृथुकोऽभिसादयन्।

बुबुधे पथि सस्यमापतन्नववर्णीव दुरीहितं तपः॥४९॥

अमुनेति–अमुना रामेण युधिष्ठिरेण च कर्त्रा पृथुकः बालः कर्मतापन्नः पथि मार्गे बुबुधे ज्ञातः। किं कुर्वन्? अभिशपन्नाक्रोशन्। किम्? धनं गोमहिष्यादिकम् पुनः, रुदन्नश्रु विमोचयन्। पुनः? इतस्ततोऽभिधावन् पलायमानः। पुनः, अभिसादयन् अभ्याजयन्। पुनः, आपतन्नागच्छन्। किम्? सस्यं धान्यम्। उपमार्थः प्रदर्श्यते। क इव? नववर्णीव नूतनमुनिरिव, यथा नूतनमुनिः लोकैर्बुध्यते। किं कुर्वन्? धनम् अभिशपन् रुदन् अभिधावन्नभिसादयन्नापतन्। किम्? तपः। कथम्भूतम्? दुरीहितं दुश्चेष्टितम्[3]॥ ४९॥

मयूरोंकी केकासे तथा गायके बछड़ोंके रंभानेके द्वारा अत्यन्त सुन्दर नागरिकोंके ग्रामों तथा मुर्गोंके उड़ने और रहने योग्य वन्य प्रदेशोंको राजा राम अथवा युधिष्ठिरने देखा था॥४६॥

सींगोंके द्वारा नदी-नालेके किनारेको खोदते हुए तथा शिरपर कीचड़ अथवा मिट्टीको लगाये हुए तथा लड़नेकी इच्छासे आगेके खुरोंसे भूमिको कुरेदते हुए अतएव योद्धाके समान सांड़को राजा राम या युधिष्ठिरने देखा था [योद्धा भी हस्तिदन्त शस्त्रके प्रहारसे शत्रुओंको भगा देता है, अनेक हत्याओंका पाप उसके शिरपर रहता है, युद्धकी कल्पनासे वह भूमिपर व्यूह आदि लिखता रहता है]॥४७॥

दूर्वा तथा विवाह सूत्रसे ग्रहण करके कंकड़ आदि आभूषण पहिराने योग्य और उन्नत स्तनोंके भारसे झुकी ग्वालिनको राम अथवा युधिष्ठिरने मुड़कर देखा था। तथा उनके मनमें विचार आया था कि सृष्टिकर्त्ताने अस्थानमें इतनी कुशलता क्यों दिखायी॥४८॥

मार्ग चलते हुए राजा राम अथवा युधिष्ठिर-द्वारा खूब बिलपता-चिल्लाता, रोता हुआ इधर-उधर दौड़ता, अन्नको खाता हुआ तथा गिरता-पड़ता फलतः नये ब्रह्मचारीके समान कष्टकर तपस्यामें प्रवृत्त बालक देखा गया था [नया ब्रह्मचारी भी बात-बातमें अभिशाप देता है, खेद या पश्चात्तापमें रोता है, अशान्तिके कारण इधर-उधर आता जाता है, भोजनपर गिरता है तथा तपस्यामें स्खलित होता है]॥४९॥

---

१. 'कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः' (अमरकोष २।१७) अतएव कुक्कुट इति।

२. उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः–प०, द०। ३. उपमालङ्कारः–प०, द०।

इदमेवमनादिगोचरं चिरमुच्चैरितरेतराश्रयम् ।
विषयं वनमप्यनेकशः स सुखं दुःखमिवात्यगान्नृपः ॥५०॥

इदमिति—स नृपः रामः युधिष्ठिरश्च इदमेवं विषयं देशं वनमपि अरण्यञ्च अत्यगादतिचक्राम। कथम्? अनेकशः बहून्वारान्। कथम्भूतं विषयं वनञ्च? अनादिगोचरं न आदेर्गोचरो विषयो यस्य सः तं तच्च। कथम्? चिरं बहुतरकालं यथा भवति अत्यगात्। इतरेतरमाश्रयो यस्मिन् गमनकर्मणि तदितरेतराश्रयम्। पुनर्विषयं पुनर्वनमिति कृत्वा अन्योन्याश्रयमिति क्रियाविशेषणं यथा कथमुच्चैरतिशयेन। अधुना उपमार्थः प्रदर्श्यते। सुखं दुःखमिव यथाऽतिक्रामति प्राणी तथा सुखं यथा सुखं तथा दुःखमत्र पूर्वोक्तानि विशेषणानि योज्यानि। उपमालङ्कारः ॥ ५० ॥

पथि सोऽवरजोऽग्रजं वचः स्फुटमित्यादित वीक्ष्य तादृशम् ।
विदिशं विशता विशां दिशं त्यजता सत्यमलङ्कृतं त्वया ॥५१॥

पथीति—पथि मार्गे स पूर्वोक्तोऽवरजः लक्ष्मणः अग्रजं रामं तादृशं देशवनान्युल्लङ्घयन्तं वीक्ष्यावलोक्य इति वक्ष्यमाणापेक्षया स्फुटं प्रव्यक्तं यथा भवति वचः वचनमादित उक्तवान्। त्वया भवता सत्यमलङ्कृतं भूषितम्। किं कुर्वता सता? विशां देशानां विदिशं विशता प्रविशता दिशं त्यजता।

भारतीयः—पथि तादृशमग्रजं युधिष्ठिरं वीक्ष्य स लोकप्रसिद्धः अवरजो भीमो वाऽर्जुनः इति वक्ष्यमाणं वचः स्फुटमादित गृहीतवान्। विशां देशानां सम्बन्धित्वेन विदिशं दिशं विशता त्यजता च त्वया सत्यमलङ्कृतमिति[1] ॥ ५१ ॥

स्वकुलं[2] समलंकृतं गुणैरुपनीताश्च महापदं जनाः ।
अनुजा विनयेन भूषिता न पराभूतिरितोऽस्ति काचन ॥५२॥

स्वेति—त्वया गुणैरौदार्यादिभिः स्वकुलं समलंकृतं सम्यक्प्रकारेण विभूषितम्। जनाः महापदं महापदवीमुपनीताः प्रापिताः। अनुजाः भ्रातरः विनयेन भूषिताः इत एभ्यः प्रकारेभ्यः नास्ति काचन परा अन्या भूतिर्विभूतिरिति।

भारतीयः—स्वकुलं समलं सलाञ्छनं त्वया गुणैः कृतम्। जनाश्च महापदं महतीम् आपदं

अनादि कालसे चले आये तथा अनन्त कालतक चलते रहने योग्य यह संसारके सुख और दुःखके इस इतरेतर आश्रय (सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख) के समान ही राजा राम अथवा युधिष्ठिर अनेक बार देशसे वनमें और वनसे देशमें होते चले जाते थे ॥५०॥

उक्त प्रकारसे चले जाते ज्येष्ठ भ्राताको देखकर मार्गमें छोटे भाई लक्ष्मण अथवा भीम-अर्जुनने स्पष्ट कहा था कि हे अग्रज, इस प्रकार देशोंकी सीमाओंमें प्रवेश करके तथा उनको छोड़कर आपने इन्हें सचमुच विभूषित ही किया है ॥५१॥

अन्वय—गुणैः स्वकुलं समलंकृतं, च जनाः महापद नीताः अनुजा विनयेन भूषिताः इतः परा काचन भूतिः नास्ति ।

पितृभक्ति आदि गुणोंके द्वारा अपने कुलकी शोभा बढ़ायी है। जनताका पद ऊँचा किया है। छोटे भाइयोंको अनुशासनसे दीक्षित किया है। फलतः संसारमें इससे बड़ी कोई विभूति नहीं है।

अन्वय—गुणैः स्वकुलं समलं कृतं, च जनाः महा-आपदं नीताः, वि-नयेन अनुजाः भूषि-[शि] ताः इतः परा काचन अभूतिः नास्ति ।

द्यूतके पाशोंके द्वारा हे धर्मराज, आपने अपने कुलको दूषित किया है। जनताको

---

1. श्लेषाऽलङ्कारः—प०, द०। 2. एतेषां पद्यानामनुकूलप्रतिकूलार्थत्वात् पक्षद्वयम्, न तु राघव-भारतीयापेक्षयेति।

विपत्तिमुपनीताः । अनुजाः बान्धवाः विनयेन विगतो नयः विनयः दुर्नयस्तेन भूषिताः भुवि उषिताः तेन कृत्वा इत एभ्यः प्रकारेभ्यः नास्ति काचन पराभूतिरभिभवः अन्येति पदमध्याहार्यम्[1] ॥ ५२ ॥

यदि राजतयाविना नृपाः कृतराज्या इव सानुभावनाः ।
यशसा च युतास्तदेतया बहुचिन्ताहतया किमु श्रिया ॥५३॥

यदीति–यदि राजतया राजभावेन विना कृतराज्या इव नृपाः नरेश्वराः सानुभावना समाहात्म्याः यशसा च युताः भवेयुस्तत् तस्मात् उ अहो किमेतया श्रिया लक्ष्म्या कथम्भूतया बहुचिन्ताहतया बह्वी या चिन्ता तया हतया नष्टया ।

भारतीयः–यत् यस्मात्कारणात् सानुभावना सानुषु पर्वतनितम्बेषु भावना स्थितिर्येषां ते पर्वतनितम्बस्थितिकाः सन्तः नृपाः कृतराज्या इव भवेयुः । कथम्भूताः ? अविना न विद्यते विना येषां ते अविना युक्ता इत्यर्थः । कया इराजतया इरायाः अजः क्षेपः यस्याऽसाविराजः पृथिवीपरित्यागयुक्तः पुरुष इत्यर्थः । इराजस्य भावः इराजता तया पृथिवीपरित्यागत्वेनेत्यर्थः । यशसा युताश्च स्युः तत् तस्मात् किमु अहो एतयाऽनया श्रिया । कथम्भूतया ? बहुचिन्ताहतया बहूनां स्वपरवर्गीयाणां चिन्ता बहुचिन्ता तया हतया बहुचिन्ताहतया । श्लेषालङ्कारः ॥ ५३ ॥

चमरा व्यजनेन वीजयन्ति द्विरदास्ते दधते च नित्यसेवाम् ।
शबराः शिबिरेषु बद्धगेयाः किमु राज्येन गतेन वा स्थितेन ॥५४॥

चमरेति–शिबिरेषु निवेशेषु चमराः चमर्यः व्यजनेन कृत्वा वीजयन्ति । ते प्रसिद्धाः [2]कान्तारसमुद्भवाः द्विरदा हस्तिनः नित्यसेवां अनवरतवलानं न दधते धरन्ति तथा शबराः पुलिन्दाः बद्धगेयाः विरचितगीताः भूत्वा दधते धरन्ति नित्यसेवाम् । एषु प्रकारेषु सत्सु उ अहो किं गतेन वा अथवा स्थितेन राज्येनेति सम्बन्धः ।

भारतीयः–वा उपमार्थे स्थितेन राज्येनेव गतेन राज्येन उ अहो युधिष्ठिर ते तव सम्बन्धित्वेन शिबिरेषु वसतिस्थानेषु लक्षितलक्षणानिरूपणात् चमराः पुरुषाः व्यजनेन चामरेण कृत्वा किं वीजयन्ति ? चकारेण समुच्चयार्थो गम्यते । तथा द्विरदाः किं नित्यसेवां दधते ? तथा शबराः गीतेन कृत्वा शं सुखं कुर्वते

कौरवोंपर छोड़कर महा विपत्तिमें डाल दिया है और नीतिसे काम न करके हम छोटे भाइयोंको भूमिपर सोनेके लिए बाध्य किया है ॥५२॥

यदि राजाके कार्यादिके बिना ही राजाका प्रभाव, माहात्म्य आदि राज्य करनेवालोंके समान हो जाँय और कीर्तिको प्राप्त करले तो अनेक चिन्ताओंसे साबाध इस राज्य-लक्ष्मीसे क्या प्रयोजन है ?

अन्वय—यत् इराजतया विना सानुभावना नृपाः कृतराज्या इव यशसा च युताः तत् बहुचिन्ताह[illegible]या श्रिया किमु ।

यतः पृथ्वीके राज्यके त्यागसे भूषित अतएव पर्वतोंपर निवास करनेमें प्रसन्न मन त्यागी राजा राज्य करनेवालोंके समान यशके भागी होते हैं अतः अपनों तथा परायों; सभीको चिन्तामें डालनेवाली इस लौकिक सम्पत्तिसे हे धर्मराज ! क्या लाभ है ॥५३॥

चमरी मृग अपनी पूँछोंसे चमर ढोरते हैं । जंगली हाथी प्रतिदिन सवारीकी सेवामें रहते हैं । जहाँ पड़ाव डालते हैं वहीं भील आदि ग्राम्यगीत गाते हैं । तब राज्यके रहने या चले जानेसे क्या अन्तर हुआ ?

राज्यपदपर रहनेके समान (वा) राज्य खो देनेपर आपको चमरधारी क्या

---

1. श्लेषाऽलङ्कारः–प०, द० । २. रेवातीरसमुद्भवा–प०, द० ।

शृण्वन्तीति शवराः गायनाः अथवा शेन सुखेन म्रियन्ते इति शवराः सुखिनः बद्धगेयाः सन्तः नित्यसेवां किं दधते ! अपि तु नेति सर्वत्र सम्बन्धः । अत्रैतत्तात्पर्यम्–यथा स्थितेन राज्येन चामरधरादयः सम्भवन्ति तथा न गतेन राज्येनेति । *आक्षेपालङ्कारः* ॥ ५४ ॥

त्वामभ्युपैतु पुनरभ्युदयाय दीप्ति-
रौत्सुक्यमागतवतीव रविं दिनादौ ।
ध्वान्तं विसर्पति तवानुदयात्स्वयत्वं
कालेऽभिवृद्धिमभिमानधनञ्जयश्च ॥५५॥

इति श्री द्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्येऽरण्य-
वासवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

त्वामिति—हे राम हे युधिष्ठिर च त्वां भवन्तं च पुनः दीप्तिः प्रतापलक्षणाऽभ्युपैतु व्याकृत्यागच्छतु । कस्मै ? अभ्युदयाय विभवाय । कथम्भूता सती ? औत्सुक्यं रामस्य आगतवती । उपमार्थः—इव यथा रविमादित्यं दिनादौ दिवसस्य प्रथमारम्भे दीप्तिः पुनरभ्युपैति । कथम्भूता ? औत्सुक्यमागतवती । उत्तरार्द्धे सोपस्करतया व्याख्यानं विधीयते–तथा तव भवतः सम्बन्धित्वेन अनुदयादभिभवात् ध्वान्तमनीतिलक्षणतमः विसर्पति सामस्त्येन प्रवर्तते । यथा रवेरनुदयात् ध्वान्तमन्धकारः विसर्पति । अतएव काले समये तथा अभिमानधनम् अभिमान एव धनम् अथवा अभिमानश्च धनञ्च अभिमानधनं समाहारापेक्षयैकत्वमत्र । जयञ्चेति कर्म, अभिवृद्धिं नय त्वं भवान् । यथा रविः अभिमानधनमभि सामस्त्येन मानं प्रमाणं यस्य तत् अभिमानञ्च तद्धनञ्चाभिमानधनं सप्रमाणकिरणसन्दोहमित्यर्थः । जयञ्च तमस्तोमनिराकरणलक्षणञ्च कर्मद्वयम् अभिवृद्धिं नयति क काल इति[1] ॥ उपमालङ्कारः ॥ ५५ ॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितमण्डलीडितस्य पट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य
गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिका-
चकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदीनामधानायां टीकायां
द्विसंधानकवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये
राघवपाण्डवारण्यगमनवर्णनो नाम
चतुर्थः सर्गः ॥४॥

हवा करते हैं ? हाथी आदिकी प्रतिदिन सवारी प्राप्त होती है क्या ! राजमहलके समान शिविरमें भी क्या गायक गीत सुनाते हैं ? अर्थात् नहीं ॥५४॥

हे राम अथवा युधिष्ठिर लौकिक अभ्युदयके लिए मिलनकी उत्कण्ठासे प्रेरितके समान प्रभुता फिर आपको उसी तरह प्राप्त हो जैसे प्रातःकाल कान्ति सूर्यसे मिलती है, आपके वनमें रहनेके कारण कोशल अथवा कुरु देशमें अनीतिरूपी अन्धकार सब ओर छाया है अतएव आप उचित समयपर सर्वथा विकास, आत्मगौरव रूपी धन और अनीतिकी जयको करें । [सूर्य भी रात्रिमें फैले हुए अन्धकारको पूर्ण विस्तृत किरणोंरूपी सम्पत्तिसे जीतता है और समस्त पदार्थोंकी वृद्धिका कारण होता है] ॥५५॥

निर्दोषविद्याभूषणभूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती, श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके
शिष्य देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्यचन्द्रिकाके चकोर नेमिचन्द्र-द्वारा
विरचित कवि धनञ्जयके राघवपाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसंधान-
काव्यकी पदकौमुदी टीकामें राघव-पाण्डवारण्यगमन
नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त ।

---

१. काले इति सम्बन्धः–प०, द० ।

पञ्चमः सर्गः

ततो वनं देशमनेकमेव पुण्याश्रमं तीर्थमतीत्य राजा ।
गूढः प्रदीप्त्यारविराटभूमिं स्फीतांसको दण्डकलक्षितां सः ॥१॥

तत इति—ततो रामलक्ष्मणसीता सम्बन्धित्वेन स्वदेशपरित्यागकान्तारप्रदेशवर्णनानन्तरं स राजा रामः दण्डकलक्षितां भूमिमाट गतवान् । कथंभूतः ? स्फीतांसकः पीनोन्नतस्कन्धः । पुनः ? रविरिव रविः अथवा स्वयमेव प्रदीप्त्या क्षात्रतेजसा रविः । पुनः गूढः प्रच्छन्नवृत्तिकः । किं कृत्वा ? पूर्वं गतवान् रामः अतीत्यातिक्रम्य । किम् ? वनमरण्यं तथा देशं विषयं तथा पुण्याश्रमं तापसवसतिं तथा तीर्थम् । येन दृष्टेनाश्रितेन वा अपारसंसारपारावारस्तीर्यते तत्तीर्थं ऊर्जयन्तादि सर्वम् । कथंभूतम् ? विशेष्यमनेकमेव नानाप्रकारमेव ।

भारतीयः—ततः पाण्डवानां सम्बन्धित्वेन स्वदेशपरित्यागकान्तारप्रवेशवर्णनानन्तरमनेकमेव वनं देशं पुण्याश्रमं तीर्थमतीत्य स जगद्विख्यातो राजा युधिष्ठिरः स्फीतां लोकविख्यातां विराटभूमिं मत्स्यदेशमार गतवान् । कथंभूतः ? कोदण्डकलक्षितांसः कोदण्डकेन धनुषा लक्षितः अंसः स्कन्धो यस्य सः । पुनः गूढः संवृतः कया प्रदीप्त्या प्रतापेनेति ॥श्लेषालङ्कारः ॥१॥

विहाय चापव्यवहारमुग्रं यथा नियोगं प्रयतो जितात्मा ।
निरूप्य तस्यां स कुलायभूमिं योगीव कञ्चित्[1] समयं निनाय ॥२॥

विहायेति—तस्यां दण्डकारण्यभूमौ स रामः कञ्चित्समयं कालं निनाय नीतवान् । किं कृत्वा ? पूर्वं निरूप्य समर्थ्य, कां भूमिम् कस्मै ? कुलाय अन्वयाय भरताय । किं कृत्वा ? पुनश्च (च पुनः) विहाय परित्यज्य । कम् ? अपव्यवहारं दुर्नीतिम् । कथम्भूतम् ? उग्रं सोढुमशक्यम् । कथम्भूतो रामः ? जितात्मा जितेन्द्रियः । पुनः प्रयतः प्रयत्नवान् । कथम् ? यथा नियोगं यथा स्वाभिप्रायेण नियोगो व्यापारो यत्र कर्मणि तत् यथा नियोगम् । उपमार्थः प्रदर्श्यते । योगीव यथा योगीन्द्रः तस्यां लौकिकप्रसिद्धायां भूमौ सकुलाय

अन्वय—ततो अनेकमेव वनं, देशं, तीर्थं, पुण्याश्रमं अतीत्य, स्फीतासंको प्रदीप्तभा रविः सः गूढः राजा दण्डकलक्षितां भूमिं आट ।

उक्त प्रकारसे भ्रमण करते हुए अनेक वनों, देशों, ऋषियोंके पवित्र आश्रमों तथा प्रयाग आदि तीर्थोंको पार करके पुष्ट उन्नत स्कन्धधारी, तेजमें सूर्य समान वह गुप्त वेशधारी राजा राम दण्डक नामसे ख्यात प्रदेशमें पहुँचे थे ।

अन्वय—......कोदण्डलक्षितांसः प्रदीप्त्या गूढः स राजा स्फीतां विराटभूमिं आर ।

गुप्तवासके प्रसंगसे अनेक देशों, वनों, तपोभूमियों और ऊर्जयन्त आदि तीर्थोंसे निकलता हुआ पुष्ट कन्धेपर धनुष लटकाये तथापि प्रताप शौर्यकी दृष्टिसे अज्ञात वह राजा युधिष्ठिर विस्तृत तथा ख्यात मत्स्य देशमें पहुँचा था ॥ १ ॥

अन्वय—उग्रं चापव्यवहारं विहाय यथा नियोगं प्रयतः जितात्मा स तस्यां कुलायभूमिं निरूप्य योगीव कञ्चित् कालं निनाय ।

दारुण धनुषके प्रयोगको छोड़कर अपने स्वभावानुसार जीवन व्यतीत करनेमें लीन तथा आत्मजेता राजा रामने दण्डकारण्यमें झोपड़ीके लायक भूमिको चुनकर योगीके समान कुछ समय व्यतीत किया था [आत्मापर विजय न पानेके कारण योगी भी बुरे आचरण तथा उग्रताको छोड़कर किसी वनमें कुटिया बनाता है और योगशास्त्रके अनुसार क्रिया करता है और अभ्यासमें कुछ समय बिताता है] ।

---

1. किञ्चित्—द० ।

समानं कुलं यस्याऽसौ सकुलः तस्मै सकुलाय भूमिं निरूप्य कश्चित् समयं नयति। कथम्भूतः जितात्मा ? पुनः प्रयतः प्रयत्नपरः। कथम् ? यथा नियोगं स्वामिप्रायव्यापारम्। किं कृत्वा ? पूर्वं विहाय च। कम् ? अपव्यवहारम्। कथम्भूतम् ? उग्रमिति सम्बन्धः।

भारतीयः—स युधिष्ठिरः तस्यां विराटभूमौ कश्चित्समयं निनाय। क इव ? योगीव। किं कृत्वा ? पूर्वं निरूप्यावलोक्य। काम् ? कुलायभूमिं कुलायाय नीडाय भूमिः कुलायभूमिः तां निवासभूमिम्। कथम्भूतः ? अजितात्मा अजितेन्द्रियः द्यूतव्यसनोपहतः। पुनः कथंभूतः ? प्रयतः। कथम् ? यथा नियोगम्। किं कृत्वा ? पूर्वं विहाय विमुच्य। काम् ? चापव्यवहारम्। कीदृशम् ? उग्रं तीव्रम्। उपमार्थः प्राग्वत्। श्लेषालङ्कारः॥२॥

विरामभूमिः कमनीयतायाः कृष्णोदयानां विनिवासहेतुः।
समाययौ कामनिवेशमूर्तिस्तत्राभिमुख्यं किल कीचकस्य ॥३॥

विरामेति—तत्र दण्डकारण्ये किल लोकोक्तौ शास्त्रोक्तौ वा कीचकस्य वेणोः सम्बन्धित्वेन आभिमुख्यं कृष्णो लक्ष्मणः समाययौ गतवान्। कथंभूतः ? कमनीयतायाः रमणीयतायाः विरामभूमिः विश्रामावनिः। पुनः दयानां करुणानां विनिवासहेतुः स्थितिकारणम्। पुनः कामनिवेशमूर्तिः कन्दर्पस्थितिशरीरक इति सम्बन्धः।

भारतीयः—तत्र विराटभूमौ किल कृष्णा द्रौपदी कीचकस्य कीचकनामधेयस्य नराधिपस्याभिमुख्यं समाययौ गतवती। कथंभूता ? कमनीयताया विरामभूमिः। पुनरुदयानां निवासहेतुः। पुनः कामनिवेशमूर्तिः कामानामभिलाषाणां निवेशाय रचनायै मूर्तिर्यस्याः सा[1] ॥३॥

विलासभावेन विलम्बमानं निस्त्रिंशमत्राहृत सूर्यहासम्।
असौ निजग्राहमहोद्धतिस्तं पुण्यैकरूपेण वशं हि सर्वम् ॥४॥

विलासेति—अत्रास्मिन् प्रस्तावे असौ लक्ष्मणस्तं लोकप्रसिद्धं सूर्यहासं सूर्यहासनामधेयं निस्त्रिंशं खड्गमाहृत गृहीतवान्। कथम्भूतं निस्त्रिंशम् ? विलम्बमानं निरालम्बतया लम्बमानम्। केन ? विलासभावेन वीनां पक्षिणां लासः विलासः क्रीडा यत्र तद्विलासं तस्य भावेन गगनं समुपेत्येत्यर्थः। कथंभूतो लक्ष्मणः ?

अन्वय—जितात्मा यथा नियोगं प्रयतः सकुलाय भूमिं निरूप्य तस्या उग्रं चापव्यवहारं विहाय कश्चित् समयं निनाय।

सत्य, आदि व्रतोंके पूर्ण पालनके कारण आत्मजयी तथापि कर्म-संयोगके अनुसार जुआ, आदि आचरण कर्ता युधिष्ठिर अपने सगोत्रोंके लिए राज्य हार कर विराट भूमिमें पहुंचनेपर प्रखर शस्त्र विद्याको त्यागकर कुछ समय बिता रहे थे ॥ २ ॥

अन्वय—तत्र कमनीयतायाः विरामभूमिः दयानां विनिवासहेतुः कामनिवेशमूर्तिः कृष्णः किल कीचकस्य आभिमुख्यं समाययौ।

दण्डकारण्यमें रहते समय सुन्दरताकी चरमसीमा, दया दाक्षिण्यकी निवासभूमि तथा सशरीर कामके समान मनोहर वासुदेव लक्ष्मण कीचक (वेणुवन) के सामने जा पहुंचा था।

अन्वय—......उदयानां विनिवासहेतुः...कृष्णा...।

विराट भूमिमें निवासके समय परमलावण्यकी चरम कृति, अनेक अभ्युदयोंकी निमित्त, तथा कामरूपी मन्दिरमें विराजमान करने योग्य मूर्तिके समान द्रौपदी संयोगसे कीचक राजाके सामनेसे निकल गयी ॥ ३ ॥

अन्वय—विलासभावेन विलम्बमानं तं सूर्यहासं निस्त्रिंशं अत्र निजग्राहमहोद्धतिः असौ आहृत हि पुण्यैकरूपेण सर्वं वशं।

पक्षियोंकी उड़ानके समान आकाशमें लटकते उस लोकप्रसिद्ध चन्द्रहास खड्गको दण्डकारण्यमें, स्वयमेव वरण करनेके कारण परम प्रतापी लक्ष्मणने पकड़ लिया था। उचित ही है क्योंकि, केवल पुण्यके प्रतापसे सब कुछ वशमें हो जाता है।

---

1. श्लेषालङ्कार—प. द.।

निजग्राहमहोद्धृतिः निजश्चासौ ग्राहश्च निजग्राहः तेन महोद्धृतिर्यस्य सः स्वकीयाङ्गीकारमहोद्धृत इत्यर्थः। अर्थान्तरमुपन्यस्यते—हि स्फुटं सर्वं वस्तुजातं पुण्यैकरूपेण कृत्वा वशमात्माधीनं जायत इति सम्बन्धः।

भारतीयः—अत्रावसरे असौ कृष्णा द्रौपदी तं लोकप्रसिद्धं कीचकं निजग्राह निगृहीतवती। केन कृत्वा? विलासभावेन कटाक्षपातेन। कथम्भूतम्? विलम्बमानं क्रीडां कर्तुं त्वरयन्तम्? पुनः निस्त्रिंशं निर्दयम्। कथम्भूतम्? आहृतसूर्यहासमाहृतः लुप्तः (लोपितः) सूर्यस्य हासो दीप्तिर्येनासौ आहृतसूर्यहासः तम् आहृतसूर्यहासम् तिरस्कृतरविप्रतापमित्यर्थः। कथम्भूता महोद्धृतिः? महेनोत्सवेन उद्धृतिर्यस्याः सा महोद्धृतिः उत्सवोद्धृतेत्यर्थः। युक्तमेतत्, हि स्फुटं पुण्यैकरूपेण मनोहररूपेण सर्वं वशं स्यात्। अर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥४॥

इच्छाविभङ्गेन न रन्तुकामं तं तेन निघ्नन्नियमेन सक्तम्।
स्वस्थं परं ज्योतिरसौ चकार नश्यन्ति वाऽस्थानकृतप्रयासाः ॥५॥

इच्छेति—असौ लक्ष्मणस्तं नरं रामायणीयकथाप्रसिद्धं विमुक्तजटाजूटधारिणं शम्बुकुमाराख्यं परं केवलं स्वस्थं स्वर्गस्थं चकार। कथम्भूतो लक्ष्मणः? तु पुनः ज्योतिः द्विरुक्तं क्षात्रं तेजः स्वयमेवेत्यर्थः। कथम्भूतम्? सक्तं सम्बद्धम्। केन? नियमेन व्रतेन। कथम्? कामम(त्य)र्थम्। किं कुर्वाणो लक्ष्मणः? तं शम्बुकुमारं स्वस्थं स्वर्गस्थं चकार? तेन सूर्यहासाभिधानेन खड्गेन तं वंशजालं निघ्नन् संभिन्दन्। केन कृत्वा? पुनः इच्छाविभङ्गेन, मूलावशेषमिदं वंशजालमेतेन खड्गेन छिनद्मीति वाञ्छाविभञ्जनेनेति भावः। अर्थान्तरमभिधीयते—वा एवार्थसूचकः। अस्थानकृतप्रयासा नश्यन्त्येव।

भारतीयः—असौ कृष्णा द्रौपदी तेन विलासभावेन कृत्वा तं कीचकं नृपतिं स्वस्थं सुखिनं न चकार न कृतवती। कथम्भूता सती? परं केवलं ज्योतिः स्वयमेव परमार्थतः पतिव्रतलक्षणं तेजः। कथम्भूतं कीचकम्? न सक्तमनियन्त्रितपरिणामम्। क्व? नियमे व्रते। पुनः निघ्नं परदाररतम्। पुनः रन्तुकामं भोक्तुकामम्। केन कृत्वा? इच्छाविभङ्गेन इन्द्रियाणां यथेष्टं तृप्तिर्भवतात् तावदिमां भोक्ष्यामि पश्चाद्विरंस्यामीति वाञ्छाभङ्गभयेनेत्यर्थः। अर्थान्तरं प्राग्वत्[1] ॥५॥

सुरासुरातिक्रमविक्रमस्य दशास्यनामोद्धहतः स्वसारम्।
सुतापयोगादभवत्सुदुःखा कामेषु भग्नेषु कुतः सुखं वा ॥६॥

अन्वय—विलासभावेन विलम्बमानं आहृतसूर्यहासं निस्त्रिंशं तं महोद्धृतिः असौ निजग्राह हि पुण्यैकरूपेण सर्वं वशं।

इस अवसरपर भोगविलासकी इच्छासे पीछे-पीछे दौड़नेवाले, सूर्यकी हँसीसे भी तीक्ष्ण और उद्वेजक हँसी हँसते उस निर्दय कीचकको अत्यन्त उद्धत इस द्रौपदीने झिड़क दिया था। पुण्यमय आचरणके द्वारा सब कुछ सम्भव है ॥ ४ ॥

अन्वय—परं ज्योतिरसौ इच्छाविभङ्गेन तेन कामं तं निघ्नन् नियमेन सक्तं नरं स्वस्थं चकार। हि अस्थानकृतप्रयासाः नश्यन्ति।

अत्यन्त तेजस्वी लक्ष्मणने इच्छामात्रसे विपुल संहारकर्ता उस चन्द्रहास खड्ग-द्वारा यों ही वंशवन को काटते हुए वहीं परम तपस्यामें लीन शम्बुकुमारको भी स्वर्गीय कर दिया था। अस्थानपर किये गये प्रयत्न विनाशका ही कारण होते हैं।

अन्वय—···नियमेन सक्तं रन्तुकामं, निघ्नं तं तेन इच्छाविभंगेन स्वस्थं न चकार।

पतिव्रतके तेजसे भासमान द्रौपदी व्रत नियमादिके भंगकर्त्ता, रमण करनेके लिए व्याकुल, परस्त्रीगामी और अधम कीचकको; उक्त प्रकारसे तर्जनापूर्वक मनोरथ भंग करके सदाचारी या शान्त नहीं किया था। ठीक ही है अपात्रके साथ किये गये सत्कर्म निष्फल ही होते हैं ॥ ५ ॥

अन्वय—सुरासुरातिक्रमविक्रमस्य दशास्यनामोद्धहतः स्वसा सुतापयोगात् अरम् सुदुःखा अभवत्। वा कामेषु भग्नेषु सुखं कुतः?

---

1. श्लेषालङ्कारः-प०, द०।

सुरासुरेति—सुतापयोगात् सुतस्यापयोगः सुतापयोगः तस्मात् पुत्रवियोगात् स्वसा भगिनी शूर्पणखा-नामधेया अस्मत्यर्थं सुदुःखाऽभवत् सञ्जाता । कस्य (स्वसा ?) पुरुपस्येत्यध्याहार्यम् । किं कुर्वतः ? दशास्यनाम दशमुखाभिधानं रावणसंज्ञामुद्वहतः दधानस्य । कथम्भूतस्य ? सुरासुरातिक्रमविक्रमस्य सुराश्चा-सुराश्च सुरासुरास्तानतिक्रामति विक्रमो यस्य स तस्य तथोक्तस्य देवदानवोल्लङ्घितपराक्रमस्य । अर्थान्तरमाह—कामेष्वभिलाषेषु भग्नेषु नष्टेषु कुतो वा सुखं स्यादिति सम्बन्धः ।

भारतीयः—सुतापयोगात् सुतापसम्बन्धात् अस्य विराटभूपतिश्यालकस्य दशावस्था सुदुःखाऽतिदुःखा-ऽभवत् । किं कुर्वतः ? उद्वहतः । किम् ? नाम । कथम्भूतम् ? स्वसारं सु अतिशयेनासारं कीचकमित्यर्थः । कथम्भूतस्य ? सुरासुरातिक्रमविक्रमस्य सुराः "रै शब्दे" इति धातोर्विचि रूपं सुराणं सुराः सुराश्च सुरा च सुरासुरे सुरासुराभ्यां सकाशादतिक्रमो यस्यासौ सुरासुरातिक्रमः तादृक् विक्रमो यस्य स तस्य प्रलापमदिरा-निरस्तविक्रमस्येति भावः । अथवा सुराः सु अतिशयेन राः प्रलापो यस्याः सकाशात्सा सुराः अतिप्रलापेति भावः । सुरा मदिरा । अतिक्रमः भार्यायामिव पुत्रीसावित्रीभगिनीषु सुरताभिलाषरूपः । विक्रमः विगतक्रमः यदृच्छाप्रवृत्तिरित्यर्थः । सुरान्त्यारौ सुरा च सुरासुरा सुरासुरायाः सकाशादतिक्रमो यस्य सः तस्य सुरासुराति-क्रमस्येव विक्रमो यस्य स सुरासुरातिक्रमविक्रमस्तस्य अतिप्रमत्तस्य मद्यपस्येव यदृच्छाप्रवृत्तिनिरतस्येति भावः । अर्थान्तरं न्यस्यति, कामेषुभग्नेषु कामस्य ये इषवो बाणास्तैर्भग्नेषु कन्दर्पशरजर्जरीभूतेषु विषये कुतो वा सुखं स्यादिति सम्बन्धः[1] ॥ ६ ॥

वैरं तु कामं समुपेत्य रूपं तदीयमालोक्य च विभ्रमन्तम् ।
इयाय संमोहनमन्तरेऽस्मिन्विव्याध बाणैर्मकरध्वजोऽपि ॥ ७ ॥

वैरमिति—सा स्वसा शूर्पणखा संमोहनं वैचित्यमियाय गतवती । किं कृत्वा ? पूर्वं समुपेत्य संप्राप्य । किम् ? वैरं शत्रुत्वम् । कथम् ? काममत्यर्थम् । किं कृत्वा ? पुनरालोक्य निरीक्ष्य । किम् ? रूपम् । कथम्भूतम् ? तदीयं तस्येदं तदीयम् । चकारः समुच्चयार्थः आलोक्य च, कं तं लक्ष्मणमित्यध्याहार्यमिदं पदम् । कथम्भूतम् ? विभ्रमन्तमितस्ततः पर्यटन्तम् । तु पुनः अन्तरेऽस्मिन्प्रस्तावे तां रावणभगिनीं मकरध्वजोऽपि कन्दर्पोऽपि विव्याध हतवान् । कैः कृत्वा बाणैः शरैरिति सम्बन्धः ।

देवों तथा दैत्योंके सम्मिलित पराक्रमसे भी अधिक पराक्रमी दशानन नाम धारक लंकेश्वरकी बहिन शूर्पणखा अपने पुत्र शम्बुकुमारकी अपमृत्युके समाचारसे अत्यन्त दुःखी हो गयी थी । मनोरथोंका भंग हो जानेपर सुख कहाँसे हो सकता है ?

अन्वय–सुतापयोगात् सुरा-सुरातिक्रमविक्रमस्य स्वसारं नामोद्वहतः अस्य दशा सुदुःखा अभ-वत् । वा कामेषुभग्नेषु कुतः सुखम् ?

अपमान और कामजन्य भीषण तापके कारण मदिरा पीकर प्रलाप और यदृच्छा आचरण-द्वारा ही अपने पराक्रमके प्रदर्शनमें लीन अत्यन्त भावहीन नाम कीचकसे ख्यात इस विराट् नृपतिके सालेकी अवस्था अत्यन्त निन्दनीय हो गयी थी । कामदेवके बाणोंका लक्ष्य बन जानेपर सुख कैसे मिल सकता है ॥ ६ ॥

अन्वय–कामं वैरं समुपेत्य च विभ्रमन्तं तदीयं रूपं विलोक्य तु संमोहनम् इयाय अस्मिन् अन्तरे मकरध्वजोऽपि बाणैः विव्याध ।

वह सूर्पणखा उत्कृष्ट वैरसे प्रेरित हो लक्ष्मणके पास गयी और इधर-उधर भ्रमण करते उसके लोकोत्तर सौन्दर्यको देखकर; आश्चर्य है कि उस (सूर्पणखा) पर संमोहन हो गया । इसी अवसरमें कामदेवने भी उस राक्षसीको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ।

अन्वय–तदीयं रूपमालोक्य रन्तुकामं विभ्रमं तं समुपेत्य अस्मिन् अन्तरे मकरध्वजोऽपि बाणै-र्विव्याध च संमोहनं इयाय ।

---

१. अर्थान्तरन्यासालङ्कारः–प०, द० ।

भारतीयः—तं विराटभूपतिश्यालकं कीचकं संमोहनं कर्तुं इयाय जगाम। कथम्भूतम्? तं रन्तुकामं संमोक्तुकामम्। कथम्? वै स्फुटम्। किं कृत्वा? पूर्वं समुपेत्य प्राप्य। किम्? तदीयं रूपम्। पुनः किं कृत्वा? आलोक्य च। कं विभ्रमं भ्रूविकारम्। अन्तरेऽस्मिन् बाणैः कृत्वा मकरध्वजोऽपि विव्याध। उक्तञ्च—

"हावो मुखविकारः स्याद्भावः स्याच्चित्तसम्भवः।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः[1] ॥ ७ ॥ [ ]

निश्वासमुष्णं वचनं निरुद्धं म्लानं मुखाब्जं हृदयं सकम्पम्।
श्रमादिवाङ्गं पुलकप्रसङ्गं पदे पदेऽसौ बिभरांबभूव ॥ ८ ॥

निश्वासमिति—उष्णं निश्वासं नासावातं तथा निरुद्धं गद्गदं वचनं वाचं तथा म्लानं संकुचितं मुखाब्जं वदनकमलं तथा सकम्पं हृदयं हृत् तथा पुलकप्रसङ्गं रोमाञ्चसम्बन्धि अङ्गं शरीरं पदे पदे श्रमादिव असौ रावणभगिनी कीचको वा बिभरांबभूव बभार। पूर्वोक्तनिश्वासादिकं कर्मेति सम्बन्धः। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ८ ॥

श्वासानुबन्धात्परितापहेतोर्बाष्पानुपातान्मदनस्य पौष्पाः।
शरा नु वाताग्निजलात्मकाः स्युरिति क्षणं चिन्तयति स्म किञ्चित् ॥ ९ ॥

श्वासेति—असौ रावणभगिनी कीचको वा क्षणं मुहूर्तं तावत् किञ्चित् चिन्तयति स्म चिन्तितवती चिन्तितवांश्च। कथमिति श्वासानुबन्धात् नासावातानुषङ्गात् परितापहेतोः सन्तापहेतोः बाष्पानुपातादश्रुजलप्रपतनात् एतेभ्यस्त्रिभ्यः कारणेभ्यः नु अहो मदनस्य कन्दर्पस्य पौष्पाः कुसुममयाः शराः बाणाः वाताग्निजलात्मकाः अनिलानलजलस्वभावाः स्युः भवेयुरिति सम्बन्धः। स्वभावाख्यानम् ॥ ९ ॥

विश्लेषणं वेत्ति न सन्धिकार्यं स विग्रहं नैव समस्तसंस्थाम्।
प्रागेव वेवेक्ति न तद्धितार्थं शब्दागमे प्राथमिकोऽभवद्वा ॥ १० ॥

विश्लेषणमिति—विश्लेषणं वियोजनं वेत्ति जानाति, सन्धिकार्यं परस्परसंयोगविधानं न वेत्ति विग्रहं कलहं वेत्ति समस्तसंस्थां सकलव्यवस्थां नैव वेत्ति प्रागेव प्रथमत एव हितार्थं स्वार्थं तल्लोकप्रसिद्धं न वेत्ति (वेवेक्ति) [न जानाति] न विचारयति इत्यनया युक्त्या स मदनः शब्दागमे शब्दश्चागमश्च शब्दागमं समाहारापेक्षयैकत्वमत्र ध्वनौ शास्त्रागतौ च। उपमार्थे प्रयुज्यते—प्राथमिक इवाभवत् संजातः शब्दागमे

द्रौपदीके लोकोत्तर सौन्दर्यको देखकर रमण करनेके लिए व्याकुल अतएव विवेक पराङ्मुख उस कीचकको लक्ष्य बनाकर कामदेवने अपने बाणोंसे छेद दिया था तथा उसे संमोहन (मूर्च्छा) में डाल दिया था ॥ ७ ॥

पद-पदपर इस सूर्पणखा अथवा कीचककी उष्ण श्वासें निकलती थीं, वचन गद्गद अथवा असम्बद्धसे निकलते थे, मुखकमल मुरझा गया था, हृदय धड़क रहा था, सारे शरीरमें वैसा ही रोमाञ्च तथा पसीना हो रहा था जैसा कि परिश्रमसे होता है ॥ ८ ॥

वह एक क्षण पर्यन्त कुछ ऐसा सोचते थे–अहो कामदेवके पुष्पमय बाण भी वायु, अग्नि और जलमय होने चाहिये क्योंकि इनके लगते ही दीर्घ श्वासें चलती हैं, सारे शरीरमें भीषण दाह होता है तथा आँखोंसे अश्रु टपकने लगते हैं ॥ ९ ॥

वह कामदेव वियोग कराना जानता है संयोग नहीं कराता है। विपरीत आचरण करता है अनुकूल रूपसे नहीं रहता है, प्रारम्भसे ही भला करनेका प्रयत्न नहीं करता है अतएव वह व्याकरण अथवा आगमके अल्पज्ञके समान है—[व्याकरण शास्त्रका प्रारम्भिक छात्र भी अलग-अलग (विसन्धि) पदोंका प्रयोग करता है क्योंकि संधि करना नहीं जानता है। केवल विग्रह (पदोंका अर्थ) करता है कृदन्तादि अन्य कार्य नहीं जानता और न 'तद्धित'

1. अत्र श्लेषालङ्कारः–प०, द०।

व्याकरणे कश्चित् पुमान् प्राथमिको जायते अनया वक्ष्यमाणापेक्षया विश्लेषणं विसन्धि वेत्ति सन्धिकार्यं मन्योन्यवर्णाश्लेषलक्षणं विधानं न वेत्ति, विग्रहं समासं (वृत्त्यर्थबोधकं वाक्यं) वेत्ति सकलसंस्था समस्तनाम क्रियादिस्थितिं प्रागेव पूर्वत एव तद्धितार्थं च न वेवेत्तीति सम्बन्धः[१] ॥१०॥

स रोपणान्पञ्च मयि प्रयुज्य शेषं जनं हन्ति तु चापयष्टया ।
संतापको नो घटको मनोभूरयस्कृतो बाल इवेति दध्यौ ॥११॥

स इति—अहो स मदनः रोपणान् मदनोन्मादनमोहनसन्तापनवशीकरणलक्षणोपलक्षितान् बाणान् पञ्च मयि प्रयुज्य संस्थाप्य तु पुनः शेषं जनं चापयष्ट्या धनुर्लतया हन्ति हिनस्ति। अतएव मनोभूः मकरध्वजः सन्तापको नो घटकः । क इव यथाऽयस्कृतो लोहकारस्य बालः शिशुः इव यथा । इति दध्यौ चिन्तितवती चिन्तितवांश्च रावणस्वसा कीचकश्चेति[२] ॥११॥

तस्या विशेषेण कृताभिलाषात्तापेन गण्डूषविमुक्तमम्भः ।
शुचौ करेणोरिव दारुणेन[४] मूषागतं ताम्रमिवोष्णमासीत् ॥१२॥

तस्या इति—तस्याः शूर्पणखायाः विशेषेण अतिशयेन कृताभिलाषात् लक्ष्मणविषयकातिरागात् दारुणेन उग्रेण तापेन सन्तापेन शुचौ ग्रीष्मे काले करेणोर्हस्तिन्या इव गण्डूषविमुक्तं कुललिकाच्युतमम्भः सलिल-मुष्णमासीत् सञ्जातम् । तत् किमिव ? ताम्रमिव । कथम्भूतम् ? मूषागतं सदिति सम्बन्धः ।

भारतीयः—तस्य कीचकस्य अविशेषेण सामान्येन शेषं प्राग्वत्[३] ॥१२॥

तस्यावतंसोत्पलपत्रमैत्रीं गतैः कटाक्षैर्विवशान्तरात्मा ।
नाजीगणन्मानमसौ कुलञ्च कामातुराणां हि कुतो विवेकः ॥१३॥

तस्या इति—असौ रावणस्वसा शूर्पणखा मानं कुलञ्च नाजीगणत् न गणयाञ्चकार । कथंभूता सती ? अवतंसोत्पलपत्रमैत्रीं कर्णभूषणीभूतकुवलयदलसखित्वं गतैः तस्य लक्ष्मणस्य कटाक्षैः विवशान्तरात्मा विह्वलचेतस्का । अर्थान्तरमाह—कामातुराणां हि स्फुटं विवेकः कुतः ?

ही जानता है । आगमोंका अभ्यासी भी कार्य विशेषका विचार-कर्ता व्यापक सामान्यको भूलता है, विवाद करता है, समन्वय नहीं सोचता और अभ्युदय निश्रेयसके लिए प्रयत्न नहीं करता है] ॥ १० ॥

अपने पाँचो ही बाणोंका मेरे ऊपर प्रहार करके समस्त लोकोंको यह कामदेव धनुष-की लकड़ीसे ही मारता है । फलतः लुहारके बालकके समान यह जलन पैदा करता है मिलाता नहीं है [लुहारका बच्चा धौंकनीको चलाकर आग ही प्रज्वलित करता है वस्तुओं-को गढ़ता नहीं है] ॥ ११ ॥

लक्ष्मणके ऊपर विशेष रूपसे अत्यासक्ति होनेके कारण सूर्पणखाको गर्मीमें हथिनीके समान दारुण विरह ताप हो रहा था अतएव कुल्ला करके जो पानी वह मुखसे फेंकती थी वह गलानेके साँचेमें पड़ी ताम्र धातुके समान होता था ।

द्रौपदीपर अत्यन्त मोह होनेके कारण कीचककी भी वही अवस्था हो गयी थी जो गर्मी-में हथिनीकी होती है । मुखसे वैसा ही उष्ण पानी निकलता था जैसा कि घरियामें तपाया गया लाल धातु होता है ॥ १२ ॥

कर्णके भूषण नीलकमलोंकी पंखुड़ियोंके मित्र उस लक्ष्मणके दीर्घ कटाक्षोंसे आत्म-विस्मृत रावणकी बहिनको न तो अपने मानका विचार था और न अपने पुलस्त्य कुलका ही ध्यान था । उचित ही है क्योंकि कामातुर लोगोंको विवेक नहीं होता है ।

---

१. श्लेषोपमालङ्कारः—प. द. । २. बात—द० । ३. श्लेषोपमालङ्कारः—प. द. । ४. दारुणेनेति पाठः प्रतिभाति । ५. श्लेषोपमाऽलङ्कारः—प०, द० ।

भारतीयः—तस्याः द्रौपद्याः वतंसोत्पलपत्रमैत्रीं गतैः कटाक्षैः, शेषं प्राग्वत्, असौ कीचकः। अर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥१३॥

तत्रैव चेतोनयनेन्द्रियेषु स्थितेषु दूतेष्विव लोभितेषु।
जातेषु चान्तःप्रकृतिक्षतेषु देहावशेषेण कथञ्चिदस्थात् ॥१४॥

तत्रेति—असौ रावणस्वसा कथञ्चिन्महता कष्टेन देहावशेषेण शरीरमात्रेणास्थात् स्थितवती। केषु सत्सु ? चेतोनयनेन्द्रियेषु मनःस्पर्शनरसनाघ्राणनेत्रश्रवणेषु प्रद्युम्न तत्र लक्ष्मणे स्थितेषु सत्सु। कथम्भूतेषु ? लोभितेषु। केष्विव ? दूतेष्विव। चकारः समुच्चयार्थः। अन्तःप्रकृतिक्षतेषु अन्तरङ्गस्वभावनाशेषु च जातेषु सत्स्विति सम्बन्धः।

भारतीयः—तत्रैव द्रौपद्यामेव लोभितेषु दूतेष्विव चेतःप्रभृतिषु स्थितेषु अन्तःप्रकृतिक्षतेषु स्वाम्यादिप्रकृतिनाशेषु जातेषु सत्सु देहावशेषेण कथञ्चिदस्थात् असौ कीचक इति सम्बन्धः[1] ॥१४॥

ततश्चकाङ्क्ष स्मरमोहहेतुं बलाद्ग्रहीतुं सविशीर्णचेताः।
तान्तापयुक्तस्थितिरेत्य सान्तं नाशे हि जन्तुं मतिरप्यपैति ॥१५॥

तत इति—ततः चिन्तयाऽस्थिचर्मावशेषशरीरावस्थानन्तरं सा रावणस्वसा बलाद्धठेन स्मरमोहहेतुं कन्दर्पवैचित्त्यकारणं लक्ष्मणं चकाङ्क्ष वाञ्छति स्म। किं कर्तुम् ? ग्रहीतुमङ्गीकर्तुम्। किं कृत्वा ? पूर्वमेत्यागत्य प्राप्येत्यर्थः। कम् ? सान्तं साया लक्ष्म्या अन्तः विनाशः सान्तः तमङ्गलावण्यस्थानिम्। कथम्भूता सती ? सविशीर्णचेताः विशीर्णञ्च तच्चेतश्च विशीर्णचेतः विशीर्णचेतसा सह वर्तमाना सविशीर्णचेताः कामोद्रेकनष्टचित्तेत्यर्थः। पुनः तान्ता क्षीणा। पुनः अपयुक्तस्थितिरपयुक्ता स्थितिर्यस्या अन्यायमार्गप्रवृत्तिः। 'अर्थान्तरमाह—हि स्फुटं जन्तुं प्राणिनं नाशे मरणकाले मतिरपैति त्यजति का वार्ताऽन्येषामिति सम्बन्धः।

भारतीयः—स कीचकः बलात् स्मरमोहहेतुं तां द्रौपदीं ग्रहीतुं चकाङ्क्ष। कथम्भूतः ? तापेन युक्ता स्थितिर्यस्य सः तापयुक्तस्थितिः कामज्वरजनितावस्थः। शेषं पूर्ववत्[2] ॥१५॥

कर्णके भूषण नीलकमलोंके दलों तक फैली द्रौपदीकी चंचल आँखोंकी चितवनने कीचकके मनको अभिभूत कर लिया था अतएव उस कामीको अपने स्वाभिमान या कुलका ख्याल न था ॥ १३ ॥

सूर्पणखा अथवा कीचकके मन, नयन आदि इन्द्रियाँ लोभी दूतोंके समान लक्ष्मण अथवा द्रौपदीमें ही लीन हो जानेसे उसका अन्तरंग स्वभाव (चेतना) खण्डित हो गयी थी अतएव वह किसी प्रकार शरीरसे ही जी रहे थे।

कामिनी काञ्चन-पदादिके लोभके कारण दूत रूपी इन्द्रियाँ शत्रुके वशमें हो जानेपर तथा अपनी प्रकृतिके विरुद्ध हो जानेपर राजाका राज्य भी उसके शरीरमें ही सीमित हो जाता है ॥ १४ ॥

अन्वय—ततः सविशीर्णचेताः, तान्ता, अपयुक्तस्थितिः सा अन्तं एत्य स्मरमोहहेतुं बलाद्ग्रहीतुं चकाङ्क्ष। नाशे मतिरपि जन्तुं अपैति।

इसके बाद दुर्बल शरीरधारिणी तथा अमार्गमें प्रवृत्त उस सूर्पणखाने मनके अत्यन्त विक्षिप्त हो जानेसे अन्तमें अपने काम-ज्वरके कारण लक्ष्मणको बलपूर्वक पकड़नेकी इच्छा की। विनाशके समय प्राणीकी बुद्धि भी बिगड़ जाती है।

अन्वय—सान्तं एत्य विशीर्णचेताः तापयुक्तस्थितिः स…।

इसके अनन्तर अनहोनीके आ जानेके कारण दुर्बल मन तथा विरह तापमें धधकते इस कीचकने द्रौपदीको जबरदस्ती पकड़ बुलानेको ठानी थी क्योंकि 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' ॥ १५ ॥

---

१. श्लेषालङ्कारः—प०, द०। २. अर्थान्तरन्यासालङ्कारः—प०, द०।

आकारमादाय विनीतवेषं शृङ्गारमारोप्य यथाभिजातम् ।
कथञ्चिदभ्येत्य कृतावगूढं प्रचक्रमे वक्तुमिति प्रसन्नम् ॥१६॥

आकारमिति–इति वक्ष्यमाणापेक्षया शूर्पणखा कीचकश्च वक्तुं भाषितुं प्रचक्रमे प्रारेभे । कथं यथा प्रसन्नम् । किं कृत्वा ? पूर्वमभ्येत्यागत्य । कथम् ? कथञ्चिन्महता कष्टेन । कथम् ? यथा कृतावगूढं किञ्चिल्लोचने चरणौ च बहिः कृत्वा कृतशरीरावरणं यथा भवति । किं कृत्वा ? पूर्वमारोप्य गृहीत्वा । कम् ? शृङ्गारम् । कथम्भूतम् ? विनीतवेषं विनीतो वेषो यत्र तम् । कथम् ? यथाऽभिजातमवसरोचितम् । किं कृत्वा ? पूर्वमाकारं कोपप्रसादजनितशरीरप्रकृतिमादाय गृहीत्वा ॥१६॥

जानामि किञ्चिन्त्रपया न वक्तुं विवक्षितं सूचयति व्यवस्था ।
सत्यां कियत्यामपि संवृतौ हि दुःखं सुखं वा निगदन्ति चेष्टाः ॥१७॥

जानामीति–त्रपया लज्जया किञ्चिद्वक्तुं न जानामि न वेद्मि विवक्षितं वक्तुमिष्टं व्यवस्था दशा कर्त्री सूचयति कथयति । हि स्फुटं कियत्यामपि संवृतौ कल्पनायां सत्यां सुखं दुःखं वा कर्म चेष्टाः प्रवर्त्तनाः निगदन्ति कथयन्ति[1] ॥१७॥

श्रव्याणि वाचालतयैव तन्व्या त्वया मयोक्तानि मनीषितानि ।
गवाक्षजालीकृतचेतसो मे स्मरस्य बाणैः शरणं भव त्वम् ॥१८॥

श्रव्याणीति–तन्व्या कृशाङ्ग्या मया शूर्पणखया वाचालतयैव मुखरतयैव उक्तान्यभिहितानि मनीषितानि अभिलषितानि त्वया लक्ष्मणेन श्रव्याणि अतएव स्मरस्य मदनस्य बाणैः गवाक्षजालीकृतचेतसः सच्छिद्रीकृतमनसः मे त्वं शरणं भव ॥१८॥

शार्ङ्गं पिनाकं धनुरिन्द्रचापं दिव्यं वहन्तोऽपि न जेतुमीशाः ।
शरासनं पौष्पमयं दधानस्त्रैलोक्यमालीढगतं करोति ॥१९॥

शार्ङ्गमिति–शार्ङ्गं शृङ्गविकारं धनुः नारायणः, पिनाकम् अपि समन्तात् नाके स्वर्गे भवं पिनाकं पृषोदरादित्वादापस्य अकारस्य लोपः । लोकप्रसिद्धं पिनाकं धनुरीश्वरः, इन्द्रचापं दिव्यं दिवि भवं गगनसमुद्भवं धनुः इन्द्रः, एवमेते हरिहरसुरेन्द्राः स्वकीयं स्वकीयं धनुः कर्मभूतं वहन्तोऽपि त्रैलोक्यं त्रिभुवनं कर्म-

---

शिष्ट वेष बनाकर, कुलीनोंके उपयुक्त शृङ्गार करके तथा प्रसन्न मुखादिकी मुद्रा करके अपने वास्तविक रूपको सर्वथा छिपाकर किसी प्रकारसे लक्ष्मण अथवा द्रौपदीके पास पहुँचकर उस सूर्पणखा अथवा कीचकने निम्न प्रकारसे बातें कहनी प्रारम्भ की थीं ॥ १६ ॥

मैं लज्जाके कारण कुछ भी कहना नहीं जानती (ता) हूँ । मेरी शारीरिक दशा ही मेरे भावोंको स्पष्ट कर रही है । कितना भी छिपानेका भगीरथ प्रयत्न करनेपर प्राणीकी चेष्टाएँ उसके सुख अथवा दुःखको प्रकट कर देती हैं ॥ १७ ॥

कामवेदनासे कृश शरीर मुझ सूर्पणखा-द्वारा वाचालता पूर्वक प्रकट किये गये मनके भाव तुम्हें सुनना ही चाहिये । कामदेवके बाणोंने मेरे मनको छलनी बना दिया है अतएव आप मुझे शरण देवें ।

पुरुष सुलभ वावदूकता पूर्वक मुझ कीचक-द्वारा कही गयी मनकी बातको कृशांगी तुम्हें ध्यानसे सुनना चाहिये''' ॥ १८ ॥

लोकोत्तर (शार्ङ्ग) सींगसे बने धनुषका धारी तथा स्वर्गीय इन्द्र धनुषधारी देवेन्द्र भी त्रिलोकको जीतनेमें समर्थ नहीं होते हैं किन्तु यह कामदेव केवल फूलोंसे बने धनुषको ही उठाकर तीनों लोकोंको अपने एकतन्त्रमें मिला लेता है ॥ १९ ॥

---

१. अर्थान्तरन्यासाऽलंकारः–प०, द० ।

भूत्वा जेतुमभिभवितुं न ईशाः न समर्थाः । अयं स्मरः "कर्ता" पौष्पं पुष्पाणामिदं पौष्पं कुसुममयं शरासनं धनुः "कर्म" दधानः धरन् त्रैलोक्यमालीढगतम् आलीढः स्थानविशेषः तद्गतं करोति आलीढमध्यवर्त्ति विदधाति ॥१९॥

त्वं जीविकाकृत्य निदेशमिच्छुं प्रतीच्छ मां भक्तियुजं दयात्मा ।
तवास्मि दासी वशवर्त्तिनी मे त्वयि स्थितं जीवितमित्यवेहि ॥२०॥

त्वमिति–हे लक्ष्मण त्वं भवान् प्रतीच्छ स्वीकुरु । काम् ? माम् । कथम्भूतस्त्वम् ? दयात्मा कारुण्यमूर्त्तिः । कथम्भूतां माम् ? भक्तियुजं सेवापरिणताम् । पुनः इच्छुमिच्छन्तीम् । कम् ? निदेशमादेशम् । किं कृत्वा ? पूर्वं जीविकाकृत्य जीविकामिव कृत्वा । कम् ? त्वां भवन्तम् । उत्तरार्द्धं सोपस्कारतया व्याख्यायते–यस्मात्कारणात् तव भवतः दासी चेटी अस्मि भवामि । कथम्भूता ? वशवर्त्तिनी आज्ञाविधायिनी । तस्मान्मे मम सम्बन्धित्वेन जीवितं प्राणनं त्वयि भवति स्थितमित्यवेहि जानीहि त्वमिति सम्बन्धः ।

भारतीयः–हे द्रौपदि त्वं भवती मां कीचकनामधेयं नृपं प्रतीच्छ । कथम्भूता सती ? दयात्मा । कथम्भूतं माम् ? भक्तियुजम् । पुनः इच्छुमिच्छुकं निदेशमन्यत्पूर्ववत्[1] ॥२०॥

सम्भाषणेनापि न मे विषादं विषादभावेन जिहीर्षसि त्वम् ।
नाभाषणं कल्पतरोस्तवापि फलान्तरायाय हि कल्पयन्ति ॥२१॥

संभाषणेनेति–हे लक्ष्मण त्वं भवान् मे मम विषादं मनोग्लानिं सम्भाषणेन कृत्वा जिहीर्षसि हर्तुमिच्छसि । नापि विषादभावेन क्रूरपरिणामेन । युक्तमेतत् । हि स्फुटं कल्पतरोः कल्पवृक्षस्य तव भवतः अभाषणमपि न कल्पयन्ति न आमनन्ति विद्वज्जनाः कस्मै फलान्तरायाय फलविघ्नायेति सम्बन्धः ।

भारतीयः–पूर्वार्धे हे द्रौपदि, त्वं भवती मे मम कीचकस्येति ज्ञेयम् । अथोत्तरार्द्धे भवत्या इति बोद्धव्यम् । अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामत्वादिति सम्बन्धः ॥२१॥

कथां तदीयां स निशम्य भीमः प्रभाव्य सौमित्र्यभिधानरूढः ।
राजाग्रजादर्शितकार्यसिद्धिरन्तर्मदोऽन्तःकुपितः करीव ॥२२॥

कथामिति–स लोकप्रसिद्धः राजा नृपः तथा कुपितवान् । कथम् ? अन्तः (अन्तः) करणे । कथम्भूतः ? सौमित्र्यभिधानरूढः सौमित्रिनामप्रसिद्धः लक्ष्मण इत्यर्थः । पुनः कथम्भूतः ? अन्तर्मदः त्रैलोक्यमध्ये न कश्चिन्ममोपरि तिष्ठतितरामिति गर्विष्ठः । पुनः अग्रजादर्शितकार्यसिद्धिः अग्रजस्य रामस्य आदर्शिता

हे दयालु लक्ष्मण ! भक्तिपूर्वक सेवामें उपस्थित तथा आजीविका करनेवाली दासीके समान और तुम्हारी आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़ी मुझको स्वीकार करो । मैं तुम्हारी अत्यन्त अनुगत दासी हूँ । यही समझो कि मेरा जीवन तुमपर आश्रित है ।

अन्वय–वशवर्तिनी दासी दयात्मा त्वं भक्तियुजं निदेशमिच्छुं मां प्रतीक्ष तव जीविका कृत्यास्मि ।

विराटके यहाँ आज्ञाकारिणी दासी तुम कृपामूर्ति द्रौपदी प्रेमसे प्रेरित और तुम्हारे संकेतकी प्रतीक्षामें खड़े मुझे कृतार्थ करो मैं तुम्हारी दासताका अन्त कर दूँगा क्योंकि मेरा जीवन इस समय तुम्हारे हाथमें है ॥ २० ॥

कुपित अथवा दुःखी होकर तुम (लक्ष्मण अथवा द्रौपदी) चार बातें कहकर भी मेरे मनके शोकको दूर नहीं करते (करती) हो [कोई बात नहीं] कल्प वृक्षके समान आपका भी मौन मेरी इच्छित वर-प्राप्तिमें बाधक न होगा [अभाषण (गाली) देनेपर भी कल्पवृक्ष इच्छित फल देते हैं] ॥ २१ ॥

अन्वय–सौमित्र्यभिधानरूढः सः तदीयां कथां निशम्य भीमः राजाग्रज-आदर्शित कार्यसिद्धिः अन्तर्मदः करीव अन्तः कुपितः ।

सौमित्र्य (सुमित्राका पुत्र) नामसे ख्यात वह लक्ष्मण सूर्पणखाकी बीभत्स प्रेम-चर्चाको

---

१. श्लेषालङ्कारः–प०, द० । २. अर्थान्तरन्यासालङ्कारः–प०, द० ।

कार्यसिद्धिर्येन स तथोक्तः । पुनः भीमः भयोत्पादकः । किं कृत्वा ? पूर्वं प्रभाव्य पर्यालोच्य । पुनः कथां वार्तां निशम्य श्रुत्वा । कथम्भूतां कथाम् ? तदीयां शूर्पणखीयाम् । उपमार्थः प्रदर्श्यते करीव । इव यथार्थे । यथा करी हस्ती कुप्यति । कथम् ? अन्तः । कथम्भूतः ? अन्तर्मदः बहुमूत्रस्रवणादिमान् । पुनः राजाग्रजादर्शितकार्यसिद्धिः राज्ञोऽग्रजः राजाग्रजः राजपट्टयोग्यः आदर्शिता कार्यसिद्धिर्येन स आदर्शितकार्यसिद्धिः प्रकटितशत्रुजयप्राप्तिः राजाग्रजश्चासौ आदर्शितकार्यसिद्धिश्च राजाग्रजादर्शितकार्यसिद्धिः । पुनः भीमः रौद्रः सन् । पुनः सौमित्र्यभिधानरूढः शोभनं मित्रं यस्य सः सुमित्रः तस्य भावः सौमित्री सौमित्र्येवाभिधानं सौमित्र्यभिधानं तस्मिन् रूढः अव्यभिचारितया वीरसम्बर्जनसहाय इत्यर्थः । किं कृत्वा ? पूर्वं प्रभाव्य समर्थो भूत्वा । पुनस्तदीयां हस्तिसंबन्धित्वेन लोकप्रसिद्धः सः महामात्रकः तस्येमां तदीयां यन्तृसम्बन्धिनीं शिक्षालापादिलक्षणां कथां सङ्केतं निशम्याकर्ण्य ।

भारतीयः—स लोकविख्यातः राजा भीमः द्वितीयपाण्डवो भीमसेनः कुपितः । किं कृत्वा ? पूर्वं तदीयां कीचकसम्बन्धिनीं कथां निशम्य । कथम्भूतो भीमः ? प्रभावी माहात्म्यवान् प्रतापी च । पुनः मित्र्यभिधानरूढः मित्रमस्यास्तीति मित्रि मित्रि च तदभिधानश्च मित्र्यभिधानं रूढं यस्य स मित्र्यभिधानरूढः मैत्रीं प्राप्त इत्यर्थः । क्व असौ कृपाणे । पुनः कथम्भूतः ? अग्रजस्य युधिष्ठिरस्य आदर्शितकार्यसिद्धिरित्यभिप्रायो धनञ्जयस्य कवेः । अथवा राज्ञो युधिष्ठिरस्य परेषां राज्ञां वाऽग्रजा भाविनी आदर्शिता कार्यसिद्धिर्येन स तथोक्त इति विशेषो नेमिचन्द्रमुनेः । पुनरन्तर्मदोऽहङ्कारी । अत्र करीशोपमार्थः पूर्वोपन्यासोपक्षिप्तः पूर्ववद्बोद्धव्य इति सम्बन्धः । श्लेषोपमा ॥ २२ ॥

अभ्येत्य निर्भर्त्स्य जगाद वाचं स्त्रीत्वं परागच्छ न वध्यवृत्तिः ।
प्रेङ्खोलिताङ्गं रसनाकरेण मृत्योर्द्विजान्दोलनमिच्छसीव ॥२३॥

अभ्येत्येति—स लक्ष्मणः वाचं वचनं जगाद उक्तवान् । किं कृत्वा ? पूर्वं निर्भर्त्स्य सन्तर्ज्य । किं कृत्वा ? पूर्वमभ्येत्य सम्मुखीभूय । सोपस्करतया व्याख्रियते कस्मात्कारणात् परा परकीया भार्या । अतः कारणात् गच्छ याहि । तथा सति न जायसे त्वम् । कथं भूता ? वध्यवृत्तिः मारणयोग्येत्यर्थः । यत इच्छसीव वाञ्छसीव त्वम् । किम् ? द्विजान्दोलनं दन्तोत्पाटनम् । कस्य मृत्योर्यमस्य । कथम्भूतम् ? प्रेङ्खोलिताङ्गं प्रेङ्खोलितं दोलितमङ्गं यत्र तत् दोलायितशरीरम् । केन कृत्वा ? रसनाकरेण जिह्वाहस्तेनेति सम्बन्धः ।

सुनकर रुष्ट हो गया था तथा राजा बड़े भाई (राम) की सेवा तथा सफलता ही एकमात्र आदर्श होनेके कारण स्वाभाविक मनस्वी वह हाथीके समान वास्तवमें कुपित हो उठा था ।

अन्वय—अन्तर्मदः, राजाग्रजादर्शितकार्यसिद्धिः, भीमः करी तदीयां संकथां निशम्य प्रभाव्य सौमित्र्यभिधानरूढः इव अन्तः कुपितः ।

मदावस्थाको प्राप्त अतएव भयंकर तथापि राजाकी सेनाके आगे-आगे चलनेवाला तथा विजय और सफलताका प्रतीक हाथी हस्तिपकके (व्यर्थ) उपदेशको सुनकर तथा उसपर विचार करके लक्ष्मणके समान मन ही मन रुष्ट हो गया था ।

अन्वय—अन्तर्मदः, प्रभावी, असौ मित्र्यभिधानरूढः, राजाग्रजादर्शितकार्य-सिद्धिः स भीमः तदीयां कथां निशम्य करीव अन्तःकुपितः ।

स्वभावसे ही अहंकारी, अत्यन्त प्रभावशाली, खड्गसे प्रीतिके लिए आख्यात अर्थात् गदा-चालक ज्येष्ठ भ्राता राजा युधिष्ठिर अथवा भविष्यमें होनेवाले न्यायी राजाओंकी सफलताको ही आदर्श माननेवाला वह भीम कीचकके नीच प्रस्तावको सुनकर उन्मत्त हाथीके समान क्रोधसे जल उठा था ॥ २२ ॥

अन्वय—अभ्येत्य, निर्भर्त्स्य वाचं जगाद, त्वं परा-स्त्री, गच्छ, न वध्य-वृत्तिः रसनाकरेण प्रेङ्खोलिताङ्गं मृत्योः द्विजान्दोलनम् इच्छसि ।

सूर्पणखाकी ओर मुड़ते हुए लक्ष्मणने भर्त्सनाके साथ कहा था—परायी स्त्री हो इसलिए चली जाओ । तुम स्त्री हो इसीलिए तुम्हें मारता नहीं हूँ, यद्यपि तुमने जिह्वारूपी हाथके द्वारा मौतके शरीरको हिलाकर उसके दांत तोड़ते ऐसी मूर्खता की है ।

भारतीयः—स भीमः वाचं जगाद। किं कृत्वा ? पूर्वं निर्भर्त्स्य । पुनरभ्येत्य । हे पर हे शत्रो हे कीचक आगच्छ किम् ? स्त्रीत्वं स्त्रीस्वरूपं तेन स्त्रीत्वेन न बध्यवृत्तिः । रसनाकरेण कृत्वा प्रेङ्खोल्लिताङ्गं मृत्योः सम्बन्धित्वेन द्विजान्दोलनमिच्छसीवेति सम्बन्धः[1] ॥२३॥

स्वजीविते निर्विजसे यदि त्वं विशानलं वा गिल कालकूटम् ।
तेनाहतेयं महिलेति मे मा कृथा जनोदाहरणं दुरन्तम् ॥२४॥

स्वजीवित इति—यदि निर्विजसे निर्विण्णा जायसे त्वम्। क ? स्वजीविते। तदा विश प्रविश। कम् ? अनलमग्निं वा। अथवा कालकूटं विषं गिल खाद। मा माकृथा मा कुरु त्वम्। किम् ? जनोदाहरणं लोकदृष्टान्तम्। कीदृशम् ? दुरन्तं दुर्निवार्यम्। कस्य ? मे मम। कथमिति ? तेन लक्ष्मणेन तेन भीमेन च आहता इयं महिला स्त्रीति सम्बन्धः। स्वभावाख्यानमिदम् ॥२४॥

आशङ्कसे चेत्परिभावमर्य्यस्तवास्ति यद्यानय तं बलिष्ठम् ।
अतो मुखेनाहितवान्पदं स्यान् महारथः साहसिकः स एव ॥२५॥

आशङ्कस इति—चेद्यदि आशङ्कसे मन्यसे त्वम्। कम् ? परिभावम्। यदि तव अर्यः स्वामी अस्ति विद्यते तदा तं बलिष्ठमर्यमानय त्वम्। युक्तमेतत्। अतः कारणात् आहितवानारोपितवान्। किम् ? पदं पदवीम्। केन कृत्वा ? मुखेन वदनेन। स महारथः सत्पुरुषः साहसिक एव धैर्यवानेव स्यादिति सम्बन्धः। अर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥२५॥

महीं समूहन्तमिवाक्षिपन्तं ब्रध्नं प्रतापाग्निमिवोद्गिरन्तम् ।
ब्रुवाणमाक्षिप्य गिरं तथाऽसौ निर्घातपातोपहतं जगर्ज ॥२६॥

महीमिति—स्व स्वकथापेक्षया यथा लक्ष्मणभीमौ भाषितवन्तौ तेनैव प्रकारेण रामायणीयभारतीयकथापेक्षया असौ शूर्पणखा कीचकश्च जगर्ज गर्जितवती गर्जितवांश्च। कथम् ? यथा भवति। निर्घातपातोपहतं विद्युल्लतापातसमर्दितम्। किं कृत्वा ? पूर्वमाक्षिप्य दुर्वचनशल्यैर्निहत्य। कम् ? लक्ष्मणं भीमञ्च। कथम्भूतम् ? गिरं वाणीं ब्रुवाणं भाषमाणम्। किं कुर्वाणमिव ? महीं पृथ्वीं समूहन्तमिव गिलन्तमिव, ब्रध्नं सूर्यमाक्षिपन्तमिव उल्लिखन्तमिव प्रतापाग्निं वीरविपक्षभयोत्पादनवार्त्तादहनमुद्गिरन्तमिव। उक्तञ्च—"प्रतापो यस्य वार्त्ताऽपि राज्ञां स्याद्भयकारिणी" इति सम्बन्धः। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥२६॥

कीचकके पास जाकर गर्जते हुए भीमने कहा था—दूसरेकी पत्नीके पास कुभावसे जाकर भी तुम अपनेको अवध्य समझते हो। अरे मूर्ख, यमके शरीरको झकझोर करके जिह्वा-रूपी हाथसे उसके दाँत उखाड़ने-ऐसी नीचता क्यों करता है ॥ २३ ॥

यदि तुम्हें अपने जीवनसे घृणा हो गयी है तो आगमें जल मरो या कालकूट विषका पान कर लो। उस लक्ष्मण अथवा भीमने ५५ स्त्रीको भी मार डाला था ऐसा निन्दनीय मेरा उदाहरण भविष्यके लिए मत होने दो ॥२४॥

यदि इसमें अपना अपमान समझते हो और तुम्हारा स्वामी कोई है तो उसी बलवान-को बुला लाओ। क्योंकि जिसने अपने वचनों-द्वारा तुम्हें किसी पदपर बैठाया है उसी महा-रथी और साहसीसे निपट लिया जायगा ॥२५॥

पृथ्वीको निगलते हुए-से, सूर्यको आकाशसे नोचकर फेंकते-से, प्रतापकी अग्निको उगलते हुए-से और पूर्वोक्त प्रकारसे बोलते हुए लक्ष्मण अथवा भीमकी बातको काटती हुई सूर्पणखा अथवा कीचक ऐसे जोरसे बोला था जैसे बिजली ऊपर गिरनेपर कोई चिंघाड़ता है ॥२६॥

---

१. अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः—प०, द०।

काष्ठां गिलन्तीव भुवं वियच्च भित्वा व्रजन्तीव मनो जनानाम् ।
विदारयन्तीव वचांस्यवोचत् सामान्यवृत्तिः स महानियोगात् ॥ २७ ॥

काष्ठामिति–सा रावणस्वसा वचांस्यवोचत् । कथम्भूता ? अमान्यवृत्तिः न मान्या वृत्तिर्यस्या असौ निन्द्याचारेति । कस्मात् ? समहानियोगात् शम्बुकुमारविरहो लक्ष्मणसम्भोगवैयर्थ्यमिति युगपद्धानिसम्बन्धात् ! किं कुर्वाणेव ? काष्ठां दिशं गिलन्तीव व्रजन्तीव । गच्छन्तीव । किं कृत्वा ? पूर्वं भित्वा विदार्य । काम् ? भुवं पृथ्वीं वियच्च गगनञ्च । पुनः जनानां मनः विदारयन्तीव ।

भारतीयः–स कीचकः वचांस्यवोचत् । कथम्भूतः ? सामान्यवृत्तिः साम्नोऽन्यो दण्डः तस्मिन् वृत्तिः वर्त्तनं यस्य सः । कस्मात् ? महानियोगात् गुरुतरनिबन्धात् । किं कुर्वन्तीव वचांसि ? काष्ठां गिलन्तीत्यादि द्वितीयाबहुवचनान्तानि वचांसीत्यस्य विशेषणानि समानार्थानि प्राग्वत्[1] ॥ २७ ॥

नापत्यघातं प्रतियुज्य वाचा बहुप्रलापिन्नपयाति जीवन् ।
भवानभिज्ञः खरदूषणस्य नाद्यापि युद्धेषु पराक्रमस्य ॥ २८ ॥

नेति– हे बहुप्रलापिन् लक्ष्मण जीवन्नापयाति नापसरति । कया ? वाचा वचनेन । किं कृत्वा ? पूर्वं प्रतियुज्य प्रविधाय । कम् ? अपत्यघातं पुत्रवधम् । यतोऽद्यापि साम्प्रतमपि अभिज्ञो न कुशलो न भवति भवान् । केषु खरदूषणस्य युद्धेषु रणेषु । खरदूषणं समाहारापेक्षयैकत्वम् । कथम्भूतस्य ? पराक्रमस्य परान्, शत्रून् आक्रमतीति पराक्रमः तस्य ।

भारतीयः–हे बहुप्रलापिन् हे भीम वाचा कृत्वा जीवन्नापयाति । किं कृत्वा ? पूर्वं प्रतियुज्य सम्बध्य । कम् ? घातं वधम् । किं कृत्वा ? पूर्वमापत्यागत्य । दस्माल्कारस्मात् अद्यापि नाभिज्ञः न प्रगल्भः ।

अन्वय—अमान्यवृत्तिः काष्ठां गिलन्तीव, भुवं वियच्च भित्वा व्रजन्तीव जनानां मनो विदारयन्तीव सा समहानियोगात् वचांसि अवोचत् ।

निन्दनीय आचरणमें लीन वह सूर्पणखा दिशाओंको निगलती हुई के समान, पृथ्वी और आकाशको नष्ट करके भागती हुई के तुल्य तथा लोकोंके मनोंको फाड़ती हुई सी एक ही साथ दो-दो (पुत्र-मरण, प्रिय-द्वारा तिरस्कार) हानि होनेके कारण लक्ष्मणसे बोली थी ।

अन्वय—सामान्यवृत्तिः स महानियोगात्......... ।

राजाके द्वारा भी दण्डनीय आचरणशील वह कीचक अत्यन्त आसक्त होनेके कारण दिशाओंमें व्याप्त, पृथ्वी और आकाशको एकमेक करनेवाले तथा लोकोंके हृदयोंको दहलाते वचन बोला था ॥२७॥

अन्वय—बहुप्रलापिन् अपत्यघातं प्रतियुज्य वाचा जीवन् नापयाति । युद्धेषु अद्यापि पराक्रमस्य खरदूषणस्य भवान् अभिज्ञः न ।

अरे बहुत बोलनेवाले लक्ष्मण ! मेरे पुत्र शम्बुकुमारको मारकर केवल बातें बनाकर ही जीवित वापस न जा सकोगे । युद्धोंमें आज भी शत्रुओंपर टूटनेवाले खरदूषणको आप जानते नहीं हैं !

अन्वय—बहुप्रलापिन् ! आपत्य वाचा घातं प्रतियुज्य जीवन् न अपयाति भवान् अद्यापि युद्धेषु पराक्रमस्य खरदूषणस्य अभिज्ञः न ।

अरे व्यर्थ ही बड़बड़ानेवाले ! अकस्मात् आकर कोलाहल-द्वारा मेरे इष्ट कार्यमें बाधा डालकर जीवित वापस नहीं जा सकते हो । आज भी आप नहीं जानते हैं कि

---

१. श्लेषाऽलङ्कारः–प०, द० ।

...षु ? युद्धेषु । कस्य ? पराक्रमस्य पौरुषस्य । कथम्भूतस्य ? खरदूषणस्य खरं दूषणं यस्मात् यस्मिन्वा ...स्य तथोक्तस्य तीव्रापराधस्येत्यर्थः । श्लेषालङ्कारः ॥ २८ ॥

वैरायते मे मतिरस्ति शक्तिरागच्छ सम्पादय सम्परायम् ।
वेत्सि प्रतापं रिपुवंशदावं कथं न मत्तो दशकन्धरोत्थम् ॥ २९ ॥

वैरायत इति– हे लक्ष्मण मे मम मतिर्बुद्धिः वैरायते वैरं करोति । यदि शक्तिर्बलमस्ति तदागच्छ एहि सम्परायं युद्धं सम्पादय देहि । मत्तः सन् दशकन्धरोत्थं दश कन्धरा ग्रीवा यस्य तस्माद् रावणादुत्थं प्रतापं पौरुषं कथं न वेत्सि न जानासि । कथम्भूतं रावणीयप्रतापम् ? रिपुवंशदावं विपक्षान्वयदावानलम् ।

भारतीयः–हे भीम मे मम मतिर्वैरायते । शक्तिरस्ति चेत् आगच्छ । मत्तः मत्सकाशात् सम्परायं सम्पादय । प्रतापं कथं न वेत्सि । कथम्भूतं प्रतापम् ? रिपुवंशदावं रिपु वंशं घ्नन्ति छिन्दन्ति रिपुवंशदाः शत्रुकुलोच्छेदकाः पुरुषास्तान् अवति रक्षतीति रिपुवंशदावस्तम् । पुनः दशकं दश अवयवा यस्य तं दशकम् । पुनः धराया उत्था उत्थानं यस्मादसौ धरोत्थस्तं धरोत्थं धरोद्धरणसमर्थमित्यर्थः । दशकलक्षणम्–

> "सत्यं शौचं तथा शौर्यं स्थैर्यं धैर्यं सुधी(धी)रता ।
> क्षमा गम्भीरता चैव नैष्ठुर्यं चापि मन्त्रिता ॥
> एतैरवयवैर्युक्तो विजिगीषु[1]र्महीपतिः ।
> प्रतापेन[2] विपक्षाणां दुर्निवार्यो भवेद्ध्रुवम् ॥"

श्लेषालङ्कारः ॥ २९ ॥

इतीरयित्वाऽहितकम्पवेगं दष्टाधरं स्फारितरक्तनेत्रम् ।
भ्रूभङ्गजिह्मं कृतसिंहनादं जग्राह कायं भरतान्वयस्य ॥ ३० ॥

इतीति–असौ शूर्पणखा कायं शरीरं जग्राह गृहीतवती । कस्य ? भरतान्वयस्य लक्ष्मणस्येत्यर्थः । किं कृत्वा ? पूर्वमित्युक्तप्रकारेण ईरयित्वा अभिधाय । कथम्भूतं कायम् ? आहितकम्पवेगमारोपितकम्पवेगम् । पुनः दष्टाधरं चर्वितोष्ठम् । पुनः स्फारितरक्तनेत्रं प्रसारितारुणलोचनम् । पुनः भ्रूभङ्गजिह्मं भ्रूभङ्गमन्दम् । पुनः कृतसिंहनादं वितीर्णपञ्चाननध्वनिम् ।

युद्धोंमें किस प्रकार दूसरेपर आक्रमण किया जाता है और किस प्रकार उसकी सब सामग्रीको दूषित किया जाता है ॥२८॥

अन्वय—मे मतिः ते वैराय, शक्तिरस्ति आगच्छ सम्परायं सम्पादय रिपुवंशदावं दशकन्धरोत्थं प्रतापं मत्तः कथं न वेत्सि ।

तुम्हारी शत्रुता करनेका ही मेरा संकल्प है। यदि बल है तो आगे बढ़ो और युद्ध करो। शत्रुओंके कुलोंको जलानेवाले दशाननके प्रतापको अहंकारी तुम क्या नहीं जानते हो ?

अन्वय—मे मतिः वैरायते, शक्तिरस्ति सम्परायं सम्पादय । रिपुवंशद-आवं दशकं धरोत्थं प्रतापं मत्तः कथं न वेत्सि ।

हे भीम ! मेरे प्रति तुम्हारे मनमें वैर हो गया है। यदि बल हो तो मेरे अभीष्टमें बाधा डालो। शत्रुओंके कुलोंके भञ्जकोंके संरक्षक, सत्य,शौच, आदि दश अङ्गों युक्त तथा पृथ्वीको पालनेमें समर्थ पुरुषार्थको क्या मुझसे नहीं सीखोगे ? ॥२९॥

उक्त प्रकारके कटु शब्द कहकर क्रोधसे कांपती (ता), ओठोंको चबाती (ता), लाल-लाल आखोंको नटेरती (ता), भ्रकुटि टेढ़ी करनेके कारण अत्यन्त डरावनी (ना) तथा सिंहके

---

१. जिगीषोः पृथ्वीपतेः–द० । २. प्रतापो हि–द० ।

भारतीयः—असौ कीचकः कायं जग्राह । कस्य ? भरतान्वयस्य भरतस्य चक्रवर्त्तिनोऽन्वयो यस्य तस्य भीमवंशस्य भीमस्येत्यर्थः । किं कृत्वा ? पूर्वमित्युक्तप्रकारेण ईरयित्वा । आहितकम्पवेगमित्यादीनि क्रियापद-विशेषणानि बोद्धव्यानि[1] ॥ ३० ॥

चकम्पिरे किंपुरुषा भयेन दिशां विनेशुर्नगजा गजाश्च ।
मर्मप्रहारैः परुषैर्वचोभिस्तयोरभूत्तत्र महान्विमर्दः ॥३१॥

चकम्पिर इति—किंपुरुषाः देवविशेषाः चकम्पिरे कम्पिताः । (केन) भयेन । नगजाः पर्वतजाताः गजाः हस्तिनः विनेशुः विनष्टाः । नकारेण समुच्चयो गृह्यते, तेनायमर्थः दिशां सम्बन्धित्वेन गजाश्च विनष्टाः । तयोः लक्ष्मणशूर्पणखयोः—परुषैः कठिनैः वचोभिर्महान् विमर्दो युद्धमभूत् । क ? तत्र दण्डकारण्ये । कथंभूतैः ? मर्मप्रहारैः मर्मघातैः ।

भारतीयः—भयेन किम् पुरुषाः युधिष्ठिरादयः चकम्पिरे अपि तु न । मर्मप्रहारैः कृत्वा, दिशां गजा नगजा गजाश्च किं विनेशुः ? अपि तु न । कैः तयोः कीचकभीमयोर्वचोभिः । तत्र विराटभूमौ । महान् विमर्दोऽभूदिति सम्बन्धः[2] ॥३१॥

असंस्तुतं प्राप्य ततो निकारं भीमेन तेनोपहतात्मवृत्तिः ।
देशादयासीन्नियमेन कर्तुं क्षणादसौ विग्रहपीडितानि ॥३२॥

असंस्तुतमिति । असौ रावणभगिनी अयासीत् गतवती । कस्मात् ? देशात् दण्डकारण्यप्रदेशात् । किं कर्तुम् ? कर्तुं विधातुम् । कानि ? विग्रहपीडितानि युद्धमर्दनानि । कथम् ? क्षणात् अन्तर्मुहूर्त्तात् । केन-कृत्वा ? नियमेन निश्चयेन । कथंभूता सती ? उपहतात्मवृत्तिः उपहतस्वप्रवर्तना । केन कृत्वा ? तेन लक्ष्मणेन । कथम्भूतेन ? भीमेन भयङ्करेण । किं कृत्वा ? पूर्वं प्राप्य । कम् ? निकारं पराभवम् । कथम्भूतम् ? असंस्तुतम् अपरिचितम् । कस्याः ? ततः तस्याः शूर्पणखायाः सकाशादिति सम्बन्धः ।

समान गर्जती (ता) उस सूर्पणखा अथवा कीचकने भरतके वंशमें उत्पन्न लक्ष्मण अथवा भीमके शरीरको बलपूर्वक पकड़ लिया था ॥३०॥

किंपुरुष आदि व्यन्तर देव डरसे काँप उठे थे, दशों दिशाओंके पार्वतीय विशाल हाथी भी भाग चले थे तथा उस सूर्पणखा और लक्ष्मणका हृदयको छेदनेवाले कठोर शब्दों-द्वारा महान् वाक्युद्ध हुआ था।

लोकोत्तर पुरुष युधिष्ठिर आदि उक्त बातको सुनकर आश्चर्यसे क्या काँप उठे थे ? अर्थात् नहीं काँपे थे। क्योंकि कितने ही मर्मभेदी आघात किये जानेपर दिग्गजोंके समान उत्तम पार्वतीय हाथी पलायन नहीं करते हैं। इस प्रकार विराट् भूमिमें कीचक और भीमका कठोर और लम्बा संघर्ष हुआ था ॥३१॥

अन्वय—भीमेन तेनोपहतात्मवृत्तिः ततः असंस्तुतं निकारं प्राप्य असौ क्षणात् नियमेन विग्रह-पीडितानि कर्तुं देशात् अयासीत्।

अत्यन्त उग्र लक्ष्मणके द्वारा मनोरथ विफल कर दिये जानेके बाद अत्यन्त निन्दनीय रूपसे अपमानित की गयी वह सूर्पणखा तुरन्त ही; युद्धके द्वारा इसे निश्चित रूपसे सर्वथा कष्ट देनेके संकल्पपूर्वक दण्डक वनसे चली गयी थी।

अन्वय—ततः असंस्तुतं निकारं प्राप्य तेन भीमेन उपहतात्मवृत्तिः असौ क्षणात् नियमेन विग्रह-पीडितानि कर्तुं देशात् अयासीत्।

---

1. श्लेषाऽलङ्कारः—प., द० । २. श्लेषाऽलङ्कारः—प०, द० ।

अधुना भारतीयः पक्षः—असौ कीचकः देशात् विराटविषयात् अयासीत् गतवान्। किं कर्तुम्? कर्त्तुम्। कानि? विग्रहपीडितानि शरीरकदर्थनानि। केन कृत्वा? नियमेन तपसा। कथम्? क्षणात्। कथम्भूतोऽयासीत् कीचकः? उपहतात्मवृत्तिः। केन? कर्त्रा भीमेन वृकोदरेण। किं कृत्वा? पूर्वं प्राप्य। कम्? निकारं परिभवम्। कथम्भूतम्? असंस्तुतम्। कस्मात्? ततः कीचकादिति सम्बन्धः। श्लेषालङ्कारः।

तथावधूतोऽपकृतिं गतोऽपि जित्वा रुषं संयममेत्य राजा।
स वैरसन्देहमयं विहाय न्यायानुवृत्तिं पदवीं प्रपेदे ॥३३॥

तथेति—तथा तेनैव प्रकारेण सोऽयं राजा लक्ष्मणः न्यायानुवृत्तिं नीत्यनुयायिनीं पदवीं मार्गं प्रपेदे प्राप्तवान्। किं कृत्वा? वैरसन्देहं वैरसंशयं विहाय परित्यज्य। किं कृत्वा? पूर्वं संयममेत्य प्राप्य। पुनः किं कृत्वा? रुषं क्रोधं जित्वा उपशम्य। कथम्भूतः सन्? वधूतः शूर्पणख्याः (स्त्रावा) सकाशात्, पुनः अपकृतिमपकारं गतोऽपि।

भारतीयः—तथाऽवधूतः जटाजूटधारी लिङ्गी भूत्वा। किं कृत्वा? पूर्वमेत्य प्राप्य। कम्? संयमं तपश्चरणम्। किं कृत्वा? रुषं जित्वा। स कीचकः राजा न्यायानुवृत्तिं पदवीं प्रपेदे प्राप्तवान्। किं कृत्वा? देहमयं शरीरहेतुं रसं दुग्धदधिघृतादि विहाय विमुच्य। कथम्? वै स्फुटम्। कथम्भूतः कीचकः? अपकृतिं गतोऽपि ॥३३॥

स्वजानि कार्याणि निरूप्य हत्यां बलीयसस्तस्य च कौरवेण।
जिहीर्षता मानधनं बलेन सम्प्रेरितेनाभ्युदितं खरेण ॥ ३४ ॥

स्वजानीति—बलेन सैन्येनाभ्युदितं प्रस्तुतम्। कथम्भूतेन खरेण दूषणज्येष्ठभ्राता सम्प्रेरितेन। किं विशिष्टेन? कौ पृथिव्यां रवेण नादेन मानधनमभिमानधनं जिहीर्षता हर्तुमिच्छता। किं कृत्वा? पूर्वं स्वजानिकार्याण्यात्मीयभार्याकृत्यानि निरूप्य निवेद्य। कस्यां सत्याम्? तस्य प्रसिद्धस्य शम्बुकुमारस्य हत्यां वधे सति। कथम्भूतस्य तस्य? बलीयसः बलिष्ठस्य।

उक्त प्रकारसे कीचकके द्वारा अवमानित किये जानेपर उस भयंकर भीमने कीचकके प्राण ही संकटमें डाल दिये थे। फलतः उसने एक क्षणभरमें ही तपस्या-द्वारा अपने शरीरको कष्ट देनेकी प्रतिज्ञा करके विराट देशको ही त्याग दिया था ॥३२॥

अन्वय—तथा वधूतोऽपकृतिं गतोऽपि सोऽयं राजा रुषं जित्वा संयमं एत्य वैरसंदेहं विहाय न्यायानुवृत्तिं पदवीं प्रपेदे।

उक्त प्रकारकी पुंश्चली वधूसे विराधना किये जानेपर भी इस राजा लक्ष्मणने क्रोधको वशमें किया था, संयमसे काम किया था और शत्रुता तथा सन्देहको त्यागकर नीतिमार्गके अनुसार आचरण किया था।

अन्वय—तथा अपकृतिं गतोऽपि स अवधूतः राजा रुषं जित्वा संयमं एत्य, देहमयं रसं वै विहाय......।

उक्त प्रकारसे भीमके द्वारा अपकार किये जानेपर भी उस संन्यासी राजा कीचकने क्रोधको जीतकर संयम धारण किया था तथा देहकी पुष्टि और स्थितिके निमित्त दुग्ध, घी, आदि रसोंको भी त्यागकर धर्मशास्त्रानुकूल रसपरित्यागादि तपोंके आचरणमें लग गया था ॥३३॥

अन्वय—स्व-जानि-कार्याणि बलीयसः तस्य हत्यां च निरूप्य रवेण कौ मानधनं जिहीर्षता खरेण सम्प्रेरितेन बलेन अभ्युदितम्।

अपनी पत्नी पर बीती घटनाओं तथा अत्यन्त बलवान् उस शम्बुकुमारकी हत्याको जानकर आक्रमणके लिए आज्ञस सेनाके द्वारा समस्त पृथ्वीपर घोषणापूर्वक सबके स्वाभिमान रूपी धनके अपहरणके लिए उद्यत वह खर तमतमा उठा था।

भारतीयः—कौरवेण दुर्योधनेन सम्प्रेरितेन सम्प्रेषितेन बलेन अभ्युदितं प्रसृतम्। कथम्भूतेन कौरवेण? खरेण तीव्रेण। किं कुर्वता? अमानधनं प्रचुरगोधनं जिहीर्षता हर्तुमिच्छता। किं कृत्वा? पूर्वं स्वजानि कार्याण्यात्मीयानि कार्याणि निरूप्य निवेद्य। कस्यां सत्याम्? बलीयसः तस्य कीचकस्य हत्यां वधे सति। श्लेषालङ्कारः॥ ३४॥

आवारितो मध्यगतैः प्रबन्धैराहन्यमानोऽपि कृतावलेपः।
शब्दायमानः कलहायमानस्तूर्योत्करो दुर्जनमन्वियाय॥ ३५॥

आवारित इति–तूर्योत्करः तूर्यसमूहः दुर्जनमराजनम् अन्वियायानुचकार। कथम्भूतः? मध्यगतैरुदरस्थितैः प्रबन्धैर्वर्ध्रीभिः आवारितो नियन्त्रितः। पुनः आहन्यमानोऽपि सन् कृतावलेपः। यः किल आहन्यमानः स कथं कृतावलेपो विहितगर्वो जायत इति विरुद्धम्। परिह्रियते—कृततैलसम्पर्कः। कथम्भूतः? शब्दायमानः ध्वनिं कुर्वाणः। पुनः कलहायमानः कलहं कुर्वाणः। एवंविधो दुर्जनोऽपि भवति। कथम्भूतः? आवारितः निषिद्धः कैः कर्तृभिः मध्यगतैः मध्यस्थैः पुरुषैः। कैः कृत्वा? प्रबन्धैर्निर्बन्धैः। पुनः कृतावलेपः विहिताहङ्कारः। शेषं प्राग्वत्[1]॥ ३५॥

उन्मग्नशङ्खं श्रमफेनयुक्तमावर्तशुद्धं शफराजिलोलम्।
अश्वीयमुल्लङ्घनशीलमुद्यच्चक्राम कल्लोल इवाम्बुराशेः॥३६॥

उन्मग्नेति—अश्वीयमश्वानां बलं चक्राम चचाल। कथम्भूतम्? उन्मग्नसङ्खमक्ष्णोः प्रान्तप्रदेशाः शङ्खाः उन्मग्नाः शङ्खा यस्य तत् प्रव्यक्तचक्षुःसमीपप्रदेशम्। पुनः श्रमफेनयुक्तं श्रमोत्पन्नफेनपिण्डयुक्तम्। आवर्तशुद्धमावर्तैः भुवशुभनामधेयैः शुद्धं समीचीनम्। पुनः शफराजिलोलं खुरपङ्क्तिचञ्चलम्। पुनरुल्लङ्घनशीलमुत्प्लवनधर्माढ्यम्। किं कुर्वत्? उद्यत् ऊर्ध्वं गच्छत्। उपमार्थः प्रदर्श्यते। क इव चक्राम कल्लोल इव। यथा कल्लोलः तरङ्गः भ्रमति। कस्य? अम्बुराशेः समुद्रस्य। कथंभूतः? उन्मग्नशङ्खः उच्छलित-

---

अन्वय—बलीयसः तस्य हत्यां च स्वजानि कर्माणि निरूप्य अमानधनं जिहीर्षता खरेण कौरवेण सम्प्रेरितेन बलेन अभ्युदितम्।

बलवान् कीचक राजाकी मृत्यु हो जानेपर अपने स्वार्थोंकी सिद्धिको देखकर विपुल गोधनको चुरा लेनेके लिए तत्पर उस निर्दय कौरव दुर्योधनके द्वारा भेजी गयी सेना चारों ओर फैल गयी थी॥३४॥

बीचमें डाली गयी तांतकी डोरियोंसे खूब कसा गया युद्ध क्षेत्रमें मनमाने रूपसे बजाया गया तेल स्याही अथवा आटे आदिके लेप युक्त, एक दूसरेकी स्पर्द्धासे ही जोरोंसे बजते हुए बाजोंका समूह खलगोष्ठीके समान प्रतीत होता था। [क्योंकि दुर्जन भी हितैषी मध्यस्थ पुरुषोंके द्वारा अकार्यसे रोका जाता है, शासक मनचाही ताड़ना करते हैं। यह सब होनेपर भी वह अहंकार नहीं छोड़ता, बढ़-बढ़के बोलता है तथा झगड़ा करता फिरता है]॥३५॥

अन्वय—उन्मग्नशंखं, श्रमफेनयुक्तं, आवर्तशुद्धं, शफराजिलोलं, उल्लङ्घनशीलं, उद्यत् अश्वीयं अम्बुराशेः कल्लोल इव चक्राम।

आँखोंके पासका स्थान उठा तथा सुन्दर था, परिश्रमके झाग मुखसे टपक रहे थे, आवर्त आदि शुभ लक्षणोंसे युक्त थे, टापें अत्यन्त चंचल थीं, फलांग मारनेमें पटु थे तथा उचकते हुए घोड़ोंकी सेना समुद्रकी लहरोंके समान आगे बढ़ती जा रही थी [समुद्रकी लहरोंपर भी शंख बहते जाते हैं, थकानसे आनेवाले झागोंके समान झाग उठते हैं, उत्तम भौंरें

1. श्लेषोपमाऽलङ्कारः प०, द०।

कम्बुः । पुनः श्रमफेनयुक्तः श्रमयत्नेन श्रमफेनस्तेन युक्तः । पुनरावर्त्तशुद्धः आवर्त्ताः पयसां भ्रमास्तैः शुद्धः । पुनः शफराजिलोलः मीनगणचञ्चलः । पुनरुल्लङ्घनशीलः उत्प्लवनधर्मः । किं कुर्वाणः ? उद्यन्नूर्ध्वं गच्छन् । श्लेषः ॥३६॥

स्नेहाद्वहन्ती क्षणमुत्कटाक्षा वेश्येव शल्यं हृदये दधाना ।
उच्चाल्यमानातुरगैः परैश्च स्थानाद्विरोधेन चचाल रथ्या ॥३७॥

स्नेहादिति—रथ्या रथश्रेणी चचाल चलितवती । कस्मात् ? स्थानात् प्रदेशात् । केन कृत्वा ? विरोधेन । कथम्भूता ? परैः जातिश्रेष्ठैः तुरगैः हयैः उच्चाल्यमाना प्रेर्यमाणा । पुनः क्षणं मुहूर्त्तमेकं स्नेहात्तैलादितः वहन्ती प्रवर्त्तमाना । पुनरुत्कटाक्षा उत्कटोऽक्षो यस्याः सा निष्ठुरचक्रभ्रमणकाष्ठा । पुनः शल्यं शक्तितोमरादिशस्त्रं दधाना । अथवा तुन्दवलयम् । क्व ? हृदये मध्ये । उपमार्थः केव ? वेश्येव पण्याङ्गना यथा स्थानाच्चलति । केन कृत्वा ? विरोधेन कलहव्याजेन । कथम्भूता ? स्नेहादनुरागात् वहन्ती प्रवर्तमाना । कथम् ? क्षणम् । पुनः परैः धूर्त्तैरुच्चाल्यमाना । कथम्भूतैः ? आतुरैरातुरं गच्छन्ति तैः चपलगतिभिरित्यर्थः । पुनः शल्यं कौटिल्यं कषायरूपं हृदये मनसि दधाना । पुनरुत्कटाक्षा उत्क्षिप्तलोचनाञ्चला । श्लेषोपमालङ्कारः ॥३७॥

उदात्तवंशं बहुधातुरङ्गै रूढं समुत्कङ्कटकप्रधानम् ।
युयुत्सु गच्छत् प्रकटोत्थदानं तद्धास्तिकं कावचिकश्च रेजे ॥ ३८ ॥

उदात्तवंशमिति—तल्लोकविख्यातं हास्तिकं हस्तिनां समूहः गजसमुदायः रेजे शुशुभे । किं कुर्वाणम् ? गच्छत् व्रजत् । कथम्भूतम् ? युयुत्सु योद्धुमिच्छु । पुनः प्रकटोत्थदानं प्रकर्षेण कटाभ्यां कपोलाभ्यामुत्था उत्पत्तिर्यस्य तत् प्रकटोत्थं दानं मदो यस्य तत् । पुनरुदात्तवंशमुच्चपृष्ठवंशम् । धातूनामनेकार्थत्वात् रूढं चिह्नितम् । कैः कृत्वा ? बहुधातुरङ्गैः धातवः हरितालगैरिकादिलक्षणाः बहवश्च ते धातवश्च बहुधातवः बहुधातूनां रङ्गाः बहुधातुरङ्गास्तैः । पुनः कटकप्रधानं कटके स्कन्धावारे प्रधानं कटकप्रधानम् । चकारः समुच्चयार्थः । तच्च काવचिकं कवचिनां समूहः गच्छत् सन् रेजे दिदीपे । कथम्भूतम् ? उदात्तवंशमुदारा-

---

पड़ती हैं, चंचल मछलियाँ कूदती रहती हैं, उछलना तो उनका स्वभाव ही है और एकके बाद दूसरी उठती ही चली आती हैं] ॥३६॥

घोड़ोंके द्वारा खींची गयी, क्षण भरके लिए कठोर धुरा युक्त, ओंगन या तैल लगे रहनेके कारण जोरोंसे चलती, शक्ति, तोमर आदि अस्त्रोंसे सुसज्जित तथा शत्रुओंके साथ लड़नेके लिए उद्यत फलतः वेश्याके समान रथसेनाने अपने स्थानसे प्रयाण किया था।

अन्वय—क्षणं उत्कटाक्षा, स्नेहाद्वहन्ती, हृदये शल्यं दधाना परैः विरोधेन आतुरगैः स्थानात् उच्चाल्यमाना रथ्या इव वेश्या चचाल ।

क्षणभरके लिए कटाक्ष करती तथा प्रेममय आचरणोंमें लीन किन्तु मन ही मन शंका या कपट करती, दूसरोंसे झगड़कर चंचल कामातुरोंके द्वारा भगायी गयी रथसेनाके समान वेश्या भी चली जाती है ॥३७॥

अन्वय—उदात्तवंशं, प्रकटोत्थदानं, बहुधातुरङ्गै रूढं, समुत्कं कटक-प्रधानं युयुत्सु तत् गच्छत् हास्तिकं कावचिकं च रेजे ।

उन्नत रीढ़की हड्डी युक्त, पुष्ट कपोलोंपरसे मदजलको बहाते हुए, हरिताल गेरु आदि धातुओंसे चित्रित, उद्धत अतएव सेनाके प्रधान अंग, लड़नेके लिए उद्यत कवचधारियोंको ले जाते हुए हाथियोंकी सेना बड़ी सुन्दर लगती थी।

उत्तम वंशमें उत्पन्न विख्यात महादानी, नाना जातियोंके घोड़ों और हाथियोंपर सवार

न्वयम् । पुनः तुरङ्गैरश्वैरूढं धृतम् । कथम् ? बहुधा बहुप्रकारैः पुनः समुत् सानन्दम् । पुनः कङ्कटकप्रधानं सन्नाहसन्नद्धम् । पुनः युयुत्सु योद्धुमिच्छत् पुनः प्रकटोरुध्वान प्रकटानेकविधवादित्रध्वनिभिरिति । ॥ ३८ ॥

शार्ङ्गाणि चापानि समुत्क्षिपन्तस्ते कञ्चुकं कार्दमिकं प्रविष्टाः ।
धनुर्भृतोऽभ्युद्धतनीलशृङ्गाः कृष्णाः पशूनां समजा इवाभुः ॥ ३९ ॥

शार्ङ्गाणीति–ते प्रसिद्धा धनुर्भृतः धन्विनोऽभुः भान्ति स्म । कथम्भूताः ? कञ्चुकं सन्नाहं प्रविष्टाः । कथम्भूतम् ? कार्दमिकं कर्दमेन रक्तम् । किं कुर्वन्तः ? चापानि धनूंषि समुत्क्षिपन्तः विस्फारयन्तः । कथम्भूतानि चापानि ? शार्ङ्गाणि शृङ्गविकाराणि । अथोपमार्थः क (इ) व ? समजा इव केषां पशूनां गोमहिष्यादीनाम् । कथम्भूताः ? कृष्णाः श्यामाः । पुनरभ्युद्धतनीलशृङ्गाः साभस्त्येनोत्कटनीलविषाणाः । उपमालङ्कारः ॥ ३९ ॥

नृणामसीनां वसुनन्दकानां पार्श्वोपरोधं स्फुरतां प्रवाहाः ।
स्विन्दारुणानां विरराजिरेऽमी द्रुता इव त्रापुपजातुषौघाः ॥४०॥

नृणामिति–अमी प्रत्यक्षीभूताः असीनां खड्गानां वसुनन्दकानां हस्तक्षुराणाञ्च प्रवाहाः विरराजिरे । किं कुर्वताम् ? पार्श्वोपरोधमुभयं पार्श्वमुपरुध्य स्फुरतां शोभमानानाम् । केषाम् ? नृणां पुंसाम् । कथंभूतानाम् ? उभयेषाम् असीनां वसुनन्दकानाञ्च ? स्विन्दारुणानां श्वेतशोणानाम् । असयस्तावच्छ्वेताः वसुनन्दकाश्च लोहिताः । अतएव साहचर्यादेवोभयेषां युगपद्विशेषणमिति सुस्थम् । इदानीमुत्प्रेक्षार्थः । क इवोत्प्रेक्ष्यन्ते त्रापुपजातुषौघा इव सीसकयावकपूरा इव । कथंभूताः ? द्रुताः द्रवीभूताः ॥४०॥

भूर्जद्रुमस्येव विहायसश्चेत्त्वचश्च्युताः स्युर्विधुता मरुद्भिः ।
तथा भवेयुः पथि वैजयन्त्यः कालस्य जिह्वा इव वा ललन्त्यः ॥ ४१ ॥

भूर्जेति–पथि मार्गे चेद्यदि त्वचः स्युर्भवेयुः । कथम्भूताः ? च्युताः । कथम्भूताः सत्यः ? विधुताः कम्पिताः । कैः मरुद्भिर्वातैः । कस्य ? विहायसः गगनस्य । कस्येव ? भूर्जद्रुमस्येव यथा वैजयन्त्यः चीरपताकाः भवेयुः वाऽथवा वैजयन्त्यः ललन्त्यश्चलन्त्यः सत्यः भवेयुः का इव जिह्वा (इव) रसना यथा । कस्य कालस्य यमस्येति[1] ॥ ४१ ॥

प्रभा विमानं समुपेत्य याता कौक्षेयकैस्तिग्मकरैः स्फुरद्भिः ।
केषाञ्चिदभ्रोदरमुत्पतन्त्या लीलोन्नतालम्बि तडिल्लतायाः ॥ ४२ ॥

युद्धके लिए उत्सुक अतएव उत्तम, ज़ोरसे बजते पटहादि बाजोंसे युक्त लड़नेके लिए निकले कवचधारियोंकी सेना मनमोहनी लगती थी ॥३८॥

सींगसे बने धनुषोंको फटकारते हुए तथा धूल कीचड़से लथपथ कञ्चुकधारी वे धनुषधारी योद्धा, ऊपर तक उठे हुए नील सींगधारी काले हिरण पशुओंके सजातीयोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ३९॥

सैनिकोंकी चमचमाती श्वेत तलवारों तथा उन्हें घुमाते हुए लाल हाथोंकी श्वेत तथा लाल कान्तिके प्रवाह दोनों बगलोंको व्याप्त करते हुए ऐसे लगते थे मानो शीशा और लोह पिघल करके बहे जा रहे हैं ॥४०॥

भोजपत्रके पेड़ोंका पतला बकला आकाशमार्गमें गिर जाय और यदि वायुके द्वारा खूब उड़ाया जाय इसी प्रकारसे चीनांशुककी ध्वजाएँ हो रही थीं अथवा लपलपाती यमकी जिह्वाओंके समान प्रतीत होती थीं ॥४१॥

---

१. श्लेषाऽलङ्कारः–प०, द० । २. उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः–प०, द० । ३. उपमाऽलङ्कारः–प०, द० ।

प्रभेति—अलम्भि प्राप्ता । का कर्मतापन्ना ? लीला शोभा । कथम्भूता ? उन्नता उच्चा । कस्याः ? तडिल्लतायाः विद्युल्लतायाः । किं कुर्वाणायाः ? उत्पतन्त्याः । किम् ? अभ्रोदरं जलधरमध्यम् ? कैः कर्तृभिरलम्भि ? कौक्षेयकैः खड्गैः । कथम्भूतैः ? तिग्मकरैः तिग्माः कराः येषां तैः तीव्रदीप्तिभिरित्यर्थः । स्फुरद्भिः शलकायमानैः । केषाञ्चित् कियतां भटानाम् । किं कुर्वताम् ? प्रभाः दीप्तीः यातां प्राप्तानां (प्राप्नुवताम्) । किं कृत्वा ? पूर्वं समुपेत्य प्राप्य । कम् ? विमानं विशिष्टं मानं समीचीनं सत्कारम् । अत्र स्व स्व स्वामिभ्य इति सम्बन्धेन भवितव्यमिति[1] ॥ ४२ ॥

सिन्दूररेणुः करिकर्णतालैरुद्धूयमानो दिशि विप्रकीर्णः ।
रुद्धार्यमाभ्याधित तापसानां सन्ध्यासमाधौ नियमैकबुद्धिम् ॥ ४३ ॥

सिन्दूरेति—सिन्दूररेणुः सिन्दूरधूली अभ्याधित कारितवान् । काम् ? नियमैकबुद्धिमनुष्ठानैकमतिम् । कस्मिन् ? सन्ध्यासमाधौ सन्ध्याकर्मणि । केषाम् ? तापसानां व्रतिनाम् । कथम्भूतः ? विप्रकीर्णः प्रसृतः । कस्याम् ? दिशि आशायाम् । कथम्भूतः सन् ? उद्धूयमान उत्क्षिप्यमाणः । कैः ? करिकर्णतालैः प्रशस्ताः कर्णाः कर्णतालाः करिणां गजानां कर्णतालाः करिकर्णतालास्तैः । अथवा करिकर्णव्यजनैः । पुनः कथम्भूतः सिन्दूररेणुः ? रुद्धार्यमा प्रच्छादितरविः । भ्रान्तिरलङ्कारः ॥ ४३ ॥

अभूत्प्रकाशं विपिनं प्रचारैः कूलङ्कषाणां न्यपतंस्तटानि ।
निपीतनीरप्रतिदित्सयेव द्विपा मदाम्भो ववृषुः सरःसु ॥ ४४ ॥

अभूदिति—विपिनमरण्यं प्रचारैश्चरणघट्टनाभिः प्रकाशमभूत् सञ्जातम् । विरलं विरलमासीदित्यर्थः । तथा कूलङ्कषाणां नदीनां तटानि कूलानि न्यपतन् । तथा द्विपाः हस्तिनः सरस्सु अधिकरणभूतेषु सरोवरेषु मदाम्भः मदजलं ववृषुः । उत्प्रेक्षते—कयेव कृत्वा निपीतनीरप्रतिदित्सयेव निपीतम् कर्दमावशेषं पयः पीतं निपीतमुच्यते । निपीतञ्च तन्नीरञ्च निपीतनीरं निपीतनीरस्य प्रतिदातुमिच्छा तया इव[2] ॥ ४४ ॥

सौदामिनीदामचितेव शस्त्रैरभ्राकुलेव द्विरदैर्दिगासीत् ।
समुद्रवेलेव चलैस्तुरङ्गैस्त्रैलोक्ययात्रेव जनैश्चलद्भिः ॥ ४५ ॥

सौदामिनीति—दिगाशा शस्त्रैः तोमरादिभिः सौदामिनीदामचितेव विद्युन्मालावगुण्ठितेव आसीत् । तथा द्विरदैः गजैः अभ्राकुलेव मेघमालासङ्कुलेव आसीत् । तथा चलैश्चञ्चलैस्तुरङ्गैः वाजिभिः समुद्रवेलेव

विमानोंमें आरूढ़ होकर युद्धके लिए जाते हुए कतिपय योद्धाओंकी तीक्ष्ण किरणोंके द्वारा जगमगाती तलवारोंने आकाशके मध्यको चीरकर फैलती हुई विद्युल्लताकी उत्कृष्ट तथा अत्यन्त चमत्कारी कान्तिको प्राप्त किया था ॥४२॥

हाथियोंके विशाल कानोंके द्वारा उड़ायी गयी फलतः सब दिशाओंमें व्याप्त अतएव सूर्यके प्रकाशको भी रोककर लाल करनेवाली सिन्दूरकी धूलिने तपस्वियोंको संध्या-समयके नियमोंके अनुष्ठान तथा समाधि लगानेके लिए निश्चित रूपसे प्रेरित कर दिया था ॥४३॥

सेनाके निरन्तर आने जानेके कारण गहन वन विरल हो गया था, विशाल नदियोंके किनारे टूट गये थे तथा तालाबोंमें पिये गये पानीको वापस देनेकी भावनासे ही हाथियोंने अपने मदजलको तालाबोंमें बरसा दिया था ॥४४॥

उभयपक्ष-द्वारा चलाये गये शस्त्रोंके कारण युद्धकी दिशा बिजलीकी माला पहिने सी लगती थी, उन्मत्त हाथियोंकी भीड़से मेघाच्छन्नके समान दिखती थी, चंचल घोड़ोंकी

---

१. उपमाऽलङ्कारः–प०, द० । २. समुच्चयाऽलङ्कारः–प०, द० ।

पयोनिधिपालिन्दीव आसीत् । तथा चलद्भिः गच्छद्भिः जनैः मनुष्यैः त्रैलोक्ययात्रेव आसीत् । समुच्चयालङ्कारः ॥ ४५ ॥

वंशावतारं जगतीपतीनां ववन्दिरे वन्दिजना गुणांश्च ।
श्वेतातपत्राणि समुल्लसन्ति क्षीरार्णवस्योत्कलिकाः प्रजिग्युः ॥ ४६ ॥

वंशेति–वन्दिजनाः जागरिकाः जगतीपतीनां राज्ञां गुणान् शौर्यादीन् वंशावतारं वंशस्यान्वयस्यावतारो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा, तथा ववन्दिरेस्तुवन्ति स्म । च समुच्चयार्थे तथा समुल्लसन्ति श्वेतातपत्राणि शुभ्रच्छत्राणि क्षीरार्णवस्य क्षीरपयोनिधेरुत्कलिकास्तरङ्गान् प्रजिग्युः जयन्ति स्म[1] ॥ ४६ ॥

सङ्क्रीडितं स्यन्दनचक्रजातं वने मयूरा विनिशम्य रम्यम् ।
घनारवोत्काः पतिता इवौघैः पिच्छातपत्रप्रकरा विरेजुः ॥ ४७ ॥

सङ्क्रीडितमिति–पिच्छातपत्रप्रकराः विरेजुः शोभन्ते स्म । क इव ? उत्प्रेक्ष्यन्ते–मयूरा इव शिखण्डिनो यथा । कथम्भूताः सन्तः ? पतिताः । कैः ? ओघैः प्रवाहैः । पुनः कथम्भूताः सन्तः ? घनारवोत्काः मेघध्वनिसमुत्कण्ठिताः सन्तः । किं कृत्वा ? पूर्वं स्यन्दनचक्रजातं रथरथाङ्गसमुत्पन्नं संक्रीडितं चीत्कृतं विनिशम्य श्रुत्वा । कथंभूतं सङ्क्रीडितम् ? रम्यं मनोहरम् । क्व ? अतिरम्ये वनेऽरण्ये । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥४७॥

शङ्खानकारावमयी पतीनां दिशां श्रुतिः सैन्यमयी च दृष्टिः ।
रजोमयी कामविमानभूमिः शङ्काऽत्मसंहारमयी बभूव ॥४८॥

शङ्खेति–बभूव सञ्जाता । का ? श्रुतिराकर्णनम् । कथंभूता ? शङ्खानकारावमयी कम्बुपटहशब्दनिर्वृत्ता । केषां श्रुतिः ? दिशाम्पतीनां लोकपालानाम् । चकारः समुच्चयार्थस्तथा तेषां दृष्टिः बभूव संजाता । कथम् ? सैन्यमयी चमूनिर्वृत्ता च तथा कामविमानभूमिः गगनं रजोमयी धूलिनिर्वृत्ता तथा शङ्का भयमात्मसंहारमयी स्वमरणनिर्वृत्ता बभूव[2] ॥४८॥

इत्यद्रिकुञ्जान्सरितः सरांसि स्वपच्छयूच्छ्वासचलं वनञ्च ।
विप्लावयन्ती तमियाय देशमक्षौहिणी वारिधिमापगेव ॥४९॥

इतीति–इति पूर्वोक्तप्रकारेण तं दण्डकारण्याख्यं देशमियाय गतवती । का ? अक्षौहिणी सेना । किं कुर्वती सती ? अद्रिकुञ्जान् शैलकटकसमूहान् तथा सरितः नदीः सरांसि सरोवराणि तथा स्वपच्छयूच्छ्वा-

बढ़ती हुई पंक्तियोंके कारण समुद्रके तीर सदृश थी तथा चलते-फिरते मनुष्योंको देखकर ऐसा लगता था मानो तीनों लोक यात्रापर चल पड़े हैं ॥४५॥

चारण लोग पृथ्वीपतियोंकी वंशावली तथा उनके उदात्त कार्योंका व्याख्यान करके स्तुति पढ़ते थे। समस्त युद्ध-भूमिपर शोभायमान श्वेत राजछत्रोंने अपनी कान्तिके द्वारा क्षीरसमुद्रकी उठती हुई लहरोंको जीत लिया था ॥४६॥

वनमें जाते हुए रथोंके पहियोंसे उत्पन्न गम्भीर तथा मधुर नादको सुनकर मयूर वैसे ही उत्कण्ठित हो गये थे जैसे मेघोंकी गर्जनोंको सुनकर होते हैं, झुण्ड के झुण्ड बाहर निकल आते हैं और पंख फैलाकर नाचते हैं। ये सब मयूरकी पूँछके बने छत्रोंके समूहके समान शोभित हो रहे थे ॥४७॥

समस्त दिक्पालोंके कान शंख, पटह आदि बाजोंके तार स्वरसे व्याप्त थे, आँखें सेना ही सेना देखती थीं, इच्छा मात्रसे चलने वाले विमानोंका मार्ग धूलिसे आच्छन्न था तथा कल्पनामें अपना ही विनाश आता था ॥४८॥

इस प्रकारसे पर्वतों, तरुलताके गुल्मों, नदियों, तालावों तथा सोते हुए अजगरकी

१. समुच्चयाऽलङ्कारः–प०, द० । २. समुच्चयाऽलङ्कारः–प०, द० ।

सचलं निद्रापरिणताजगरघ्रोणानिर्गतवातचञ्चलं वनं कान्तारं च विप्लावयन्ती क्षोभं नयन्ती । केव ? आप-गेव नदीव । कम् ? वारिधिं समुद्रम् ।

भारतपक्षे—सं देशं विराटं शेषं पूर्ववत्समानम् ॥४९॥

[इदानीं चतुर्भिर्वृत्तैः कुलकेन सम्बन्धो बोद्धव्यः —]

ततो गभीरश्चरितैरगाधैर्ज्वलन्निवान्तःकरणेन कुप्यन् ।
स्पृष्टानुमेयस्फुरितोदराग्निरुच्चैरुदन्वानिव दीप्यमानः ॥५०॥

तत इति:—ततः अक्षौहिणीगमनान्तरं दाशरथिर्भीमश्च कुप्यन् कोपं गच्छन् अन्तःकरणेन हृदयेन ज्वलन्निव कथंभूतश्चरितैः चेष्टाभिः गभीरः । कथंभूतैः चरितैः ? अगाधैर्गम्भीरैरनघैरित्यर्थः । कथंभूतः ? दीप्यमानः प्रज्वलन् । कथम् ? उच्चैरतिशयेन । कथंभूतः सन् ? स्पृष्टानुमेयस्फुरितोदराग्निः स्पृष्टं स्पर्शनं तेनानुमेयोऽनुमानप्रमाणगोचरः स्फुरितः विजृम्भितः उदराग्निर्जठरानलो यस्य सः । क इव ? उदन्वानिव समुद्र इव । कथम्भूत उदन्वान् ? स्पृष्टानुमेयस्फुरितवडवाग्निरिति ॥५०॥

पतिर्मृगाणां गजबृंहितेन कल्पान्तमेघेन च सुप्रतीकः ।
यथा सुधांश्वभ्युदयेन वार्धिः क्षोभं रिपूणां निनदेन गच्छन् ॥५१॥

पतिरिति—पुनः किं कुर्वन् ? रिपूणां निनदेन ध्वनिना क्षोभं गच्छन् व्रजन् । यथा शब्देनोपमार्थो गम्यते । क इव क्षोभं गच्छन् ? सुप्रतीकः यथा इव ईशानाशागज इव । केन ? कल्पान्तमेघेन प्रलयका-लजलदेन । पुनः क इव ? सुधांश्वभ्युदयेन पीयूषांशूद्गमेन वार्धिरिव । पुनः क इव ? गजबृंहितेन गजचीत्कृतेन मृगाणां पतिः सिंह इव ॥ ५१ ॥

स सञ्जिहीर्षन्निव जीवलोकं यमेन कुर्वन्निव दृष्टियुद्धम् ।
वमन्निव क्रोधहुताशराशिं गिलन्निवाशाः स्थगयन्निवार्कम् ॥५२॥

स इति—सः किं कुर्वन्निव ? सञ्जिहीर्षन्निव संहर्तुमिच्छन्निव । कम् ? जीवलोकं प्राणिवर्गम् । पुनः किं कुर्वन्निव ? विदधदिव । किम् ? दृष्टियुद्धं विलोचनरणम् । कथम् ? सह । केन ? यमेन । कृतान्तेन सह कृतान्तमाहूयमान इव । वमन्निव उद्गिरन्निव । कम् ? क्रोधहुताशराशिं क्रोधानलावलीम् । पुनः किं कुर्वन्निव ? गिलन्निव उदरमध्ये कुर्वन्निव, का ? आशा दिशः । पुनः किं कुर्वन्निव ? स्थगयन्निव प्रच्छादयन्निव, कम् ? अर्कं सूर्यमिति ॥५२॥

श्वाससे चंचल वनको, समुद्रकी ओर जाती बाढ़पूर्ण नदीके समान अक्षौहिणी प्रमाण वह सेना भी उस दण्डकारण्य अथवा विराटदेश तक जा पहुँची थी ॥४९॥

अक्षौहिणी सेनाके आगमनका समाचार सुननेके बाद गूढ तथा निर्दोष चेष्टाओंके कारण अज्ञेय, मन ही मन अत्यन्त कुपित, संघर्ष होनेपर ही अपनी आन्तरिक रौद्रताका प्रकाशक अतएव समुद्रके समान प्रतापी, [समुद्र भी तलमें चलनेवाले जन्तुओंके होनेपर भी शान्त रहता है, भीतर ही भीतर बड़वानल जलती रहती है, तथा उसके मुखमें जलादि जानेपर भीषण विस्फोट होता है] ॥५०॥

हाथियोंकी चिंघाड़से चिढ़े मृगराज, प्रलयकालके जलदोंसे उद्दीपित ईशान दिशाके दिग्गज सुप्रतीक तथा पूर्णिमाके चन्द्रोदयसे ज्वार-भाटापूर्ण समुद्रके समान शत्रुओंकी सेनाके कोलाहलसे अत्यन्त क्षुभित ॥५१॥

मनुष्य लोकके विनाश करनेके संकल्पसे अथवा यमराजके ही साथ नेत्रयुद्ध करता हुआ, समस्त दिशाओंको निगलता सा, सूर्यके प्रताप और प्रकाशको तिरोहित करता हुआ-सा ॥५२॥

आदित्सया मानधनस्य सैन्यमभ्यर्णमाकर्ण्य विकीर्णनादम् ।
द्विषः सदो दाशरथी रयेण व्यापत्सहेनावरजेन भीमः ॥५३॥

आदित्सयेति—स दाशरथिः दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः रामः व्यापत् व्याप्तवान् । किम् ? सदः सभाम् । कस्य ? द्विषः खरदूषणस्य । केन कृत्वा ? रयेण वेगेन । कथम्भूतः सन् ? भीमः रौद्रः । केन ? अवरजेन लघुभ्रात्रा लक्ष्मणेन । कथम्भूतेन ? सहेन समर्थेन । किं कृत्वा पूर्वं व्यापत् ? आकर्ण्य श्रुत्वा । किम् ? सैन्यं बलम् । कथम्भूतम् ? अभ्यर्णं निकटम् । पुनः विकीर्णनादम् विकीर्णः विक्षिप्तो नादो ध्वनिर्येन तत् । कया आदित्सया ग्रहीतुमिच्छया । कस्य मानधनस्य मान एव धनं मानधनं तस्य गर्वद्रव्यस्येत्यर्थः ।

भारतीयः—स प्रसिद्धः भीमः वृकोदरः उदाश जग्राह भक्षितवानित्यर्थः । कान् ? द्विषः शत्रून् । केन कृत्वा ? अवरजेन लघुभ्रात्राऽर्जुनेन । कथम्भूतेन ? व्यापत्सहेन विपत्सहिष्णुना । केन कृत्वा ? रयेण वेगेन । कथम् ? यथा भवति विकीर्णनादं विकीर्णो नादो यस्मिन् तत् क्रियाविशेषणमेतत् । किं कृत्वा ? पूर्वमाकर्ण्य श्रुत्वा । किम् ? सैन्यं बलम् । कथम्भूतम् ? अभ्यर्णं समीपम् । कया ? आदित्सया । कस्य ? अमानधनस्य प्रचुरगोधनस्य । अथवा हे अमान हे अगाध श्रेणिक ! इति सम्बन्धः । अन्तकुलकम् ॥ अन्तदीपकालङ्कारः ॥ ५३ ॥

शङ्खा निनेदुः पटहाश्चुकूजुर्गजा जगर्जुस्तुरगा जिहेषुः ।
वीरा ववल्गुः शकटा विरेसुरासीदकूपाररवः समन्तात् ॥ ५४ ॥

शङ्खा इति— शङ्खा निनेदुः ध्वनन्ति स्म, पटहा आनकाश्चुकूजुः कूजितवन्तस्तथा गजा जगर्जुस्तथा तुरगा जिहेषुर्हेषितवन्तः वीराः भटाः ववल्गुः वल्गितवन्तः शकटा विरेसुः रसितवन्तः इत्यनया युक्त्या अकूपाररवः समुद्रघोषः सामस्त्येन आसीत्सञ्जातः । समुच्चयालङ्कारः ॥ ५४ ॥

बभुः पुराणाः स्फुटिता भटानां व्रणा रणानन्दथुनिर्भरेण ।
स्वामिप्रसादानसहा निरोद्धुं देहाः स्वयं भेदमिवाभ्युपेयुः ॥ ५५ ॥

बभुरिति—भटानां पुराणाः पुरातनाः व्रणाः रणानन्दथुनिर्भरेण सङ्ग्रामहर्षोत्कर्षेण स्फुटिता विदीर्णाः सन्तो बभुः रेजुः । तथा देहाः कायाः आत्मना स्वयमेव भेदं स्फुटनमभ्युपेयुरिव । कथम्भूता ? असहा असमर्थाः । किं कर्तुम् ? निरोद्धुमावरितुम् । कान् ? स्वामिप्रसादान् प्रभुसत्कारानिति । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥५५॥

अन्वय—भीमः दाशरथी सहेन अवरजेन आदित्सया मानधनस्य विकीर्णनादं अभ्यर्णं सैन्यं आकर्ण्य द्विषः सदः रयेण व्यापत् ।

दशरथके ज्येष्ठ पुत्र अत्यन्त भयंकर उस रामने परम सहिष्णु छोटे भाईके द्वारा बन्दी बनानेकी इच्छासे निकट आ पहुँची अत्यन्त अहंकारी शत्रुओंकी सेनाके विस्तीर्ण कोलाहल को सुनकर बड़ी तेजीसे खरदूषणके स्कन्धावारपर आक्रमण कर दिया था ।

अन्वय—अमानधनस्य आदित्सया विकीर्णनादं अभ्यर्णम् आकर्ण्य रथी भीमः सदा व्यापत्सहेन अवरजेन द्विषः सैन्यं रयेण उदाश ।

प्रचुर गोधनको लूटकर ले भागनेकी इच्छासे निकट हीमें होनेवाले कोलाहलको जानकर रथी योद्धाओंके श्रेष्ठ भीमने सदैव विपत्ति सहनेमें दृढ अनुज अर्जुनके द्वारा उस समस्त शत्रु सेनाका क्षणोंमें ही संहार करा दिया था ॥५३॥

शंखोंकी तार ध्वनि हो रही थी, पटह आदि बाजे पीटे जा रहे थे, हाथी चिंघाड़ रहे थे, घोड़े हिनहिना रहे थे, रथ तथा गाड़ियोंके पहियोंसे चैंचाहट हो रही थी तथा योद्धा भी बड़बड़ा रहे थे । इस प्रकार चारों ओरसे समुद्रका आराव हो रहा था ॥५४॥

पुनः युद्धका अवसर मिलनेसे उत्पन्न योद्धाओंके अतिशय हर्षके कारण उनके प्राचीन घाव अपने आप फट पड़े थे, मानो स्वामीके अनुग्रहोंको अपनेमें न समा सकनेके कारण ही उन योद्धाओंके शरीर अपने आप फट पड़े थे ॥५५॥

सूता नृपाणां युधि नामधेयं वृत्तं निपेठुः कृतवृत्तबन्धम् ।
दग्धानि कर्पूररजांसि भूयाः स्ववर्मणोऽन्तश्चकरुः श्रमार्ताः ॥५६॥

सूता इति–सूता बन्दिजनाः युधि रणे नृपाणां राज्ञां वृत्तं चरितं निपेठुः पठितवन्तः । कथम्भूतम् ? नामधेयं नाम्ना धेयं नामगर्भितम् । पुनः कृतवृत्तबन्धम् "एकाक्षरमारभ्य षड्विंशत्यक्षरं यावद्वृत्तमुच्यते" कृतो वृत्तैर्बन्धो रचना यस्य तत्तथोक्तम् । पुनः श्रमार्ताः सङ्ग्रामायाससंजातमूर्च्छा भूपाः स्ववर्मणोऽन्तः आत्मीयसंहननस्याग्रे दग्धानि चूर्णीकृतानि घनसाररजांसि कर्पूररेणून् चकरुः विचिक्षिपुः । समुच्चयालङ्कारः ॥ ५६ ॥

विशुद्धवंशानि गुणानतानि प्रपीड्यमानान्यपि कार्मुकाणि ।
पर्यङ्कमारोप्य विलालितानि मित्राणि परमेव कृतं चिनेमुः ॥ ५७ ॥

विशुद्धेति–कार्मुकाणि धनूंषि विनेमुः नम्रीबभूवुः । किं कृत्वा ? पूर्वं मत्वा ज्ञात्वा । किम् ? कृतं करणीयमस्य कुले न नमनेन दलाव्यं नो चेद्विशुद्धवंशस्य गुणानतस्य वोऽयं मानीपद्यत इति मत्वा नमनं कार्यमिति भावोऽत्रोपन्यस्तः । कथम्भूतानि ? विशुद्धवंशानि निर्गुणवेणूनि पुनः गुणानतानि गुणेन मौर्व्या आनतानि गुणानतानि । पुनः प्रपीड्यमानान्यपि पुनः विलालितानि । कानीव ? मित्राणीव । किं कृत्वा ? पूर्वं पर्यङ्कमारोप्येति[1] ॥ ५७ ॥

वश्यानि मुष्टेरगतानि भेदं धनूंषि नम्राणि विपत्क्षमाणि ।
स्वदेहलीनां स्थितिमत्यजन्ति नृणां कलत्राणि हितान्यतीयुः ॥ ५८ ॥

वश्यानीति—धनूंषि नृणां पुंसां कलत्राणि कुलकामिनीः अतीयुः अतिक्रान्तवन्ति । कथम्भूतानि ? हितानि । सुखप्रदानि पुनः स्वदेहलीनां स्थितिं मर्यादामत्यजन्ति, अजहति स्वकीयमन्दिरकुतुपेभ्यो बहिरनिर्गच्छन्तीत्यर्थः । पुनः कथम्भूतानि ? वश्यानि । कस्याः ? मुष्टेः मुष्टेरिति लक्षणयाऽऽज्ञा गृह्यते । मुष्टेराज्ञाया इत्यर्थः । पुनः भेदं पृथक्त्वमगतान्यप्राप्तानि । पुनः वश्यानि । कस्याः ? मुष्टेः पाणिबन्धस्य करतलाङ्गुलीबन्धस्य । पुनर्भेदं भङ्गमगतानि । पुनः नम्राणि । पुनर्विपत्क्षमाणि आपत्समर्थानि । पुनः स्वदेहलीनामात्मशरीरश्लिष्टां स्थितिमत्यजन्ति । श्लेषालङ्कारः[2] ॥ ५८ ॥

बन्दी लोग राजाओं-द्वारा युद्धस्थलोंपर किये वीरतापूर्ण कार्यों तथा नाम गोत्रादिको छन्दोबद्ध करके गाते थे तथा परिश्रमसे क्लान्त राजा लोग भी जलाये गये कपूरकी धूलको अपने शरीरपर लेप करते थे ॥५६॥

उत्तम बांससे बनाये गये, मौर्वीके द्वारा ताने गये, गोदमें रखकर विधिपूर्वक ठीक किये गये तथा पूरी शक्तिके साथ खींचे गये धनुष मानो उस समयके कर्त्तव्यको समझकर ही मित्रके समान खिंचकर बाण वर्षा कर रहे थे [प्रशस्त कुलमें उत्पन्न, सुसंस्कारोंसे दीक्षित, पालनेमें झुलाया गया मित्र सताये जानेपर भी पूर्वके उपकारोंको याद करके विनम्रताका ही व्यवहार करता है ॥५७॥

प्रबल मुट्ठीसे पकड़े गये, पर्याप्त खींचे गये तथापि न टूटे शत्रुओंको कष्ट देनेमें कुशल अपने आकारकी स्वाभाविकताको न छोड़नेवाले तथा भलेमें साधक धनुषोंने मनुष्योंकी पतिव्रता पत्नियोंको भी मात कर दिया था [कुलवधुएं भी आज्ञाकारी होती हैं, कभी कलह नहीं करती हैं, नम्र होती हैं, विपत्तिको भी सहन करती हैं तथा अपने भवनके द्वारसे बाहर नहीं जाती हैं] ॥५८॥

---

1. विलोलितानि–प०, द० । 2. श्लेषोपमाऽलङ्कारः–प०, द० ।

स्वयं समानम्य शरासनानि स्तम्भश्च हित्वा मधुरं ध्वनन्ति ।
प्रारेभिरेऽन्यान्विनतान्विधातुं परान्विनम्राः खलु नामयन्ति ॥५९॥

स्वयमिति–प्रारेभिरे प्रारब्धवन्ति । कानि ? शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्त एभिरिति शरासनानि धनूंषि । किं कर्तुम् ? विनतान् नम्रान् विधातुम् । कथंभूतानि ? मधुरं यथा तथा ध्वनन्ति नदन्ति । किं कृत्वा ? समानम्य विनम्रीभूय । कथम् ? स्वयमात्मना । किं कृत्वा ? स्तम्भं स्तब्धत्वं हित्वा परित्यज्य । अर्थान्तरमाह—खलु निश्चयेन स्वयं विनम्राः परान्नामयन्ति ॥५९॥

ऋजुप्रकारेषु गुणेषु बाणाः शल्यं वहन्तो दधतो विपक्षान् ।
क्षणं न तस्थुश्चपलाः स्थिरेषु व्राताः खलानामिव सज्जनेषु ॥६०॥

ऋज्विति–न तस्थुः न स्थिताः । के ? बाणाः शराः, कथम् ? क्षणं मुहूर्त्तम् , कथम्भूताः ? चपलाश्चञ्चलाः, केषु मध्ये न तस्थुः ? गुणेषु मौर्वीषु; कथम्भूतेषु ? ऋजुप्रकारेषु प्राञ्जलवृत्तिषु । पुनः स्थिरेषु निश्चलेषु, किं कुर्वन्तः ? शल्यं फलकं वहन्तो धरन्तः । पुनर्विपक्षान् वीनां पक्षिणां पक्षान् गरुतः दधतः धरन्तः । उपमार्थः, इव यथा खलानां दुर्जनानां व्राताः समूहाः सज्जनेषु क्षणं न तिष्ठन्ति । केषु ? स्थिरेषु । पुनः ऋजुप्रकारेषु । कथम्भूताः व्राताः ? चपलाः । श्लेषोपमालङ्कारः ॥६०॥

समुद्गिरन्तो नु शफान्मुखेभ्यश्छायां त्यजन्तः किमु पश्चिमार्धम् ।
देहान्क्षिपन्तो नु दृशां पुरस्ताद्विश्वेऽपि तेऽश्वल्लिषुरश्ववर्याः ॥६१॥

समुद्गिरन्त इति–ते लोकप्रसिद्धा अश्ववर्याः अश्वल्लिषुः आशुगतवन्तः । कथम्भूताः ? विश्वेऽपि सर्वेऽपि । अत्र नु शब्दः उत्प्रेक्षाविषयी(यः) धनञ्जयेनाङ्गीकृतोऽस्ति । तेनायमर्थः-अश्ववर्याः किमु कुर्वन्तो गतवन्तः किन्त्वहो समुद्गिरन्तो नु समुद्गिरन्त इव समुद्गिरीतुमनस इवेत्यर्थः । कान् ? शफान् खुरान् । केभ्यः ? मुखेभ्यः वदनेभ्यः त्यजन्तो नु त्यक्तुमनस इव । काम् ? छायां भास्करादितेजसात्मीयशरीरोद्भवमाभासम् । कथम् ? पश्चिमार्द्धं पाश्चात्यभागं क्षिपन्तो नु क्षेप्तुमनस इव । कान् देहान् वपूंषि । कथम् ? पुरस्तात् पुरतः । कासां दृशां लोचनानामिति । वेगातिशयवचनविन्यासोऽत्राभिहित इति[1] ॥६१॥

रुद्धं शिलोत्कीर्णमिवावतस्थे मुक्तं चलं चित्तमिवाभ्यधावत् ।
अश्वीयमावर्त्तितमावृतत्तत्कुलालचक्रभ्रमलाघवेन ॥६२॥

रुद्धमिति–अवतस्थे स्थितम् । किम् ? तत् अश्वीयं तुरङ्गसमूहः । किमिव ? शिलोत्कीर्णमिव दृषद्घटितमिव । कथम्भूतं सत् ? रुद्धं नियन्त्रितं सत् । तथाऽभ्यधावत् सामस्त्येन त्वरते स्म । किम् ? अश्वीयम् ।

कठोरताको छोड़कर स्वयं नमनेवाले धनुषोंने मधुर ध्वनिके साथ शत्रुओंको विनम्र बनानेका कार्य प्रारम्भ कर दिया था। ठीक ही है क्योंकि स्वयं विनयशील व्यक्ति [जो कि अहंकारको छोड़ता है, मधुर बोलता है] अपने आप दूसरोंको शिष्ट बनाता है ॥५९॥

अत्यन्त सीधी तथा कसकर बंधी दृढ़ प्रत्यञ्चापर पक्षयुक्त अग्रिम भागमें धाराल और तीव्र गति युक्त बाण सज्जनोंके बीचमें दुर्जन-समूहके समान क्षणभर भी नहीं रुकते थे [सज्जन अत्यन्त सरल, स्थिर और गुणी होते हैं। दुर्जन शंकाशील अथवा स्वयं भी चंचल तथा विरोध करनेमें दक्ष होते हैं] ॥६०॥

अपनी टापोंको मुखसे लीलतेके समान [लम्बी फलांगमें मुँह और पैर बराबर फैल जाते हैं] अपने ही शरीरको अपनी नजरसे भी आगे दौड़ाते हुए सबके सब वे श्रेष्ठ घोड़े वेगसे आगे बढ़े चले जा रहे थे ॥६१॥

लगाम खींचनेपर वह अश्वसेना पत्थरके घोड़के समान रुक जाती थी, छोड़ते ही

1. उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः–प०, द० ।

कथम्भूतं सत् ? मुक्तं विसृष्टम् । पुनश्चलं चपलम् । किमिव ? चित्तमिव मन इव । तथाऽऽवृतत् बभ्राम । कथम्भूतं सत् ? आवर्तितं भ्रमितम् । कथम् ? कुलालचक्रभ्रमलाघवेन कुम्भकारचक्रभ्रमणलाघवेनेति ॥६२॥

रम्याः पदार्था इव मानसानि स्वान्तानि जीवानिव जन्तवोऽपि ।
देहानि वात्या चकृषुस्तुरङ्गाः स्कन्धान्तरन्यस्तयुगा रथौघान् ॥६३॥

रम्या इति–अत्याचकृषुराकृष्टवन्तः । के ? तुरङ्गा अश्वाः । कान् ? रथौघान् शकटसमूहान् । कथम्भूतास्तुरङ्गाः ? स्कन्धान्तरन्यस्तयुगा अंसमध्यारोपितयूपाः । क इवात्याचकृषुः ? पदार्था इव यथा पदार्थाः बहिरङ्गवस्तुविषयाः मानसानि चेतांसि अत्याकर्षयन्ति । कथम्भूताः ? रम्या मनोहराः इव तथा स्वान्तानि जीवान् प्राणान् अत्याकृषन्ति तथा जन्तवोऽपि इव यथा जन्तवः प्राणिनः देहान् शरीराणि अत्याकृषन्ति । उपमालङ्कृतिः ॥६३॥

नामाददानैः परुषं परेषां निषादिभिः संख्यशिरस्यसंख्याः ।
प्रासाः पतन्तोऽत्यशुभन्विमुक्ता विन्ध्यस्य वंशा इव वातधूताः ॥६४॥

नामेति–प्रासाः सेल्लाः (शलाः) यष्टय इत्यर्थः । अत्यशुभन् विरेजुः । कथम्भूताः ? असंख्याः गणनातीताः । पुनः संख्यशिरसि रणमध्ये पतन्तः । कथम्भूताः ? निषादिभिरश्ववारैः मुक्ताः । कथम्भूतैः ? परुषं कर्कशं यथा तथा परेषां शत्रूणां नामाददानैः गृह्णद्भिः । क इव ? वातधूताः वायुकम्पिताः विन्ध्यस्य वंशाः वेणव इव । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥६४॥

उत्कीर्णा इव कुलपर्वता गजानामाकारैर्मदजलनिर्झरं वहन्तः ।
धावन्ति प्रतिदिशमुन्नताः स्म नागाः क्रोधाग्निज्वलितदृशः सहैमकक्ष्याः ॥६५॥

उत्कीर्णा इव (इति)–नागाः हस्तिनः प्रतिदिशं धावन्ति स्म शीघ्रतया प्रसर्पन्ति स्म । किं कुर्वतः ? मदजलनिर्झरं वहन्तः । पुनरुन्नताः । पुनः क्रोधाग्निज्वलितदृशः कोपज्वलनज्वलितलोचनाः । पुनः सहैमकक्ष्याः ससुवर्णगण्डाः । पुनः किंविशिष्टा इव ? गजानामाकारैः प्रसादकोपाभ्यां जनिताभिः प्रकृतिभिरुत्कीर्णा उल्लिखिताः कुलपर्वता इव[1] ॥६५॥

सामजा मदवशान्मतिहीना वक्रमङ्कुशमृजुं युधि चक्रुः ।
प्रायशः परिजहाति जनोऽयं तीव्रमेव समुपेत्य शठत्वम् ॥६६॥

सामजा इति–सामजा गजाः युधि रणे वक्रमनृजुम् अङ्कुशं सृणिमृजुं प्राञ्जलं चक्रुः कृतवन्तः । कथ-

---

वे चंचल मनके समान दौड़ते थे, तथा कुम्हारके चक्रके समान तेजी तथा स्वाभाविकताके साथ वे दायें-बायें मुड़ते तथा चक्कर काटते थे ॥६२॥

कंधोंके मध्यमें जुएको बंधवाकर वे घोड़े रथसमूहको उसी प्रकार वेगसे खींचते थे जैसे संसारके मनोहर पदार्थ मनको लुभाते हैं, अथवा अन्तरंग चेतना जीवोंको वहन करती है अथवा जैसे जीव शरीरोंको लिये फिरते हैं ॥६३॥

संघर्षकी उत्कट अवस्थामें, कर्कश स्वरसे शत्रुओंको नाम लेकर चुनौती देते हुए अश्वारोहियोंके द्वारा छोड़े गये असंख्य गिरते हुए फरसे ऐसी भीषण ध्वनि करते थे, जिसे सुनकर आँधीसे कँपाये गये विन्ध्य पर्वतके बाँसोंकी ध्वनिकी याद आती थी ॥६४॥

मदजलके झरनोंको गण्डस्थलसे बहाते, क्रोधकी अग्निसे अरुण नेत्र तथा सोनेकी शृंखलासे बद्ध विशाल हाथी सब दिशाओंमें दौड़ते हुए ऐसे लगते थे मानो हाथियोंके आकारके कुलाचल ही विधिने खोदे हैं [कुलपर्वतोंसे भी परागयुक्त पानीके झरने बहते हैं, ऐसे साँप रहते हैं जिनकी आँखें क्रोधसे भी जलती हैं तथा सोनेके पार्श्व या खानें होती हैं] ॥६५॥

मदोन्मत्त होनेके कारण विवेकहीन हाथियोंके द्वारा युद्धमें टेढ़े अंकुश सीधे कर

---

१. उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः–प०, द० ।

म्भूताः मतिहीनाः बुद्धिविकलाः । कस्मात्मदवशात् मदाधीनत्वात् । युक्तमेतत् । अयं प्रत्यक्षो जनः प्रायशः बाहुल्येन शठत्वं खल्वाति पूर्वमेत्य परिजहाति परित्यजति । कथम्भूतं शठत्वम् ? तीव्रं सोढुमशक्यपरिणतमेव । अत्रोभयत्रलातिशयोक्तिरुक्ता[1] ॥६६॥

[2]मुखकृतकपटाः प्रमत्तचित्ताः परुपरुषश्चरणेषु सत्स्वखिन्नाः ।
गुरुकुलमतिचक्रमुः कुशिष्या हितमिव संयति संयतं गजेन्द्राः ॥ ६७ ॥

मुखेति—गजेन्द्राः गुरुकुलं महामात्रसमूहमतिचक्रमुः अतिक्रामन्ति स्म । क्व ? संयति संग्रामे । कथम्भूतम् ? हितम् अव्यभिचारि । पुनः संयतं प्रयत्नायत्तं वचनचरणसङ्केताङ्कुशप्रहारव्यापारप्रवीणमित्यर्थः । कथम्भूताः ? मुखकृतकपटाः मुखे कृतः कपटः कृत्रिमभूषाविशेषः पटो येषां ते । पुनः प्रमत्तचित्ताः प्रकर्षेण मत्तं प्रमादितं चित्तं येषां ते । उन्मादितचेतस्का इत्यर्थः । पुनः परुषरुषः कठोररोषाः । पुनरखिन्ना अश्रान्ताः । केषु सत्सु ? रणेषु सत्सु विद्यमानेषु । उपमार्थः । कुशिष्याः (इव यथा) कुत्सिताभिप्रायाः शिष्याः गुरुकुलं सूरिसन्दोहमथवा गुरुवंशमतिक्रामन्ति । क्व ? संयति तपसि । कथम्भूतम् ? हितं कुशलदम् । पुनः संयतमात्मनिष्ठम् । कथम्भूताः कुशिष्याः ? मुखकृतकपटाः मुखे कृतं कपटं कौटिल्यं यैस्ते । पुनः प्रमत्तचित्ताः सप्रमादहृदयाः । पुनः परुषरुषः । केषु ? चरणेषु चरित्रेषु । कथम्भूतेषु ? चरणेषु सत्सु शास्त्रोक्तेषु । कथम्भूताः ? अखिन्ना अप्रवीणाः । अत्र यथायोग्यमुपमानोपमेययोगो योज्यः । श्लेषालङ्कारः ॥ ६७ ॥

[3]उभयपार्श्वगतान्निशितान्शरान्शयुसमेन करेण विपाटयन् ।
गजगणः शुशुभे व्रणगह्वरैः सपदि सौध इवामलजालकैः ॥ ६८ ॥

उभयेति— गजगणः व्रणगह्वरैः अवच्छिद्रैः शुशुभे बभौ । किं कुर्वन् ? शरान् बाणान् विपाटयन्नुत्पाटयन् । कथम्भूतान् ? निशितान् । कथम्भूतान् ? उभयपार्श्वगतान् वामदक्षिणकुक्षिप्रोतान् । केन कृत्वा ? करेण शुण्डादण्डेन । कथम्भूतेन ? शयुसमेनाजगरसदृशेन । कथम् ? सपदि शीघ्रम् ।

उपमार्थः—यथा सौधो गेहोऽ(इव)मलजालकैर्निर्मलगवाक्षजालकैर्भाति । उपमालङ्कारः ॥ ६८ ॥

दिये गये थे। लौकिक प्राणी भी तीव्र दुख पाकर बहुधा अपनी शठताको स्वयमेव छोड़ देता है ॥६६॥

अन्वय—मुख-कृत-क-पटाः प्रमत्तचित्ताः परुषरुषः च सत्सु रणेषु अखिन्नाः गजेन्द्राः संयतं हितं गुरुकुलं कुशिष्याः इव संयति अतिचक्रमुः ।

हथिनियोंके मदसे आर्द्र मुख होनेके कारण अत्यन्त मद-विह्वल फलतः भीषण कुपित तथा चलते हुए युद्धमें कुछ-कुछ उदासीन हाथियोंने अत्यन्त अनुशासन प्रेमी तथा हितू अपने महान् वंशकी अथवा महावत-समूहकी भी कुशिष्यके समान युद्धस्थलमें ही अवज्ञा की थी [कुशिष्य भी कपटको सर्व प्रधान मानते हैं, इनका मन सदैव प्रमादी रहता है, वे कठोर और क्रोधी होते हैं तथा समीचीन आचरणके पालनेमें उदासीन होते हैं फलतः परम संयमी निश्रेयसदाता अपने गुरुसमूहकी संयमाचरणमें उपेक्षा करते हैं] ॥६७॥

दोनों पार्श्वोंमें चुभे तीक्ष्ण, अजगरके समान बाणोंको विशाल सूंड़ से निकालते हुए हाथी अपने शरीरपर लगे विशाल घावोंके द्वारा वैसे ही दिखते थे जैसे स्वच्छ वातायनोंके द्वारा उन्नत भवन लगते हैं ॥६८॥

---

१. अर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारः—प०, द० । २. अत्र औपच्छन्दसिकं नाम मात्रावृत्तम् । तथा च वृत्तरत्नाकरे—पर्यन्ते र्यौ तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्" (२-१२) । ३. द्रुतविलम्बितवृत्तम् । यथा हि वृत्तरत्नाकरे—"द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।" (३-५०) ।

[1]इति स पृतनां दृष्ट्वाऽविद्यामिव प्रतिबन्धिनीं
जलनिधिरिव क्षुभ्यँल्लक्ष्मीधरोऽनुगतोऽग्रजम् ।
धनुरपि दधत्त्रेपे जिष्णुः सहायविशङ्कया
न च भुजबलाद्वीरोऽन्यस्माद्धनं जयमिच्छति ॥ ६९ ॥

इति धनञ्जयविरचिते राघवपाण्डवीये महाकाव्ये तुमुलयुद्धं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इतीति—स लक्ष्मीधरः लक्ष्मणः त्रेपे लज्जितः । कया सहायविशङ्कया सहकारिभीत्या । कथम्भूतः ? जिष्णुर्जयनशीलः । किं कुर्वाणः ? दधत् । किमपि ? धनुरपि शरासनमपि । कथम्भूतः ? अग्रजं राममनुगतः पश्चाद्गतः । पुनः जलनिधिरिव समुद्र इव क्षुभ्यन् क्षोभं गच्छन् । किं कृत्वा ? प्रतिबन्धिनीं प्रतिकूलां पृतनां सेनां दृष्ट्वाऽवलोक्य । कामिव ? अविद्यामिव इन्द्रजालमिव । कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण । अधुनाऽर्थान्तरं प्रदर्श्यते । युक्तमेतत् । इच्छति । कोऽसौ ? वीरः । किम् ? धनं द्रव्यं जयञ्च । कस्मात् ? भुजबलात् बाहु-सामर्थ्यात् । यस्माद्वीरो नेच्छति धनं जयञ्च । कस्मात् ? अन्यस्मात्सहायादेः ।

भारतीयः—स जिष्णुरर्जुनः त्रेपे सहायविशङ्कया । किं कुर्वन् ? धनुरपि दधत् । कथम्भूतः ? अग्रजं युधिष्ठिरमनुगतः भीमं वा । पुनः कथम्भूतः ? लक्ष्मीं विभूतिं शरीरशोभां वा धरतीति लक्ष्मीधरः । शेषं समानम् । अर्थान्तरन्यासः ॥६९॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य
गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण नेमिचन्द्रेण विरचितायां द्विसंधानकवेर्धनञ्जयस्य
राघवपाण्डवीयापरनाम्नः काव्यस्य पदकौमुदी नाम दधानायां टीकायां
तुमुलयुद्धव्यावर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥५॥

अन्वय—अविद्यामिव प्रतिबन्धिनीं पृतनां दृष्ट्वा लक्ष्मीधरः जलनिधिरिव क्षुभ्यन्, अग्रजं अनुगतः स जिष्णुः धनुरपि दधत् सहायविशङ्कया त्रेपे । हि वीरः भुजबलात् धनं जयं इच्छति च न अन्यस्मात् ।

अविद्याके समान कैवल्य-प्राप्तिमें बाधक विरोधियोंकी सेनाको देखकर लक्ष्मीके निवास क्षीर-समुद्रके समान बड़े भाई (राम अथवा भीम)का परम भक्त विजयका इच्छुक वह लक्ष्मण अथवा अर्जुन धनुषको उठाते हुए भी इसलिए लजा गया था कि लोग कहेंगे कि उसने धनुषकी सहायता तो ली थी। क्योंकि वीर पुरुष केवल अपने भुजबलके द्वारा ही धन तथा विजयकी कामना करते हैं; किसी दूसरेके द्वारा नहीं ॥६९॥

निर्दोषविद्याभूषणभूषित, पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती, श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके
शिष्य देवनन्दीके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्यचन्द्रिकाके चकोर नेमिचन्द्र-द्वारा
विरचित कवि धनञ्जयके राघवपाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसंधान-
काव्यकी पदकौमुदी टीकामें तुमुलयुद्ध व्यावर्णन
नामक पञ्चम सर्ग समाप्त ।

---

१. अत्र हरिणी वृत्तम् । तल्लक्षणं हि—"रसयुगहयैन्सौं म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा ।" [वृ. र. ३-९३] ।

षष्ठः सर्गः

[1]ततः प्रयुक्तभ्रुकुटिं स दुर्धरो निजोद्धतं विक्रमकालसाधनः ।
अरातिघाताय तमग्रजं व्रजन्नमर्षमुद्योग इवान्वगद्युतत् ॥१॥

तत इति—ततः पृतनादर्शनानन्तरं स लक्ष्मणः तं लोकविख्यातमग्रजं राममन्वग् पश्चाद्गामी अरातिघाताय शत्रुवधाय व्रजन् गच्छन् अद्युतच्छोभते स्म । कथम्भूतम् ? प्रयुक्तभ्रुकुटिं प्रयुक्ता प्रयोजिता भ्रुकुटिभ्रूग्रन्थिर्येन तं पुनः निजोद्धतमात्मना गर्विष्ठम् । कथम्भूतः ? दुर्द्धरः दुःखेन धर्त्तुं शक्यः पुनः विक्रमकालसाधनः विक्रमकाल एव साधनं यस्य सः पौरुषसमयसैन्य इत्यर्थः। अर्थान्तरं प्रदर्श्यते—क इव, अमर्षं क्रोधमनुगामी उद्योग उद्यम इव ।

भारतीयः—स अर्जुनः तं युधिष्ठिरं भीमं वा अन्वक् अद्युतत्, अन्यत्समानम् । उपमालङ्कारः ॥१॥

कृतातिपातावधिकौ समुद्धतौ हतावधी चापनयावलम्बिनौ ।
उभौ न्यरुद्धां निवहं विरोधिनां तमर्थकामाविव धर्मसंग्रहम् ॥ २ ॥

कृतातिपाताविति—उभौ द्वौ रामलक्ष्मणौ तं लोकप्रसिद्धं विरोधिनां वैरिणां निवहं समूहं न्यरुद्धां निरुद्धवन्तौ । कथंभूतौ ? कृतातिपातौ विहितोपद्रवौ पुनः अधिकौ क्षात्रधर्मेण जगतामुपरि स्थितौ पुनः समुद्धतौ आत्मतेजसाऽत्ममन्यौ पुनः हतावधी अतिक्रान्तमर्यादौ रामलक्ष्मणयोः शौण्डीर्यादिगुणानामियत्ता न केनापि कर्त्तुं शक्यत इति भावोऽत्र लक्ष्यते । पुनः चापनयावलम्बिनौ धनुर्विद्यावष्टम्भिनौ । कौ कमिव निरुद्धः यथाऽर्थकामौ धर्मसंग्रहं पुण्यसञ्चयमिव । कथंभूतौ ? अपनयावलम्बिनौ नीतिमार्गं विहायानीतिमार्गं प्रविष्टौ ।

भारतीय पक्षे—उभौ तौ भीमार्जुनौ, शेषं समम् । उपमा ॥२॥

जयश्रियं दक्षिणमंसमंसलौ तनुं महावेगमहंयुतां मनः ।
शरासनं ज्यां नृपती भयं रिपुं समं समारोपयतः स्म संयति ॥ ३ ॥

जयेति—नृपती नरेश्वरौ जयश्रियं दक्षिणमंसं स्कन्धं तथा तनुं शरीरं महावेगं तथा अहंयुतामहङ्कारं मनः तथा ज्यां मौर्वीं शरासनं तथा भयं रिपुं संयति संग्रामे समारोपयतः स्म । कथम् ? सममेकहे (वे) लया । कथम्भूतौ ? अंसलौ पीनभुजशिरसौ कूर्मोन्नतस्कन्धाविल्यर्थः । अत्रांसमहावेगमनः शरासनरिपुप्रयोगाणां

शत्रुसेनाको देखनेके बाद असह्य पराक्रमी, निजी पुरुषार्थ तथा अदृष्ट रूपी सेनासे युक्त वह लक्ष्मण अथवा अर्जुन स्वभावसे उग्र फलतः टेढ़ी भ्रुकुटियुक्त विख्यात बड़े भाई राम अथवा भीमके पीछे-पीछे शत्रुओंका संहार करनेके लिए जाता हुआ ऐसा शोभित हुआ था जैसा रोषके पीछे जाता पुरुषार्थ लगता है ॥१॥

उपद्रव अथवा संहारके कर्ता, समस्त क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ, अन्यायके कारण अत्यन्त उग्र, निस्सीम गुणोंके भण्डार, युद्धक्षेत्रमें केवल धनुष (शस्त्र) नीतिके अनुयायी वे राम तथा लक्ष्मण अथवा भीम तथा अर्जुन शत्रुओंकी सेनाको उसी तरह समाप्त कर रहे थे जिस प्रकार अर्थ तथा काम पुरुषार्थका सेवन पूर्व संचित धर्म (पुण्य) को समाप्त करता है [पूर्वोपार्जित पुण्यके फलोन्मुख होनेपर ही अर्थ-कामोपयोगी साधन मिलते हैं । अर्थात् अर्थ कामके सेवनसे पुण्य समाप्त हो जाता है] ॥२॥

पुष्ट तथा उन्नत स्कन्धधारी राम-लक्ष्मण अथवा भीमार्जुन युद्धक्षेत्रमें एक साथ ही आत्मगौरवपूर्ण मन, अत्यन्त वेगवान शरीर, दाँया कन्धा, धनुष तथा मौर्वी और शत्रुओंके

---

१. सर्गेऽस्मिन् वंशस्थवृत्तम् । लक्षणं हि—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।" [वृ० र० ३–४७] ।

पश्चानाममुष्य (स्य) कर्मत्वम् । जयश्री तन्वहंमनोयुतत्याभयप्रयोगाणां पञ्चानाञ्च पुनर्द्वितीयकर्मकत्वं बोद्धव्यम् । हेतुमद्भूतायाः समारोपणक्रियायाः द्विकर्मकत्वादिति । समुच्चयालङ्कारः ॥३॥

तपःसमाधिष्विव तौ तपस्यतां प्रसज्य कर्णेष्विव दिक्षु दन्तिनाम् ।
दिगीश्वराणां हृदयेष्विवायतं विकृष्य मौर्वी विनिजघ्नतुस्तराम् ॥ ४ ॥

तत इति–तदनन्तरं तौ रामायणमहाभारतयोर्मुख्यौ नरेश्वरौ मौर्वी जीवां विनिजघ्नतुस्तरामति-शयेनास्फालितवन्तौ । किं कृत्वा ? पूर्वमायतमाकर्णान्तं विकृष्य । किं कृत्वा ? पूर्वं प्रसज्य समालीय । केष्विव ? तपस्समाधिष्विव तपोऽनुष्ठानेष्विव । केषाम् ? तपस्यतां तपः कुर्वतां पुंसाम् । केष्विव ? कर्णेष्विव श्रवणेष्विव । *केषाम् ? दन्तिनाम् । कासु ? दिक्षु दिशामित्यर्थः । तेनायमर्थः–दिग्गजानामिति सम्बन्धार्थ-*विष (येयं) सप्तमी बोद्धव्येति । सम्बन्धस्याष्टोत्तरशतार्थाभिधायकत्वात् । केष्विव ? हृदयेष्विव स्वान्तेष्विव । केषाम् ? दिगीश्वराणां दिक्पालानाम् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥४॥

ज्ययोर्विरिव्धं विनिशम्य धन्विनां निपेतुरस्त्राणि करान्मनांसि च ।
श्लथानि पूर्वाणि पराणि योषितां घनानि गूढान्यभवन्नभःसदाम् ॥ ५ ॥

ज्ययोरिति–अस्त्राणि तोमरचक्रादीनि धन्विनां धनुर्धराणां कराद्धस्तात् निपेतुर्निपतितानि । अत्र चकारः समुच्चयार्थस्तेनायमर्थो निवेदितो भवति । धन्विनां मनांसि च निपेतुः । यानि पूर्वाणि प्राक्तनानि आलिङ्गनानि प्रेमजानि घनानि दृढानि सन्ति तानि श्लथानि अभवन् जातानि । यानि च पराणि भयजानि श्लथानि सन्ति तानि च घनान्यालिङ्गनानि बभूवुरिति कवेरभिप्रायः । मतान्तरमिदं यानि पूर्वा (ण्याद्यानि) घनानि प्रेमरसरसायनरसिकानि तानि मनांसि गूढानि प्रच्छन्नवृत्तीनि अभवन् सञ्जातानि । यानि पराणि प्रेमकलह-कालजनितानि मनांसि श्लथानि शिथिलानि तानि घनानि प्रेमरसरसायनरसिकानि अभवंश्च । कासाम् ? योषितां कामिनीनाम् । केषाम् ? नभःसदां नभसि सीदन्तीति नभःसदः तेषां देवानाम् । किं कृत्वा ? पूर्वं विनिशम्य श्रुत्वा । कम् ? ज्ययोर्विरिव्धम् ध्वनिम् । भयभीतानां देवयोषितां मनांसि प्रियालिङ्गने सञ्जातानीति । समुच्चयः ॥५॥

गुणेन लोकं निनदेन दिङ्मुखं रुषाऽन्तवह्निं वपुषापि पूषणम् ।
दृढेन चालीढपदेन मेदिनीं गणं रिपूणामविवेष्टतां शरैः ॥ ६ ॥

गुणेनेति–गुणेन सौ(शौ)ण्डीर्यवीर्य्यौदार्यादिलक्षणेन कृत्वा लोकं जनं तथा निनदेन सिंहध्वनिना कृत्वा दिङ्मुखमाशावदनं तथा रुषा रोषेण कृत्वा अन्तवह्निं प्रलयानलं तथा वपुषा शरीरेणापि कृत्वा पूषण-मादित्यं तथा दृढेनाभङ्गेन आलीढपदेन आलीढे पश्चादायतेऽधो वक्रोर्ध्ववक्रे पदे यत्र तदालीढपदं स्थानकं

भय इन सबको एक साथ चढ़ा देते थे [मनमें विचार आते ही शरीर क्रियाशील होता था और शत्रु गिरते नजर आते थे] ॥३॥

एकाग्रता तथा सातत्यकी दृष्टिसे तपस्वियोंकी समाधिके समान, खींचनेकी शैलीकी अपेक्षासे दिग्गजोंके कानोंपर तथा विशालताकी अपेक्षा दिक्पालोंके हृदयोंमें ही फँसायी गयी के समान धनुषकी लम्बी डोरीको खींचकर वे दोनों (राघव-पाण्डव) भाई तेजीसे प्रहार कर रहे थे ॥४॥

राम लक्ष्मण अथवा भीमार्जुनकी उक्त ज्याका प्रचण्ड टंकार सुनकर शत्रु-योद्धाओंके मन ठंडे पड़ गये थे तथा हाथोंसे शस्त्र गिर गये थे। इस प्रकार इन स्वर्गवासियोंके पूर्व बद्ध अज्ञात कर्म छूट गये थे तथा भविष्यके दृढ़ हो गये थे [अथवा ज्याकी टंकारसे भीत देवियोंने पहिले विह्वल होकर प्रेमालिंगन ढीला कर दिया था तथा सुरक्षाके लिए बादमें जोर से चिपक गयीं थीं] ॥५॥

इस प्रकार इन राघव-पाण्डव बन्धुयुगलोंने अपने पराक्रमादि गुणोंसे विश्वको, हुंकारसे समस्त दिशाओंको, क्रोधके द्वारा प्रलयानलको, शरीरकी आभासे सूर्यको, स्थिर

तेनालीढपदेन कृत्वा मेदिनीं महीं तथा शरैर्बाणैः कृत्वा रिपूणां द्विषां गणमविचेष्टतां वेष्टितवन्तौ तौ कर्तृभूतौ नृपती। समुच्चयः ॥ ६ ॥

यशोवकाशस्य विधित्सया शरैर्दिशः परासारयतोरिवायतम्।
विकृष्यमाणं युगमेव गव्ययोः ससार पश्चान्न पदं रणे तयोः ॥ ७ ॥

यश इति—गव्ययोर्मौर्व्योः युगमेव द्वितयमेव आयतमाकर्णान्तं यथा भवति तथा आकृष्यमाणं ससार अपसृतं तथा तयोर्नरेन्द्रयोः रणे पदं चरणं पश्चात्पश्चाद्भागे न ससार। कथम्भूतयोरिवोत्प्रेक्षितयोः ? यशोऽवकाशस्य विधित्सया कर्तुमिच्छया शरैः बाणैः दिशः आशा परासारयतोरिव उत्सारयतोरिव। उत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

नृपौ रुषाऽपातयतां शिलीमुखान्समं सपत्ना हृदयान्यपातयन्।
विदूरमुच्चैः पदमध्यरुक्षतां भियाध्यरुक्षन्युधि वामलूरकम् ॥ ८ ॥

नृपाविति—नृपौ शिलीमुखान् बाणान् रुषाऽमर्षेण अपातयतां पातितवन्तौ। सपत्नाः शत्रवः हृदयानि अपातयन्। कथम् ? समं युगपत्। अत्रायमर्थः—तया नरेन्द्राभ्यां मुक्तया बाणानल्या सार्द्धमेव हृदयानि शत्रवः पातयन्ति स्म। तौ नृपौ नरेन्द्रौ उच्चैः पदमुच्चपदवीमध्यरुक्षतामारूढवन्तौ। कथम् ? विदूरमलङ्घ्यम्। सपत्नाः विपक्षः वामलूरकं वल्मीकं भिया भयेनाध्यरुक्षन्नारुरुक्षुः। कथम् ? समं युगपत्। सहोक्तिरलङ्कारः[1] ॥ ८ ॥

इषून्विमर्देऽमुचतां शरासनं शरानसूनप्यमुचन्नरातयः।
अजस्रमश्रु (मस्र) व्यमुचत्प्रियाजनस्तथास्थिताः स्पर्द्धममी न तत्यजुः ॥९॥

इषूनिति—तौ नृपती विमर्दे सङ्ग्रामे इषून् बाणान् अमुचतां मुक्तवन्तौ तथा तयोर्मुक्तबाणावल्य-नान्तरीयकत्वेन अरातयः शरासनं धनुस्तथा शरान् असून्प्राणानपि अमुचन् तथा प्रियाजनः भार्यासमूहः अस्रमश्रु अजस्रम् अनवरतं व्यमुचत्। तथापि अमी इमे प्रत्यक्षरूपनिरूपिता अरातयः स्पर्द्धमीर्ष्यां न तत्यजुः त्यक्तवन्तः। कथम्भूताः ? तथास्थिताः तादृशीं प्राणान्तिकीमवस्थां प्राप्ता इति[2] ॥ ९ ॥

विशेषसूत्रैरिव पत्रिभिस्तयोः पदातिरुत्सर्ग इवाहतोऽखिलः।
पलायितोऽन्योन्यमवेक्ष्य निस्त्रपः सहाभिभूतस्त्रपते हि कस्य कः ॥१०॥

विशेषसूत्रैरिति— तयोः नृपयोः पत्रिभिः शरैराहतस्ताडितः पदातिः भृत्यः पलायितो विद्रुतः।

तथा शुद्ध पैंतराके द्वारा पृथ्वीको और बाणवर्षाके द्वारा शत्रुओंके समूहको घेर लिया था ॥६॥

अपनी कीर्तिके प्रसारके लिए पर्याप्त स्थान करनेकी इच्छासे ही युद्धमें बाणवर्षाके द्वारा दिशाओंको ढकेलते हुएसे उन राघव-पाण्डव बन्धुओंके धनुषोंकी विशाल ज्याकी जोड़ी ही खींच जानेपर आगे पीछे होती थी किन्तु इनके पैर युद्धमें कदापि पीछे नहीं पड़ते थे ॥७॥

जब युद्धमें कुपित होकर राघव-पाण्डव राजा शत्रुओंके ऊपर बाण गिराते थे तभी शत्रु लोग अपने हृदयोंको गिरा देते (निराश हो जाते) थे ये दोनों विजयी राजा दुष्प्राप्य उन्नत महाराज पदपर आरूढ़ होते थे तथा भयत्रस्त शत्रु दूर या पर्वतों पर जाकर बिलोंमें छिप जाते थे ॥८॥

राघव-पाण्डव वीर घोर संग्राममें यदि केवल बाण छोड़ते थे तो अभागे शत्रु राजा बाण, धनुष और अपने प्राण भी त्याग देते थे। इनकी प्यारी पत्नियाँ निरन्तर अश्रु बहाती थी किन्तु ये शत्रु राजा उस दुर्दशाको प्राप्त होकर भी ईर्ष्याको नहीं छोड़ते थे ॥९॥

उनके बाणोंके द्वारा सब तरफसे बेधी गयी पदाति सेना वैसे ही भाग खड़ी हुई थी

---

1. सहजा वक्रोक्तिः प०, द०। 2. वक्रोक्तिः–प०, द०।

कीदृक् ? अखिलः पुनः निस्त्रपो निर्लज्जः । किं कृत्वा ? अन्योन्यं परस्परमवेक्ष्यावलोक्य । उपमार्थः क इव ? विशेषसूत्रैरपवादलक्षणैः विशेषोक्तविधिभिराहतः उत्सर्गः सामान्योक्तो विधिरिव । अर्थान्तरमुपन्यस्यते—हि स्फुटं सहाभिभूतः सार्द्धं पराजितः प्राणी कः कस्य त्रपते लज्जते ? अपि तु न कोपि कस्यापि[1] ॥ १० ॥

स तिर्यगन्वक्पुरतश्च विद्विषां दरीषु गुल्मेषु ददर्श तौ गणः ।
असूनिवान्वेष्टुममुष्य चक्षुषोर्मनस्विनौ बभ्रमतुर्मनःस्वपि ॥११॥

स इति–तौ लोकप्रसिद्धौ नृपती कर्मभूतौ सः विद्विषां वैरिणां गणः तिर्यग्वामदक्षिणादिभागे तथा अन्वक् पाश्चात्यभागे पुरतश्चाग्रतोऽपि दरीषु कन्दरासु तथा गुल्मेषु क्षुद्रक्षुपादिषु ददर्श । तथा तौ मनस्विनौ सचेतस्कौ अमुष्य विद्विषां गणस्य अधिकरणभूतयोः चक्षुषोः लोचनयोः मनःस्वपि अमुष्य विद्विषां गणस्य असून्प्राणान् अन्वेष्टुमिव बभ्रमतुः पर्यटितवन्तौ । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥११॥

ययुर्विदेशं विदिशं जगाहिरे धुनीरगाधा विललङ्घिरे गिरीन् ।
धृताः समुद्रस्य विलोलवीचिभिर्भयेऽपि भृत्या न पराक्रमं जहुः ॥१२॥

ययुरिति–भृत्याः पदातयः विदेशं ययुः गतवन्तस्तथा विदिशं ययुः पुनः धुनीः नदीः जगाहिरे व्यालोडितवन्तः । कथंभूताः धुनीः ? अगाधा अतलस्पर्शिनीः । पुनः गिरीन पर्वतान् विललङ्घिरे विशेषेणोल्लङ्घितवन्तः तथा समुद्रस्य विलोलवीचिभिः चञ्चलतरङ्गैः कर्मभिः धृताः । एवञ्च सति पराक्रमं न जहुः न त्यक्तवन्तः । क सत्यपि ? भयेऽपि । अत्र भावो व्यज्यते । तौ नृपती व्यालोक्य विपक्षपदातीनां प्रचुरतरभयवशाद्विदेशविदिगादिपदार्थाः पलायनाय स्तोकतरा जाताः पलायनं तावत्प्रचुरतरमासीद् भयवशादिति[2] ॥१२॥

विशांसि भान्वोरिव बिभ्रतोस्तयोर्विशङ्कया केचन कन्दरोदरम् ।
तमिस्रसङ्घा इव तेऽधिशिश्यिरे क नष्टमार्गा न विशन्ति जन्तवः ॥१३॥

विशांसीति–ते केचन शत्रवः विशङ्कया कन्दरोदरं गुहामध्यमधिशिश्यिरे अधिष्ठितवन्तः । कयोर्विशङ्कया ? विशांसि तेजांसि बिभ्रतोर्धरतोस्तयोर्नरेन्द्रयोः । कथंभूतयोरिव तयोः ? भान्वोरिव । कथम्भूताः केचन ? तमिस्रसङ्घा इव अन्धकारसमूहा इव यथा कन्दरोदरमधिशेरते । अर्थान्तरमुपन्यस्यते-नष्टमार्गाः प्रभ्रष्टसञ्चाराः के जन्तवः प्राणिनः क न विशन्ति अपि तु सर्वस्मिन् स्थाने विशन्त्येव[3] ॥१३॥

जैसे शास्त्रके अपवाद (विशेष) सूत्रोंके द्वारा समस्त उत्सर्ग (सामान्य विधि) किया जाता है । एक दूसरेको देखकर उन पदातियोंका संकोच या लज्जा खुल गयी थी और उचित ही है क्योंकि एक साथ पराजित, अतएव भागते हुओंमें कौन किससे शर्माये ॥१०॥

वह शत्रुओंका समूह उन दोनों राजाओंको दाँये-बाँये, आगे पीछे, गुफाओं और झाड़ियोंमें भी देखता था। मानो वे दोनों मनस्वी राजा शत्रुसमूहके प्राणोंको खोजनेके लिए ही उनकी आँखों तथा मनोंमें भी घूम रहे थे ॥११॥

शत्रुओंके पैदल सैनिकोंने भयमें आकर भी पराक्रम (दूसरे पर आक्रमण) को नहीं छोड़ा था क्योंकि वे विदेशको चले गये थे, विदिशाओंमें भाग गये थे, गहरी विशाल नदियोंको पार कर गये थे, ऊँचे-ऊँचे पहाड़ोंको लाँघ गये थे, और समुद्रकी चंचल तरंगों पर भी तैर गये थे ॥१२॥

सूर्यके तेजके समान प्रखर प्रतापके स्वामी उन राघव-पाण्डव राजाओंके भयसे कितने ही शत्रुलोग (अन्धकारपुञ्जके समान गम्भीर गुफाओंमें समा गये थे । ठीक ही है, क्योंकि पथभ्रष्ट अथवा घेरे गये लोग किस कुमार्ग अथवा दिशामें नहीं भागते हैं ॥१३॥

---

१. अर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारः-प०, द० । २. वक्रोक्तिः-प०, द० । ३. अर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारः-प०, द० ।

इति प्रतापादवगाढयोस्तयो रणस्य मध्यं रिपवोऽनुकूलताम् ।
ह्रदस्य जग्मुः करिणोरिवोर्मयश्चलाः सहन्ते किमिवातिवर्तिनः ॥१४॥

इतीति–तयोर्नरेन्द्रयोः इति पूर्वोक्तात् प्रतापादनुकूलतामनुलोमत्वं जग्मुर्ययुः । के ? रिपवः । कथंभूतयोस्तयोः ? रणस्य मध्यमन्तः अवगाढयोरधिष्ठितवतोः । के कयोरिव ? ह्रदस्य मध्यमवगाढयोः करिणोः ऊर्मय इव । अर्थान्तरमुपन्यस्यते–चलाः चञ्चलाः किमिव सहन्ते सोढुं प्रभवन्ति । कान् ? अतिवर्तिनोऽतिक्रमणशीलानिति ॥१४॥

गतावशिष्टेषु चलेषु केष्वपि स्थितेषु पुञ्जैः सरसस्तपेऽम्बुषु ।
अकालमेघा इव तत्र नायकाः समन्ततः संनिहिता धनुर्भृताम् ॥१५॥

गतेति–सन्निहिताः निकटे स्थिताः । के ? नायकाः स्वामिनः । केषाम् ? धनुर्भृतां धनुर्धराणाम् । कथम् ? समन्ततः सामस्त्येन । क्व ? तत्र संग्रामे । केषु सत्सु ? चलेषु सैन्येषु गतावशिष्टेषु गतेभ्योऽवशिष्टानि गतावशिष्टानि तेषु पलायितभूतेषु स्थितेषु सत्सु । कैः ? पुञ्जैः समुदायैः । कथंभूतेषु सत्सु ? केष्वपि कतिपयेष्वपि । उपमार्थः क इव ? अकालमेघा इव यथाऽसमयपयोदाः सन्निहिता जायन्ते । कस्य ? सरसः सरोवरस्य । क्व ? तपे ग्रीष्मे । केषु सत्सु ? अम्बुषु जलेषु गतावशिष्टेषु पुञ्जैः केष्वपि स्थितेषु सत्सु । उपमालङ्कारः ॥१५॥

पतत्रिनादेन भुजङ्गयोषितां पपात गर्भः किल तार्क्ष्यशङ्कया ।
नभश्चराः निश्चितमन्त्रसाधना अरे भयेनास्यपगारमुद्यताः ॥१६॥

पतत्रीति–भुजङ्गयोषितां नागवधूनां तार्क्ष्यशङ्कया गरुडभीत्या पतत्रिनादेन बाणध्वनिना गर्भः पपात पतितः । कथम् ? किल लोकोक्तौ शास्त्रोक्तौ वा । वनेऽरण्ये भयेन भीत्या असिरगारमसीनपगूर्यासिभिरपगूर्य वा खड्गानुत्खाय नभश्चरा उद्यता ऊर्ध्वीभूय स्थिताः । कथम्भूताः नभश्चराः ? निश्चितमन्त्रसाधनाः निश्चितमात्मप्रतीतिमानीतं मन्त्रसाधनं यैस्ते । समुच्चयः ॥१६॥

समन्ततोऽप्युद्गतधूमकेतवः स्थितोर्ध्वबाला इव तत्रसुर्दिशः ।
निपेतुरुल्काः कलमाग्रपिङ्गला यमस्य लम्बाः कुटिला जटा इव ॥ १७ ॥

समन्तत इति–दिशः आशाः तत्रसुः त्रस्ताः । कथम्भूताः ? उद्गतधूमकेतवः । किंविशिष्टा इव ? स्थितोर्ध्वबाला इव । तथा कलमाग्रपिङ्गलाः शालिकेशरपिङ्गाः उल्का विद्युतो निपेतुः । किंविशिष्टा इव ? यमस्यान्तकस्य लम्बाः प्रलम्बाः कुटिला वक्रा जटा इव[1] ॥ १७ ॥

इस प्रकारके पराक्रमी उन राघव-पाण्डव राजाओंके युद्धके बीचमें जाते जाते ही शत्रु वैसे ही अनुकूल हो जाते थे जैसे सरोवरके बीचमें तैरते हाथियोंके पीछे लहरें चलती हैं। उचित ही है क्योंकि स्वयं चंचल अतिक्रमणशीलके सामने कैसे टिक सकता है ॥१४॥

भागते-भागते भी कुछ शत्रु-सेनाएं थोड़ी-बहुत बच गयीं थी। इन्हें धनुषधारी सेनापतियोंने चारों ओरसे वैसा ही घेर लिया था जैसे ग्रीष्म ऋतुमें तालाबमें बचे थोड़ेसे पानीको असमयमें उमड़े बादल घेर लेते हैं ॥१५॥

बाणकी टंकारको सुनकर गरुड़की ध्वनिका भय हो जानेसे नागपत्नियोंके गर्भपात हो गये थे। खेचरोंको भी ऐसा दारुण भय हुआ था कि तलवारको मियानसे निकालनेका प्रयत्न करते-करते ही उन्हें यह विश्वास हो गया था कि वे मंत्रबलसे ही सफल हो सकते हैं ॥१६॥

युद्धकी भीषणतासे दशों दिशाएँ ऐसी भीत हो गयीं थी जैसी कि चारों ओरसे धूमकेतु छा जानेपर होता है और उनके बाल खड़े हो जाते हैं। शस्त्र-संघर्षसे उत्पन्न पके धान्यकी बालोंके समान धूसर रंगकी बिजलियाँ गिर रही थीं जो यमकी लम्बी और टेढ़ी जटाके समान प्रतीत होती थीं ॥१७॥

---

1. उत्प्रेक्षालङ्कारः–प०, द० ।

प्रभिन्नकक्षीवति लोलवाजिनि स्थिते पुरः स्यन्दनभाजि राजके ।
मनश्चकम्पे वनसन्निवासिनां तयोः क्षणं जीवितसंशयं गतम् ॥ १८ ॥

प्रभिन्नेति–वनसन्निवासिनां वनेचराणां मनश्चेतः चकम्पे प्रकम्पितम् । कथम्भूतं सत् ? जीवितसंशयं गतं सत् । कयोस्तयोर्नरेन्द्रयोः । कथम् ? क्षणं मुहूर्त्तमेकम् । क सति ? राजके नृपसमूहे प्रभिन्नकक्षीवति प्रभिन्नाः कक्षीवन्तो हस्तिनो यस्य तस्मिन् । पुनः लोलवाजिनि लोलाश्चञ्चलाः वाजिनस्तुरङ्गाः यस्य तस्मिन् । पुनः पुरोऽग्रतः स्थिते । पुनः स्यन्दनभाजि सरथे ॥ १८ ॥

इतस्ततः संविवरीषतां द्विषां सितातपत्राणि शितार्धचन्द्रकैः ।
तयोर्विलूनानि यशांसि संहतिं समागतानीव रणाङ्गणेऽपतन् ॥ १९ ॥

इतस्तत इति–रणाङ्गणे द्विषां शत्रूणां सितातपत्राणि इतस्ततः अस्मिन् तस्मिन्प्रदेशे अपतन् पतितानि । कथम्भूतानि ? तयोः नरेन्द्रयोः शितार्द्धचन्द्रकैः निशितबाणविशेषैः लूनानि छिन्नानि । कानीव ? संहतिं समुदायं समागतानि यशांसीव । किं कुर्वतां द्विषाम् संविवरीषतां संवरीतुमिच्छताम् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥१९॥

रथेषु तेषां जगतीभुजां ध्वजान्महीभुजौ चिच्छिदतुर्भुजानिव ।
तथा क्षुरप्रैरनयैः क्रियाफलं मदातिलोभाविव वाजिनां युगम् ॥ २० ॥

रथेष्विति–महीभुजौ नरेन्द्रौ जगतीभुजां राज्ञां रथेषु रथानामित्यर्थः । अत्र सप्तमी सम्बन्धविषया ज्ञेया । ध्वजान् चिच्छिदतुः छेदितवन्तौ । कानिव ? भुजानिव बाहूनिव । तथा वाजिनामश्वानां 'युगं क्षुरप्रैर्बाणविशेषैः चिच्छिदतुः । काविव ? मदातिलोभौ इव यथा । मदो वैचित्यमतिलोभः आत्मन्यनात्मीयस्य वस्तुनोऽस्याकाङ्क्षया समर्पणमित्यतिलोभः ; मदश्चातिलोभश्च तौ तथोक्तौ चिच्छिदतुः । किम् ? क्रियाफलं विग्रहयानासनादिलक्षणं षाड्गुण्यम् । कैः कृत्वा ? अनयैः । गुणानां यथास्वमवस्थानानि नयास्तद्विपरीतैरनयैः कृत्यानामकरणैर-कृत्यानां करणैश्चाक्षयलाभवियोगकारणैरित्यर्थः । अनीतिभिरिति शेषः[2] ॥ २० ॥

शरेण चूडामणयः किरीटतो विपाटिता नायकतां विहाय ते ।
कुतोऽपि याता विदिता न भूभृतां पदच्युतानामियमीदृशी गतिः ॥२१॥

शरेणेति–विपाटिता उत्पाटिताः[4] । के ? चूडामणयः शेखररत्नानि । केन ? शरेण बाणेन कस्माद्विपाटिताः ? किरीटतः मुकुटात् । केषाम् ? भूभृतां नृपाणाम् । तथा न विदिता न लोचनगोचरा जाताः ।

हस्ति-सेनाको चूर चूर करते हुए चंचल और तेज घोड़ोंकी सेनाको दौड़ाते हुए तथा रथोंकी तोड़ मरोड़ करनेमें लीन उन योद्धा राजाओंको देखकर वनवासियोंका चित्त काँप गया था और क्षणभरके लिए उनका अपना जीवन भी संशयमें पड़ गया था ॥१८॥

राघव-पाण्डवोंके अर्द्ध चन्द्राकार बाणोंके द्वारा काटे गये संवरण करनेकी इच्छासे ही एकत्रित शत्रुओंके श्वेत छत्र रणभूमिमें इधर-उधर बिखरे हुए ऐसे लगते थे मानो यशका समूह वहाँ इकट्ठा हो गया हो ॥१९॥

इन दोनों राजाओंने शत्रु राजाओंके रथोंपर लहराती बाहुओंके समान ध्वजाओंको अपने क्षुरप्र बाणोंके द्वारा काट डाला था । जिस प्रकार भीषण अहंकार और प्रगाढ़ लोभ अनीति मार्गका आचरण कराके ध्यान-आसन आदि तपस्याके फलको नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार इनने उनके रथके घोड़ोंके जोड़ीके कंधे पर रखे जुआको काटकर फेंक दिया था ॥२०॥

शत्रु राजाओंके मुकुटोंके ऊपर बाण चलाकर राघव-पाण्डव वीरोंने चूड़ामणि उड़ा

---

१. "युगो रथे हलाद्यङ्गे" इति मेदिनी । अतोऽत्र बोढृबन्धनस्थानं ग्राह्यम् । २. विनाश–द० ।
३. संकराऽलङ्कारः–प०, द० । ४. उत्थिता–प०, द० ।

के ते ? चूडामणयः। कथम्भूताः सन्तः ? याता गताः। कथम् ? कुतोऽपि कस्मिन्नपि स्थाने। किं कृत्वा ? पूर्वं विहाय परित्यज्य। काम् ? नायकतां प्रधानत्वम्। अत्रैतदुक्तं भवति-भूभृतामेव नायकत्वमवशिष्टं न खलु चूडामणीनामिति भावः। अर्थान्तरमुपन्यस्यते-पदच्युतानां स्थानभ्रष्टानामियं प्रत्यक्षीभूता ईदृशी गतिरवस्था[1] ॥ २१ ॥

प्रसह्य ताभ्यां परलोकसाधनः शरैर्नृपाणां गुणवान्पराहतः।
मदाभिमानाधिकवीर्यसंग्रहाद् वसुस्मराभ्यामिव धर्मसञ्चयः ॥२२॥

प्रसह्येति-पराहतः निराकृतः। कोऽसौ कर्मतापन्नः ? धर्मसञ्चयः चापसमूहः। काभ्याम् ? ताभ्यां नरेन्द्राभ्याम्। कथम् ? प्रसह्य बलात्कारेण। कस्मात् ? मदाभिमानाधिकवीर्यसंग्रहात् (मदः स्मयः) तस्येदं लक्षणम्। "ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वं मदमाहुर्गतस्मयाः ॥" [र. क. २५] अभिमानस्त्रिजगतामुपरि मां विहाय नान्यः कश्चिदौदार्यादिगुणवानस्तीति बुद्धिः। वीर्यं पराक्रमः। मदश्चाभिमानश्च मदाभिमानौ मदाभिमानाभ्यामधिकञ्च तद्वीर्यञ्च मदाभिमानाधिकवीर्यं तस्य संग्रहोऽङ्गीकारस्तस्मात्। कैः कृत्वा ? शरैः बाणैः। केषां चापसञ्चयः ? नृपाणां भूपतीनाम्। कथंभूतः ? परलोकसाधनः परलोकं शत्रुवर्गं साधयतीति सः। पुनः गुणवान् जीवावान्। उपमार्थः काभ्यामिव ? वसुस्मराभ्यामिव। यथाऽर्थकामाभ्यां पराहतः कः धर्मसञ्चयः पुण्यसञ्चयः। कथम् ? प्रसह्य हठात् कस्मात् मदाभिमानाधिकवीर्यसंग्रहात् मदाभिमानप्रचुरसङ्गमात्। कथंभूतः ? धर्मसञ्चयः गुणवान् व्रतादिमान्। पुनः परलोकसाधनः स्वर्गादिसाधकः। उपमालङ्कारः ॥२२॥

स सागरावर्तधनुर्धरो नरो नभःसदां कामविमानसंहतिम्।
अयत्नसंक्लृप्तगवाक्षपद्धतिं चकार शातैर्विशिखैर्विहायसि ॥२३॥

स इति-स नरः ना कामविमानसंहतिं कामाय सम्भोगाय विमानसंहतिः कामविमानसंहतिस्तां शातैर्निशितैर्विशिखैर्बाणैः अयत्नसंक्लृप्तगवाक्षपद्धतिमप्रयासविहितवातायनमार्गं चकार। क ? विहायस्याकाशे। केषां विहायसि ? नभःसदां देवानां विद्याधराणां वा। कथम्भूतो नरः ? सागरावर्तधनुर्धरः सागरावर्तनामधेयं धनुर्धरतीति सः।

दिये थे। फलतः वैरी राजा अपने नेतृत्वको त्यागकर न जाने कहाँ चले गये थे। उचित ही है क्योंकि अपने पदसे च्युत लोगोंकी ऐसी ही गति होती है ॥२१॥

कुल जाति आदिके भेदसे आठ प्रकारके मदों अहंकार तथा अधिक बलके संचयके कारण वसु और कामदेवके समान उन राघव-पाण्डव राजाओंने शत्रुलोगोंके विनाशमें सहायक तथा ज्या युक्त, शत्रु राजाओंके धनुष समूहको अपने बाणोंके द्वारा जबरदस्ती नष्ट कर दिया था [अर्थ तथा काम पुरुषार्थ भी अष्टविध मद, अहंकार तथा अति शक्तिका संग्रह कराके दूसरे जन्ममें सहायक, व्रतादि पालन स्वरूप धर्म पुरुषार्थको बलवद् अभिभूत करा देते हैं] ॥२२॥

सगर राजाकी वंश-परम्परामें उत्पन्न उस धनुषधारी लक्ष्मणने आकाशचारी खर-दूषण आदि विद्याधरोंके इच्छा मात्रसे चलनेवाले विमानोंको आकाशमें ही रहने पर भी अपने तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा ऐसा छेद दिया था कि वे स्वाभाविक खिड़कियोंसे पूर्ण समान लगते थे।

अन्वय—सागरावर्त्तधनुर्धरः स विहायसि शातैः विशिखैः अनभःसदां कामविमानसंहतिं अयत्नसंक्लृप्तगवाक्षपद्धतिं चकार।

---

१. अर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारः-प०, द०।

अधुना भारतीयः—स नरोऽर्जुनः कामविमानसंहतिं काममत्यर्थं विगतो मानो यस्याः सा कामविमाना सा चासौ संहतिश्च ताम् । अयत्नसंक्लृप्तगवाक्षपद्धतिमयत्नेन अतत्परतया संक्लृप्ता विहिता गवां पशूनामक्षपद्धतिरिन्द्रियवर्गो यस्यां सा तां चकार । अत्र शस्त्रविद्धानां किल भीरूणां नराणां शस्त्रक्षतक्षतजप्रवाहात् पूर्वं मूर्च्छा मनोवैकल्यं तदनन्तरमिन्द्रियाणां तेषु तेषु विषयेषु यदृच्छया प्रवृत्तिः संहतेर्न भवतीति भावो निरूपितः । कैः कृत्वा तां तथोक्तां चकार ? शातैर्निशितैर्विशिखैर्बाणैः । क्व चकार ताम् ? विहायसि विहानं विहः कप्रत्ययान्तः । विहानि विशिष्टप्रभुत्वोपलक्षितानि अयांसि लोहानि यत्र तत् विहायस्तस्मिन् विहायसि रणे । केषां कामविमानसंहतिम् ? अनभस्सदां न नभसि सीदन्ति गच्छन्तीत्यनभस्सदो नरास्तेषाम् । स कथं भूतो नरः ? सागरावर्त्तधनुर्धरः सागरस्य समुद्रस्य आवर्त्ता इव पयसां भ्रमा इव आवर्त्ता यस्य तत् सागरावर्त्तम् । अथवा 'सगरो नाम चक्रवर्त्ती सगरस्येदं सागरं धनुः सागरस्येवावर्त्ता यस्य तत् सागरावर्त्तम् । अथवा सागरं समुद्रमावर्त्तयतीति सागरावर्त्तं तच्च धनुर्धरतीति तथोक्तः । श्लेषः ॥२३॥

कर्णैर्गजास्तेन विलूनपुष्करा बभुः स्रवन्तः क्षतजानि धारया ।
बृहन्नितम्बा दवदाहनीलिता नगाः क्षरद्गैरिकनिर्झरा इव ॥२४॥

कर्णैरिति—तेन द्वितयेन नरेन्द्रेण कर्णैः बाणैः विलूनपुष्कराश्छिन्नशुण्डाग्राः गजाः हस्तिनो बभुः शोभन्ते स्म । कथम्भूताः गजाः ? धारया क्षतजानि रुधिराणि स्रवन्तः । पुनः बृहन्नितम्बाः स्थूलकटिप्रदेशाः । के इव ? नगा इव पर्वता इव । कथम्भूताः नगाः ? बृहन्नितम्बाः स्थूलसानवः । पुनर्दवदाहनीलिताः वनज्वलनप्राप्तनीलभावाः । पुनः क्षरद्गैरिकनिर्झराः स्रवद्धातुजलप्रवाहाः[1] ॥२४॥

रथप्रयुक्तस्य हयस्य पश्चिमे शरैर्विलूने पदयोर्युगेऽमुना ।
पुरःपदोत्क्रान्तधुरस्य चामरैर्मृगाधिपस्येव सटैः क्रमोऽभवत् ॥२५॥

रथेति—अभवत्सञ्जातः । कः क्रमः स्खलनम् । कस्य ? हयस्याश्वस्य । कैः ? चामरैः प्रकीर्णकैः । क्व सति ? पदयोश्चरणयोः युगे युग्मे शरैः बाणैर्विलूने सति । कथंभूतस्य ? रथप्रयुक्तस्य । पुनः कथम्भूतस्य ? पुरःपदोत्क्रान्तधुरस्य पुरःपदाभ्यामग्रचरणाभ्यामुत्क्रान्ता धुरा येन स तस्य अग्रचरणोर्ध्वविधृतयूपस्येत्यर्थः । उपमार्थः प्रदर्श्यते । कस्येव क्रमोऽभवत् मृगाधिपस्येव । यथा सटैः स्कन्धकेसरैः सिंहस्य क्रमो जायते तथा हयस्य क्रमो भवत इति । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २५ ॥

हृतैकपादं युधि तस्य रोपणैः क्षणं निषण्णं सुहृदीव कार्मुके ।
परत्र राजन्यकमेकपादकं तपस्यतीव स्म जिगीषया रिपोः ॥ २६ ॥

समुद्रकी भौंरके समान विशाल तथा दारुण धनुषके धारक उस अर्जुनने विशिष्ट लोहसे बने शस्त्रोंकी प्रयोगस्थली युद्धभूमिमें अपने प्रखर बाणोंकी वर्षासे थलचर कीचकादि के निमित्तसे घेरी गयी सर्वथा बे प्रमाण गायोंके समूहको बिना किसी प्रयत्नके निकल भागने योग्य मार्ग बना दिया था ॥२३॥

राघव-पाण्डव राजाके द्वारा 'कर्ण' प्रकारके बाणोंसे सूंड काट दिये जाने पर घावोंसे रक्तकी धार बहाते हुए सुपुष्ट हाथी दावाग्निसे जलनेके कारण नीली नीली, मोटी चोटियों युक्त तथा गेरूके झरनोंको बहाते हुए पहाड़ोंके समान प्रतीत होते थे ॥२४॥

रथमें जुते घोड़ोंके पीछेके पैरोंकी जोड़ीको राघव अथवा पाण्डव राजाके बाणोंसे काट दिये जाने पर भी केवल आगेके पैरोंके सहारे रथकी धुराको सम्हाले तथा चमर लटकाते वे घोड़े गर्दनके बालोंसे सुशोभित हमला करनेके लिए तैयार सिंहके समान प्रतीत होते थे ॥२५॥

---

१. राघवीयपक्षे समुचित इति । २. उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः—प०, द० ।

हतेति—राजन्यकं राजपुत्रसमूहः कार्मुके धनुषि निषण्णमवष्टब्धम् । कस्मिन्निव सुहृदीव । कथम् ? क्षणम् । कथम्भूतम् ? हतैकपादं छिन्नैकचरणम् । कैः ? तस्य नरेन्द्रद्वितयस्य रोपणैः शरैः । क्व ? युधि रणे । उत्प्रेक्षते—एकपादकमेकः पादो यस्मिन्, क्रियाविशेषणे । परत्र परलोके रिपोः शत्रोः विजिगीषया जेतुमिच्छया तपस्यति स्मेव तपस्याञ्चकारेव ॥ २६ ॥

स सूर्यहासं किमसिं किमर्गलां गदां नु पाशं नु परश्वधं धनुः ।
दधत्किमित्याकलितो न भीरुभिर्मतिः कुतो वा चलितेषु धातुषु ॥२७॥

स इति—स लक्ष्मणः भीरुभिः कातरैः किम् इति न आकलितः न निश्चयमानीतः । किं कुर्वन् ? किं सूर्यहासाख्यमसिं खड्गं दधत् दधानः । किमर्गलां परिघम् नु अहो किं गदां नु किं पाशं नु किं परश्वधं किं परशुं किं धनुश्चापं दधदिति सम्बन्धः । अर्थान्तरमुपन्यस्यते—धातुषु रसासृग्मांसादिषु चलितेषु सत्सु कुतो वा मतिः स्यात् ।

भारतीयः—सः अर्जुनः भीरुभिरसिं दधत् न आकलितः । कथम्भूतम् ? असिं सूर्यहासं सूर्यस्येवहासस्तेजो यस्य तं सूर्यसदृशदीप्तिमित्यर्थः । अन्यत्समम्[1] ॥ २७ ॥

स शात्रवाणां हृदि शल्यमुद्धरन्स्वशस्त्रशल्येन जगाम बन्धुताम् ।
समुन्नता यत्कुपिताश्च कुर्वते न तत्प्रतीता ह्यपि दुर्जनाः प्रियम् ॥ २८ ॥

स इति—स नरेन्द्रः स्वशस्त्रशल्येन शात्रवाणां हृदि हृदये शल्यमुद्धरन्नुत्पाटयन् बन्धुतां बान्धवत्वं जगाम गतवान् । अर्थान्तरमुपन्यस्यते—समुन्नताः सत्पुरुषाः कुपिताः क्रुद्धाः च अपि सन्तः यत् प्रियं कुर्वते तत् प्रियं प्रतीताः तुष्टा अपि दुर्जना न कुर्वते । हि स्फुटम् ॥ २८ ॥

नृपा नृपत्वं न शराः शरात्मतां न कार्मुकं कार्मुकतां तुरङ्गमाः ।
तुरङ्गतां तिष्ठिधिरे न संयुगे विमुञ्चति ज्यायसि बाणसंहतिम् ॥ २९ ॥

नृपा इति—न तिष्ठिधिरे नास्कन्दन्ति स्म न प्रासा इत्यर्थः । के ? नृपाः भूपतयः । किम् ? नृपत्वं क्षात्रधर्मम् । तथा शराः न शरात्मताम् । प्राणान् शृणन्ति हिंसन्तीति शरास्तेषामात्मा शरात्मा तस्य भावस्तत्ता तां प्राणिप्राणमारणलक्षणं धर्ममित्यर्थः । तथा कार्मुकं धनुः न कार्मुकताम् । कर्मणि शक्तं कार्मुकं तस्य भावस्तत्ता तां नमनाकर्षणसमर्थत्वम् । तथा तुरङ्गमा अश्वाः न तुरङ्गतां तुराङ्गच्छन्तीति तुरङ्गास्तद्भावं

लक्ष्मण अथवा अर्जुनके बाणोंके द्वारा युद्धमें एक पैर कट जाने पर भी मित्रके समान धनुषका सहारा लेकर एक पैरके बल ही खड़े शत्रु राजा लोग ऐसे लगते थे मानो परलोकमें शत्रुको जीतनेकी कामनासे 'एकपाद' मुद्रामें तपस्या ही कर रहे हैं ॥२६॥

सूर्यहास नामकी अलौकिक तलवारके धारक उस लक्ष्मणको कायर शत्रु लोग ठीक तरहसे नहीं समझ सके थे। वे सोचते थे क्या तलवार है, या अर्गला है, या गदा, पाश, फरसा अथवा धनुष है। ठीक ही है धैर्यके गलित हो जानेपर सन्मति कहांसे आयगी? अथवा तीक्ष्णता और प्रतापमें सूर्यको भी हँसनेवाले गाण्डीव धनुषके धारक उस अर्जुनको······ ॥२७॥

अपने बाणादि शस्त्रोंकी नोकसे शत्रुओंके हृदयकी जय-पराजयादिकी शल्य (चिन्ता) को दूर करते हुए उस लक्ष्मण अथवा अर्जुनने मित्रका काम किया था। यह उनके अनुरूप ही था क्योंकि क्रुद्ध होकर भी सज्जन जितना उपकार करते हैं दुर्जन अत्यन्त प्रसन्न होकर भी उतना नहीं करते हैं ॥२८॥

---

१. अर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारः—प०, द० । २. अर्थान्तरन्यासालङ्कारः—प०, द० ।

शीघ्रगामित्वमित्यर्थः । क्व सति ? ज्यायसि ज्येष्ठे भ्रातरि संयुगे रणे बाणसंहतिं शरपरम्परां मुञ्चति विसृजति सति । तिष्ठिपिरे इति क्रियाप्रतिसम्बन्धं सम्बन्धनीयेति । समुच्चयालङ्कारः ॥२९॥

गजेषु नष्टेष्वगजेष्वनायकं रथेषु भग्नेषु मनोरथेषु च ।
न शून्यचित्तं युधि राजपुत्रकं पुरातनं चित्रमिवाशुभद् भृशम् ॥३०॥

गजेष्विति—युधि संग्रामे राजपुत्रकं नरेन्द्रसमूहः न अशुभत्, अपि तु शोभते स्म । कथम् ? भृशमत्यर्थम् । किमिवाशुभत् ? पुरातनं जीर्णं चित्रमिव । कथम्भूतम् ? शून्यचित्तं शून्यं चित्तं यस्य तत् । पुनरनायकमस्वामिकम् । केषु केषु सत्सु ? अगजेषु गिरिसम्भूतेषु गजेषु नष्टेषु लोचनागोचरेषु सत्सु । पुनः रथेषु भग्नेषु शस्त्रघातेन चूर्णितेषु । तथा मनोरथेषु भग्नेषु भयवशेन विलयङ्गतेषु चेति । आक्षेपालङ्कारः ॥३०॥

प्रभावतो बाणचयस्य मोक्तरि प्रभावतोषे समरे स्थिते नृपाः ।
प्रभावतो हीनतया विवर्जिता प्रभावतो ही न तया रराजिरे ॥३१॥

प्रभावत इति—ही कष्टं नृपा राजानः तया लोकप्रसिद्धया लक्ष्म्या वा हीनतया दिड्जननिन्दितया कातरतया वा प्रभावतः प्रभावेण प्रतापेनेति विवर्जिताः प्रमुक्ताः सन्तः न रराजिरे न शोभन्ते स्म । कथंभूतेन ? प्रकृष्टो भावो यस्मात् स प्रभावस्तेन प्रभावतः प्रभावेन माहात्म्यं दातुं समर्थेनेत्यर्थः । अत्र "दृश्यतेऽन्यतोऽपि" [जै० ४।१।७९] इत्यनेन सूत्रेण तसो विधानम् । क्व सति ? प्रभौ स्वामिनि रामे भीमे वा । कथंभूते ? स्थिते निविष्टे । पुनः अतोषेऽसन्तुष्टे । पुनः बाणचयस्य शरसन्दोहस्य मोक्तरि विसृष्टरि । कथम्भूतस्य ? प्रभावतः प्रभाऽस्यास्तीति प्रभावान् तस्य दीप्तिमतः । आदिपदयमकम् ॥३१॥

गजा नियन्तॄन्करशीकरोत्करैर्विमुक्तसूत्कारमिषूपदारितान् ।
[1]निशारशीतैरुदमीमिलन्नहो महीयसां प्रीतिररुन्तुदेष्वपि ॥३२॥

गजा इति—गजा हस्तिनः नियन्तॄन् महामात्रकान् विमुक्तसूत्कारं यथा उदमीमिलन् उज्जीवयन्ति स्म । कथम्भूतान् नियन्तॄन् ? इषूपदारितान् शरपञ्जरजर्जरितान् । कैः कृत्वा ? करसीकरोत्करैः शुण्डादण्डाग्रविमुक्तजलबिन्दुवृन्दैः । कथम्भूतैः ? निशारशीतैः हिमकण (हिमांशु) शीतलैः । अर्थान्तरम् । अहो आश्चर्यं महीयसां गम्भीरचेतसां प्रीतिः अरुन्तुदेष्वपि मर्मच्छित्स्वपि [2]स्यात् ॥३२॥

बड़े भाई राम अथवा युधिष्ठिरके बाण चलाने पर युद्धमें नृप लोग नृपत्व (क्षात्रधर्म) को नहीं निभा सके थे शर शरता (दूसरोंका प्राणहरण) को, कामुर्क कामुर्कता (नमन, स्फालन, आदि कार्योंकी कुशलता) को तथा तुरंगम तुरंगता (वेगसे दौड़ना) को नहीं निभा सके थे ॥२९॥

पर्वतोंमें उत्पन्न हाथियोंके मारे जाने पर, रथोंके टूट जानेपर तथा विजयके मनोरथ समाप्त हो जानेपर क्षण भरके लिए स्तब्धचित्त तथा नेता विहीन वंशक्रमसे राजपुत्र क्या पुराने चित्रके समान अत्यन्त मनोहर नहीं लगते थे [प्राचीन चित्रसे भी कोई आय नहीं होती है तथा निर्जीव होता है ॥३०॥

असंतुष्ट राजा राम अथवा भीमकी समरस्थलीमें उपस्थिति, प्रतापवान् बाण बर्षाते योद्धाओंके कारण लक्ष्मीसे परित्यक्त अतएव प्रभावसे वंचित शत्रुराजा लोग प्रभुताकी दृष्टिसे तनिक भी नहीं जँचते थे ॥३१॥

बाणोंकी मारसे घायल महावतोंको हाथी हिमकणोंके समान ठंडे सूंडसे निकले जलबिन्दुओंके द्वारा तथा 'सू सू' शब्द करते हुए पुनः चैतन्य करते थे। ठीक ही है महात्मा कष्ट देनेवालों पर भी प्रीति दिखाते हैं ॥३२॥

---

१. यद्यपि निशार इति आवरणेऽर्थे "भ्र वायुवर्णनिवृत्तेषु" इति वचा साधितस्तथापि निशां राति गच्छति निशारश्चन्द्रस्तद्वच्छीतल इति टीकार्थः कथञ्चित्समाधेयः । हिमार्थे स्वप्रसिद्धः । २. अर्थान्तरन्यासः—प०, द० ।

ज्वलत्यमुष्मिन्कुपिते महीपतावनेककबन्धानि विभावसाविव ।
प्रिये प्रजानां ननृतू रणे तथा वने कबन्धानि विभावसाविव ॥ ३३ ॥

ज्वलतीति–कबन्धानि अशिरांसि तथा ननृतुः नृत्यन्ति स्म । क्व ? रणे सङ्ग्रामे । कथम्भूतानि ? अनेककबन्धानि नानाविधकरणानि । कस्मिन् सति ? अमुष्मिन्नस्मिन् महीपतौ रामे अर्जुने च असाविव प्राण इव प्रजानां प्रिये वल्लभे कुपिते सति । कथम्भूते महीपतौ ? विभौ स्वामिनि "असावित्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्" । पुनः कस्मिन्निव ? विभावसौ वह्नाविव यथा वनेऽरण्ये ज्वलति दीप्ते भवति सति कबन्धानि जलानीव[1] ॥३३॥

तयोः पतन्त्यः शरपञ्जरान्तरं विरेजुरुष्णातपयष्टयः स्फुटम् ।
यमेन शुद्धामिषसञ्जिघित्सया तनूभृतां पर्शव इवावतानिताः ॥३४॥

तयोरिति–तयोः नरेन्द्रयोः शरपञ्जरान्तरं बाणवेणीमध्यं पतन्त्यः उष्णा (उस्रा) तपयष्टयः प्रतिबिम्बिता दण्डाकाराः किरणावल्य इत्यर्थः । विरेजुः शोभन्ते स्म । का इव उत्प्रेक्षिताः ? पर्शव इव पर्शुशब्दः कुक्षिप्रदेशास्थिवाचकः । यमेनान्तकेन शुद्धामिषसञ्जिघित्सया केवलमांसभक्षणवाञ्छया स्फुटमवतानिताः प्रसारिता इव । केषाम् तनूभृतां प्राणिनाम्[1] ॥३४॥

शरैः समस्तः खरदूषणो रिपुः समं ततोऽभीतमहानराजितः ।
विशीर्णचेताः कृतयुद्धविक्रमः समन्ततोऽभीतमहानराजितः ॥३५॥

शरैरिति–खरदूषणः खरदूषणनामा रिपुः शत्रुः न राजितः न शोभितः । कथम्भूतः ? शरैः बाणैः समं युगपत् समस्तः सन्तर्जितः । कस्मात् ? ततः तस्माल्लोकप्रसिद्धात् अभीतमहानराजितः अभीतौ निर्भयौ यौ महानरौ मनुष्योत्तमौ रामलक्ष्मणौ तयोराजितः रणात् । कथम्भूतः ? विशीर्णचेताः छिन्नचित्तः । पुनः कृतयुद्धविक्रमः विहितसङ्ग्रामविक्रमः । पुनः अभीतमहाः अभि समन्तादितं गतमभीतं महो यस्य सः सामस्त्येन नष्टतेजाः । कथम् ? समन्ततः सामस्त्येन ।

भारतीयः–न राजितः । कः ? रिपुः । कथम् भूतः ? समस्तोऽखिलः । पुनः खरदूषणः तीव्रापराधः । पुनः समन्ततः प्रभिन्नः । कैः ? शरैः बाणैः । कथम् ? समं युगपत् । पुनः विशीर्णचेताः भीतचित्तः ।

जनताके लिए प्राणोंके समान प्यारे समस्त पृथ्वीके इस राजा राम अथवा भीमके कुपित होनेपर समरभूमिमें नाना प्रकारके कबन्ध वैसे ही (नाचते फिरते) बरसते थे जैसे कि सूर्यके खूब तपनेपर वनमें जलकी वृष्टि होती है ॥३३॥

लक्ष्मण और अर्जुनके लगातार चलते बाणोंके पंजरके बीचमें स्पष्ट रूपसे चमचमाती सूर्यकी उष्ण रश्मियां ऐसी दिखती थीं मानो शरीरधारियोंके शुद्ध मांसको खानेकी इच्छासे यमराजने उनकी पसलियां अलगसे फैंक दी हों ॥३४॥

उन निर्भय महापुरुषों राम तथा लक्ष्मणके द्वारा सब प्रकारसे परास्त, एकाएक बाणों की मारसे विह्वल तथा भग्नमनोरथ तथापि सब प्रकारसे युद्धमें पराक्रम दिखानेके लिए प्रयत्नशील वे खर-दूषण नामक शत्रु सब प्रकारसे प्रभाव नष्ट हो जानेके कारण निस्तेज हो गये थे ।

अन्वय—खरदूषणः रिपुः समं शरैः समन्ततः समस्तः ततो अभि-इत महानरआजितः विशीर्णचेताः कृतयुद्धविक्रमः अभीतमहा न राजितः

अत्यन्त अपराधी वे सब कीचकादि शत्रु एकाएक बाणोंके द्वारा छेद दिये जाने पर उन सामने बढ़ते हुए महापुरुषों, भीम तथा अर्जुनके साथ युद्ध करनेसे मन ही मन ठंडे पड़

---

1. अन्त्ययमकम्–प०, द० । २. उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः–द० ।

कस्मात् ? अभीतमहानराजतः अभीतो भीमः महानरोऽर्जुनस्तयोराजिः सङ्ग्रामस्तस्मात्। अथवा सम्मुखागतार्जुनरणात्। पुनः कृतयुद्धविक्रमः कृतञ्च तत्युद्धञ्च कृतयुद्धं तत्र विगतः क्रमो यस्य सः विहितरणविगतशक्तिरित्यर्थः। पुनरमीतमहाः प्रभ्रष्टतेजा इति। श्लेषः ॥ ३५ ॥

चिरस्य युद्ध्वा स पपात निष्क्रियः सहैव शुद्धान्तवधूजनाश्रुभिः।
सुरासुराणां कुसुमाञ्जलिर्दिवस्तयोरपप्तन्मधुपायिभिः समम् ॥३६॥

चिरस्येति—स खरदूषणो रिपुः चिरस्य चिरकालं युद्ध्वा संप्रहृत्य निष्क्रियः निश्चेष्टः सन् शुद्धान्तवधूजनाश्रुभि रन्तःपुरकामिनीजनबाष्पजलैः सह पपात। तयोः नरेन्द्रयोः सुरासुराणां देवदानवानां कुसुमाञ्जलिः प्रसूनाञ्जलिः दिवः आकाशात् अपप्तत् पपात। कथम्? समम्। कैः? मधुपायिभिः भ्रमरैः[2] ॥ ३६ ॥

निपीय रक्तं सुरपुष्पवासितं सितं कपालं परिपूर्य सूनृताम्।
नृतां प्रशंसन्त्यनयोर्ननर्त्तवाननर्तवाचोर्युधि रक्षसां ततिः ॥३७॥

निपीयेति—रक्षसां ततिः श्रेणिः न नवा ननर्त्त अपि तु ननर्त्तैव। क्व? युधि संग्रामे। "द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः।" किं कुर्वती सती? अनयोः नरेन्द्रयोः सूनृतां सत्यां नृतां नृधर्मं प्रशंसन्ती। कथम्भूतयोरनयोः? अनृतवाचोः सत्यवचसोः। किं कृत्वा ननर्त्त? सुरपुष्पवासितममरकुसुमसंस्कृतं रक्तं रुधिरं निपीय पीत्वा। पुनः किं कृत्वा? सितं शुक्लं कपालं परिपूर्य भृत्वा ॥३७॥

प्रसार्य पादावधिरोप्य बालकं विधाय वक्त्रेऽङ्गुलिपङ्क्तमङ्गना।
प्रवेशयामास वसां महीक्षितां प्रकल्प्य पीथं पिशिताशिनां शनैः ॥३८॥

प्रसार्येति—पिशिताशिनां राक्षसानामङ्गना कामिनी महीक्षितां नरपतीनां वसां मांसादिगतस्नेहं बालकं प्रवेशयामास पाययति स्म। धातूनामनेकार्थत्वात्। किं कृत्वा? पूर्वं पीथं प्रकल्प्य सङ्कल्प्य। किं कृत्वा? वक्त्रे वदने मन्दमङ्गुलिपङ्क्तं विधाय कृत्वा। किं कृत्वा? अधिरोप्य। कम्? बालकम्। किं कृत्वा? पादौ प्रसार्य ॥३८॥

समुत्पतन्तो दिवि रेणवोऽणवो विलूनमूलाः क्षतजेन तेनते।
अधःप्रदीप्तज्वलनाः सितासिता रणस्य धूपा इव रेजिरेऽजिरे ॥३९॥

समुत्पतन्त इति—अणवः सूक्ष्माः रणोद्भवा रेणवः धूल्यः रेजिरे भान्ति स्म। किं कुर्वन्तो रेजिरे? दिवि गगने समुत्पतन्तः उत्प्लवमानाः। कथम्भूताः? अधःप्रदीप्तज्वलनाः अधस्तात्प्रज्वलिताग्नयः। कथम्भूताः?

गये थे। क्योंकि उनका युद्धका पराक्रम समाप्त हो गया था और सब प्रकारसे प्रभाव समाप्त हो जाने से वे निस्तेज हो गये थे ॥ ३५॥

उक्त प्रकारसे चिरकाल तक युद्ध करके वह खरदूषण अथवा कीचक निष्क्रिय हो अन्तःपुरकी रानियोंके आँसुओंके साथ साथ गिर गया था। तथा दोनों पक्षके इन योद्धाओंके लिए देवता और दानवोंकी पुष्पांजलियाँ गिरीं थीं जिनपर भौंरे गूंज रहे थे ॥३६॥

सत्यवादी राघव-पाण्डव राजाओंकी अक्षरशः सत्य महा मानवताकी प्रशंसा करती हुई राक्षसोंकी पंक्तियां युद्ध भूमिमें स्वर्गीय पुष्पोंसे सुगन्धित मृतोंके रक्तको श्वेत कपालोंमें भरकर यथेच्छ पीकर नाच उठी थीं ॥३७॥

मांसाहारी राक्षसोंकी स्त्रियोंने पैरोंको फैलाकर उनपर बच्चेको बैठा लिया था फिर मृत राजाओंकी चर्बीका घोल बनाकर बच्चोंके मुखमें अंगुलि डालकर धीरे-धीरे उसे उनके गलेके नीचे उतार दिया था ॥३८॥

संग्राम-भूमिमें ऊपर उड़ी हुई धूलके कण घावोंसे बहे रक्तके कारण नीचे शान्त हो

---

१. सहोक्तिः-प०, द०। २. पा-थक् (पातृतुदीति। उण्, २।७) पिबति रसादीनिति पा-कर्त्तरि-थक् सूर्याग्निकालाः।

विलूनमूलाः विलूनं मूलमधिष्ठानं येषां ते तथोक्ताः। केन कृत्वा ? तेन प्रसिद्धेन क्षतजेन भटव्रणजातरुधिरेण। क्व ? अजिरे। कस्य ? रणस्य। कथम्भूताः ? सितासिताः सिताश्चासिताश्च सितासिताः धवलश्यामलाः। क इव ? धूमा इव यथा धूमा आकाशे उत्पतन्तः सितासिता राजन्ते तथा रेणवोऽपीति। उत्प्रेक्षा ॥३९॥

शवाः शिवानां मुखतीयवह्निना रथेषु देहस्थितबाणदारुणा।
विदह्यमाना विधिमापुर्भटाः स्त्रियश्च ता बाष्पजलाञ्जलिं ददुः ॥४०॥

शवा इति—आपयुः प्रापुः। के ? भटाः वीराः। कम् ? विधिं संस्कारम्। कथम्भूता भटाः ? शवाः मृताः। केषु ? रथेषु। पुनः कथम्भूताः भटाः ? विदह्यमानाः संस्क्रियमाणाः। केन ? मुखतीयवह्निना मुखोद्भवाग्निना। कासाम् ? शिवानां शृगालीनाम्। केन कृत्वा ? देहस्थितबाणदारुणा शरीरगतशरेन्धनेन। ददुश्च दत्तवत्यः। कास्ताः ? स्त्रियः कामिन्यः। कम् ? बाष्पजलाञ्जलिमश्रुजलाञ्जलिम्। समुच्चयः ॥४०॥

मतङ्गजानामधिरोहका हता मतं गजानां विवशा विसस्मरुः।
तदीयपङ्क्त्या चपलायमानया परे विभिन्नाश्च पलायमानया ॥४१॥

मतङ्गजानामिति—विसस्मरुः विस्मृतवन्तः। के ? विवशाः विकला मतङ्गजानामधिरोहका निषादिनः। किम् ? गजानां मतं शिक्षाम्। कथम्भूताः ? हता मृताः। अत्र भावो व्यज्यते। शरपञ्जरजर्जरीभूतशरीराः यावत्कण्ठगतप्राणाः तावद्गजानां मतं न विसस्मरुरिति। च पुनः पलायमानया विद्रुतया चपलायमानया चञ्चलया तदीयपङ्क्त्या गजपंक्त्या परे शत्रवो विभिन्नाः विदीर्णाः। समुच्चयः ॥४१॥

बभौ महल्लोहितसम्भृतं सरः प्रपीयमानं तटवर्तिभिः खगैः।
यमेन रक्तं विनिगीर्य देहिनामजीर्णमुद्गीर्णमिवातिपानतः ॥४२॥

बभाविति—लोहितसम्भृतं रुधिरप्रपूर्णं महद्विस्तीर्णं तटवर्तिभिः तीरस्थितैः खगैः पक्षिभिः प्रपीयमानः प्रतिपीयमानं सरः बभौ चकासे। यमेन कृतान्तेन पूर्वं निगीर्य निपीय उद्गीर्णमुद्वान्तं देहिनां प्राणिनां रक्तं रुधिरमिव। कथम्भूतम् ? अतिपानतोऽतिपानात् [1]अजीर्णमपरिणतम् ॥४२॥

गता हयेभ्योऽप्यसवोऽतिवेगतो गजा मुमूर्च्छुः शरवर्षतोऽगजाः।
रथा विभिन्नाः पतिता मनोरथा नरा गतास्ते न समानरागताः ॥४३॥

गता इति—हयेभ्योऽपि अश्वेभ्योऽपि अतिवेगतोऽतिजवात् असवः प्राणाः गतास्तथा अगजा-गिरिजाताः गजा हस्तिनः शरवर्षतो बाणवर्षणात् मुमूर्च्छुः मूर्च्छितास्तथा रथाः विभिन्नाः भग्नास्तथा

गये थे फलतः ऐसे लगते थे जैसा कि नीचे आग जलते रहनेपर ऊपर उठता श्वेत-श्याम धुआं लगता है ॥३९॥

रथोंमें पड़े हुए योद्धाओंके शव शृगालियोंके मुखकी आगसे शरीरमें चुभे बाणों रूपी ईन्धनके द्वारा जल रहे थे और इस प्रकार अन्तिम संस्कारको प्राप्त हुए थे। तथा उनकी स्त्रियोंके आंसुओंके पानीसे उन्हें जलांजलि दी गयी थी ॥४०॥

मदोन्मत्त हाथियों पर सवार योद्धाओंने प्राण निकल जानेपर ही विवश होकर हाथियोंका संचालन छोड़ा था। फलतः (बिना महावतके होनेके कारण) भागनेवाली और अत्यन्त चंचल हस्ति पंक्तिके द्वारा रास्तेमें आये शत्रु कुचल दिये गये थे ॥४१॥

किनारोंपर बैठे पक्षियोंके द्वारा पिया गया मृतक योद्धाओंके रक्तसे परिपूर्ण रक्तका विशाल सरोवर ऐसा लगता था मानो यमराजने मनुष्योंका बहुत अधिक रक्त पी लिया है जो कि अत्यधिक होनेके कारण पचा नहीं है फलतः वमन कर दिया है ॥४२॥

बाण वर्षाके कारण घोड़ोंसे भी अधिक तेजीसे उनके प्राण निकल गये थे, पर्वतोंमें उत्पन्न विशाल हाथी भी मूर्छित होकर लुढ़क गये थे, रथ टूट फूट गये थे, और विपक्षियोंके

---

1. उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः–प०, द०

मनोरथाः मनोऽभिलाषाः पतिताः गताः तथा ते लोकप्रसिद्धाः नराः शत्रवः समानरागताः सह मानेन वर्त्तमानः समानः समानो रागो येषां ते समानरागाः तेषां भावाः समानरागतास्ताः ससत्कारानुरागभावान् न गता इत्यर्थः । समुच्चयः ॥४३॥

तथा द्विपेन्द्रास्तुरगाः पदातयो महान्वया भूपतयः क्षणेन तत् ।
गतं समस्तं समवर्त्तिनो मुखं च्युतं न चोद्यं स्थितमेव विस्मितम् ॥४४॥

तथेति–द्विपेन्द्रा मतङ्गजास्तथा तुरङ्गा अश्वास्तथा पदातयः भृत्यास्तथा महान्वया गजसाधनाः अश्वसाधनास्तथा भूपतयश्चावनीश्वराः तत् समस्तं सकलं द्विपेन्द्रादि कर्तृ समवर्तिनः यमस्य मुखं वदनं क्षणेन मुहूर्त्तेन गतम् । अधुना सोपस्करतया व्याक्रियते तत्र च्युतं द्विपेन्द्रादि कस्मात्समवर्तिनो मुखात् । तत्र न चोद्यं नाश्चर्यम् । अत्र काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयपदपरामर्शित्वं नञो ज्ञातव्यम् यत् स्थितं द्विपेन्द्रादि तद्विस्मितमेवेति ॥४४॥

तथाहि भोगाः स्तनयित्नुसन्निभाः गजाननाधूननचञ्चलाः श्रियः ।
निनादिनाडिन्धमकण्ठनाडिवच्चलाचलं न स्थिरमायुरङ्गिनाम् ॥४५॥

तथाहीति–अत्र सन्तीति क्रियाऽध्याहार्या । तथा भोगाः कमनीयकामिन्यादयः स्तनयित्नुसन्निभाः मेघसदृशाः सन्ति । अत्र भोगानां क्षणदृष्टत्वं प्रदर्शितम् तथा श्रियो विभूतयः गजाननाधूननचञ्चलाः हस्तिवदनप्रकम्पचञ्चलाः । कथम् ? हि स्फुटम् । तथा नास्ति । किम् ? चलाचलं वस्तु । कथम्भूतं नास्ति ? स्थिरं निश्चलम् । किंवत् ? निनादिनाडिन्धमकण्ठनाडिवत् ध्वनिमद्विहङ्गमगलधमनीवत् । तथा नास्ति । किम् ? आयुः प्राणधारणलक्षणं धर्मम् । कथम्भूतं नास्ति ? स्थिरम् । केषाम् ? अङ्गिनां प्राणिनामिति ॥ ४५ ॥

अशेषमाकीर्णमुपैति शून्यतां क्षणाद्वियुङ्क्ते समवेतमुच्चकैः ।
यदेव रक्तं भजते विरक्ततामहोऽनुभावाः क्षणिकाः स्वभावतः ॥४६॥

अशेषमिति–अशेषं सर्वमाकीर्णं प्रसृतं वस्तु शून्यतां लोचनगोचरातीततामुपैति प्राप्नोति । कथम् ? क्षणात् क्षणेन । तथा समवेतं सम्बद्धं वस्तु वियुङ्क्ते विघटते । उच्चकैरतिशयेन यदेव रक्तं सानुरागं तदेव विरक्ततां भजते व्रजति । अतएव सर्वे अनुभावाः अनुज्ञाताः पदार्थाः स्वभावतः, परमार्थवृत्त्या अहो क्षणिकाः स्युः ॥ ४६ ॥

ततः स्फुटं पश्चकमीक्षमाणौ तौ सिंहपोताविव विक्रमेण ।
निर्जग्मतुर्युद्धमुखान्नरेन्द्रौ क्रोधाभिमानाविव मूर्तिमन्तौ ॥४७॥

मनोरथ भी नष्ट हो गये थे किन्तु विचारे शत्रु लोग सम्मान और प्रीतिके साथ वापस न जा सके थे ॥४३॥

मदोन्मत्त श्रेष्ठ हाथी, वायुके समान वेगशाली घोड़े, पैदल सैनिक तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न राजपुत्र ये सब क्षणभरमें ही सबके समान रूपसे विनाशक यमराजके मुखमें समा गये थे। कोई नहीं बचा इसमें क्या कहना है आश्चर्य तो यही है कि कुछ बच गये थे ॥४४॥

प्राणियोंके प्रिय भोग गर्जते बादलोंके समान चंचल हैं, लक्ष्मी हाथीके हिलते हुए शिरके समान है तथा आयु भी मधुर गायकोंके गलेकी नलियोंके समान चल तथा अचल है। कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है ॥४५॥

जो पूर्णरूपसे फैल जाता है वही शून्य हो जाता है, जो अत्यन्त अनुरक्त होता है उसीका क्षणभरमें वियोग होता है तथा जो अत्यन्त मित्र होता है वही शत्रुताको धारण करता है। खेदकी बात है कि समस्त पदार्थोंकी प्रकृति ही क्षणभंगुर है ॥४६॥

तत इति–ततः संसारस्थितिविचारणानन्तरं तौ नरेन्द्रौ रामायणीयभारतीयकथासम्बन्धिनौ युद्धभुवात् रणाङ्गणात् विक्रमेण पौरुषेण निर्जग्मतुः निर्गतवन्तौ । किं कुर्वाणौ ? पश्चकं रणं स्फुटं व्यक्तमीक्षमाणावलोकमानौ । काविव ? सिंहपोताविव पञ्चाननपिल्लकाविव । काविव ? मूर्तिमन्तौ सशरीरौ क्रोधाभिमानाविव । उत्प्रेक्षा ॥४७॥

भयाद्यदेवोद्गतमङ्गनानां देवासुराणां प्रधनोत्सुकानाम् ।
तदेव हर्षस्य तयोर्जयेन रोमाञ्चमस्याप्युपकारि जातम् ॥४८॥

भयादिति–प्रधनोत्सुकानां रणदर्शनोत्कण्ठितानां देवासुराणाम् अङ्गनानाम् कामिनीनां भयाद्भीतेः यद्रोमाञ्चमुद्गतं जातं तदेव रोमाञ्चं देवासुराणां हर्षस्यापि आनन्दस्य चोपकारि उपकृत् जातम् । केन कृत्वा ? तयोर्नरेन्द्रयोर्जयेनेति ॥४८॥

[1]आशा मुक्ता बन्धनेनेव सर्वा दीर्घं तत्रोदश्वसीदेव भूमिः ।
युद्धे वृत्ते विश्रमं विश्वमागात्रो विश्रान्तः कन्दरे सिंहनादः ॥४९॥

आशा इति–आशा दिशः बन्धनेनेव मुक्ताः उत्कलिताः । कथम्भूता दिशः ? सर्वाः समस्ता तथा भूमिः पृथ्वी दीर्घमुदश्वसीदेवोच्छ्वसितवत्येव । विश्वं जगत् विश्रममागात् आगतम् । क्व सति ? तत्र युद्धे रणे वृत्ते पर्याप्ते सति । तथा तयोर्नरेन्द्रयोः सिंहनादः कन्दरे गुहायां नो न विश्रान्तः ॥ ४९ ॥

[2]वियति सिद्धगणोऽप्युपवीणयञ्जलधरान्तरदर्शितविग्रहः ।
त्रिभुवनं भ्रमति स्म यशस्तयोः किमु मुहुर्मुमुहुर्न च वैरिणः ॥५०॥

वियतीति–सिद्धगणः अपि वियति गगने तयोर्यशः कीर्तिमुपवीणयन् वीणयोपगायन् सन् त्रिभुवनं त्रैलोक्यं भ्रमति स्म बभ्राम । कथम् ? मुहुर्वारंवारम् । कथम्भूतः ? जलधरान्तरदर्शितविग्रहः पयोदमध्यप्रकटितशरीरः । उ अहो, वैरिणः किं न मुमुहुः न विचेतस्का बभूवुः, अपि तु मुमुहुरेव । चकारेण नियमार्थो गम्यते । तेनायमर्थः-वैरिण एव नान्ये जनाः मुमुहुरित्यर्थः ॥ ५० ॥

[3]प्रतिनिनदमयासीद्देवतूर्यैर्दिगन्तश्चलदलिकुलनीला पुष्पवृष्टिः पपात ।
स्तुतिमकृत सरस्वत्यम्बरेऽदृश्यरूपा कुसुमसुरभिरुच्चैरुद्ववौ मातरिश्वा ॥५१॥

इसके बाद वे दोनों राम तथा भीम राजा सब ओर शत्रु शून्य युद्धस्थलीको देखते हुए वहाँसे लौटे थे । अपने सर्वोपरि पराक्रमके कारण वे सिंहके बच्चोंके समान लगते थे । अथवा शरीरधारी क्रोध और अभिमान सदृश दिखते थे ॥४७॥

युद्ध देखनेके लिए सदैव उत्कण्ठित देवों और दैत्योंकी स्त्रियोंको भयके कारण जो रोमांच हुआ था, वही इनकी विजयसे उत्पन्न हर्षके रोमाञ्चको करनेमें साधक हो गया था ॥४८॥

इस युद्धकी समाप्ति हो जानेपर समस्त दिशाएं बन्धनमुक्तके समान हो गयी थीं, पृथ्वीने मुक्तिकी लम्बी सांस-सी खींची थी तथा समस्त जगत्ने मानो विश्रामको ही प्राप्त किया था । किन्तु इनका सिंहनाद गुफाओंमें अब भी गूँज रहा था ॥४९॥

जलधरोंके बीच-बीचमें अपने शरीरको चमकाते हुए सिद्ध जातिके देव आकाशमें भी वीणापर इन राजाओंकी कीर्ति गाते हुए तीनों लोकोंमें घूम रहे थे । क्या अब भी शत्रु लोग इसे सुनकर निर्जीव नहीं हुए थे ॥५०॥

---

१. शालिनी वृत्तम् । तल्लक्षणं "शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" [वृ. र. ३।३५] २. द्रुतविलम्बितच्छन्दः । लक्षणमुक्तं प्राक् । ३. मालिनी वृत्तम् । तल्लक्षणञ्च "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" [वृ. र. ३।८४]

प्रतीति–दिगन्तः कर्ता आशामध्यं प्रतिनिनदं प्रतिध्वानं कर्म अयासीत् जगाम। कैः? देवतूर्यैः सुरवाद्यैः। तथा चलदलिकुलनीला भ्रमद्भ्रमरासारश्यामला सुरपुष्पवृष्टिः पपात पतति स्म। तथाऽप्रकटरूपाऽप्रकटमूर्तिः सरस्वती अम्बरे नभसि स्तुतिं स्तवनमकृत कृतवती। कुसुमसुरभिः पुष्पपरिमलवाही उच्चैरतिशयेन मातरिश्वा वात उद्बवावूर्ध्वं प्रवर्त्तते स्म॥ ५१॥

[1]लोकातिरिक्तमनयोर्बलशौर्यवीर्यमालोक्य रूपमभिमानधनञ्जयञ्च।
मोक्तुं न चैकमुभयोरशकज्जयश्रीर्भ्रान्ता स्वयंवरविवाहपतिंवरेव॥५२॥

इति श्री द्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघव-पाण्डवीयमहाकाव्ये 'गोग्रहनिवर्तन-खरदूषणवधो' नाम षष्ठः सर्गः॥६॥

लोकेति–नाशकत् न समर्था बभूव। का जयश्रीः वीरलक्ष्मीः। किं कर्त्तुम्? अनयोः प्रत्यक्षीभूतयोरुभयोर्द्वयोर्मध्ये एकमपि मोक्तुं परित्यक्तुम्। किं कृत्वा? बलशौर्यवीर्यम्। समाहारापेक्षयैकत्वं नपुंसकत्वं चात्रावबोद्धव्यम्। तथा रूपमभिमानधनं तथा च जयमालोक्य दृष्ट्वा। कथम्भूतं बलादि? लोकातिरिक्तं भुवनातिशायि। कथम्भूता सती? भ्रान्ता स्वेच्छया प्रवृत्ता। कैव स्वयंवरविवाहपतिंवरेव॥ ५२॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्त्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदीनाम दधानायां टीकायां खरदूषणवधगोग्रहनिवर्त्तनो नाम षष्ठः सर्गः॥६॥

देवताओंके द्वारा बजायी गयी तुरहियोंकी प्रतिध्वनि समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो गयी थी। गूंजते हुए भौंरोंके झुण्डके कारण ही श्यामल पुष्पवृष्टि आकाशसे हो रही थी। साक्षात् प्रकट न होकर भी सरस्वती ही आकाशमें स्तुतिगान कर रही थी। पुष्पोंकी गन्धसे सुरभि पवन बह रहा था॥५१॥

राघव-पाण्डव राजाओंके लोकोत्तर बल-प्रताप तथा वीरताको एवं सौन्दर्य, गौरव, सम्पत्ति तथा विजयको देखकर, स्वयंवर द्वारा पति वरण करनेके लिए उद्यत युवतीके समान; विजयलक्ष्मी भ्रान्त हो गयी थी क्योंकि दोनोंमें से एकको भी नहीं छोड़ सकती थी॥५२॥

निर्दोषविद्याभूषण भूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पंडित विनयचन्द्र गुरुके शिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाचातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र द्वारा विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी टीकामें 'खरदूषणवध-गोग्रह-निवर्तन' नाम षष्ठ सर्ग समाप्त।

---

1. वसन्ततिलकावृत्तम्। तल्लक्षणञ्च "उक्तं वसन्ततिलका तभजाः जगौ गः" [वृ. र. ३।७९]।

सप्तमः सर्गः

[1]अत्रान्तरे शरच्छन्नदिग्दशास्यः सपुष्पकः ।
चन्द्रहासकरः कालो बाणासनपरिग्रहः ॥१॥

अत्रेति–अत्रान्तरे खरदूषणवधप्रस्तावे कुलकबन्धित्वात् श्लोकत्रयेण समागमदिति क्रियया सम्बन्धः । दशास्यः रावणः समागतम् आययौ । कथम्भूतः शरच्छन्नदिक् मार्गणाच्छादिताशः । पुनः सपुष्पकः पुष्पकाख्येन विमानेन सह वर्त्तमानः । पुनश्चन्द्रहासकरश्चन्द्रहासाभिधानोऽसिः करे यस्य सः । पुनः कालः श्यामः । पुनः बाणासनपरिग्रहश्चापपरिग्रहः ।

भारतीयः–अत्रान्तरे गोग्रहनिवर्त्तनसमये शरत् शरत्संज्ञः कालः समागमत् । कथम्भूतः ? छन्नदिग्दशास्यः संवृताशादशमुखः । पुनः पुष्पैः कुसुमैः सहितः सपुष्पकः । पुनश्चन्द्रस्य हासं करोतीति सः चन्द्रहासकरः (इन्दुद्युतिकर इत्यर्थः) पुनः बाणाः वृक्षविशेषाः असनाः बीजवृक्षाः परिग्रहो यस्य सः बाणासनपरिग्रहः ॥१॥

दीप्त्यारविन्दिनं लोकं विश्वं कुर्वन्निवाकुलम् ।
दुःखलब्धात्मसम्भूतिं स्वसारं मानयन्मुहुः ॥२॥

दीप्त्येति–किं कुर्वन् समागमत् ? स्वसारं सूर्पणखाख्यां भगिनीं मुहुः वारंवारं मानयन् सत्कारविषयां कुर्वन् । कथम्भूताम् ? दुःखलब्धात्मसम्भूतिं दुःखेन लब्धः प्राप्तः [2]आत्मसम्भूतिः सम्बुकुमाराख्य आत्मजः पुत्रो यया सा ताम् । पुनः किं कुर्वन् इव ? दीप्त्या तेजसा रविं सूर्यं दिनं दिवसं विश्वं समस्तं लोकं जगत् आकुलं व्यग्रं विदधदिव । रवौ सति दिनं दिने सति लोकस्तया युक्त्या लोकस्यैवाकुलत्वमिति विशेषणं ज्ञेयम् ।

भारतीयः—शरत्कालः किं कुर्वन् समागमत् । दुःखलब्धात्मसम्भूतिं कष्टप्राप्तात्मोत्पत्तिं मानयन् जानन् । कथम् ? मुहुर्यथा भवति तथा स्वसारं स्व आत्मा सारो यत्र आत्मसम्भूति माननकर्मणि तत् स्वसार-

---

खरदूषणके संहार होते ही सावधानीसे धनुष सम्हाले और बाणोंसे दिशाओंको ढँकता हुआ-सा, पुष्पक विमानपर सवार हाथमें चन्द्रहास एक प्रकारका खड्ग लिये काला अथवा यम समान दशमुख [आ पहुँचा था]

गोधनपर घेरेके समाप्त होते ही नीली (बाणव) घासके आसनको बिछाता, फूलोंसे सुसज्जित, चन्द्रमाके हास्यसे कान्तिमान दशों दिशाओंमें व्याप्त शरत्काल प्रारम्भ हो गया था ॥ १ ॥

अपने तेजके द्वारा सूर्य, दिन, देश तथा विश्वको व्याकुल करता हुआ तथा बड़ी कठिनाईसे पुत्र-पतिके वियोगसे आयी मूर्च्छासे चैतन्य हुई बहिन सूर्पणखाको बारबार समझाता हुआ [रावण] ।

बड़े कष्टोंके बाद हुए अपने प्रारम्भ तथा विस्तारको बारम्बार जानता तथा जनाता

---

१. सर्गेऽस्मिन्नष्टाक्षरात्मकोऽनुष्टुब् जातिभेदः । तत्रादौ पथ्यावक्त्रम् । तल्लक्षणञ्च "युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् [वृ. र. २।२२] । २. दुःखं मरणं लब्धा प्राप्तः आत्मनः सम्भूति सन्ततिः अथवा स्वस्य संज्ञेति । शरत्पक्षे सम्भूतिः विभूतिः शोभेति ।

मिति क्रियाविशेषणम्। किं कुर्वन्निव ? दीप्त्या घर्मेण लोकं जनमाकुलं व्याकुलं कुर्वन्निव। कथम्भूतम् लोकम् ? अरविन्दिनमरविन्दानि सरोजानि सन्त्यस्मिन् तं पुनः विश्वं सर्वम् ॥२॥

पद्मस्योदर्कसन्तापं भेदं कुवलयस्य च।
सानाथ्यं बन्धुजीवानां कर्त्तुकामः समागमत् ॥३॥

पद्मस्येति–पुनः दशास्यः किं कुर्वन् समागमत् ? पद्मस्य रामस्य उदर्कसन्तापमुत्तरकालीनं दुःखं कर्त्तुकामः विधातुमनाः। पुनः कुवलयस्य भूमण्डलस्य भेदं विनाशं बन्धुजीवानां खरदूषणत्रिशिरसां सोदरप्राणिनां सानाथ्यं सप्रभुत्वं कर्त्तुकामः।

भारतीयः–शरत्कालः किं कुर्वन् समागमत् ? पद्मस्य सरोजस्य अत्र जात्यपेक्षयैकवचनम् उदर्कसन्तापमुद्गतसूर्यसन्तापं कुवलयस्य कुमुदस्य भेदं विकाशम्। अत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्। बन्धुजीवानां माध्याह्निकपुष्पाणां सानाथ्यं सस्वामित्वं च कर्त्तुकामः ॥३॥

तथा तं वीक्ष्य वियति व्यभ्रे चेलुः सुरासुराः।
स्थित्यतिक्रमभीतेन शस्त्रमिन्द्रेण संहृतम् ॥४॥

तथेति–सुरासुराः (देवदानवाः) व्यभ्रे निर्मेघे वियति नभसि तं दशास्यं वीक्ष्य (अवलोक्य) चेलुः प्रकम्पिताः तथा स्थित्यतिक्रमभीतेन स्थान (प्रभुता) परित्यागभीतेन इन्द्रेण (शक्रेण) शस्त्रं संहृतम् परिहृतम्।

भारतीयः–सुरासुराः व्यभ्रे निरभ्रे वियति सति तं शरत्कालं वीक्ष्य चेलुः विकृतवन्तः। इन्द्रेण मेघेन शस्त्रं धनुः संहृतम्। 'गिरौ वर्षति वासव' इति वचनात्। कथम्भूतेन ? स्थित्यतिक्रमभीतेन अवस्थानोल्लङ्घनभीरुणा। अत्र रामायणीयकथापेक्षया सुरासुरशक्रादीनां रावणप्रतापजनितभयं भारतकथापेक्षया सोत्सवत्वं प्रदर्शितमिति भावः। श्लेषालंकारः ॥४॥

उत्पलायत लोलाक्षः कामुकीभिरुपारतः।
किन्नराणां गणः क्रीडन् प्रसन्नपवने वने ॥५॥

उत्पलेति–प्रसन्नपवने प्रसन्नो गुणत्रयसमन्वितः पवनो वायुर्यत्र तस्मिन्वने कान्तारे क्रीडन् क्रीडां कुर्वन् किन्नराणामश्वमुखानां गणः समुदायः कामुकीभिः कामिनीभिः सहोत्पलायत ऊर्ध्वमुड्डीनः। कथम्भूतः ? लोलाक्षः चकितलोचनः। पुनरुपारत उपद्रुतः।

हुआ तथा अपनी धूपके द्वारा प्रफुल्लित कमलोंसे पूर्ण संसार तथा प्राणियोंको कष्ट देता हुआ [शरत्काल] ॥ २ ॥

पद्म श्रीरामको भविष्यमें कष्ट देनेकी इच्छासे, समस्त पृथ्वीको सन्तप्त करनेके लिए तथा खरदूषणादि सगे सम्बन्धियोंको समृद्ध बनानेके लिए ही रावण आ पहुँचा था।

कमलोंके लिए सूर्यकी तेज धूप देनेकी दृष्टिसे, कुवलयोंको विकसित करनेके लिए तथा दुपहरीके पुष्पोंको सनाथ करता हुआ शरत्काल आ गया था ॥ ३ ॥

मेघशून्य निर्मल आकाशमें उक्त प्रकारसे आते रावणको देखकर सुर तथा असुर घबरा गये थे। तथा लोक-मर्यादाओंके टूटनेके डरसे इन्द्रने भी अपने शस्त्र बन्द कर लिये थे।

पूर्वोक्त रूपसे समागत शरत्को देखकर देवों तथा दैत्योंके समूह निर्मल आकाशमें क्रीड़ाके लिए निकल पड़े थे। विहारकी मस्तीमें कहीं वे सीमाका उल्लंघन न कर जायँ इसी दृष्टिसे इन्द्रने अपना धनुष संकोच लिया था ॥ ४ ॥

निर्मल वायुयुक्त वनमें क्रीड़ा करता हुआ किन्नर देवोंका समूह कामिनी नायिकाओं के द्वारा बताये जानेपर भयसे चंचल नेत्र हो गया था और वह ऊपर उड़ गया था।

भारतीयः–नराणां गणः समुदायः किमुपारतः निवृत्तः अपितु नोपारतः। कथम्भूतो गणः ? उत्पलपत्रलोलाक्षः कमलदीर्घचपलनेत्रः। अन्यत् सुगमम्। श्लेषालंकारः ॥५॥

साधुन्यायेऽथमत्युच्चैर्गतोद्धतगतिः स्थितः।
इच्छुः प्रसादमेतस्य लोकः प्रणतिमीयिवान् ॥६॥

साध्विति–अयं लोकः एतस्य रावणस्य प्रणतिं प्रणामम् ईयिवान् गतवान्। कथम्भूतः ? प्रसादं प्रसन्नतामिच्छुः वाञ्छन्। पुनः साधुन्याये साधूनां सत्पुरुषाणां न्यायः सुविहितो मार्गः अथवा साधुश्चासौ न्यायः तस्मिन् स्थितः। पुनरत्युच्चैर्गतोद्धतगतिरत्युच्चैः अतिशयेन गता उद्धता उत्कटा गतिः प्रवर्त्तनं यस्य सः।

भारतीयः–या उद्धता गतिः पूर्वमासीत् सा इयं धुन्याः नद्याः (अत्युच्चैरतिशयेन) गता तथा स्थिते मर्यादायुतो लोकः प्रणतिमीयिवान्। कथम्भूतः ? प्रसादं पुष्पफलादि सम्पत्तिमिच्छुः। कस्य ? एतस्य शरत्कालस्य। अत्र रामायणपक्षे भूमिक्षोभकथनं भारतीय पक्षे शरत्कालस्वभावकथनं प्रदर्शितम् ॥६॥

वीचिबाहुभिरालिङ्गंश्चिरदृष्टामिवावनिम्।
पारावारश्चचालोच्चैरपारः पूरयन्दिशः ॥७॥

वीचीति–अपारः पारावारः समुद्रः उच्चैरतिशयेन आशाः दिशः पूरयन् सन् वीचिबाहुभिस्तरङ्गहस्तैश्चिरदृष्टामिव बहुतरकालावलोकितामिव अवनिं भुवम् आलिङ्गन् (परिरम्भमाणः) सन् चचाल चकम्पे। अत्रेदं तात्पर्यं रामायणीयपक्षे रावणप्रतापाविर्भूतो भूक्षोभः, भारतीयपक्षे शरत्कालस्वभाव उक्तः ॥७॥

सहसा वल्लकीहस्ता विचेलुः सिद्धकोटयः।
दिवि ज्योतिर्गणज्योतिस्तीव्रं जज्ञेऽतिविद्युति ॥८॥

सहसेति–सिद्धकोटयः सिद्धाः अञ्जनपादुकादिसिद्धाः पुरुषविशेषा देवयोनयः तेषां कोटयः सहसा शीघ्रं विचेलुः पलायिताः। कथम्भूताः ? वल्लकीहस्ताः वीणापाणयः तथा जज्ञे जातम्। किम् ? ज्योतिर्गणज्योतिः नक्षत्रसमूहतेजः। कथम्भूतं जज्ञे ? अतिविद्युति विशिष्टां द्युतिमतिक्रान्तमतिविद्युति तेजोहीनमित्यर्थः। कथम्भूतं सत् ? दिवि गगने तीव्रं सत्। अत्र रावणप्रतापात् क्षोभोक्तिः।

अथ भारतीयः—सहसाः सहासाः (हास्यसंयुक्ता इत्यर्थः) पुनः वल्लकीहस्ताः सिद्धकोटयः विचेलुः

शरत्की स्वच्छ वायुसे पूर्ण वनमें कमलके समान विशाल आँखोंवाला तथा क्रीड़ामें मस्त किंनरसमूह क्या काम-विह्वल स्त्रियोंके साथ खूब नहीं रमा था ? ॥ ५ ॥

उद्धत आचरणको छोड़कर सब प्रकारसे शिष्टाचार पालनमें लीन होकर यह लोक इस रावणकी कृपा पानेके लिए उसको प्रणाम करने लगा था।

जो नदियाँ वर्षाऋतुमें अत्यन्त उद्धतरूपसे बहती थीं वे ही अब पूर्णरूपसे स्वाभाविक रूपमें आ गयीं थीं। लोक भी शरद्का अनुग्रह प्राप्त करनेकी इच्छासे उसकी आराधना करता था ॥ ६ ॥

चिरकालसे इच्छित पृथ्वीको अनन्त समुद्रके समान बाहुरूपी लहरोंसे जकड़ता हुआ तथा समस्त दिशाओंको भयाक्रान्त करता हुआ वह बढ़ा जा रहा था।

बहुत समयसे बिछुड़ीके समान पृथ्वीको विस्तृत सागरकी लहरोंरूपी हाथोंसे आलिंगन करता हुआ तथा दशोंदिशाओंको व्याप्त करता हुआ शरत्काल फैलता जा रहा था ॥ ७ ॥

सिद्धोंके समूह हाथोंमें वीणा दबाये एकाएक भाग खड़े हुए थे। सूर्य चन्द्रादिका आकाशमें प्रखरतासे चमकता प्रकाश सर्वथा तेजहीन हो गया था।

सिद्ध आदि देव हाथमें लता या वीणा लिये क्रीड़ा विहार कर रहे थे। बिजली-बादल-

विहरन्ति स्म । तीव्रं सोढुमशक्यं ज्योतिर्गणज्योतिः दिवि जज्ञे । कथम्भूतायां दिवि ? अतिविद्युति विद्युतमतिक्रान्ता अतिविद्युत् तस्यामतिक्रान्ततडिल्लतायामित्यर्थः । अत्र शरद्व्यावर्णनम् ॥ ८ ॥

विमुक्तं दूरमभ्रान्तैर्विमानैः ककुबन्तरम् ।
नभश्चरसमारूढैः कृतकानकसिञ्जितैः ॥ ९ ॥

विमुक्तमिति—विमानैः देवयानैः ककुबन्तरं दिगन्तरालं विमुक्तं परित्यक्तम् । कथम् ? दूरं विप्रकृष्टम् । कथम्भूतैः ? अभ्रान्तैः निःसन्देहैः अथवा भ्रमणरहितैः । पुनः नभश्चरसमारूढैः नभश्चराः समारूढा येषु तैः । पुनः कृतकानकसिञ्जितैः कृतानि विहितानि कानकानि सिञ्जितानि हेमविकारक्षुद्रघण्टकशब्दा येषु तैः । अत्र रावणप्रतापक्षोभः ।

भारतीयः—अभ्रान्तैरभ्राणामन्तैः अभ्रान्तैः मेघसमूहैः नभः गगनं ककुबन्तरं च दूरं विमुक्तम् । कथम्भूतैः ? विमानैः गतमानैः संख्यातीतैः । पुनः रसं पानीयम् आरूढैः सजलैः । पुनः कृतकानकसिञ्जितैः कृतकमानकानामिव सिञ्जितं (ध्वनितं) यैः ॥ ९ ॥

छोत्कारच्छातजठरैस्तृणकौतुककङ्कणैः ।
बन्धूकतिलकन्यासैर्नीलोत्पलवतंसकैः ॥ १० ॥
महाकुचभराकृष्टसंक्षिप्तान्तर्भुजान्तरैः ।
क्षिपद्भिः केकरान् स्वस्मिन् नियन्तुमसहैरिव ॥ ११ ॥
सिञ्चद्भिरिव लावण्यरसवृष्ट्या दिगन्तरम् ।
कैदारिकगतैर्दारैश्चकितं विनिचायितम् ॥ १२ ॥ [त्रिभिर्विशेषकम्]

छोत्कारेति—श्लोकत्रयेण रावणशरत्कालयोः प्रतापक्षोभौ निरूप्येते । भावे क्तान्तक्रियाद्वितयं बोद्धव्यम् । दारैः कलत्रैः विनिचायितमवलोकितं चकितञ्च विलोक्य भीतमित्यर्थः । कथम्भूतैः ? छोत्कारच्छातजठरैः (छोत्कारेण) शकुनिसन्तर्जनध्वनिना छातं तनूकृतं जठरमुदरं येषां तैः छोत्कारच्छातजठरैः । पुनः तृणकौतुककङ्कणैः तृणस्य कौतुकेन कंकणानि येषां तैः । पुनः बन्धूकतिलकन्यासैः बन्धूकानां तिलके न्यासो येषां पुनः नीलोत्पलवतंसकैः नीलोत्पलस्य वतंसः कर्णपूरो येषां तैश्च । पुनः महाकुचभराकृष्टसंक्षिप्तान्तर्भुजान्तरैः एकस्मात् भुजात् अपरो भुजो भुजान्तरं तस्य अन्तः अन्तर्भुजान्तरम् । महान्तौ च तौ कुचौ च महाकुचौ तयोर्भरेण पूर्वमाकृष्टं पश्चात् संक्षिप्तमन्तर्भुजान्तरं येषां तैः । पुनः स्वस्मिन्नात्मनि केकरान् कटाक्षान् नियन्तुं नियन्त्रयितुमसहैरसमर्थैरिव क्षिपद्भिः विसृजद्भिः । पुनर्लावण्यरसवृष्ट्या शरीरकान्तिविशेषनिर्यासवर्षेण दिगन्तरमाशान्तरालं सिञ्चद्भिरिव । पुनः कैदारिकगतैः कैदारिके कैदारसमूहे गताः प्राप्तास्तैः वप्रव्रजस्थितैः । अत्र रावणशरत्कालयोः स्वभावोक्तिः ॥१०–१२॥

रहित स्वच्छ आकाशमें तारा आदि ज्योतिषी देवोंकी चमक बढ़ी मालूम होती थी ॥ ८ ॥

सोनेकी घंटियोंकी झुनझुनसे युक्त, खेचरोंकी सवारीमें निकले तथा वस्तुस्थितिसे परिचित विमानोंने दिशाओंके मार्ग छोड़ दिये थे और दूर चले गये थे ।

पटहोंके समान गर्जनेवाले जलसे परिपूर्ण तथा अनगिनत मेघखण्डोंने आकाशको बिल्कुल छोड़ दिया था ॥ ९ ॥

शू शू करनेके कारण कृशोदरियों, घासके मंगलसूत्र तथा कंकणधारिणी, बन्धूक पुष्पके तिलकसे विभूषित, नीलकमलके कर्ण-भूषणसे सुशोभित, उन्नत स्तनोंके भारसे झुकी, संक्षिप्त भुजान्तवर्ती केकर भूषण अथवा कटाक्षोंको—अपने आपमें न सम्हाल सकनेके ही कारण डालती हुई, सौन्दर्यके रसकी वृष्टिके द्वारा समस्त दिशाओंको सींचती-सी ललियानोंमें बैठी स्त्रियोंने क्रमशः भय तथा उत्कण्ठासे चकित होते हुए रावण तथा शरद्को देखा था ॥१०–१२॥

बिशक्षीरचितां चञ्चुं व्याददद्भिः कथञ्चन ।
सरःसु पक्षतिक्षेपैररटितं वाटराटकैः ॥१३॥

विशेति—वाटराटकैः हंससमूहैः पक्षतिक्षेपैः पक्षमूलविधूननैः अटितं गतम् । कथम्भूतैः ? चञ्चुं त्रोटिं कथञ्चन महता कष्टेन व्याददद्भिः प्रसारयद्भिः । क ? सरःसु सरोवरेषु । कथम्भूतां चञ्चुम् ? विशक्षीरचितां पद्मिनीकन्ददुग्धोपचयप्राप्ताम् ।

भारतपक्षे—रटितं शब्दितम् । कैः ? वाटराटकैः । शेषं प्राग्वत् । एकत्र प्रतापकथनमन्यत्र शरत्स्वभावकथनम् ॥१३॥

कञ्जकिञ्जल्कगन्धान्धैः केकारवविषादिभिः ।
नष्टं प्रापनिकैः क्वापि दुष्कलत्रकुलैरिव ॥१४॥

कञ्जेति—प्रापनिकैः मयूरैः क्वापि कस्मिन्नपि प्रदेशे नष्टं चक्षुर्विषयमतीत्य गतम् । कथम्भूतैः ? कञ्जकिञ्जल्कगन्धान्धैः अरविन्दमकरन्दपरिमलान्धैः । पुनः केकारवविषादिभिः केकारवे विषादो येषां तैः । कैरिव नष्टम् ? दुष्कलत्रकुलैरिव कुलटाजनैरिव अथवा दुष्टं कलत्रकुलं येषां तैः पुरुषैः । उभयोः प्रतापस्वभावाख्यानम् ॥१४॥

दन्तान्तरसमासक्तपुष्करा दिक्षु दन्तिनः ।
घनबन्धननिर्मुक्ता जगर्जुर्दुर्जना इव ॥१५॥

दन्तान्तरेति—दिक्षु दन्तिनः जगर्जुः गर्जितवन्तः । कथम्भूताः ? दन्तान्तरसमासक्तपुष्कराः रदमध्यसम्बद्धशुण्डाग्राः । पुनः घनबन्धननिर्मुक्ताः निबिडबन्धननिर्मुक्ताः । क इव ? दुर्जना इव । अत्रेदं तात्पर्यम्—रावणप्रतापज्वलनज्वालावलीभिरालीढा दिग्गजाः स्वकीयामाशां विहायान्यत्र गर्जनाञ्चक्रुः ।

भारतीये—दन्तिनो हस्तिनः दिक्षु आशासु जगर्जुः । कथम्भूताः ? दन्तान्तरसमासक्तपुष्कराः दन्तमध्यालम्बितारविन्दाः । घनबन्धननिर्मुक्ता मेघबन्धनवर्जिताः । क इव ? दुर्जना इव । अत्र शरत्कालस्वभावनिर्देशकथनं प्रदर्शितमिति भावः ॥ १५ ॥

निशम्याक्रान्तजगतः पाटवं तस्य दुःसहम् ।
आसीदास्वनितस्यापि क्षोभोऽरण्ये तपस्यताम् ॥१६॥

निशम्येति—तपस्यतां तपः कुर्वतामपि मुनीनामास्वनितस्य मानसस्य क्षोभ आसीत् सञ्जातः । क ? अरण्ये वने । किं कृत्वा ? पूर्वं निशम्य आकर्ण्य । किम् ? पाटवं पटुत्वम् । कस्य ? तस्य रावणस्य । कथम्भूतस्य तस्य ? आक्रान्तजगतः आक्षिप्तलोकस्य । कथम्भूतम् ? पाटवं दुःसहं सोढुमशक्यम् ।

भारतपक्षे तस्य शरत्कालस्येति । शेषः प्राग्वत् ॥ १६ ॥

नीर क्षीरका भेद करनेमें समर्थ चोंचको सिकोड़कर [उठाकर] पंखोंको फड़फड़ाकर हंससमूह जल्दीसे तालाबोंमेंसे उड़ गये थे [शब्द कर रहे थे] ॥१३॥

कमलोंके परागकी सुगन्धिसे अन्धे अपनी ही ध्वनिको सुनकर दुखी मोर कहीं ऐसे छिप गये थे जैसे कुलटा स्त्रियोंके नीच कुलोत्पन्न पति नष्ट हो जाते हैं [रावणके भय तथा शरद्-ऋतुके कारण मोर वनसे भाग गये थे] ॥१४॥

दिग्गज भयके कारण दांतोंके बीचमें सूंड दबाकर प्रबल और घने बन्धनोंको तोड़कर दुर्जनोंके समान चिंघाड़ रहे थे ।

दाँतोंमें फूल फँसाये, बादलोंके प्रतिबन्धसे परे हाथी सब ओर आनन्दसे चिंघाड़ रहे थे ॥ १५ ॥

विश्वके उत्पीड़क उस रावणके असह्य प्रतापकी चर्चा सुनकर वनमें तपस्वियोंके भी चित्त क्षुब्ध हो गये थे [संसारमें व्याप्त शरद्की मोहकताको जानकर तपस्वियोंके चित्त भी चंचल हो जाते हैं] ॥१६॥

विश्वेन वारिणा तस्मिन् द्योतमाने महीयसि ।
कलुषत्वं परित्यक्तं स्वच्छत्वमुपपादितम् ॥१७॥

विश्वेनेति–विश्वेन समस्तेन अरिणा शत्रुणा कलुषत्वं मलिनत्वं परित्यक्तम् । क्व सति ? तस्मिन् रावणे द्योतमाने प्रतपति सति । कथम्भूते ? महीयसि गरिष्ठे । तथा अरिणा स्वच्छत्वं प्रसन्नत्वमुपपादितं वा जनितञ्च ।

भारतीये–वारिणा जलेन तस्मिन् शरत्काले । शेषं तुल्यम् ॥१७॥

वप्राणां रम्यतालक्ष्मीः सोत्पलाशालिसम्पदाम् ।
तेन पक्वफलापाण्डुरानिन्ये लङ्घनक्रियाम् ॥१८॥

वप्राणामिति–आनिन्ये सामस्त्येन नीता । का ? रम्यतालक्ष्मीः । कामानिन्ये ? लङ्घनक्रियामास्कन्दनक्रियाम् । केन कर्त्रा ? तेन रावणेन । केषां रम्यतालक्ष्मीः ? वप्राणां भूधरनितम्बानाम् । कथम्भूतानाम् ? सोत्पलाशालिसम्पदां सोच्चमहावृक्षभ्रमरविभूतीनाम्, अथवा उच्चपलाशानामालिरुच्चपलाशालिः सैव सम्पत् येषां ते तथोक्तास्तेषाम् । कथम्भूता रम्यतालक्ष्मीः ? पक्वफलापाण्डुः आ ईषत्पाण्डुः आपाण्डुः पक्वफलैरापाण्डुः पक्वफलापाण्डुः इति सम्बन्धः ।

अथ भारतीयः–आनिन्ये । का ? रम्यतालक्ष्मीः । काम् ? लङ्घनक्रियाम् । केन ? तेन शरत्कालेन । केषाम् ? रम्यतालक्ष्मीः । वप्राणाम् । कथम्भूतानाम् ? शालिसम्पदां शालय एव सम्पद्येषां तेषाम् । कथम्भूता ? सोत्पला सकमला । पुनः पक्वफला । पुनः पाण्डुरिति । अत्र श्लोके आनिन्ये इति क्रियायाः मुख्यामुख्यभेदेन कर्मद्वितयं बोद्धव्यम् ॥१८॥

किंशुकाकुलभूमीनां नगानां फलसम्पदः ।
नामिताः परिपक्वाणां कृता रभसयामुना ॥१९॥

किंशुकेति–कृताः विहिताः । काः कर्मतापन्नाः ? फलसम्पदः । कथम्भूताः कृताः ? नामिता नम्राः । केन ? अमुना रावणेन । कया ? रभसया औत्सुक्येन विमानवेगेनेत्यर्थः । केषां फलसम्पदः ? नगानां तरूणाम् ? कथम्भूतानाम् ? किंशुकाकुलभूमीनाम् किंशुकैः पलाशकुसुमैः आकुला भूमिर्येषाम् । पुनः परिपक्वाणां पाकपर्यायं प्राप्तानाम् ।

भारतीयः–किं न कृता अपि तु कृता एव । काः ? फलसम्पदः । कथम्भूताः ? अमिताः प्रचुराः ? केन ? अमुना शरत्कालेन कर्त्रा । केषां सम्पदः ? नगानां शालीनाम् । कथम्भूतानाम् ? शुकाकुलभूमीनां कीरव्याप्तमेदिनीनाम् ? पुनः परिपक्वानाम्[1] ॥१९॥

अत्यन्त प्रतापी रावणका प्रभाव फैलनेपर नूतन शत्रुसमूह ने (नव-अरिणा) अखिल विश्वमें सदाचारको छोड़ दिया था तथा कपट कूटका आश्रय लिया था । [अत्यन्त कान्तिमान् शरद् ऋतुके आनेपर समस्त जलराशिने मलिनता छोड़कर निर्मलता धारण की थी] ॥१७॥

विकसित उच्च पलाशोंपर गूँजते भौंरोंसे सुशोभित पर्वतोंके प्रान्तोंकी सौन्दर्यपूर्ण कान्तिको रावणने पके फलोंके समान श्वेत (आभाहीन) करके लंघन करती हुई-सी कर दी थी । [धान्यरूपी सम्पत्तिसे पूर्ण खलियानोंकी शोभा तथा श्रीको पके फलों और विकसित कमलोंके द्वारा सर्वथा श्वेत-रक्त करके शरत्कालने उछलकूद ही मचा दी थी] ॥१८॥

किंशुक वृक्षोंसे व्याप्त, फलों तथा खनिज आदि सम्पत्तिसे परिपूर्ण पर्वतोंकी सार्थक सम्पत्तिको इस रावणने क्या वेगके साथ परिगणन नहीं किया था । [पके फलोंसे लदे तोतोंसे घिरे वृक्षोंकी फलरूपी सम्पत्तिको क्या इस ऋतुने तुरन्त ही निस्सीम नहीं बना दिया था ?] ॥१९॥

---

१. श्लेषः–द० मा० ।

तस्मिन्कालेऽनुजोपायात् प्रस्थितं प्रतिकेशवम् ।
विश्वविश्वम्भरानाथमित्थमूचेऽग्रजं वचः ॥२०॥

तस्मिन्निति—तस्मिन्कालेऽवसरे अनुजा शूर्पणखाख्या भगिनी अग्रजं ज्येष्ठभ्रातरं रावणं वचः वचनमूचे उक्तवती । कथम् ? इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण । कथम्भूतम् ? विश्वविश्वम्भरानाथं समस्तमेदिनीपतिम् ? पुनः कथम्भूतम् ? केशवं लक्ष्मणं प्रति प्रस्थितं प्रचलितम् । कस्मात् ? उपायात् सामादिप्रयोगात् ।

भारतीयः—अनुजः भीमः अग्रजं युधिष्ठिरं प्रति वचो वचनम् ऊचे । कथम् ? इत्थम् वक्ष्यमाणापेक्षया । कस्मिन् काले ? तस्मिन् काले शरत्समये । कथम्भूतम् ? अग्रजम् ? अपायात् द्यूतक्रीडावशात् पृथिव्यादेर्हरणात् विश्वविश्वम्भरानाथम् समग्रवसुन्धराधिपतिं केशवं नारायणं प्रति प्रस्थितं प्रचलितम्[1] ॥२०॥

प्रतिकर्त्तुं परीभावं जरासन्धाभियोगजम् ।
उद्यमोजातशत्रोस्ते समावहति मे रुचिम् ॥२१॥

प्रतीति—समावहति समाधत्ते । कः ? उद्यमः । काम् ? रुचिम् । कस्याः ? मे मम । कस्योद्यमः ? ते तव । कथम्भूतस्य ? जातशत्रोः समुत्पन्नरिपोः । किं कर्त्तुमुद्यमः ? परीभावमवज्ञां प्रतिकर्त्तुं प्रतीकारं नेतुम् । कथम्भूतम् ? जरासन्धाभियोगजं 'रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि सप्तधातवः' कालपरिणत्या एते रसादयो जीर्यन्ते तनूभवन्ति यस्यां सा जरा निर्बलत्वम्, जरायाः सन्धा यस्य स जरासन्धः जरासन्धश्चासावभियोगश्च जरासन्धाभियोगः तस्माज्जातं तं तथोक्तं वार्द्धकपरिणतिसम्बन्धोत्पन्नमसामर्थ्यसम्भूतमित्यर्थः ।

भारतीयः—समावहति । कः ? उद्यमः । काम् ? रुचिम् । कस्य ? मे मम । कस्योद्यमः ? ते तव । किमाख्यस्य ते ? अजातशत्रोः युधिष्ठिरस्य । किं कर्तुमुद्यमः ? परीभावं प्रतिकर्त्तुम् ? कथम्भूतं परीभावम् ? जरासन्धाभियोगजम् । जरासन्धाभियोगो जरासन्धग्रहो दुर्योधनः तस्माज्जातम् ॥२१॥

दुःखमोचनमिष्टस्य क्रियते हेतिधारिणा ।
वीरेण भीरुणा शूर शाखोद्धारेण बाहुना ॥२२॥

दुःखेति—हे शूर क्रियते विधीयते । किम् ? दुःखमोचनम् । केन कर्त्रा ? वीरेण । कस्य ? इष्टस्य मित्रस्य । कथम्भूतेन ? हेतिधारिणा शस्त्रधारिणा । केन कृत्वा ? बाहुना भुजेन । कथम्भूतेन बाहुना ? शाखोद्धारेण शाखानामुद्धारो यस्य तेन । अथवा भीरुणा हेतिधारिणा हा इति शब्दं धरतीति तेन कष्टमिति शब्दधारिणेत्यर्थः । शाखोद्धारेण बाहुना इष्टस्य दुःखमोचनं किं क्रियते अपि तु नेत्यर्थः ॥२२॥

ऐसे ही समय छोटी बहिन सूर्पणखाने समस्त विश्व और पृथ्वीके स्वामी, तथा सामादि उपायोंसे लक्ष्मणके विरुद्ध बढ़ते हुए बड़े भाई रावणसे निम्न बात कही थी [शरद् ऋतु आनेपर अनुज भीमने द्यूतक्रीड़ाके कारण लोक तथा भूमिके स्वामित्वसे गिरे अतएव श्रीकृष्णजीकी ओर मंत्रणाके लिए उन्मुख बड़े भाई धर्मराजसे कहा था] ॥२०॥

मेरे वार्द्धक्यकी मर्यादापर आक्रमण करनेसे हुए मेरे अपमानके प्रतीकारके लिए तुम्हें प्रयत्न करना चाहिए ऐसी मेरी इच्छा है क्योंकि तुम्हारे भी शत्रु खड़े होने लगे हैं। [जरासन्ध राजासे मिलकर किये गये हम पाण्डवोंके अपमानका प्रतिशोध करनेके लिए हे अजातशत्रु युधिष्ठिर ! आपको प्रयत्न करना चाहिये ऐसी मेरी सम्मति है] ॥२१॥

हे शूर रावण ! अपने वंशकी प्रतिष्ठाका विस्तारक वीर पुरुष बाहुसे शस्त्र ग्रहण करके अपने प्रिय लोगोंके दुःखका विनाश करता है। हाँ, 'हा हा' शब्दसे निन्दित, वंश परम्पराके उन्मूलक व्यर्थबाहु भीरुके द्वारा कुछ भी नहीं होता है ॥२२॥

---

1. श्लेषः—ब०, ना० ।

शरधाराभिवर्षेण वैरिविप्लवकारिणा ।
विधुरं ह्रियते बन्धो बाष्पाम्भोदुर्दिनेन वा ॥२३॥

शरेति–हे बन्धो ! ह्रियते । किं कर्मतापन्नम् ? विधुरं भयम् । केन कर्त्रा ? त्वया । केषाम् ? नृणामित्य-ध्याहार्यपदं बोद्धव्यम् । केन कृत्वा ह्रियते विधुरम् ? शरधाराभिवर्षेण बाणावलिवृष्ट्या । कथम्भूतेन ? वैरि-विप्लवकारिणा शत्रुध्वंसविधायिना । वाऽथवा ह्रियते विधुरम् । केन कृत्वा ? बाष्पाम्भोदुर्दिनेन अश्रुजल-प्रच्छादितदिवसेन । 'मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' इति ॥२३॥

राजसन्दर्शने व्याधौ चिन्तायां रिपुपीडने ।
प्रतिक्रियासु सर्वासु निर्बन्धाद्बान्धवं विदुः ॥२४॥

राजेति–निर्बन्धादङ्गीकारात् बान्धवं विदुः जानन्ति । के विद्वांसः इत्यध्याहार्यम् । क्व क्व ? राजसन्दर्शने तथा व्याधौ तथा चिन्तायां तथा रिपुपीडने शत्रुकदर्थने तथा प्रतिक्रियासु प्रतिकारे कथम्भूतासु सर्वासु समस्तासु ॥२४॥

स्थाने मातुलपुत्रस्य परिपाल्यै तवोद्यमः ।
आपदीषल्लभाः कर्त्तुमुपकारा हि मानिनाम् ॥२५॥

स्थानेति–हे बन्धो ! स्थाने युक्तमेतद्यत् जायते । कः ? उद्यमः । कस्य ? तव । कस्यै ? परिपाल्यै रक्षायै । कस्य ? मातुलपुत्रस्य खरदूषणस्य । अर्थान्तरमुपन्यस्यते–हि स्फुटं जायते । के ? उपकाराः । कथ-म्भूताः ? ईषल्लभाः दुर्लभाः । किम् ? कर्त्तुं विधातुम् । कस्याम् ? तस्याम् आपदि विपत्तौ । केषाम् ? मानिनाम् ।

भारतीयः–स्थाने युक्तं जायते । कः ? उद्यमः । कस्य ? तव । कस्यै ? परिपाल्यै रक्षानिमित्तम् । कस्य ? मातुलपुत्रस्य वासुदेवस्य । अर्थान्तरन्यासः पूर्वोक्त एव ॥२५॥

अस्ति नानाप्रकारोऽसौ कामं दुर्योधनो रिपुः ।
तत्तवैष बलं पक्षो ज्योत्स्नाभोगो विधोरिव ॥२६॥

अस्तीति–अस्ति विद्यते । कः ? असौ रिपुः । कथम् ? काममत्यर्थम् । कथम्भूतः ? दुर्योधनः दुःखेन योद्धुं शक्यः स दुर्योधनः दुःखसाध्य इत्यर्थः । पुनः नानाप्रकारः बहुविधः । तत्तस्मात् कारणात् एषः खरदूषणः बलं स्यात् तव । अत्र उपमार्थः प्रदर्श्यते । क एव ? पक्ष इव यथा पक्षः बलं स्यात् । कस्य ? विधोश्चन्द्रस्य । कथम्भूतः ? ज्योत्स्नाभोगः ज्योत्स्नाया आभोगो विस्तारो यस्य, शुक्ल इत्यर्थः ।

शत्रुओंमें आतंक फैलानेमें समर्थ बाणोंकी बहुमुखी मारके द्वारा वीर पुरुष अपने सगोंके भयको दूर कर देता है अथवा विपत्ति कालमें बहे आँसुओंको पोंछ देता है । [वैरीके समान विनाशकर्त्ता, बाण वृष्टिके समान मूसलाधार घटाओंसे घिरे दुर्दिनके द्वारा भी ओस तथा चन्द्रकान्तिका लोप किया जाता है] ॥२३॥

राजसभामें बुलाये जानेपर, भीषण रोगके समय, चिन्ताग्रस्त होनेपर, शत्रुओंके द्वारा सताये जानेपर तथा सब प्रकारकी सुरक्षा अथवा प्रतिशोधके समय साथ देनेके कारण ही 'बान्धव' कहलाता है ॥२४॥

अपने मामाके पुत्र (खरदूषण अथवा श्री वासुदेव) की सुरक्षाके लिए तुम्हारा (रावण अथवा युधिष्ठिरका) प्रयत्न करना सर्वथा उचित है । क्योंकि महापुरुषोंकी विपत्तिके समय सहायता करनेके अवसर बहुत कम आते हैं ॥२५॥

यह सत्य है कि यह राघव शत्रु ऐसा है जिसके पास विविध उपाय हैं तथा इसके साथ युद्ध करना अत्यन्त कठिन है अतएव यह खरदूषण आपका उसी प्रकार बल बढ़ावेगा जैसे शुक्लपक्ष चन्द्रमाको बढ़ाता है । [पाण्डव-शत्रु राजा दुर्योधन विविध सहाय आदि

भारतीयः—अरो दुर्योधनः रिपुरस्ति । ततस्मादेव विष्णुः तव बलं स्यात् । अन्यच्चेदं पूर्ववत्[१] ॥२६॥

प्रभाविशारदं वीर्यं तवोद्योगाय दीप्यते ।
निर्वाणाय परं तत्त्वमाध्यात्मिकमिवाखिलम् ॥२७॥

प्रभेति—प्रभाविशारदं प्रभया विशारदं प्रवीणं तव वीर्यम् उद्योगाय दीप्यते स्फुरति । कस्मै ? किमिव ? आध्यात्मिकमध्यात्मभवमखिलं समस्तं परं तत्त्वं निर्वाणाय मोक्षाय इव ।

भारतीयः—शारदं शरदि भवं प्रभावोऽस्यास्तीति प्रभावि प्रौढिमत् यद्वा प्रभवत्येवं शीलं प्रभावि दीप्तिरक्षकम् । शेषाः योजनाः प्राग्वत्[२] ॥२७॥

देवावदातवितता दिशः सह विहायसा ।
सूचयन्ति विना विघ्नात्सिद्धिं हस्तगतामिव ॥२८॥

देवेति—हे देव दिशः आशाः विहायसा सह नभसा सार्द्धमवदातविततः नैर्मल्यं प्राप्ताः सत्यः विघ्नाद्विना अन्तरायादृते सिद्धिं चिन्तितवस्तुप्राप्तिं हस्तगतामिव सूचयन्ति वदन्ति ॥२८॥[३]

मृदुराश्वासजननः खरदण्डविघट्टनः ।
कृतकृत्योऽधिकारीव तवार्यान्वीपिकोऽनिलः ॥२९॥

मृद्विति—हे आर्य स्वामिन्, अनिलो वायुरधिकारीव नियोगीव आन्वीपिकोऽनुकूलो वर्त्तते । कथम्भूतः ? मृदुः मन्दः पुनः आश्वासजननः शीतलः पुनः खरदण्डविघट्टनः कमलस्पर्शित्वात्सुरभिरित्यर्थः । अधिकार्यपि मृदुभाषित्वात् मृदुराश्वासजननः प्राणिनामाप्यायनोत्पादकः पुनः खरदण्डविघट्टनः खरो दण्डो येषां ते खरदण्डाः शत्रुनृपास्तेषां विघट्टनो विध्वंसकः पुनः कृतकृत्यः कृतकार्यः । अत्र रामायणपक्षे रावणप्रयाणे पवनानुकूलत्वं प्रोक्तम् ।

भारतपक्षे—शारदवायुगुणाः प्रोक्ताः[४] ॥२९॥

भूरिस्तम्बेरमेकान्ते फलशालिवने घने ।
राजन् कपिशताकीर्णे पश्य त्वं कामनीयकम् ॥३०॥

भूरीति—हे राजन् ! त्वं फलशालिवने फलैः शालत इत्येवं फलशालि तच्च तद्वनं तस्मिन् कामनीयकं निरीक्षस्व । कथम्भूते ? भूरिस्तम्बेरमे भूरयः स्तम्बेरमा यस्मिन् तस्मिन् कपिशतैराकीर्णे वानरशतसङ्कुले ।

साधनोंसे अत्यन्त सुसज्जित है तथापि वासुदेवकी उपस्थिति हमारे पक्षको पुष्ट करेगी जैसे शुक्लपक्ष चन्द्रमाको करता है] ॥२६॥

परमोत्कृष्ट समस्त, आध्यात्मिक तत्त्व जिस प्रकार निर्वाणकी प्राप्तिके लिए होते हैं उसी प्रकार हे रावण ! प्रतापसे उद्दीप्त आपके पराक्रमकी शोभा भी पुरुषार्थमें है । [हे धर्मराज ! अत्यन्त प्रभावपूर्ण शरदृतुके समागमसे आपके पराक्रमकी भी सार्थकता शत्रुविनाश करनेमें है] ॥२७॥

हे देव आकाशके साथ-साथ अत्यन्त निर्मल और विस्तीर्ण दिशाएँ भी सूचित करती हैं कि किसी विघ्न बाधाके बिना ही कार्य होगा अर्थात् सिद्धि मुट्ठीमें आ गयी है ॥२८॥

नम्र लोगोंमें विश्वास उत्पन्नकर्ता, तथा उग्र लोगोंको दण्डके द्वारा ध्वस्त करनेमें समर्थ सफल अधिकारीके समान अनुकूल बहती हवा [मन्द, शान्तिदायक, कमलके फूलोंमेंसे बहता मनोहर शरद् ऋतुका पवन] भी आपके अनुकूल चल रही है ॥२९॥

हे रावण ! फलोंसे शोभायमान, शान्त तथा सघन, सैकड़ों बन्दरोंसे व्याप्त एवं अनेक

---

१. श्लेषः—ब०, ना० । २. श्लेषोपमा—ब०, ना० । ३. उत्प्रेक्षा—ब०, ना० । ४. श्लेषः—ब०, ना० ।

भारतीयः—हे राजन्! फलशालिवने फलैरुपलक्षितं यच्छालिवनं तस्मिन् कामनीयकं पश्य। कथम्? अरमत्यर्थम्। कथम्भूते? भूरितमे बहुकाण्डकसमूहे। पुनः एकान्ते विजने पुनः कपिशताकीर्णे कपिशतया पिङ्गतया व्याप्ते[1] ॥३०॥

शत्रूणां दण्डकक्षेत्रमप्रवि(वे)श्यमिदं घनम्।
अभीष्टस्तम्बकरिभिरवगाढं विलोकय ॥३१॥

शत्रूणामिति—इदं प्रत्यक्षं दण्डकक्षेत्रं दण्डकारण्यं विलोकय निरीक्षस्व। कथम्भूतम्? शत्रूणामप्रवि(वे)श्यं प्रवि(वे)ष्टुमशक्यं पुनरभीष्टस्तम्बकरिभिः न विद्यते भीर्येषां तेऽभियः, ते च ते इष्टाश्च ते स्तम्बकरिणश्च तैः निर्भयाभितमत्तगजैरवगाढं व्याप्तम्।

भारतीयः—हे शत्रूणां दण्डक। इदं क्षेत्रं विलोकय। अभीष्टस्तम्बकरिभिरभिलषितव्रीहिभिरकृष्टपच्यशालिभिरित्यर्थः। अवगाढं व्याप्तम्। शेषं तुल्यम्[2] ॥३१॥

अस्मिन्नद्रावितस्थाने गहने पुण्डरीकिणि।
प्रफुल्लानोकहच्छन्ने नातिराजति वासरः ॥३२॥

अस्मिन्निति—अस्मिन्नद्रौ इतः स्थाने गहने वने वासरः दिवसः नातिराजति न शोभतेतराम्, कथम्भूतेऽद्रौ? पुण्डरीकिणि व्याघ्रवति पुनः प्रफुल्लानोकहच्छन्ने विकसितवृक्षाच्छादिते।

भारतीयः—वा इवार्थेऽस्मिन् गहने सरः सरोवरं किमिव नातिराजति अपि तु अतिराजत्येव। कथम्भूते? अद्रावितस्थानेऽनुपद्रुतप्रदेशे पुनः पुण्डरीकिणि सकमले, शेषं सदृशम्[3] ॥३२॥

नातिक्रामन्ति सरितो गतिस्खलितदूषिताः।
अस्मिन्नेकानुकूलत्वं यान्ति गेहेऽङ्गना इव ॥३३॥

नेति—सरितः नद्यः नातिक्रामन्ति नातिलङ्घन्ते। कथम्भूताः? गतिस्खलितदूषिताः गतेः स्खलितमेव दूषितं यासां ताः गतिस्खलनदोषवत्य इत्यर्थः। तथा यान्ति गच्छन्ति। किम्? एकानुकूलत्वम्। क? अस्मिन् प्रस्तावे। का इव? अङ्गना इव कामिन्यो यथा। क? गेहे वेश्मनीति सम्बन्धः[4] ॥३३॥

हाथियों युक्त वनके सौन्दर्यको देखो। [हे युधिष्ठिर! आप अनेक तनोंसे घन, एकान्त फले हुए अतएव भूरे भूरे शालिवनके सौन्दर्यको देखें] ॥३०॥

निर्भय असंख्य मत्त हाथियोंसे भरे हुए और अत्यन्त घने फलतः शत्रुओंके प्रवेशके लिए कठिन इस दण्डक भूमिको देखिये। [हे शत्रुओंको दण्ड देनेमें समर्थ धर्मराज! बिना बोये ही उगी प्रिय धानसे व्याप्त अतएव घने तथा बीचमेंसे जानेके लिए अयोग्य इस खेतको देखिए] ॥ ३१ ॥

फूले वृक्षोंसे ढके, व्याघ्रों (पुण्डरीक)से व्याप्त इस पर्वत अथवा इस गहन वनमें दिन भी अच्छा नहीं लगता है। [विकसित कमलयुक्त पूर्णरूपसे खिले फूलोंसे ढके वृक्षयुक्त इस उपद्रवरहित गहन स्थानपर क्या तालाब अत्यन्त मनमोहक नहीं लगता है? ॥ ३२ ॥

प्रवाहके पलटनेके कारण हानि करनेमें समर्थ नदियाँ भी इस क्षेत्रमें तटोंका लंघन नहीं करती हैं। घरमें कुलीन अंगनाके समान वे पूर्ण रूपसे अपने किनारोंके ही भीतर बहती हैं। [आचरणमें शिथिलताओंके दोषके कारण इस देशमें स्त्रियाँ मर्यादाओंका उल्लंघन नहीं करती हैं। शरत्कालीन नदियोंके समान एकपतित्वके व्रतका निर्वाह करती हैं] ॥ ३३ ॥

---

1. श्लेषः—ब०, ना०। 2. श्लेषः—ब०, ना०। 3. श्लेषः—ब०, ना०। 4. उपमा—ब०, ना०।

पयोधरभराक्रान्तनितम्बालसविक्रमाः ।
तन्वीः स्पर्शसुखोत्सङ्गा नानाकुसुमवासिताः ॥३४॥

पयोधरेति–अधुना कुलकेन व्याख्यास्यामः । अयं देशः [1]दरीर्गुहा बिभर्ति धारयति । कथम्भूताः ? पयोधरभराक्रान्तनितम्बालसविक्रमाः पयोधराणां[2] मेघानां यो भरस्तेन आक्रान्ता ये नितम्बाः सानवस्तैरलसाः क्षीणां पक्षिणां क्रमाः पादविक्षेपाः यासु ताः पुनः तन्वीः शर्करारहितत्वाच्च लघ्वीः सूक्ष्मीरित्यर्थः । पुनः स्पर्शसुखोत्सङ्गाः स्पर्शसुख उत्सङ्गो मध्यं यासां ताः । पुनः नानाकुसुमवासिताः विविधपुष्पसुरभीकृताः ।

भारतीयः–अयं देशः तन्वीः कामिनीः बिभर्ति । कथम्भूताः तन्वीः ? पयोधरभराक्रान्तनितम्बालसविक्रमा पयोधरभरेण स्तनभारेणाक्रान्तो यो नितम्बः कटिप्रदेशस्तेन । अलसौ मन्दौ विक्रमौ चरणौ यासां ताः । शेषं समम् ॥३४॥

सानुवृत्तोरुसम्भोगा गम्भीरावर्तनाभिकाः ।
रम्याधरोदरीभूताः प्ररोहचिकुरश्रियः ॥३५॥

सान्विति–पुनः कथम्भूताः । सानुवृत्तोरुसम्भोगाः सानौ प्रस्थे वृत्तो वर्तुलः उरुः वरिष्ठः सम्भोगो विस्तारो यासां ताः पुनः गम्भीरावर्तनाभिकाः गम्भीरः अतलस्पर्शी[3] आवर्तो जलभ्रमो यस्याः सा नाभिः मध्यप्रदेशो यासां ताः पुनः रम्याः पुनः धरोदरीभूताः धरायाः भुवोऽनुदरमुदरं भूताः धरोदरीभूताः पुनः प्ररोहचिकुरश्रियः प्ररोहाः वृक्षनेत्रा एव चिकुराः केशास्तैः श्रीः शोभा यासां ताः ।

भारतीयः–अयं देशः तन्वीः बिभर्ति । कथम्भूताः ? सानुवृत्तोरुसम्भोगाः क्रमवृत्तजघनविस्तारसहिताः । पुनः रम्याधरोदरीभूता रम्याण्यधरोदराणि यासां ताः रम्याधरोदर्यस्तादृशीभूताः रम्याधरोदरीभूताः पुनः प्ररोहचिकुरश्रियः प्ररोहाणामिव चिकुरश्रीः केशशोभा यासां ताः ॥३५॥

युक्ताः कुशलताभोगैरुत्कटाक्षाः शुभाननाः ।
कान्ता बिभर्ति देशोऽयमस्मिन्नुच्चैस्तलोदरीः ॥३६॥

युक्ता इति–अयं देशः दरीः बिभर्ति । कथम्भूता दरीः ? कुशलताभोगैः दर्भवल्लीसमूहैर्युक्ताः समन्विताः पुनरुत्कटाक्षा उत्कटा उग्रा अक्षा बिभीतकवृक्षाः यासु ताः । पुनः शुभानना रम्यद्वारप्रवेशाः पुनः कान्ताः कं जलमन्ते समीपे यासां ताः । कथम्भूतो देशः ? उच्चैस्तल उच्चभूमिकः[1] अस्मिन् दण्डके ।

इस देशके पर्वतोंमें ऐसी गुफाएँ हैं जिनमें पक्षिलोग धीरे-धीरे निश्शंक भावसे चलते हैं क्योंकि गुफाओं वाले छोटे-छोटे शिखर मेघोंकी घटासे घिरे रहते हैं । वे गुफाएँ पतली हैं, सुगन्धसे भरी हैं, (३४) शिखरके भीतर उनकी परिधि विस्तृत हो गयी है, उनका वृत्ताकार अन्त अत्यन्त दूर है, वे सुन्दर हैं तथा पृथ्वीके उदरके समान हैं, चारों तरफ उगी दूब, वृक्षोंके अंकुर आदि उनके केशसे प्रतीत होते हैं । (३५) कांस-लताओंके विस्तारसे व्याप्त, सॉचर नमकसे भरीं, सुन्दर प्रवेश द्वार सहित तथा जलाशयके पास स्थित हैं और अत्यन्त गहरी हैं (३६) [इस देशमें स्तनोंके भारसे झुकीं; नितम्बभारसे मन्थरगामिनी, कृश देहधारिणी, स्पर्शन इन्द्रियके सुख (संभोग)की निमित्त, विविध प्रकारके पुष्पोंसे सजी (३४), आनुपतिक वृद्धि युक्त जंघाधारिणी, गहरी गोल नाभिवती, सुन्दर ओष्ठ उदर धारिणी, अंकुरोंके समान सुन्दर केश शोभित (३५) भोगोंके सेवनमें दक्ष, कटाक्ष विक्षेपमें पारंगत, मनोहर मुखवती तथा अत्यन्त कृश उदरधारिणी कान्ताएँ हैं] ॥ ३६ ॥

इस देशकी अनुकूल बहती नदियोंका प्रवाह जब मेघोंकी घटासे आक्रान्त होता है तब इनको पार करनेमें पराक्रम ठंडा पड़ जाता है किन्तु इस ऋतु (शरत्)में ये पतली

---

१. प्रकरणप्राप्तत्वात् कान्ता—नद्यर्थेऽपि संभवति । २. पयोधराणां भरस्तेनाक्रान्तनितम्बास्तैरलसाश्च ते वयश्च तेषां क्रमः पादविक्षेपो यासु ताः–प०, द० । ३. अतलस्पर्शः–प०,द० ।

भारतीयः–अयं देशस्तन्वीः बिभर्ति । क ? अस्मिन् स्थाने । कथम्भूताः ? कुशलताभागैश्चातुर्यप्राचुर्यैः युक्ताः पुनः उत्कटाक्षा उद्गतापाङ्गाः पुनः शुभाननाः रम्यवदनाः कान्ताः कमनीयाः पुनरुच्चैस्तलोदरीरुच्चैरतीव तलं क्षामगुदरं यासां ताः सदसन्मध्यप्रदेशा इत्यर्थः[1] ॥३६॥

विक्षिप्तपुष्पशयनाः सुरतापातसम्भ्रमात् ।
कुसुमेषुचिताः कामसङ्ग्रामरचना इव ॥३७॥

विक्षिप्तेति–कुलकसम्बन्धेन व्याकरिष्यामः । भो देव भान्तीति क्रियाऽध्याहार्या । उपवने उद्यानवने एताः दिव्यस्त्रीणां सुराङ्गनानां क्रीडाः । कथम्भूताः ? सुरतापातसम्भ्रमात् सुरतस्य आपातेन यः सम्भ्रमस्तस्मात् सम्भोगप्रथमारम्भव्याकुलत्वात् विक्षिप्तपुष्पशयनाः विकीर्णकुसुमतल्पाः पुनः कुसुमेषुचिताः पुष्पबाणपुष्टाः । का इव ? कामसङ्ग्रामरचना इव स्मरसमरसन्निवेशा इव ॥३७॥

अलीककलहाकृष्टसूत्रशेषीकृतस्रजः ।
अन्योन्यबन्धनानीतबिशसूत्रयुता इव ॥३८॥

अलीकेति–पुनः कथम्भूताः ? अलीककलहाकृष्टसूत्रशेषीकृतस्रजः अलीककलहेनाकृष्टाः पश्चात् सूत्रशेषीकृताः स्रजो यासु ताः प्रेमकलहाक्षिप्ततन्तुशेषीकृतकुसुममालाः । किंविशिष्टा इवोत्प्रेक्षिताः ? अन्योन्यबन्धनानीतबिशसूत्रयुता इव परस्परयन्त्रणानायितपद्मिनीकन्दतन्तुबद्धा इवेत्यर्थः ॥३८॥

सलाक्षिकपदन्यासाः कुङ्कुमै रञ्जिता इव ।
एतास्योपवने दिव्यस्त्रीणां क्रीडाः सुरान्विताः ॥३९॥

सलाक्षिकेति–सलाक्षिकपदन्यासाः लाक्षारक्तचरणन्यासेन सह वर्तमानाः । का इवोत्प्रेक्षिताः ? कुङ्कुमैः कुसृणैः रञ्जिता इव लिप्ता इव पुनः सुरान्विताः देवयुताः ।

भारतीयः–हे दिव्य ! मनोहर उपवने स्त्रीणां कामिनीनामेताः क्रीडाः भान्ति । कथम्भूताः ? कुसुमेषुचिताः कुसुमेषु सुमनस्सु पुष्टाः कुसुमबहुला इत्यर्थः । अथवा कुसुमेषुः कामस्तेन चिताः पुष्टाः कन्दर्पपुष्टाः । पुनः सुरान्विताः वारुणीयुताः । शेषं समानम्[2] ॥३९॥

पड़ गयी हैं, इनमें अवगाहनादिका आनन्द लिया जा रहा है, आस-पास खिले फूलोंकी सुगन्धसे व्याप्त है । (३४) अत्यन्त गोल एवं विशाल मोड़ों युक्त हैं, गहरी भँवरोंके कारण इनमें कूप (पाताल) पड़ गये हैं, ये सुन्दर हैं और पृथ्वीके पेटके समान है । किनारेपर उगी वनस्पतियोंके अंकुरोंकी शोभा अद्भुत है । (३५) दूर दूर तक कुश तथा लताकुञ्जोंसे व्याप्त हैं, किनारोंपर ऊँचे बहेड़ेके पेड खड़े हैं, उनका तल गहरा और विस्तृत है तथा ये सर्वदा सुन्दर और जलपूर्ण हैं । ३६ ।

इस देशकी गुफाएं देव वर्गके अवतरणके प्रसंगसे फैले फूलोंकी शय्या ही प्रतीत होती हैं, विविध पुष्पोंसे व्याप्त होनेके कारण कामदेवकी व्यूह-रचना सी प्रतीत होती है (३७) परस्परके गुंजनसे आकृष्ट भौरोंकी मालामें केवल सूत्रकी ही कमी है, अथवा परस्परमें सन्निकट आ जानेसे मृणाल-तन्तुमें पिरोयेसे लगते हैं (३८) । निकटस्थ छोटे पर्वतोंपर लाक्षा फैली हुई है । फलतः कुंकुमसे रंगेसे लगते हैं । इनके उपवनोंमें देवताओंके साथ स्वर्गकी अप्सराओंकी क्रीडाएं चलती हैं । (३९) [प्रथम प्रारब्ध संभोगके भयसे पुष्पशय्या इधर-उधर हो गयी है । फलतः पुष्प रूपी बाणोंसे व्याप्त सुरत संग्रामकी स्थलीके समान हैं । (३७) दिखावटी कलहमें खींची गयी मालाओंके सिर्फ सूत्र ही शेष रह गये हैं, वे ऐसे लगते हैं मानो एक दूसरीको बाँधनेके लिए मृणाल सूत्र हों । (३८) आलता युक्त पैरोंके चिह्नोंसे व्याप्त हैं और कुंकुमसे रंगी-सी हो रही हैं ऐसी कामिनियोंकी अलौकिक क्रीडाएँ इन उपवनोंमें होती है । ३९ ।]

---

१. श्लेषः–द०, ना० । २. श्लेषः–द०, ना० ।

स्मरार्ता वारुणीभूतपरिप्लवविलोचनाः ।
सिञ्चन्त इव सुधया गायन्तः काकलीकलम् ॥४०॥
चलत्परिमलासक्तलीलालोलालिसंवृताः ।
तमालबहुलारण्यमभिविष्टा इव स्फुटम् ॥४१॥
इह किंपुरुषाः पश्य पुष्पाणामुच्चिकीर्षया ।
उद्यानेन परिश्रान्ताः सङ्क्रीडन्ते प्रियासखाः ॥४२॥

स्मरार्त्ता इति–कुलकेन व्याख्यास्यामः । हे रावण ! पश्य निरीक्षस्व । इह दण्डकवने किम्पुरुषाः किन्नराः पुष्पाणामुच्चिकीर्षया उच्चेतुमिच्छया सङ्क्रीडन्ते विहरन्ति । कथम्भूताः ? उद्यानेनोद्‌र्ध्वगमनेन परिश्रान्ताः खिन्नाः । पुनः प्रियासखाः प्रियाः सखायो येषां ते वनितासहायाः पुनः स्मरार्त्ताः कन्दर्पकदर्थिताः पुनः वारुणीभूतपरिप्लवविलोचना वारुणीभूतः परिप्लवो ययोस्तादृशे विलोचने येषां ते मदिरासमुत्पन्नाभिभव-दृश्य इत्यर्थः । किं कुर्वन्तः ? काकलीकलं मधुरस्वरमनोहरं यथा तथा गायन्तः । पुनः सुधयाऽमृतेन सिञ्चन्त इव प्लावयन्त इव पुनश्चलत्परिमलासक्तलीलालोलालिसंवृताः परिमलेष्वासक्ताः परिमलासक्ताः चलन्तश्च ते परिमलासक्ताश्च चलत्परिमलासक्ताः लीलायां लोला लम्पटा येऽलयः मधुपास्ते लीलालोलालयश्चलत्परि-मलासक्ताश्च ते लीलालोलालयश्च तैः संवृताः भ्रमदामोदरतक्रीडाचञ्चलभ्रमरपरिवेष्टिताः । किं विशिष्टा इवोत्प्रेक्षिताः ? तमालबहुलारण्यं स्फुटं निश्चयेन अभिविष्टाः प्रविष्टा इव ।

भारतीयः–हे युधिष्ठिर ! पश्य । उद्याने उपवने पुरुषाः किं न सङ्क्रीडन्ते अपि तु सङ्क्रीडन्त एव । कथम्भूताः ? अरुणीभूतपरिप्लवविलोचनाः स्मरार्त्ता वा मकरध्वजपीडिता इव । शेषं समम्[1] । ॥४०–४२॥

देवाङ्गनापदन्यासगुञ्जद्वलयशिञ्जनाः ।
एते लतागृहा भान्ति कामकारालया इव ॥४३॥

देवेति–एते लतागृहाः वल्लीमन्दिराणि भान्ति शोभन्ते । कथम्भूताः ? देवाङ्गनापदन्यासगुञ्जद्-वलयशिञ्जनाः देवाङ्गनानां पदन्यासेन गुञ्जन्ति रणन्ति वलयशिञ्जनानि कङ्कणनूपुराणि येषु ते । उत्प्रेक्षन्ते–कामकारालया इव कन्दर्पबन्दीगृहा इव ।

भारतीयः—हे देव भान्ति, के ? एते लतागृहाः । कथम्भूताः ? अङ्गनापदन्यासगुञ्जद्वलयशिञ्जनाः । शेषं तुल्यम् ॥ ४३ ॥

काम-वासनासे व्याकुल, मदिरासे उत्पन्न मादकताके कारण चंचलनेत्र, मधुर सूक्ष्म स्वरमें गाते हुए मानो अमृतकी वृष्टि करतेसे (४०) उड़ती सुगन्धिपर मोहित तथा क्रीडाके कारण चंचल भौंरोंसे घिरे; मानो अधिकतम तमाल वृक्षोंके जंगलमें प्रवेश कर जानेपर भी दृश्य (४१) आकाशमें उड़नेके कारण थके तथा प्रियतमाओंके साथ निकले किन्नर जातिके देव यहाँ फूल चुननेकी क्रीड़ा कर रहे हैं । हे रावण ! देखो (४२) [कामदेवके द्वारा दी गयी वेदनामें लाल-लाल व्याकुल विरहके आसुओंसे पूर्ण नेत्रोंसे सींचते हुए समान, प्रेमगीतको सूक्ष्मस्वरसे गुनगुनाते हुए (४०) परिचर्याके लिए दौड़ती हुई, सुगन्ध जलादि लानेमें लीन, विभ्रम और सहज चाञ्चल्यवती सखियोंसे घिरे हुए, शीतोपचारके लिए लगाये तमाल पत्रोंके अरण्यमें ही छिपे हुएसे (४१) अत्यन्त दुर्बल तथा बान्धवोंको प्यारे ये मतिमान पुरुष इस उद्यानमें हे युधिष्ठिर ! देखिये क्यों नहीं क्रीड़ा कर रहे हैं ? अर्थात् विरह व्याकुल हो कर पड़े हैं] ।४२ ।

सुर-सुन्दरियोंके लीलापूर्वक पैर रखनेसे पैजनियोंसे निकली छुन-छुन ध्वनियुक्त ये लताकुञ्ज कामदेवके कारावासोंके समान प्रतीत होते हैं [हे देव ! युधिष्ठिर ! सुन्द-रियाँ………] ४३ ।

---

१. श्लेषः–ब०, मा० ।

उद्योतितदिशः पक्वा लोकस्याजीवहेतवः ।
दिव्यौषधो विभान्त्येताः परार्थाः सत्क्रिया इव ॥४४॥

उद्योतितेति—एता दिव्यौषध्यः धातुवादयोग्यानि भेषजानि विभान्ति । कथम्भूताः ? उद्योतितदिशः प्रकाशिताशाः । पुनः पक्वाः प्राप्तपाकाः पुनः आजीवहेतवः जीवम् आ इति आजीवम् आजीवं हेतव आजीवहेतवः जीवनसंसारकारणानि । कस्य ? लोकस्य, इत्यमर्थः प्रदर्श्यते—का इव ? सत्क्रिया इव सदाचरणानीवेत्यर्थः । कथम्भूताः ? परार्थाः परेभ्योऽर्थः प्रयोजनं याभिस्ताः परार्थाः ।

भारतीयः—हे दिव्य युधिष्ठिरः एता ओषध्यः पावनालादिधान्यानि विभान्ति । कथम्भूताः ? लोकस्याजीवहेतवः जीवनोपायाः ॥ ४४ ॥

भूर्जायते प्रदेशेऽस्मिन्सालतालीसमाकुले ।
अभिख्यातियुता नित्यं शष्पच्छायोदकान्विता ॥४५॥

भूरिति—शष्पच्छाया शष्पैः बालतृणैरुपलक्षिता छाया अभिख्याति शोभतेतराम् । क्व ? अस्मिन्प्रदेशे । कथम्भूते ? भूर्जायते भूर्जरायते महति पुनः शालतालीसमाकुले सालैस्तालीभिश्च समाकुले । कथम्भूता शष्पच्छाया ? उदकान्विता जलयुता पुनः युता मिश्रा ।

भारतीयः—अभिख्यातियुता शोभासंयुक्ता भूर्भूमिः जायते । कथम् ? नित्यमनवरतम् । कथम्भूता सती ? शष्पच्छायोदकान्विता बालतृणच्छायासमवेता । क्व ? अस्मिन् लोचनगोचरे प्रदेशे । कथम्भूते ? लतालीसमाकुले वल्लीश्रेणिसङ्कीर्णे । कीदृशी भूः ? सा लोकप्रसिद्धा ॥ ४५ ॥

श्रीमत्तरलतोपेताः सरलाः सङ्गता इतः ।
प्रियवल्ल[1]वलीलाल्या व्रजकान्ताश्चकासति ॥ ४६ ॥
वैशाखोन्मन्थनोत्कम्पाद्गलन्मूर्धप्रसूनकाः ।
सुम्लानिजघनाभोगा न्यग्रोधपरिमण्डलाः ॥४७॥
उद्धृतापाण्डुरश्यामविटपायतबाहवः ।
संक्षिप्तबन्धुरस्कन्धाः प्रवालबहुलश्रियः ॥४८॥

श्रीमदिति—कुलकेन व्याख्यास्यामः । हे प्रियवन् प्रियमस्यास्तीति प्रियवान् तस्य सम्बोधनम्, हे कल्याणवन् हे रावण ! व्रज गच्छ । कया लवलीलाल्या लवलीनां चन्दनलतानामिला मही तस्या आलिः श्रेणी तया । क्व ? इतोऽस्मिन् प्रदेशे । यस्मात् हे श्रीमत्तर चकासति शोभन्ते । के ? सरलाः देवदारवः ।

समस्त दिशाओंमें प्रकाश फैलाती हुई परिपक्व तथा संसारके दीर्घजीवनमें साधक ये अलौकिक औषधियाँ वैसी ही चमक रही हैं जैसी कि परोपकारके लिए की गयी सत्क्रियाएं शोभित होती हैं । [हे दिव्य पाण्डुराज ! संसारकी आजीविकाके निमित्त ये धान्यादि वैसे सुन्दर लगते हैं जैसी·········] । ४४ ।

साल तथा ताल वृक्षोंसे व्याप्त, भोज पत्रोंके समान विस्तृत और समतल इस क्षेत्रमें दूबकी छाया और जलसे पूर्ण शीतल भूमि अत्यन्त सुन्दर लगती है । [लताओंकी श्रेणियोंसे व्याप्त इस क्षेत्रकी भूमि सदैव दूब, छाया तथा पानीसे युक्त रहनेके कारण अत्यन्त मनोरम हो जाती है । ४५ ।

हे कल्याणभाजन रावण ! चन्दनकी लताओंसे ढकी वीथियोंमेंसे जाओ । अधिकतर शोभा युक्त लताओंसे घिरे, अत्यन्त घने; मानो एक स्थानपर आ मिले सदृश सुन्दर अथवा पानीबहुल देवदारुके वृक्ष यहाँ बड़े मनमोहक लगते हैं । (४६) इनकी शाखाओंके परस्परमें

---

१. यमकश्लेषबन्धेषु सबिन्दुकाबिन्दुकयोरभेदाद् गुणानामभेदकत्वाच्च दोषः ।

कथम्भूताः ? सङ्गताः घनाः परस्परं मिलिताः पुनः लतोपेता वल्लीयुक्ताः । यद्वा श्रीमत्तरलतोपेता श्रीः शोभाः मत्ताः क्षीवा रलाः मधुपाः तोपः समूहः मत्ताश्च ते रलाश्च मत्तरलाः मत्तरलानां तोपः मत्तरलतोपः श्रीश्च मत्तरलतोपश्च श्रीमत्तरलतोपौ ताभ्यामुपेताः श्रीमत्तरलतोपेताः पुनरपि कथम्भूताः ? गलन्मूर्धप्रसूनकाः; गलन्ति पतन्ति मूर्द्धभ्यः शिखरेभ्यः प्रसूनानि कुसुमानि येषां तैः । कस्मात् ? शाखोन्मन्थनोत्कम्पात् शाखाविलोडनोद्‌र्ध्वकम्पात् । कथम् ? वै स्फुटं पुनः सुग्लाः म्लानाः पुनः निजघनाभोगाः स्वनिविडविस्ताराः पुनः न्यग्रोधपरिमण्डलाः न्यग्रोधस्येव वटवृक्षस्येव परिमण्डलं बुध्नं येषां ते तथोक्ताः । पुनरपि कथम्भूताः ? उद्‌धृतापाण्डुरश्यामविटपायतबाहवः उद्‌धृताः उद्दण्डाः, आपाण्डुर- श्यामाः ईषच्छुक्लश्यामाः उद्‌धृताश्च ते आपाण्डुरश्यामाश्च उद्‌धृतापाण्डुरश्यामाः ते च ते विटपाश्च उद्‌धृतापाण्डुरश्यामविटपाः क्षुद्रशाखास्त एवायता दीर्घाः बाहवो हस्ताः येषां ते तथोक्ताः । पुनः संश्लिष्टबन्धुरस्कन्धाः ह्रस्वमनोहरशाखाजन्मस्थानाः । पुनः प्रवालबहुलश्रियः प्रवालानां कोमलपल्लवानां बहुला प्रचुरा श्रीः शोभा येषां ते तथोक्ताः । पुनः कान्ता मनोज्ञाः, अथवा कं जलमन्ते समीपे येषां ते कान्ताः ।

भारतीयः–हे युधिष्ठिर, व्रजकान्ता गोप्यश्चकासति । कया ? प्रियवल्लवलीलाल्या प्रियगोपकटाक्ष-मालया । क्व ? इतः प्रदेशे । कथम्भूताः स्त्रयः ? सङ्गताः मिलिताः । पुनः श्रीमत्तरलतोपेताः श्रीमत्यश्च तास्तरलतोपेताश्च श्रीमत्तरलतोपेताः शोभावच्चञ्चलत्वयुताः । पुनः सरलाः ऋजवः पुनः गलन्मूर्द्धप्रसूनका-श्च्यवन्मस्तककुसुमाः । कस्मात् ? वैशाखोन्मथनोत्कम्पात् वैशाखो मन्थनदण्डः तस्य यदुन्मन्थनं तस्मात् य उत्कम्पस्तस्मात् मन्थनदण्डविलोडनोर्ध्वकम्पनादित्यर्थः । पुनः सुग्लानिर्जघनाभोगो यासां ता अतिक्लेशप्राप्तकटिमध्यप्रदेशाः सव्यपत्रिकप्रदेशा इत्यर्थः । पुनः न्यग्रोधपरिमण्डलाः तिर्यग्रोधकटिप्रदेशाः । पुनरुद्‌धृतापाण्डुरश्यामविटपायतबाहवः उद्‌धृतापाण्डुरश्यामविटपा वर्त्तुलेषत्पाण्डुरश्यामविटपा इवायता बाहवो यासां ताः पुनः संश्लिष्टबन्धुरस्कन्धाः व्यापारितमनोज्ञांसाः पुनः प्रवालबहुलश्रियः प्रकृष्टकेशप्रचुर-श्रियः[1] ।।४७-४८।।

पद्मरागप्रभाजालं विलोक्य शिखिनो गजाः ।
शङ्कया वनराजीषु विद्रवन्त्यमुतः प्रभो ।।४९।।

पद्मेति–हे प्रभो, हे स्वामिन् ! अमुतोऽस्मात्प्रदेशात् गजाः हस्तिनः विद्रवन्ति । किं कृत्वा ? पूर्वं पद्मरागप्रभाजालं शोणमणिप्रभासमूहं विलोक्य निरीक्ष्य । कया ? शिखिनः दावाग्नेः शङ्कया भ्रान्त्या । कासु ? वनराजीषु कान्तारश्रेणिषु ।

रगड़नेके कारण जो कम्प होता है उसके द्वारा चोटी तक के फूल झर जाते हैं और मुरझा जाते हैं । इन वृक्षोंकी गोलाई बहुत बड़ी है, वट वृक्षके समान इनका विस्तार है (४७) ऊपर तक चली गयीं श्वेत रक्त अथवा श्यामल शाखाएँ ही इनकी लम्बी भुजाएं हैं, इनके तने सुन्दर और कम ऊँचे हैं तथा नूतन सुकुमार पत्रोंने इनकी शोभाको अनेक गुणित कर दिया है । (४८) [हे लक्ष्मीनिवास युधिष्ठिर ! यहाँपर व्रजकी स्त्रियोंकी शोभा व्याप्त है क्योंकि प्रेमी गोपोंके कटाक्ष उनपर बरस रहे हैं, सरल होकर भी वे चंञ्चलतासे पूर्ण हैं, उनका आचरण समीचीन है, मथानीको चलानेके कारण उनके शिरके भूषण फूल बिखर गये हैं, जंघाएँ ऐसी पुष्ट और विस्तृत हैं कि वे थक जाती हैं, कटि प्रदेश विस्तृत और वर्तुल है, कोमल शाखाओंके समान सुकुमार तथा लम्बी भुजाओंको वे लीलासे उठाये हैं, सुन्दर कंधे ढले हुए हैं तथा लम्बे लम्बे केशोंने उनकी शोभाको अनन्त गुणित कर दिया है] ॥ ४६–४८ ॥

हे रावण ! पद्मराग मणियोंकी फैली हुई लाल लाल कान्तिको देखकर दावानलकी आशंकासे हाथी इस जंगलसे दूसरे जंगलोंको भाग जाते हैं । [हे धर्मराज ! पर्वती मयूर

---

१. श्लेषः–ब०, ना० ।

भारतीयः पक्षः—हे प्रभो, हे विभो युधिष्ठिर ! अगजाः पर्वतजाः शिखिनः मयूराः शङ्कया भीत्या विद्रवन्ति, अपि तु न ; शङ्कां विहाय निःशङ्कीभूत्वा खादन्तीत्यर्थः । कुतः ? अमुतः प्रदेशात् । किं कृत्वा ? पूर्वं विलोक्य । किम् ? पद्मरागप्रभाजालं···किञ्जल्ककान्तिश्रेणिम् । कासु ? वनराजीषु पयःपङ्क्तिष्विति[1] ॥४९॥

शस्यकं हरितग्रासबुद्ध्या वातमजा मृगाः ।
ढौकन्ते चापयन्त्यस्मिंश्चलानामीदृशी गतिः ॥५०॥

शस्यकमिति—वातमजाः वातमजन्तीति वातमजाः मृगाः हरितग्रासबुद्ध्या शस्यकं नीलमणिं ढौकन्ते आश्रयन्ति अपयन्ति च परित्यजन्ति च । क्व ? अस्मिन् प्रदेशे, युक्तमेतत्, हा कष्टं चलानां प्राणिनामीदृशी गतिः स्यात् ।

भारतीयः—वातमजा मृगाः हरितग्रासबुद्ध्या अल्पं शस्यं शस्यकं क्षुद्रधान्यं ढौकन्ते अपयन्ति च । शेषं प्राग्वत्[2] ॥५०॥

एषा पक्वफलाशालिसम्पदम्भोजशालिनी ।
बहुशोभास्थली लाति मोहनीयातिरम्यताम् ॥५१॥

एषेति—एषा स्थली अतिरम्यामतिरमणीयतां लाति आदत्ते । कथम्भूता ? पक्वफलाशालिसम्पत् पक्वे फले आशा यस्याः सा, पक्वफलाशाऽलिसम्पत्तस्यां सा पक्वफलेच्छुभ्रमरसमूहा । पुनः ? अम्भोजशालिनी पद्मशोभिनी । पुनः बहुशोभा प्रचुरदीप्तिः पुनः मोहनीया मोहोत्पादिका ।

भारतीयः—याति व्रजन्ति । का ? एषाऽलिसम्पत् । काम् ? रम्यताम् । मनोज्ञताम् । बहुशो वारं-वारम् । कथम्भूता ? पक्वफलाशा पुनरम्भोजशालिनी पद्मराजिता पुनः भास्थलीलातिमोहनी भायां तिष्ठतीति भास्था, भास्था चासौ लीला च भास्थलीला तयाऽतिमोहनी मोहोत्पादिका पिङ्गदीप्तिस्थितशोभया-मोहनीति[3] ॥५१॥

अपि चामीकरिकुलैः सुतरामाकुलैर्युताः ।
सिंहकेसरसञ्छन्ना बहुधान्यातिदुर्गमाः ॥५२॥
रम्यभावोदयादिक्षु द्राक्षापूगैरलङ्कृताः ।
ग्रथिता नागवल्लीभिः स्फुरन्तीभिरितस्ततः ॥ ५३ ॥

जल-स्थलोंमें व्याप्त कमलोंके पराग और कान्तिके विस्तारको देख कर क्या डर कर इस वनसे भागते हैं ? अपितु निशंक होकर कमल-परागका पान करते हैं] ॥ ४९ ॥

हे रावण ! इस वनमें वायुसे भी द्रुतगामी हिरण हरी घास समझ कर नीलमणियोंके पास जाते हैं और निराश होकर लौटते हैं । ठीक ही है, चंचलोंकी यही गति होती है । [हे युधिष्ठिर ! इस देशमें बकरे तथा हिरण नवजात धान्यकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर हरी हरी घास खानेकी इच्छासे जाते हैं किन्तु भगा दिये जाते हैं, लोलुपोंका यही हाल होता है] ॥ ५० ॥

सब ओर पके फलोंसे व्याप्त, गूँजते हुए भौरोंके समूहसे घिरी कमलिनी युक्त अत्यन्त सुन्दर और मनमोहक यह भूमि रमणीयताकी अति है । [पके फलोंपर मुग्ध, कमलोंके द्वारा उद्दीप्त, कलामय क्रीडाके कारण अत्यन्त उन्मत्त; यह भौरोंकी · शोभा सौन्दर्यका चरम विकास है] ॥ ५१ ॥

अन्वय—अस्मिन् सुतराम् आकुलैः करिकुलैर्युता, सिंहकेशर-सञ्छन्ना, बहुधा-अन्यातिदुर्गमाः, रम्यभावोदया, दिक्षु द्राक्षापूगैरलंकृताः, इतस्ततः स्फुरन्तीभिः नागवल्लीभिः ग्रथिता, सेव्याम्रा, मानरहिता द्रुमाकुला अष्टापदोपेतसंचारा अमी सानुभोगाः श्रियं दधति ।

---

१. अत्र कृतः शरत्कालपरामर्शः । २. अर्थान्तरन्यासौ—ब०, ना० । ३. श्लेषः—ब०, ना० ।

सेव्याग्रामानरहिताः सानुभोगा द्रुमाकुलाः ।
अस्मिन्नष्टापदोपेतसञ्चारा दधति श्रियम् ॥ ५४ ॥ (कुलकम्)

अपीति—अमी दृष्टिपथमागताः सानुभोगाः पर्वतनितम्बविस्ताराः अस्मिन्दण्डके श्रियं दधति धरन्ति । कथम्भूताः ? करिकुलैः गजवृन्दैर्युताः । कथम्भूतैः करिकुलैः ? सुतरामाकुलैः व्यग्रैः पुनः सिंहकेसरसञ्छन्नाः कण्ठीरवकण्ठकेसरप्रच्छादिताः पुनः बहुधान्यातिदुर्गमाः बहुधा बहुप्रकारैरन्यैः श्वापदैरतिदुर्गमाः नानाप्रकारापरश्वापदातिदुःप्रवेशाः पुनः रम्यभावोदयाः पुनर्दिक्ष्वाशासु द्राक्षापूगैरलङ्कृताः पुनः नागवल्लीभिः ताम्बूलीलताभिः सर्पश्रेणिभिर्हस्तिश्रेणिभिरिति केचित् । ग्रथिता गुम्फिताः । कथम्भूताभिः ? इतस्ततः स्फुरन्तीभिः विजृम्भमाणाभिः । पुनः सेव्याः आश्रयणीयशिखराः पुनः मानरहिता इयत्ता त्यक्ता, अत्यन्तविस्तीर्णा इत्यर्थः । पुनः अष्टापदोपेतसञ्चाराः शरभाश्रितमार्गाः ।

भारतीयः—हे युधिष्ठिर, अपि शब्दस्यायमर्थः, अस्मिन्देशे पत्तनानां तावदास्तां वर्णना ग्रामा अपि श्रियं विभूतिं दधति । कथम्भूताः ? चामीकरिकुलैः सुवर्णाढ्यपुरुषसन्तानैर्युक्ताः । कथम्भूतैः ? सुतरामाकुलैः सुताः पुत्राः रामाः भार्यास्ताभिराकुलैः, यद्वा सुतरामाणां कुलं येषां तानि तैः सुतसमूहरामासमूहयुक्तैरित्यर्थः । पुनः सिंहकेसरसञ्छन्नाः सिंहकेसराः वृक्षविशेषास्तैः सञ्छन्ना पुनः बहुधान्यातिदुर्गमाः प्रचुरसस्यातिदुर्गमाः पुनरिक्षुद्राक्षापूगैः इक्षवः प्रसिद्धाः द्राक्षा गोस्तन्यः पूगाः क्रमुकद्रुमाः तैरलङ्कृताः । कस्मात् ? रम्यभावोदयात् रमणीयताभ्युदयात् पुनः नागवल्लीभिः ताम्बूलीभिः ग्रथिताः । कथम्भूताभिः ? इतस्ततः स्फुरन्तीभिः पुनः सेव्या आश्रयणीयाः पुनः नरहिताः मनुष्यहिताः पुनः सानुभोगाः विस्तीर्णाः पुनरष्टापदोपेतसञ्चाराः सुवर्णान्वितनिर्गमप्रदेशाः[१] । इति कुलकम्[२] ॥ ५२–५४ ॥

बहुधातुगणाकीर्णान्सुमहावागुणादिमान् ।
शब्दागम इवोद्देशान्देवलोको न मुञ्चति ॥५५॥

बह्विति-देवलोकः सुरसमूहः इमान् उद्देशान् न मुञ्चति न परित्यजति । ऊर्ध्वं गताः देशा उद्देशा उच्चप्रदेशाः पर्वतादयो वा तान् । कथम्भूतान् ? बहुधातुगणाकीर्णान् प्रचुरगैरिकादिसमूहसंकुलान् । कथम्भूतो देवलोकः ? सुमहाः शोभनतेजाः । वागुणात् ऊ ईश्वरः आ ब्रह्मा अः नारायणः उश्च आश्च अश्च वाः वानां गुणः वागुणस्तस्मात् हरहिरण्यगर्भहरीणां प्रतापगुणात् शरीरकान्तिगुणाच्च अधिकप्रतापः अधिकशरीर-

---

और भी देखिये, इस दण्डक वनमें ये पर्वतोंके ढाल कितने शोभापूर्ण हैं, स्वयं ही इकट्ठे हुए हाथियोंके झुण्डोंसे भरे हैं, सिंहोंकी अयालके बालोंसे ढके हैं, बहुधा दूसरे हिंस्र पशु भी यहाँसे निकलते डरते हैं, सब दिशाओंमें खड़े अंगूर सुपारी आदिके वृक्षों तथा इधर-उधर लहलहाती पानकी बेलोंसे गुथे होनेके कारण; सुन्दर भावोंके प्रेरक रमणीय शिखरोंसे भूषित, विस्तृत होकर भी वृक्षोंसे पूर्ण तथा भाँति भाँतिके शरभ आदि मृग इसमें कूदते फिरते हैं ॥ ५२–५४ ॥

अन्वय—अस्मिन् च चामीकरिकुलैर्युता, सुत-रामाकुलैः, सिंहकेशरसञ्छन्नो, बहुधान्या-अति दुर्गमा, रम्यभावोदयात् इक्षुद्राक्षापूगैरलंकृताः, इतस्ततः स्फुरन्तीभिः नागवल्लीभिर्ग्रथिता, नरहिताः, सानुभोगाः, द्रुमाकुलाः, अष्टापदोपेतसञ्चाराः सेव्याः ग्रामा अपि श्रियं दधति ।

इस देश में पत्नी पुत्र तथा कुटुम्बियों युक्त धनवान् लोगोंके समूहोंसे व्याप्त, सिंहकेशर वृक्षोंसे पटे, धान्यके खेतोंमें दबी पगडण्डियों युक्त, सौन्दर्य लक्ष्मीकी कृपाके कारण ईख, दाख तथा सुपारी आदिसे परिपूर्ण, इधर-उधर घूमते हुए हाथियोंकी पंक्तियोंसे गुँथे, मनुष्योंके कल्याणकारी, अनुकूल भोग समन्वित, दोनों ओर वृक्षोंसे युक्त तथा स्वर्ण निर्मित सदृश मार्गोंसे पूर्ण ग्रामोंकी भी शोभा अवर्णनीय है ।

१. प्रवेशः–प०, द० । २. श्लेषः–ब०, ना० ।

तेऽत्यर्थः । क इव न मुञ्चति ? शब्दागम इव व्याकरणमिव । यथा शब्दागमः उद्देशान् प्रकरणानि न त्यजति । कथम्भूतान् उद्देशान् ? बहुधातुगणाकीर्णान् बहुभिर्धातुगणैराख्यातसञ्ज्ञैराकीर्णान् संकुलान् । कथम्भूतः शब्दागमः ? सुमहावाक् शोभना महतां शिष्टानां वाग्वाणी यस्मात् स सुमहावाक् पुनः उणादिमान् उणादिप्रत्ययमुक्त इत्यर्थः ।

भारतीयः—हे देव हे युधिष्ठिर न मुञ्चति । कः ? लोकः अष्टादशप्रकृतिजो जनः । कान् ? उद्देशान् उत्कृष्टान्देशान् धनजनकनकसस्यसमृद्धान् ; पुनः बहुधातुगणाकीर्णान् प्रभूतसुवर्णरूप्यलोहताम्रादिसमन्वितान् । किंविशिष्टो लोकः ? सुमहावाः शोभनैरुत्सवैरावाति समन्तात्प्रवर्त्तते सुमहावाः । पुनः गुणादिमान् वीर्यौदार्यादियुक्तः उपमार्थः प्राग्वत्[1] ॥५५॥

मन्दरागः स्वयं साक्षान्मन्त्रकृद्भिरधिष्ठितः ।
पुण्याश्रमो विभात्येष सानुमाननया श्रिया ॥५६॥

मन्देति—एष सानुमान् अनया श्रिया विभाति शोभते । कथम्भूतः ? मन्दरागः मन्दरश्चासावगश्च मन्दरागः मेरुः । कथम् ? स्वयं स्वरूपेण । पुनः मन्त्रकृद्भिः विद्याधरैः साक्षात् परमार्थवृत्त्याधिष्ठित आश्रितः । पुनः कथम्भूतः ? पुण्याश्रमः पुणयति पुमांसं शुभे कर्मणि प्रवर्त्तयतीति पुण्यम् "योचोरासुयुवः" [जै० २।१।८४] इति यः प्रत्ययः । पुण्यसंयोजनहेतुत्वात् पुण्यानामुपलभ्यमानत्वादाश्रमः पुण्याश्रमो जनानामिति ।

भारतीयः—एष पुण्याश्रमः विभाति । पुण्यस्य सम्यक्तपश्चरणादिजनितशुभपरिणामलक्षणस्यानुभवत्वात् पुण्याः यतयस्तेषामाश्रमः पुण्याश्रमः । कया कृत्वा ? अनया प्रत्यक्षभूतया श्रिया शोभया । कथम्भूतः ? सानुमान् तया लक्ष्म्या सह जनमनुमानयत्यनुबन्धयतीति सानुमान् ... इत्यर्थः । पुनः मन्दरागः मन्दो रागो यत्र स पुनः मन्त्रकृद्भिः योगिभिः स्वयमात्मना साक्षात् परमार्थतोऽधिष्ठितः[1] ॥ ५६ ॥

अन्वय—शब्दागम इव बहुधातुगणाकीर्णान् , वागुणादिमान् उद्देशान् सुमहा देवलोको न मुञ्चति ।

व्याकरण शास्त्रके समान मेरु आदि समस्त धातुओंसे भरपूर (भ्वादि क्रियागणोंसे पूर्ण) ऊ (शिव) + आ (ब्रह्मा) + अ (विष्णु) वा अर्थात् महेश-ब्रह्मा-विष्णुके गुणोंसे युक्त (उणादि प्रकरणों सहित) अत्यन्त तेजस्वी (शुद्ध तथा आर्ष वाक्योंके जनक) ऊँचे स्थलोंको (प्रकरणोंको) देव लोग नहीं छोड़ते हैं ।

अन्वय—हे देव ! गुणादिमान् सुमहावाः लोकः शब्दागम इव बहुधातुगणाकीर्णान् उद्देशान् न मुञ्चति ।

हे धर्मराज ! वीर्य शौर्य आदि गुणोंके धारक, सुन्दर उत्सवोंमें सम्मिलित होनेके लिए आतुर, अठारह प्रकृतिके लोग सोना आदि धातुओंसे पूर्ण इस उत्तम देशको नहीं छोड़ते हैं ॥ ५५ ॥

अन्वय—स्वयं मन्दरागः, मन्त्रकृद्भिः साक्षादधिष्ठितः पुण्याश्रमः एष सानुमान् अनया श्रिया विभाति ।

स्वभावसे ही सुमेरु पर्वत तुल्य, विद्याओंके साधकों (विद्याधरों) की प्रमुख निवास भूमि तथा शुभ आचरणके कारण आश्रम तुल्य यह पर्वत इस छटासे चमक रहा है ।

अन्वय—मन्त्रकृद्भिरधिष्ठितः स्वयं मन्दरागः, सानुमान्, एषः पुण्याश्रमः अनया श्रिया विभाति ।

मन्त्रोच्चारणमें लीन तपस्वियोंसे व्याप्त, स्वयमेव राग-द्वेषकी हीनताको प्राप्त ज्ञानादि रूप अन्तरंग लक्ष्मीके कारण आकर्षक यह पुण्यात्माओंका आश्रम साधनाकी सुन्दरतासे सुशोभित है ॥५६॥

---

१. श्लेषः—ब०, ना० ।

एष चापगुणोन्मुक्तविकसद्बाणसंहतिः ।
प्रदेशेऽस्मिन्नभीरामः प्रकाममवलोक्यताम् ॥५७॥

एष इति–भो रावण ! एष रामोऽवलोक्यताम् त्वया । क्व अस्मिन्प्रदेशे । कथम्भूतः ? चापगुणोन्मुक्तविकसद्बाणसंहतिः चापगुणेन धनुर्मौर्व्या कृत्वोन्मुक्ता विसृष्टा विकसन्ती स्फुरन्ती बाणसंहतिः शरपङ्क्तिर्येन सः अभीः निर्भयः । कथम् ? प्रकाममत्यर्थम् ।

भारतीयः—हे युधिष्ठिर ! एष पुण्याश्रमः त्वयाऽवलोक्यताम् ! कथम्भूतः ? अपगुणोन्मुक्तविकसद्बाणसंहतिः अपगुणेनावग्रहेणोन्मुक्ता विकसन्ती बाणानां वृक्षविशेषाणां संहतिः पङ्क्तिर्यत्र सः पुनरभीरामः मनोज्ञः । क्व ? अस्मिन्प्रदेशे । कथम् ? प्रकामम्[1] ॥ ५७ ॥

शरप्रवाहदुर्गेऽस्मिञ्छ्रीसम्पल्लक्ष्मणान्विते ।
देशभग्नेभदन्ताढ्ये दृश्यतां दीप्रतागुरुः ॥५८॥

शरेति–रामः दृश्यताम् । कथम्भूतः ? दीप्रतागुरुः दीप्रतया प्रतापेन गुरुः । क्व ? अस्मिन्देशे प्रदेशे । कथम्भूते प्रदेशे ? शरप्रवाहदुर्गे मार्गणगणविषमे पुनः श्रीसम्पल्लक्ष्मणान्विते श्रीसम्पत्सीता लक्ष्मणः सौमित्रिः ताभ्यामन्विते पुनः भग्नेभदन्ताढ्ये भग्नैर्जर्जरैरिभदन्तैः गजरदैराढ्ये संयुक्ते ।

भारतीयः–एष च पुण्याश्रमो दृश्यताम् । कथम्भूतः ? दीप्रतागुरुः दीप्रतया तपश्चरणादिना गुरुः । क्व ? अस्मिन् देशे । कथम्भूते देशे ? शरप्रवाहदुर्गे पयःपूरदुःप्रवेशे पुनः श्रीसम्पल्लक्ष्मणा शोभासमृद्धिचिह्नेनान्विते पुनः अभग्ने निरुपद्रवे पुनः भदन्ताढ्ये भदन्तैः[2] पूज्यैः पुंभिराढ्ये युते[3] ॥५८॥

अहो परमरौद्रत्वमसिधाराव्रतैश्रिता ।
धत्ते सङ्ग्रामदुर्गान्तर्भूमिर्नरकपालिनी ॥५९॥

अहो इति–अहो आश्चर्ये असावन्तर्भूमिः समीपवर्तिनी भूमिः परमरौद्रत्वमतिशयेन भीष्मत्वं धत्ते धारयति । कथम्भूता सती ? संग्रामदुर्गा खरदूषणविहितसमरदुःप्रवेशा पुनः असिधाराव्रतैरसिधारैव व्रतं येषां तैः क्षत्रियकुमारैश्रिता उपचयं प्राप्ता पुनः नरकपालिनी मनुष्यकरोटिवती ।

इस स्थानपर धनुषकी डोरीसे छोड़े गये बढ़ते हुए बाणोंकी पंक्तिसे युक्त निर्भय राम हैं । इन्हें जी भरके खोज लो ।

अन्वय–अस्मिन्प्रदेशे च अपगुणोन्मुक्तविकसद्बाणसंहतिः अभीरामः एषः प्रकाममवलोक्यताम् ।

इस स्थानपर ही जलराशिकी भरमारके कारण विकसित बाण वृक्षोंकी पंक्तियाँ हैं ये अत्यन्त सुन्दर लगती हैं । इन्हें खूब देखिये और प्रमुदित होइये ॥५७॥

बाण वर्षाके कारण संकटापन्न, टूटकर गिरे हाथीदाँतोंसे व्याप्त इस देशमें लक्ष्मी स्वरूप सीताजी तथा लक्ष्मणके साथ रहते हुए तेजस्वियोंके गुरु रामको भली-भाँति खोजिए ।

अन्वय–शरप्रवाहदुर्गे, श्रीसम्पल्लक्ष्मणान्विते, भदन्ताढ्ये, अभग्ने अस्मिन् देशे दीप्रतागुरुः दृश्यताम् ।

पानीकी बाढ़के कारण दुर्गम, लक्ष्मी और कान्ति रूपी चिह्नोंके धारक, श्रमणोंसे परिपूर्ण तथा अखण्ड इस देशमें तपके प्रतापयुक्त इस आश्रमका दर्शन कीजिए ॥५८॥

तलवार धारण करनेके व्रती वीरोंसे पटी, कुछ समय पूर्व हुए घोर युद्धके कारण अगम्य और मनुष्योंके कपालोंसे व्याप्त यह युद्धस्थली और दुर्गके बीचकी भूमि अत्यन्त भीषणताको धारण किये है ।

---

१. श्लेषः—ध०, ना० । २. संसारासातापरिज्ञानेन वैरङ्गिकैः पुरुषैराश्रिते–प०, द० । ३. श्लेषः–ध०, ना० ।

भारतीयः—असौ संग्रामदुर्गान्तर्भूमिः समीचीनग्रामप्राकार मध्यावनिः अरौद्रत्वं प्रसन्नत्वं धत्ते। कथम्भूतम्? परमुत्कृष्टम्। कथम्भूता? असिधाराव्रतैः असिधारेव व्रतं येषां तैः परग्रामासहोदरैः सत्पुरुषैः यद्वा हृदतपश्चरणादिमतधुरन्धरैः योगिभिश्रिता पुनः नरकपालिनी नरान् कैन सुखेन पालयतीति सा तथोक्ता[1] ॥५९॥

प्रभञ्जनाकुलाशोकभिन्ना पुन्नागसंहतिः।
एतस्मिन्नीदृशं कालं प्राप्य राजन्न राजती ॥६०॥

प्रभञ्जनेति—हे राजन् भो रावण! न राजति न शोभते। काऽसौ? पुन्नागसंहतिः सत्पुरुषसमूहः। किं कृत्वा? पूर्वं प्राप्य लब्ध्वा। कम्? कालं लक्षणम्। कथम्भूतम्? ईदृशम्। क? एतस्मिन्नत्र दण्डकाख्ये वने। कथम्भूता सती? प्रभञ्जनाकुला प्रध्वंसव्यग्रा। पुनः शोकभिन्ना मनःक्लेशजनितान्तःसन्तापतप्ता।

भारतीयः—हे राजन्! पुन्नागसंहतिः पुन्नागा वृक्षविशेषास्तेषां संहतिः न राजति, अपितु राजत्येव। किं कृत्वा? कालं शरत्समयं प्राप्य। कथम्भूता? प्रभञ्जनाकुलाशोकभिन्ना प्रभञ्जनेन वायुना आकुलैरशोकैर्वृक्षविशेषैर्भिन्ना वाताहतपिण्डीद्रुममिश्रीभूता[2] ॥६०॥

नृपहेतुरगान् पश्य त्वं लक्ष्म्या ज्वलितानिमान्।
वैरिदावाग्निसन्तापविदग्धान् पतितानितः ॥६१॥

नृपेति—हे नृप भो रावण! पश्य निरीक्षस्व। कोऽसौ? त्वम्। कान्? इमान् तुरगान्। कथम्भूतान्? पतितान्। क? इतः प्रदेशे। पुनः कथम्भूतान्? ज्वलितान् शोभितान्। कया? लक्ष्म्या शरीर शोभया। पुनः कथम्भूतान्? वैरिदावाग्निसन्तापविदग्धान् वैरिणश्च ते दावाग्नयश्च, तेषां सन्तापस्तेन विदग्धान् विपक्षवनवह्निभस्मीकृतान्।

भारतीयः—हे नृप युधिष्ठिर! पश्य। कोऽसौ? त्वम्। कान्? इमान् अगान् वृक्षान्। किंविशिष्टस्त्वम्? हेतुः कारणम्। कस्याः? लक्ष्म्याः श्रियः। कथम्भूतान्? पतितान्। क? इतः अत्र। कथम्भूतान्? ज्वलितान् दीप्तान्। पुनः कथम्भूतान्? वैरिदावाग्निसन्तापविदग्धान् वैरीव वैरी, स चासौ दावाग्निश्च, तस्य सन्तापः। तेन विदग्धान्[3] ॥६१॥

वेगिनीमिह पश्यामि नदीनां स्यन्दनक्रियाम्।
कुञ्जराजिश्रियं चोच्चैस्तीक्ष्णाङ्कुशमुखोद्यताम् ॥६२॥

ब्रह्मचर्यादि असिधारा व्रतोंके पालक लोगोंकी निवासभूमि, मनुष्यमात्रका सुखपूर्वक पालन पोषण करती यह आदर्श ग्रामोंकी चारदीवारीके भीतरकी भूमि अत्यन्त करुणामय रूपसे युक्त है ॥५९॥

हे राक्षसराज! सर्वथा विनाशसे व्याकुल, शोकके कारण भग्न-मनोरथ नागवंशी श्रेष्ठ पुरुषोंकी जाति यहाँपर इस समय ऐसे दुर्दिनको प्राप्त होकर शोभित नहीं हो रही है।

हे धर्मराज! प्रबल वायुवेगसे पीड़ित अशोक वृक्षोंसे टकरायी पुन्नाग वृक्षोंकी कतारें यहाँपर इस सुन्दर शरत् ऋतुको प्राप्त करके क्या शोभित नहीं होती है? अपितु विशेष रूपसे शोभित हो रही है ॥६०॥

हे लंकेश्वर! शरीरकी शोभासे जगमग, शत्रुओंकी सेनारूपी दावाग्निकी लपटोंमें भस्मीकृत और इधर उधर गिरे इन घोड़ोंको आप देखें। [समस्त सम्पत्तिके निधान हे धर्मराज! शत्रुभूत वनाग्निकी लपटोंके द्वारा जलाये गये तथा अब भी धधकते हुए इन वृक्षोंको आप देखें] ॥६१॥

---

१. श्लेषः—ब०, ना०। २. श्लेषः—ब०, ना०। ३. श्लेषः—ब०, ना०।

वेगिनीमिति–भो रावण ! स्यन्दनक्रियां रथव्यापारं न पश्यामि नेक्षे । कथम्भूतां न पश्यामि ? दीनां म्लानाम्, अपि तु पुष्टां पश्यामीति भावः। कथम्भूतां सतीम् ? वेगिनीं वेगवतीम्। क्व ? इह दण्डके । तथा च न पश्यामि । काम् ? कुञ्जराजिश्रियं कुञ्जराणामाजिस्तया श्रीस्ताम् समाजसमरशोभाम् । कथम्भूतां न पश्यामि ? दीनामपि तु पुष्टां पश्यामीति भावः । कथम्भूताम् ? उच्चैस्तीक्ष्णाङ्कुशमुखोद्यतामतितीक्ष्णसृणिमुखसङ्कुचिताग्राम् । अनेन भद्रत्वं राजवाहनत्वं च गजानां प्रदर्शितमिति ।

भारतीयः— इह प्रदेशे नदीनां तरङ्गिणीनां स्यन्दनक्रियां स्रवणव्यापारं पश्यामि । कथम्भूताम् ? वेगिनीं रयवतीं तथा कुञ्जराजिश्रियं शाद्वलवृन्दशोभां पश्यामि । कथम्भूताम् ? उच्चैरुच्चां पुनस्तीक्ष्णां निरीक्षणीयां पुनः कुशमुखोद्यतां दर्भाग्रनिर्भिन्नाम्[1] ।। ६२ ।।

सर्वत्र विषयेऽमुष्मिन्भ्रान्तदृष्टिरितस्ततः ।
न पश्यामि क्वचित्तीव्रं द्विषतां खरदूषणम् ।।६३।।

सर्वत्रेति–हे रावण ! अहं शूर्पणखा खरदूषणं रावणस्यालकं क्वचित्कस्मिंश्चित्स्थाने न पश्यामि । कथम्भूतम् ? द्विषतां शत्रूणां तीव्रं सोढुमशक्यम् । कथम्भूताऽहम् ? सर्वत्राहमस्मिन् विषये समस्ते दण्डके भ्रान्तदृष्टिः प्रचलितलोचना ।

भारतीयः—हे युधिष्ठिर ! अहं द्विषतामरीणां तीव्रं निर्दयं खरदूषणं निष्ठुरापराधं न पश्यामि । शेषं प्राग्वत् ।। ६३ ।।

देव किं बहुनानेन साधुनाऽसाधुनाथवा ।
निष्पश्चिममिदं पश्य नेत्रमात्राखिलेन्द्रियः ।।६४।।

देवेति–हे देव स्वामिन् ! किम् ? 'अत्र किमिति शब्दः प्रतिषेधाभिधायी द्रष्टव्यः । अव्ययानामनेकार्थत्वात् । किं पूर्यते अनेन परिजल्पितेन । कथम्भूतेन ? बहुना प्रचुरेण पुनः साधुना मनोज्ञेन अथवा असाधुनाऽमनोज्ञेन निष्पश्चिममद्वितीयमिदं वक्ष्यमाणं नेत्रमात्राखिलेन्द्रियः सन् नेत्रमात्राणि नेत्रयोर्विलीनानि सकलानि स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि यस्य स त्वं पश्य नेत्रेन्द्रिये सकलानीन्द्रियाणि प्रवेश्य दृश्यतां सावधानो भवेत्यर्थः ।।६४।।

पटुः सुघटविस्तारसमस्तन्यायनीतिषु ।
रहितोदारतुष्टात्मा मदिराक्षीवताशया ।। ६५ ।।

हे रावण ! यहाँपर अत्यन्त तीव्र गतिसे चलते रथोंको देखती हूँ—उनमें ढिलाई नहीं है; नुकीले अंकुशके संकेतपर चलनेके लिए प्रस्तुत हाथियोंकी पंक्तिकी शोभा भी सर्वोपरि है। [हे धर्मराज इस ऋतुमें नदियोंके प्रवाहकी गति तेज दिखती है तथा देखने योग्य, अत्यन्त सुन्दर कांसकी धारसे कटी हुई कुञ्ज समूहकी शोभाको देखता हूँ] ।।६२।।

इस पूरे क्षेत्रमें इधर-उधर सब ओर नजर घुमाकर भी मैं सूर्पणखा शत्रुओंके लिए दारुण तुम्हारे बहनोई खर-दूषणको कहींपर भी नहीं देख पाती हूँ। [इस क्षेत्रमें इधर-उधर सब ओर नजर गड़ाकर देखनेपर भी कहींपर शत्रुओंके तीव्र अपराधका पता नहीं लगता है] ।।६३।।

हे रावण ! इस विषयकी भली अथवा बुरी इस विस्तृत चर्चाको जाने दीजिए। तथा आप ही सब इन्द्रियोंकी शक्तिको नेत्रोन्मुख करके पहिले कभी न देखी हुई इसको (सीताको) देखिये। [हे धर्मराज ! यह ऋतु मनोज्ञ है अथवा साधनविहीनोंके लिए कष्टकर है। इसका लम्बा वर्णन करनेसे क्या लाभ है ? इस अभूतपूर्व रमणीयताको देखिये और देखते-देखते नेत्रेन्द्रिय मात्र हो जाइये] ।।६४।।

---

१. श्लेषः–ब०, ना० ।

पद्मपाणिरशोकाङ्घ्रिः पक्वबिम्बाधरोन्नतिः ।
गम्भीरनाभिरुत्तुङ्गवक्षाश्चन्द्राननद्युतिः ॥ ६६ ॥
कम्बुग्रीवालघुश्रोणिः स्निग्धकेशान्तसंततिः ।
सुभ्रूर्मण्डूककक्षाश्रीश्चारूरू रम्यतावधिः ॥ ६७ ॥
नखैः कुरवकच्छायैः श्लिष्टैरङ्गुलिपर्वभिः ।
दशनैः शिखराकारैर्व्यज्यमानोदयाकृतिः ॥ ६८ ॥
विनीतवेषमाकारं वाणीमभिजनोचिताम् ।
शीलं रूपानुरूपञ्च व्याददानोदयान्वितम् ॥ ६९ ॥
आश्रमः सर्वशास्त्राणामाकरः सर्वसम्पदाम् ।
अन्योन्यसमयुग्माङ्गव्यञ्जनानामुपाश्रयः ॥ ७० ॥
आभिरूप्यस्य नियतिः सीमा सौभाग्यसम्पदः ।
लावण्यस्य पयोराशिः कलानां नित्यचन्द्रिका ॥ ७१ ॥
विकाशः कोऽपि कान्तीनां कोऽपि रागस्य सञ्चयः ।
सर्वोपमानदूरात्मा वैदेही दृश्यतामितः ॥ ७२ ॥ (कुलकम्)

पटुरिति—साम्प्रतं श्लोकाष्टकेन कुलकेन व्याख्यास्यामः—भो रावण ! दृश्यतामवलोक्यताम् । काऽसौ ...ापन्ना ? वैदेही जानकी । क्व ? इतः प्रदेशे अस्मिन्स्थाने । कथम्भूता ? आयनीतिषु गतिव्यापारेषु पटुः दक्षा पुनः सुघटविस्तारसमस्तनी सुशब्दः प्रशंसार्थो गृह्यते; तेनायमर्थः—घटस्येव कलशस्येव शोभनो विस्तारो ययोस्तौ सुघटविस्तारौ समौ स्तनौ यस्याः सा सुघटविस्तारसमस्तनी सुघटविस्तारावित्यनेन पदेन घटस्येव प्रशस्तत्वं वर्तुलत्वं स्थूलत्वं कठिनत्वञ्च; समावित्यनेन पदेन नीचोच्चभावराहित्यं स्तनयोर्यस्याः प्रदर्शितं सा ...का । पुनरपि रहितोदारतुष्टात्मा उदारः सकलकलाप्रवीणः । औदार्यधर्मकलितो वा तुष्टो राज्यसौख्यानुभवनेन इष्टभोगानुभवनया वा संहृष्ट आत्मा आत्मीयभावः स्वरूपमित्यर्थः । रहितः निरस्तः उदारस्तुष्ट आत्मा यया सा रहितोदारतुष्टात्मा, 'एतेन कनकमृगवधाय तत्पृष्ठसंलग्नतया धावतो रामस्य विरहाकान्ततया सकलकलासु भोगोपभोगसम्भोगेषु चानादरणीयत्वं सीतायाः प्रदर्शितम् । पुनः कथम्भूता ? मदिराक्षी मदिरे मनोज्ञे अक्षिणी यस्याः सा कर्णान्तविश्रान्तनेत्रा वताशया वतशब्दोऽव्ययः खेदवाची, वत आशयो यस्याः सा वताशया पतिवियोगात्सखेदचित्ता । पुनः पद्मपाणिः पद्मे इव पाणी यस्याः सा पुनः अशोकाङ्घ्रिः अशोकपल्लव इव अंघ्री यस्याः सा । पादयोः सौकुमार्यमारक्तत्वञ्च प्रदर्शितम् । पुनः पक्वबिम्बाधरोन्नतिः पक्वतुण्डीफलोन्नतिः पुनः गम्भीरनाभिः पुनरुत्तुङ्गवक्षाः उच्चोरस्तला । पुनश्चन्द्राननद्युतिश्चन्द्रस्येवानने द्युतिर्यस्याः । ... वर्तुलत्वं कान्तिमत्त्वञ्च प्रदर्शितम् । पुनरपि कथम्भूता ? कम्बुग्रीवा कम्बोरिव सङ्खस्येव ग्रीवा यस्याः

इधर इस सीताको देखिये जिसकी समता कोई भी उपमान नहीं कर सकता है क्योंकि गमनकी लीलामें यह दक्ष है, सुन्दर कलशोंकी गोलाई, उतार चढ़ाव सदृश स्तन हैं, इसका आत्मा अत्यन्त उदार और तृप्त है, नेत्र मादकतासे भरे हैं तथापि इसका मन कालुष्यसे रहित है। हाथ कमल ही हैं, चरण अशोकपत्र ही हैं, पके बिम्बफलोंके समान ही अधरोंकी शोभा है, नाभि गहरी है, वक्षःस्थल उभरा हुआ है, मुखकी कान्ति चन्द्रमातुल्य है, ग्रीवा शंखके समान है, कटि अत्यन्त सूक्ष्म है, जिसपर चिकने लम्बे केशोंकी लट झूम

---

१. यैः कुरवको वृक्षविशेषः । कुरवकग्रहणात्कुरवककलिकानां ग्रहणम् । यथा आम्र इत्युच्यमाने आम्रफलानां ग्रहणं जायते ।

सा, शङ्खस्येव ग्रीवायां रेखात्रयं दर्शितम्। पुनरलघुश्रोणिरलघ्वी श्रोणिर्यस्याः सा विस्तीर्णकटिरित्यर्थः। पुनः स्निग्धकेशान्तसंततिः स्निग्धा केशान्तस्य सन्ततिः पंक्तिर्यस्याः सा, स्निग्धशब्देनारौक्ष्यं कुटिलत्वं कान्तिमत्त्वं चोक्तम्। पुनः सुभ्रूः शोभने भ्रुवौ यस्याः सुशब्देन भ्रुवोश्चापाकारत्वं सूक्ष्मरोमता च उक्ता। पुनः मण्डूककक्षाश्रीः भेकपार्श्वाकृतिरित्यर्थः। पुनश्चारूरुश्चारूरू यस्याः सा, चारुशब्दग्रहणादूर्वोर्निर्लोमत्वं वृत्तानुपूर्वीसौकुमार्यञ्च गदितम्। पुनः रम्यतावधिः मनोहरतायाः सीमेत्यर्थः। पुनः नखैर्व्यज्यमानोदयाकृतिः व्यज्यमाना प्रकटीक्रियमाणा उदयाकृतिर्यस्याः सा। कथम्भूतैर्नखैः? कुरवकच्छायैः कुरवकवृक्षकलिकासदृशैः। अत्र नखानां लौहित्यं स्निग्धत्वमुच्चत्वं दीर्घत्वञ्च कथितम्। तथा अंगुलिपर्वभिः। कथम्भूतैः? श्लिष्टैरन्योन्यसंलग्नैस्तथा दशनैः दन्तैः शिखराकारैः पक्वदाडिमबीजसदृशैः। अनेन दशनानां स्निग्धत्वं ह्रस्वत्वं दीप्तिमत्त्वं च प्रकटितम्। पुनः कथम्भूता? आकारं व्याददाना प्रसादकोपाभ्यां जनितां प्रकृतिं गृह्णन्ती। कथम्भूतमाकारम्? विनीतवेषं विनीतो वेषो यत्र स तथोक्तस्तं विशिष्टजनोचितालङ्कारम्। तथा वाणीं व्याददाना कथम्भूतामभिजनोचितां कुलयोग्याम्। तथा च शीलं गृहीतव्रतपरिपालनरूपम्। कथम्भूतम्? रूपानुरूपं, रूपसदृशम्। पुनः कथम्भूतम्? उदयान्वितमभ्युदययुक्तम्। अत्र विभूत्यां सत्यां विकारेण व्रतभङ्गो नाभूत् तस्या जानक्या इत्यर्थः। पुनः कथम्भूता। सर्वशास्त्राणां व्याकरणच्छन्दोऽलङ्कारादीनां तथा कामशास्त्राणाञ्च आश्रमः पुनः सर्वसम्पदां समस्तविभूतीनामाकरः खनिः पुनरन्योऽन्यसमयुग्माङ्गव्यञ्जनानामुपाश्रयः अन्योऽन्येन परस्परेण समम् तुल्यं युग्मं येषां तान्यन्योऽन्यसमयुग्मानि तानि च तान्यङ्गानि च अन्योऽन्यसमयुग्माङ्गानि च तानि व्यञ्जनानि च अन्योऽन्यसमयुग्माङ्गव्यञ्जनानि तेषां तथोक्तानां नेत्रपाणिपादजङ्घादीनां तिलकालकादीनाञ्चावष्टम्भः। पुनराभिरूप्यस्य रमणीयतायाः नियतिरवधिः। पुनः सौभाग्यसम्पदः सीमा। पुनः लावण्यस्य पयोराशिः समुद्रः। पुनः कलानां नित्यचन्द्रिका। पुनः कान्तीनां कोऽपि विकाशः। पुनः रागस्य कोऽपि सञ्चयः। पुनः सर्वोपमानदूरात्मा उपमानेभ्यः दूर आत्मा स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ता। तत्रायमर्थः जानक्याः स्वरूपमुपमानं चन्द्रादय उपमेया इति।

भारतीयः—भो युधिष्ठिर! असौ कर्मतापन्नः वै निश्चयेन सर्वः देही समस्तः प्राणी दृश्यताम्। कथम्भूतः? पटुरित्यादि। सुघटविस्तारसमस्तन्यायनीतिषु सुघटः निश्चयपथमानीतः, विस्तार आभोगः, समस्ता अखिलाः, न्याया अपराधानपराधविचारणादयः विद्वज्जननिर्णीततर्कोक्ताः परमतनिराकरणाः प्रमाणगोचरा वा नीतयः सोमदेवाचार्यप्रणीतनीतिवाक्यानि शास्त्राणि सुघटो विस्तारो यासां ता सुघटविस्ताराः, न्यायाश्च नीत-

---

रही है; भृकुटियाँ सुन्दर और वक्र हैं फलतः मेढककी बगलके आकार हैं, और जंघाएं अत्यन्त मनोहर हैं, मानो सौन्दर्यकी चरम सीमा ही है। कुरवक पुष्पके समान रक्त तथा लम्बे नखों, सान्द्र तथा चिकने अँगुलियोंके पोरुवों और अनारदाने तुल्य छोटे और घने दाँतोंके द्वारा इसकी उदीयमान सुन्दर आकृति स्पष्ट है। इसके वेष तथा आकार शिष्ट हैं, बोली कुलीन कन्याके ही अनुरूप है; शील और सौन्दर्य परस्परमें अनुरूप हैं तथा रोषतोषकी मुख-मुद्रादि भी पदके अनुकूल हैं। यह सब शास्त्रोंका आश्रम है, समस्त सम्पत्तियोंकी खान है, एक दूसरेके अत्यन्त समान युगल अंग नेत्र, पाणि, पाद जंघादि तथा तिलादि व्यञ्जनों का एक मात्र आधार है। कुलीन सौन्दर्यकी तो प्रकृति ही है, सौभाग्य और सम्पत्तिकी सीमा है, लावण्यका पारावार है और ललित कलाओंकी चिरस्थायी चन्द्रिका है। विविध कान्तियोंका कोई कल्पित चरम विकास है और रागका लोकोत्तर सञ्चय है। [हे धर्मराज! दूसरी ओर संसारके समस्त शरीरधारियोंको देखें क्योंकि व्यवस्थित रूपसे पल्लवीकृत निखिल न्याय तथा सोमदेवादि कृत नीतियोंमें कुशल, स्वदारसंतोष व्रतके धारक तथा मदिरा पानसे उत्पन्न मानसिक उन्मत्ततासे परे हैं। कमल सदृश हाथ हैं, अशोक तुल्य पैर हैं, बिम्बफल तुल्य ओंठ हैं, नाभि गहरी है, विशाल पुष्ट वक्षःस्थल है तथा मुखपर चन्द्रकान्ति है। शंख सदृश ग्रीवा और कमर पतली है, केशपाश चिकना तथा काला है, भृकुटि सुन्दर हैं, मेंढककी पीठके समान उभरी हुई, जंघाएँ सुन्दर हैं फलतः वे सौन्दर्यकी सीमा हैं। लाल कनेर सदृश नखों, चिकनी घनी अँगुलियों तथा अनारदाने सदृश दाँतोंके

यस्च न्यायनीतयः, समस्ताश्च ता न्यायनीतयश्च, समस्तन्यायनीतयः, सुघटविस्ताराश्च ताः समस्तन्यायनीतयश्च सुघटविस्तारसमस्तन्यायनीतयस्तासु पटुः प्रवीणः। पुनः कथम्भूतः ? दारतुष्टात्मा दारैस्तुष्ट आत्मा यस्य दाराणां तुष्ट आत्मा यस्माद्वा दारतुष्टात्मा कलत्रानन्दितात्मा। पुनः कथम्भूतः ? मदिराक्षीवताशयारहितः मदिरायाः मद्यस्य सकाशाद् या क्षीबता मत्तता तस्यां याऽऽशा वाञ्छा तया रहितः विमुक्तः सुरामत्तत्ववाञ्छावर्जितः। पुनश्चन्द्राननद्युतिः। पद्मपाणिरित्यादि समर्थः। पुनः कम्बुग्रीवा लघुश्रोणिः कम्बोरिव ग्रीवा यस्य सः, अलघ्वी श्रोणिर्यस्य सोऽलघुश्रोणिरुभयोः कर्मधारयः। पुनः कः ? स्निग्धकेशान्तसन्ततिः सुगमोऽर्थः। पुनः सुभ्रू शोभना[1] भ्रुवोः ऊः शोभा यस्यासौ सुभ्रूः, शेषं पूर्ववत् नखैरित्यादि। व्यज्यमानोदयाकृतिः। कैः कर्तृभिः ? नखैः कथम्भूतैः ? कुरवकलच्छायैः तथा अङ्गुलिपर्वभिः। कथम्भूतैः ? दिलष्टैः। तथा च दशनैः। कथम्भूतैः ? शिखराकारैः। पुनः किं कुर्वाणः ? विनीतेत्यादि। व्याददानः दयान्वितमिति पदच्छेदः। अपमानमानदूरात्मा अपमानाद्दूर आत्मा यस्य सः वै स्फुटं देही इतोऽस्मिन्प्रदेशे दृश्यतामिति कुलकं शेषं समानम्[2] ॥ ६९-७२ ॥

आदिप्रजापतिः स्याच्चेन्नूनं तेनान्त्यवेधसाम् ।
स्त्रियः स्रष्टुं प्रतिच्छन्दं कृताग्राम्या वधूरियम् ॥ ७३ ॥

आदीति–अहमेवं मन्ये चेद्यदि स्याद्भवेत् कः ? आदिप्रजापतिः प्रथमब्रह्मा तेनादिप्रजापतिना इयं वधूः सीता सती अग्राम्या विचारचातुरीचकोरचन्द्रिका प्रतिच्छन्दं प्रतिकृतिरित्यर्थः। केषाम् ? अन्त्यवेधसामन्त्यब्रह्मणाम्। किं कर्तुम् ? स्त्रियः स्रष्टुं निर्मातुम्।

भारतीयः—नूनमादिप्रजापतिः चेत्स्यात्। तेनादिप्रजापतिना इयं ग्राम्यावधूः प्रतिच्छन्दं कृता। किं कर्तुम् ? अन्त्यवेधसां स्त्रियः स्रष्टुम्[3] ॥ ७३ ॥

एषा विलासभावेन द्योतयन्ती दिगन्तरम् ।
सरस्वतीव संबुद्धा भाति पद्मोदयस्थितिः ॥ ७४ ॥

एषेति–एषा सीता भाति। किं कुर्वती ? दिगन्तरमाशान्तरालं विलासभावेन द्योतयन्ती। विलासो नाम कटाक्षविक्षेपः। भावो नाम चित्तसम्भवः परिणामः। उक्तञ्च "हावो मुखविकारः स्याद्भावो मानससम्भवः। विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तरे" ॥ कथम्भूता ? पद्मोदयस्थितिः रामाभ्युदयावस्थाना पुनः सम्बुद्धा सम्यग्ज्ञानपरिणता। केव ? सरस्वतीव। पक्षेऽर्थवशाद्विशब्देनात्र हंसो ग्राह्यः। लासो गमनम्। विना हंसेन लासः विलासः, विलासेन भावः विलासभावस्तेन हंसगमनस्थित्येत्यर्थः।

द्वारा शरीर सौन्दर्य फूटा पड़ता है। वेषभूषा तथा रंगरूप सुसंस्कृत है, कुलीन पुरुषोंके योग्य वार्तालाप है, सदाचार सौन्दर्यके समान धारण करते हैं और दयापूर्ण हैं। छन्द-व्याकरणादि समस्त शास्त्रोंके आधार हैं, समस्त सम्पत्तियोंके निधान हैं, परस्परमें ही सदृश युगल अंगों तथा व्यञ्जनोंकी निवासभूमि हैं। सौन्दर्यके विकासकी विधि हैं, सौभाग्य और वैभवकी सीमा हैं, सौन्दर्य सागर हैं और कलाओंकी चिरस्थायी चन्द्रिका हैं। कान्तिकी काल्पनिक उत्पत्ति हैं तथा प्रीतिके लोकोत्तर पुञ्ज हैं फलतः अपमानसे परे हैं] ॥६९-७२॥

हे रावण! यदि कोई आदि प्रजापति था तो निश्चित ही उसने नारियोंको बनानेके लिए उद्यत उत्तरकालीन ब्रह्माओंके निदर्शनके लिए ही इस सुसंस्कृत वधू सीताको बनाया होगा। [हे धर्मराज !……इस ग्रामीण वधूकी सृष्टि की होगी] ॥७३॥

कटाक्ष तथा मनोभावोंके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रभावित करती हुई यह सीता (तथा ग्रामीण नायिका) सम्यक् ज्ञान पूर्ण अथवा जागृत सरस्वतीके समान है तथा पद्म (राम) के अभ्युत्थान (पद्माकी वृद्धि) की द्योतक है [सरस्वती भी वि (हंस) रूपी

---

१. शोभने भ्रुवौ यस्यासौ सुभ्रूः–द०। २. श्लेषः–ब०, ना०। ३. श्लेषः—प. ना.।

भारतीयः—एषा भाम्या वधूः भाति । कथम् ? पद्मोदयस्थितिः लक्ष्म्यभ्युदयस्थानम्[1] ॥ ७४ ॥

रोमराजिलतावृद्धेरालवाली कृतामिव ।
कपित्थवृन्तसंस्थाननिम्नां नाभिमुपागताम् ॥ ७५ ॥
वनराजीं प्रवालोष्ठश्रिया पल्लवितामिव ।
नीलोत्पलमयीं दृष्ट्या स्मितैर्मुकुलितामिव ॥ ७६ ॥
कैश्येन कुर्वतीं मुक्तप्ररोहमिव चालकैः ।
भृङ्गीमयीं पदन्यासैः स्थलपद्ममयीमिव ॥ ७७ ॥
वक्रशीलां भ्रुवोरेव कुचयोरेव कर्कशाम् ।
चपलां नेत्रयोरेव केशेषु कुटिलस्थितिम् ॥ ७८ ॥
अविलिप्तकृतामोदामपीतासवमन्थराम् ।
अरुष्टां रक्तलोलाक्षीमतुष्टां विकसन्मुखीम् ॥ ७९ ॥
किञ्चित्पूर्वप्रियाद्बाल्यं दधतीं यौवनं भरात् ।
मूढप्रौढान्तरावस्थां साभ्रेऽर्के पद्मिनीमिव ॥ ८० ॥
लूनम्लानमृणालाभकर्णपालीसमुन्नतिम् ।
तालवृन्तानिलेनेव विघ्नतीं पक्ष्मणा मुखम् ॥ ८१ ॥
गौरक्षिकामिमां स्रष्टुं नूनमर्धं हृतं विधोः ।
रम्यं धात्रान्यथा चन्द्रः कथमर्द्धत्वमीयिवान् ॥ ८२ ॥ (कुलकम्)

श्लोकाष्टकेन कुलकं व्याख्यास्यामः रोमेति—नूनमहमेवं मन्ये धात्रा ब्रह्मणा इमां सीतां स्रष्टुं विधातुं विधोश्चन्द्रस्य रम्यं मनोहरमर्द्धं खण्डं हृतमपनीतम् । कथम्भूताम् ? गोरक्षिकां रामं विहायान्येषु पुरुषेषु चञ्चलत्वाद्विजृम्भमाणे गावौ नेत्रे रक्षतीति गोरक्षिका ताम् । यद्वाऽन्येभ्यः पुरुषेभ्यो व्यावृत्य रामभूतानां गवां स्पर्शादीनामिन्द्रियाणां रक्षिका निरोधिका तस्मिन्नेव सा गोरक्षिका ताम् । 'एतेन जानक्याः पातिव्रत्यमुपदर्शितम् । व्यतिरेकः अन्यथा— अन्येन प्रकारेण कथं चन्द्रोऽर्धत्वमेयिवान् गतः ? कथम्भूतां सीताम् ? कपित्थवृन्तसंस्थाननिम्नां कपित्थवृन्ताधारवद्गम्भीरां नाभिमुपागताम् । कथम्भूताम् ? रोमराजिलतावृद्धेः रोमावलीरूपलताया वृद्धिमुद्दिश्य आलवालीकृतामिव । पुनः कामिव ? प्रवालोष्ठश्रिया पल्लवितां नूतनपल्लवसदृशाधार-

---

वाहनपर चलती हुई समस्त दिशाओंको ज्ञानसे जागृत करती है तथा लक्ष्मीकी वृद्धि तक ही रहती है] ॥७४॥

कैथके डण्ठलके गहरे स्थानके समान इसकी गम्भीर नाभि पेटपर उगी रोमावलिके लिए क्यारी सदृश प्रतीत होती है, नूतन पत्तोंकी शोभायुक्त सुन्दर ओठोंके द्वारा पल्लवित, नेत्र शोभाके द्वारा नील कमल मय, मधुर स्मितोंके द्वारा कलियोंसे युक्त वनमालाके समान है । लम्बे केशजालके द्वारा नीचे लटकते प्ररोह मय, घुँघराले बालों द्वारा भौंरोंसे व्याप्त तथा सुकुमार चरण विन्यासके द्वारा गुलाब-मयी सी है । इसकी भ्रुकुटियोंका ही स्वभाव टेढ़ा है, कुचोंमें ही कठोरता है, नेत्रोंमें ही चंचलता है, तथा बालोंमें ही टेढ़ा (घुँघराला) पन है । बिना लेप लगाये ही इसके शरीरसे सुगन्ध निकलती है, बिना मदिरा पानके ही इसमें मादक शिथिलता है, क्रोध बिना ही इसके नेत्र लाल हैं तथा बिना तृप्त किये ही

१, श्लेषः-ब०, ना० ।

शोभया वनराजीमिव कान्तारश्रेणिमिव पुनः दृष्टया नीलोत्पलमयीं पुनः स्मितैर्मन्दहासैर्मुकुलितामिव। पुनः किं कुर्वतीमिव ? कैश्येन केशपाशेन मुक्तप्ररोहां कुर्वतीमिव। पुनरलकैश्चकेशैरेव भृङ्गीमयीम्। अत्र चकारोऽवधारणार्थः अव्ययानामनेकार्थत्वात्[1]। पुनः पदन्यासैः स्थलपद्ममयीमिव। पुनः भ्रुवोरेव वक्रशीलां पुनः कुचयोरेव कर्कशां पुनः नेत्रयोरेव चपला पुनः केशेषु कुटिलस्थितम्। पुनरविलसितकृतामोदामचर्चित-विहितपरिमलां पुनरपीतासवमन्थरामपीतश्च तन्मद्यञ्चापीतमत्रं तेन मन्थराऽलसा ताम्। अपीतमद्यालसाम्। अत्र लोके पीतमद्यानां मन्थरा गतिर्जायते। जानकयास्तु स्वत एवेति बोध्यम्। उत्तरार्द्धेऽपि शब्दस्याप्रयुक्तस्यापि प्रयोगो ज्ञेयः। पुनरस्थामपि रक्तलोलाक्षीं लोहितचञ्चललोचनां पुनरस्थामपि विकसन्मुखीं प्रसन्नवदनाम्। पुनः किं कुर्वतीम् ? पूर्वप्रियात्प्रथमप्रेम्णः सकाशात् किञ्चिद्बाल्यं भराच्च यौवनमतएव मूढप्रौढान्तरावस्थां न परां मूढां न परां प्रौढां तयोरन्तरावस्थां प्राप्ताम्। कामिव मूढप्रौढान्तरावस्थाम् ? पद्मिनीमिव। क्व सति ? अर्के सूर्ये साभ्रे अभ्रैः सह वर्त्तमाने सति। पुनः किं कुर्वतीम् ? तालवृन्तरनिलेनेव कृत्वा पक्ष्मणा मुखं विघ्नतीं वीजयन्तीं पुनः लूनम्लानमृणालाभकर्णपालीसमुन्नतिं पूर्वं लूनं पश्चात् म्लानञ्च तन्मृणालञ्च लूनम्लानमृणा-लं तेन तुल्याऽभा यस्याः सा लूनम्लानमृणालाभा लूनम्लानमृणालाभा कर्णपाली समुन्नतिर्यस्याः सा ताम्।

भारतीय पक्षे–गोरक्षिकां गोपीमिति ग्राह्यम्। अन्यत्तुल्यम्[1] ॥ ७५–८२ ॥

अहो रूपमहो कान्तिरहो लावण्यपाटवम्।
अनीदृशमिदं रूपं न जातं न जनिष्यते ॥८३॥

अहोरूपमिति–अहो आश्चर्यं रूपमनन्यसम्भवि। अहो कान्तिर्दीप्तिरनन्यसम्भविनी,। अहो लावण्य-पाटवमनन्यसम्भवीति कृत्वा न जातं नाभूत् तथा न जनिष्यते न भविष्यति। किम् ?, रूपम् कथम्भूतम् ? अनीदृशमुपमातीतम्। कस्याः ? सीतायाः।

भारतपक्षे–गोरक्षिकायाश्चेति विशेषः ॥८३॥

तस्यानूनमिति श्रुत्वा स्वसुः स्थानोचितं वचः।
तत्तु पश्यन्नृपः कृच्छ्रान्मनोनेत्रं न्यवीवृतत् ॥८४॥

तस्या इति–असौ नृपः रावणः तद्भगिनीसमादिष्टं वस्तु तु पुनः वारम्वारं पश्यन्नवलोकमानः सन् मनोनेत्रं मनश्च नेत्रञ्च कृच्छ्रान्महाकष्टेन न्यवीवृतन्निवर्त्तयामास। किं कृत्वा ? तस्याः स्वसुर्भगिन्याः सूर्पण-खायाः स्थानोचितं वचः श्रुत्वाऽऽकर्ण्य। कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण।

इसका मुख विकसित हो उठा है। पहिलेके परिचयके कारण इसने बाल्यको थोड़ा धारण कर रखा है और यौवनके भारसे तो आक्रान्त ही है फलतः मेघाच्छन्न सूर्यकी स्थितिमें पद्मिनीके समान यह भी मुग्धा और प्रौढ़ा अवस्थाके अन्तरालमें है। तोड़नेके कारण मुरझाये मृणालोंकी कान्तियुक्त कर्णभूषणकी उत्कृष्ट शोभाके कारण ताड़के पंखेकी हवासे आँखोंके पलकोंकी हवा करती सी, पृथ्वीकी रक्षिका अथवा इन्द्रिय संयमकी पालिका इस सीता (अथवा ग्रामीण ग्वालिन) को बनानेके लिए निश्चित ही प्रजापतिने चन्द्रमाका आधा भाग चुराया होगा अन्यथा चन्द्रमाके आधे रह जानेका और कारण ही क्या हो सकता है ? ॥७५–८२॥

इसका रूप आश्चर्यकर है, देहकी कान्ति धन्य है, मनोहरताकी चारुता भी लोकोत्तर है, इसके समान कुछ भी नहीं है। न ऐसा रूप कभी हुआ है और न होगा ॥८३॥

निश्चित है कि बहिनके ठीक स्थानपर कहे गये पूर्वोक्त यथार्थ वचनोंको सुनकर राजा रावण वारम्वार उस दर्शनीय सीताको देखता हुआ बड़ी कठिनाईसे अपने मन और आँखोंको उधरसे मोड़ सका था। [उस भाई भीम या अर्जुनकी पूर्वोक्त लक्ष्मी (अनून) तथा

---

1. श्लेषोत्प्रेक्षा–व०, ना०।

भारतीयः—नृपो युधिष्ठिरः तस्य भीमस्यार्जुनस्य वा अनूनं प्रचुरं स्थानोचितमवसरयोग्यं वचः श्रुत्वा मनोनेत्रं कृच्छ्रादन्यत्रावीवृतत्। कथम्भूतो नृपः ? स्वसुः शोभना असवः प्राणा यस्यासौ स्वसुः निर्व्याधिः युक्तायुक्तविचारज्ञो वा[1] ॥८४॥

विद्याधराधिगुरुणा तां विशेषेण पश्यता ।
तेन वक्रोक्तिचतुरं युक्तं वचनमाददे ॥८५॥

विद्येति—तेन रावणेन वक्रोक्तिचतुरं युक्तं वचनमाददे गृहीतम्। कथम्भूतेन ? विद्याधराधिगुरुणा खेचरचक्रवर्त्तिना। कथम्भूतेन ? तां सीतां विशेषेण असाधारण्येन पश्यता।

भारतीयः—तां गोरक्षिकां पश्यता विद्याधराधिगुरुणा विद्या आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्ता दण्डनीतिरूपास्ताभिः धराधिगुरुणा धरां भुवं दधति धराधयः गिरयस्तेषां गुरुणा मेरुणा तेन युधिष्ठिरेण वचनमाददे। अन्यत्समम्[2] ॥८५॥

यदीदृशमिदं रूपं स्याद्वनेऽन्तःपुरेण किम् ।
किमुद्यानलताक्लेशै रम्यावनलताऽस्ति चेत् ॥८६॥

यदीति—यदि वने इदमीदृशं रूपं स्यात्तर्हि अन्तःपुरेण किं प्रयोजनमस्ति ? रम्या मनोहरा अवनलता न वनलता अपूर्ववल्ली तदा किं प्रयोजनमुद्यानलताक्लेशैरुद्यानलतानामालबालादिकरणैरित्यर्थः ॥८६॥

एनां घनकुचोच्छ्रायव्यवधानात्तनूदरम् ।
अपश्यन्तीमपश्यन्तस्तेऽद्याप्युदरशायिनः ॥८७॥

एनामिति—ते पुरुषा उदरशायिन उदरे शयनशीलाः शायिधर्माः (शयनधर्माणः) शेरत इत्येवंशीलाः। किं कुर्वन्तः ? एनां गोरक्षिकामपश्यन्तः। किं कुर्वन्तीम् ? घनकुचोच्छ्रायव्यवधानात् पीनोन्नतस्तनोच्छ्रायान्तर्धानात् तनूदरमपश्यन्तीमनवलोकमानाम् ॥८७॥

गतेन राजहंसीयमस्मद्दर्शनविह्वला ।
पश्य भाति विशालाक्षी किञ्चिच्चकितमानसा ॥८८॥

गतेनेति—हे सूर्पणखे ! त्वं पश्य। इयं सीता भाति। कथम्भूता ? गतेन गत्या राजहंसी पुनः अस्मद्दर्शनविह्वला पुनर्विलोलाक्षी चपललोचना पुनः किञ्चिच्चकितमानसा।

यथास्थान कही गयी उपयुक्त बातोंको सुनकर विवेकी राजा युधिष्ठिर पुनः पुनः शरद्की शोभाको देखता हुआ मन और आँखोंको दूसरी ओर लगानेमें कष्टका अनुभव करता था] ॥८४॥

उस सीताको आँख गड़ाकर देखते हुए विद्याधरोंके चक्रवर्ती रावणने वक्रोक्तिपूर्ण युक्तिसंगत सदृश वचन कहना प्रारम्भ किया था। [आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंके लिए मेरु पर्वत (धराधिगुरु) तुल्य उन्नत एवं अडिग युधिष्ठिरने विशेष रूपसे उस ग्वालिनको देखते हुए मुखसे कहनेमें मधुर किन्तु नीतिपूर्ण वचन कहना प्रारम्भ कर दिया था] ॥८५॥

यदि वनमें इस प्रकारका लोकोत्तर रूप हो सकता है तो अन्तःपुरकी क्या आवश्यकता है, यदि वनलता ही लोकोत्तर सुन्दर होती है तो बागमें लता लगाकर सम्हालके कष्टसे क्या प्रयोजन है ? ॥८६॥

कठोर कुचोंकी ऊँचाईके बीचमें आ जानेके कारण अपने कृश पेटको भी देखनेमें असमर्थ इस सुन्दरीको जिन्होंने नहीं देखा है वे अब भी गर्भमें ही सोते हैं ॥८७॥

अपने गमनसे यह राजहंसी सीता हमलोगों (राक्षसों) को देखकर भीत हो गयी है। तो भी देखो ; थोड़े-थोड़े आश्चर्यमें मन फँस जानेपर भी इसकी बड़ी-बड़ी आँखें कैसी

---

१. श्लेषः—व०, ना०। २. श्लेषः—व०, ना०।

भारतीयः—हे भीम इयं राजहंसी वरटा गतेन भाति । अन्यत्समम् ॥८८॥

एषा कटाक्षपातेन सारङ्गीलोललोचना ।
वने दिशि दिशि भ्रान्ता दीर्घमन्वीक्षते पतिम् ॥ ८९ ॥

एषेति—एषा सीता दीर्घं मुहुः पतिं रामं दिशि दिशि वने भ्रान्ता सती अन्वीक्षते पश्यति । कथम्भूता ? सारङ्गीलोललोचना सारङ्गया इव लोले लोचने यस्याः सा हरिणीतरलनयना । केन ? कटाक्षपातेन अपाङ्गविक्षेपेण ।

भारतीयः—एषा सारङ्गी पतिं मृगमन्वीक्षते । अन्या योजना प्राग्वत् ॥ ८९ ॥

इदमन्यच्च कलयन्कौतुकाविष्टमानसः ।
कामादिषु निरोधेन जितात्मा सन्निपातिना ॥ ९० ॥
अवन्यायपथं धीप्सन्नारीणां गोचरं गतम् ।
मदनाशाधिकोद्योगो मायावेषेण योजितः ॥ ९१ ॥
गाढाकल्पकनिष्ठत्वं दूरं कुर्वंश्छलेन ताम् ।
स्वपदव्यवसायाय क्षिप्रं जह्रे सतीव्रताम् ॥ ९२ ॥

इदमिति, अवेति, गाढेति—असौ रावणश्छलेन व्याजेन दूरं क्षिप्रं शीघ्रं यथा भवति तथा तां सतीव्रतां जह्रे हृतवान् । कस्मै ? स्वपदव्यवसायाय स्वपदव्या अवसायः स्वपदव्यवसायः तस्मै चक्रवर्तिपदवीभ्रंशाय । किं कुर्वन् ? कुर्वन् विदधत् । किम् ? गाढाकल्पकनिष्ठत्वं गाढश्चासावाकल्पकश्च गाढाकल्पकस्तस्मिन्निष्ठा यस्य स तथोक्तस्तस्य भावं तीव्रकामावस्थानतत्परत्वम् । पुनः किं कुर्वन् ? इदमुक्तप्रकारमन्यच्चापरञ्च कामान्धतया युक्तायुक्तविचारमन्तरेण पररमणीसम्भोगमित्यर्थः । पुनः कौतुकाविष्टमानसः कौतूहलारोपितचित्तः । पुनः कामात्कन्दर्पात् सन्निपातिना सम्यक् निपतनशीलेन इषुनिरोधेन बाणनियन्त्रणेन जितात्मा । पुनः किं कुर्वन् ? अवन्यायपथमवन्यायस्य पन्था अवन्यायपथस्तमनीतिमार्गं धीप्सन् वाञ्छन् । कथम्भूतम् ? नारीणां कामिनीनां गोचरं विषयं गतम् । कथम्भूतो रावणः ? मदनाशाधिकोद्योगः मदने याऽशा तयाऽधिक उद्योगो मन्मथोत्थप्रचुरोद्यमो यस्य सः पुनः मायावेषेण लोकप्रसिद्धेन जटाजूटधारिणो यतिनो वेषेण रूपेणेत्यर्थः, योजितः संयुक्तः ।

भारतीयः—स युधिष्ठिरश्छलेन क्षिप्रं स्वपदव्यवसायाय स्वपदनिश्चयाय तां तीव्रतां तीव्रत्वं जह्रे । किं कुर्वन् ? कुर्वन् । किम् ? गाढाकल्पकनिष्ठत्वं दृढालङ्कारतत्परताम्, अथवा गाढञ्च तदाकल्पं जन्मयावत्कनिष्ठत्वं गाढाकल्पकनिष्ठत्वं दृढं यथा आजन्मलघुतामित्यर्थः । कथं यथा ? दूरम् । अत्र युधिष्ठिरस्याजन्मलोकव्यवहार-

---

सुन्दर लगती है । [भीम देखो, देखते ही हमें विह्वल करती हुई कुछ-कुछ आश्चर्यचकित यह विशालाक्षी गोपी राजहंसकी गतिसे चलती कैसी सुन्दर प्रतीत होती है] ॥८८॥

भटकी तथा भीत हरिणीके समान चंचल नेत्रवती यह वनके कोने-कोनेमें कटाक्ष डालती हुई दूरतक दृष्टि डालकर पतिको खोज रही है ॥८९॥

उक्त प्रकारकी आतुरता मनमें आ जानेसे पूर्वोक्त तथा दूसरे हावभाव करता हुआ, कामदेवके धनुषसे बरसते बाणोंके द्वारा आत्मा जीते जानेपर, स्त्रियोंकी मोहिनीका लक्ष्य हुआ अतएव अन्यायमार्गपर चलनेके लिए प्रस्तुत, कामवासनाकी तृप्तिके लिए सर्वथा प्रयत्नशील, पुराणप्रसिद्ध छलियेका रूप धारण किये तथा अपनी दृढ़ प्रतिज्ञाकी एक निष्ठाको दूर करते हुए रावणने अपने विद्याधर चक्रवर्ती पदके विनाशके लिए ही छलकर सती सीताका तुरन्त अपहरण कर दिया था ।

देखनेकी उत्कण्ठासे व्याप्त मन पूर्वोक्त तथा अन्य पदार्थोंको देखते हुए, काम आदि अन्तरंग शत्रुओंके निरोधसे प्राप्त उत्कृष्ट संयमके कारण आत्मजेता, अन्याय मार्गकी इच्छाके

चातुरीनिरुपितास्ते–अवन्यायेत्यादि । योऽजितः नाभिभूतः । केन ? मायावेषेण कौटिल्याकारेण । कथम्भूतः सन् ? मदनाशाधिकोद्योगः मदनाशे गर्वप्रध्वंसे अधिको भूर्युद्योगो यस्य सः । किं कुर्वन् ? अवन्यायपथमवन्यायमार्गं न धीप्सन् नेच्छन् । कथम्भूतम् ? अरीणामरातीनां गोचरं गतम् । इदमित्यादि । पुनः किं कुर्वन् ? इदमुक्तप्रकारमन्यच्च रम्यारम्यपदार्थजातं कल्यन्निरीक्षमाणः । कथम्भूतः ? कौतुकाविष्टमानसः । पुनः कथम्भूतः ? कामादिष्वरिषड्वर्गेषु सन्निपातिना सन्नद्धेन निरोधेन जितात्मा नियन्त्रितस्वरूपः । उक्तञ्च—"कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवत्ययम् "। इति त्रिकलम्[1] ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

विहायसारमुद्वेगं गच्छता ज्वलताऽमुना ।
साक्षाल्लक्ष्मीः कृतौत्सुक्यं नीता सज्जानकीदृशी ॥९३॥

विहायसेति–अमुना रावणेन सज्जानकी सती चासौ जानकी च सज्जानकी विहायसा नभसा कृतौत्सुक्यं विहितरामस्यं यथा तथा नीता सङ्गमिता । कथम्भूता ? ईदृशी पतिव्रता पुनः साक्षात्परमार्थवृत्त्या लक्ष्मीः । कथम्भूतेन रावणेन ? ज्वलता मदनाग्निना दह्यमानेन पुनः अत्यर्थमुद्वेगं गच्छता ।

भारतीयः–नीता प्रापिता । काऽसौ ? सा लोकप्रसिद्धा पितृपितामहोपार्जिता । लक्ष्मीः । किम् ? औत्सुक्यं पराधीनत्वम् । कीदृशी ? सज्जा अन्ययमार्गेणागत्य स्थिरीभूता तथा न कृता न विहिता । का ? लक्ष्मीः । कथम् ? साक्षादात्मसात् स्वाधीनेत्यर्थः । किं कुर्वता सता ? ज्वलता द्यूतव्यसनोद्वेगवह्निना दह्यमानेन । किं कुर्वता सता ? औत्सुक्यं व्यसनाभिभूतत्वादशजनसंसर्गवशाच्च द्यूतप्रवृत्तिं गच्छता । किं कृत्वा ? पूर्वं विहाय परित्यज्य । कम् ? उद्वेगम् । शिष्टजनजनितशिक्षालापस्य तद्विषयत्वात्सन्मार्गप्रवृत्तिम् । गच्छता कथम् ? अत्यर्थम् अथवा न कृता, अपितु कृतैव । काऽसौ ? लक्ष्मीः । कथम् ? साक्षात् आत्मसात् । कथम् भूता सती ? नीता । किम् औत्सुक्यं पराधीनत्वम् । कीदृशी कृता ? सज्जा । केन कर्त्रा ? अमुना युधिष्ठिरेण । किं कुर्वता सता ? ज्वलता श्रमोत्पन्नसन्तापेन सन्तप्यमानेन । पुनः किं कुर्वता ? गच्छता मार्गे विहरमाणेन । किं कृत्वा ? पूर्वमुद्वेगमाकुलत्वं विहाय । कथम्भूतम् ? सारं घनमिति[1] ॥९३॥

आलिङ्गन्निव वेलाभिः स्वागतं व्याहरन्निव ।
गर्जैरूर्जस्वलस्तेन क्रमेण ददृशेऽम्बुधिः ॥९४॥

आलिङ्गन्निति–तेन रावणेन कर्त्रा क्रमेण परिपाट्या ऊर्जस्वलः बलिष्ठः अम्बुधिः कर्मतापन्नः ददृशे दृष्टः । किं कुर्वन्निव ? स्वागतं शोभनमागमनं व्याहरन्निव ब्रुवन्निव मार्गजनितश्रमश्रान्तो निरुपद्रवो वा

अकर्ता, कभी भी शत्रुओंके जालमें न आनेवाले, अहंकार आदिके नाशके लिए सतत प्रयत्नशील, मायाचारियोंके प्रपंचसे परे, कल्पकाल तक स्थायी गाढ़ लघुता (परस्त्री दर्शन) को दूर करते हुए अपने (धर्मराज) पदको सुस्थिर करनेके लिए उन युधिष्ठिरने भावोंकी उस तीव्रताको अनायास ही शीघ्र दूर कर दिया था ॥९०–९२॥

अत्यन्त निकृष्ट उद्वेगको प्राप्त फलतः कामाग्निसे जलता यह रावण सम्भवतम शीघ्रता करके ऐसी पतिव्रता, साक्षात् लक्ष्मी सीताको आकाशमार्गसे ले भागा था ।

अन्वय–सारं विहाय उद्वेगं गच्छता ज्वलता अमुना लक्ष्मीः साक्षात् न कृता । कीदृशी औत्सुक्यं नीता सज्जा ।

द्यूतमें सम्पत्तिको हारकर घोर विपत्तिमें पड़े तथा पराभवके सन्तापमें जलते इस युधिष्ठिरने क्या लक्ष्मीको अपने वशमें नहीं किया था ? अवश्य किया था क्योंकि वह भी इनसे मिलनेको उत्सुक और तैयार थी ॥९३॥

क्रमशः रावण (धर्मराज)ने प्रतापी तथा सम्पत्तिशाली समुद्रको देखा था जो अपने

---

1. श्लेषः–ब० मा० । 1. श्लेषः–ब०, मा० ।

भवानागत इति वदन्निव । कैः कृत्वाः ? गर्वैः कल्लोलकोलाहलैः । किं कुर्वन्निव ? वेलाभिः आलिङ्गन्निव परिरम्भमाण इव ।

भारतीयः—तेन युधिष्ठिरेण दृष्टोऽम्बुधिरिति । शेषं प्राग्वत् ॥९४॥

शीतोऽम्भःकरिणां लवङ्गकवलोद्गारस्य गन्धं वहन्,
वातस्तालवनान्तरेषु परुषं हस्तैर्विवानाहतः ।
युद्धस्पर्धिपरिश्रमेण तिमिभिः सीत्कृत्य पीतोऽम्बुधे-
राश्लिष्यत्स यशो धनंजयपरं विद्याधृतां नायकम्[1] ॥९५॥

इति श्रीधनञ्जयकृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये सीताहरणलङ्काद्वारावतीप्रस्थान-
कथनो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

शीत इति—आश्लिष्यत् परिरेभे । कोऽसौ ? स गुणत्रयेण प्रसिद्धो वातः । कम् ? नायकं स्वामिनं रावणाख्यम् । केषाम् ? विद्याधृतां विद्याधराणाम् । कथम्भूतम् ? यशोधनं यश एव धनं यस्य स यशोधनस्तं पुनः जयपरं जयं पिपर्त्ति स्पष्टीकरोति जयपरः "पचादिश्वापिपर्तेरच्" तं जयपरम् । कस्य सम्बन्धित्वेन वातः ? अम्बुधेः । कथम्भूतो वातः ? शीतः शीतलः पुनस्तिमिभिः मत्स्यैः हस्तैः करैः कृत्वा आहतः । किं कुर्वन् ? विवान् प्रवर्त्तमानः । क्व ? तालवनान्तरेषु । कथम् ? परुषं निष्ठुरं यथा । कथम्भूतः ? अम्भःकरिणां जलहस्तिनां हस्तैः पीत आस्वादितः । केन हेतुना ? युद्धस्पर्द्धिपरिश्रमेण युद्धं स्पर्धत इत्येवंशीलः युद्धस्पर्द्धी स चासौ परिश्रमश्च युद्धस्पर्धिपरिश्रमस्तेन । किं कृत्वा पूर्वं पीतो वातः ? सीत्कृत्य । किं कुर्वन् ? अम्भः करिणां जलहस्तिनां लवङ्गकवलोद्गारस्य गन्धं वहन् परिमलं दधानः ।

भारतीयः—स वातः विद्याधृतां राजविद्याधराणां राज्ञां नायकं युधिष्ठिरं आश्लिष्यत् । कथम्भूतम् ? यशोधनञ्जयपरं यशसोपलक्षितो धनञ्जयः दाशरथिरिवोऽर्जुनः तस्मिन्परः तं तथोक्तम् । उक्तञ्च—"प्रतापो यस्य वार्त्तापि राज्ञः स्यात्कारिणी । एकदिग्व्यापिनी कीर्त्तिः सर्वदिग्व्यापकं यशः ॥" शेषं प्राग्वत् ॥९५॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्र-
पण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरी-
चन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदी नामदधानायां टीकायां
सीता हरण-लङ्काद्वारावतीप्रस्थानकथनो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

तटोंसे आलिंगन करता-सा प्रतीत होता था । लहरोंकी गर्जनासे स्वागतम्, स्वागतम् कहता सा लगता था ॥९४॥

जलके समान शीतल, युद्धसे भी बढ़कर थकानके कारण हाथियोंकी सूँड़के द्वारा फेंका गया लौंग मिश्रित कुल्लेकी सुगन्धियुक्त तालवृक्षोंके वनमें तेजीसे बहता तथा मछलियोंके द्वारा सी-सी करके पिये गये समुद्रकी वायुने यशके दरिद्र तथा जयविमुख विद्याधरोंके राजा रावणको घेर लिया था [विद्याधारी राजाओं तथा विद्वानोंके अग्रणी, यशरूपी सम्पत्तिसे समृद्ध तथा विजयको ही लक्ष्य करके प्रवृत्त धर्मराजका आलिंगन किया था] ॥९५॥

निर्दोषविद्याभूषण भूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पंडित विनयचन्द्र
गुरुके प्रशिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाचातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र द्वारा
विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान
काव्यकी पदकौमुदी टीकामें 'सीतापहरण-लङ्काद्वारावती-
प्रस्थान कथन' नामका सप्तम सर्ग समाप्त ।

---

1. अस्मिन्श्लोके शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । लक्षणं हि—सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् [वृ. र. ३।९९] ।

अष्टमः सर्गः

अथ कदानुवशा नु परा सुता पुरमुपेत्य स दुर्जनकस्य वा ।
क्रियत इत्ययमाकुलमानसः प्रभुरवोचत वीक्ष्य पयोनिधिम् ॥१॥

अथेति—अथशब्द आनन्तर्य्यार्थे नु शब्दो वितर्के । अहो कदा क्रियते कदा करिष्यते । काऽसौ ? जनकस्य जनकनाम्नः पृथ्वीपतेः सुता तनया सीतेत्यर्थः । केन कर्त्रा ? मया त्रैलोक्यकम्पनेन रावणेनेति । कथम्भूता करिष्यते ? अनुवशाऽऽत्मवशवर्त्तिनी । किं कृत्वा ? पुरं लङ्काभिधानमुपेत्य प्राप्य । कथम्भूतम् ? सदुः सीदत्यस्मिन्निति 'सदुः बहुलमिति' सूत्रेण उप्रत्ययः, निवासोचितं वा शब्दोऽत्रावधारणार्थो बोद्धव्योऽव्ययानामनेकार्थत्वात् । कथम्भूता सती ? परा वा उत्कृष्टैव 'त्रैलोक्योदरवर्त्तिनीनां रूपातिशायिनीत्यर्थः । इतीति वाक्यम् आकुलमानसोऽयं प्रभू रावणोऽनेनात् चभाषे । किं कृत्वा ? पयोनिधिं समुद्रं वीक्ष्यावलोक्य ।

भारतीयः पक्षः—नु अहो कदा क्रियते । काऽसौ ? परासुता मृत्युः । कथम्भूता ? अनुवशात्माधीना । कस्य ? दुर्जनकस्य वा दुर्योधनस्यैवेत्यर्थः । किं कृत्वा ? उपेत्य । किम् ? पुरं हस्तिनाख्यम् । कस्य ? दुर्योधनस्यैवेति वाक्यमवोचत् । कोऽसौ ? सोऽयं प्रभुर्युधिष्ठिरः । कथम्भूतः ? आकुलमानसः सक्षोभचेताः । किं कृत्वा ? पयोनिधिं वीक्ष्य[1] ॥१॥

अयमगाधगभीरगुरुर्गुणैरुपगतोऽनियतावधिरार्द्रताम् ।
यतिरिवाखिलसत्त्वहितव्रतो जलनिधिः सकलैरवलोक्यताम् ॥२॥

अयमिति—अयं जलनिधिः त्वया सूर्पणखया द्वितीयपक्षे त्वया भीमेनार्जुनेन वाऽवलोक्यतां निरीक्ष्यताम् । कथम्भूतः ? अगाधगभीरगुरुरगाधोऽतलस्पर्शः गभीरो दुर्लङ्घ्यः गुरुर्गरिमोपेतः । स च, स च, स च, अत्र विशेष्यविशेषणतया समासः । पुनः आर्द्रतां द्रवरूपतामुपगतः प्राप्तः पुनरनियतावधिरनियतोऽनिश्चितोऽवधिर्मर्यादा यस्य सोऽनियतावधिः पुनरखिलसत्त्वहितव्रतोऽखिलसत्त्वेषु हितं व्रतं यस्य सः । कैः कृत्वा ? सकलैः रत्नाकरत्वादिलक्षणैर्गुणैः । क इव ? यतिरिव । कथम्भूतः यतिः ? अगाधगभीरगुरुः, अगाधः गभीरः अकलित मूर्त्तिः, गुरुः '[2]संसारसागरतरणे पोतायमानं धर्मं गृणाति निरूपयतीति गुरुः अत्र विशेष्यविशेषणतया

राजा जनककी सर्वोत्कृष्ट पुत्री विकासमें साधक लंकापुरीमें पहुँचकर किस समय सर्वथा अनुरक्त हो जायगी, ये वचन समुद्रको देखकर व्याकुल चित्त राजा रावणने कहे थे। [दुर्योधन से आक्रान्त राजा धृतराष्ट्रकी राजधानीमें पहुंचकर किस दिन मृत्यु (पर + असुता) को आत्मानुकूल बनाया जायगा यह उद्गार द्वारकाके समुद्रको देखकर वनवास आदि पराभवोंसे क्षुब्धचित्त धर्मराजने कहे थे] ॥१॥

सूर्पणखादि आप सब इस समुद्रतुल्य यति (वनवासी राम) को देखें। यतिके मनको जानना असंभव है, गंभीर होता है तथा स्थिर है। दया दाक्षिण्यादि गुणोंके कारण परम दयालुताको प्राप्त है। शास्त्रीय मर्यादाओंका प्रयत्नपूर्वक-पालन करता है और समस्त सात्त्विक और कल्याणकारी व्रतोंका पालन करता है। [आप भीमार्जुन आदि यतिके समान समुद्रको देखें—इसकी तलीमें उतरना कठिन है, गहरा है और महान् है। रत्नाकर आदि

---

१. श्लेषः—व. ना. । सर्गेऽस्मिन्द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ।

२. स्वपरमतज्ञातृत्वा त्प्रसन्नमूर्त्तित्वान्निःक्षोभत्वाद् विनेयानाममार्गान्मार्गेष्वारोपकत्वाच्च बोधकत्वाद् वा संसारिभ्यः संसारसमुद्रतरणे पोतायमानं धर्मं गृणाति निरूपयतीति गुरुः—प०, द० ।

समासः। पुनः कथम्भूतः? तीक्ष्णमतादिलक्षणैः सकलैर्गुणैः नियतावधिः नियतोऽवधिर्निश्चितमर्यादः सन् आर्द्रतां दयालुतामुपगतः पुनरखिलसत्त्वहितव्रतोऽखिलानां सत्त्वानां हितं व्रतं यस्य स तथोक्तम् ॥२॥

असुतरां सुतरां स्थितिमुन्नतामसुमतां सुमतां महतां वहन् ।
उरुचितैरुचितैर्मणिराशिभिः स्वरुचितैरुचितैरवभात्ययम् ॥३॥

असुतरामिति—अयं पयोनिधिस्तैर्लोकोत्तरैरुरुचितैरुच्चैः सञ्चयीकृतैरुचितैर्नरेन्द्रमुकुटकोटियोग्यैः रुचितैर्दीप्तैः स्वरुच्यात्मप्रकाशं यथा तथा मणिराशिभिः रत्नश्रेणिभिरवभाति शोभते। किं कुर्वन्नवभाति? स्थितिं वहन् धरन्। कथम्भूतां स्थितिम्? सुतरामतिशयेन असुतरां तरीतुमशक्यामुन्नतामुत्तुङ्गाम् असुमतां प्राणिनां सुमतां स्थिराम्। कथम्भूतानामसुमतां महताम्? महतां सत्पुरुषाणामिति ॥३॥

अनिधनेन रसातलवासिना विगलितो निविडं वडवाग्निना ।
इह मुहुः शफरीपरिलङ्घनव्यतिकरात्क्वथतीव सरित्पतिः ॥४॥

अनिधनेनेति—असौ सरित्पतिः समुद्रः शफरीपरिलङ्घनव्यतिकरात् शफरीणां परिलङ्घनं तस्य व्यतिकरस्तस्मात्, मीनलल्लनापरिवर्तनसम्बन्धात् मुहुर्वारं वारमिह प्रदेशे क्वथतीवोत्कलतीव। कथम्भूतः सन्? रसातलवासिना भूम्यधःस्थितेन अनिधनेन शाश्वतेन वडवाग्निना निविडं घनं यथा विगलितो द्रवीभूतः[1] ॥४॥

परिहृतैरिह तैः कृतबुद्बुदैः समकरैर्मकरैरुदधेर्जलैः ।
उपरुषा परुषा नयनावलिः समुदिता मुदितानुकृताकुलैः ॥५॥

परिहृतैरिति—इहास्मिन्प्रदेशे नयनावलिः नेत्रपङ्क्तिः उदधेः समुद्रस्य जलैरनुकृता। कथम्भूता सती? उपरुषा आसन्नकोपेन परुषा निष्ठुरा समुदिता मिलिता अनूना वा पुनः मुदिता हृष्टा। कथम्भूतैः जलैः? कृतबुद्बुदैः पुनः अतिरौद्रतया तैः लोकप्रसिद्धैर्मकरैः परिहृतैः। कथम्भूतैर्मकरैः? समकरैस्तुल्यशुण्डादण्डैः पुनः आकुलैः बुभुक्षाराक्षसीमुखान्तःपतिततया व्यग्रैः ॥५॥

कल्लोलाः सपदि समुद्धृता मरुद्भिर्गण्डूषा इव करियादसां विभान्ति ।
और्वाग्निज्वलनशिखाकलापशङ्कामेतस्मिन्विदधति पद्मरागभासः ॥६॥

कल्लोला इति—मरुद्भिर्वातैः सपदि शीघ्रं समुद्धृताः समुच्चिताः कल्लोलास्तरङ्गाः करियादसां जलहस्तिनां गण्डूषा इव कुल्लका इव विभान्ति शोभन्तेतराम्। तथा पद्मरागभासः पद्मरागमणिदीप्तयः और्वाग्निज्वलन-

---

गुणोंके कारण जलमयताको प्राप्त है, इसकी निश्चित सीमा नहीं है अथवा कभी भी तटका उल्लंघन नहीं करता है और सब प्रकारके जीव-जन्तुओंका आश्रय है] ॥२॥

बड़े प्रयत्नसे प्राप्त होने योग्य बड़े-से-बड़े प्राणियोंके लिए अभीष्ट लोकोत्तर मानसी स्थितिको यति स्वयमेव प्राप्त है] समुद्र प्रकृति से ही पार करने लायक नहीं होता है। और बड़े-बड़े, ऊँचे-ऊँचे शिखरयुक्त पर्वतोंको धारण करता है] (दोनों ही) विपुल मात्रामें संचित एक-से-एक बढ़कर उपयुक्त अपनी कान्तिसे देदीप्यमान मणि राशिके द्वारा सुशोभित होते हैं ॥३॥

समुद्रके नीचे धधकती सनातन वड़वानलके द्वारा निरन्तर जलाया गया यह समुद्र मछलियोंकी उछल-कूदके बहाने बार-बार उबल-सा रहा है ॥४॥

यहाँपर एक सदृश सूँड (नाक) युक्त मकरोंके द्वारा सब ओरसे हिलाये गये अतएव लहराते तथा बबूले उठाते समुद्रके पानीने उठते क्रोधके कारण कठोर, मिचती तथा फैलती नेत्र पंक्तिकी समानता की है ॥५॥

वायुके झोंकोंके द्वारा एकाएक उठायी गयी लहरें जलके हाथियोंके कुल्लेके समान

---

1. उत्प्रेक्षा–ब०, ना०।

शिखाकलापशङ्काम् और्वाग्निज्वलनस्य यः शिखाकलापः ज्वालाकलापस्तस्य शङ्कां भ्रान्तिमेतस्मिन्प्रदेशे विदधति कुर्वन्ति[1] ॥६॥

भान्त्येतस्मिन्मणिकृतरङ्गाभोगास्तत्सारूप्यान्निहततरङ्गाभोगाः ।
क्रीडास्थानै रुचिरमहीनामुच्चैरुद्भ्रान्तानां सुचिरमहीनामुच्चैः ॥७॥

भान्तीति—एतस्मिन्प्रदेशे अहीनां सर्पाणां भोगाः कायाः भान्ति । कैः ? क्रीडास्थानैः । कथम् ? उच्चैरत्यर्थम् । कथम्भूतानाम् ? [2]उद्भ्रान्तानामुपर्य्युपरिपर्यटितानाम् । कथम् ? उच्चैरत्यर्थम् । कथम् ? यथा भवति सुचिरं बहुकालम् । पुनः कथम्भूतानाम् ? रुचिरमहीनां दीप्तावनीनाम् । कथम्भूता भोगाः ? मणिकृतरङ्गाभोगाः मणिभिः कृतः रङ्गो येषां ते, मणिकृतरङ्गा आभोगा येषां ते रत्नरञ्जितफणाः पुनः तत्सारूप्यात्सर्पसादृश्यात् निहततरङ्गा विध्वस्तवीचयः[4] ॥ ७ ॥

आपातुं जलमिदमिन्द्रनीलजालव्याजेन व्यवतरतीव मेघजालम् ।
वक्षोभिः करिमकरैर्विभिन्नमम्भो यात्युद्यन्मणिरुचि शक्रचापभावान् ॥८॥

आपातुमिति—मेघजालं जलदसङ्घः इन्द्रनीलजालव्याजेन इदं जलमापातुं व्यवतरतीव । तथा अम्भः वारि शक्रचापभावान् इन्द्रधनुःस्वभावान् पञ्चवर्णदीप्तिस्वरूपत्वानि याति गच्छति । कथम्भूतं सत् ? करिमकरैः कर्तृभिः वक्षोभिः वक्षःस्थलैः कृत्वा विभिन्नं विन्दुशो विकिरितम् । पुनः कथम्भूतमम्भः ? उद्यन्मणिरुचि उद्यन्त्यूर्ध्वं गच्छन्ती मणीनामिव रुचिर्दीप्तिर्यस्य तत्[5] ॥८॥

एतान् प्रवालविटपान्स्वतटीभिरूढान्रूढान्निषिञ्चति हतैरुदधिस्तरङ्गैः ।
रङ्गैरिहाम्बुकरिणां निकटे वसन्तं सन्तं न सत्त्वसहिता ह्यवधीरयन्ति ॥९॥

एतानिति—असावम्बुधिः एतान्प्रवालविटपान् विद्रुमविटपान् तरङ्गैर्निषिञ्चति । कथम्भूतैस्तरङ्गैः ? अम्बुकरिणां जलहस्तिनां रङ्गैः गतिभिः हतैः । कथम्भूतान् प्रवालविटपान् ? रूढान् समुत्पन्नान् पुनः स्वतटीभिरूढान् धृतान् । युक्तमेतत् हि स्फुटं सत्त्वसहिताः पुरुषाः निकटे वसन्तं निवासं कुर्वाणं सन्तं सत्पुरुषं नावधीरयन्ति नावगणयन्ति[6] ॥९॥

लगती हैं। और पद्मराग मणिकी छटाएँ दावानलके जलनेसे उठी लपटोंकी शंकाको उत्पन्न करती हैं ॥६॥

सुन्दर भूमिमें बने क्रीडाके स्थानोंसे बहुत समय तक ऊपर तेजीसे तैरते हुए तथा फणके मणियोंसे निकलती दीप्तियुक्त फणधारी तथा अपने ही समान होनेसे लहरोंको ढकेलते हुए सांपोंके शरीर इस सागरमें सुशोभित हो रहे हैं ॥७॥

इन्द्रनील मणियोंके जालके बहानेसे मेघमाला ही इसके जलको भरपूर पीनेके लिए उतरती-सी लगती है। हाथियों और मकरोंके वक्षःस्थलोंके थपेड़ोंसे बूंद-बूंदकर उछाला गया तथा उछलते मणियोंके समान चमकता इसका जल इन्द्रधनुषकी शोभाको धारण करता है ॥८॥

अपने किनारोंपर उगे तथा बढ़े मूंगाके पौधोंको जलके हाथियोंकी विशाल कायाके आघातसे उत्पन्न विशाल लहरोंके द्वारा सींचता है। उचित ही है सामर्थ्यशाली पुरुष अपने पास रहनेवाले सज्जनोंकी उपेक्षा नहीं करते हैं ॥९॥

---

१. अत्र श्लोके प्रहर्षिणीवृत्तम् । तल्लक्षणञ्च "म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्" (वृ. र. ३।७१) । २. उद्भ्रान्तानां–द० । ३. उद्भ्रान्तानां–द० । ४. अत्र जलधरमालावृत्तम् । तल्लक्षणं हि—"अब्ध्यङ्कैः स्याज्जलधरमाला म्भौ स्मौ" (वृ. र. ३ । ९५) । ५. अत्र प्रहर्षिणी वृत्तम् । ६. अत्र वसन्ततिलका वृत्तम् । लक्षणञ्च "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" (वृ. र. ३।७९) ।

अध्यासीना निश्चला निस्तरङ्गानेतानेतानीलनीलान्प्रदेशान् ।
नीलाभ्राणां शङ्कया किं बलाका नो शङ्खानां पङ्क्तयस्ता विभान्ति ॥१०॥

अधीति– शङ्खानां ताः पङ्क्तयः नो विभान्ति । किमिति शब्दः संशयार्थो बोद्धव्यः । किं तर्हि ? एता बलाकाः बक्यः । किं कुर्वाणाः ? एतान् प्रदेशानध्यासीना, अधितिष्ठन्त्यः । कया ? नीलाभ्राणां कृष्णमेघानां शङ्कया भ्रान्त्या । कथम्भूता बलाकाः ? निश्चलाः स्थिराः । कथम्भूतान्प्रदेशान् ? नीलनीलान् श्यामश्यामान् पुनः निस्तरङ्गानिश्चलान्[1] ॥१०॥

एषामुष्मिन्विलसति मुक्ताशुक्तिर्मुक्ता शुक्तिः प्रसवनिरोधस्यालम् ।
रोधस्यालम्बितफलवामाश्वासैर्वामाश्वासैः सपदि ययोद्बोधेन ॥११॥

एषेति–एषा मुक्ताशुक्तिः मौक्तिकपुटी विलसति । क ? अमुष्मिन्प्रदेशे । रोधसि तटे मुक्ता परित्यक्ता। काऽसौ ? शुक्तिः शोकः । कया ? यया मुक्ताशुक्तया । कस्य ? प्रसवनिरोधस्य प्रसूतिनियन्त्रणस्य । केन कृत्वा ? उद्बोधेन प्रबोधसमयेन । कथम् ? अलमत्यर्थं सपदि युगपत् । कैः ? सहप्रसवनिरोधस्योद्बोधेन कृत्वा शुक्तिर्मुक्ता ? वामाश्वासैः निःसरणवायुभिः, कथम्भूतैः ? आलम्बितफलवामाश्वासैरालम्बितोऽङ्गीकृतः, फलानि मौक्तिकानि, वाम उद्गिरणम् , आशु शीघ्रम्, आसः क्षेपः, फलानां वामः, फलवामस्याश्वासः फलवामाश्वासः, आलम्बितः फलवामाश्वासो यैस्तैस्तथोक्तैरिति[2] ॥११॥

गोखुराहत इवायमेकतो वर्त्तिकाभिरिव वर्त्तितोऽन्यतः ।
मेघविभ्रम इवाम्बुधिः क्वचित्सङ्कुलः स कुलपर्वतैरिव ॥१२॥

गवेति–अयमम्बुधिः एकत एकस्मिन्प्रदेशे गोखुराहत इव भाति । तथाऽन्यतोऽन्यस्मिन्प्रदेशे शिल्पिभिः वर्त्तिकाभिः चित्रलेखनीभिः कृत्वा वर्त्तितः लिखित इव भाति । तथायं भाति । क इव ? मेघविभ्रम इव जलदोदयसंशय इव । क ? क्वचित् कस्मिंश्चित् प्रदेशे । तथा क्वचित् कुलपर्वतैः कुलाचलैः सङ्कुल इव सम्भृत इव भाति[3] ॥१२॥

उद्युक्तानामुदधिमहत्त्वस्तुत्या युक्त्यैतस्मिन्ननु गुणभारत्यागः ।
स्थाने स्थाने भवति कवीनां कुर्वत्युक्त्यै तस्मिन्ननुगुणभारत्यागः ॥१३॥

उद्युक्तानामिति–नन्वहो भवति जायते । कोऽसौ ? गुणभारत्यागः गुणा यथोक्तशास्त्रोपदेशपरिशानादिलक्षणाः, गुणानां भारत्यागः, गुणभारत्यागः । क ? एतस्मिन्प्रत्यक्षीभूते तस्मिन् लोकोत्तरे स्थाने स्थाने

वे शंखोंकी पंक्तियाँ सुशोभित हो रही हैं ? या नीले-नीले मेघोंकी आशंकासे इस नील-नील समुद्रके हिस्सेपर आये निश्चल, बिलकुल ही न हिलते-डुलते और स्थिर होकर बैठे बगुलोंकी पंक्ति है ॥१०॥

इस समुद्रमें मोतियोंकी सीप दिख रही है। इसने मोतीके प्रसवकी पीड़ाका प्रारम्भ होते ही पूर्ण वेगसे एकदम ही श्वासें छोड़कर शीघ्र ही मुक्ताफलोंकी प्रसूतिको करके किनारे पर शोकको छोड़ दिया है ॥११॥

यह समुद्र यदि एक ओर गौके खुरोंसे खुदा तुल्य है तो दूसरी ओर कारीगरोंकी टांकीसे खुदे सदृश है। कहीं इसकी छटा मेघमालाकी है तो अन्यत्र यही कुलाचलोंसे भरा-सा प्रतीत होता है ॥१२॥

इस स्थानपर समुद्रकी गरिमाका सहेतुक वर्णन करनेके लिए तत्पर कवियोंका 'अनु-

---

१. शालिनी वृत्तमिदम् । लक्षणं हि "शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" (वृ. र. ३।३५)

२. चक्रवालयमकम्–ब., प., द. । जलधरमालावृत्तञ्च । न क्वचित्सर्वदा सर्वविश्रम्भगमनं नय इति ।

३. रथोद्धता वृत्तमत्र, लक्षणं हि "रान्नराविह रथोद्धता लगौ" (वृ. र. ३।२९) ।

प्रदेशे प्रदेशे। केषां गुणभारत्यागः ? कवीनाम्। कथम्भूतानां कवीनाम् ? उद्युक्तानाम्। कया कृत्वा ? युक्त्या विचारणया। कस्याः ? उदधिमहत्त्वस्तुत्याः समुद्रगरिमकथावर्णनायाः। किं कुर्वति ? स्थाने कुर्वति विदधति सति। किन्तत् ? अनुगुणभारत्यागः, कर्मणश्चैतद्रूपमनुगुणत्वस्यातीदोषमित्यर्थः। कस्यै ? उत्तयै निर्वचनायेति[1] ॥१३॥

किं मर्यादामेष जलात्मा परिवारो लोलो भिन्द्यादित्युपपश्यन्निव कूलम्।
गत्वा गत्वावृत्तिमुदन्वान्भजतेऽयं न प्रत्येति स्वाम्यनुवर्गं प्रतिकूलम् ॥१४॥

किमिति–अयमुदन्वान् समुद्रः कूलं तटीं भजते प्राप्नोति। किं कृत्वा ? गत्वा गत्वा आवृत्तिं निवृत्तिम् ? किं कुर्वन्निव ? उपपश्यन्निव विचारयन्निव। कथमिति ? किम् एष जलात्मा लोलः परिवारः मर्यादां भिन्द्यादिति ? किमिति शब्दः पर्यालोचने वेदितव्यः। परिवारः करि मकर मीनादिलक्षणः जलात्मा जलमेवात्मा स्वरूपं यस्य सः तदुत्पत्तिमत्त्वात्तल्लब्धजीवनत्वाच्च तस्य, लोलश्चपलः ममायं परिवारः। युक्तमेतत्। किं न प्रत्येति किं न निश्चिनोति, अपि तु प्रत्येत्येव। कोऽसौ ? स्वामी। कम् ? अनुवर्गमनुचरम्। कथम्भूतम् ? प्रतिकूलं प्रतिलोममिति[2] ॥१४॥

वेगोऽत्येति प्रतिदिशमापूर्णानामालोकान्तं हिमकरविध्वस्तानाम्।
वेलौघानां प्रतिनिशमस्मिन्नेषामालोकान्तं हि मकरविध्वस्तानाम् ॥१५॥

वेगेति–अत्येत्यतिक्रामति। कोऽसौ ? वेगो रयः। कम् ? आलोकान्तं दृष्टिविषयम्। केषाम् ? एषां वेलौघानां कल्लोलसमूहानाम्। क्व ? अस्मिन्प्रदेशे। कथम् ? प्रतिनिशं प्रतिरजनिम्। कथम्भूतानाम् ? प्रतिदिशं सर्वदिक्षु आपूर्णानां सम्भृतानां पुनः हिमकरविध्वस्तानां शिशिरकरोल्लसितानाम्। कथम् यथा भवति ? आलोकान्तं दिनकरकरनिकरजनितप्रकाशावसानम्। पुनरपि कथम्भूतानाम् ? मकरविध्वस्तानां जलचरविशेषनिरस्तानाम्। कथम् ? हि स्फुटम्[3] ॥१५॥

स्वम्मलमान्तरङ्गमखिलं सलिलधिरधिकं
तत्तिमिराशियोगदलितं यतिरिव परितः।

गुण भार' नामक दोषका त्याग करनेपर शास्त्रोपदेश आदि गुणोंके भारका त्याग भी इस समुद्र के विषयमें उचित ही होता है ॥१३॥

जलरूप धारी अत्यन्त अस्थिर यह मेरी चारों तरफ फैली जलराशि (अथवा जलसे उत्पन्न तथा जलजीवी और अत्यन्त चंचल ये मछली वगैरह मेरे परिवारके प्राणी) कहीं भी किनारोंका उल्लंघन न कर जाय ऐसा विचारकर ही यह सागर बार-बार चक्कर काटकर किनारेपर नहीं रुकता है क्योंकि स्वामी प्रतिकूल (लक्ष्यकी ओर) अनुयायी समूहका भी विश्वास करता है ॥१४॥

अन्वय–अस्मिन् प्रतिदेशमापूर्णानां हिमकरविध्वस्तानां, मकरविध्वस्तानां एषां वेलौघानां वेगः हि प्रतिनिशं आलोकान्तं अत्येति।

इस समुद्रमें सब दिशाओंसे उमड़तीं, चन्द्रमाकी किरणोंसे ज्वार रूप तथा मगर मच्छादिकों कपटकर इन लहरोंके समूहका पूर प्रत्येक रात्रिमें सूर्योदय पर्यन्त उठता ही रहता है ॥१५॥

अन्वय–अयं सलिलधिः स्वं, अन्तरंगं, अखिलं, तिमिराशियोगदलितं, आवरणात्मकं, अधिकमलं परितः यतिरिव मुहुः बहिः अभिनुदति। हि महतां प्रायशः ईदृशी अविमला गतिः।

---

१. जलधरमालावृत्तम्, अन्त्यपादयमकञ्च। २. मत्तमयूरवृत्तम्, लक्षणं हि "वेदैः रन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्" (वृ. र. ३।७१)। ३. जलधरमालावृत्तम्। अन्त्यपादयमकञ्च।

आवरणात्मकं मुहुरयं बहिरभिनुदति
प्रायश ईदृशी हि महतां गतिरतिविमला ॥ १६ ॥

स्वमिति–अभिनुदत्युत्क्षिपति । कोऽसौ ? अयं सलिलधिः समुद्रः । किम् ? तन्मलम् । कथम् ? परितः सामस्त्येन । कथम् ? बहिर्बाह्ये । कथम् ? मुहुर्वारं वारम् । कथम्भूतं मलम् ? स्वमात्मीयम् । पुनः कथम्भूतम् ? आन्तरङ्गं मध्यगतम् । पुनः कथम्भूतम् ? अखिलं समस्तम् । पुनः कथम्भूतम् ? तिमिराशियोगदलितं मीनसमूहसङ्घट्टविघटितम् । कथम् ? अधिकं प्रचुरं यथा भवति । पुनः कथम्भूतम् ? आवरणात्मकं जलझम्पनरूपम् । क इव ? यतिरिव यथा यतिरभिनुदति । कथम् ? परितः । कथम् ? मुहुः । कथम् ? बहिः । कथम्भूतम् स्वं स्वकीयम् । पुनः कथम्भूतम् ? अन्तरङ्गम् आत्मप्रदेशानुविद्धम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? अधिकं प्रचुरम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? तिमिराशियोगदलितं किम् ? तन्मलं पापम् योगो मनोवाक्कायनिरोधः तिमिरं पापमन्नातीत्येवं शीलस्तिमिराशी स चासौ योगश्च तिमिराशियोगस्तेन दलितं चूर्णितं पुनः आवरणात्मकं ज्ञानव्यक्तिप्रच्छादनरूपम् । अर्थान्तरमुपन्यस्ते—महतां सत्पुंसाम् ईदृशी प्रायशः बाहुल्येन हि स्फुटं गतिरतिविमला निर्मला जायते । छन्दोनाम्ना विमलेति ध्वनितम्[1] ॥ १६ ॥

उद्बिन्दूनां मुहुरनुबद्धं वीच्या वात्यासारं प्रशमि तता पारम्यम् ।
फेनालीनां छिमितिकरोत्येतस्मिन्वात्या सारं प्रशमिततापा रम्यम् ॥१७॥

उद्बिन्दूनामिति–सा वात्या वातमण्डली फेनालीनां पारम्यं शोभां छिमितिकरोति विनाशं नयति । कथम्भूतानां फेनालीनाम् ? उद्बिन्दूनां बुद्बुदवतीनाम् । कथम् ? अरमत्यर्थम् । कथम्भूता वात्या ? प्रशमिततापा प्रशमितः तापो यया सा प्रशमिततापा । पुनः कथम्भूता ? तता विस्तारं प्राप्ता । क एतस्मिन्प्रदेशे । कथम्भूतं पारम्यम् ? रम्यं मनोहरम् । पुनः कथम्भूतम् ? वीच्या तरङ्गेण मुहुः प्रशमि स्थिरं यथा भवति तथाऽनुबद्धं विरचितम् । किं कुर्वन्त्या वीच्या ? वात्या विजृम्भमाणया । कथं यथा ? असारं शीघ्रमिति[2] ॥ १७ ॥

अन्वेति रत्नोल्लसितेन्द्रचापः कल्लोलमेघः सकदम्बकेन ।
नभस्वता शङ्खचलद्बलाकः क्षोभं गतः प्रावृषमम्बुराशिः ॥१८॥

अन्विति–अम्बुराशिः समुद्रः प्रावृषं घनकालमन्वेति अनुकरोति । कथम्भूतः सन् ? नभस्वता वायुना

यह समुद्र अपनी तहमें पड़े अपने अखिल मलको, जो कि मछलियोंके विविध झुण्डोंके निवास अथवा वस्तुओंके कूदनेसे बहुत विपुल मात्रामें हो गया है उस सबको योगीके समान सब तरफसे बार-बार बाहर फेंक रहा है । [यति भी अपने समस्त आध्यात्मिक पाप मलको जो कि मन, वचन, कायकी कुचेष्टाओंके निरोधक कार्योंसे नष्ट होता है तथा आवरण (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) स्वरूप होता है इस बड़े हुए बन्धको पुनः पुनः प्रयत्न करके नष्ट करता है] ठीक ही है महापुरुषोंकी बहुधा ऐसी ही निर्मल गति होती है ॥१६॥

अन्वय–एतस्मिन् सा तता, प्रशमिततापा वात्या उद्बिन्दूनां फेनालीनां रम्यं, वात्यासारं, अनुबद्धं, मुहुः वीच्या प्रशमि पारम्यं अरं छिमितिकरोति ।

इस समुद्रमें वह खूब विस्तृत अतएव तापविनाशक वायुवेग फुहार सहित फेनराशिकी उस सुन्दर रमणीयताको शीघ्र ही नष्ट कर देता है, जो वायुके साथ ही बढ़ता है, खूब घना होता है तथा बारम्बार किनारे पर आकर स्थिर हो जाता है ॥१७॥

कदम्ब आदिके फूलों युक्त वायुवेगसे क्षुब्ध, बिखरे रत्नोंरूपी विकसित इन्द्रधनुष-

---

1. अर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारः–ब०, ना० । अत्र वंशपत्रपतितं वृत्तम् । लक्षणं हि "दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभनलगैः" (वृ० र० ३।९२) । 2. जलधरमाला वृत्तम् । अन्त्यपादयमकश्च ।

क्षोभं गतः प्राप्तः । कथम्भूतः पुनः ? उल्लोल्लसितेन्द्रचापः, क्षोभ्यं उल्लसितमिन्द्रचापं यत्र सः, पुनः कल्लोलमेघः कल्लोला एव मेघा यत्र सः, पुनः शङ्खचलद्बलाकः शङ्खा एव चलन्त्यो बलाका यत्र सः । कथम्भूतेन नभस्वता ? सकदम्बकेन कदम्बकुसुमवृन्दवता ॥ १८ ॥

इत्थं तेन व्यापृतनेत्रेण पयोधौ वेलावेगाद्भानुसमीपं ह्रियमाणा ।
क्रन्दन्त्यन्तःस्नेहकृपार्द्रं परिवृत्य श्रीमत्सीतापक्रमतप्ता विलुलोके ॥१९॥

इत्थमिति– व्यापृतनेत्रेण व्यापारितनेत्रेण तेन रावणेन । क्व ? पयोधौ समुद्रे, इत्थमुक्तप्रकारेण श्रीमत्सीता श्रीमती चासौ सीता च श्रीमत्सीता विलुलोकेऽवलोकिता । किं कृत्वा ? परिवृत्य परिवर्त्तनं कृत्वा । कथम् ? यथा अन्तः स्नेहकृपार्द्रश्चेतो मध्ये प्रीतिकरुणार्द्रम् । किं कुर्वाणा ? ह्रियमाणा नीयमाना । किं तत् ? भानुसमीपम् सूर्यसमीपम् । कस्मात् ? वेलावेगादन्तर्मुहूर्त्तसमयात् । कथम्भूता सती ? क्रन्दन्ती विलपन्ती रामरामोच्चारणपुरःसरतया रक्ष रक्षेत्यादिविलापपूर्वकं रुदतीत्यर्थः । पुनः कथम्भूता ? अपक्रमतप्ता अन्यायमार्गजनितदुःखा ।

भारतीयः—तेन युधिष्ठिरेण इत्थं श्रीमत्सी श्रिया शोभया उपलक्षिता चासौ मत्सी च श्रीमत्सी सर्वाङ्गपरिपूर्णतया शोभमाना शफरी विलुलोके । कथम्भूतेन ? पयोधौ व्यापृतनेत्रेण । किं कुर्वाणा ? ह्रियमाणा गम्यमाना । अत्र तृतीयार्थे पञ्चमी । तेनायमर्थो लभ्यते । किम् ? भानुसमीपम् । कस्मात् ? वेलावेगात्कल्लोलवेगेनेत्यर्थः । किं कुर्वाणा सती ? क्रन्दन्ती । कथम्भूता ? तापक्रमतप्ता सन्तापपरम्परादग्धा, शेषं प्राग्वत् ॥१९॥

स्थिरसमुद्रसमुद्रसकौतुकाद्युगभुजं विनयेन नयेन च ।
तमुदितं मुदितं ह्यनुजोग्रवागिति विभुं निजगौ निजगौरवात् ॥२०॥

स्थिरेति–स निजगौ अपि तूक्तवती । काऽसौ अनुजा भगिनी सूर्पणखा । किम् ? उदितं वचनम्, कं प्रति ? तं रावणं प्रति । केन कृत्वा ? विनयेन प्रश्रयेण । कस्मात् ? निजगौरवात्स्वकीयमाहात्म्यात् । कथम् ? हि स्फुटम् । कथम् ? इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । कथम्भूतम् रावणम् ? मुदितं हृष्टम् । केन ? नयेन च (न) येनैव वचसा 'चकारोऽत्रावधारणार्थो बोद्धव्योऽव्ययानामनेकार्थत्वात् । पुनः विभुं स्वामिनं व्यापकं त्रैलोक्यक्षोभविधायित्वात्तस्य । पुनः कथम्भूतम् ? द्युगभुजं द्यां गच्छन्तीति द्युगा विद्याधरास्तान् भुनक्ति रक्षतीति द्युगभुक् तम् । कथम्भूताऽनुजा ? उग्रवाक् तीव्रवचना । पुनः स्थिरसमुद्रसमुद्रसकौतुका मुदा सह वर्त्तते समुत् समुच्चासौ रसश्च समुद्रसः स्थिरसमुद्रे समुद्रसो यस्मात्तत् स्थिरसमुद्रसमुद्रसं स्थिरसमुद्रसमुद्रसं कौतुकं यस्याः सा तथोक्ता । अथवा स्थिरश्चासौ समुद्रश्च स्थिरसमुद्रः, मुदोरसः मुद्रसः हर्षरसः, सह मुद्रसेन वर्त्तत इति समुद्रसम्, स्थिरसमुद्रे समुद्रसङ्कौतुकं यस्याः सा तथोक्ता निश्चलाम्भोधिसहर्षरसकौतुकेत्यर्थः ।

धारी, तरंगमाला रूपी मेघोंसे आवृत तथा शंखोंरूपी उड़ती सारस या हंसपंक्ति युक्त यह समुद्र वर्षा ऋतुकी नकल कर रहा है ॥१८॥

अन्वय–पयोधौ इत्थं परिवृत्य व्यापृतनेत्रेण तेन वेलावेगात्, भानुसमीपं ह्रियमाणा अपक्रमतप्ता, क्रन्दती श्रीमत्सीता अन्तःस्नेहकृपार्द्रं विलुलोके ।

समुद्रकी ऐसी छटाके रहनेपर भी घूमकर आँख उठानेपर उस रावणने बड़े वेगके साथ ऊपर आकाशमें सूर्यके समीपसे ले जायी गयी अपमानके कारण उद्दीप्त आन्तरिक पतिप्रेम और वैराग्य मनसे विलाप करती तथापि कान्तिमती सीताको देखा था । [इस प्रकार घूमकर देखते हुए धर्मराजने स्नेह और दयासे द्रुत होते हुए देखा था कि लहरोंके द्वारा धूपमें फेंकी गयी सुन्दर मछली उष्मासे दुखी होकर तड़फड़ा रही है] ॥१९॥

अन्वय–स्थिरसमुद्रसमुद्रसकौतुका, उग्रवाक् अनुजा युगभुजं नयेन मुदितं उदितं तं विभुं निजगौरवात् विनयेन इति निजगौ ।

गाढ़ हर्ष तथा रसयुक्त अतएव अत्यन्त उत्कट जिज्ञासा मय, उग्र वक्ता छोटी बहिन सूर्पणखाने खेचरोंके पालक, सीताके अपहरणके कारण प्रसन्न तथा देदीप्यमान राजा रावणको अपनी मर्यादाके रक्षणपूर्वक निम्न विनम्र वचन कहे थे ।

भारतीयः-निजगौ । कोऽसौ ? अनुजो भ्राता भीमोऽर्जुनो वा । कम् ? तं युधिष्ठिरम् । केन कृत्वा ? विनयेन प्रश्रयेण नयेन दण्डनीत्यादिना । कस्मात् ? निजगौरवात् । कथम्भूतम् ? उदितमभ्युदयं प्राप्तम् । पुनः कथम्भूतम् ? मुदितं हृष्टम् । कस्मात् ? स्थिरसमुद्रसमुद्रसकौतुकात् । कथम्भूतम् युधिष्ठिरम् ? विभुं प्रभुं पुनर्युगभुजं युगे इव भुजे यस्य तम् । दीर्घतरबाहुमित्यर्थः । कथम्भूतोऽनुजः ? अग्रवाक्प्रधानवचनोऽव्यभिचारिवचन इति[1] ॥२०॥

सोऽयं नगर्याः परिखायमाणो वाताहतैरम्बुकणैः पयोधिः ।
दूरोन्नमत्पाण्डुकुलाग्र्यमुच्चै रक्षोध्वजं त्याजयति श्रमं त्वाम् ॥२१॥

स इति-हे रावण त्याजयति प्रहापयति । कोऽसौ ? पयोधिः । कम् ? श्रमम् । कं त्याजयति ? त्वां भवन्तम् । कैः ? अम्बुकणैर्जलबिन्दुभिः । कथम्भूतैः ? वाताहतैः शीतलैरित्यर्थः । कथम्भूतं त्वाम् ? दूरोन्नमत्पाण्डुकुलाग्र्यं पाण्डुनिर्मलं कुलं येषां ते पाण्डुकुला राजानः दूरोन्नमन्तश्च ते पाण्डुकुलाश्च दूरोन्नमत्पाण्डुकुलास्तेषामग्र्यः स तथोक्तस्तं बहुकालोन्नतिप्राप्तनिर्मलवंशानामाद्यमित्यर्थः । पुनः कथम्भूतम् ? उच्चै रक्षोध्वजमुच्चैरतिशयेन रक्षो राक्षसो ध्वजे पताकायां यस्य तम् । कथम्भूतः पयोधिः ? परिखायमाणः खातिकायमानः । कस्याः ? नगर्याः लङ्कायाः ।

भारतीयः-हे युधिष्ठिर ! पयोधिरम्बुकणैः कृत्वा त्वां श्रमं त्याजयति । कथम्भूतः ? उच्चैरक्षः उच्चैः स्थूला अक्षाः शङ्खादयो यत्र स उच्चैरक्षः, पुनः नगर्या द्वारावत्याः परिखायमाणः । कथम्भूतं त्वाम् ? दूरोन्नमत्पाण्डुकुलाग्र्यं पाण्डो राज्ञः कुलं पाण्डुकुलं दूरमुन्नमच्च तत्पाण्डुकुलञ्च दूरोन्नमत्पाण्डुकुलं तस्मिन्, दीर्घोन्नतीभवत्पाण्डुवंशेऽग्र्यं प्रधानं अथवा पाण्डोः कुलं येषां ते, पाण्डुकुलाः क्षितिभुजः, दूरोन्नमन्तश्च ते पाण्डुकुलाश्च दूरोन्नमत्पाण्डुकुलास्तेषामग्र्यः पूज्यस्तं तथोक्तम्[2] ॥२१॥

अत्रासनक्रमकरैरयमाविलोऽलमायातिपातिविसरो जवनस्वरोऽधः ।
अत्रासनक्रमकरै रयमाविलोलमायातिपाति विसरोजवनस्वरोधः ॥२२॥

अत्रेति-आयात्यागच्छति । कोऽसौ ? अयं पयोधिः । कम् ? रयं वेगम् । क्व ? अत्रास्मिन्प्रदेशे । कथम् ? अलमत्यर्थम् । कथम्भूतः ? आयातिपातिविसरः आयं नदीमुखम्, सरन्ति गच्छन्ति भेदा यस्मि-

---

[अन्वय-अग्रवाक् अनुजः युगभुजं, उदितं मुदितं तम् विभुं स्थिरसमुद्रसमुत्तरसकौतुकात् निजगौरवात् विनयेन नयेन च निजगौ ।

वचनके प्रतिपालक छोटे भाई भीम या अर्जुनने विशालबाहु, प्रतापी तथा प्रमुदित राजा युधिष्ठिरसे विनम्रता तथा नीतिज्ञताके साथ धैर्यकी मुद्रासे अंकित, हर्ष तथा वीर रसकी जिज्ञासापूर्ण फलतः अपनी महत्ताके अनुरूप वचन कहे थे ॥२०॥

अन्वय-नगर्याः परिखायमाणो सोऽयं पयोधिः दूरोन्नमत् पाण्डुकुलाग्र्यं रक्षोध्वजं त्वां वाताहतैरम्बुकणैः उच्चैः त्याजयति ।

लंकापुरीकी खाईके समान यह समुद्र दूरसे उछलकर उतरते हुए, विशुद्धवंशियोंके प्रमुख तथा राक्षसोंकी ध्वजा समान आपके श्रमको पवनके द्वारा उछाले गये जल-बिन्दुओंसे बिल्कुल दूर कर रहा है । [द्वारका पुरीकी परिखाके समान तथा स्थूल शंखादि युक्त यह समुद्र चिरकालसे प्रतिष्ठित पाण्डुवंशियोंके प्रधान आपकी मार्गकी थकानको पवनप्रेरित जलबिन्दुओंसे दूर करता है] ॥२१॥

अन्वय-आयातिपातिविसरः अधःजवनस्वरः आविलः अयं अत्रअत्रासनक्रमकरैः आविलोलं अलं रयं आयाति विसरोजवनस्वरोधः पाति ।

जिसका प्रसार जलकी आयका अतिक्रमण करता है, जिसमें नीचे-नीचे शीघ्रतापूर्वक

---

१. द्रुतविलम्बितवृत्तमत्र । २. इन्द्रवज्रा वृत्तं, लक्षणं हि "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः" (वृ. र. ३।३०) ।

न्निति सरःसमूहाः, वीनां सरोविसरः पक्षिसमुदायः, आयमतिपततीत्येवंशीलः आयातिपाती आयातिपाती विसरो यत्र स तथोक्तः । पुनः जवनस्वरः शीघ्रघोषः । कथम् ? अधोऽधस्तात् । पुनः कथम्भूतः ? आविलः कलुषः । कथम्भूतं रयम् ? आविलोलं सामस्त्येन चञ्चलम् । कैः ? अत्रासनक्रमकरैः न विद्यते त्रासो येषां तेऽत्रासाः, नक्राश्च मकराश्च नक्रमकराः, अत्रासाश्च ते नक्रमकराश्चात्रासनक्रमकरास्तैः । आ सामस्त्येनासनं क्षेपणं येषां त आसनाः, क्रमाश्चरणाः, करा हस्ताः, क्रमाश्च कराश्च क्रमकराः, आसनाः क्रमकरा येषां ते आसनक्रमकरास्तैरासनक्रमकरैः । तथा च पाति रक्षत्ययं पयोधिः । किम् ? विसरोजवनस्वरोधः सरोजानां कमलानां वनं सरोजवनं विभिरुपलक्षितं सरोजवनं यत्र तद्विसरोजवनं विसरोजवनञ्च तत्स्वरोधश्च विसरोजवनस्वरोधः विहङ्गमयुक्तकमलकान्तारस्वकीयतटमित्यर्थः[1] ॥ २२

यद्वातकी यद्वलिभस्तरङ्गी तत्किं गतो वर्षिमहानियोगम् ।
सत्त्वानुकम्पाभिरतो यदब्धिस्तत्किं गतो वर्षिमहानियोगम् ॥२३॥

यदिति–अत्र यत्तदोः सामान्योक्तिप्रयोगः । यद्वातकी वातोऽस्यास्तीति वातकी, यद्वलिभः यत्तरङ्गी तरङ्गाः सन्त्यस्येति तरङ्गी, तत्किं गतः वर्षिमहानियोगं वृद्धभावापचयनसम्बन्धम् ? अत्र तात्पर्यार्थो निवेद्यते— यथाऽन्यः कश्चित्प्राणी किल वातकीवलिभिस्तरङ्गी सन् वृद्धभावं प्रयाति तथा समुद्रो न यातीति गम्यते । वा अथवा यदब्धिः यदुदधिः सत्त्वानुकम्पाभिरतो वर्तते, तत्किं गतः ? किम् ? ऋषिमहानियोगं ऋषीणां मुनीनां महानियोगम् महानुष्ठानम् । यथा किलान्योऽपि सत्त्वकरुणाभिरतो मुनीनां तपश्चरणानुष्ठानं प्राप्नोति तथा न सत्त्वानुकम्पाभिरतोऽपि समुद्रः तपश्चरणानुष्ठानं प्राप्नोति, तस्याचेतनत्वाद् जल(ड)स्वभावत्वाच्चेति भावः । सत्त्वाः मीनमकरादयः अनुकम्पं कम्पस्य चञ्चलत्वस्य पश्चादनुकम्पम्, अभिरतं सामस्त्येन क्रीडितम्, सत्त्वानामनुकम्पमभिरतं यत्र स सत्त्वानुकम्पाभिरत इति[2] ॥ २३ ॥

अमुत्र मकरैः करैर्विरचिता चिता विनियतायताप्य च नभः ।
नभस्वदयुतायुता दिशमितामिता समहिमा हिमा जलततिः ॥ २४ ॥

अमुत्रेति–इता गता । काऽसौ ? जलततिः पयःपूरः । काम् ? दिशम् । क्व ? अमुत्रास्मिन्प्रदेशे । कथम्भूता ? विरचिता । कैः कर्तृभिः ? मकरैः । कैः करणैः ? करैः शुण्डाभिः । कथम्भूता ? चिता पुष्टमूलेत्यर्थः । पुनः कथम्भूता ? विनियता विभिः पक्षिभिर्नियता सम्बद्धा विनियता, पुनरायता दीर्घा । किं कृत्वा ? नभो गगनमाप्य प्राप्य, पुनः कथम्भूता ? नभस्वदयुतायुता नभस्वतां वायूनां देवानामयुतेन दशसहस्रसङ्ख्यया आयुता सामस्त्येन संयुक्ता पुनरमिता प्रचुरा पुनः समहिमा महिम्ना सह वर्तमाना पुनः हिमा शीतला[3] ॥ २४ ॥

घोष होता रहता है तथा मलीन है ऐसा यह समुद्र यहाँपर निर्भय मगरमच्छोंकी क्रीड़ासे अत्यन्त चंचल है तथा परिपूर्ण वेगको प्राप्त है अपने किनारेके पक्षियुक्त कमलवनोंकी रक्षा भी करता है ॥२२॥

जो यह समुद्र वायुपूरित (वातरोगी), वलिपूर्ण (झुर्रीदार) तथा लहरोंसे व्याप्त (झुका हुआ) हुआ है सो क्या वृद्धावस्थाके महाप्रभावको प्राप्त हुआ है ? अथवा समुद्रवासी प्राणियोंके पालनमें लीन (प्राणिमात्रपर दयालु) जो यह समुद्र है सो क्या यतिकी साधनाको कर रहा है ॥२३॥

मकरोंकी सूड़ोंके द्वारा फैलायी गयी, परिपुष्ट, पक्षियोंके द्वारा पीत और आकाशमें ऊपर तक उठी हजारों गुनी पवनके वेगसे युक्त, प्रत्येक दिशामें निःसीम, महत्त्वपूर्ण तथा शीतल जलराशि यहाँपर है ॥२४॥

---

१. अर्धसमयमकम्—द०, ना० । वसन्ततिलकावृत्तञ्चात्र । २. इन्द्रवज्रा वृत्तमत्र । ३. जलोद्धतगति वृत्तं, लक्षणञ्च "रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः" (वृ० र० ३।५४) ।

समुन्नताम्भोजकुलाभिनन्द्यां विद्याधराणामधिवासभूमिम् ।
त्वं द्वारकान्तां खलु पश्यसीमां राजन्नलङ्कामहितां परेभ्यः ॥ २५ ॥

समुन्नतेति–हे राजन् ! न पश्यसि नावलोकसे त्वम् ? काम् ? इमां लङ्काम् । कथम्भूताम् ? परेभ्यः शत्रुभ्योऽहितां दुःखहेतुम्, खल्विति निश्चयार्थः । तेनायमर्थः–परेभ्यो नान्येभ्यो जनेभ्यस्त्वेभ्य इति भावः । पुनः द्वारकान्तां गोपुरमनोहरां पुनः विद्याधराणां खेचराणामधिवासभूमिमन्वयपरम्परायातां पुनः समुन्नताम्भोजकुलाभिनन्द्यां समुन्नतानि च तान्यम्भोजकुलानि च तैरभिनन्द्याम् । समुन्नता मान्यता अम्भोजकुला राक्षसा विभीषणादयस्तैः प्रशस्याम् । अथवोद्दण्डजलजराजिविराजमानामित्यर्थः ।

भारतीयः–हे राजन् युधिष्ठिर ! त्वं तां लोकप्रसिद्धां द्वारकां द्वारवतीं पश्य । कथम्भूताम् ? सीमामवधिं खलु खलुशब्दोऽवधारणार्थः । तेनायमर्थः–अन्यासां नगरीणां मर्यादामेव तत्रैवानन्यसम्भविन्या श्रिभूतेः सम्भवात् । पुनः कामहितां कामाय अत्रैव वास्तव्यमस्माभिरित्यभिलाषाय हिता तां तथोक्ताम् । केभ्यः ? परेभ्यो धनिभ्यः सत्पुरुषेभ्यः । अत्यामेव योगक्षेमघटनायाः सम्भवात् । "अलमिति योगेन परेभ्य इत्यत्र षष्ठ्याः प्राप्तौ चतुर्थी ।" पुनरपि कथम्भूताम् ? विद्याधराणां शस्त्रशास्त्रपरिज्ञानवतां पुंसामधिवासभूमिं पुनः भोजकुलाभिनन्द्यां यादवकुलप्रशस्याम् । दाशार्हकुलं वृष्णिकुलं यादवकुलमिति हरिवंशस्य विशेषाः । पुनः समुन्नतां तुङ्गाम्[1] ॥ २५ ॥

कल्लोलैरिह जलधेः सुधागृहाणि व्यज्यन्ते मुरजरवा न गर्जितेन ।
नाम्भोदैः सततगतैर्गवाक्षधूपाः प्राप्तापि व्रजति न लक्ष्यतां पुरीयम् ॥२६॥

कल्लोलैरिति–सुधागृहाणि जलधेः कल्लोलैरुत्कलिकाभिर्न व्यज्यन्ते, क्व ? इह अस्यां नगर्याम् । तथा न व्यज्यन्ते प्रकाश्यन्ते, के ? मुरजरवाः मृदङ्गध्वनयः, केन ? गर्जितेन समुद्रध्वनिना । तथा न व्यज्यन्ते गवाक्षधूपाः, कैः ? सततगतैरनवरतप्रयातैरम्भोदैः, अतएवासावियं पुरी लङ्का द्वारवती च लक्ष्यतां ज्ञेयत्वं न व्रजति, कथम्भूता सती ? प्राप्तापि ज्ञातापि । 'प्राप्नोति' क्रियाया ज्ञानार्थत्वं धातूनामनेकार्थत्वात्[2] ॥ २६ ॥

अन्वय–राजन् ! त्वं समुन्नताम्भोजकुलाभिनन्द्यां, विद्याधराणामधिवासभूमिं द्वारकान्तां परेभ्यः अहितां इमां लङ्कां न पश्यसि ?

हे रावण ! तुम इस लंकाको नहीं देखते हो ? जो प्रतिष्ठित राक्षसवंशियोंके द्वारा अभिनन्दनीय है । विद्याओंके धारकोंकी निवासभूमि है, गोपुरोंसे सुशोभित है तथा शत्रुओंके लिए अनिष्टकारी है ।

राजन् त्वं, परेभ्यः अलं, खलु सीमां, कामहितां, भोजकुलाभिनन्द्यां, विद्याधराणामधिवासभूमिं तां द्वारकां पश्य ।

हे धर्मराज ! आप सामने स्थित द्वारकाको देखें, यह शत्रुओंके लिए चुनौती है, राजपुरियोंकी अन्तिम सीमा है, निवासकी कामनाके लिए इष्ट है, यादवकुलको परम प्रिय है और शास्त्र तथा शास्त्रविद्याओंमें प्रवीण लोग यहाँ रहते हैं ॥२५॥

इस लंका अथवा द्वारकामें चूनासे श्वेत भवन समुद्रकी लहरोंके कारण नहीं दिखते हैं, समुद्रकी गर्जनामें नगाड़ोंकी आवाज छिप जाती है तथा सदैव वर्तमान मेघोंके कारण खिड़कियोंसे निकलता सुगन्धित धुआँ भी अदृश्य हो जाता है । इस प्रकार सामने रहनेपर भी यह नगरी दिखती नहीं है ॥२६॥

---

१. उपजातिवृत्तम् , लक्षणञ्च–"अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" (वृ० र० ३।३२) । २. प्राप्नोति क्रियायाः कथं ज्ञानार्थत्वम् ? धातूनामनेकार्थत्वाल्लोकतः सिद्धम् । यथा त्वदीयं चित्तं प्राप्तमित्यत्र ज्ञातमिति भावः–प०, द० । प्रहर्षिणीवृत्तम् ।

धीरन्तुं गां गत्वा स यस्यामरस्य धीरं तुङ्गाङ्गत्वाच्छ्रियो वञ्चति द्याम् ।
रिक्तः स्वर्गेणाकारि मानोऽज्ञकेन साम्यं किं सोऽस्या याति मानोज्ञकेन ॥२७॥

धीरिति–यस्यामरस्य रन्तुं क्रीडितुं धीर्बुद्धिः प्रवर्त्तते । किं कृत्वा ? अस्या नगर्या गां भूमिं गत्वा, अतएव वञ्चति त्यजति । कोऽसौ ? सोऽमरो देवः । काम् ? द्यां स्वर्गम् । कथं यथा धीरं निःक्षोभम् । कस्मात् ? तुङ्गाङ्गत्वात् स्फीतावयवत्वात्, कस्याः ? श्रियः शोभायाः, कस्याः ? अस्या नगर्या इति सम्बन्धः । अतोऽकारि कृतः । कोऽसौ ? मानोऽभिमानः । केन कर्त्रा ? स्वर्गेण । कथम्भूतः ? रिक्तः शून्यो वृथेत्यर्थः । कथम्भूतेन स्वर्गेण ? अज्ञकेन मूढेन, अतएव किं यात्यपि तु न याति । कोऽसौ ? सः स्वर्गः, किम् ? साम्यं तुलाम् , केन हेतुना ? मानोज्ञकेन मनोहरत्वेन, कस्याः ? अस्या नगर्याः लङ्काया द्वारवत्याश्चेति ॥ २७ ॥

अस्याम्बुधेर्यातनिवृत्तमार्गे पुञ्जैः स्थिता ये मणिशुक्तिशङ्खाः ।
तथा त एवार्य निवेशनेऽपि स्थिता इवान्तर्बहिरप्यमुष्याः ॥२८॥

अस्येति–यातनिवृत्तमार्गे गतागतपृथिव्यां पुञ्जै राशिभिः अस्याम्बुधेः ये मणिशुक्तिशङ्खाः स्थितास्तथा तेनैव प्रकारेण हे आर्य स्वामिन् स्थिता इव भान्ति । के ? त एव मणिशुक्तिशङ्खाः । क ? निवेशनेऽपि राशिरचनायामपि । कथम् ? अन्तः मध्यप्रदेशे बहिरपि बाह्यप्रदेशे । कस्याः ? अमुष्या अस्या नगर्या इति[1] ॥२८॥

यस्याः समीपेऽम्बुनिधिर्निषण्णो रत्नैः स्फुटं भोजनभाजनानि ।
स्त्रियश्च देवाप्सरसां सदृश्यः किं वर्ण्यतेऽस्या विभवो नगर्याः ॥२९॥

यस्या इति–यतो यस्या नगर्याः समीपे अम्बुनिधिः समुद्रः निषण्णः स्थितोऽत एवास्यां भोजनभाजनानि स्थालकादीनि स्फुटं प्रव्यक्तं रत्नैः माणिक्यादिभिः विद्यन्ते । यतश्च स्त्रियः देवाप्सरसाममराङ्गनानां सदृश्यस्तुल्याः विद्यन्ते । अतः कारणादस्या नगर्या विभवः सम्पत् किं वर्ण्यते स्तूयते[1] ॥२९॥

अत्र समेता मृदुरसमेता भ्रूकुटिलास्याः स्मरकुटिलास्याः ।
भूप रमन्ते ह्यनुपरमं ते वेगमनेन व्यभिगमनेन ॥३०॥

अत्रेति–हे भूप रावण युधिष्ठिर च अत्र अस्यां नगर्यां मृदुरसं माधुर्यरसं यथा हि स्फुटमनुपरममनवरतं वेगं शीघ्रमेताः कामिन्यः रमन्ते क्रीडन्ति । केन हेतुना ? ते तवानेन व्यभिगमनेन सम्मुखगमनेन । कथम्भूताः ? मिलिताः, पुनः भ्रूकुटिलास्याः भ्रूभङ्गकुटिलाननाः । पुनः स्मरकुटिलस्याः स्मरस्य कुटिः गृहं लास्यं नृत्यं यासां ताः[2] ॥३०॥

जिस देवको इस नगरीकी भूमिपर आकर रहनेकी इच्छा होती है वह विपुल लक्ष्मीके भंडार स्वर्गको भी निसंकोच भावसे छोड़ देता है । मूर्ख स्वर्ग भी व्यर्थका अभिमान करता है क्योंकि मनोहरतामें वह इस पुरी (लंका या द्वारका) की समानता करता है क्या ? अर्थात् नहीं ॥२७॥

हे आर्य ! इसके बाजारों (आयातनिर्यात मार्गों) में जिस प्रकार समुद्रके मणि, मोती और सीप ढेरोंके ढेर पड़े हैं उसी प्रकार इसके भवनोंमें भी ये सब भरे हैं । अर्थात् इसका बाहर भीतर के समान है ॥२८॥

इस लंका और द्वारकाके पास समुद्र फैला है अतएव इसमें भोजनके बर्तन भी रत्नोंके बने हैं । इसकी स्त्रियाँ भी देवोंकी अप्सराओंके समान हैं । अतएव इसके वैभवका क्या वर्णन किया जाय ॥२९॥

हे राजन् ! टेढ़ी-टेढ़ी भ्रुकुटियुक्त मुखधारिणी, कामदेवके निवास समान नृत्यकारिणी एकत्रित ये स्त्रियाँ आपके इस शुभागमनके कारण लगातार ही मृदु और सरस रमणको शीघ्रतासे कर रहीं हैं ॥३०॥

---

१. उपजातिवृत्तम् । २. अत्र मौक्तिकमालावृत्तम्–तल्लक्षणञ्च "मौक्तिकमाला यदि भतनाद् गौ" (वृ. र. ३।१४) ।

कामिपरीता मधुविपरीता भूमिप कान्ता स्फुरदलकान्ता ।
काप्यनुगेयं लयमनुगेयं गायति मत्ता कृतरतिमत्ता ॥३१॥

कामीति—हे भूमिप! इयं कापि कान्ता भामिनी गायति । कथम्भूता सती ? लयं द्रुतमध्यविलम्बित-रूपमनुगाऽनुगच्छन्ती । कथम्भूतं लयम् ? अनुगेयं गेयस्यानु[1] पश्चादनुगेयम् । कथम्भूता ? मत्ता पुनः कृतरतिमत्ता विहितसम्भोगमत्ता पुनः कामिपरीता कामुकवेष्टिता पुनः मधुविपरीता मधुना मद्येन विपरीता आचारेभ्यः प्रच्याविता, विह्वलीभूतेत्यर्थः । पुनः स्फुरदलकान्ता दीप्यमानकेशाग्रा ॥३१॥

वादयितारं प्रियदयितारं वाङ्मुखरा गाहितमुखरागा ।
तं बहुधा तु क्रमबहुधातु क्ष्माधिप हित्वाभिपतति हि त्वा ॥३२॥

वादयितारमिति—हे क्ष्माधिप भूपते! प्रियदयिता प्रिया चासौ दयिता च प्रियदयिता सस्नेहकामिनी त्वा भवन्तमभिपतति सम्मुखमायाति । कथम् ? हि स्फुटम् । किं कृत्वा ? तं वादयितारं चतुर्विधवाद्यस्य प्रकट-यितारं हित्वा परित्यज्य । कथम् ? बहुधा बहुप्रकारम् । कथम् ? यथा भवति क्रमबहुधातु क्रमेण परिपाट्या बहवो धातवो व्यञ्जनधातुप्रभृतयो यस्मिन्वादनकर्मणि तत्तथोक्तम् । एतेन वीणादिवादनं व्याख्यातम् । कथम्? तु पुनः । पुनः कथम्भूता सती ? वाङ्मुखरा वचनवाचाला । कथम् ? अरमत्यर्थम् । पुनः कथम्भूता ? गाहितमुखरागा गाहितो व्यालोडितो मुखे रागस्ताम्बूलादिजनितधर्मो यया सा तथोक्ता ॥३२॥

मङ्गलयुक्तया मृदुगलयुक्तया कोऽप्यनृशंसं परमनृशंसम् ।
लोक उदारः सहसुतदारस्त्वामभियातिस्थिरमभियाति ॥३३॥

मङ्गलेति—कोऽपि लोकः त्वां भवन्तमभियाति सम्मुखमागच्छति । कथम्भूतो लोकः ? मृदुगलः कलकण्ठः । कया ? उक्तया निर्वचनेन । कस्याः ? मङ्गलयुक्तयाः कल्याणघटनायाः । पुनः कथम्भूतः ? उदारः । पुनः सहसुतदारः । कथम्भूतं त्वाम् ? अतिस्थिरं निःक्षोभप्रकृतिं पुनः अनृशंसं दयालुं पुनः परमनृशंसं परमा उत्कृष्टा नृभ्यो नरेभ्यः शंसा स्तुतिर्यस्य तमथवा परमाश्च ते नराश्च परमनरः परमनृषु शंसा यस्य यस्माद्वा स तथोक्तस्तम् ? कया ? अभिया निःशङ्कतया ॥ ३३ ॥

इत्यर्जुनोक्तां मनसा प्रसन्नः स्वसुः स्थिराभिः प्रतिमान्यवाग्भिः ।
राजा पुरं प्रापदरातिचारविद्रावणो धर्मकृतोद्भवस्ताम् ॥३४॥

इतीति—राजा रावणः तां लोकप्रसिद्धां लङ्कां पुरं पुरीं प्रापत् । कथम्भूताम् ? इति पूर्वोक्तप्रकारेण ? उक्तां स्तवनरूपेण निरूपिताम् । काभिः ? स्थिराभिः विचारसहाभिः प्रमाणक्षोदाक्षुण्णाभिः स्वसुः भगिन्याः

हे भूपाल ! यह कोई मदोन्मत्त सुन्दरी गीतको गाती है और उसकी लयके अनुसार ही चलती (नाचती) है । यह कामियोंसे घिरी है, मदिरा पानके कारण सदाचार-विमुख है, इसके बाल बिखरे हुए हैं और रतिके कारण पागल हो रही है ॥३१॥

हे पृथ्वीपति ! मुखको ताम्बूलकी लालीसे रंगे, अत्यन्त वाचाल यह प्यारी स्त्री नाना प्रकारके अनेक धातुओंसे निर्मित (अत्यन्त वीर्यवान्) चारों प्रकारके बाजोंका बजाने-वालोंको छोड़कर आपके सामने चली आ रही है ॥३२॥

कोमल कण्ठध्वनिसे कल्याण कामना करते हुए ये कोई उदार लोग निडर होकर अपनी स्त्री तथा बच्चोंके साथ मनुष्येतरों (राक्षसों)के स्तुत्य तथा अत्यन्त रुद्र (युधि-ष्ठिरके पक्षमें दयालु तथा श्रेष्ठ मनुष्यों-द्वारा प्रशंसित) तथा अत्यन्त दृढ़ आपकी तरफ आ रहे हैं ॥३३॥

बहिनकी विचार युक्त तथा माननीय बातोंके साथ अत्यन्त सरल मनके कारण प्रसन्न,

---

१. अनुपश्चाद्गेयं यस्य (तम्)–द० । २. "भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि" इति रोयदिशे 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' इति लघूच्चारणयकारादेशे मृदुगलयुक्तयेति ।

प्रतिमान्यवाग्भिः प्रशस्यवचनैः, कथम्भूतो राजा ? मनसा चेतसा प्रसन्नः स्वच्छः, कथम्भूतेन मनसा ? अर्जुना आ सामस्त्येन ऋजु अर्जु तेन अर्जुना अकुटिलेन समञ्जसेनेत्यर्थः। कथम्भूतः ? अरातिचारविच्छ-त्सुचेष्टोपायज्ञाता, पुनः कथम्भूतः ? धर्मकृतोद्भवः पुण्यविहितविभवः।[1]

भारतीयः—राजा धर्मकृतोद्भवः धर्मेण पाण्डुना कृत उद्भव उत्पत्तिर्यस्य सः युधिष्ठिरः तां पुरं पुरीं द्वारकां प्रापत्। कथम्भूतां पुरम् ? इति उक्तप्रकारेण अर्जुनोक्तां धनञ्जयोपदिष्टाम्, काभिः ? प्रतिमान्यवाग्भिः शिष्टेष्टाभिर्भारतीभिः, कथम्भूतो राजा ? स्वसुः शोभना असवः प्राणा यस्य स तथोक्तः, अजय्य इत्यर्थः। पुनर्मनसा प्रसन्नः पुनररातिचारविद्रावणः रिपुचेष्टानाशकः[2] ॥३४॥

मनोभिरामप्रमदां विशन्तीं क्षणं निशायोपवने सुदृष्टिम्।
उत्कण्ठभावं गमितोऽनतात्मा प्रचक्रमेऽभ्यन्तरमेव गन्तुम् ॥३५॥

मन इति—असौ रावणः अभ्यन्तरं मध्यप्रदेशं गन्तुं प्रचक्रमे प्रारब्धवान्। कथम्भूतः ? अनतात्माऽजितेन्द्रियः पुनरुत्कण्ठभावमौत्सुक्यं गमितः प्रापितः, किं कृत्वा ? उपवने सुदृष्टिं कर्णान्तविश्रान्तलोचनां रामप्रमदां सीतां निशाय सन्निवेश्य, किं कुर्वतीम् ? मनोभिश्चेतोभिः लक्ष्यीकृत्य क्षणं मुहूर्तं विशन्तीं प्रवेशं कुर्वन्तीम्।

भारतीयः—असौ युधिष्ठिरोऽभ्यन्तरमेव गन्तुं प्रचक्रमे। कथम्भूतः ? नतात्मा जितेन्द्रियः पुनरुत्कण्ठभावमूर्ध्वग्रीवत्वं गमितः, किं कृत्वा ? उपवने क्षणमभिरामप्रमदामभिरामस्यार्जुनस्य प्रमदां पत्नीं द्रौपदीं निशायोपवेश्य, किं कुर्वन्तीम् ? मनोविशन्ती अथवा हे मनोभिराम श्रेणिक प्रचक्रमेऽभ्यन्तरमेव गन्तुं राजा। किं कृत्वा ? निशाय, काम् ? सुदृष्टिम्, क्व ? उपवने, कथम् ? क्षणम्। किं कुर्वन्तीम् ? विशन्तीम्, किम् ? उपवनम् अर्थवशाल्लब्धमिति सम्बन्धः। कथम्भूतम् ? प्रमदां प्रकृष्टो मदः इदमिदं पश्यामीत्याकांक्षा लक्षणो यस्याः सा तां तथोक्तामन्यत्तुल्यम्[3] ॥३५॥

शत्रुओंकी प्रगतिका विनाशक तथा धर्मकी अवज्ञाकारक राजा रावण उक्त प्रकारसे वर्णित प्रसिद्ध लंकापुरीमें पहुँच गया था।

अन्वय—स्थिराभिः प्रतिमान्यवाग्भिः अर्जुनोक्तां तां पुरं मनसा प्रसन्नः, स्वसुः अरातिचार-विद्रावणः धर्मकृतोद्भवः राजा प्रापत्।

अत्यन्त निर्मल चित्त, पुण्यात्मा, शत्रुओंके गुप्तचरोंसे परे तथा धर्मकी मर्यादाके संस्थापक राजा युधिष्ठिरने उक्त प्रकारसे स्पष्ट तथा शिष्ट जनोचित वचनों-द्वारा वर्णित उस विख्यात द्वारकापुरीमें प्रवेश किया था ॥३४॥

अन्वय—मनोभिः क्षणं विशन्तीं सुदृष्टिम् रामप्रमदां उपवने निशाय उत्कण्ठभावं गमितः, अनतात्मा, अभ्यन्तरमेव गन्तुं प्रचक्रमे।

मनसे ही अपने भले समयको सोचती, सम्यक् दर्शनधारिणी, रामकी पत्नीको उपवनमें बैठाकर अत्यन्त उत्कण्ठित, आत्म-नियन्त्रण हीन रावणने लंकाके भीतर चलना प्रारम्भ किया था।

अन्वय—विशन्तीं सुदृष्टिम् मनोभिरामप्रमदां क्षणं उपवने निशाय, उत्कण्ठभावं गमितः नतात्मा······।

साथ साथ पुरमें प्रवेश करती मनमोहिनी सुन्दर नेत्रवती अर्जुनकी पत्नीको क्षणभर-के लिए उपवनमें छोड़कर (शिरको ऊपर उठाये) गर्दनको सीधा किये चलते आत्मजेता युधिष्ठिर नगरके भीतर चले जा रहे थे ॥३५॥

---

१. श्लेषः—ब०, ना०। उपजातिवृत्तम्। २. पुण्यविनाशायोत्पन्नः—ब०, ना०। एतन्मतेऽधर्मकृतोद्भवः इतिच्छेदः। ३. राघवपक्षे सन्धिश्चिन्त्यः। ४. उपेन्द्रवज्रावृत्तम्। लक्षणञ्च—"उपेन्द्रवज्रा—जतजास्ततो गौ।" (वृ० र० ३।३१)।

विदेहसङ्कल्पजसम्भवायाः प्रीतेस्तदालोकसमुत्सुकाभिः ।
द्रागित्यभीये पुरसुन्दरीभिः सरोदसीतापहृतौ कृतार्थः ॥३६॥

विदेहेति—अभीय अभिगतः, कोऽसौ कर्मतापन्नः ? रावणः । काभिः कर्त्रीभिः ? पुरसुन्दरीभिः ? कथम् ? द्राक् शीघ्रम्, इतिशब्दो वक्ष्यमाणार्थापेक्षः, कथम्भूतः ? कृतार्थः कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानः, क ? सरोदसीतापहृतौ रोदेन रोदनेन सह वर्तमाना सरोदा सरोदा चासौ सीता सरोदसीता तस्या अपहृतावपहरणे, कथम्भूताभिः पुरसुन्दरीभिः ? तदालोकसमुत्सुकाभिः सीतावलोकनसमुत्कण्ठिताभिः । कस्याः सकाशात् ? प्रीतेः स्नेहात्, कथम्भूतायाः ? विदेहसङ्कल्पजसम्भवायाः विदेहस्य सङ्कल्पाज्जाता विदेहसङ्कल्पजा तस्याः सकाशात्सम्भवो यस्यास्तस्याः ।

भारतीयः—असौ युधिष्ठिरः पुरसुन्दरीभिरभीये अभियातः । कथम्भूतः ? कृतार्थः निष्ठितार्थः, क ? रोदसीतापहृतौ रोदस्योः द्यावाभूम्योस्तापहरणे, कथम्भूताभिः पुरसुन्दरीभिः ? तदालोकसमुत्सुकाभिः युधिष्ठिरावलोकनोत्कण्ठिताभिः, कस्याः ? प्रीतेः । कथम्भूतायाः प्रीतेः ? विदेहसङ्कल्पजसम्भवायाः विगतो देहो यस्य स विदेहोऽनङ्गः सङ्कल्पान्मानसिकपरिणामाज्जातः सङ्कल्पजः विदेहश्चासौ सङ्कल्पजश्च विदेहसङ्कल्पजस्तस्मात्सम्भव उत्पत्तिर्यस्यास्तस्याः, प्रीतेः सकाशात्, उक्तञ्च—**"जाने सङ्कल्पतो मूलं कामं कामस्य जायते । तन्नाशादपि तन्नाशः कथ्यते मुनिपुङ्गवैरिति[1]** ॥ ३६ ॥

श्लथं द्विरेफाकुलपुष्पभारं रुद्ध्वा व्रजन्ती चिहुरं करेण ।
पुङ्खानुपुङ्खं मदनेन मुक्तानुत्पाटयन्तीव शरानराभूत् ॥३७॥

श्लथमिति—पराऽन्या काचित्कामिनी मदनेन कन्दर्पेण मुक्तान् शरान् उत्पाटयन्तीव अभूदजनिष्ट । कथं मुक्तान् ? पुङ्खानुपुङ्खं पुङ्खस्यानु पश्चात् पुङ्खं यस्मिन्मोचनकर्मणि तत्पुङ्खानुपुङ्खं पिच्छानुपिच्छमित्यर्थः । किं कुर्वन्ती ? श्लथं शिथिलं चिहुरं केशपाशं करेण रुद्ध्वा निरुध्य व्रजन्ती गच्छन्ती । कथम्भूतं चिकुरम् ? द्विरेफाकुलपुष्पभारं द्विरेफैर्भ्रमरैराकुलो व्याप्तः पुष्पभारो यत्र तम् ॥ ३७ ॥

अन्यात्मदर्शे मुखमीक्षमाणा तथैव हस्तेन तमुद्वहन्ती ।
किं मे मुखं रम्यमुतेन्दुरेवं तं स्पर्धया दर्शयितुं गतेव ॥३८॥

अन्येति—अन्या काचित्कामिनी गता । किं कर्तुमिव ? दर्शयितुमिव । किमेवम् ? किं स्यान्मुखं रम्यं निष्कलङ्कतया कान्तिमत् ? कस्याः ? मे मम, उताहो इन्दुः किं रम्यः स्यादिति, कं दर्शयितुमिव गता ?

राजा विदेहके संकल्पमात्रसे उत्पन्न सीताकी प्रीतिके कारण उसे देखनेके लिए लालायित लंकापुरीकी सुन्दरियोंके द्वारा रोती-तड़पती सीताका अपहरण करनेमें ही संतुष्ट रावण तुरन्त घेर लिया गया था।

शरीरहीन तथापि कल्पना मात्रसे उद्‌बुद्ध कामकी प्रीतिके कारण राजा युधिष्ठिरको देखनेके लिए उत्सुक द्वारकाकी कामिनियोंके द्वारा इस लोक परलोकके कष्ट दूर करनेमें ही अपनी सफलताको माननेवाला वह धर्मराज तुरन्त घेर लिया गया था ॥३६॥

ढीले पड़े केश-पाश तथा उसमें गुँथे फूलों और उनपर गूँजते भौंरोंको एक हाथसे सम्हालते सम्हालते साथ चलती कोई स्त्री ऐसी लगती थी मानो कामदेवके द्वारा पुंखानुपुंख रूपसे छोड़े गये बाणों (फूलों)को उखाड़ती जा रही है ॥३७॥

दूसरी स्त्री दर्पणमें मुख देखते-देखते ही उसे उसीप्रकारसे हाथमें लिये चल दी थी।

---

1. श्लेषः–ब०, ना० ।

तं राजानम्, कया हेतुभूतया ? स्पर्धया, किं कुर्वन्ती सती ? उद्वहन्ती । कम् ? तमात्मदर्शम्, केन कृत्वा ? हस्तेन । कथम् ? तथैव तेनैव गमनप्रकारेण, किं कुर्वाणोद्वहन्ती ? ईक्षमाणा पश्यन्ती, किम् ? तन्मुखम्, क ? आदर्शे मुकुरन्दे[2] ॥ ३८ ॥

महानिवेशं कुचभारमेका धृत्वा कराभ्यां त्वरितं जिहाना ।
उपर्युपर्युच्छ्वसिता नताङ्गी शून्यं तरन्तीव घटद्वयेन ॥३९॥

महेति–नताङ्गी काचिदेका कामिनी उच्छ्वसिता । कथम् ? उपर्युपरि । किं कुर्वन्तीवोत्प्रेक्षिता ? तरन्तीव, केन कृत्वा ? घटद्वयेन, कथम् ? शून्यम् एवमेव, किं कुर्वाणा सती ? त्वरितं द्रुतं जिहाना गच्छन्ती सती, किं कृत्वा ? महानिवेशं घनपीनोन्नतस्थितिमन्तं कुचभारं कराभ्यां धृत्वा ॥३९॥

विधूय लीलाम्बुजमुत्पलाशं निघ्नन्नलिं कर्णगमुत्पलाशम् ।
भ्रेजेऽङ्गनौघः सुरयो निजेन हावेन गच्छन्सुरयोनिजेन ॥४०॥

विधूयेति–अङ्गनौघः नितम्बिनीसमूहः सुरयोनिजेन सुराणां योनिः सुरयोनिः सुरयोनेर्जातः सुरयोनिजस्तेनामरनरसम्भवेन निजेनात्मीयेन हावेन मुखविकारेण हेतुना भ्रेजे रेजे । किं कुर्वन् ? गच्छन्, कथम्भूतः ? सुरयो अतिवेगः, किं कुर्वन् ? उत्पलाशमुद्गतपत्रं व्याकोशमित्यर्थः । लीलाम्बुजं क्रीडाकमलं विधूय कम्पयित्वा कर्णगं श्रवणस्थितम् उत्पलाशमुत्पले आशा वाञ्छा यस्य तम् अलिं भ्रमरं निघ्नन्निवारयन्निति ॥४०॥

दष्टाधरं तिष्ठतु सम्प्रहारः कस्याश्चिदास्तां कटकोपवेशः ।
सर्वान्व्रजन्त्यास्त्वरितं भुजस्य विक्षेपमात्रं विवशीचकार ॥४१॥

दष्टेति–सम्प्रहारः परस्परताडनम्, "अत्र सम्भोगो व्यज्यते, तल्लक्षणाऽर्थाभिधायकत्वात् । यथा कुन्ताः प्रविशन्तीति प्रयोगे कुन्तधराः पुरुषा गृह्यन्ते । कथं यथा भवति ? दष्टाधरम्, तथाऽस्ताम्, कोऽसौ ? कटकोपवेशोऽव्यक्तकङ्कणरवः । यतो विवशीचकार विह्वलीचक्रे, किं तत् कर्तृ ? कस्याश्चित्कामिन्याः भुजस्य हस्तस्य विक्षेपमात्रमान्दोलनमात्रम् ? कान्वशीचकार ? सर्वान्समस्ताञ्जनान्, किं कुर्वन्त्याः ? शीघ्रं व्रजन्त्याः गच्छन्त्याः ॥४१॥

अंसान्तविश्रान्तकुचान्तचक्रमाश्लिष्य कान्तेन तमर्धपीतम् ।
बिम्बोष्ठमाक्षिप्य निमीलिताक्षं सीत्कारपूर्वं कुलटाभ्यधावत् ॥४२॥

अंसान्तेति–अभ्यधावदभिजगाम । काऽसौ ? कुलटा स्वैरिणी । किं कृत्वा ? आक्षिप्याकृष्य । कम् ? तं बिम्बोष्ठम्, कथं यथा भवति ? सीत्कारपूर्वम्, कथम्भूतं तुष्टम् (बिम्बोष्ठम्) ? अर्द्धपीतम्,

---

मानो किसी राजाको यही दिखाने गयी थी कि मेरा मुख सुन्दर है अथवा यह चन्द्रमा सुन्दर है ॥३८॥

कुच तथा यौवन भारसे झुकी, उत्तरोत्तर अधिक वेगसे साँस लेती कोई एक स्त्री अपने बड़े-बड़े कुचोंके भारको दोनों हाथोंसे सम्हाले तेजीसे आगे बढ़ती जाती देखी लगती थी मानो दो कलशोंके सहारे वह आकाशमें तैर रही है ॥३९॥

खिली पंखुड़ियोंसे सुन्दर लीला-कमलको हिलाकर कान पर लगे कमलके लोभी भौंरेको मारती हुई वेगसे बढ़ती कामिनियोंके झुण्डने अप्सराओंमें सुलभ अपने हावभावके द्वारा अद्भुत छटा दिखायी थी ॥४०॥

परस्पर ओष्ठ काटकर सम्प्रहारकी कथा ही क्या है ? किसीके कंकणकी ध्वनि भी बहुत बड़ा उद्दीपक है । इस समय तो किसी जाती हुई कामिनीका वेगसे हाथका हिला देना मात्र सबको विवश कर देता था ॥४१॥

स्तनके चूचुकको कंधेके ऊपर रखते हुए गाढ़ आलिंगन करके प्रेमीके द्वारा आधा

---

१. इन्द्रवज्रावृत्तम् । २. टीकेयमन्यदमुद्यप्रतिमवलम्ब्य दत्ता ।

केन ? कान्तेन वल्लभेन, कथं यथा भवति ? निमीलितार्धं सङ्कुचितलोचनम् , किं कृत्वा ? पूर्वमाश्लिष्याऽऽलिङ्ग्य, कथं यथा भवति ? अंसान्तविश्रान्तकुचान्तचक्रं स्कन्धमध्योपविष्टस्तनचूचुकमिति शेषः ॥४२॥

आकृष्य हस्तं विधृतं वरित्रा काचिन्नवोढा सहसाऽभ्ययासीत् ।
प्रियानुबद्धं पटमालिखन्ती हित्वागमत्प्रोषितभर्तृकान्या ॥४३॥

आकृष्येति–काचिन्नवोढा नवपरिणीता स्त्री सहसा शीघ्रमभ्ययासीदभिगता । किं कृत्वा ? वरित्रा वरेण विधृतं गृहीतं हस्तं करमाकृष्याक्षिप्य । तथा अन्या काचित्प्रोषितभर्तृका अगमत् । किं कुर्वन्ती सती, पटमालिखन्ती सती, कथम्भूतं पटम् ? प्रियानुबद्धम् , किं कृत्वा ? हित्वा मुक्त्वा, कम् ? तं प्रियानुबद्धं पटमिति शेषः[1] ॥४३॥

उन्मील्य रूपं सह सामि ताभिस्तत्तूलिकाभिः सहसा मिताभिः ।
वर्णोत्करैश्चित्रकरः स्मयातिक्रान्तोऽखिलश्चित्रकरः स्म याति ॥४४॥

उन्मील्येति–वर्णोत्करैः हिङ्गुलहरितालादिरञ्जनद्रव्यसमूहैश्चित्रकरः आश्चर्यकर्ता अखिलः समस्तश्चित्रकरश्चित्रशिल्पी सहसा द्रुतमभियाति स्माभिजगाम । किं कृत्वा ? सामर्धं रूपमुन्मील्य विरचय्य, कथमभियाति स्म ? मिताभिः स्तोकाभिस्ताभिर्लोकप्रसिद्धाभिस्तत्तूलिकाभिश्चित्रलेखनीभिः सह सार्द्धम्, कथम्भूतश्चित्रकरः ? स्मयातिक्रान्तः गर्वपर्वताधिरूढः । अत्र कौतुकरसरसिकतया विमनस्कत्वमभिहितम् ॥ ४४ ॥

वक्रोक्तिमुत्प्रेक्षणमङ्गबन्धं श्लेषं स्मरन्कृत्यबलातिमूढः ।
द्विसन्धिचिन्ताकुलितो विषण्णः कविर्वियोगीव जनोऽभ्यसर्पत् ॥४५॥

वक्रेति–कविर्जनः विषण्णः विमनस्कः सन्नभ्यसर्पदभिययौ । कथम्भूतः ? द्विसन्धिचिन्ताकुलितो द्वयोः कथयोर्द्वयोः पदयोर्वा सन्धिर्द्विसन्धिस्तत्र या चिन्ता तस्यां तया वा आकुलितः, पुनः कृत्यबलातिमूढः कार्यसामर्थ्यानभिज्ञः, किं कुर्वन् ? स्मरन्चेतोविषयीकुर्वन् , किं किम् ? वक्रोक्तिमलङ्कारविशेषम् , तथोत्प्रेक्षणमुत्प्रेक्षालङ्कारम् , तथाऽङ्गबन्धं षोडशदलपद्मादिसम्बन्धं तथा श्लेषं श्लेषालङ्कारम् । उपमार्थः प्रकल्प्यते । क इव ? वियोगीव यथा विरहीजनोऽभिसर्पति । कथम्भूतः ? विषण्णः, पुनः कथम्भूतः ? द्विसन्धिचिन्ताकुलितः द्वयोर्भार्ययोः सन्धिः परस्परमेलनं तत्र चिन्तयाकुलितः, पुनरबलातिमूढोऽबले भार्ये अतिमूढे यस्य सः, पुनः कृती कृतमस्यास्तीति कृती प्रतिज्ञावान्, पुनः किं कुर्वन् ? वक्रोक्तिं कुटिलवाचं तथोत्प्रेक्षणं रमणीयकटाक्षं

पिये गये ओठको सी-सी करते हुए आँखें बिना खोले ही खींचकर कुलटा राजमार्ग पर चल पड़ी थी ॥४२॥

कोई नव-विवाहिता युवती वरके द्वारा पकड़े गये हाथको एकाएक खींचकर राजाको देखने चल पड़ी थी । पतिके विदेश जानेसे विरहिणी दूसरी स्त्री बैठकर पति-सम्बन्धी चित्र बना रही थी वह भी उसे छोड़कर चल पड़ी थी ॥४३॥

परिपूर्ण तथा रंगोंके सम्मेलन-द्वारा अद्भुत चित्रोंका निर्माता अतएव अहंकारके पर्वत पर बैठा चित्रकार भी कुछ गिनी-चुनी कूचियोंसे आधे रूपको खींचकर सहसा ही राजाकी शोभायात्रामें चल पड़ा था ॥४४॥

वक्रोक्ति उत्प्रेक्षादि अर्थालंकार, कमल मुरजादि बन्धों, श्लेषोंको सोचता हुआ, द्व्यर्थक बनानेके लिए चिन्तित, रचनाके लिए आवश्यक बलसे अनभिज्ञ अतएव उदासीन कवि भी वियोगीके समान लोगोंके पीछे हो लिया था । [वियोगी भी व्यंगोंमें बोलता है, कटाक्ष फेंकता है, ऋजु विपरीत आदि शरीर बन्ध करता है तथा आलिंगनको याद करता है

---

1. उपजातिवृत्तम् ।

तथाऽङ्गबन्ध चतुःषष्टिभेदं शरीरबन्धमृदुविपरीतवृत्तदण्डकार्द्धदण्डकप्रभृतिकरणाख्यं तथा श्लेषमालिङ्गनं स्मरन्¹ ॥४५॥

शालस्य हर्म्यस्य च गोपुरस्य पुरस्य शृङ्गेष्वतिरञ्जनेन ।
जनेन द्रष्टुं निचितेन पूर्वापूर्वाधिरूढासुमतां छलेन ॥४६॥

शालस्येति–भातीति क्रियाया अध्याहारोऽत्र गम्यते । भाति, काऽसौ ? पूः नगरी, केन ? जनेन लोकेन, कथम्भूतेन ? अतिरञ्जनेनातिशयेनानुरागवता, पुनः, निचितेन सम्भृतेन, कस्यै ? द्रष्टुं राजानं द्रष्टुम्, क्व ? निचितेन ? शृङ्गेषु शिखरेषु, कस्य कस्य च ? शालस्य प्राकारस्य तथा हर्म्यस्य मन्दिरस्य तथा गोपुरस्य राजद्वारस्य । अत्र जात्यपेक्षयैकवचनं यतो हर्म्याणि गोपुराणि बहूनि सन्ति । कस्य सम्बन्धित्वेन ? पुरस्येति सम्बन्धः । इदानीमुत्प्रेक्षा–वेत्यक्षरमुत्प्रेक्षाया गम्यते । तेनायमर्थः–कैवोत्प्रेक्षिता ? अपूर्वा पूरिव, कथम्भूता ? अधिरूढा, केन ? छलेन व्याजेन, केषाम् ? असुमतां प्राणिनामिति ॥४६॥

दिदृक्षमाणस्य जनस्य तस्मिन्कालेऽखिलानि क्षणमिन्द्रियाणि ।
तं नेत्रमात्रस्थितिमेव जग्मुः स्वस्थाननिर्वेगमिवागतानि ॥४७॥

दिदृक्षमाणस्येति–तस्मिन्काले राज्ञो नगरप्रवेशसमये क्षणं मुहूर्त्तमेकं तं राजानं दिदृक्षमाणस्य द्रष्टुमिच्छोर्जनस्य अखिलानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि नेत्रमात्रस्थितिमेव जग्मुः, कानीवोत्प्रेक्षितानि ? स्वस्थाननिर्वेगं²मात्मीयवसतेर्वैराग्यमिवागतानि ॥४७॥

स धूतव्यजनेन जनेन पुरं परमङ्गलमङ्गलघोषकृता ।
नगरीमभिरञ्जयता जयतादिति वाक्यविभागमितो गमितः ॥४८॥

स धूतेति–स राजा पुरीं नगरीमितः प्राप्तः । कथम्भूतः सन् ? वाक्यविभागं वचनविषयं गमितो नीतः । कथमिति ? जयतादिति नगरनागरिकलोकं रक्षन् सन् सर्वोत्कर्षेण वर्त्तस्वेति, केन कर्त्रा ? जनेन, किं कुर्वता ? अभिरञ्जयता अयं राजा चिरायुर्भूयादित्यनुरागविषयं नयता, काम् ? नगरीम्, कथम्भूतेन ? परमङ्गलमङ्गलघोषकृता परं केवलं मङ्गलमेव मङ्गलघोषं करोतीति तेन तथोक्तेन पुनः धूतव्यजनेन गृहीततालवृन्तेन⁴ ॥४८॥

स्वगोचरं जल्पमधिक्षि शृण्वन्संमान्यलङ्कारमणीन्निरूप्य ।
हर्म्यस्थकन्योज्झितपुष्पलाजं स राजमार्गं नृपतिः प्रपेदे ॥४९॥

प्रतिज्ञा करता है, अनेक व्यभिचारी भावोंके मिलनेसे आकुल रहता है, स्त्रीके लिए पागल होता है तथा दुखी होकर दौड़ता फिरता है] ॥४५॥

राजा रावण अथवा धर्मराजको देखनेके लिए नगरके कोठों अथवा उन्नत भवनों अथवा गोपुरोंकी शिखरोंपर चढ़े अत्यन्त विनोदी नागरिकोंसे भरे वे नगर ऐसे लगते थे मानो छल करके प्रविष्ट विपक्षियोंने पहिलेसे ही उनपर आक्रमण कर दिया है ॥४६॥

राजाको देखनेमें लीन जनसमूहकी समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानसे विरक्तके समान होकर एक क्षणके लिए केवल नेत्र इन्द्रिय रूपसे ही रह गयी थीं ॥४७॥

पूरी नगरीको सब प्रकारसे सजानेवाले, सर्वोत्कृष्ट मंगलका मंगल घोष करनेमें लीन तथा हाथसे बीजना हिलाते हुए नागरिकोंके द्वारा जय-जय घोषपूर्वक स्वागत किया गया राजा नगरमें चला जा रहा था ॥४८॥

---

१. स्मैवः–ब०, धा० । २. निर्वेद–ब०, ना० । ३. निर्वेद–प०, ब०, ना० । ४. तोटकवृत्तम् । लक्षणञ्च "इह तोटकमम्बुधि सैः प्रथितम्" (वृ० र० ३।४९) ।

स्वगोचरमिति—स नृपती रावणः राजमार्गे प्रपेदे, कथम्भूतम् ? हर्म्यस्थकन्योज्झितपुष्पलाजं हर्म्यस्थाः सौधस्थिताः याः कन्यास्ताभिरुज्झितानि पुष्पाणि लाजा आर्द्रतण्डुला यत्र तं मन्दिरगतकुमार्य्युपक्षिप्तकुसुमजलार्द्रतण्डुलमित्यर्थः । किं कृत्वा ? सम्मान्यलङ्कारमणीं लङ्कावनरक्षकस्य वनमालिकाख्यस्य भार्याम् अथवा (लङ्का) नगरीसंज्ञा सम्मान्या चासौ लङ्का च सम्मान्यलङ्का सम्मान्यलङ्कैव रमणी सम्मान्यलङ्कारमणी तां तथोक्ताम्, किं कुर्वन् ? स्वगोचरमात्मविषयम् अभिख्यि स्त्रीषु प्रवृत्तं जल्पं शृण्वन्नाकर्णयन् ।

भारतीयः—स नृपतिर्युधिष्ठिरः राजमार्गे प्रपेदे, किं कृत्वा ? पूर्वे निरूप्य, कान् ? सम्मान्यलङ्कारमणीन् सम्मानिनः सम्यक् प्रकारेण मां लक्ष्मीमनन्ति प्राणन्ति पुष्टिं नयन्तीति सम्मानिनः अलङ्कारभूता मणयः सम्मानिनश्च तेऽलङ्कारमणयश्च सम्मान्यलङ्कारमणयस्तान् अथवाऽलङ्कारे मणयो येषां ते तान्, सम्मान्यलङ्कारमणीन् लक्ष्मीवतः प्रधानपुरुषानित्यर्थः । शेषोऽर्थः प्राग्वत्[1] ॥४९॥

आर्द्रां बालाश्चिक्षिपुस्तस्य शेषामुच्चैरूढा येन सा धूर्वरायाः ।
आलोकान्तं कीर्त्तिलक्ष्मीप्रतापैरुच्चै रूढायेन सा धूर्वरायाः ॥५०॥

आर्द्रामिति—बाला मुग्धाः कामिन्य आर्द्रां शेषां तस्य राज्ञः चिक्षिपुः क्षिप्तवन्त्यः । तस्य कस्य ? येन राज्ञा वरायाः शोभनाया उर्वरायाः भूमेरुच्चैर्वोढम् उच्चैः महती सा लोकप्रसिद्धा, धूर्धुरा ऊढा धृता । कथं यथा भवति ? आलोकान्तं लोकत्रयं यावत्, पुनः कथं यथा भवति ? साधु लोकप्रशंसाविषयत्वात् मनोहारि, कैः कृत्वोढा धूः ? कीर्त्तिलक्ष्मीप्रतापैः, कथम्भूतेन येन ? रूढायेन अयः शुभावहो विधिः, रूढः जगद्विख्यातोऽयो यस्य तेन[2] ॥५०॥

विभीषणाभ्युन्नतकुम्भकर्णमुख्यैर्महानागबलैर्युतेन ।
पराक्रमेणेन्द्रजितोद्धतेन प्रत्यभ्युदीये हरिणेक्षणेन ॥५१॥

विभीषणेति—इन्द्रजिता इन्द्रजिदाख्येन पुत्रेण प्रत्यभ्युदीये प्रत्यभ्युत्थितम् । कथम्भूतेन ? हरिणेक्षणेन मृगलोचनेन, पुनरुद्धतेन गर्वपर्वताधिरूढेन, पुनः पराक्रमेण परान् शत्रून् आक्रमतीति पराक्रमस्तेन पुनः महानागमिव बलं येषां तैः महानागबलैर्युतेनान्वितेन, कथम्भूतैः ? विभीषणाभ्युन्नतकुम्भकर्णमुख्यैः, विभीषणश्चाभ्युन्नत उदग्रं प्रातश्चासौ कुम्भकर्णश्च मुख्यौ प्रधाने येषां तैः ।

भारतीयः—हरिणा नारायणेन ईक्षणेन कृत्वा प्रत्यभ्युदीये । कथम्भूतेन हरिणा ? विभीषणाभ्युन्नतकुम्भकर्णमुख्यैः, विभीषणानि भीष्माणि अभ्युन्नतास्तुङ्गा कुम्भाश्च कर्णाश्च मुख्यानि च येषां तैस्तथोक्तैर्महा-

---

अपनी परम प्रिय लंकाकी स्त्रियोंको देखकर रावण अथवा अत्यन्त सम्पत्तिशाली नागरिकोंके मणियुक्त भूषणधारियोंके अभिवादन स्वीकार करके धर्मराजने अपनेको लेकर स्त्रियोंमें चलती बातें सुनते हुए उस राज-मार्गपर प्रस्थान किया था जिसपर भवनोंके ऊपर बैठी कन्याओंने फूल तथा लावेकी वर्षा की थी ॥४९॥

जो शुभ कार्योंका पोषक है तथा जिसने शेष तथा उर्वरा भूमिका वह महान् दायित्व साहसके साथ यश, सम्पत्ति और प्रभुताके द्वारा तीनों लोकोंमें पूर्ण रूपसे धारण किया है उस पर लड़कियोंने आर्द्र पूर्णाहुति छोड़ी थी ॥५०॥

महान् नागोंके समान बलशाली विभीषण तथा अत्यन्त ऊँचा कुम्भकर्ण आदि प्रमुखों सहित हरिण समान चंचलनेत्र, शत्रुओंके आक्रामक इन्द्रजीत नामक पुत्रने रावण की अगवानी की थी ।

अत्यन्त भयंकर और ऊँचे सविशेष गण्डस्थल तथा कर्णधारी विशाल हाथियोंकी

---

१. श्लेषः—च०, ना० । उपजातिवृत्तम् । २. शालिनीवृत्तम् । लक्षणं हि—"शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" (वृ० र० ३।३५) ।

नागबलैः गजसैन्यैर्युतेन, पुनः कथम्भूतेन ? इन्द्रजिता इन्द्रं जयतीति इन्द्रजित्तेन तथोक्तेन, पराक्रमेण हेतुना उद्धतेन सगर्वेण[1] ॥५१॥

अत्र स्नुताधिकमनोजवधूतमालपत्रप्रयुक्तकुसुमाञ्जलिसिक्तमूर्त्तिः ।
अत्रस्नुताधिकमनोजवधूतमालमाल्येन तेन सहितः स्वगृहं विवेश ॥५२॥

अत्रेति—स राजा रावणः गृहं विवेश, कथम्भूतः ? तेनेन्द्रजिता सहितः, क ? अत्रास्मिन्नवसरे, कथम्भूतः ? स्नुताधिकमनोजवधूतमालपत्रप्रयुक्तकुसुमाञ्जलिसिक्तमूर्त्तिः, स्नुतेन स्वेदोद्गमेनोपलक्षितोऽधिको मनोजः कन्दर्पो यासां ताः स्नुताधिकमनोजाः ताश्च ता वध्वश्च ताभिः प्रयुक्तो यः कुसुमाञ्जलिस्तेन सिक्ता मूर्त्तिर्यस्य सः, कथम्भूतेनेन्द्रजिता ? अत्रस्नुताधिकमनोजवधूतमालमाल्येन त्रसनशीलः त्रस्नुः, "त्रसिगृधृधृषिभ्यः क्नुः" न त्रस्नुरत्रस्नुस्तस्य भावो ऽत्रस्नुता तया, अधिकश्चासौ मनोजवो निर्भयत्वादधिकमनोवेगस्तेन धूतानि कम्पितानि मालमाल्यानि मालार्हकुसुमानि यस्य तेन । अत्र युधिष्ठिररावणयोर्विशेषणे पूर्वोक्त एव बोद्धव्ये[2] ॥५२॥

सुसहायतया सुसहायतया मधुरं मधुरञ्जितयाजितया ।
शमितः शमितः सहितः सहितः प्रतिवासरवासरतिं प्रययौ ॥५३॥

सुसहायतयेति—प्रययौ गतवान्, कोऽसौ ? स राजा, काम् ? प्रतिवासरवासरतिं प्रतिवासरं प्रतिदिनं प्रतिवासं प्रतिमन्दिरं यथा रतिः प्रीतिस्ताम्[3], कथम्भूतः ? शं सुखमितः प्राप्तः, पुनः शमितः शान्तः, पुनः सुसहायतया निर्व्यभिचारिमित्रसमूहेन सहितो युक्तः, कथम्भूतया ? सुसहायतया सहायस्य भावः सहायता शोभना सहायता यस्यास्तया मित्रधर्मवत्त्येत्यर्थः । पुनः मधुरञ्जितया मधुना वसन्तेनाह्लादितया, कथं यथा भवति ? मधुरमत्यन्तपेशलं पुनः अजितया जेतुमशक्यया, कथम्भूतो राजा ? सहितः हितं सुखं हिताः सुखहेतवो मनुष्याः हितेन हितैश्च सह वर्त्तमानः[4] ॥५३॥

तां श्रीवधूं चिन्तयतान्यभोग्यां तेन स्वसात्कर्त्तुमपार्यमाणाम् ।
न शीतमुष्णं न मतं सुखाय स्वावस्थयातप्यत केवलं सः ॥५४॥

तामिति—परमतप्यत संतापं प्राप्तः, कोऽसौ ? स रावणः, कया कर्त्र्या ? स्वावस्थयेति, कथं परमतप्यत ? तदेवाह—न मतं नेष्टम्, किम् ? शीतं श्रीगन्धकमलकर्पूरादिवस्तु, तथा नमनम्, किम् ? उष्णं वीर्यं कुङ्कुमादिवस्तु, केन ? तेन रावणेन, कस्मै ? सुखाय, किं कुर्वता ? तां जगद्विख्यातां श्रीवधूं सीतां

सेनासे सज्जित, इन्द्रको जीतनेमें समर्थ पराक्रमधारी तथा आत्मगौरवी विष्णु (कृष्णजी) ने धर्मराजको आँखोंपर लिया था ॥५१॥

बहते पसीनेसे व्यक्त अधिकतर कामासक्ति युक्त नागरिक वन्धुओंके द्वारा तमालके पत्तोंमें रखकर छोड़ी गयी पुष्पाञ्जलियोंसे आर्द्र रावण अथवा युधिष्ठिरने निर्भयताके आधि-युक्त मनोभावशाली तथा मालाके फूलोंके चिखेरते इन्द्रजीत अथवा विष्णुके साथ वहाँपर अपने गृहमें प्रवेश किया था ॥५२॥

अजेय, सर्वथा समर्थ तथा विस्तृत निर्दोष मित्रमण्डलीसे युक्त वसन्त अथवा मदिरा से रँगीन सुखको प्राप्त तथा शान्त और कल्याणकारी राजाने प्रतिदिन प्रत्येक निवासमें मधुर रतिको दिया था ॥५३॥

दूसरेके द्वारा भोग्य लक्ष्मी-स्वरूपिणी सीता अथवा राज्यलक्ष्मी रूपी वधूको सोचते हुए तथा उसे अपने आधीन करनेमें असमर्थ उस रावण अथवा युधिष्ठिरके लिए शीतल

---

१. श्लेषः–म०, ना० । उपजातिवृत्तम् । २. वसन्ततिलकावृत्तम् । ३. प्रतिवासरं वासे रतिस्ताम् । ४. तोटकवृत्तम् ।

मनसा चिन्तयता, कथम्भूताम् ? अन्यभोग्यां राघवसेव्यां पुनः स्ववशात्स्ववशात् कर्तुमपार्यमाणामशक्याम् अतएव केवलम् अतप्यत।

भारतीयः पक्षः—तेन युधिष्ठिरेण सुखाय शीतं न मतमुष्णं न मतम्, कथम्भूतेन तेन ? ताम् आबाल गोपालादिप्रसिद्धां श्रीवधूं राज्यलक्ष्मीं चिन्तयता, कथम्भूताम् ? अन्यभोग्यां दुर्योधनसेव्याम्, किं कर्तुम् ? स्ववशात् स्वाधीनाम्, केवलमतप्यत, कया ? स्वावस्थया दुर्दशयेति[1] ॥५४॥

त्रेपे नृपाणां समवस्थयोच्चैः सेहे न दुर्योधनकामबाधाम्।
बालाङ्गनापाङ्गकृतापहासं रहस्यसौभाग्यमलं निनिन्द ॥५५॥

त्रेप इति—त्रेपे लज्जितः, कोऽसौ ? स रावणः, कया ? समवस्थया, केषाम् ? नृपाणाम्, कथम् ? उच्चैः अतिशयेन। तथा न सेहे न सोढुं समर्थोऽभूत्, काम् ? दुर्योधनकामबाधां दुःखेन योद्धुं शक्यो दुर्योधनः स चासौ कामस्तस्य बाधां पीडाम्। निनिन्द, किम् ? असौभाग्यमलं दौर्भाग्यरजः, क्व ? रहस्येकान्ते, कथम्भूतम् ? बालाङ्गनापाङ्गकृतापहासम्, बालाङ्गनानां मुग्धस्त्रीणामपाङ्गैः कटाक्षास्तैः कृतमपहासं यस्य तत्।

भारतीयः—असौ नृपाणां समवस्थया त्रेपे। तथा दुर्योधनकामबाधां गान्धारीतनयाभिलाषपीडां न सेहे। तथा भाग्यं दैवं रहस्यलमत्यर्थं निनिन्द। कथम्भूतं बालाङ्गनापाङ्गकृतापहासं बालाः शिशवोऽङ्गनाः कामिन्यस्ताभिरपाङ्गनिन्द्यं यथा भवति तथा कृतमपहासं यस्य तत्तथोक्तम्। कर्मण्येतदेव रूपम्[2] ॥५५॥

न गुणैर्वधूभिरमितो रमितो न विलेपनं निजगृहे जगृहे।
विभवेषु नो वशमितः शमितः स गतो यतित्वमुदितो मुदितः ॥५६॥

न गुणैरिति—स राजा वधूभिर्न रमितः, कथम्भूतः सन् ? गुणैरौदार्यधैर्यादिभिरमितोऽगाधस्तथा विलेपनं श्रीगन्धादिलक्षणं न जगृहे नाङ्गीचकार, क्व ? निजगृहे आत्मीयमन्दिरे, तथा विभवेषु परिच्छदादिषु लक्षणेषु न वशमितः गतः, तथा स राजा गतः, किम् ? यतित्वं मुनिरूपताम्, कथम्भूतः सन्, उदितोऽभ्युन्नतः, शमितः, शान्तः, पुनः कथम्भूतः सन् ? आमुदितोऽहृष्टः सन्निति[3] ॥५६॥

स वैरिणा श्रीमदनेन राजा निगूहमानो हृदयं विदीर्णम्।
अगाधगम्भीरमुदात्तसत्त्वमाकारमग्र्यं बिभरां बभूव ॥५७॥

स इति—स राजा रावण आकारं कोपप्रसादजनितां शरीरप्रकृतिं बिभराम्बभूव बभार। किं कुर्वाणः ? श्रीमदनेन श्रीकन्दर्पेण विदीर्णं विदारितं हृदयं निगूहमानः संवृण्वन् दुर्जनजनहास्यभयाच्च प्रकटयन्, कथम्भूतं हृदयम् ? अगाधगम्भीरमगाधमकलितं तथा गम्भीरं निःक्षोभम्, अग्र्यं प्रधानम्, उदात्तसत्त्वमुदात्तमुत्कृष्टं सत्त्वं बलं यस्मिन् तत्।

भारतीयः—स राजा युधिष्ठिरः आकारं बिभराम्बभूव, कथम्भूतम् ? अग्र्यमादेयं पुनरुदात्तसत्त्वमुल्वण-

---

अथवा उष्ण पदार्थ भी सुख नहीं देते थे। वह क्रमशः अपनी कामदशा अथवा दुरवस्थासे ही जल रहे थे ॥५४॥

रावण तथा युधिष्ठिर दोनों ही अन्य राजाओंके सामने आते लजाते थे। कष्टसे सामना करने योग्य कामदेवकी बाधाको रावण नहीं सह पाता था तथा कौरव दुर्योधनकी मनमानी युधिष्ठिरको असह्य थी। और बालकों, स्त्रियों तथा अंगनाओंके द्वारा भी हँसे जाने वाले अपने अभागेपनको एकान्तमें धिक्कारते थे ॥५५॥

निःसीम गुणोंका भण्डार वह रानियोंके साथ रमण नहीं करता था, अपने भवनमें भी किसीसे लेपादि नहीं कराता था, और भोग-विलासोंमें उसका मन नहीं लगता था। सुखोंसे घिरे, प्रतापी तथा प्रसन्न यतिके रूपको वह प्राप्त हुआ था ॥५६॥

श्री कामदेव रूपी शत्रुके द्वारा खंड-खंड किये अपने हृदयको छिपाते हुए वह राजा रावण अत्यन्त गुप्त, सहिष्णु, विशाल शक्ति सम्पन्न बाह्य आकारको धारण किये था [इस

---

१. श्लेषः—ब०, भा०। उपजातिवृत्तम्। २. श्लेषः—ब०, भा०। ३. प्रमिताक्षरा वृत्तम्। लक्षणं हि—"प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता" (वृ० र० ३।६२)।

सामर्थ्यम्, पुनः कथम्भूतम् ? अगाधगम्भीरम् अनाकलितनिःक्षोभम्, कथम्भूतो राजा ? हृदयं निगूहमानः, कथम्भूतम् ? अनेन वैरिणा दुर्योधनेन विदीर्णं पुनः श्रीमल्लक्ष्मीवत् । शेषं तुल्यम्[1] ॥५७॥

स सदसि हृषीकेशेनोच्चैर्बलेन गरीयसा
परमतनयेनार्यं भ्रातृव्रजेन च सङ्गतः ।
विलुलितकथः शस्त्रे शास्त्रे कलासु कथासु च
प्रभुरगमयत्कञ्चित्कालं धनञ्जयमूर्जयन् ॥५८॥

इति श्रीधनञ्जयकृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये रावणयुधिष्ठिरलङ्काद्वारवतीप्रवेश-
कथनो नामाष्टमः सर्गः ॥८॥

स इति–सोऽयं रावणः कञ्चित्कालं समयमगमयत् निनाय, किं कुर्वन् ? धनं द्रव्यं तथा जयमूर्जयन्नुपार्जयन्, कथम्भूतः ? प्रभुः विभुः, पुनः विलुलितकथः विलुलिता कथा येन सः, विहितविचारण इत्यर्थः । क्व ? शस्त्रे चापतोमरादिलक्षणे तथा शास्त्रे व्याकरणतर्कादिलक्षणे जात्यपेक्षयैकवचनम् । तथा कलासु वेणुवीणादिषु तथा कथासु कादम्बर्यादिषु । क्व ? सदसि सभायाम्, पुनः कथम्भूतः ? गरीयसा गरिष्ठेनाजय्येन बलेन सैन्येन सङ्गतः संयुक्तस्तथा परमतनयेन परमा श्रीर्यस्य स परमः परमश्चासौ तनयश्च परमतनयस्तेन श्रीमदिन्द्रजिता पुत्रेण सङ्गतः, कथम्भूतेन ? हृषीकेशैरिन्द्रियैर्विलसता [illegible]नितावन्दनादीननुभवितुमित्यर्थः, कथम् ? उच्चैरत्यर्थं तथा भ्रातृव्रजेन विभीषणादिसमूहेन सङ्गतः ।

भारतीयः–धनञ्जयमर्जुनम् ऊर्जयन्प्रौढिं नयन्, हृषीकेशेन नारायणेन बलेन बलभद्रेण तथा परमतनयेन परं केवलं मतं इष्टः नयो दुष्टशिष्टनिग्रहानुग्रहलक्षणो येन तेन दुष्टानां निग्रहः शिष्टानां प्रतिपालनं राज्ञां धर्मो न तु जटाधारणं शिरोमुण्डनं चेति वचनात् । यद्वा परेषामरीणां मतो ज्ञातो नयो नीतिर्येन तेन, भ्रातृव्रजेन भीमादिसमूहेन सङ्गतः गरीयसेति कृष्णबलयोर्विशेषणं लोकपूज्यत्वात् । शेषं पूर्ववत्[2] ॥५८॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्र-
पण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरी-
चन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदी नाम दधानायां टीकायां
रावणयुधिष्ठिरलङ्काद्वारवतीप्रवेशकथनोऽष्टमः सर्गः ॥८॥

राज्य-लक्ष्मीयुक्त शत्रु दुर्योधनके द्वारा खण्डित मनको छिपाते हुए राजा युधिष्ठिर] ॥५७॥

इन्द्रिय जेता, बलवान, गौरवशाली भाइयों तथा श्रेष्ठ पुत्रके साथ राजसभामें शासन, शास्त्र और ललित कलाओंकी चर्चा करता हुआ तथा अपनी सम्पत्ति और विजयके साधनों को बढ़ाता हुआ राजा रावण कुछ समय बिता रहा था ।

परम बली, सबके श्रेष्ठ, हृषीकेश कृष्णजी तथा भाइयोंके साथ शत्रुओंकी योजनाएँ जाननेमें व्यस्त इस राजा युधिष्ठिरने यादव राजसभामें शस्त्र-शास्त्र तथा संगीतादिकी चर्चाएँ करते हुए और अर्जुनकी प्रतिष्ठा बढ़ाते हुए कुछ समय व्यतीत किया था ॥५८॥

निर्दोषविद्याभूषण भूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पंडितविनयचन्द्र
गुरुके प्रशिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाचातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र द्वारा
विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान
काव्यकी पदकौमुदी टीकामें रावण युधिष्ठिर-लङ्काद्वारावती-
प्रस्थान कथन' नामका अष्टम सर्ग समाप्त ।

---

१. श्लेषः–ब०, भा० । उपजातिवृत्तम् । २. श्लेषः–ब०, भा० । हरिणीवृत्तम् । लक्षणं हि "रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा ।" (वृ० र० ३।९३) ।

नवमः सर्गः

तस्मिन्काले जरासन्धो वैरामोघभिया युतः ।
चित्तस्थमनुजं पश्यन्दूरतः पुरुषोत्तमम् ॥१॥
तथा विराधितं वैरिभीमहानियमोद्यतम् ।
उद्युक्त्याश्वासयन्ख्यातस्तं कौरव्यंशुभावहः ॥२॥
पृथ्व्याः पातालल‌ङ्कान्तः श्रीगृहं प्राप्य भूषणम् ।
सीताचिन्ताकुलः कार्यं दुःखमालोचयन्स्थितः ॥३॥
अज्ञातचरितं शत्रुं श्रीवधूहरणोद्यतम् ।
विरित्सन्विधुना धौते सौधे शीतेऽप्यतप्यत ॥४॥

श्लोकचतुष्टयमतप्यतेति क्रियया व्याख्यायते–तस्मिन्निति–अतप्यत, कोऽसौ ? रामो राघवः, कथम् ? वै स्फुटम्, क्व ? तस्मिन्काले सीतापहरणसमये, किं कुर्वन् ? पश्यन्नस्मिन्नवसरे नान्यः, कश्चित्सहायो ममास्तीति अन्तर्मुखाकारतया वीक्ष्यमाणः । कम् ? अनुजं भ्रातरम् । किमाख्यम् ? पुरुषोत्तमं लक्ष्मणम्, कथम्भूतम् ? चित्तस्थं मनोगतम् । कथम्भूतो रामः अघभिया पापभयेन दूरतो दूराद्युतोऽसङ्गतः निष्पापो निर्भयश्चेत्यर्थः, पुनः जरासन्धः जरयाऽसन्धोऽसम्बन्धो यस्य सः, वार्द्धक्याविषयः चरमाङ्गत्वात्, शरीराविकारित्वात्, मोक्षगामित्वात्तस्येति सम्बन्धः । भारतीयः–अतप्यत कोऽसौ ? जरासन्धः जरासन्धाभिधानो नारायणप्रतिकूलो विद्याधरचक्रवर्त्ती, किं कुर्वन् ? पश्यन् । कम् ? चित्तस्थमनुजं मनोगतमनुष्यम्, किमाख्यम् ? पुरुषोत्तमं नारायणम्, कस्मात् ? दूरतः दूरात् । कस्मिन् ? तस्मिन्काले शरत्समये, कथम्भूतः सन् ? युतो युक्तः, कया ? वैरामोघभिया वैरात् कंसस्य स्वभागिनेयस्य वधसमुत्पन्नात् अमोघा चासौ भीश्च वैरामोघभीस्तया वैराप्रतिहताशङ्कयेति ।

तथेति–कथम्भूतो रामः ? ख्यातः प्रसिद्धः क्व ? कौ भुवि, किं कुर्वन् ? श्वासयन् धीरयन्, कम् ? तं प्रसिद्धं विराधितं खरदूषणनिर्द्धाटितं चन्द्रोदरपुत्रम्, कथम् ? तथा तेनैव लक्ष्मणस्मरणप्रकारेण वैरिभीमहानियमोद्यतं वैरिभ्यां खरदूषणाभ्यां भीः वैरिभीः वैरिभियां वैरिवैरे सति महानियमः खरदूषणयोर्वधघटनायां यावन्ममेष्टस्रग्वनिताचन्दनादिपरित्यागलक्षणं व्रतं वैरिभी महानियमः तत्रोद्यतस्तं तथोक्तम्, कया ? उद्युक्त्या महाविचारणया, पुनः कथम्भूतः ? रव्यंशुभावहः रवेरंशवः रव्यंशवस्तेषां भावं सत्तां स्वरूपं वा हन्तीति रव्यंशुभावहः आत्मप्रतापेनार्कप्रतापस्य जेतेत्यर्थः । दिनकरकिरणदीप्तिभृदिति ।

तस्मिन्, काले चित्त[illegible] पुरुषोत्तमम्, अनुजं दूरतः पश्यन् वै जरासंधः रामः अघभिया युतः कौ ख्यातः रव्यंशुभावहा, तथा विराधितं वैरिभी महा नियमेनोद्यतं तम् आश्वासयन् पृथ्व्याः पाताललंकान्तः श्रीगृहभूषणं प्राप्य सीताचिन्ताकुलः कार्यमालोचयन्दुखं स्थितः ।

सीताका अपहरण हो जानेके समय पुरुषश्रेष्ठ मनमोहन अनुज लक्ष्मणको दूर गया देखकर वार्द्धक्यसे परे ('चरम शरीर', युवक) रामको निश्चयसे रावणके पाप अर्थात् सीताहरणकी आशंका हो गयी थी। पृथ्वीपर विख्यात, सूर्यकी किरणोंके प्रतापके तिरस्कारक राघव, लक्ष्मणके द्वारा कथित प्रकारसे सताये गये अतएव शत्रुके भयकी समाप्तिके लिए कठोर प्रतिज्ञाओंमें बद्ध, उसको साहसके वचनोंसे समझाता हुआ, भारत भूमिसे लेकर पाताल लंका पर्यन्त लक्ष्मीके निवासभूत सीताके भूषणोंको पा कर सीताकी चिन्तामें विभोर तथापि कर्त्तव्यका विचार करता हुआ, दुखसे समय बिता रहा था।

भारतीयः—कथम्भूतो जरासन्धः ? ख्यातः प्रसिद्धः, किं कुर्वन् ? तं प्रसिद्धं कौरव्यं दुर्योधनमाश्वासयन् जरासन्धगृह्याः कौरव्या इति वचनात्। कया ? उद्युक्त्या उच्चैर्विचारणया, कथं तथा ? दूरस्थस्यापि पुरुषोत्तमस्य चित्तस्थस्यावलोकनप्रकारेण कथम्भूतं कौरव्यम् ? विराधितम्, कैः ? पाण्डवैरिति सम्बन्धो बोद्धव्यः, पुनः कथम्भूतम् ? वैरिभीमहानियमोद्यतं वैरी चासौ भीमश्च तस्य हानौ वध उद्यतं प्रतिकूलवृकोदर-प्राणत्यागव्रतोद्यमपरमित्यर्थः। कथम्भूतो जरासन्धः ? शुभावहः शुभमावहतीति शुभावहः अथवा शुभं न वहतीति सः नारायणदस्युद्व्यापादनाभिधसमल्लसया दुर्दशां वहमान इत्यर्थः।

पृथ्व्या इति—कथम्भूतो रामः ? स्थितः, कथं यथा भवति ? दुःखम्, किं कुर्वन् ? आलोचयन् अन्तर्मुखाकारतया व्यालोकमानः, किम् ? कार्यं कर्त्तव्यम्, कथम्भूतः ? सीताचिन्ताकुलः जानकीचिन्तनव्यग्रः, किं कृत्वा ? पूर्वं प्राप्य प्रविश्य, किम् ? श्रीगृहं विलासमन्दिरम्, क्व ? पातालङ्कान्तः पातालङ्कामध्ये, कथम्भूतम्, पृथिव्या मेदिन्या भूषणमलङ्कारम्। भारतीयः—कथम्भूतः जरासन्धः ? स्थितः कथं यथा ? दुःखम्, किं कुर्वन् ? आलोचयन्, किम् ? कार्यम्, कथम्भूतः ? सीताचिन्ताकुलः भूमिचिन्तया व्यग्रः केनोपायेनावनिर्मम स्थिरा भविष्यतीति स्मरणव्यग्रः, किं कृत्वा ? श्रीगृहं प्राप्य, कथम्भूतम् ? भूषणम्, पुनः कथम्भूतम् ? आललं मनोहरहरितालादिरसचित्रलिखितभित्तिकमित्यर्थः। कथम्भूतः ? कान्तः कमनीयमूर्त्तिः, पुनः पृथ्व्याः पाता रक्षकः।

अज्ञातेति—अतप्यत सन्तापेनान्वभूयत स रामः, क्व ? सौधे', कथम्भूते ? शीतेऽपि शीतलेऽपि पुनः धौते शुद्धीकृते, केन ? विधुना चन्द्रेण, किं कुर्वन् ? शत्रुं रावणं विरित्सन् संहर्तुमिच्छन्, कथम्भूतम् ? अज्ञातचरितमविदितचेष्टं खेचरविद्याभ्याससम्भूतेः, पुनः श्रीवधूहरणोद्यतं सीताहरणतत्परम्।

भारतीयः—जरासन्धः सौधेऽतप्यत, कथम्भूते सौधे ? विधुना कर्पूरेण धौते शुद्धे, किं कुर्वन् ? शत्रुं नारायणं विरित्सन्, कथम्भूतम् ? श्रीवधूहरणोद्यतं लक्ष्मीललनापहारोद्यतम्। शेषं प्राग्वत्[2] ॥१—४॥

सत्यग्रेसरसीतापहारिण्येपेत्यलोकयत् ।
यां यां तया तयारत्या दूनः परमकाष्ठया ॥५॥

अन्वय—तस्मिन्काले चित्तस्थमतुजं पुरुषोत्तमं दूरतः पश्यन् जरासंधो वैरामोघभिया युतः तथा विराधितं वैरिभीमहानियमोद्यतं तं कौरव्यम् उद्युक्त्या आश्वासयन् शुभाऽवहः ख्यातः पृथिव्याः पाता कान्तः, सीता चिन्ताकुलः कार्यम् आलोचयन् दुःखं स्थितः।

उस शरत्कालमें भी अहर्निश मनमें बसे पुरुषोत्तम नारायण रूपी शत्रुको दूरसे ही सोचकर जरासंधपर शत्रुका व्यर्थ न होनेवाला भय छा जाता था, पूर्वोक्त प्रकारसे उत्तेजित किये गये प्रमुख शत्रु भीमके विनाशकी प्रतिज्ञाके पालक कौरव राजा दुर्योधनको बड़े-बड़े आश्वासन देकर स्थिर करते हुए यद्यपि पुण्यसे विमुख तथापि ख्यात, अपने राज्यकी सुरक्षाके लिए चिन्तित, पृथ्वीके पालक रूपसे ज्ञात तथा सुन्दर वह (जरासंध) सुसज्जित तथा पूर्ण रूपसे चित्रित शोभन भवनमें पहुँचकर भावी कर्त्तव्यका विचार करता हुआ दुःखसे समय बिता रहा था ॥१-३॥

प्रतिष्ठा तथा पत्नीके हरणके लिए प्रवृत्त तथा अज्ञात शील एवं गन्तव्य शत्रुके वधके लिए उत्सुक राम चन्द्रिकासे प्लावित, सुधामय तथा शीतल वातावरणमें भी सन्तप्त हुए थे [राज्यलक्ष्मी रूपीके वधूके अपहरणके लिए तत्पर तथा अपनी आक्रमण योजना और तयारीको गुप्त रखते हुए शत्रु श्रीकृष्णजीके वधके लिए व्याकुल जरासंध कपूरसे धुले अत्यन्त शीतल राजभवनमें भी जल रहा था] ॥४॥

---

१. सुधामय इत्यर्थः चनस्थत्वात्। २. श्लेषः—अ०, ना०। सर्गेऽस्मिन्ननुष्टुप्छन्दः। ३. अग्रे सरतीत्यग्रेसरा "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः" इति टः। सतीनामग्रेसरा सत्यग्रेसरा सा चासौ सीता च सत्यग्रेसरा सीता "स्त्रीपुंनपुंसकादनूरेकार्थे स्त्रियां पुंवत्" इति पुंवद्भावः। सत्यग्रेस-प०,द०।

सतीति—हे परम उत्कृष्टविभूतिक श्रेणिक ! असौ रामः दूनः कदर्थितः, कया ? तया तया काष्ठया दिशा, कया ? अरत्या पीडया, अलोकयद् दृष्टवान् , काम् ? यां यां काष्ठाम् , कथम् ? इति वर्त्तते का ? एषा काष्ठा, कथम्भूता ? सत्यग्रेसरसीतापहारिणी सत्यग्रेसरसीतामपहरतीत्येवं शीला पतिव्रताग्रणीजानक्य-पहारिणीति ।

भारतीयः—दूनः, कोऽसौ ? जरासन्धः, कया कर्त्र्या ? तया तया सरस्या सरोवरेण, कया कृत्वा ? अरत्या, कथम्भूतया ? परमकाष्ठया परमोत्कर्षया, अलोकयत् , काम् ? यां यां सरसीम् , कथम् ? इति वर्त्तते, का ? एषा सरसी, क्व ? अग्रे पुरतः, कथम्भूता ? तापहारिणी पुनः सीता मनोज्ञा[1] ॥५॥

स्तनभारोधिकगुरुर्मध्यस्थो बलिविभ्रमः ।
तथापि साधुसंयोगात्तं न जह्रुः पुरेऽङ्गनाः ॥६॥

स्तनेति—न जह्रुः न हृतवत्यः, काः ? अङ्गनाः कामिन्यः, कम् ? तं पूर्वोक्तम् , कस्मात् ? साधु-संयोगात् , क्व ? पुरे नगरे, कथम् ? तथापि ? यद्यपि विद्यते कः ? स्तनभारः, कथम्भूतः ? अधिकगुरुः घनपीनोन्नतः, पुनः अपि विद्यते बलिविभ्रमः बलितरङ्गोल्लासः, कथम्भूतः सन् ? मध्यस्थः, यत्राधिको गुरुः शिक्षादायकः पुरुषः, यत्र च मध्यस्थो बलिविभ्रमः बलिनां विजृम्भणं मध्यगतं तत्र तत्संयोगेनान्यः कश्चिद्ब-लवान् पुरुषोऽपि पुरुषं पराजयत इति तद्वत्संयोगात् । किं रामा रामं जरासन्धञ्च शत्रुजयचिन्ताकुलितं जह्रुः ? अपि तु न जह्रुरित्यनेन रामायणापेक्षया रावणपराजयमन्तरेण भारतीयकथापेक्षया नारायणपराजयमन्तरेण रामजरासन्धाभ्यां रमणीकर्पूरादि न रोचते स्मेति भावः ॥६॥

मत्तवारणमारुह्य सन्दशन्दशनच्छदम् ।
जातु भ्रूभङ्गविक्षेपमीक्षाञ्चक्रे दिगन्तरम् ॥७॥

मत्तेति—स रामः जातु कदाचित् भ्रूभङ्गविक्षेपं यथा तथा दिगन्तरमीक्षाञ्चक्रे ददर्श, किं कुर्वन् ? मत्तवारणं बालाणकमारुह्य दशनच्छदमोष्ठं दशन् सन् ।

भारतीयः—मत्तवारणं मत्तदन्तिनम् , शेषं समम् ॥७॥

कदाचित्कृतनेपथ्यं स तुरङ्गमधिष्ठितः ।
उपरुद्धः क्षणं तस्थौ तैः सुमित्रात्मजादिभिः ॥८॥

सती शिरोमणि सीताका इधर अपहरण हुआ होगा इस विचारसे रामने जिस-जिस दिशाको खोजा, उस-उस दिशाने उनको शोकसे संतप्त किया था ।

अन्वय—एषा सती सरसी अग्रे तापहारिणी इति यां यां अवलोकयत्............।

यह सुन्दर झील पहिले संतापको दूर करती थी इस दृष्टिसे जरासंध जिस-जिस पर गया उसी-उसीने अन्तिम सीमाको प्राप्त अरतिका दुःख दिया था ॥ ५ ॥

उस राम अथवा जरासंधके मनको नगरमें अत्यन्त उन्नत स्तनभारवती तथा त्रिवलियुक्त कटिधारिणी स्त्रियाँ इसलिए नहीं हरण कर सकी थीं कि ये राम-जरासन्ध क्रमशः साधुओंकी संगतिमें तथा साध्यकी पूर्तिमें लीन थे ॥ ६ ॥

क्रोधसे ओंठोंको चबाते हुए राम जंगली हाथीपर चढ़कर भ्रकुटी टेढ़ी करके कभी-कभी समस्त दिशाओंको खोजते थे । [जरासंध राजभवनके छज्जेपर खड़ा होकर कृष्णजी-की दिशामें देखता था] ॥ ७ ॥

---

१. श्लेषः—इ०, ना० ।

कदाचिदिति—स रामः क्षणं मुहूर्त्तं सुमित्रात्मजादिभिः लक्ष्मणविराधिताद्यैरुपरुद्ध आवृत्तः सन् तस्थौ स्थितः, कथम्भूतः ? अधिष्ठितः आरूढः, कम् ? तुरङ्गमश्वम् । कथम्भूतम् ? कृतनेपथ्यं विहितभूषणम् ।

भारतीयः—सुमित्रात्मजादिभिः सुमित्राः शोभनानि मित्राणि येषां ते, ते च आत्मजादयश्च तैरुपरुद्धः । शेषं समम्[1] ॥८॥

कल्याणनिक्कणा वीणा श्रुती नृत्यं विलोचने ।
हरिचन्दनमप्यङ्गं तानि तस्य न पस्पृशुः ॥९॥

कल्याणेति—कल्याणनिक्कणा वीणा तस्य नरेन्द्रस्य श्रुती कर्णौ तथा नृत्यं विलोचने, तथा हरिचन्दनम् अङ्गम् इत्थं तानि वस्तूनि न पस्पृशुः ॥९॥

प्रौढे मन्त्रिणि तद्राज्यं प्राज्यं क्षिप्त्वा विराधिते ।
भोगेषु विरतोऽरातिघातदीक्षामुपाददे ॥१०॥

प्रौढ इति—भोगेषु ताम्बूलमाल्यादिषु विरक्तो विरक्तो रामोऽरातिघातदीक्षाम् उपाददेऽङ्गीचकार । किं कृत्वा ? तद्राज्यं पाताललङ्कायाः राज्यं विराधिते चन्द्रोदरपुत्रे क्षिप्त्वा, कथम्भूते ? प्रौढे अजय्ये, पुनः मन्त्रिणि हेयोपादेयतत्त्वविवेचके, कथम्भूतं राज्यम् ? प्राज्यं सर्वाङ्गपरिपूर्णम् । जरासन्धपक्षे—अविराधिते अविरोधिते[2] ॥१०॥

अन्यदा साहसगतेर्विधातेन सदागतः ।
उद्धूतभूपरागेण विलोलितगृहाश्रमः ॥११॥
उत्सन्नगौरवकुलः पुंनागोल्लासवर्जितः ।
निरन्तरवितापात्मा निजभूमहिमोज्झितः ॥१२॥
येन श्रीरुद्धता मुक्ताफलसङ्घातपत्रजा ।
तेन श्रीवृक्षमात्रेण किञ्चिदालक्षितोदयः ॥१३॥
उद्गिरन्निव सन्तापमभ्यग्रामन्दमाकुलम् ।
सुग्रीवोपेतदारं तं नृपतिं शुचिरायर्यौ ॥१४॥

अन्यदेति—चतुष्कुलकेन व्याख्यास्यामः । सुग्रीवो नाम विद्याधरचक्रवर्ती तं प्रसिद्धं नृपतिं रामम् आययावागतः, कथम्भूतः ? विलोलितगृहाश्रमः विलोलितः परित्याजितः गृहाश्रमो गृहस्थधर्मो यस्य सः,

---

कभी-कभी राम सुसज्जित घोड़ेपर (सीताजीको खोजनेके लिए) चढ़ते थे तो सुमित्राके पुत्र लक्ष्मणजी, भील आदिके द्वारा रोके जानेपर क्षण भरके लिए रुक जाते थे। [सुन्दर वेश-भूषायुक्त रंगस्थलीमें बैठा जरासंध भी हितैषी मित्रों और पुत्रादिसे घिर जानेपर क्षण भरके लिए शान्त होता था] ॥ ८ ॥

आनन्ददायक ध्वनि करती वीणाका राग इनके कानतक न पहुँचता था, नृत्य आँखोंको न रुचता था और हरिचन्दनका लेप भी उसके शरीरको न छूता था ॥ ९ ॥

विलासादिसे विरक्त रामने वयस्क अथवा अनुभवी, मंत्र विचारमें दक्ष, चन्द्रोदरके पुत्रको शत्रु रावणका सर्वाङ्गपूर्ण लंकाका राज्य देकर प्रतिज्ञा कर ली थी। [जरासंधने भी अनुकूल गामी, गम्भीर तथा मंत्रीको द्वारकाका समृद्ध राज्य देकर शत्रुभूत नारायणके घातकी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिए ताम्बूलादि छोड़ दिये थे] ॥ १० ॥

जिसका कोई अवरोध नहीं कर सकता था उस साहसगति (सुग्रीव) का राजाके

---

१. श्लेषः—ब०, ना०। २. एष श्लोकः प०द० मुद्रित पुस्तकेषु "मत्तवारण" इति श्लोकात्पूर्ववर्ती।
३. श्लेषः—ब०, ना०।

केन ? विघातेन उपघातेन, कथम्भूतेन ? उद्धूतभूपरागेण उद्धूतः भूपस्य रागो येन तेन, कस्य ? साहसगतेः विकटसुग्रीवस्य, कथम्भूतस्य साहसगतेः ? सदागतेरप्रतिहतशासनस्य, कदा ? अन्यदाऽन्यस्मिन्नहनि । भारतीयः—शुचिर्ग्रीष्मस्तं नृपतिं जरासन्धमाययौ । कथम्भूतः ? विलोलितगृहाश्रमः विलोलिताः गृहाः मन्दिराण्याश्रमास्तपस्विनां वसतयः मठादयो येन सः, केन ? सदागतेर्वातस्य विघातेनोपप्लवेन, कथम्भूतेन ? उद्धूतभूपरागेण उद्धूतः भुवः परागो येन तेनोत्क्षिप्तभूमिरेणूत्करेणेत्यर्थः । कथम्भूतस्य सदागतेः ? साहसगतेः शीघ्रं प्रवर्त्तमानस्य, अन्यदाऽन्यस्मिन्काले ।

उत्सन्नेति । कथम्भूतः ? उत्सन्नगौरवकुलः उत्सन्नं गौरवं यस्य तत्कुलं यस्य स ध्वस्तमाहात्म्यवंशः, पुनः कथम्भूतः ? पुन्नागानां प्रधानपुरुषाणामुल्लासेन आनन्देन वर्जितः, पुनः निरन्तरवितापात्मा अहोरात्रसन्तापात्मा पुनः निजभूमिहिमोज्झितः आत्मीयपृथिवीमाहात्म्यपरित्यक्तः । भारतीयः—कथम्भूतः शुचिः ? उत्सन्नगौरवकुलः उत्सन्नाः शुष्काः गौरवकुलाः यत्र सः, पुनः पुन्नागोल्लासवर्जितः, पुन्नागानां वृक्षविशेषाणामुल्लासेन पल्लवितकुसुमितभावलक्षणेन वर्जितः दूरीकृतः, पुनर्निरन्तरवितापात्माऽन्तरान्निष्क्रान्तो निरन्तः स चासौ रवितापः सूर्यतापः, तद्रूप आत्मा स्वरूपं यस्य सः पुनः निजभूमहिमोज्झितः निजः स्वाभाविकः भूमा बाहुल्यं यस्य तन्निजभूम निजभूम च तद्धिमं निजभूमहिमं तेनोज्झित उत्सृष्टः, तस्य विश्वस्मिन् सन्तापविधायिस्वरूपत्वात् ।

येनेत्यादि—कथम्भूतो राजा ? आलक्षितोदयः आलक्षित उदयो यस्य सः । कथम् ? किञ्चित्स्वल्पं यथा, केन कृत्वा ? श्रीवृक्षमात्रेण श्रीवृक्षो नाम दक्षिणस्तनोपरि शुभलाञ्छनविशेषः श्रीवृक्ष एव मात्रं परिमाणं श्रीवृक्षमात्रत्तेन, येन श्रीवृक्षमात्रेण मुक्ता परित्यक्ता, का ? श्रीः लक्ष्मीः, कथम्भूता ? उद्धता उल्बणा पुनः फलसङ्घातपत्रजा फलानां भोगोपभोगलक्षणानां सङ्घातः फलसङ्घातः फलसम्पत्तिः, पत्राणि गजतुरगादीनि तेभ्यो जाता, अथवा येनोद्धताऽतिशयेन विध्वस्ता, का ? श्रीः शोभा, कथम्भूता ? मुक्ताफलसङ्घातपत्रजा मुक्ताफलानां सङ्घो यत्र तन्मुक्ताफलसङ्घं मुक्ताफलसङ्घञ्च तदातपत्रञ्च मुक्ताफलसङ्घातपत्रं तस्माज्जाता । भारतीयः—कथम्भूतः शुचिः ? किञ्चिदालक्षितोदयः किञ्चिदालक्षित उदयो जन्म यस्य सः, केन ? तेन श्रीवृक्षमात्रेण पिप्पलवृक्षपरिमाणेन, येन श्रीवृक्षमात्रेण मुक्ता, का ? श्रीः शोभा, कथम्भूता ? उद्धतोत्कटा, पुनः फलसङ्घातपत्रजा फलवृन्दपल्लवजा ।

उद्गिरन्नित्यादि—सुग्रीवो राममाययौ । कथम् ? अभ्यक् सम्मुखम्, कथम्भूतम् ? दमाकुलं दण्डनीतिव्यग्रं पुनः अपेतदारम् अपहृतकलत्रम्, कथम्भूतः सुग्रीवः ? शुचिरकुटिलः किं कुर्वन्निव ? सन्तापमुद्गिरन्निव वमन्निव । भारतीयः—शुचिः जरासन्धमाययौ सन्तापमुद्गिरन्निव । कथम्भूतं सन्तापम् ? अभ्यग्रमभ्यग्रमन्दमभ्यग्रश्चासावमन्दश्च तम् अभिनववेगम्, कथम्भूतम् ? आकुलं व्यग्रं पुनः सुग्रीवोपेतदारं सुग्रीवाभिरुपेताः दाराः कलत्राणि यस्य तम्[1] ॥११-१४॥

अकस्मात् उत्पन्न क्रोधके द्वारा विनाश होनेपर गृहस्थाश्रमसे उदासीन अपने वंशकी गरिमासे हीन, श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा संगतिसे रहित, दिनरात मन ही मन जलता, अपने ही राज्यमें प्रभावहीन सूचित जिसके द्वारा लक्ष्मी, विपुल भोगोपभोग, गजतुरंग, आदि रूप होती है उस अकेले श्रीवृक्ष (दक्षिण स्तनपरके चिह्न) के द्वारा ही जिसके प्रतापका कुछ-कुछ आभास मिलता था वह शुद्धाचार-युक्त सुग्रीव, आत्मसंतापको उगलता हुआ-सा दण्डनीतिकी योजनामें लीन, पत्नीसे बिछुड़े राजा रामके सामने एक दिन उपस्थित हुआ था ।

अत्यन्त तीव्रगति वायुके विरूप हो जाने तथा उड़ती हुई धूलके कारण गृहों तथा आश्रमोंको व्याकुल करता और बकुलादि पुष्प फलोंका विनाशक, पुन्नागादि वृक्षोंके विकास हीन, सर्वदा गर्मी ही गर्मी फैलाता, अपने प्रतापसे शीतका उन्मूलक, फलसमूह तथा पत्रोंकी शोभाके विस्तारक केवल पीपलके वृक्षके द्वारा ही जिसके प्रतापका कुछ आभास मिलता है ऐसा ग्रीष्म काल अभिनव तथा उग्र उष्णताका वमन करता हुआ सुन्दर ग्रीवाधारिणी स्त्रियोंसे घिरे राजा जरासंधके सम्मुख आया था ॥ ११-१४ ॥

---

1. श्लेषः—ब०, ना० ।

निपीड्यासनमावेद्य स्वं साहसगतिं तथा।
प्रवृद्धमायासमयं स प्रतापमपप्रथत् ॥१५॥

निपीड्येति–स सुग्रीवः साहसगतिं विद्याधरविटसुग्रीवमपप्रथत् प्रथयामास। किं कृत्वा? स्वं सुग्रीवोऽहमित्यात्मानं निवेद्य निरूप्य, किं कृत्वा? आसनं विष्टरं निपीड्य उपविश्य, तथाऽपप्रथत्, कम्? साहसगतेः प्रतापम्, कथम्भूतम्? प्रवृद्धमायासमयं प्रवृद्धो मायासमयो यस्य स तं विस्तारितकौटिल्यकालम्।

भारतीयः–तथा तेनागमनप्रकारेणैवापप्रथत्। कोऽसौ? स शुचिः, कम्? प्रतापम्, कस्य? स्वस्येति सम्बन्धो ज्ञेयः। कथम्भूतं प्रतापम्? प्रवृद्धं प्रौढिमन्तम्, पुनः कथम्भूतम्? आयासमयमायासेन निर्वृत्तः आयासमयस्तम्, किं कृत्वा? आवेद्य प्रकटयित्वा, कम्? स्वम्, कथम्भूतम्? साहसगतिं साहसी गतिर्यस्य तम्, किं कृत्वा? पूर्वं निपीड्य पीडयित्वा, किम्? आसनं बीजवृक्षम् अत्र जात्यपेक्षयैक-वचनम्[1] ॥१५॥

जातं रणरणोपेतं सांराविणमितस्ततः।
प्रभञ्जनोद्यतं तस्य महाघातकरं महत् ॥१६॥

जातमिति–जातम्, किम्? सांराविणं सामस्त्येन ध्वनितम्, कथम्? इतस्ततोऽत्र तत्र, कस्य? तस्य साहसगतेः, कथं सांराविणम्? रणरणोपेतं शस्त्रध्वनिसंयुक्तं पुनः प्रभञ्जनोद्यतं विध्वंसनसंयुक्तम्, पुनः कथम्भूतं जातम्? महाघातकरं महद्विनाशकरं पुनः महद्गरिष्ठम्।

भारतीयः–तस्य ग्रीष्मस्य रणरणोपेतं शब्दानुगतशब्दोपेतं प्रभञ्जनोद्यतं महावातकृतं महाघातकरमूष्मा-तिशयेन हर्षविनाशकरम् ॥१६॥

मज्जनेषु मनो गूढं विपरीतजलात्मसु।
प्रकृत्या यः पुरस्तेषां समापातयदङ्गिनाम् ॥१७॥

'मज्जनेष्विति–तेषामङ्गिनाम् प्राणिनां पुरोऽग्रेसरः, यः सुग्रीवविटः प्रकृत्या स्वभावेन विपरीतजलात्मसु धर्म्यपथविरुद्धजडात्मसु मज्जनेषु[2] मदयन्ति। 'मदी हर्षग्लेपनयोः'। तेषु जनेषु, गूढं मनः समापातयत्स-मासक्तवान्।

भारतीयः–प्रकृत्या पुरः पुरो महान् यो ग्रीष्मस्तेषामङ्गिनां प्राणिनां मनो गूढं निबिडं यथा स्यात्तथा, विपरीतजलात्मसु पक्षिव्याप्तवारिपूर्णेषु, मज्जनेषु वाप्यादिस्नानस्थानेषु ॥१७॥

पूर्वोक्त प्रकारसे कुटिलताके जाल-द्वारा किये गये अपने सिंहासन और प्रतापके पराभवको कहकर उसने साहसगतिको रामके पास भेजा था। [उक्त प्रकारसे बीज-वृक्षोंको सुखाकर अपनी उग्रगतिका परिचय देते हुए ग्रीष्म ऋतुने अत्यन्त कष्टकारक अपने आतपको फैला दिया था] ॥ १५ ॥

उस (साहसगति) का प्रताप शस्त्रोंकी झंकारयुक्त, इधर-उधर चर्चाका विषय, विध्वंसके लिए तत्पर तथा अहंकारको चूर करता सिद्ध हुआ था। [ग्रीष्मका साँय-साँय करता, शोरपर शोर मचाता, आँधीके रूपमें कार्यशील और मस्तीको हवामें मिलाता रूप होता है] ॥ १६ ॥

उन शरीरधारियोंमें श्रेष्ठ उस साहसगतिने धर्ममार्गसे विपरीत, विवेकहीन तथा अहंकारी नागरिकोंमें प्रच्छन्न रूपसे अपना अभिमत सहज ही फैला दिया था। [प्रकृतिमें प्रधान उस ग्रीष्म ऋतुने समस्त संसारके प्राणियोंके मनोंको पक्षियोंसे व्याप्त जलाशयोंमें मज्जन करने के लिए अत्यन्त झुका दिया था] ॥ १७ ॥

---

१. श्लेषः–ब०, मा०। २. मुद्रितप्रतिमनुसृत्य। ३. मदयन्तीति मदः ते च जनाश्च तेषु।

उच्चैरंहाः प्रतापेन कालः साक्षाद्भयानकः ।
तथा मेयं पुरं देशं विश्वं विषमयोजयत् ॥१८॥

[१]उच्चैरिति–उच्चैरंहा विपुलवेगः साक्षात्काल इव भयानकः प्रतापेन विषमयो गरलमयो यः विश्वमयोपम् अमेयं पुरं नगरं देशं विषयम् अजयत् ।

भारतीयः–अयोजयत्प्रेरयामास, कोऽसौ ? कालः ग्रीष्मसमयः, किम् ? पुरं नगरं विषं जलम् । मुख्यामुख्यया द्विकर्मिक क्रिया देशं तथा विश्वं लोकं किम् ? विषं जलम्, कथम् ? अमेयं गणनातीतम्, कथम्भूतः कालः ? उच्चैरंहा अतिवेगः, पुनः भयानकः, केन ? प्रतापेन, कथं साक्षात् परमार्थवृत्त्येति ॥१८॥

उत्तुङ्गश्यामलकुचा तेन रम्या प्रियालकैः ।
वनाधिदेवता लक्ष्मीः सर्वेषां पश्यतां हृता ॥१९॥

उत्तुङ्गेति–हृतापनीता, काऽसौ ? प्रिया भार्या, केन ? तेन साहसगतिना, केषां सताम् ? सर्वेषां खेचराणां भूचराणाञ्च, किं कुर्वतां सताम् ? पश्यतामीक्षमाणानाम् असमर्थतया निभाल्यतामित्यर्थः, कथम्भूता प्रिया ? लक्ष्मीः पुनर्वनाधिदेवता पुनरुत्तुङ्गश्यामलकुचा उत्तुङ्गौ पीनौ श्यामलौ कुचौ यस्याः सा, पुनः रम्या मनोहारिणी, कैः ? कुटिलकेशैः ।

भारतीयः–हृता, का ? वनाधिदेवतालक्ष्मीः वनाधिदेवतेव लक्ष्मीः, केन ? तेन कालेन, कथम्भूता ? उत्तुङ्गश्यामलकुचा उत्तुङ्गाः श्यामलकुचा वृक्षविशेषा यस्याः सा, पुनः कथम्भूता ? प्रियालकैश्चारै रम्या । सर्वमन्यत् प्राग्वत् ॥१९॥

चन्दनस्यन्दसान्द्राङ्गी मल्लिकामालभारिणी ।
तारेन्दुवदना बाला सापि तेनोपतापिता ॥२०॥

चन्दनेति–उपतापिता संक्लेशिता, का ? सापि बाला मुग्धवधूः किमाख्याता ? तारा तारेति नामधेया, केन ? तेन साहसगतिना, कथम्भूता ? चन्दनस्यन्दसान्द्राङ्गी श्रीखण्डलेपलिप्ताङ्गी पुनः मल्लिकामालभारिणी, मल्लिकामालां बिभर्त्तीति एवं शीला मल्लिकामालभारिणी पुनरिन्दुवदना चन्द्रमुखी ।

भारतीयः–सापि बाला तेन शुचिना उपतापिता । "बालेत्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम् । कथम्भूता ? तारेन्दुवदना शारदचन्द्रानना ॥२०॥

साकूतोच्छ्वसिताचर्यं महिषी सकलाकुला ।
सुभृङ्गारार्यतापाङ्गविभ्रमार्त्तं जलाशयम् ॥२१॥

अत्यन्त तीव्र गति, प्रतापमें साक्षात् यमके समान भयंकर, निस्सीम और विषमय साहसगतिने नगर, देश तथा विश्वको ही जीत लिया था । [लम्बे-लम्बे दिनों युक्त अथवा धूपयुक्त, सर्वथा तापके कारण यमके समान भीषण ग्रीष्म ऋतुने नगर, देश और सृष्टिको अपरिमित जलकी ओर लगा दिया था] ॥ १८ ॥

उस साहसगतिने समस्त विद्याधरोंके सामने ही ऊँचे-ऊँचे श्यामल कुचधारिणी, सुन्दरी, वनकी देवी रूप तथा साक्षात् लक्ष्मी प्रियाका बाल पकड़कर अपहरण किया था । [सबके देखते-देखते ही ग्रीष्मने ऊँचे-ऊँचे श्यामलकुच वृक्षोंसे बढ़ी तथा संचारके द्वारा रमणीय देवीके समान वनकी शोभाका अपहरण किया था] ॥ १९ ॥

चन्दनके लेपसे देहको पोते, मल्लिकाके फूलोंकी मालासे सजी तथा चन्द्रमुखी उस बाला ताराको भी साहसगतिने कष्ट दिया था । [ग्रीष्मने चन्दनका लेपधारिणी मल्लिका फूलोंसे ढँकी शरत्कालीन चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखधारिणी बालाओंको गर्मीसे व्याकुल कर दिया था] ॥ २० ॥

---

१. मुद्रितप्रतिमवलम्ब्येयं व्याख्या दत्ता ।

साकुलेति—हे आर्य अकृत चकार, का ? सा महिषी पट्टराज्ञी तारेति प्रसिद्धनामधेया । कम् ? तं साहसगतिम्, कथम्भूतम् ? वश्यमात्मवशवर्तिनम्, कथम्भूतम् ? जलाशयं मूढमित्यर्थः । कस्मात् ? तापाङ्गविभ्रमात् तापाङ्गस्य विशेषेण विभ्रमणात्, 'अत्र कामावस्था सूचिता' । कथम्भूता ? उच्छ्वसिता प्राणिता, पुनः कथम्भूता ? सकला कलाभिः सह वर्तमाना, पुनराकुला व्यग्रा, पुनः सुशृङ्गारा प्रशस्तभूषणा ।

भारतीयः—आरार्यंत गतवती; काऽसौ ? महिषी सैरिभी, कम् ? जलाशयं सरोवरम्, कथं यथा भवति ? अपाङ्गविभ्रमात्तं कटाक्षविक्षेपकोडीकृतम् ? कथम्भूता ? कृतोच्छ्वसिता कृतमुच्छ्वसितं यया सा, कथं यथा भवति ? अवश्यमनात्माधीनम्, पुनः कथम्भूता ? सकला समस्ता, पुनराकुला पुनः सुशृङ्गा प्रशस्तविषाणा ॥२१॥

सैकतेषु प्रियोपेता न तत्सञ्चारभीरवः ।
सञ्चरन्ति सराजीषु निबद्धा राजहंसकाः ॥२२॥

सैकतेष्विति—न सञ्चरन्ति न प्रवर्तन्ते । के ? राजहंसकाः राजहंसानां नृपप्रधानानां समूहाः, केषु ? सैकतेषु, कथम्भूताः ? प्रियोपेताः कामिनीयुताः, पुनः कथम्भूताः ? तत्सञ्चारभीरवः साहसगतिप्रवर्तनभीति-युक्ताः, पुनः कथम्भूता ? सराजीषु निबद्धाः कन्दर्पशरसायकयन्त्रिताः ।

भारतीयः—राजहंसकाः मरालाः सैकतेषु शैवलेषु न सञ्चरन्ति स्म, कथम्भूताः ? प्रियोपेताः वरटायुताः, पुनः कथम्भूताः ? तत्सञ्चारभीरवः ग्रीष्मविजृम्भणत्रस्ताः, पुनः राजीषु श्रेणीषु निबद्धाः नियमितगात्राः । शेषं सुगमम् ॥२२॥

लोको वितपमानेन तप्तस्तेन गृहं गृहम् ।
अनुप्रवेशं निभृतमध्यास्तेहितकाङ्क्षया ॥२३॥

लोक इति—लोको जनः, अध्यास्ते तस्थौ, किं कृत्वा ? गृहं गृहं मन्दिरं मन्दिरं निभृतं निश्चलं यथा तथा, ईहितकाङ्क्षया मनोवाञ्छया अनुप्रवेशं प्रविश्य कथम्भूतः सन् ? तप्तः क्लेशितः ; केन ? वितपमानेन दीप्यमानेन तेन साहसगतिना ।

भारतीयः—अध्यास्ते, कोऽसौ ? लोकः, किं कृत्वा ? पूर्वमनुप्रवेशं प्रविश्य; किम् ? गृहं गृहम्, कथं यथा भवति निभृतम्, कया ? हितकाङ्क्षया सुरताभिलाषेण, कथम्भूतः सन् ? वितपमानेन आत्मना ज्वलता तेन शुचिकालेन तप्तः सन्[1] ॥२३॥

मातरिश्वैकवृत्तेऽस्मिन्कालान्तरवितापिनी ।
तस्थौ नाथहरिकुलं निलीनं वृक्षकुक्षिषु ॥२४॥

समस्त कलाओंमें प्रवीण, व्याकुल तथा जोरोंसे साँस लेती समीचीन शृंगारवती उस पटरानी ताराने भी विवेकहीन साहसगतिको कटाक्ष डालकर वशमें कर लिया था। [गर्मीसे शरीर मूर्छित हो जानेके कारण, सुन्दर सींगधारिणी व्याकुल तथा जोरसे हाँफती समस्त भैंसोंको उसने उस तालाबके वशमें कर दिया था ॥ २१ ॥

साहसगतिके अकस्मात् आगमनकी शंकासे भीत, श्रेष्ठ राजा लोग अपनी प्रेयसियोंके साथ समुद्र अथवा नदीके पुलिनोंपर नहीं घूमते थे यद्यपि कामदेवसे युद्धमें बन्दी हो चुके थे। [गर्मीके प्रसारसे भयभीत हंस भी हंसियोंके साथ पुलिनपर नहीं निकलते थे। वृक्षपंक्ति आदिके नीचे ही छिपकर बैठे रहते थे] ॥२२॥

प्रबल प्रतापी साहसगतिके द्वारा सताया गया लोक उसके आनेके तुरन्त बाद ही अपने-अपने घरमें छिपकर बैठते थे क्योंकि इसीमें उनका कल्याण था। [ग्रीष्म ऋतुसे तपाया गया मनुष्य भी प्रवेश करनेके बाद अपने स्वास्थ्य और सुखकी दृष्टिसे घरमें ही धूपसे बचकर बैठता है] ॥२३॥

---

१. श्लेषः—ब०, ना० ।

मातरीति–हे नाथ हे स्वामिन् राम, निलीनं प्रविष्टम्, किम् ? हरिकुलम्, कासु ? वृक्षकुक्षिषु, कथम्भूतम् ? तप्तं सन्तप्तम्, क्व सति ? अस्मिन् साहसगतौ मातरि स्वजनन्यां विषये श्वैकवृत्ते शुन इवैकं वृत्तं यस्य स तस्मिन् सति, कथम्भूते ? कालान्तरवितापिनि कालान्तरे वितपत इत्येवं शीलः स तस्मिन् समया-न्तरविलपनशीले ।

भारतीयः–नाथ हरिकुलं बलीवर्दसमूहः वृक्षकुक्षिषु विषये तप्तं सन्तप्तं सद्विलीनम् । क्व सति ? अस्मिन्शुचिसमये सति, कथम्भूते ? मातरिश्वैकवृत्ते मातरिश्वनिभायाविकं वृत्तं यस्य तस्मिन्, पुनः कथम्भूते ? कालान्तरवितापिनी कालौ वर्षाशिशिरौ तयोरन्तः पर्यन्तः कालान्तस्तस्मिन्यो रविः सूर्यः तस्य तापोऽस्त्यस्मि-न्निति कालान्तरवितापी तस्मिन्[1] ॥२४॥

परोत्तापनशीलस्य पांसुलस्य चितौजसः ।
दुर्वृत्तं दुःसहं तस्य दुर्जनस्येव लक्षितम् ॥२५॥

परेति–तस्य साहसगतेः दुर्वृत्तं दुश्चेष्टितं दुसहं सोढुमशक्यं लक्षितं ज्ञातम् । कस्येव ? दुर्जनस्येव, कथम्भूतस्य ? परोत्तापनशीलस्य पुनः पांसुलस्य पारदारिकस्य पुनश्चित्तौजसः दुष्टपराक्रमस्य ।

भारतीयः–तस्य शुचिसमयस्य दुर्वृत्तं लक्षितम् । कथम्भूतम् ? दुःसहम्, कस्येव ? दुर्जनस्येव, कथम्भूतस्य शुचिसमयस्य ? परोत्तापनशीलस्य, पुनः पांसुलस्य धूलिग्राहिणः पुनश्चित्तौजसः दुष्टतेजसः । अन्यत्समम् ॥२५॥

गृहवापीषु सोपानपंक्तयस्तस्य तापतः ।
पानीयपथसञ्चारैर्विमुक्ताः प्रतिवासरम् ॥२६॥

गृहेति–पानीयपथे सञ्चारो येषाम्, जलहारिणां मनुष्याणां तैः, सोपानपङ्क्तयः, विमुक्ताः परित्यक्ताः, कासु ? गृहवापीषु प्रासादक्रीडादीर्घिकासु, कस्मात् ? तस्य साहसगतेः तापत उपद्रवात्, कथं यथा भवति ? प्रतिवासरं दिनंदिनम् ।

भारतीयः–पानीयपथसञ्चारैः कल्लोलैः, तस्य शुचिसमयस्य तापतः सन्तापात् शोषणलक्षणात्, शेषं पूर्ववत् ॥२६॥

विहाय स्वानि सद्मानि तत्प्रचारविशङ्कया ।
दिनं गमितवन्तोऽन्ये वनदुर्गेषु निद्रया ॥२७॥

दूर देश तथा समय तक कष्ट दाता तथा अपनी माताके साथ भी कुत्तेके समान आचरणकर्त्ता इसके द्वारा सताया गया हरिवंश पेड़ोंके तनोंमें छिप गया है ।[आँधी रूपी प्रकृतिधारक तथा अन्य समय भी तपानेवाले इस ग्रीष्म ऋतुसे त्रस्त बैलोंका समूह पेड़ोंकी छायामें जा बैठा है] ॥२४॥

उस साहसगतिका दुष्ट आचरण दुर्जनके समान दुखसे सहने योग्य है क्योंकि दूसरोंको कष्ट देना ही उसका स्वभाव है; परस्त्री गमनके पापमें रत है तथा पराक्रमका अनीतिमें ही उपयोग कर रहा है । [अत्यन्त तपनसे जलानेवाले, धूलबहुल तथा कष्टकर तेजस्वी ग्रीष्म ऋतुका स्वभाव भी दुर्जनके समान होनेसे असह्य होता है] ॥२५॥

दिनों दिन बढ़ते साहसगतिके उपद्रवोंके कारण जलमार्गसे चलनेवालोंने अपने नौकादि आरोहणोंको घरकी बावड़ियोंमें छोड़ दिया था । [जलमार्गपर उठती लहरोंने घरकी बावड़ियोंकी सीढ़ियोंको प्रतिदिन पानी सुखाये जानेके कारण छोड़ दिया था] ॥ २६ ॥

---

१. श्लेषः–ब०, ना० ।

विहायेति–अन्ये वनदुर्गेषु निद्रया प्रतिदिनं गमितवन्तः। किं कृत्वा? स्वानि सद्मानि गृहाणि विहाय परित्यज्य तत्प्रचारविशङ्कया साहसगतिप्रवर्त्तनभीत्या।

भारतीयः–तत्प्रचारविशङ्कया शुचिसमयविजृम्भणभयेन्। समव्याख्यानम् ॥२७॥

सन्तापवद्दिनं जातं निशा कृशिमयोजिनी।
अहो प्रतापो यत्तस्य बाधानिष्ठं दिवानिशम् ॥२८॥

सन्तापवदिति–दिनं सन्तापवत्सन्तापयुक्तं, जातम्, तथा निशा रात्रिः कृशिमयोजिनी कृशिमानं योजयत्येवंशीला जाता, अहो आश्चर्यं वर्त्तते, कः? तस्य साहसगतेः प्रतापः, यत् किम्? दिवा च निशा च दिवानिशमहोरात्रम्, कथम्भूतम्? बाधानिष्ठं पीडातत्परम्, अत्र तस्योपद्रवोद्रेकात् क यामि किं करोमीत्यहोरात्रचिन्ताकुलत्वं लोकस्य प्रदर्शितम्।

भारतीयः–दिनं सन्तापवत् सन्तापकं जातं तथा निशा कृशिमयोजिनी कृशिम्ना युज्यत इत्येवं शीला कृशिमयोजिनी कृशतया युक्तेत्यर्थः। अहो चित्रम्, एवं तस्य शुचिसमयस्य वर्त्तते यद्दिवानिशं लोकानां बाधानिष्ठमासीत्। अत्र जातिव्यावर्णनम् ॥२८॥

उद्दीपितोऽर्यमायाभिर्निजप्रकृतिभिर्जनम्।
अतापयदसावेवं तीव्राणां हीदृशी गतिः ॥२९॥

उद्दीपित इति–हे अर्य स्वामिन्, एवमुक्तप्रकारेणासौ साहसगतिः निजप्रकृतिभिः जनं लोकमतापयत्; कथम्भूतः? मायाभिः कौटिल्यैरुद्दीपितः हि युक्तम्, ईदृशी गतिर्वर्तते। केषाम्? तीव्राणामिति।

भारतीयः–एवमुक्तप्रकारेणाऽसौ शुचिसमयः जनमतापयत्। काभिः? निजप्रकृतिभिरात्मीयस्वभावैः, उद्दीपितः, कः? अर्यमा सूर्यः, ही कष्टम् अन्यत्समम् ॥२९॥

तथावस्थं तमालोक्य तथा च क्रीडनोचितम्।
रिपुमुद्राधितुं पापच्छिद्रामोघधियोद्यतः ॥३०॥

तथेति–असौ रामो राघवः रिपुं शत्रुमुद्राधितुं व्यापादयितुमुद्यतः, कया कृत्वा? शत्रुरयमिति कृत्वा, अवधियाऽघे धीरघधीस्तया अवधिया, कथम्भूतः सन्? पापच्छित् पापं छिनत्तीति स तथोक्तः, किं कृत्वा? पूर्वमालोक्य, कम्? तं तथावस्थं सुग्रीवं तथा चालोक्य, कम्? तं रिपुं साहसगतिं तथावस्थं परकलत्रापहरणदुष्टं पुनः क्रीडनोचितं जनोपप्लवेन खेलनयोग्यम्।

साहसगतिके आक्रमणके भयसे कितने ही राजा लोग अपने महलोंको छोड़कर जंगलों अथवा किलोंमें क्या सोकर दिन बिताते थे? अर्थात् जंगल या किलेमें भी जागते-जागते उनका समय जाता था। [गर्मीके उग्ररूप धारण करनेके भयसे बहुतसे लोग अपने घरोंको छोड़कर घने वनोंमें जाकर सोते-सोते दिन बिताते थे] ॥२७॥

उस साहसगतिका प्रचण्ड प्रताप ऐसा था जो दिनरात लोगोंको कष्ट देता था। दिन भर सन्ताप रहता था तो रातमें चिन्तासे शरीर और प्राण सूखते रहते थे। [आश्चर्य है कि ग्रीष्मका प्रचार दिनरात बाधा करता था क्योंकि दिन तपाता था और रात छोटी हो गयी थी] ॥२८॥

हे आर्य! अपने मायावी स्वभावके कारण अत्यन्त रुद्र (निर्दय) यह साहसगति प्रजाको सब प्रकारसे कष्ट दे रहा था। [अत्यन्त जलता यह सूर्य अपने इस उग्र स्वभावके द्वारा संसारको तपा रहा था] ठीक ही है निर्दय अथवा उष्माशीलोंका ऐसा ही आचरण हो सकता है ॥२९॥

पापविनाशक राम अनर्थ बढ़ने की आशंकासे इस प्रकार दुर्गतिको प्राप्त सुग्रीवको देखकर तथा चक्रधारीके द्वारा सर्वथा पीडन करने योग्य शत्रु साहसगति का नियंत्रण या

भारतीयः—असौ जरासन्धः, तं रिपुमुद्राधितुमुद्यतः, कया कृत्वा? पापच्छिद्रामोघधिया पापच्छिद्रेष्व-प्रतिहतबुद्धया, किं कृत्वा? तं शुचिसमयम् आलोक्य, कथम्भूतम्? तथावस्थं लोकबाधाकरं तथा आलोक्य, कम्? तं रिपुम्, कथम्भूतम्? ईड्योचितं स्तुतियोग्यम्[1] ॥३०॥

पश्यन्निव पुरः शत्रुमुत्पतन्निव खं मुहुः।
निगिलन्निव दिक्चक्रमुद्गिलन्निव पावकम् ॥३१॥
संहरन्निव भूतानि कृतान्तो विहरन्निव।
ग्रीष्माग्न्यर्कपदार्थेषु चतुर्थ इव कश्चन ॥३२॥
प्रमत्तानेकपालोलमुच्चैरथ निरन्तरम्।
प्रचण्डतरसामन्तं द्विषो दण्डमयोजयत् ॥३३॥

अधुना श्लोकत्रयमयोजयदित्यनया क्रियया व्याकुर्मः। पश्यन्निवेति—असौ रामो राघवः दण्डं दण्ड-नीतिमयोजयत्प्रेरितवान्, किं कुर्वन्निव? पुरोऽग्रतः शत्रुं पश्यन्निव निरीक्षमाण इव, गगनमुत्पतन्निव उत्पत-मान इव, दिक्चक्रं दिशां चक्रवालं गिलन्निव निर्मूल्य गिलन्निव, पावकं दहनमुद्गिलन्निव उद्गरन्निव, संहरन्संहारविपर्यीकुर्वन्, कः कानीव? कृतान्तो यमः भूतानि जन्तुजातानीव, किं कुर्वन्निव? विहरन्निव प्रवर्त्तमान इव, क इवोत्प्रेक्षितः? चतुर्थ इव, कश्चन कोऽपि, केषु मध्ये? ग्रीष्माग्न्यर्कपदार्थेषु शुचिज्वलन-दिवाकरपदार्थेषु त्रिषु मध्ये—अथ शब्दः प्रकारान्तरसूचकः, कथ्यते। अयोजयत्, कोऽसौ? रामः। कम्? दण्डं दण्डनीतिम्; कस्य? द्विषः शत्रोः, कथम्भूतं दण्डम्? अमन्तं रोगवन्तम्, केन हेतुना? प्रचण्डतरसा तीव्रवेगेन, कथम्? निरन्तरम्; कथम्? अलमत्यर्थम्। अमन्तमित्यस्य प्रयोगस्य भावः कथ्यते—रामेण प्रयो-जिता दण्डनीतिमहर्निशं चिन्तयन्तः शत्रवो रोगिणो जायन्त इति भावः। कथम्भूतो रामः? प्रमत्तानेकपालः "तलप्रत्य[2]यस्तसादिषु वर्त्तते, तेनायमर्थः—अहमित्यस्य भावो मत्ताः प्रकृष्टा मत्ता येषां ते प्रमत्ताः क्षत्रियोऽहं क्षत्रियोऽहमित्यहमहमिका निष्ठा इत्यर्थः। प्रमत्ताश्च तेऽनेकाश्च (के च) प्रमत्तानेकाः (के) प्रमत्तानेकान्पा-लयतीति प्रमत्तानेकपालः, कथम्? उच्चैः अतिशयेन, अथवाऽजयत्, कोऽसौ? रामः; कान्? द्विषः शत्रून् कथं यथा भवति? अन्तं प्राणत्यागं यथा, कथम्भूतो रामः? दण्डमयो नीत्यात्मक इत्यर्थः। पुनः कम्भूतः? उच्चैर्महान्, केषाम्? प्रचण्डतरसां प्रचण्डं तरो वेगो येषां ते प्रचण्डतरसः तेषां प्रचण्डतरसां तीव्रवेगानाम्, पुनः प्रमत्तानेकपालः प्रमत्तान् प्रमादिनो जनाननेकानपायात्पालयतीति प्रमत्तानेकपालः, कथम्? निरन्तरं कथम् अलमिति।

विनाश करनेके लिए उद्यत हो गया था। [पाप तथा छिद्रोंके अन्वेषणमें सर्वथा सफल जरासन्ध गर्मीके इस उग्र रूपको देखकर स्तुति करने योग्य चक्रवर्ती शत्रु (कृष्ण) का विरोध करनेमें लग गया था] ॥३०॥

मानो शत्रुको सामने ही खड़ेके समान देखते हुए बारम्बार आकाशमें उचकता समान, समस्त दिशाओंको निगलता हुआ सदृश, घूमते हुए शरीरधारी यमके समान, आगको उगलता हुआ सा, समस्त प्राणियोंके संहारमें लीनके समान; ग्रीष्मऋतु, अग्नि और सूर्य पदार्थों-से भी बढ़कर किसी दाहक चौथी वस्तु के समान—अत्यन्त स्वाभिमानी अनेक क्षत्रियोंके प्रतिपालक अथा दण्डनीतिके पारंगत रामने अपने प्रतापके ही कारण रोगी शत्रुको निर्बाध, प्रबल तथा सतत प्रचण्ड वेगके साथ पराजित कर दिया था। [जरासंधने मदोन्मत्त हाथियों-से तरंगित, रथोंकी भीड़के कारण घनी तथा अत्यन्त उद्धत सामन्तोंसे पूर्ण सेनाको शत्रुकी ओर भेज दिया था] ॥३१-३३॥

---

1. श्लेषः—ब०, ना०। 2. तलप्रत्ययस्य तसादिपाठेन विभक्तिसंज्ञत्वादस्मदो मदादेश इति भावः।

भारतीयः पक्षः–असौ जरासन्धः द्विषः शत्रोः दण्डं सैन्यमयोजयत्। कथम्भूतम्? प्रमत्तानेकपालोलं प्रमत्तानेकपा लोला यत्र तं प्रक्षीबगजेन्द्रचञ्चलं पुनरुच्चैरथनिरन्तरमुच्चैर्महान्तो रथा निरन्तरा अविच्छिन्नाः यस्मिन्तम् पुनः प्रचण्डतरसामन्तं प्रचण्डाः सामन्ताः क्षत्रियविशेषा यत्र तम्[1] ॥३१॥३३॥

अधिष्ठितोऽस्त्रविद्याभिर्वीरश्रीलक्ष्मणान्वितः।
विजजृम्भे तमुद्देशं विक्षेपो व्याप्य विद्विपः ॥३४॥

अधिष्ठित इति–विजजृम्भे प्रज्वलति स्म, कोऽसौ? रामः, किं कृत्वा? पूर्वमुद्देशमुद्दिश्य, कम्? तं साहसगतिम्, किं कृत्वा? पूर्वं व्याप्य स्वप्रतापेन प्रच्छाद्य, कान्? द्विपः शत्रून्, कथम्भूतो रामः? विक्षेपः विगतः क्षेपः कालगमनिका यस्य सः, परित्यक्तकालयापन इत्यर्थः। पुनरस्त्रविद्याभिः "त्रिविधमस्त्रं यन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं पाणियुक्तञ्च। विद्याः शास्त्राणि अस्त्राणां विद्या अस्त्रविद्याः ताभिरधिष्ठितः समाश्रितः, पुनः वीरश्रीलक्ष्मणा वीरश्रियोपलक्षितो यो लक्ष्मणस्तेनान्वितः।

भारतीयः–विक्षेपो दण्डः विजजृम्भे; किं कृत्वा? पूर्वमुद्देशमुद्दिश्य, कम्? तं नारायणम्, किं कृत्वा? पूर्वं व्याप्य; कान्? विद्विपः कथम्भूतः सन्? अधिष्ठितः, काभिः? अस्त्रविद्याभिः पुनः वीरश्रीलक्ष्मणा जयलक्ष्मीचिह्नेनान्वितः[2] ॥३४॥

वज्रावर्तं धनुर्मित्रमिवाकृष्य निपीडितम्।
तं नातिसन्दधे को वा नम्रात्मा व्यभिचारकः ॥३५॥

वज्रेति–नातिसन्दधे नमति स्म, किं तत्कर्तृ? धनुः, कम्? तं रामम्, किमाख्यं धनुः? वज्रावर्तं वज्रावर्त्तनामधेयम्, कथम्भूतम्? निपीडितम्, किं कृत्वा? पूर्वमाकृष्य, किमिव नातिसन्दधे? मित्रमिव, युक्तमेतत् को वा नम्रात्मा व्यभिचारकः व्यभिचारी स्यात्, अपि तु न।

भारतीयः–नातिसन्दधे वञ्चति स्म, किं कर्तृ? धनुः; कम्? तं दण्डम्, कथम्भूतम्? वज्रावर्तं वज्रस्येवावर्त्तः पुलकं यस्य तद्वज्रावर्त्तम्, कथम्भूतम्? निपीडितम्, किं कृत्वा? पूर्वमाकृष्य, किमिव? मित्रमिव। शेषं सुगमम् ॥३५॥

समासवदसौ लोपं दाहं मदनबाणवत्।
विध्वंसघटनां राहुरिव कर्तुं समुद्यतः ॥३६॥

समासेति–असौ रामः लोपं कर्तुं समुद्यतः, क इव? समास इव तथा दाहम्, क इव? मदनबाणवत् कन्दर्पशर इव, तथा विध्वंसघटनां विनाशयोजनाम्, क इव? राहुरिव विधुन्तुद इव।

पहिले शत्रुओंको प्रतापसे आतंकित करके बादमें उस साहसगतिको लक्ष्य बना कर शास्त्र तथा नीति विद्याके प्रामाणिक विद्वान्, वीरोंकी शोभाभूत लक्ष्मणजी द्वारा अनुगत तथा एक भी क्षण नष्ट बिना किये आगे बढ़ते राम आगे बढ़े जा रहे थे। [समस्त शत्रुओंको आक्रान्त करके अस्त्रविद्याओंसे परिपूर्ण, वीर लक्ष्मीके चिन्होंसे युक्त जरासंध की सेनाका आक्रमण कृष्णको लक्ष्य बनाकर बढ़ता जा रहा था] ॥३४॥

खींचकर चढ़ाया गया (आलिंगन किया गया) वज्रावर्त नामका प्रसिद्ध धनुष मित्रके समान आगे झुक गया। उचित ही है कौन शिष्ट पुरुष धोखा देता?

वज्रके समान पुलकयुक्त सेनाको; बलपूर्वक घसीटकर सताये गये मित्रके समान धनुषने धोखा दिया था, क्योंकि कौन उद्दण्ड व्यक्ति ऐसा है जो विश्वासघात न करता हो। ॥३५॥

यह राम अथवा जरासन्धकी सेना व्याकरणके समासके समान लोप (विनाश)

---

1. श्लेषः– ब०, ना०। २. श्लेषः–ब०, ना०।

भारतीयः—असौ दण्डः समुद्यतः । व्याख्या प्राग्वत् ॥३६॥

अस्त्राणि यन्त्रमुक्तानि तस्मिन्देशे समन्ततः ।
निर्घाता इव निष्पेतुर्घोरसंहारहेतवः ॥३७॥

अस्त्राणीति—तस्मिन् किष्किन्धाख्ये देशे अस्त्राणि चक्रादीनि समन्ततः सामस्त्येन निष्पेतुः पतितानि, कथम्भूतानि ? घोरसंहारहेतवः तीव्रक्षयकारणानि, क इव ? निर्घाता इव अशनय इव ।

भारतीयः—देशे सौराष्ट्राभिधे । शेषं समम् ॥३७॥

कलत्रपुत्रमित्राणि गृहीत्वा तत्र ते जनाः ।
यथायथं पलायन्त भावि भद्रं हि जीवितम् ॥३८॥

कलत्रेति—ते नागरिकाः जनाः, यथायथं यदृच्छया पलायन्त । किं कृत्वा ? कलत्रपुत्रमित्राणि समादाय, क्व ? तत्र किष्किन्धाख्ये देशे, हि युक्तमेतत्, किं तत् ? जीवितम्, कथम्भूतं स्यात् ? भद्रं कल्याणम्, कथम्भूतं सत् ? भावि ।

भारतीयः—तत्र सौराष्ट्रे देशे । शेषं समम्[1] ॥३८॥

ततो बलेन बाल्येऽपि सहजेन कृतायतिः ।
सर्वार्जुनमयोदात्तनायकाभरणान्वितः ॥३९॥
परदारग्रहाविष्टः स्पष्टमायोजितायुधः ।
दिव्यान्वयोऽत्र सुग्रीवरूपः कोपारुणेक्षणः ॥४०॥
कृत्वोच्चैरथवेगेन केशवख्यातिसंयतिम् ।
निर्ययौ साहसगतिः स भीमः संयुगं प्रति ॥४१॥

अधुना त्रिकलेन व्याख्यायते ॥ तत इति—ततः किष्किन्धाख्यनगरात् संयुगं प्रति स साहसगतिः निर्ययौ । कथम्भूतः सन् ? कृतायतिः विहितप्रसिद्धिः ? केन ? बलेन सामर्थ्येन, कथम्भूतेन ? सहजेनाकृत्रिमेण, क्व ? बाल्येऽपि बाल्यावस्थायामपि, पुनः सर्वार्जुनमयोदात्तनायकाभरणान्वितः सर्वाणि समस्तान्यर्जुनमयानि हाटकनिर्मितान्युदात्तनायकानि उदात्तो दीप्त्योत्कटः नायको मध्यमणिर्येषां तानि च तान्याभरणानि तैरन्वितः । भारतीयः—केशवः ततो द्वारकायाः सकाशान्निर्ययौ, कथम्भूतः सन् ? कृतायतिः विहितोत्तरकालफलः, क्व ? बाल्येऽपि शैशवेऽपि, केन सह निर्ययौ ? सहजेन बन्धुना बलेन बलभद्रेण । पुनः कथम्भूतः ? सर्वार्जुनमयोदात्तनायकाभरणान्वितः सर्वे समस्ताः, अर्जुनो हेतुर्येषां तेऽर्जुनमयाः, सर्वे च तेऽर्जुनमयाश्च सर्वार्जु-

कामदेवके बाणके समान तपन (हरन) और राहुके समान विनाश (चन्द्रमाके अंशका ग्रास) करनेमें प्रयत्नशील हो गया था ॥३६॥

उस किष्किन्धा अथवा सौराष्ट्र देशमें चारों ओरसे यन्त्रोंके द्वारा चलाये गये तथा भयंकर संहार करते हुए शस्त्र वज्रपातके समान गिर रहे थे ॥३७॥

उस देशमें समस्त नागरिक अपनी स्त्री, बच्चे तथा मित्रोंको साथ लेकर जैसे बन पड़ा भाग खड़े हुए थे। भविष्यकी कल्याणमय कल्पना पर ही जीवन आश्रित है यह इस पलायनसे स्पष्ट है ॥३८॥

अपने स्वाभाविक बलके कारण बाल्यावस्थामें ही प्रसिद्ध हुआ, विशुद्ध सोनेसे पूरेके पूरे बने उदात्त नायकके आभूषणोंको धारे हुए, सुग्रीवकी पत्नी ताराको रखनेके लिए कदाग्रही, स्पष्ट ही मायाचारी, शस्त्रोंके द्वारा जीतने योग्य विद्याधर कुलमें उत्पन्न, आंशिक

1. अर्थान्तरन्यासः—ब०, ना० ।

नमयाः, ते च त उदात्तनायकाश्च सर्वार्जुनमयोदात्तनायकास्त एवाभरणानि तैरन्वितः।

पुनः कथम्भूतः ? परदाराग्रहाविष्टः परदारेष्वाग्रहः इमां तारां सुग्रीवपत्नीं भोक्ष्यामीति दुरभिनिवेशस्तेनाविष्टः पुनः स्पष्टमायः स्पष्टा प्रव्यक्ता माया कौटिल्यं यस्य स तथोक्तः पुनः जितायुधोऽभ्यस्तशस्त्रः, पुनः दिव्यान्वयः दिवि यान्तीति दिव्या विद्याधराः, दिव्यानामन्वयो यस्य स दिव्यान्वयः पुनः सुग्रीवरूपः ईषत्सिद्धः सुग्रीवः सुग्रीवः सुग्रीवरूपरूपधारीत्यर्थः, क्व ? अत्र किष्किन्धानगरे पुनः कोपारुणेक्षणः क्रोधलोहितलोचन इति। भारतीयः—पुनरपि कथम्भूतः केशवः ? परदाराग्रहाविष्टः शत्रुविदारणाङ्गीकारयुक्तः पुनरायोजितायुध आयोजितान्याल्मसात्कृतान्यायुधानि तोमरादीनि येन सः, पुनः दिव्यान्वयः प्रशस्तान्वयः यादवान्वयः पुनः सुग्रीवरूपः प्रशस्यरेखात्रयान्विता ग्रीवा यस्मिंस्तद्रूपं यस्य सः, क्व ? अत्र लोके। स साहसगतिः संयुगं प्रति सङ्ग्रामं...... निर्ययौ।

किं कृत्वा ? केशवस्त्रातिसंयतिं कृत्वा केशवस्त्रयोरतिसंयतिः केशवस्त्रातिसंयतिस्ताम्, अतिशयेन केशवस्त्रयोर्बन्धनं कृत्वेत्यर्थः। केन ? वेगेन जवेन पुनः भीमो भयानकः। कथम् ? उच्चैरतिशयेन। अथशब्दो मङ्गलवाची यद्वाऽथयानामनेकार्थत्वात्, तेनायमर्थः-मङ्गलानि पुरस्सराणि कृत्वा निर्ययौ। भारतीयः—केशवो नारायणः, उच्चै रथवेगेन स्यन्दनजवेन संयुगं प्रति निर्ययौ, किं कृत्वा ? त्रातिसंयतिं कृत्वा सन्नाहबन्धनं विधाय। कथम्भूतः ? साहसगतिः-साहसं सन्नाहं यत्र नाहं न भाय (वाऽ) य मिति प्रत्ययः। साहसे भवा साहसी साहसी गतिः प्रवर्त्तनं यस्य सः पुनः सभीमः वृकोदरयुतः[1] ॥३९-४१॥

निषेकदिवसः कच्चिदुपालिङ्गन्नु किञ्चन।
प्राणिनामपमृत्युः स्विदिति लोकं विशङ्कयन् ॥४२॥
आलीढपदविन्यासमध्यमध्युषितं जगत्।
अमंस्तोपनतं विश्वं सहसाकृष्टकार्मुकः ॥४३॥

त्रिकलमधुना युगलेनाह-निषेकेति-साहसगतिरमंस्त, किं कुर्वन् ? लोकं विशङ्कयन् संशयं नयन्, कथमिति ? कच्चित् कोमलामन्त्रणे, अहो वर्त्तते निषेकदिवसो मृत्युदिनं न्वहो किञ्चनोपालिङ्गन् स्विदपमृत्युरकालमरणं वर्त्तते, केषाम् ? प्राणिनामिति। असौ साहसगतिः जगदमंस्त मन्यते स्म, कथम्भूतम् ? आलीढपदविन्यासमध्यमध्युषितमालीढस्थानान्तरालं निविष्टम्, कथम्भूतं जगत् ? उपनतमनुपक्रमायातम्, पुनः विश्वं समस्तम्, कथम्भूतः साहसगतिः ? आकृष्टकार्मुक आरोपितचापः।

भारतीयः-असौ केशवः। शेषं समम् ॥४२-४३॥युग्मम् ॥

ऋजूपकारिनिर्व्याजं कृच्छ्रेष्वव्यभिचारिणम्।
स मित्रमिव निर्दोषं दूरं चिक्षेप मार्गणम् ॥४४॥

सिद्धिका पात्र, क्रोधसे लाल लाल आँखें किये, बालों तथा वस्त्रोंको भलीभाँति बाँधे हुए वह भीषण साहसगति युद्ध करनेके लिए अत्यन्त वेगशील रथपर झटकेसे निकला था [सगे भाई ......के द्वारा बाल्यावस्थामें ही भावी पुण्यका संचय कर्त्ता, अर्जुन आदि समस्त धीरोदात्त नायक ही जिसके भूषण हैं, शत्रुओंके विनाशकी घोर प्रतिज्ञासे अभिभूत, शस्त्रों तथा उनके संचालनमें सर्वोपरि, प्रशस्त वंशमें उत्पन्न, त्रिबलि युक्त सुन्दर ग्रीवाधारी, क्रोधके कारण रक्तनेत्र, साहसके साथ गम्भीर गति तथा भीमसे अनुगत कृष्ण सन्नाहको पहिनकर तीव्रगतिवाले रथके द्वारा युद्धकी तरफ चल दिये थे] ॥३९-४१॥

क्या मृत्युका दिन ही सबका आलिंगन कर रहा है ? अथवा क्या मनुष्य मात्रकी अकाल मृत्यु ही चली आ रही है इस प्रकारकी शंकामें लोक पड़ गया था। पास पास पड़े पैरोंके बीचके स्थानमें ही पूर्ण विश्वको दबाता हुआ और चापको चढ़ाते ही वह साहसगति अथवा केशव सारे विश्वको पराजित मानते थे ॥४२-४३॥

1. श्लेषः-भ०, मा०।

ऋज्विति—स साहसगतिः निर्दोषं छिद्रमलवर्जितं निशितमित्यर्थः, दूरमत्यर्थम्, ऋजूपकारिनिर्व्याजं ऋजुः प्राञ्जलः, उपकार्युपकारकः, निर्व्याजः निश्छलः, स च स च स च तं तथोक्तम्, कृच्छ्रे ध्वव्यभिचारिणं समीपगं मार्गणं शरं चिक्षेप, किमिव ? एतल्लक्षणं मित्रमिव सुहृदं यथा ।

भारतीयः—असौ केशवः । शेषं समम् ॥४४॥

कोटिशः कुञ्जरबलं शरपञ्जरमध्यगम् ।
रामभद्रं जनोऽद्यापि वनस्थितमिवैक्षत ॥४५॥

कोटिश इति—असौ जनः, तं रामभद्रं राघवमद्यापि साम्प्रतमपि वनस्थितमिवैक्षत ददर्श, कथम् ? कोटिशः कोट्या-कोट्या कोटिशः "सङ्ख्यैकाद्वीप्सायाम्" [जै. सू. ४।२।४८] इति शस् । कोटिकोटिसङ्ख्या-परिमितो जनः, कथम्भूतम् ? कुञ्जरबलं कुञ्जराणामिव बलं यस्य तं नागबलमित्यर्थः, कथम्भूतं सन्तमैक्षत जनः ? वनस्थितमिव, शरपञ्जरमध्यगं बाणैश्छन्नमध्यगतम्, वनेऽपि कथम्भूतम् ? कुञ्जरबलं कुञ्जानि लता-दिपिहितोदराणि स्थानानि कुञ्जेषु रवं प्रतिध्वनिं लाति गृह्णातीति कुञ्जरबलं पुनः सरपञ्जरमध्यगं जलस्थान-मध्यस्थमित्यर्थः ।

भारतीयः—जनः कोटिशः कोटिकोटिपरिमितं कुञ्जरबलं गजसैन्यमैक्षत वनस्थितमिव कथम् ? अद्यापि, कथम्भूतम् सत् ? शरपञ्जरमध्यगं पुनः कथम्भूतम् ? रामभद्रं रामं मनोज्ञं भद्रं सर्वलक्षणसम्पूर्णं भद्रजातीयं रामश्च तद्भद्रश्च रामभद्रमिति ॥४५॥

दष्टदन्तच्छदं बद्धभ्रूभङ्गं मुक्तहुङ्कृति ।
ग्रहाविष्टमिवानिष्टं घोरं युद्धमिहाभवत् ॥४६॥

दष्टेति—इह किष्किन्धाख्यदेशे युद्धं रणोऽभवत्सञ्जातम्, कथम्भूतम् ? दष्टदन्तच्छदम्, दष्टा-दन्तच्छदा यत्र तच्चर्वितोष्ठं पुनः बद्धभ्रूभङ्गं बद्धो भ्रूभङ्गो यत्र तद्विरचितभ्रुकुटि; पुनः मुक्तहुङ्कृति मुक्ता-हुङ्कृतिर्यत्र तन्मुक्तहुङ्कारम्, अथवा पदत्रयमेतत् क्रियाविशेषणम्, पुनः अनिष्टममङ्गलं पुनर्घोरं बीभत्सम्, किमिवोत्प्रेक्षितम् ? ग्रहाविष्टमिव ॥४६॥

अपसस्रे जनैरुस्राः सस्रेरन्तर्हिताः शरैः ।
मुक्तकेशा इवाभूवन्दिग्दारा धूमकेतुभिः ॥४७॥

अपसस्र इति—जनैः लोकैः, अपसस्रेऽपसृतम्, तथा सस्रेः सूर्यस्य उस्रा रश्मयः शरैरन्तर्हिता गूढाः, तथा दिग्दाराः दिगङ्गनाः धूमकेतुभिर्मुक्तकेशा इव अभूवन् सञ्जाताः ॥४७॥

सीधा, (उपकारक) इष्ट कार्यसाधक, लक्ष्यवेधक (निश्छल) कठिन लक्ष्यपर भी न रुकने शुद्ध धातुके बने, अतएव सच्चे मित्रसमान बाणोंको उस साहसगति अथवा केशवने दूरतक फेंक दिया था ॥४४॥

करोड़ों हाथियोंके बलके धारक तथा बाणोंके जालमेंसे जाते रामभद्रको इस युद्धके समय भी लोग वनवासी ही देखते थे [वनवासी रामकी प्रतिध्वनि कुञ्जोंसे आती थी, तथा वह जलाशयोंके बीच रहता था]

युद्धस्थलीमें खड़ी करोड़ों सुन्दर, भद्रजातिके, हाथियोंकी सेनाको बाण वर्षामेंसे गुजरनेके कारण, दर्शक जंगलमें फिरता-सा ही देखते थे ॥४५॥

किष्किन्धा अथवा सौराष्ट्र देशमें ऐसा दारुण और विनाशक युद्ध हुआ था कि योद्धा ओंठ चबा रहे थे, भृकुटियाँ टेढ़ी किये थे, ज़ोर ज़ोरसे हुंकार कर रहे थे फलतः ऐसे लगते थे कि उनपर भूत ही चढ़े हैं ॥४६॥

लोग भागते फिरते थे, सूर्यकी किरणें बाणोंके जालके पीछे छिप गयीं थीं, आकाशमें उदित धूमकेतुओंके कारण दिशा रूपी स्त्रियाँ ऐसी लगती थीं मानो बाल बिखेरे खड़ी हैं ॥४७॥

नष्टं भीतैः स्थितं धीरैः स्पष्टं दृष्टं सुरासुरैः ।
भीमेन बलरामेण गर्जितं सव्यसाचिना ॥४८॥

नष्टमिति—भीतैः भीरुभिः नष्टं पलायितं धीरैः स्थितं दृष्टं सुरासुरैः देवदानवैश्चकितमवलोकितमित्यर्थः, कथम् ? स्पष्टं प्रव्यक्तं बलरामेण बलिना रामेण गर्जितम्, कथम्भूतेन ? भीमेन भीष्मेण, पुनः सव्यसाचिना सव्यं सचत इत्येवं शीलः सव्यसाची तेन वामप्रदेशप्रणताङ्गविन्यासेनेति ।

भारतीयः—यथा नष्टम्, कैः ? भीतैः, यथा स्थितम्, कैः ? धीरैः, यथा दृष्टं चकितमवलोकितं कैः ? सुरासुरैः, कथम् ? स्पष्टम्, तथा गर्जितम्, केन ? भीमेन वृकोदरेण, तथा गर्जितम् केन बलरामेण, हलिना, तथा गर्जितम्, केन ? सव्यसाचिना अर्जुनेनेति ॥४८॥

स दुरानमकोदण्डो मायावी विद्रुतो हतः ।
न रघोराहवे जातः कुले शूरोऽपि को जयेत् ॥४९॥

स इति—विद्रुतः पलायितः कोऽसौ ? स साहसगतिः, कथम्भूतः सन् ? हतः, क्व ? आहवे संग्रामे, कथम्भूतः स साहसगतिः ? दुरानमकोदण्डः दुःखेनानमति दुरानमः स चासौ कोदण्डो यस्य सः पुनः मायावी निकारवान्, युक्तमेतत्को न जयेत् सर्वो जयेत् सर्वोत्कर्षेण प्रवर्त्तेत, कः ? शूरो वीरः, कथम्भूतः सन् ? सञ्जातः समुत्पन्नः, क्व ? कुले वंशे, कस्य ? रघोर्दशरथस्येति ।

भारतीयः—विद्रुतः पलायितः, कोऽसौ ? जरासन्धमुक्तो दण्डः सैन्यम्, कथम्भूतः सन् हतः, क्व ? नरघोराहवे घोरश्चासावाहवश्च घोराहवः नरस्य घोराहवः तत्र, अर्जुनस्य रौद्रसंग्रामे, कथम्भूतो दण्डः ? दुरानमकः दुःखेन जेतुं शक्यः, कथम्भूतः ? मायावी मायाः लक्ष्म्या आयं प्रवेशमवतीत्येवं शीलः मायावी लक्ष्म्या आगमनाभिलाषुकः, युक्तमेतच्छूरोऽपि सन् को न जयेत् रिपुभिरनभिभूतः सन् सर्वोऽपि सर्वोत्कर्षेण प्रवर्त्तत इत्यर्थः, कथम्भूतः ? कुले जातः ॥४९॥

केशवो बलदेवश्च न पौरैरेव केवलम् ।
प्रत्युद्यातस्तथा तेषां रोमाञ्चैः सञ्चितैरपि ॥५०॥

केशव इति—केशवो लक्ष्मणः बलदेवश्च रामश्च केवलं पौरैरेव नागरैरेव न प्रत्युद्यातस्तथा तेषां पौराणां रोमाञ्चैरपि पुलकितैरपि प्रत्युद्यातः कथम्भूतैः ? सञ्चितैः पुञ्जिभागतैः ।

भारतीयः—केशवो नारायणः बलदेवो रेवतीरमणः । शेषं समम् ॥५०॥

चलत्पताकामुद्धद्धतोरणां तामविक्षताम् ।
द्वारकां गोपुरद्वारैः किष्किन्धनगरीमिव ॥५१॥

भयभीत लोग भागते दिखते थे, धीर पुरुष डटे हुए थे, देव दैत्य आश्चर्यसे देख रहे थे तथा बाँयी तरफ शरीरको मोड़े बलवान् तथा भयंकर रामने गर्जना की थी [कृष्णकी तरफसे भी भयंकर भीम, बलिष्ठ बलराम तथा धनुषधारी अर्जुनने गर्जना की थी] ॥४८॥

बड़ी कठिनतासे भी धनुषको न चढ़ा सकनेके कारण निकृष्ट छलिया तथा भागता हुआ वह साहसगति युद्धमें मारा गया था । रघुके वंशमें उत्पन्न स्वयं पराक्रमी होकर भी किसको न जीतेगा ? [भगीरथप्रयत्न करनेपर भी अजेय माया (लक्ष्मी) की लोभी जरासंधके द्वारा भेजी गयी सेना अर्जुनकी घोर लड़ाईमें या तो भाग गयी थी या मार डाली गयी थी । कुलीन तथा स्वयमेव योद्धाके लिए कौन अजेय है ?] ॥४९॥

लक्ष्मण अथवा कृष्ण और बलदेव राम अथवा बलरामकी अगवानी केवल क्रमशः किष्किन्धा अथवा सौराष्ट्रके नागरिकोंने ही न की थी अपितु सारे शरीरमें उठे उनके रोमाञ्चोंने भी इनका स्वागत किया था ॥५०॥

चलदिति—रामलक्ष्मणौ, अथवा रामसुग्रीवौ किष्किन्धनगरीमविक्षतां प्रविष्टौ, कैः कृत्वा ? गोपुरद्वारैः, कथम्भूताम् ? चलत्पताकां वातान्दोलितध्वजाम्, पुनरुद्धतोरणामूर्ध्वीकृतवन्दनमालिकाम्, कामिव ? द्वारकामिव ।

भारतीयः—नारायणबलदेवौ द्वारकामविक्षताम्, कामिव ? किष्किन्धनगरीमिव । शेषं सर्वं प्राग्वत् ॥५१॥

सुग्रीवः सपदि पराक्रमेण कन्यां
वैकुण्ठः परिहृषितः शुभां सुभद्राम् ।
कल्याणीं स बहुमतो जितारयेऽस्मै
दित्सन्नक्रमत तथा धनञ्जयाय ॥५२॥

इति श्री धनञ्जयकृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये मायासुग्रीवनिग्रहजरासन्धबल-
विद्रावणं नाम नवमः सर्गः ॥९॥

सुग्रीव इति—सुग्रीवः अस्मै रामाय कन्यां पुत्रीं दित्सन् दातुमिच्छन् अक्रमत प्रवर्त्तते स्म, कथम्भूताय रामाय ? जितारये पराभूतशत्रवे तथा धनं दित्सन्, दातुमिच्छन्, किमर्थम् ? जयाय जयनिमित्तम्, कथम्भूतां कन्याम् शुभां शुभलक्षणाम्, पुनः सुभद्रां शोभनानि भद्राणि कल्याणानि यस्यास्ताम्, किमाख्यां कन्याम् ? कल्याणीं कल्याणीनामधेयाम्, कथम् ? शीघ्रं सपदि, कथम्भूतः सुग्रीवः ? कुण्ठः मन्दः, केन ? पराक्रमेण प्रतापेन, कथम् ? वै स्फुटम्, कथम्भूतः ? परिहृषितः प्रहृष्टः, पुनः बहुमतः बहूनां नीलनलजाम्ब-वदादीनां मतं यस्य सः ।

भारतीयः—वैकुण्ठो नारायणः सुभद्रां कन्यां कुमारीं जितारयेऽस्मै धनञ्जयायार्जुनाय दित्सन्नक्रमत, कथम्भूतां कन्याम् ? शुभां कल्याणीं कल्याणहेतुत्वात्, कथम्भूतो वैकुण्ठः ? सुग्रीवः शोभना यथोक्तलक्षण-लक्षिता ग्रीवा कन्धरा यस्य सः, पुनः बहुमतः, बहूनां मत इष्ट इति ॥५२॥

इति श्रीनिरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्र-
पण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिका-
चकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदी नाम दधानायां टीकायां मायासुग्रीव-
निग्रहजरासन्धबलविद्रावणं नाम नवमः सर्गः ॥९॥

राम लक्ष्मणने द्वारकापुरीके समान किष्किन्धापुरीमें गोपुरोंसे प्रवेश किया था। गोपुरके ऊपर पताकाएँ फहरा रही थी तथा बन्दनवार बँधी हुई थी। [बलराम और कृष्णने किष्किन्धापुरीके समान द्वारकापुरीके मुख्य द्वारसे प्रवेश किया था] ॥५१॥

निश्चित ही रामके पराक्रमसे आश्चर्यचकित, अत्यन्त प्रसन्न, तथा नल-नील-जाम-वन्तादिका मान्य वह सुग्रीव शत्रुओंके जेता इस रामके साथ शुभ लक्षणवती, अत्यन्त योग्य तथा भोली-भाग्यवती लड़कीका विवाह करनेकी इच्छासे इसकी [illegible] विजयके लिए तुरन्त ही धन देनेके कार्यमें लग गया था। [निश्चित ही अर्जुनके पराक्रमपर परम प्रसन्न, सबका पूज्य, सुन्दर ग्रीवाधारी वैकुण्ठ (कृष्ण) भाग्यवती, शुभ सुभद्रा नामकी कन्या (बहिन) को शत्रुके जेता इस धनञ्जयको ब्याहनेकी इच्छासे तैयारीमें लग गया था ॥५२॥

इति निर्दोषविद्याभूषण भूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पंडित विनयचन्द्र
गुरुके प्रशिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाचातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र द्वारा
विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान
काव्यकी पदकौमुदी टीकामें 'मायासुग्रीवनिग्रह जरासन्धबल-
विद्रावण' नामका नवम सर्ग समाप्त।

दशमः सर्गः

अन्यदा रसमिवैक्षवं वचश्चित्तहारि हरिवंशनायकम् ।
दण्डगर्भमपि भोगलोलुपं कोप्युपेत्य पुरुषोत्तमोऽवदत् ॥१॥

अन्यदेति—अन्यदाऽन्यस्मिन्नहनि पुरुषोत्तमः लक्ष्मणः हरिवंशनायकं सुग्रीवं प्रति वचो वचनमवदत् उवाच । कथम्भूतं वचः ? चित्तहारि हृदयङ्गमम् ,पुनः दण्डगर्भमपि दण्डप्रधानं कोपि कोपनशीलम् , किं कृत्वा ? उपेत्य समीपमागत्य, कमिव ? ऐक्षवमिक्षुविकारं रसमिव निर्यासमिव, कथम्भूतं हरिवंशनायकम् ? भोगलोलुपं स्रक्चन्दनादिषु लम्पटम् ।

भारतीयः—अन्यदा कोऽपि पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तमनामा दूतः भोगलोलुपं हरिवंशनायकं नारायणमुपेत्य वचोऽवदत् । कथम्भूतं वचः ? ऐक्षवं रसमिव, पुनः कथम्भूतम् ? दण्डगर्भमपि दण्डमिश्रितमपि[१] ॥१॥

श्रीमतां श्रुतवतां कुलजानां त्वय्युपस्कृतमिदं न तु दृष्टम् ।
सत्यमुन्नतिमतां हि गुरूणां मेरुरेव विकृतो न कदाचित् ॥२॥

श्रीमतामिति—न तु दृष्टम् नावलोकितम्, किं तत् ? इदं प्रत्यक्षगोचरमुपस्कृतं वैकृतम् , क्व त्वयि विषये त्वय्येव, केषां मध्ये ? श्रीमतां धनेश्वराणां तथा श्रुतवतां ज्ञानिनां तथा कुलजानां महान्वयानामुन्नतिमतामुच्चैस्तराणाम् 'अत्रेदं तात्पर्यम्—यथा तुङ्गानां कुलाचलानां सतां मेरुरेव विकृतो न कदाचिद्दृश्यते तथा धनेश्वराणां शास्त्रवतां कुलीनानाञ्च सतां त्वमेवेति । एतेन सुग्रीवे[२] नारायणे च विद्याभिजनवृत्तं व्याख्यातम्[३] ॥२॥

यौवनं तव न वैकृतं गतं मन्मथोऽपि समभावमास्थितः ।
त्वं परं युवजरन्गुणानिमानापवादपदवीमजीगमः ॥३॥

यौवनमिति—हे युवजरन् तरुणानां मध्ये वृद्ध न गतम् । किम् ? तद्यौवनं प्रथमं वयः, किं न गतम् ? वैकृतं विक्रियाम् । कस्य ? तव, तथा मन्मथोऽपि समभावमास्थितः ? कन्दर्पोऽपि भवन्तं विक्रियां न नीतवान् इत्यर्थः ? तथा चोक्तम्—"ये दीनेषु दयालवः स्पृशति यानल्पोऽपि न श्रीमदः व्यग्रा ये च परोपकारकरणे

किसी दिन भोग-विलासोंमें लीन वानरवंशके नेता राजा सुग्रीवके पास जाकर मर्यादा पुरुष लक्ष्मणने इक्षुके रसके समान मनको मोहले, दण्डनीतिसे व्याप्त तथा क्रोधके कारण वचन कहे थे । [दूसरे समय किसी पुरुषोत्तम नामके दूतने सांसारिक सुखोंके जुटानेके इच्छुक यदुवंश शिरोमणि कृष्णके पास जाकर सुननेमें इक्षुरसके समान मनमोहक तथापि दण्डमिश्रित सूचना दी थी] ॥१॥

लक्ष्मीपतियों, शास्त्रोंके पण्डितों, उच्चकुलोंमें जात पुरुषों, वास्तवमें अभिवृद्धिको प्राप्त महापुरुषोंकी विक्रियासे हे वानरराज ! अथवा हे नारायण ! आपमें कोई विकृति नहीं दिखायी देती है अर्थात् आप इन सबसे श्रेष्ठ हैं । ठीक ही अन्य पर्वतोंमें विकृति होने पर भी मेरुमें कभी कोई विकार नहीं होता है ॥२॥

आपका यौवन कभी भी विकृतिको प्राप्त नहीं हुआ है । आपका कामदेव भी संयत

---

१. रथोद्धतावृत्तम् , लक्षणं हि—"रान्नराविह रथोद्धता लगौ" (वृ० र० ३।३९) ।

२. लक्ष्मणे न सुग्रीवे पुरुषोत्तमे न नारायणे च द्विधा—द० ।

३. स्वागतावृत्तम् । लक्षणं हि—"स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्मम्" । (वृ० र० ३।४०) ।

हृष्यन्ति ये याचिताः । स्वस्थाः सन्ति च यौवनोदयमहाव्याधिप्रकोपेऽपि ये, ते भूमण्डलमण्डनैकतिलकाः सन्तः कियन्तो जनाः" तथा इमान् शौण्डीर्यादीन् गुणान् अपवादपदवीं निन्दाविषयं नाजीगमः न नीतवान्[1] ॥३॥

सद्‌गुणास्तव नृपैः सुगृहीतास्ते तथापि न भवन्ति भवद्वत् ।
तोयदाः खलु जलं जलधीनां बिभ्रतोऽपि न तथापि गम्भीराः ॥४॥

सद्‌गुणा इति-तथापि न भवन्ति न जायन्ते । के ? ते नृपा राजानः, क इव ? भवद्वत् भवत्सदृशाः । यद्यपि सुगृहीताः सम्यक्प्रकारेणाङ्गीकृताः । के ? सद्‌गुणाः अनन्यसम्भाविनः शस्त्रशास्त्रादिपरिज्ञानलक्षणाः, कैः ? नृपैः नरेन्द्रैः, कस्य ? तव भवतः, युक्तमेतत्, तथापि तोयदाः जलधराः गम्भीराः न स्युः, यद्यपि तोयदा इति लौकिकीं रूढिं प्रौढिं आरूढास्तोयदाः । किं कुर्वाणा अपि ? बिभ्रतोऽपि दधाना अपि, किम् ? जलम्, केषाम् ? जलधीनां समुद्राणाम्, कथम् ? खलु निश्चयेन[2] ॥४॥

त्वं हिमाद्रिरपि तां सरस्वतीं त्वं रविश्च कमलाकरग्रहम् ।
त्वं विधुश्च भुवनाभिनन्दथुं धत्थ इत्थमपरो न कश्चन ॥५॥

त्वमिति-धत्थः धरथः, कौ ? त्वं भवान् हिमाद्रिरपि तुहिनगिरिश्च युवाम्, काम् ? तां सरस्वतीं भारतीं सरस्वतीनामधेयां नदीं च । धत्थः कौ ? त्वं रविश्च युवाम् कमलाकरग्रहं लक्ष्मीहस्तग्रहणं पद्माकरग्रहश्च । धत्थः, कौ ? त्वं विधुरिन्दुश्च युवां भुवनाभिनन्दथुं लोकाभिनन्दनम् । धत्थ इत्थमुक्तप्रकारेण । द्वौ विहाय नापरोऽन्यः कश्चन एवंविधां क्रियां दधातीति[3] ॥५॥

आश्रयस्त्वमसि सर्वलघूनां सेविता भवसि सर्वगुरूणाम् ।
छन्दसस्तव च वृत्तिमुदारां वर्णयन्ति कवयश्चरितेषु ॥६॥

आश्रय इति-त्वं सर्वलघूनामाश्रयः समस्तनिराश्रयदीनदुःखितभाग्यदूरवर्तिनामवष्टम्भोऽसि, छन्दोऽपि सर्वलघूनामेकमात्रिकाणामाश्रयो भवति । भवसि । कोऽसौ ? त्वम्, कथम्भूतः ? सेविता सेवकः, केषाम् ? सर्वगुरूणां समस्तशस्त्रशास्त्राणामव्याहततथोपदेष्टॄणाम्, तथा छन्दोऽपि सेवमानं भवति । केषाम् ? सर्वगुरूणां समस्तद्विमात्रिकाणाम् । एवञ्च भो भूपते ! वर्णयन्ति उपश्लोकयन्ति । के ? कवयः, काम् ? वृत्तिं प्रवृत्तिम्, उदारामुत्कटाम्, यस्य ? ते तव छन्दसश्च, केषु ? चरितेषु प्रस्तावोचितवार्त्तासु चरित्रेषु चेति[4] ॥६॥

रूपमें है । वास्तवमें आप श्रेष्ठ युवक तथा वृद्ध हैं और आपने कभी भी इन श्रेष्ठ गुणोंकी अख्याति नहीं होने दी है ॥३॥

संसारके राजाओंने आपके समान सद्‌गुणोंका अनुकरण किया है तथापि वे आपके सदृश नहीं हो पाये हैं । यह सत्य है बादल समुद्रोंका जल पीकर ही पुष्ट होते हैं तथापि ये वे उसकी (समुद्रकी) गंभीरताको कदापि नहीं पाते हैं ॥४॥

आप हिमाचल पर्वत होकर भी सरस्वती नदीको धारण करते हैं । [विरोध-हिमाचल समान शीतल और उन्नत होकर भी शारदाके उपासक हैं] सूर्य हैं तथापि कमल समूहके रोधक हैं [सूर्यके समान तेजस्वी हैं तथा कमला (लक्ष्मी)का हाथ पकड़े हैं] और चन्द्रमा होकर भी पृथ्वीके नन्दन (मंगल) हो [चन्द्रमा समान शान्त सुन्दर तथा पृथ्वीके आनन्दको बढ़ाते हो] इस प्रकारके परस्पर विरोधी गुणोंको कोई भी दूसरा नहीं पा सकता है ॥५॥

सब तुच्छोंके आश्रय होकर भी समस्त महापुरुषोंके सेव्य [कैसे] हो [सकते हो] । समस्त दीन दरिद्रोंकी शरण हो और सब ही महापुरुषोंके आराध्य हो । अतएव आपके चरित्रका वर्णन करते हुए कवि लोग आपके उदार स्वभावको [सर्व लघु अथवा सर्वगुरुमात्रा युक्त] छन्दोंके द्वारा प्रशंसा करते हैं ॥६॥

---

१. वृत्तं हि रथोद्धता । २. स्वागतावृत्तम् । ३. रथोद्धतावृत्तम् । ४. स्वागतावृत्तम् ।

दुर्जनेऽप्यनुनयः स्वभावतः सज्जने तु विनयो विशेषतः ।
तत्त्वमेवमभिमानिनं मम स्वामिनं किमिति नानुवर्त्तसे ॥७॥

दुर्जन इति—स्वभावतः दुर्जनेऽप्यनुनयः प्रीतिः, तु पुनरपि सज्जने विशेषतो विनयोऽस्ति । तत्तस्मात्कारणात् त्वम् एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण अभिमानिनं मम स्वामिनं किमिति नानुवर्त्तसे[1] ॥७॥

तादृशं प्रशमितं ननु वैरं तेन ते कृतमिदं न लघीयः ।
कंसमाहतमरिं भुवि वित्तं नेह संस्मरसि स स्मरणीयः ॥८॥

तादृशमिति—नन्वहो प्रशमितमुपशान्तिमानीतम् । किम् ? वैरम् । केन ? तेन रामेण, कथम्भूतं वैरम् ? तादृशं ताराहरणरूपम्, कस्य ? ते तव कृतं किमिदं लघीयो लघुतरम् ? अपि तु न, इदमुपकृतं कृतं गुरुतरमित्यर्थः । तथा त्वं न संस्मरसि न संस्मृतिमानयसि, कम् ? अरिं साहसगतिनामधेयम्, कथम्भूतं सन्तम् ? समाहतं व्यापादितम्, पुनः कथम्भूतम् ? वित्तं प्रसिद्धम्, क्व इह भुवि— अस्यां पृथिव्याम्, स साहसगतिः । स्मरणीयः, कस्य ? तवेति ।

भारतीयः पक्षः—नु अहो न कृतं न विहितम्, किं तत् ? इदं वैरम्, केन ? तेन कंसेन, कथम्भूतम् न कृतम् ? प्रशमि, पुनः कथम्भूतम् ? लघीयः, तस्मान्न स्मरसि, कोऽसौ ? त्वम्, कम् ? अरिं कंसनामधेयम्, कथम्भूतम् ? आहतं व्यापादितम्, पुनस्तादृशमजय्यमित्यर्थः । शेषं समम्[2] ॥८॥

श्रीवधूहरणवैरबन्धतः सम्प्रति भ्रुकुटिभङ्गुराननः ।
मा रुषन्मम पतिः समेत्य तं पादयोः पत समाहिताञ्जलिः ॥९॥

श्रीति—द्विः—मारुषत् मा रुष्टो भवतु, कोऽसौ ? मम पती रामः, कस्य ? तवेति पदं द्रष्टव्यम् । भ्रुकुटिभङ्गुराननः सन्, कस्मात् ? श्रीवधूहरणवैरबन्धतः सीताहरणवैरानुबन्धात् अतः कारणात् पत । कोऽसौ ? त्वम्, कयोः ? पादयोश्चरणयोः, किं कृत्वा ? पूर्वं समेत्य समीपमागत्य, कम् ? तं पतिं रामम्, कथम्भूतः सन् ? समाहिताञ्जलिः कलिकायितकरद्वयः । कथम् ? सम्प्रति ।

अधुना भारतीयः—मारुषत्, कोऽसौ ? मम पतिः श्रीवधूहरणवैरबन्धतः श्रीरेव वधूः श्रीवधूः श्रीवध्वा ऊढो यत्र तच्छ्रीवधूढं श्रीवधूढञ्च तद्रणवैरञ्च श्रीवधूढरणवैरं तस्य बन्धतः बन्धात् लक्ष्मीकामिनीवितर्कसंग्राम-

---

स्वभावसे ही आप दुर्जन पुरुषके साथ शिष्ट व्यवहार करते हैं तथा सज्जनोंका विशेषरूपसे सत्कार करते हैं । जब आपकी प्रकृति ही ऐसी है तो आप मेरे (लक्ष्मणके) आत्मगौरवशाली अथवा (दूतके) अहंकारी स्वामीका अनुवर्तन क्यों नहीं करते हैं ॥७॥

अन्वय—तेन तादृशं वैरं प्रशमितं ननु इदं ते लघीयः न कृतं । इह भुवि वित्तं समाहतं न संस्मरसि ? कं अरिं । स स्मरणीयः ।

रामने तुम्हारे उस महान् (पत्नीका अपहरणरूपी) वैरका बदला लिया है; तो यह कोई साधारण उपकार नहीं किया है ? इस संसार भरमें ज्ञात तथापि राम द्वारा मारे गये उस शत्रुकी याद नहीं आती है ? जरा उसकी याद करके देखो ।

अन्वय—तेन इदं ते वैरं लघीयः प्रशमि कृतम् । तादृशं, इह भुवि वित्तं आहतं अरिं कंसं न संस्मरसि, स्मरणीयः सः ।

राजा कंसने तुम्हारे साथ बँधी शत्रुताको न तो कम ने ही दिया था और न शान्त ही होने दिया था । इस प्रकारके दुर्दम अकृत्योंके लिए संसार भरमें कुख्यात और मरणको प्राप्त उस कंस शत्रुकी स्मृति नहीं आती है ? उसे याद करना चाहिए ॥८॥

साक्षात् लक्ष्मी पत्नी सीताके हरणसे उत्पन्न वैर भावकी प्रबलतासे चढ़ी भौंहोंके कारण कुपित मुख मेरा स्वामी राम कहीं तुम पर रुष्ट न हो जाय । इसी समय आकर दोनों

---

१. रथोद्धतावृत्तम् । २. स्वागतावृत्तम् ।

वैरानुबन्धात् भ्रुकुटिभङ्गुराननः, तस्मात् सम्प्रति पादयोः पत नम्रो भव। किं कृत्वा? तं जरासन्धनामधेयं मम स्वामिनं समेत्य, कथम्भूतः सन्? समाहिताञ्जलिः कुड्मलीकृतकरयुग्मः[1] ॥९॥

अग्रतो भव शुभे पथि तिष्ठ प्रश्रयं भज जहीहि निजौजः।
स्वामिनः श्रुतिपथातिथिभावं प्रापय प्रियजनैः प्रियवार्ताम् ॥१०॥

अग्रत इति—अग्रतः पुरतो भव जायस्व, शुभे पथि मार्गे तिष्ठ आस्व, प्रश्रयं भज सेवस्व, तथा निजौजः स्वकीयं बलं स्तब्धत्वमित्यर्थः। जहीहि परित्यज। तथा चोक्तम्—"स्तब्धमुन्नमन्ति किल मूलतः पादपं तटरुहं नदीरयाः। वेतसः प्रणमनाद्विवर्द्धते चाटुरेव कुरुते हि जीवितम् ॥" तथा प्रियवार्तां श्रुतिपथातिथिभावं कर्णपदवीविषयं गमय प्रापय, कैः कृत्वा? प्रियजनैः सविश्रम्भैः लोकैः, कस्य? स्वामिनः प्रभोः। प्रापयेति क्रियायाः मुख्यामुख्यतया कर्मद्वयं ज्ञेयम्[2] ॥१०॥

वाचमेवमुपकर्ण्य कर्णयोः कर्कशामकृशयोः कशोपमाम्।
क्षोभमन्धय इवाययुस्तया वात्यया सदसि वानराधिपाः ॥११॥

वाचमिति—वानराधिपाः सुग्रीवप्रभृतयः शाखामृगस्वामिनः क्षोभमाययुः प्रापुः। केन हेतुना? तथा वाचा, क? सदसि सभायाम्, किं कृत्वा? वाचमुपकर्ण्य श्रुत्वा, कथम्? एवमुक्तप्रकारेण, कथम्भूतां वाचम्? कर्कशां कठिनाम्, कयोः? कर्णयोः, कथम्भूतयोः कर्णयोः? अकृशयोरदुर्बलयोः न्याय्यात्मविषयग्रहणप्रवीणयोः, कथम्भूताम्? कशोपमां चर्मवद्भीसदृशीम् कर्कशत्वासत्याः, कया क इव क्षोभमाययुः? वात्यया वातमण्डलेन अब्धय इव समुद्रा इव।

भारतीयः—नराधिपा बलभद्रादयो नरेन्द्राः, अथवा नरोऽर्जुनोऽधिपो येषाम् अर्जुनस्वामिका नरेन्द्राः क्षोभमाययुः, कथम्? यथा भवति। सदसि, उत्खातखङ्गं, यथा भवति, क्रियाविशेषणमेतत्। अन्यत्प्राग्वत्[3] ॥११॥

श्रीदशार्हकुलजाः किल केचिन्मानिनः स्थितिविघातभयेन।
क्रोधवह्निशिखया स्वयमन्तर्दाहदूनहृदयाः क्लममापुः ॥१२॥

श्रीति—किल अरुचौ लोकोक्तौ वा। आपुः प्रापुः, के? केचिच्छ्रीदशार्हकुलजाः कुलजाताः कुलजाः श्रीदशामर्हन्ति श्रीदशार्हाः भाग्यावस्थोचिताः श्रीदशार्हाश्च ते कुलजाश्च श्रीदशार्हकुलजा नलनीलादयः, कम्? क्लमं खेदम्, केन हेतुना? स्थितिविघातभयेन स्थानविध्वंसनभीत्या, कथम्भूताः सन्तः? मानिनोऽहङ्-

---

हाथ जोड़े हुए उसके पैरोंमें प्रणाम करो [राज्य-लक्ष्मीरूपी पत्नीके विवाह (श्रीवधू-उद्वह) भूत रणमें बँधे वैरके कारण भृकुटि चढ़ाकर मुखको टेढ़ा किये बैठा मेरा स्वामी जरासंध आप पर रुष्ट न हो जाय] ॥९॥

आगे बढ़ो, कल्याण मार्ग पर आओ, विनम्रताको धारण करो, अपने प्रतापको छोड़ दो, प्रिय लोगोंके द्वारा सीता प्रियाके समाचारको मेरे स्वामी रावणके कानोंका अतिथि बनाओ। [जरासंधके प्रिय लोगोंके द्वारा अपनी अनुकूलताकी चर्चा उसके कानों तक पहुँचाओ] ॥१०॥

कानोंके लिए अत्यन्त कठोर, चाबुकके समान उक्त बातको सुपुष्ट कानोंसे सुनकर वानरवंशी राजा लोग राजसभामें उसी प्रकार क्षुभित हो उठे थे जिस प्रकार तूफानमें समुद्र हो जाता है [अर्जुन आदि श्रेष्ठ राजा तलवार उठाकर (सदसि) क्षुब्ध हो पड़े थे] ॥११॥

लक्ष्मीसम्पन्न मान्य कुलोंमें उत्पन्न अपनेको ही सब कुछ समझते नल-नील-आदि राजा अपनी मर्यादा और राज्यके विनाशके भयसे अपने आप ही दुःखी हो गये थे क्योंकि

---

१. रथोद्धतावृत्तम्। २. स्वागतावृत्तम्। ३. रथोद्धताछन्दसि।

मिति प्रत्ययगोचराः पुनरन्तर्दाहदूनहृदया अन्तर्दाहकदर्थितचित्ताः क्रोधवह्निशिखया क्रोधज्वलनज्वालया, कथम् ? स्वयमात्मनेति ।

भारतीयः–किल आपुः प्रापुः, के ? केचित्कतिपयाः श्रीदशार्हकुलजाः समुद्रविजयादयः अक्षोभः-तिमितसागरः-हिमवान्-विजयः-अचलः-आरणः पूरणः-अभिचन्द्रः वसुदेवश्चैते दशार्हाः श्रियोपलक्षितारच ते दशार्हाश्च श्रीदशार्हास्तेषां कुले जाताः बलभद्रादयः, कम् ? क्रमं खेदम् , केन ? स्थितिविघातभयेन स्थिति-भङ्गशङ्कया स्वयमात्मीयप्रकृत्या । शेषं समम्[1] ॥१२॥

भोजकाः सुखनिबद्धसम्पदः स्वेदसेकनिचिताङ्गयष्टयः ।
केऽपि कोपशिखिशान्तये बभुर्मुक्तवारिकलशा इवोपरि ॥१३॥

भोजका इति–केऽपि केचिन्नरेन्द्राः बभुः भान्ति स्म, कथम्भूता इव ? कोपशिखिशान्तये क्रोधाग्नि-विध्यापनाय, उपरि मुक्तवारिकलशा इव गलितपयःकुम्भा इव, कथम्भूताः सन्तः ? स्वेदसेकनिचिताङ्ग-यष्टयः घर्मस्यन्दसम्भृतगात्रलताः, पुनः भोजकाः भोक्तारः, कस्याः ? सुखनिबद्धसम्पदः सुखेन निबद्धा चासौ संपत्तस्याः सुखसंयुक्तविभूतेः ।

भारतीयः–भोजकाः यादवाः । अशेषं शेषं समम् ॥१३॥

आशुशुक्षणिरिवाशु स कश्चिद्भूपतिः प्रबलयादवजन्मा ।
प्रज्वलन्कपिशतान्वितकायः सह्यते स्म परुषो न रुषान्यैः ॥१४॥

आश्विति–न सह्यते स्म सोढुं शक्यते स्म । कः कर्मतापन्नः ? स कश्चिद्भूतिः नरेन्द्रः, कैः कर्तृभिः ? अन्यैरपरैः नरेन्द्रैः, कथम्भूतः ? परुषो निष्ठुरः, कया ? प्रबलया प्रचुरया रुषा क्रोधेन, कथम्भूतः ? कपिश-तान्वितकायः वानरशतसंयुक्तशरीरः, किं कुर्वन् सन् सह्यते स्म ? प्रज्वलन् देदीप्यमानः सन् , क इव ? दवजन्माऽरण्यभवः आशुशुक्षणिरग्निरिव, कथम् ? आशु शीघ्रम् ।

भारतीयः–प्रबलयादवजन्मा प्रबलश्चासौ यादवजन्मा प्रबलयादवजन्मा स कश्चिद्भूपोऽन्यैः न सह्यते स्म, कथम्भूतः ? परुषः, किं कुर्वन् ? रुषा कोपेन आशुशुक्षणिरग्निरिव प्रज्वलन् , कथम्भूतः ? कपिशतान्वि-तकायः पिङ्गतायुक्तशरीरः ॥१४॥

केऽपि वृष्णिकुलजाः समागताः साम्यमम्बुधिगभीरचेतसः ।
आसनानि न बभञ्जुरूर्जिताः क्वापि किं भुवि चलन्त्यभीरवः ॥१५॥

केऽपीति–केऽपि नरेन्द्राः आसनानि न बभञ्जुः न भञ्जन्ति स्म । कथम्भूताः ? कुलजाः कुलीनाः,

---

क्रोधरूपी अग्निकी ज्वालासे इनके मनमें ताप था जिससे इनके हृदय दुःखी थे [समुद्रविजय, आदि दश पूज्य कुलोंमें उत्पन्न, आत्मगौरवके पुजारी बलभद्र, आदि राजा परिस्थिति बिगड़नेकी आशंकासे खिन्न हो गये थे । क्रोध···] ॥१२॥

सुखोंसे संयुक्त सम्पत्तिके भोक्ता, पसीनाकी धारसे आर्द्र शरीर, दूसरे राजा लोग ऐसे लगते थे मानो क्रोधाग्निकी ज्वालाको बुझानेके लिए इनके ऊपर जलके कलश ही छोड़ गये हैं [सुखसे संचित सम्पत्तिके धारक दूसरे यादव लोग ऐसे···] ॥१३॥

जंगलमें लगी जलती हुई प्रबल दावाग्निके समान उग्र क्रोधके कारण अत्यन्त कठोर कोई राजा सैकड़ों वानरोंके द्वारा पकड़े जाने पर भी नहीं सम्हाला जा सकता था [अत्यन्त वीर यादव वंशमें उत्पन्न कोई अतिसाहसी राजा जलती अग्निकी ज्वालाके समान उत्तेजित हो रहा था, दूसरोंके द्वारा नहीं रोका जा सकता था तथा उसका सारा शरीर क्रोधसे पिंग हो गया था] ॥१४॥

इन्द्रकी समताको प्राप्त, समुद्रके समान गंभीर चित्त तथा प्रौढ़ तेजस्वी कुछ कुलीन

---

१. स्वागताछन्दसि ।

पुनः वृष्णि इन्द्रे साम्यं सादृश्यं समागताः, पुनः अम्बुधिगभीरच्चेतसः अम्बुधिरिव गभीरं चेतो येषां ते, पुनः ऊर्जिताः प्रौढाः । युक्तमेतत् किम् अभीरवो धीराश्चलन्ति ? अपि तु न चलन्तीत्यर्थः । क्व ? क्वापि कस्यां भुवीति ।

भारतीयः—न चलन्तु । के ? केऽपि वृष्णिकुलजाः दशार्हाणामाद्यो वृष्णिरन्धकवृष्णिः, नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्त्तते यथा भीमो भीमसेनः, बलो बलभद्रः, भामा सत्यभामा । वृष्णेः कुलं वृष्णिकुलं तस्मिञ्जाताः वृष्णिकुलजाः कानि ? आसनानि, कथम्भूताः ? समागताः, किम् ? साम्यम् , कस्य ? अम्बुधिगभीरचेतसः, अम्बुधिरिव गभीरं चेतो यस्य तस्य तथोक्तस्य सत्पुरुषस्येत्यर्थः । पुनरूर्जिताः । समभिलतरम् ॥१५॥

स्विन्नवान्स हरिचन्दनदेहः कम्पवाँश्चटुलपाटलदृष्टिः ।
क्षोभमात्मनि नियन्तुमशक्तः कामकातर इवाजनि भीमः ॥१६॥

स्विन्नवानिति—हरिचन्दनदेहः हरिचन्दनाख्यस्य वानरस्य देहः शरीरम् , कथम्भूतः ? अशक्तोऽसमर्थः, किं कर्तुम् ? आत्मनि विषये क्षोभं नियन्तुं निरोद्धुम् , क इव ? कामकातर इव, कथम्भूतः ? स्विन्नवान् स्वेदजलयुक्तः पुनः कम्पवान् , पुनश्चटुलपाटलदृष्टिश्चञ्चलकर्बुरलोचनः, पुनः भीमः भयानकः ।

भारतीयः—हरेश्चन्दनोपलक्षितो देहः हरिचन्दनदेहः आत्मनि क्षोभं नियन्तुमशक्तः, अथवा भीमो वृकोदरः आत्मनि क्षोभं नियन्तुमशक्तोऽजनि, कथम्भूतो भीमः हरिचन्दनदेहः हरिचन्दनं प्रधानश्रीखण्डः तद्गन्धो देहो यस्य सः, अन्यत्समानार्थम् ॥१६॥

अस्त्यशक्यमपि दूरमर्जुनः कार्यमित्युपरि धूनयञ्शिरः ।
गौरवेण गुरु गन्धमादनः सामजस्य निजसौष्ठवं ययौ ॥१७॥

अस्तीति—गन्धमादनो नाम वानरराजः निजसौष्ठवं स्वकीयप्रौढिमानं ययौ । कस्य ? सामजस्य गजेन्द्रस्य, केन कृत्वा ? गौरवेण गरिमा, किं कुर्वन् ? धूनयन् , किम् ? शिरो मस्तकम् , कथम् ? उपरि, कथम् ? इति हे दूरम :दुःखेन रम्यते क्रीड्यतेऽसौ दूरमः तस्यामन्त्रणं हे दूरम, अस्ति, किम् ? कार्यम् , कथम्भूतम् ? अशक्यम् । केषाम् ? नोऽस्माकम् , कथम्भूतमपि ? ऋज्वपि प्राञ्जलमपि पुनर्गुरु गरिष्ठम् ।

भारतीयः—ययौ, कोऽसौ ? अर्जुनः सव्यसाची, किम् ? निजसौष्ठवम् , कस्य ? सामजस्य, किं कुर्वन् ? शिरः धूनयन् , कथम् ? उपरि, कथम् ? इति, किम् ? अस्ति, किम् ? कार्यम् , कथम्भूतम् ? अशक्यमपि पुनः दूरमपि पुनः गुरु, कथम्भूतोऽर्जुनः ? गौरवेण गरिष्ठभावेन गन्धमादनः पर्वतविशेषः ॥१७॥

राजपुत्रोंने अपने आसनोंको नहीं तोड़ा था । उचित ही है निर्भय वीर पुरुष पृथ्वीमें कभी भी अस्थिर नहीं होते हैं [साम्य अथवा मानसिक संतुलनको प्राप्त, समुद्रके समान अगाध चित्त तथा तेजस्वी अन्धकवृष्णिकुलमें उत्पन्न कुछ राजपुत्र आसनसे हिले भी न थे । उचित……] ॥ १५ ॥

उस चन्दन नामके वानरवंशी राजा का शरीर पसीनेसे लथपथ था, काँप रहा था, नेत्र लाल तथा चंचल थे । और अपने क्षोभको स्वयमेव न रोक सकनेके कारण वह भयंकर कामपीडित सा प्रतीत होता है । [अपने क्रोधको सभाँलनेमें असमर्थ भीमके शरीरसे भी पसीना चल रहा था । चन्दन लेपसे युक्त उसका शरीर प्रायः काँप रहा था, आँखें लाल और चंचल हो उठी थीं ।] ॥ १६ ॥

हमारे लिए अशक्य कार्य भी सरल है इस प्रकारसे अपने मस्तकको झटकेसे हिलाता हुआ गम्भीर गन्धमादन नामक वानरराज ऐरावतके समान अपने गौरवके कारण स्वाभाविक प्रौढ़तासे आलोकित हो उठा था [अपनी महत्ताके कारण गन्धमादन पर्वत तुल्य अर्जुनके लिए कोई कार्य अशक्य अथवा दूर अथवा गुरु होता है, इस विचारके निषेधमें शिर हिला दिया था फलतः वह सन्तुलनजन्य अपने प्राकृतिक सौन्दर्यको प्राप्त हुआ था] ॥ १७ ॥

योनलोभरमितः कदनेषु स्थेमवृत्तिरवहद्भुवि कीर्तिम् ।
पाण्डुमद्र्युचितमुन्नतिभावं सोऽवलम्ब्य नकुलप्रभुरस्थात् ॥१८॥

य इति– नास्थादपि त्वस्थादेव स्थितवानेव । कः ? स नलः नलनामधेयो वानरराजः, किं कृत्वा ? पूर्वमवलम्ब्य समाश्रित्य, कम् ? उन्नतिभावम्, कथम्भूतम् ? अद्र्युचितम्, कथम्भूतो नलः ? कुलप्रभुः वंशस्वामी अथवा कुं पृथ्वीं लान्ति आददते ये ते कुलाः राजानस्तेषां प्रभुः नरेन्द्रस्वामीत्यर्थः । पुनः कथम्भूतः ? स्थेमवृत्तिः स्थिरतरवृत्तिः यः अवहद् वहतिस्म । काम् ? कीर्तिम्, कथम्भूताम् ? पाण्डुं शुभ्राम् । कस्याम् ? भुवि, कथम्भूतः सन् ? इतः गतः, कथम् ? भरं तत्परताम्, केषु ? कदनेषु सङ्ग्रामेष्विति शेषः ।

भारतीयः–अस्थात् स्थितवान्, कोऽसौ ? स नकुल प्रभुः चतुर्थपाण्डवः, किं कृत्वा ? पूर्वम् अवलम्ब्य, कम् ? उन्नतिभावम्, कथम्भूतम् ? पाण्डुमद्र्युचितम् पाण्डुः पिता, मद्री माता पाण्डुश्च मद्री च पाण्डुमद्र्यौ तयोरुचितं योग्यं पाण्डुमद्रीयोग्यम् ? कथम्भूतः ? स्थेमवृत्तिः स्थिरतरवृत्तिः, कथम्भूतो नलः ? अनल इवानलः स्वरूपेणाग्निरित्यर्थः । यः अवहद् कीर्तिम्, कस्याम् ? भुवि, कथम्भूतः सन् ? इतो गतः, कम् ? भरम्, केषु ? कदनेषु । अथवा न लोभरमितः न लोभे रमितो नलोभरमितोऽथवा न लोभे रमितं निरतत्वं यस्य स तथोक्तः अन्यत् सुगमम् ॥१८॥

तं विलोक्य सहदेवविक्रमं बिभ्रतं कुमुदमायतायतिम् ।
जृम्भमाणमभिमानसंश्रयं तत्र तत्रसुरितस्ततो जनाः ॥१९॥

तमिति–तत्रसुस्त्रस्ताः के ? जनाः, क्व ? तत्र सदसि, कथम् ? इतस्ततोऽत्र तत्र, किं कृत्वा ? पूर्वं विलोक्य, कम् ? तं लोकप्रसिद्धं कुमुदं कुमुदनामधेयं वानरराजम्, किं कुर्वाणम् ? सह युगपत्, देवविक्रमं सुरप्रतापं बिभ्रतं दधानम्, कथम्भूतम् ? आयतायतिं विस्तृतकीर्त्तिं पुनरभिमानसंश्रयं गर्वमन्दिरम्, किं कुर्वाणम् ? जृम्भमाणं प्रवर्तमानम् ।

भारतीयः–तत्र सदसि सहदेवो नाम पञ्चमपाण्डवो राजा तस्य विक्रमं प्रौढिं विलोक्य जनास्त्रसुः, सहदेवविक्रमं किं कुर्वाणम् ? कुमुदं पृथ्वीहर्षं बिभ्रतम्, कथम्भूतं तम् ? आयतायतिमायताऽऽयतिर्यस्मात्तं तथोक्तम्, अथवा कथम्भूतां कुमुदम् ? आयतायतिमायताऽऽयतिर्यस्यास्तां दीर्घोत्तरफलां लोकेभ्यश्चिरकाले यावल्लब्धप्रशंसामित्यर्थः । पुनः कथम्भूतम् ? अभिमानसंश्रयम्, किं कुर्वाणं सन्तम् ? जृम्भमाणं स्वेच्छया प्रवर्त्तमानम् ॥१९॥

तं समुद्रविजयं प्रतापतः शूरतैकपरमञ्जनोद्भवम् ।
सुप्रतिष्ठितमवेक्ष्य लज्जितः सोऽखिलोऽभवदुपप्लुतो नृपः ॥२०॥

तमिति–अभवदजनि, कोऽसौ ? स लोकविख्यातोऽखिलो नृपः, किंविधोऽभवत् ? लज्जितस्त्रपावान्, किं कृत्वा ? अञ्जनोद्भवमञ्जनायाः सकाशादुद्भवो यस्य तं हनूमन्तम्, कथम्भूतम् ? रविजयं रवेरिव जयो

जो राजा नल युद्धमें तत्परतामय हो जाता है, स्वभावसे स्थिर है, संसारमें विमल कीर्तिका स्वामी है। अपने वंशका प्रधान वह पर्वत सदृश उन्नतताके भावको धारण करके क्या जमा नहीं रहा ? अर्थात् वह अडिग ही था [जो स्वभावसे ही अग्नि है, युद्ध संचालनमें पारङ्गत है, अडिग प्रकृति है तथा विश्वमें विख्यात है वह नकुलराज अपने पिता पाण्डु और माता मद्रीके अनुरूप बड़प्पनको दिखाता हुआ गम्भीर रूपसे बैठा रहा था।] ॥ १८ ॥

सुग्रीवकी सभामें अकस्मात् ही देवोंके पराक्रमधारी, सुविस्तृत यशके स्वामी, अहंकारके आधार और आवेशसे टहलते उस कुमुद नामके राजाको देखकर इधर-उधरके लोग भयभीत हो गये थे। [पृथ्वीके हर्षके विधायक, विशाल भावी पुण्यके स्वामी, आत्मगौरवके निधान, उस सहदेवके पराक्रमको तथा उसको यादव सभामें चंक्रमण करता देखकर सर्वत्र जनता भयभीत हो उठी थी] ॥ १९ ॥

प्रतापमें सूर्यसे भी आगे, सदैव प्रसन्न, एकमात्र वीरताके कार्योंमें लीन और सर्वत्र

यस्य तम्, कस्मात् ? प्रतापतः, पुनः शूरतैकपरं वैरभावैकनिष्ठं क्षात्रधर्मपरिणतमित्यर्थः, पुनः सुप्रतिष्ठितम्, कथम्भूतो नृपः ? उपप्लुत उपद्रुतः, पुनः समुत्सहर्षः ।

भारतीयः—तं समुद्रविजयं नेमीश्वरजनकम् अवेक्ष्य स लज्जितोऽभवत् । कथम्भूतम् ? प्रतापात् शूरतैकपरमं शूरताया एकाऽसाधारणा परोत्कृष्टा मा यस्य तम्, पुनर्जनोद्भवं जनानामुद्भवो यस्मात् । शेषमशेषं समम् ॥२०॥

इत्यपायवदुपायवन्नयैरेकतश्चलितमन्यतः स्थिरम् ।
राजकार्यमिव राजपुत्रकं दुर्धरं सुधरमप्यजायत ॥२१॥

इतीति—राजपुत्रकं नरेन्द्रतनयसमूहः दुर्धरं दुःखेन धर्तुं शक्यमजायताऽभवत् । किमिव ? राजकार्यमिव, कथम्भूतं सत् ? एकतश्चलितमेकस्मिन्स्थाने चलम्, कैः ? अपायवन्नयैः पुनरन्यतोऽन्यस्मिन् स्थाने स्थिरम्, कैः ? उपायवन्नयैः सामवन्नीतिभिः, कथम्भूतम् ? सुधरं सुखेन धर्तुं शक्यमपि ॥२१॥

कोपरक्तकपिलालसदृष्टिस्तां सभां ननु चलाङ्गलशोभी ।
वारयन्निति स दूतगुणाढ्यं तं जगाद मृदुवानरराजः ॥२२॥

कोपेति—नन्वहो जगाद उक्तवान् । कोऽसौ ? स वानरराजः सुग्रीवः, कम् ? तं लक्ष्मणम्, कथम्भूतम् ? दूतगुणाढ्यं दूतगुणाः—मानित्वम्, धीरत्वम्, शुण्डीरत्वम् (त्यागशौर्याभ्यां विख्याततता शुण्डीरत्वमभिधीयते), तेजस्वित्वम्, विक्रमित्वम्, वपुष्मत्त्वम्, नीतिमत्त्वम्, वाग्मित्वञ्चेत्यष्टौ दूतगुणाः । दूतस्य गुणाः दूतगुणास्तैराढ्यस्तम्, तथा चोक्तम्—

"मानी धीरश्च शुण्डीरस्तेजस्वी विक्रमी तथा । वपुष्मान्नीतिमान् वाग्मी दूतः स्यादष्टभिर्गुणैरिति" ॥

कथं जगाद ? इति वक्ष्यमाणप्रकारेण, किं कुर्वन् ? चलां चपलां तां सभां वारयन्निषेधयन्, कथम् ? मृदु श्रवणयोः सुखदायकत्वात्सुकोमलं यथा भवति, कथम्भूतः ? गलशोभी मनोहरकण्ठः, पुनः कोपरक्तकपिलालसदृष्टिः कोपेन रक्ताश्च ते कपयश्च तै लालसा दृष्टिर्यस्य सः ।

भारतीयः—ननु च स नरराजः नरेन्द्रः जगाद । किमाख्यः ? लाङ्गलशोभी बलभद्रः, कम् ? तं जरासन्धपुरुषम्, कथम्भूतम् ? दूतगुणाढ्यं मृद्विति क्रियाविशेषणम् अथवा अमृदु कथम् ? इति वक्ष्यमाणप्रकारेण, वा इवार्थवाची, किं कुर्वन् ? तां सभां वारयन् निषेधयन्, कथम्भूतः ? कोपरक्तकपिलालसदृष्टिः रक्ता चासौ कपिला च सा चासावलसा च कोपेन रक्तकपिलालसा दृष्टिर्यस्य स तथोक्तः ॥२२॥

अन्तरङ्गमनुभावमाकृतिः संयमो गुरुकुलं श्रुतं शमः ।
वाग्मियं च तव तात सौष्ठवं साधु सेधयति मार्दवं क्षमा ॥२३॥

सम्मानित उस अञ्जनीपुत्र हनुमान्‌को देखकर आतंकग्रस्त संसारप्रसिद्ध वे समस्त राजा लज्जित हो गये थे। [जन अर्थात् जिन नेमिनाथके जनक शूरता में अद्वितीय तथा अग्रणी अपने प्रतापके कारण सर्वमान्य राजा समुद्रविजयको देखकर व्यर्थ ही उत्तेजित, वे सब राजा लजा गये थे।] ॥ २० ॥

हानिकर नीतिके कारण एक ओरसे चंचल तो साधक नीतिके कारण स्थिर फलदायक राजकार्यके समान वानर-यादव सभामें दूसरी ओरसे एकत्रित राजाओंका समूह कष्टकर प्रतिरोध-द्वारा आरम्भ होकर भी सुसंयत अथवा अनुशासित हो गया था ॥ २१ ॥

क्रोधसे लाल वानर सेनाके द्वारा लालसापूर्वक देखे गये, मधुरकण्ठसे शोभित अर्थात् मृदुभाषी वानरवंशी राजा सुग्रीवने अपनी चंचल राजसभाको नियन्त्रित करते समान मान, धैर्य, आदि दूतके गुणोंसे युक्त लक्ष्मणको कोमलतासे कहा था। [क्रोधसे रक्त, जलती तथा एकटक दृष्टियुक्त मनुष्योंके स्वामी कृष्णने तथा लाङ्गलधारी बलरामने पूरी यादवसभाको आवेशमें आनेसे रोकते हुए दूतगुणसम्पन्न जरासंधके दूतको कहा था।] ॥ २२ ॥

अन्तरङ्गमिति–सेधयति, 'अत्र ज्ञानविषयस्वात्सेधयतेरात्वं न स्यात् । ज्ञापयति का ? आकृतिः, कम् ? अनुभावं परिणामम्, कथम्भूतम् ? अन्तरङ्गम्, तथा सेधयति, कोऽसौ ? संयमः व्रतरक्षणलक्षणो धर्मः, किम् ? गुरुकुलम्, तथा सेधयति कः ? शम उपशमः, किम् ? श्रुतं शास्त्रम्, तथा च सेधयति, का ? इयं वाक् भारती, किम् ? तातसौष्ठवं पितुः पाटवम्, कथम्भूतम् ? साधु मनोहारि । तथा सेधयति का ? क्षमा क्षान्तिः, किम् ? मार्दवं मृदुत्वम्, कस्य ? तव, अथवा हे तात पितः । अत्रैकत्र श्लाघाऽन्यत्र वक्रोक्तिरिति बोद्धव्यम् ॥२३॥

रूपमेव तव शीलमुदारं स्थेयसीं प्रकृतिमुन्नतिभावः ।
स्वामिभक्तिमुचितामनुरागः सूचयत्यनुनयं नयमार्गः ॥२४॥

रूपमिति–सूचयति कथयति, किम् कर्तृ ? रूपमेव हि, किम् ? उदारमुत्कटं शीलम् । तथोन्नतिभाव आदेयत्वं स्थेयसीं स्थिरतरां प्रकृतिं स्वभावं सूचयति । तथाऽनुरागः स्वामिभक्तिं प्रभुसेवां सूचयति, कथम्भूताम् ? उचितां योग्यां तथा नयमार्गः नीतिमार्गः तवानुनयमनुमननं सूचयति ॥२४॥

वेलया विहितकार्यसाधनं धैर्यविक्रममगाधतां गुरुम् ।
बिभ्रतस्तव पयोनिधेरपि क्षोभमेकमपहाय नान्तरम् ॥२५॥

वेलयेति–तव पयोनिधेरन्तरं भेदो न विद्यते । किम् कृत्वा ? एकं क्षोभमपहाय परित्यज्य, किम् कुर्वतः ? धैर्यविक्रमं बिभ्रतो दधानस्य, धैर्यमन्तरङ्गावष्टम्भः; विक्रमः पराक्रमः; धैर्यञ्च विक्रमश्च धैर्यविक्रमम्, कथम्भूतम् ? विहितं कार्यं साधनं यस्य तत्, कया ? वेलया कालकलया च बिभ्रतः, काम् ? गुरुमगाधताम् ॥२५॥

उन्नतोऽसि विशदोऽसि हिमानीगौरवं समुपयञ्छिशिरोऽसि ।
हन्त ते हिमवतश्च कथं वागर्हिता दहनवृत्तिरियं स्यात् ॥२६॥

उन्नत इति–हन्त कष्टं स्यादियमसौ वाग्भारती कथम्भूता ? दहनवृत्तिः दहनस्य ज्वलनस्येव वृत्तिर्वर्तनं यस्याः सा सन्तापिकेत्यर्थः । कथम्भूता सती ? अर्हिता पूजिता, कस्य ? ते तव, यद्यप्युन्नतोऽसि विशदोऽसि, हि स्फुटम्, कः ? त्वं मानी, तथाऽसि, कथम्भूतः ? शिशिरोऽतीवः, किं कुर्वन् ? समुपयन्नुपचिन्वन्, किम् ? गौरवं गुरुत्वमिति ।

हे तात ! तुम्हारी यह आकृति ही मनके भावोंको बता रही है, आत्मनियन्त्रण महान् कुलको, शान्ति शास्त्र ज्ञानको तथा वचन शिष्टताको और सहिष्णुता कोमलताको भली भाँति प्रकट कर रही है [वक्रोक्तिके कारण—तुम्हारी आकृति कुभावोंको, असंयम बापके वंशको, उग्रता निरक्षरताको, भाषा अशिष्टताको और उग्रता अहंकारको प्रकट कर रहे हैं] ॥ २३ ॥

आपका रंगरूप उदात्त स्वभावको, उन्नता[1] अथवा उच्च विचार दृढ़ प्रकृतिको, राजाके प्रति प्रेम स्वामिभक्तिको, यथार्थनय और नीतिपूर्वक आचरण विनम्रता अथवा अनुशासनके प्रख्यापक हैं [वक्रोक्ति श्लोक २३ के समान पलटकर चलेगी] ॥२४॥

महान् धैर्य, पराक्रम, गम्भीरता तथा समयसे अपना कार्य पूरा करनेकी प्रकृतिके धारक आप और समुद्रमें केवल क्षोभके सिवा और कोई अन्तर नहीं है [समुद्र भी स्थिर, पशु-पक्षी संचार युक्त, गहरा तथा किनारेके द्वारा कार्य करता है ।] ॥२५॥

आप उन्नत हैं, निर्मल अथवा स्वच्छ हैं, बर्फके गौरवको भी नीचा दिखानेमें समर्थ शिशिर हैं । इस प्रकार परम शीतलताके धारक आपकी अग्निके समान यह भाषा कैसे

1. अर्हन्यम्–द० ।

भारतीयः–अहो कथं वा कथमिव स्यात्, का ? इयं दहनवृत्तिः, कस्य ? हिमवतो हिमाचलस्य, कथम्भूता दहनवृत्तिः ? गर्हिता निन्द्या यद्यप्यस्ति, कः ? उन्नत उत्तुङ्गः, तथाऽस्ति विशदः, पुनरस्ति तथा शिशिरः शीतलः, किं कुर्वन् ! हिमानीगौरवं हिमसन्ततिगरिमाणं समुपयन् । तुल्योपमा ॥२६॥

संविधाय बहुमानमुच्चकैर्विप्रियं यदभिधीयते गिरा ।
अम्बु शीतमभिवृष्य चित्रया तद्वितप्यत इवोत्कटातपम् ॥२७॥

संविधायेति–तद्वितप्यते । कया ? गिरा वाण्या, यदभिधीयत उच्यते, किम् ? विप्रियं दुःखदम्, किं कृत्वा ? पूर्वं संविधाय सम्पाद्य, कम् ? बहुमानं प्रचुरसत्कारम्, कथम् ? उच्चैरतिशयेन । उपमार्थः प्रकट्यते–इव यथा तद्वितप्यते, कया ? चित्रया नक्षत्रेण, कथं यथा भवति ? उत्कटातपमुल्बणोष्णं यथा तद्विधीयते, किम् ? अम्बु जलं कथम्भूतम् ? शीतं शीतलम्, किं कृत्वा ? पूर्वमभिवृष्य सिक्त्वा । अत्रोपमालम्भो[1] दर्शितः ॥२७॥

ज्ञायते च भवतः पतिरुच्चैर्विक्रमेण भुवनं विजिगीषुः ।
देशकालबलबोधपरीक्षा पौरुषेऽपि ननु सा परिचिन्त्या ॥२८॥

ज्ञायत इति–ज्ञायते बुध्यते, कः ? पतिः प्रभुः, कस्य ? भवतः, कथम्भूतः ? विक्रमेण भुवनं जगत् विजिगीषुः विजेतुमिच्छुः, कथम् ? उच्चैरतिशयेन, नन्वहो परिचिन्त्या चित्ते वितर्क्या, का ? सा देशकालबलबोधपरीक्षा, क्व सति ? पौरुषेऽपि विक्रमेऽपि ॥२८॥

पञ्जरे किल करोति किं शुकः पक्षवानपि विदेशमागतः ।
किं शुचावसमये शिखावलः कोकिलश्च मधुरं स कूजति ॥२९॥

पञ्जर इति–किल लोकोक्तौ । किं करोति ? अपि तु न किमपि, कः ? शुकः कीरः, क्व ? पञ्जरे, कथम्भूतोऽपि ? पक्षवानपि, कथम्भूतः सन् ? विदेशमागतः, तथा शुचौ घर्मे शिखावलो मयूरः मधुरं यथा तथा किं कूजति शब्दायते ? अपि तु न । मेघोन्नतिकालस्तु कूजनहेतुर्नेतरो घर्मः, तस्य तत्कूजनहेतुत्वाभावात् । चकारेण समुच्चयार्थो गम्यते । कोकिलः पिकश्च, किं मधुरं सुकोमलम् असमये मेघोन्नतिकाले कूजति ? अपि तु न । चैत्रकालस्तु कूजनहेतुस्तथा नेतरो मेघोन्नतिकालः, तस्य तत्कूजनहेतुत्वाभावात् । अत्र तेषामेव देशकालबलबोधानामन्वयव्यतिरेकौ दर्शितौ ॥२९॥

देशकालकलया बलहीनः किं व्यवस्यति युतोऽपि शृगालः ।
स त्रयेण सहितश्च्युतबोधः किं न याति शरभस्तनुभङ्गम् ॥३०॥

अभिनन्दनीय होगी ? [उन्नत, धवल आत्मगौरवके निर्वाहकर्ता, स्वाभिमानी बर्फके धारक शीतल हिमालयकी निन्दनीय दाहक प्रकृति कैसे हो गयी ?] ॥२६॥

सर्वथा सम्मान करनेके बाद जो वाणीके द्वारा अनिष्ट प्रस्ताव आपके द्वारा किया जाता है यह पहिले शीतल जलकी मूसलाधार वृष्टि करनेके उपरान्त चित्रा नक्षत्रके द्वारा भयंकर आतप करनेके समान है ॥२७॥

आपका स्वामी राम अथवा जरासंध प्रबल पराक्रमके द्वारा विश्वकी विजय करनेके लिए आतुर है ऐसा प्रतीत होता है । किन्तु पुरुषार्थ होनेपर भी देश, समय, शत्रुबल तथा आत्मबलका विवेक और आक्रमणके पहिले समस्त बातोंकी परीक्षा भी तो विचारणीय है ॥२८॥

विदेशमें आकर पिंजड़ेमें फँसा तोता पंखे रहनेपर भी क्या करता है ? कुछ भी नहीं । क्या गर्मीमें मयूर और असमय शीतकालादिमें कोकिल मधुर शब्द करता है ? ॥२९॥

---

1. अत्रोपमोपालम्भो दर्शितः–ब०, ना० ।

देशेति– किं व्यवस्यति किमुत्सहते ? अपि तु न । कोऽसौ ? शृगालः क्रोष्टा, कीदृशः ? बलहीनः, किं विशिष्टोऽपि ? देशकालकलया युतोऽपि । अत्र बलव्यतिरेको दर्शितः । स शरभोऽष्टापदः, किं तनुभङ्गं शरीरनाशं न याति न गच्छति ? अपि तु यात्येव । कथम्भूतः ? च्युतबोधः परित्यक्तज्ञानः, कथम्भूतः ? देशकालबलत्रयेण सहितोऽपि । अत्र बोधव्यतिरेक उक्तः ॥३०॥

बुद्धिसत्त्वबलभाग्ययोग्यतां सर्वतः प्रकृतिरागमात्मनः ।
यः परस्य च न चिन्तयत्ययं यातृयेयसमये विनश्यति ॥३१॥

बुद्धीति–विनश्यति, कोऽसौ ? सोऽयम्, क्व ? यातृयेयसमये यदा याता गन्ता, येयो गम्यः शत्रुः, परप्रेरणमन्तरेण प्रयाणोद्योगं करिष्यतः, समयो यदा येयो यातव्यः शत्रुस्तस्मिन्काले गन्तृगम्यसमये यो बुद्धि-सत्त्वबलभाग्ययोग्यतां बुद्धिर्हिताहितविवेचनी वाक्; सत्त्वमन्तरङ्गं तेजः; बलं सैन्यम्; भाग्यं दैवम्; योग्यता-सामग्री । बुद्धिश्च सत्त्वञ्च बलञ्च भाग्यञ्च बुद्धिसत्त्वबलभाग्यानि तेषां योग्यता सा तां न चिन्तयति न जानाति, कथम् ? सर्वतः सामस्त्येन, तथा यो न चिन्तयति, कम् ? प्रकृतिरागं प्रकृतयः स्वाम्यमात्यादयः सप्तप्रकृतीनामनुरागञ्च, कस्य ? परस्य शत्रोरात्मनश्चेति ॥३१॥

इत्युपायमविचार्य तवार्यः केवलं बलवतीरितकोपः ।
विश्रुतः समरणोद्यमचेताः मामृजुप्रकृतिकः प्रतिभाति ॥३२॥

इतीति–भाति । कोऽसौ ? अर्यः स्वामी, कस्य ? तव, कथम्भूतो भाति ? ऋजुप्रकृतिकः प्राञ्जलस्व-भावः, कं प्रति ? मां प्रति, कथम्भूतः ? इति उक्तप्रकारेण उपायम् अविचार्य बलवति बलिष्ठे रावणे ईरितकोपः ईरितः कोपो येन सः, कथम् ? केवलम्, कथम्भूतः ? विश्रुतो विख्यातः पुनः समरणोद्यमचेताः समं युगपत् रणोद्यमे चेतो यस्य स तथोक्तः ।

भारतीयः—भाति ? कः ? सोऽर्यः स्वामी, कस्यः ? तव, कथम्भूतो भाति ? केवलम् ऋजुप्रकृतिकः कम्प्रति ? माम्प्रति, पुनः कथम्भूतस्तवार्यः ? बलवति बलोऽस्यास्तीति बलवांस्तस्मिन् बलभद्रेण युक्ते कृष्णे, ईरितकोपः, किं कृत्वा ? पूर्वमविचार्य, कम् ? उपायम्, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण पुनः कथम्भूतः ? विश्रुतः विगतं श्रुतं यस्य सः हेयोपादेयविकलः पुनर्मरणोद्यमचेता मरणोद्यमे चेतो यस्य सः मरणोद्यमयुक्त इति शेषः ॥३२॥

दृष्टवान्न स दशास्यतेजसो भूभृतः खलु निरुन्धतो दिशः ।
तिग्मतां यदुदयानुबन्धिनस्तद्व्यवस्यति वृथा तवाधिपः ॥३३॥

देश, काल तथा चतुरीमें पूर्ण शृगाल क्या साहस कर सकता है? यदि उसके शरीर-में ही शक्ति न हो। तथा देश काल और बलकी अनुकूलतासे पुष्ट सिंह भी विवेकविमुख होकर आक्रमण करके अपने शरीरको क्षतविक्षत नहीं करता है? ॥३०॥

जो अपनी अथवा शत्रुके हिताहित विवेक, आत्मबल, सेना, भाग्य और प्रजा अधिकारियों और साधन सामग्रीका सब दृष्टियोंसे विचार नहीं करता है वह आक्रम्यके ऊपर आक्रमण करते ही विनष्ट हो जाता है ॥३१॥

हे लक्ष्मण! आपका ज्येष्ठ भ्राता उक्त प्रकारसे उपायोंका विचार बिना किये ही अत्यन्त बलवान् रावणके विरुद्ध कुपित होकर एकाएक रण करनेका संकल्प करता है अतएव वह मुझे शुद्ध शास्त्रज्ञ (पंडित) और सीधे स्वभावका प्रतीत होता है। [हे दूत! नीतिशास्त्र-ज्ञान शून्य तुम्हारा स्वामी जरासंध उक्त प्रकारसे उपायोंका सांगोपांग विचार बिना किये ही बलराम युक्त मुझपर जो क्रोध करता है वह उसका मरनेके प्रयत्नका ही विचार है। मुझे वह अविवेकी ही मालूम देता है] ॥३२॥

दृष्टवानिति–[द्विः] तत्तस्माद् वृथैवमेव व्यवस्यत्युत्सहते । कोऽसौ ? अधिपः स्वामी, कस्य ? तव, यद् यस्मात्कारणात्र दृष्टवान्नावलोकितवान्, कः ? स तवाधिपो रामः, काम् ? दशास्यतेजसो रावणप्रतापस्य तिग्मतां तीव्रताम् । कथम्भूतस्य ? भूभृतो भुवं पृथिवीं बिभर्तीति भूभृत्तस्यावनेः पोषकस्येत्यर्थः ? कथम्भूतां तिग्मताम् ? दिशः खलु निश्चयेन निरुन्धतीं प्रच्छादयन्तीम्, कथम्भूतस्य दशास्यतेजसः ? उदयानुबन्धिन उदयमनुबध्नातीत्येवंशीलस्य ।

भारतीयः–अस्य भूभृतो नारायणस्य तेजसस्तीव्रतां न दृष्टवान् ! कीदृशीं तिग्मताम् ? दश दिशो निरुन्धतीम् । कथम्भूतस्य नारायणस्य ? यदुदयानुबन्धिनो यदूनां यादवानां दयां करुणामनुबध्नातीत्येवंशीलस्तस्य । शेषं समम् ॥३३॥

अन्तकोऽपि वरुणोऽपि कुबेरो वासवोऽपि स यमेव भयार्तः ।
पश्यति प्रकुपितं प्रहरन्तं स्वप्नदर्शनकृपाणतलेषु ॥३४॥

अन्तकोऽपीति–पश्यति निरीक्षते । कः कर्ता ? स लोकप्रसिद्धोऽन्तकोऽपि दक्षिणाशाऽधिपोऽपि, तथा वरुणोऽपि पाशपाणिरपि, तथा कुबेरोऽपि धनदोऽपि वासवोऽपि वज्रपाणिरपि, कम् ? यमेव रावणं नारायणं चैव, किं कुर्वन्तं सन्तम् ? प्रहरन्तं पुनः प्रकुपितम्, केषु विषयेषु पश्यति ? स्वप्नदर्शनकृपाणतलेषु स्वप्नदर्शनेषु खड्गतलेषु च, तथा कथम्भूतः सन् पश्यति ? भयार्तो भयपीडितः अत्रान्तकादीनां साहचर्यादन्येषां नैर्ऋतादीनां चतुर्णां ग्रहणमिति ॥३४॥

योऽन्यमर्यमणमप्यतिक्रमप्रक्रमं न सहते प्रतापिनम् ।
नागमन्तमनयन्महोद्धतिं यो जगन्नयबलेन तायते ॥३५॥

य इति–न सहते न सोढुं शक्नोति । कोऽसौ ? यो रावणः, कम् ? अन्यमर्यमणं सूर्यम्, कथम्भूतमपि ? प्रतापिनमपि, पुनः कथम्भूतं सन्तम् ? अतिक्रमप्रक्रममतिक्रमं प्रक्रमत इत्यतिक्रमप्रक्रमस्तम् । अथवाऽतिक्रमस्य प्रक्रमो यस्य स तथोक्तस्तं जगतामतिक्रमं प्रक्रममाणमित्यर्थः । तथा यो रावणो नानयन्न प्रापयत् । कम् ? तमागमं विद्वज्जनप्रसिद्धां राजविद्याम्, कां नानयत् ? महोद्धतिं परमोत्कर्षम्, तथा यो रावणो नानयत्, कम् ? तं चार्यमणं सूर्यम्, काम् ? महोद्धृतिं तीव्रत्वम्, तथा यो रावणो न तायते न पालयति, किं तत् ? जगत्, केन ? नयबलेन नीतिसामर्थ्येन ।

भारतीयः–यो नारायणो न सहते, कम् ? अन्यमर्यमणम्, कथम्भूतम् ? प्रतापिनम्, पुनः कथम्भूतम् ? अतिक्रमप्रक्रमम्, तथा यो नारायणोऽनयत्, कम् ? नागं कुवलयपीडाख्यं दन्तिदानवम्, अथवा कालियाख्यं फणीन्द्रम्, कम् ? अन्तं विनाशम्, कथम्भूतं सन्तं नागम् ? महोद्धतिं महत्युद्धतिर्यस्य तं गर्विष्ठमित्यर्थः । तथा यो नारायणस्तायते, किं तत् ? जगत्, केन ? नयबलेनेति ॥३५॥

पृथ्वी भरके शासक अभ्युदयके मार्गपर अग्रसर दशमुख रावणके तेजकी दिशाओंको व्याप्त करती प्रखरताको आपके राजा रामने नहीं विचारा है इसीलिए वह व्यर्थ प्रयास कर रहा है। [यादवोंकी दयासे प्रेरित इस पृथ्वीपालक राजा कृष्णके दशों दिशाओंको आक्रान्त करनेवाले प्रतापकी तीक्ष्णताको वह तुम्हारा राजा जरासंध नहीं देखता है और व्यर्थ प्रयत्न कर रहा है] ॥३३॥

दक्षिण दिशाका स्वामी वह यम भी, वरुण भी, कुबेर भी और देवराज इन्द्र भी, कुपित हो कर प्रहार करते इस रावण अथवा नारायणको स्वप्नमें अथवा तलवारकी धारपर ही देखते हैं ॥३४॥

वह रावण परमप्रतापी सूर्यके द्वारा किये विश्वके दैनिक लंघनको भी सह्य नहीं करता है। लोकप्रसिद्ध आगमोंके पूर्ण उत्कर्षको नहीं होने देता है और संसारपर नीतिमार्गसे शासन नहीं करता है। [वह नारायण भी ''' । उसने अत्यन्त उग्र कालिय नागका अन्त कर दिया था तथा संसारका नैतिकतापूर्वक पालन करता है।] ॥३५॥

यः पूतनामादरमुक्तवृत्तिं घोराञ्चलामाकृतिदारुणां ताम् ।
बालोऽप्यपीडत्कुपितोऽरिमूर्तिं स्पर्द्धेच्छया वः किमनेन सार्धम् ॥३६॥

य इति—अनेन रावणेन सार्द्धं किं स्पर्द्धेच्छया वो युष्माकम् ? यो बालोऽपि सन्नपीडत्पीडयामास । काम् ? तामरिमूर्तिमरीणां मूर्तिम्, कथम्भूताम् ? दरमुक्तवृत्तिम्, दरः भयम्, वृत्तिः प्रजापालनलक्षणा, अथवा प्रौढप्रलापलक्षणा, दरेण मुक्ता वृत्तिर्यस्याः सा तथोक्ता ताम्, पुनः कथम्भूताम् ? घोरां तीव्राम्, पुनः चलां चपलां पुनराकृतिदारुणां कोपप्रसादाभ्यां जातेन कर्मणा सोढुमशक्यामित्यर्थः । पुनः कथम्भूतः ? पूतनामा पूतं नाम यस्य सः, पुनः कुपितः क्रुद्ध इति ।

भारतीयः—अनेन नारायणेन सार्द्धं किं स्पर्द्धेच्छया वो युष्माकम् । यतो यो बालोऽप्यपीडत्, काम् ? पूतनाम् । कथम्भूतः सन् ? कुपितः, कथम्भूताम् ? अरिमूर्तिं पुनरादरमुक्तवृत्तिम्[1] । शेषं समम् ॥३६॥

योऽलङ्केशीत्यायतिमायाद्दिशि तीव्रां वैरी नाऽमाघानि स येन प्रजिघांसुः ।
यो देवानां धाम समक्षं च विमानं तेजोवृत्त्या वैश्रवणीयं हरति स्म ॥३७॥

य इति—यो रावण आयात्प्राप । काम् ? लङ्केशीत्यायतिं लङ्कास्वामीति प्रसिद्धिम्, कथम्भूताम् ? तीव्राम्, तथा नाम अहो येन रावणेनाघानि हतः स प्रसिद्धोऽपि वैरी शत्रुः, कथम्भूतः ? प्रजिघांसुः, हन्तुकामः, कस्याम् ? दिशि, दिशीत्युपलक्षणाद्वीप्साऽत्र बोद्धव्या । तेनायमर्थः—दिशि दिशि प्रजिघांसुः सन्नघानि वैरी स प्रसिद्धः । तथा यो हरति स्म, किं तत् ? धाम तेजः, केषाम् ? देवानां सुधाशिनाम् । कया कृत्वा ? तेजो वृत्त्या, कथम् यथा भवति ? समक्षं लोकप्रसिद्धं लोकप्रत्यक्षम् । तथा हरति स्म, किं तत् ? विमानं पुष्पकाख्यम्, कथम्भूतम् ? वैश्रवणीयं वैश्रवणस्येदं वैश्रवणीयं धनदीयम्, कया ? तेजोवृत्त्या, कथम् ? देवानां समक्षम् ।

भारतीयः—य[2] आयात्प्राप, काम् ? केशीत्यायतिं ख्यातिम्, स लोकप्रसिद्धो वैरी येन नारायणेन अलमत्यर्थमघाति । तथा च यः समक्षं वैकुण्ठं देवानां धाम हरति स्म, कया कृत्वा ? तेजोवृत्त्या, कथम्भूतम् ? विमानं विगतं मानं यस्य तद्विमानं प्रचुरमित्यर्थः । पुनः श्रवणीयं श्रोतव्यं सा न पुनर्लोचनगोचरमित्यर्थः[3] ॥३७॥

इस रावणके साथ स्पर्द्धा करनेसे आपको क्या लाभ है। पवित्र नामधारी तथा कुपित इसने शिशुवयमें ही भयके कारण अपनी वृत्तिके त्यागकर्ता, निर्दय, चंचल, आकारसे ही कठोर शत्रुकी मूर्तिको मिटा दिया था [इस नारायणने······आदरहीन व्यवहारपूर्वक पूतना राक्षसीको मार दिया था ।] ॥३६॥

जो लंकेश्वर इस उत्तेजक नामसे ख्यात हुआ था, मारनेके लिए उद्यत अपने वैरीका जिसके द्वारा वध हुआ था और जिसने देवोंके देखते रहनेपर भी इन्द्रके प्रताप और पुष्पकविमानको अपने तेजमय आचरणसे छीन लिया था। [जो दिशा-दिशामें नारायण केशी इस नामसे पुकारा जाता है, जिस नारायणके द्वारा शत्रुओंका समूल विनाश किया गया है और जिसने सीमातीत वैकुण्ठ अथवा देवताओंके निवास स्वर्गका अपने प्रतापी चरित्र द्वारा अपहरण किया था। यह सब सुनने योग्य ही है ॥३७॥

---

१. इन्द्रवज्रा वृत्तम् । २. य आयात् आप । काम् ? केशीत्यायतिं विष्णुरित्याख्याम्, कथम्भूताम् ? तीव्राम्, कथम् अलम् अत्यर्थम् । तथा नाम अहो येन अघाति, कः ? स लोकप्रसिद्धो मधुः कैटभो वा वैरी, कथम्भूतः सन् ? प्रजिघांसुः कस्याम् ? दिशि, तथा वै यो हरति स्म, किं तत् ? धाम तेजः, केषाम् । देवानाम् कथं यथा भवति ? समक्षम्, कथम् ? वं स्फुटम्, कया कृत्वा ? तेजोवृत्त्या, कथम्भूतं धाम ? विमानं वि–प०, द० । ३. मत्तमयूरच्छन्दसि ।

वैरन्तुङ्गोवर्धनमिच्छन्नतु दृष्ट्वा कीर्त्यैकैलासं गतमुच्चैः स्थितिमुग्रः ।
तं यो लोकं वायुरिवोर्ध्वं धरति स्म त्रुट्यत्तन्तूभूतभुजङ्गं भुजदण्डैः ॥३८॥

वैरमिति—नन्वहो यो रावणः उच्चैः स्थितिं गतं प्राप्तं तं कैलासं कीर्त्यै यशसे वैरं दृष्ट्वा वर्द्धनं वृद्धिमिच्छन् सन् भुजदण्डैः त्रुट्यत्तन्तूभूतभुजङ्गा यत्रोद्धरणकर्मणि तद्यथा तथा धरति स्म । कः कमिव ? वायुरुर्ध्वं लोकमिव, कथम्भूतो रावणः ? तुङ्गो मानी ।

अधुना भारतीयः—नन्वहो यो नारायणः तं गोवर्द्धनं गोवर्द्धननामधेयं पर्वतं भुजदण्डैर्धरति स्म । कथम् ? ऊर्ध्वम् ? किं कुर्वन् ? इच्छन् । किं कर्त्तुम् ? रन्तुम्, किं कृत्वा ? पूर्वं दृष्ट्वा, कथम् ? वै स्फुटम्, कथं यथा धरति स्म ? एकैलासम्, इलायां भवा ऐलाः वृक्षाः, आसः क्षेपणं पतनमित्यर्थः ऐलानामासः, ऐलासः, एकः केवलः ऐलासो यत्रोद्धरणकर्मणि तदेकैलासं वृक्षोन्मूलपतनं यथेति । कथं यथा भवति ? त्रुट्यत्तन्तूभूतभुजङ्गम्, कथम्भूतं गोवर्द्धनम् ? उच्चैः स्थितिं गतम्, कथम्भूतो नारायणः ? कीर्त्या उग्रः, क इव ? वायुरिव । यथा वायुरूर्ध्वं लोकं धरतीति ॥३८॥

यस्य द्विषां शृङ्खलखङ्कृतानि प्रबोधतूर्यध्वनिमङ्गलानि ।
य ईदृशं प्रार्थयतेऽत्र साक्षाद्वैश्वानरः साहसिकः स एव ॥३९॥

यस्येति—यस्य रावणस्य द्विषां शृङ्खलखङ्कृतानि प्रबोधतूर्यध्वनि मङ्गलान्यजायन्त । यस्तं रावणम् अत्र युद्धे प्रार्थयते, स एव पुमान्साक्षात् परमार्थवृत्त्या वैश्वानरो वह्निः स्यात् । कथम्भूतं रावणम् ? ईदृशमनन्यसम्भविपराक्रमम्, यः प्रार्थयते, स कथम्भूतः ? साहसिकः यत्र नायं नाहमिति प्रत्ययस्तत्साहसं तद्वान् ।

भारतीय :–पूर्वार्द्धे स एवार्थः । यः अत्र युद्धे ईदृशं नारायणं प्रार्थयते स एव परः श्वा रात्रिजागरः स्यात्साक्षाद्वै स्फुटम्, कथम्भूतः सन् ? साहसिक[1]: ॥३९॥

किं विग्रहेणोभयजन्मनाशादन्योन्यमालिङ्ग्य भुजोपरोधम् ।
सुखेन जीवाम निजानुकूलं विवाहसम्बन्धपरम्पराभिः ॥४०॥

किमिति—विग्रहेण युद्धेन किं प्रयोजनम् ? कस्मात् ? उभयजन्मना उभाभ्यां जन्म यस्य स चासौ नाशश्च तस्मादुभयजन्मनाशात् । किं कृत्वा ? पूर्वमालिङ्ग्य परिरभ्य, कथं यथा भवति ? भुजोपरोधं भुजा-

---

अपने यशकी वृद्धिकी कामना करते हुए जिस अभिमानी तथा उग्र रावणने कैलास-पर्वतके अत्यन्त ऊँचे भागमें तपस्या करते अपने शत्रुको देख अपने भुजदण्डोंपर वैसे ही उठा दिया था जैसे वायु ऊर्ध्वलोकको उठाये है। रावणके उठानेके समय पृथ्वीतलमें वास करते हुए नाग तागोंकी तरह टूट गये थे।

अपने यशके कारण प्रबल नारायणने क्रीड़ा करनेकी इच्छा करके सामने अत्यन्त ऊँचे गोवर्द्धनको देखा और आश्चर्य है कि केवल वृक्षोंकी जड़ोंके उन्मूलन और तन्तुके समान टूटते सर्पोंके साथ उसे वैसे ही भुजाओंसे ऊपर उठा लिया था जिस प्रकार वायु-संसारको उठाये है ॥३८॥

शत्रुओंकी बन्धन-शृंखलाओंकी झंकार जिसके लिए प्रभात-कालीन बाजोंकी मंगल ध्वनिका काम देते हैं। इस प्रकारके प्रबल पराक्रमी रावणको जो (राम) व्यक्ति युद्धके लिए ललकारता है वह वास्तवमें ज्वाला है अथवा अतिसाहसी है [ऐसे वीरशिरोमणि नारायणको जो संसारमें अनुचर बनानेकी बात करता है वह (जरासन्ध) मनुष्य वास्तवमें अतिसाहसी कुत्ता ही है।] ॥३९॥

युद्धके द्वारा दोनोंका जन्म नाश करनेसे क्या लाभ है ? दोनों भुजाओंसे कोलमें

---

१. उपजातिवृत्तम् ।

वुपकथ्य, कथम् ? अन्योन्यं परस्परम्, अतो जीवाम, जीवामेत्यत्र सन्तोषार्थे लोट् निर्देशः। केन ? सुखेन, काभिः कृत्वा ? विवाहसम्बन्धपरम्पराभिः पाणिग्रहणोत्सवसम्बन्धश्रेणीभिः कथम् ? निजानुकूलं यथा ॥४०॥

इति तस्य निशम्य तीव्रभूयं भुवनेशासनहारिणा बभाषे ।
परुषं पुरुषोत्तमेन पत्यौ न सुभृत्यः क्षमते क्षिपां हि जात्यः ॥४१॥

इतीति—बभाषे उक्तम्, केन ? पुरुषोत्तमेन लक्ष्मणेन, कथं यथा भवति ? परुषं निष्ठुरम्, किं कृत्वा ? पूर्वं निशम्य श्रुत्वा। किम् ? तीव्रभूयं तीव्रत्वम्, कस्य ? तस्य सुग्रीवस्य, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, कथम्भूतेन। पुरुषोत्तमेन ? भुवनेशासनहारिणा भुवनेशानां नीलनलादीनां नरेन्द्राणामासनं हरतीत्येवंशीलेन राज्ञामासन-परिक्षेपकारिणेत्यर्थः। युक्तमेतत् सुभृत्यः प्रशस्योऽनुचरः पत्यौ स्वामिनि क्षिपामाक्षेपं न क्षमते न सहते। कथम् ? हि स्फुटम्, कथम्भूतः सुभृत्यः ? जात्यः कुलीन इति।

भारतीयः—पुरुषोत्तमेन पुरुषोत्तमनामधेयेन दूतेन बभाषे, कथम्भूतेन पुरुषोत्तमेन ? शासनहारिणा लेखवाहिना, क्व ? भुवने जगति, युक्तमेतत्। अन्वययोजना प्राग्वत्[1] ॥४१॥

त्वमिहात्थ यथा तथा स नो चेत्सुभटः प्राणपरिव्यये सहिष्णुः ।
किमिहोत्सहतेऽधिपो ममाहुर्निजशूरेषु हि विप्रियं प्रियं वा ॥४२॥

त्वमिति—आत्थ [आहस्थः इत्यनेन सूत्रेण थादेशः] ब्रवीषि, कः ? त्वमिह स्वकीयस्थाने, कथम् ? यथा तथा यदृच्छयेत्यर्थः, नो चेत् यदि न स्यात्, कोऽसौ ? सोऽधिपः स्वामी, कस्य ? मम, कथम्भूतः ? सुभटः, यदि च न स्यात् सहिष्णुः, क्व ? प्राणपरिव्यये प्राणत्यागे, किम् ? उत्सहते, क्व ? इह युद्धे, युक्तमेतत्, हि स्फुटम्, आहुर्वदन्ति, के ? विद्वज्जनाः, किम् ? विप्रियं प्रियं वा, केषु ? निजशूरेष्वात्मनोऽधीरेषु ॥४२॥

यदेष राज्ञः प्रथमं परिग्रहस्तदाहवेऽन्यैर्न हतो हतैरपि ।
समापतन्तं मृगयुर्मदोद्धतं न राजवध्यं हि शृणाति शूकरम् ॥४३॥

यदिति—सामान्योक्त्या व्याख्यायते। यत् न हतः, कोऽसौ ? एष परिग्रहः परिवारः, कैः ? अन्यैः शत्रुभिः, कथम्भूतैः ? हतैरपि, क्व ? आहवे संग्रामे, कथम् ? तदा तस्मिन्काले, कथम् ? प्रथमं प्रथमतः, कस्य परिग्रहः ? राज्ञः, युक्तमेतत्। हि यस्मान्न शृणाति हिनस्ति, कोऽसौ ? मृगयुः पापर्द्धिकः, कम् ? राजवध्यं समापतन्तं समागच्छन्तं मदोद्धतं मदोत्कटं शूकरं पोत्रिणम्[2] ॥४३॥

भरकर एक दूसरेका आलिंगन करें तथा आपसमें विवाहोंके सम्बन्धकी परम्परा चलाकर जैसी सुविधा हो उस प्रकार सुखसे जीवन व्यतीत करें ॥४०॥

इस प्रकारसे सुग्रीवकी तीखी बातें सुनकर बड़े-बड़े पृथ्वीपतियोंके राजसिंहासनोंके अपहरणकर्त्ता, पुरुष श्रेष्ठ लक्ष्मणने कठोरता पूर्वक कहा था। कुलीन अनुगामी अपने स्वामी-पर किये गये आक्षेपोंको सहन करते हैं [इस प्रकारसे नारायणकी तीक्ष्ण तथा कठोर बातें सुनकर पुरुषोत्तम नामक सन्देशवाहक दूतने कहना प्रारम्भ किया था। संसारमें अच्छे सेवक अपने स्वामीकी अवज्ञाको नहीं सहते हैं।] ॥४१॥

आप अपनी राजसभामें जो मनमें आया सो कह रहे हैं। वह आदर्श योद्धा मेरा स्वामी प्राण देकर भी सहिष्णुताके व्रतको न निभाता होता तो यहाँ ऐसा साहस न करता। आत्म-बलियोंका भला-बुरा अपने ही आधीन होता है ऐसा गुरुजन कहते हैं ॥४२॥

आघात किये जानेपर भी युद्धमें दूसरे लोगोंने राजाके इस परिवारको जो पहिले ही नहीं मारा है वह उसी प्रकार है जैसे मदोन्मत्त, आगे बढ़ते आते तथा राजाके लक्ष्यभूत शूकरको दूसरे आखेटके साथी नहीं मारते हैं ॥४३॥

---

१. औपच्छन्दसिकं वृत्तम्। तल्लक्षणं हि "पर्यन्ते र्यौ तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्।" वृ० र० ॥२।१३॥ २. वंशस्थवृत्तम्।

ऊढवान्यदपि गण्डशैलकं तन्न कारणमुदारमुन्नतेः ।
भूरिभारवहनं क्रमेलकः श्लाघ्यते युधि वधं तु सिन्धुरः ॥४४॥

ऊढवानिति–यदिति सामान्योक्तौ । यत्पुमान् गण्डशैलमारूढवान् स्थूलोपलमधितस्थौ । तदुन्नतेरुदारमुत्कटं कारणं न स्यात् । युक्तमेतत् । श्लाघ्यते, कोऽसौ ? क्रमलेकः उष्ट्रः, किं कर्तुम् ? कर्तुं भूरिभारवहनम्, तु पुनः श्लाघ्यते, कोऽसौ ? सिन्धुरो गजेन्द्रः, किं कर्तुम् ? कर्तुम्, कम् ? वधम्, क्व ? सङ्ग्रामे । उत्तरार्द्धं सोपस्करतया व्याख्यातमिति[1] ॥४४॥

वरमिह ततः सा रामे या क्रियेत विधेयता
न तु लघुजरा सन्धेयास्मिन्प्रतापिनि वक्रता ।
क्वचिदपि न वः स्वामी साहायकं प्रतिनाथते
सुपथगमनप्रारम्भाय प्रभोरयमुद्यमः ॥४५॥

वरमिति–[द्विः] ततस्तस्मात्कारणात् सा वरं स्यात् या विधेयता प्राञ्जलत्वं क्रियेत विधीयेत, क्व ? इह रामे, कथम्भूते ? प्रतापिनि अस्मिन् वक्रता कुटिलता न सन्धेया न सन्धातव्या, कथम्भूता वक्रता ? लघुजरा लघ्वी जरा यस्याः सा, नश्वरीत्यर्थः । न नाथते न याचते । कोऽसौ ? स्वामी, केषाम् ? वो युष्माकम्, कं प्रति ? साहायकं प्रति मित्रसमूहं प्रति, क्व ? क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि कार्ये । अयमुद्यमः स्यात्, कस्मै ? सुपथगमनप्रारम्भाय न्यायमार्गानुसरणप्रारम्भाय, कस्य ? प्रभो रामस्येति ।

भारतीयः–ततः सा वरं स्यात् क्रियेत । का ? या विधेयता, कथम्भूता ? सारा, पुनरमेया । क्व ? इह जरासन्धे, कथम् ? लघु शीघ्रम्, कथम्भूते ? प्रतापिनि, न त्वसौ वक्रता स्यात्, क्वचिदपि कस्मिंश्चित्कार्ये । न नाथतेऽपि तु नाथत एव । कः ? स्वामी, कं प्रति ? साहायकं प्रति, केषां स्वामी ? वो युष्माकम्, तथाऽयमुद्यमः स्यात्, कस्मै ? असुपथगमनप्रारम्भाय यमानुसरणप्रारम्भाय, कस्य ? प्रभोः, केषाम् ? वो युष्माकमिति[2] ॥४५॥

नाथोऽभ्युपेत्य विनयेन ततोऽनुनेय-
स्तस्य द्विषामिव दशा भवताञ्च माभूत् ।

यदि छोटेसे कैलाश अथवा गोवर्द्धनको उठा लिया तो इससे ही रावण अथवा नारायणकी विशाल उन्नतिका पता नहीं लग सकता है। युद्धस्थलमें भारी-भारी बोझ उठानेको ऊँट ही पसन्द करता है। हाथी तो मरने मारनेमें ही सुखी होता है ॥४४॥

अतएव जो सरलता यहाँ करेंगे वही ठीक है। इस परम प्रतापी रामके साथ शीघ्र ही नष्ट होनेवाली कपटनीतिका प्रयोग नहीं करना चाहिए। मेरा स्वामी कभी भी आप लोगोंसे सहायताके लिए प्रार्थना करता है? अपितु महाराज रामका यह प्रयत्न सुमार्गपर लानेके लिए ही है।

इस प्रकार प्रतापी जरासन्धके साथ जो सीमित किन्तु सारवान आज्ञाकारिता शीघ्र की जायगी वही लाभप्रद है, विपरीत आचरणसे कोई भी लाभ नहीं है। हमारा स्वामी आपकी सहायता ही चाहता है। आपलोगोंको कुमार्ग अथवा मृत्यु मार्गपर चलानेके लिए ही हमारे प्रभुका यह प्रयास है ॥४५॥

---

१. रथोद्धतावृत्तम् । २. हरिणीवृत्तम् ।

इत्याशु धीप्सितमुदीर्य ययौ स देशं
श्रीसाधनं जयधियां खलु विक्रमोक्तिः ॥४६॥

इति श्रीद्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये
दूतसंवादो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

नाथ इति—[द्विः] ततस्तस्मात्कारणात् नम्रहो, अनुनेय आश्रयणीयः, कः? नाथः स्वामी, विनयेन प्रश्रयेण, किं कृत्वा? पूर्वमुपेत्य समीपमागत्य, तथा च मा भूत् माऽभवत्, का? दशा अवस्था, केषाम्, भवताम्, च, केषामिव? द्विषामिव यथा शत्रूणाम्, कस्य? तस्य रामस्य इति धीप्सितं वक्तुमिष्टम्, उदीर्य प्रोच्य ययौ, कः? स लक्ष्मणः, कम्? देशम्, कथम्? आशु शीघ्रम्, युक्तमेतत्, नम्रहो स्यात्, का? विक्रमोक्तिः, किं स्यात्? श्रीसाधनं लक्ष्म्याः धारणम्, केषाम्? जयधियामिति।

भारतीयः—स पुरुषोत्तमनामधेयो दूतः देशं स्वविषयं ययौ कथम्? आशु शीघ्रम्, किं कृत्वा? पूर्वमुदीर्याभिधाय, किम्? धीप्सितं विवक्षितम्, कथम्? ननु ततोऽनुनेयः, कः? नाथः, नम्रहो स्यात्, का? विक्रमोक्तिः, किं स्यात्? श्रीसाधनम्, केषाम्? जयधियामिति[1] ॥४६॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदी नाम दधानायां टीकायां दूतसंवादकथनो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

अतएव विनयपूर्वक सेवामें जाकर रामका अनुसरण करो। आपकी उसके शत्रुओंके समान दुर्दशा न हो इस प्रकारसे अभीष्ट वक्तव्यको शीघ्र समाप्त करके वह ओजस्वी वक्ता लक्ष्मण उस स्थानको चला गया था जो विजयके इच्छुक लोगोंके लिए राज्यलक्ष्मीका साधन है। [......इस प्रकारसे अपने मनकी बात कहकर पुरुषोत्तम दूत शीघ्र ही अपने देशको भाग गया था। यह विरुद्ध क्रमसे कही गयी बात ही धनजयमें आस्था रखनेवालोंके लिए निश्चयसे लक्ष्मी थी] ॥४६॥

इति निर्दोषविद्याभूषणभूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके शिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र द्वारा विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी टीकामें दूतसंवाद नामक दशम सर्ग समाप्त।

---

१. वसन्ततिलका वृत्तम्।

एकादशः सर्गः

यस्यां नाथाः सप्रभावानराणां हित्वास्थानीं तां ययौ मन्त्रशालाम् ।
क्षुण्णैः कैश्चिन्नीतिमानेकपीनां विद्यास्वर्घ्यो दीप्रभावासुदेवः ॥१॥

यस्यामिति–ययौ गतवान् । कोऽसौ ? देवः, केषाम् ? कपीनां शाखामृगाणां सुग्रीव इत्यर्थः । काम् ? मन्त्रशालाम्, कथम् ? कैः ? मल्लिभिः, कथम्भूतैः ? क्षुण्णैः कृताभ्यासैः, कासु ? विद्यासु व्याकरणतर्कालङ्कारादिलक्षणासु, कथम्भूतासु ? दीप्रभावासु दीप्रो भावः स्वरूपो यासां ताः दीप्रभावाः, अथवा दीप्रः संशयमलपरित्यागतया विशदः, भावो हेयोपादेयलक्षणविवेचकः परिणामो यासु तास्तथोक्तास्तासु, कतिसङ्ख्योपेतैः ? कैश्चित् त्रिभिश्चतुर्भिर्वा । कथं देवः ? अर्घ्यः पूज्यः क्व सति ? नीतिमाने नीतिश्च मानश्च नीतिमानम् । अत्र समाहारापेक्षयैकवचनं तस्मिन्नीतिमाने, नीतिमान् मानी च सन्नर्घ्य इत्यर्थः । किंपूर्वं मन्त्रशालायां ययौ ? हित्वा परित्यज्य, काम् ? तामास्थानीं सभाम्, यतो यस्यामभूवन्, के ? नाथाः स्वामिनः, कथम्भूताः ? सप्रभास्तेजस्विनः, केषां नाथाः ? वानराणामिति ।

भारतीयः–ययौ, कोऽसौ ? वासुदेवो नारायणः, काम् ? मन्त्रशालाम् । कथम् ? सह, कैः ? मन्त्रिभिः । कथम्भूतैः ? क्षुण्णैः विहितयोग्यैः, कासु ? विद्यासु, कथम्भूतैः ? कैश्चित् त्रिभिश्चतुर्भिर्वा, कथम्भूतो वासुदेवः ? नीतिमान् न्यायमार्गवेदीत्यर्थः । पुनरर्घ्यः जगद्वन्द्यः पुनर्दीप्रभाः दीप्रा भा यस्य सः, प्रोज्ज्वलत्कायकान्तिः प्रोद्दीप्रकोपतेजा वा । किं कृत्वा ? पूर्वं हित्वा, काम् ? तामास्थानीं सभाम्, एकपीनां स्कन्धोपपीडमुपविष्टैरविच्छिन्नतया सामन्तादिभिः सम्भृतामित्यर्थः । यस्यां सभायामभवन्, के ? नाथाः समुद्रविजयादयः स्वामिनः, केषाम् ? नराणाम्, कथम्भूता अभूवन् ? सप्रभावाः प्रभावेन सह वर्त्तन्त इति सप्रभावाः समाहात्म्या इति[1] ॥ १ ॥

शान्तारावे सारिकाद्यप्रवेशे देशे मन्त्रं पञ्चकं शास्त्रशुद्धैः ।
इत्यारेभे मन्त्रिभिर्दृष्टशौचैर्दूरं दीर्घं ध्यायतां कार्यसिद्धिः ॥२॥

शान्तेति–आरेभे प्रारब्धवान् । कः ? सुग्रीवो नारायणश्च, कम् ? मन्त्रम्, कथम् ? सह, कैः ? मन्त्रिभिः, कथम्भूतैः ? शास्त्रशुद्धैः शास्त्रप्रवीणैः, पुनः कथम्भूतैः ? दृष्टशौचैः दृष्टं शौचं येषां तैर्दृष्टशौचैः शत्रुप्रयुक्तलम्बोपचारदूरीकृतैः प्रभोः कार्यभङ्गभीरुतया निर्लोभत्वात्तेषाम् । अत्रान्वयपरम्परयागतत्वात्सुजातित्वं कुलीनत्वञ्च प्रदर्शितं तेषां मन्त्रिणामिति भावः । क्व मन्त्रमारेभे ? शान्तारावे शान्तः आरावो यत्र तस्मिन्निर्जन्तुकतया प्रतिध्वनिपरित्यक्ते सारिकाद्यप्रवेशे सारिकाकीरवर्त्तिकादीनां प्रवेशोऽज्झितो, यतः शुकसारिकादिभिर्भिन्नो मन्त्रो दृष्टोऽतएव तेषां प्रवेशाभावो विहितः । देशे प्रदेशे । कथम्भूतं मन्त्रम् ? पञ्चकं पञ्चावयवा यस्य तम्, कस्मिन्मन्त्र्यम्, किम्मन्त्र्यम्, कैः सह मन्त्र्यमिति त्रिविधो विकल्पः । आद्यो देशकालापेक्षया द्विधः द्वितीयः

जिस स्थानपर मनुष्योंके प्रभावधारी नाथ थे उस स्थानको छोड़कर राजनीति और गौरवकी रक्षक मन्त्रशालामें, तीक्ष्ण विचारशक्तियुक्त विद्याओंके अभ्यासी कुछ मन्त्रियोंको साथ लेकर वानर वंशियोंका राजा सुग्रीव चला गया था ।

जिसमें मनुष्यलोकके विविध प्रभावशाली राजा बैठे थे उनसे भरी हुई उस राजसभासे उठकर प्रखर कान्तिमान्, नीतिनिपुण, वासुदेव, राजनीति आदि विद्याओंके अनुभवी लोगोंके साथ मन्त्रशालाको चला गया था ॥१॥

सब प्रकारके कोलाहलसे रहित मैना, तोता, आदिके प्रवेश वर्जित मन्त्रशालामें सुग्रीव अथवा नारायणने निर्लोभिता तथा कुलीनताके लिए ख्यात शास्त्रोंके मननके कारण शुद्ध बुद्धि मन्त्रियोंके साथ, मन्त्रणा की देश-काल, विषय, मन्त्रदाता आदिके भेदसे पञ्चांग

---

१. सर्गेऽस्मिन् शालिनीवृत्तम् ।

कर्मणामारम्भोपाय इत्यादिभिः पञ्चकः। कीदृशैः कतिपयैर्वेति द्विप्रस्तथैवमुदाह्रियते। कथम्? इति कृत्वा मन्त्रिभिर्मन्त्रं समारेभे। भो मन्त्रिणः सर्वकार्यधुरीणाः ध्यायतां पर्यालोचयताम्, का? कार्यसिद्धिः, कथं यथा भवति? दीर्घं दीर्घकाले दूरं दूरदेशविषये, कैः? भवद्भिरिति सम्भवनीयमिति ॥२॥

अप्रारम्भात्कार्यमकौशलाद्वा स्थानत्यागात्कामतः शेपतो वा।
नातिक्रान्तं प्राप्यते यौवनं वा तेनालोच्यं वोऽनुबन्धैश्चतुर्भिः ॥३॥

अप्रारम्भादिति-न प्राप्यते न लभ्यते, किं तत्? कार्यम्, कथम्भूतं सत्? अतिक्रान्तमतीतम्, कस्मात्? अप्रारम्भात्प्रमादवशादनुद्यमात्। वा अथवा कार्ये प्रवृत्ते अकौशलादनैपुण्यात्, वा स्थानत्यागात् सत्यपि क्रियामात्रनैपुण्ये स्थानत्यागात्स्थानात्स्थानान्तरगमनात् अत्र वासना स्थानत्यागात् न हि गौरपि दुह्यते, किं पुनः पुमर्थमिति। वा अथवा कामतः यदृच्छातः, अथवा शेपतः कोपादिभिः। अत्रोपमार्थः प्रदर्श्यते-वा यथा यौवनमतिक्रान्तं पुनर्न प्राप्यते यतः, तेन कारणेनालोच्यं वो युष्माकं युष्माभिः। कैः कृत्वा? अनुबन्धैः कतिसङ्ख्यापेतैः? चतुर्भिः—अर्थोऽर्थः, अर्थमनर्थः, अर्थमर्थः, अनर्थमनर्थः, अत्र वासना निरूप्यते अर्थोऽर्थानुबन्धी, अर्थोऽनर्थानुबन्धी, अनर्थोऽर्थानुबन्धी, अनर्थोऽनर्थानुबन्धीत्येवं कवेरिति ॥३॥

शिष्टैर्जुष्टं रक्षितं दण्डनीत्या दृष्टं चोच्चैर्यच्च पुण्यग्रहेण।
कार्यद्वारं श्रीगृहद्वारभूतं तस्मिन्मूढं दिग्विमूढं निराहुः ॥४॥

शिष्टैरिति-निराहुर्निर्वचनयन्ति। के? नीतिविशारदाः, कम्? मूढम्, क्व? तस्मिन्नालोच्ये, कथम्भूतं मूढं निराहुः? दिग्विमूढं दिशामूढम्। यच्च जुष्टं सेवितम्, कैः? शिष्टैः शास्त्रज्ञैः पुम्भिः,यच्च रक्षितम्, कया? दण्डनीत्या बाह्याभ्यन्तरविद्याप्रवेशमतो दण्डो दण्डस्तस्य नीत्या, यच्च दृष्टम्। केन? पुण्यग्रहेण दैवानुग्रहेण, कथम्? उच्चैः। अतिशयेन, कथम्भूतमालोच्यम्? कार्यद्वारं क्रियामुखम्, पुनः कथम्भूतम्? श्रीगृहद्वारभूतमिन्दिरामन्दिरद्वारभूतम् ॥४॥

[1]तच्चैकैकं यन्मुखेनैककेन ग्रासं योज्यं ग्रासवद्भावि पथ्यम्।
नानाद्वारैरापतद्वा हृषीकैर्दृश्यस्पृश्यादीव तद्ग्राह्यमेभिः ॥५॥

तदिति-तच्च कर्म एकैकमेकमेकं स्यात्। यस्मात्तम्, केन? मुखेन, कथम्भूतेन? एककेनैकेन, योज्यम्, किं तत्? पथ्यम्। पथोऽनपेतं पथ्यम्; यद्वस्तु गृहीतम् सत् पुरतो विक्रियां न भजते तत्पथ्यम्। कथम्भूतम्, भावि भविष्यत्, क इव? ग्रासवत् कवल इव। वाऽथवा ग्राह्यमादेयम्, किम्? तत्कर्म, किं कुर्वत्? आपतदागच्छत्, कैः? एभिर्नानाद्वारैः मन्त्रस्य पञ्चावयवैः, किमिव ग्राह्यम्? दृश्यस्पृश्यादीव दृश्यस्पृश्यादिवत्,

मन्त्रणा प्रारम्भ की थी। हे मंत्रियो, विचार करें किस प्रकार चिरस्थायी और व्यापक सफलता होगी ॥२॥

प्रारम्भ न करनेसे, प्रारम्भ करके भी अनुभव हीनताके कारण, चातुरी होनेपर भी स्थान परिवर्तनके कारण अवसर बीता कार्य अथवा यौवन पुनः हाथ नहीं आता है अतएव आप लोग प्रकृत विषयपर अर्थसाधक अर्थ, अनर्थकारी अर्थ, अर्थबाधक अनर्थ और अनर्थकारी अनर्थ इन चार दृष्टियोंसे विचार करें ॥३॥

जिस कार्य योजनामें सज्जनोंका सहयोग हो, दण्डनीति जिसका रक्षक हो तथा उच्च स्थानपर गत शुभ ग्रहोंकी जिसपर दृष्टि हो वह लक्ष्मी-मन्दिरके प्रवेश-द्वारके समान होती है। जो ऐसी योजनाके विषयमें मूढ़ है उसे नीतिकार दिग्भ्रान्त ही कहते हैं ॥४॥

इनमेंसे प्रत्येक, जो सामने आता है उसको एक-एककी दृष्टिसे ऐसा बैठाना चाहिए जो भविष्यमें इष्ट साधक हो जैसा कि सामने आये ग्रास एक मुखसे ही एक-एक करके लेनेसे पथ्य होते हैं। अथवा एक साथ उपस्थित विचारणीय विषयोंको इस पाँच अवयवोंकी दृष्टिसे

1. दपुस्तके "यच्चैकैकं यन्मुखेनैककेन" इति पाठोऽस्ति।

दृश्यं लोचनविषयम्, स्पृश्यं स्पर्शविषयमित्यादिवद्‌युज्यते । यथा दृश्यस्पृश्यादि गृह्यते । कैः ? हृषीकैरिन्द्रियैः स्पर्शनरसनघ्राणलोचनश्रवणैरिति ॥५॥

तत्सर्वं वारभ्यमल्पाल्पमेव स्वीकर्त्तव्यं कर्म कालक्षमञ्चेत् ।
गौराहारं हृद्यमाहृत्य विश्वं कामं रोमन्थायतेऽनुक्रमेण ॥६॥

तदिति—वाऽथवा स्वीकर्त्तव्यमेव उररीकरणीयमेव, किम् ? तत्सर्वमारभ्यं कर्म, कथम्भूतं सत् ? अल्पाल्पं स्तोकस्तोकं चेद्यदि स्यात्, किम् ? कर्म, कथम्भूतम् ? कालक्षमं कालं क्षमते कालक्षमं समयसहिष्णु । यत एतत् सुप्रसिद्धमिदं रोमन्थायते रोमन्थं करोति, काऽसौ ? गौर्नन्दिनी । केन ? अनुक्रमेण परिपाट्या शनैः शनैरित्यर्थः । किं कृत्वा पूर्वं रोमन्थायते ? आहृत्य जग्ध्वा । कम् ? आहारम्, कथम्भूतम् ? हृद्यं हृदि साधु यद्भक्षितं तद्धृदि व्यथाज्जकुरुते तद्धृद्यम्; सात्म्यभूतम्, विश्वं समस्तम्, कथमाहृत्य ? कामं स्वेच्छया आकण्ठमित्यर्थः ॥६॥

कार्यस्यादौ यः प्रयुङ्क्ते न नीतिं गच्छन्त्यस्य स्वादुभावं न भोगाः ।
नूनं धात्राऽप्येतदर्थं जनानां जिह्वास्येषु स्थापिता नोदरेषु ॥७॥

कार्यस्येति—यः पुमान् न प्रयुङ्क्ते न प्रयोजयति, काम् ? नीतिम्, क्व ? आदौ प्रथमारम्भे, कस्य ? कार्यस्य कर्मणः, यतस्ततो न गच्छन्ति न व्रजन्ति, के ? भोगाः कर्पूरकस्तूरीताम्बूलादयः, कम् ? स्वादुभावं रसविवेचनीयताम्, कस्य ? अस्य पुंसः । स्थापिता, का ? जिह्वा रसना, केन ? धात्रा ब्रह्मणापि, क्व ? आस्येषु वदनेषु, केषाम् ? जनानाम्, किमर्थम् ? एतदर्थं स्वादुभावार्थम्, नोदरेषु स्थापिता, कथम्भूतम् ? नूनं निश्चयेन, अथवा नूनमिति शब्दोऽत्रोत्प्रेक्षार्थो निश्चेतव्य इति ॥७॥

कस्यात्यन्तं मित्रमेकान्ततो वा शत्रुः कृत्यं शत्रुमित्रत्वहेतुः ।
यस्यारम्भान्नातिवर्त्तेत सख्यं वैरं वारात्येन तत्कर्म कुर्युः ॥८॥

कस्येति—आक्षेपेणात्र व्याख्यायते । कस्य मित्रं स्यादपि तु न कस्यापि, कथम् ? अत्यन्तमतिशयेनाजन्मपर्यन्तमित्यर्थः । वा अथवा कस्य शत्रुः स्यादपि तु कस्यापि, कथम् ? एकान्ततो नियमेन, अतः कारणात्कृत्यं कार्यं शत्रुमित्रत्वहेतुः स्यात्, शत्रुत्वकारणं मित्रत्वकारणञ्च । अतः कुर्युः विदध्युः भवन्तः, किम् ? तत्कर्म कार्यम्, नातिवर्त्तेत नातिक्रामति, किम् ? सख्यं मित्रत्वं, अथवा वैरम्, केन सह ? आरात्येनारातिसमूहेन, कस्मात् ? आरम्भात्, कस्य ? यस्य कर्मण इति ॥८॥

अभ्यादत्ते कार्यजं योनिजं वा प्राप्तं मित्रं शत्रुमप्राप्तमेव ।
तस्य श्लाघ्यं जन्म कृत्वाप्रधानं किं तूलापो रावणीयोऽपि चिन्त्यः ॥९॥

वैसा ही विचारना चाहिये जैसे विविध दृश्य और स्पृश्य भोगोंको इन्द्रियोंसे ग्रहण करते हैं ॥५॥

अथवा, यदि प्रतीक्षा की जा सकती हो तो समस्त आरब्ध कार्यको थोड़ा-थोड़ा करके ही हाथ लगाना चाहिए जैसे गाय परम प्रिय भोजनको एक बारमें ही पूरा तथा जी भरके खा करके बादमें धीरे-धीरे जुगाली करती है । ॥६॥

जो व्यक्ति कार्यके प्रारम्भमें ही नीतिसे काम नहीं लेता है उसके राज्यादि भोग सरस नहीं होते हैं । इसीलिए विधाताने लोगोंके मुखमें जिह्वा बनायी है और पेटमें नहीं बनायी है, यह निश्चय है । ॥७॥

कौन ऐसा व्यक्ति है जिसके अत्यन्त मित्र होते हों अथवा जिसके सर्वथा शत्रु ही होते हों । अतएव जिसके आरम्भ करनेसे मित्रताका अतिक्रमण न होता हो अथवा शत्रु-समूहके साथ वैरका अपलाप न होता हो वही कार्य आप लोग करें । ॥८॥

अभ्यादत्त इति–अभ्यादत्ते प्रतिगृह्णाति, कः ? यः पुमान्, किम् ? मित्रं सहायम्, कथम्भूतम् ? प्राप्तं वर्त्तमानम्, कथम्भूतम् ? कार्यजं कार्याज्जातं योनिजं वा योनेर्जातमन्वयपरम्परयागतमित्यर्थः । तथाऽभ्यादत्ते, कम् ? शत्रुम्, कथम्भूतमेव ? अप्राप्तमेव भाविनमेव, कथम्भूतम् ? कार्यजं योनिजं वा वंशजं वा । श्लाघ्यं स्तुत्यम्, किम् ? जन्म जीवितम्, कस्य ? तस्य पुंसः, अतः कारणात्, किन्त्वनुशयान इति प्राह सुग्रीवः—भो मन्त्रिणश्चिन्त्यो जायते, कः ? उत्तापः, केषाम् ? भवताम्, किं कृत्वा ? पूर्वं कृत्वा विधाय, किम् ? अवधानं तत्परताम्, कथम्भूतः ? उपात्तः राघवीयो रावणस्यायमिति ।

भारतीयः–किन्त्वनुशयानो वासुदेवः प्राह–भो मन्त्रिणश्चिन्त्यः, कः ? उत्तापः । क्व ? अरौ, कथम् ? अणीयः स्वल्पं यथा, केषाम् ? भवताम्, किं कृत्वा ? पूर्वं कृत्वा, किम् ? अवधानं प्रणिधानम् । शेषं समम् ॥९॥

यद्वंशस्य प्राभवं लोकरूढं यः शौरीयं धाम संहर्त्तुमीशः ।
बद्धस्पर्धोऽनेन विद्वेषभाजा सार्धं मित्रैर्गोत्रनाशं समेति ॥१०॥

य इति–यो राम ईशः समर्थः, किं कर्त्तुम् ? संहर्त्तुम्, कम् ? प्रभावं माहात्म्यम्, कस्य ? यद्वंशस्य रावणान्वयस्य मालिसुमालिप्रभृतेः, तथा संहर्त्तुमीशो रामः, किम् ? धाम तेजः, कथम् ? शौरीयं शूराणां समूहः शौरः शौरस्येदं शौरीयमथवा सूर्य एव सौरः, स्वार्थेऽण्, सौरस्येदं सौरीयमादित्यस्येदम्, पुनः कथम्भूतम् ? लोकरूढं जगत्प्रसिद्धम्, अतः समेति सम्यक्प्रकारेणायाति, कः ? बद्धस्पर्धः विहितस्पर्द्धः कृतेर्ष्यो नरः, कम् ? गोत्रनाशम्, कथम् ? सार्द्धम्, कैः ? मित्रैः, बद्धस्पर्धः केन ? अनेन रामेण सार्धं सह, कथम्भूतेनानेन ? विद्वेषभाजा विद्वेषं भजमानेन ।

अथ भारतीयः–यो जरासन्ध ईशः समर्थः, किं कर्त्तुम् ? संहर्त्तुम्, कम् ? प्राभवं माहात्म्यम्, कस्य ? यद्वंशस्य यदूनामंशस्य, अथवा प्रभवे जातः प्राभवस्तं प्राभवं जन्मजातम् । अत्र वासना–अन्येषां का वार्त्ता यादवांशस्यैकदिनजातं बालकमपि संहर्त्तुमीष्टे तथा संहर्त्तुमीशः, किम् धाम तेजः, कथम्भूतम् शौरीयं नारायणीयम्, पुनः कथम्भूतम् ? लोकरूढं जगद्विख्यातम् । अथवा यो जरासन्धः, किम् ? धाम तेजः, कथम्भूतम् ? सौरीयं सूर्यस्येदम्, पुनर्लोकरूढम् । रूपकमिदम्, अनेन जरासन्धेन सह यः प्राणी बद्धस्पर्धो जायते । कथम्भूतेन ? विद्वेषभाजा विद्वज्जनानां वेषमाकारं भजमानेन, समेति स प्राणी, कम् ? गोत्रनाशम्, कथम् ? सार्द्धम्, कैः ? मित्रैरिति ॥१०॥

स्वस्यारेश्चायोधयन्मित्रमित्रं मित्रं पार्ष्णिग्राहमाक्रन्दकञ्च ।
तन्वासारावप्युपायैर्जिगीषुः शक्त्या सिद्ध्याभ्युद्यतो हन्त्यरातिम् ॥११॥

उसका जन्म प्रशंसनीय है जो कार्यकृत अथवा जन्मजात स्वयं अभ्यागत मित्रोंको स्वीकार करता है तथा व्यवहारके कारण बने अथवा कुलक्रमागत शत्रुका दूरसे ही प्रतिकार करता है । किन्तु इससे सावधान होकर आपको रावणके उपद्रवका विचार करना है [किन्तु इस समय पूरा विवेकके साथ आपको शत्रु (जरासंध) के विषयमें छोटे से छोटे भी विरोध सोचने हैं] ॥९॥

जिसके वंशका प्रभाव संसारमें छा रहा है, जिसका तेज वीरतासे उत्पन्न है, जो शत्रुओंके विनाशमें समर्थ तथा सहज ही रुष्ट होनेवाले इसके साथ ईर्ष्या करनेवाला अपने सहायकोंके साथ वंशके क्षयको प्राप्त होता है ।

अन्वय—यः यदु-अंशस्य प्राभवं लोकरूढं शौरीयं धाम संहर्तुम् ईशः विद्वेषभाजानेन बद्धस्पर्धो मित्रैः सार्धं गोत्रनाशं समेति ।

जो जरासंध राजा यदुकी सद्यःप्रसूत, नारायणकी शक्तिसे सम्पन्न जगद्विख्यात सन्तानको भी मार सकता है, विद्वानोंके वेषके धारक इसके साथ प्रतिद्वन्द्विता करनेवालेका ही नहीं अपितु उसके मित्रोंके भी वंश नष्ट हो जाते हैं । ॥१०॥

स्वस्येति—हन्ति हिनस्ति, कः ? जिगीषुः, कम् ? अरातिं शत्रुम्, कैः कृत्वा ? उपायैः सामादिभिश्चतुर्भिः, सामभेददण्डोपदानैः, कथम्भूतः सन् ? अभ्युद्यतः सामस्त्येनोत्थितः समुत्कन्न इत्यर्थः । कया ? सिद्ध्या पुण्यपाकेन, तथा शक्त्या शक्तित्रयेण । तथा चोक्तम्—"प्रभुशक्तिर्भवेदाद्या मन्त्रशक्तिर्द्वितीयका । तृतीयोत्साहशक्तिश्चेत्याहुः शक्तित्रयं बुधाः"—किं कुर्वन् ? आयोधयन्, किम् ? मित्रमित्रम्, (मित्रं च) कस्य ? स्वस्यात्मनः, अरेश्च शत्रोश्च । तथा पार्ष्णिग्राहमाक्रन्दकञ्च, तथा आसारौ पार्ष्णिग्राहमित्रमाक्रन्दकमित्रं च आयोधयन् । अत्र व्यक्तिराया व्याक्रियते—स्वमित्रमित्रेण सहारिमित्रमित्रमायोधयन्, तथा स्वमित्रेणारिमित्रम्, आक्रन्दकेन । सह पार्ष्णिग्राहं पार्ष्णिग्राहासारेण सहाक्रन्दासारम् । कथम् ? ननु, नन्विति शब्दोऽत्र निश्चयार्थोऽवधारणार्थोऽप्यामन्त्रणार्थो वा गृह्यते । मित्रादयो दश द्वौ मध्यस्थाविति द्वादशमण्डलम् । तथा चोक्तम्—"विजिगीषोर्द्विषज्जेतुर्मित्रमित्रं रिपोरपि । जिगीषोर्मित्रमित्रञ्च मित्रारेर्मित्रमेव च ॥ जिगीषोः पृष्ठतः पार्ष्णिग्राहाक्रान्दावुपस्थितौ । तदासारौ तु विज्ञेयौ मध्यस्थौ पार्श्वयोरपि" ॥११॥

रक्षोपायः शक्यते केन कर्त्तुं कः क्रुद्धेऽस्मिन्वामयीहेत योद्धुम् ।
उद्योक्तव्यं नैष कालः क्षमाया योज्यो योगक्षेमसिद्ध्यै हि दण्डः ॥१२॥

द्विः । रक्षेति—शक्यते समर्थो भूयते, केन कर्त्राऽपि तु न केनापि, किम् ? कर्त्तुम् विधातुम्, कः ? रक्षोपायः रक्षसो रावणस्यापायो विध्वंसस्तथा ईहेत इच्छेत कः अपि तु न कोऽपि, किं कर्त्तुम् ? योद्धुम्, क ? अस्मिन्रावणे, कथम्भूते ? क्रुद्धे, पुनः वामे प्रतिकूले, अत उद्योक्तव्यमुत्साहः करणीयः, यतो न वर्त्तते कः ? एष कालः समयः, कस्याः ? क्षमायाः, अतो योज्यो योजनीयः, कः ? दण्डः सैन्यम्, कस्यै ? योगक्षेमसिद्ध्यै; योगोऽलब्धलाभः, क्षेमो लब्धपरिरक्षणम्, तयोः सिद्ध्यै सिद्धिनिमित्तम्, कथम् ? हि स्फुटमिति शेषः ।

भारतीय—रक्षोपायो रक्षाया उपायः, केन कर्त्तुं शक्यतेऽपि तु न केनापि, वाऽथवाऽस्मिन् मयि विष्णौ क्रुद्धे सति क ईहेत योद्धुमपि तु न कोऽपि । अत उद्योक्तव्यम्, क्षमाया नैष कालो वर्त्तते, योज्यो दण्डः, कस्यै ? योगक्षेमसिद्ध्यै, कथम् ? हि स्फुटम् ॥१२॥

इत्येतस्मिन्नुक्तवत्येतदेवं धीरोदारं धर्मजन्मा बभाषे ।
गाम्भीर्येणानूनभाजाम्बवोऽसौ राशिः सत्त्वस्याश्रयः शौर्यवृत्तेः ॥१३॥

इतीति—इत्युक्तप्रकारेणैतस्मिन्सुग्रीवे, एतदेवमुक्तवति सति बभाषेऽवादीत्, कोऽसौ ? असौ जाम्बवः, कथं यथा भवति ? धीरोदारम्, कथम्भूतः ? धर्मजन्मा धर्मेणोपलक्षितं जन्म यस्य स धर्मजन्मा, पुनः कथंभूतः ? अनूनभाः प्रचुरकायकान्तिः, अथवा प्रौढप्रतापः, पुनर्गाम्भीर्येण सत्त्वस्य राशिः, पुनः शौर्यवृत्तेराश्रयः ।

भारतीयः—इत्युक्तप्रकारेणैतदेवमेतस्मिन् नारायण उक्तवति सति बभाषे, कः ? असौ धर्मजन्मा युधि-

---

सर्वथा सन्नद्ध विजयका इच्छुक अपने तथा शत्रुके मित्रोंको, मित्रोंके मित्रोंको सेनाके पीछेके व्यूहभूत पार्ष्णिग्राह और आक्रन्दकोंको एवं दोनों पार्श्वोंके बीचमें चलती सेना (आसारों)को लड़ाते हुए, सामादि उपायोंके द्वारा, प्रभु-मंत्र-उत्साह शक्तिके द्वारा और विद्या, आदिकी सिद्धिके द्वारा निश्चित ही शत्रुका नाश करते हैं । ॥११॥

इस राक्षसका कौन विनाश (रक्षसः-अपायः) कर सकता है ? इसके कुपित तथा प्रतिकूल हो जानेपर कौन इससे युद्ध करने की इच्छा करेगा ? अतएव इससे लड़नेका ही पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए यह क्षमाका समय नहीं है । अप्राप्तकी प्राप्ति (योग) तथा प्राप्तके संरक्षण (क्षेम)के लिए दण्ड का प्रयोग करना चाहिये [कौन विष्णु (मयि)के कुपित हो जानेपर उनसे लड़नेका साहस करेगा अथवा रक्षाका उपाय (रक्षोपाय) कर सकता है…] ॥१२॥

इस प्रकारसे, इतना सुग्रीवके द्वारा कहते रहनेपर ही जाम्बवान्‌ने अत्यन्त धीरता और उदारतापूर्वक कहा था । जाम्बवान्‌का जन्म धर्मके लिए था, शरीरकी कान्ति अविकल थी, गम्भीरताके कारण वह बलकी राशि था तथा वीर वृत्तिका आश्रय था [इस प्रकारसे कृष्णजीके द्वारा कहे जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने धीरोदार रूपसे कहा था, धर्म-

श्रिरः, कथं यथा भवति ? धीरोदारम्, कथम्भूतः ? आम्बवो राशिः समुद्रः, कस्य ? सत्वस्य, केन कृत्वा ? गाम्भीर्येण, कथम्भूतेन ? अनूनभाजा प्राचुर्यं भजमानेन, पुनः कथम्भूतः ? आश्रयः, कस्याः ? शौर्यवृत्तेरिति ॥१३॥

कर्मोपायं प्रक्रमं तत्फलाप्तिं साधूदाख्यत्पौरुषेणानुविद्धम् ।
वस्तूदात्तं भूरिवागल्पसारा स्वल्पे दृश्यं दर्पणे हि स्थवीयः ॥१४॥

कर्मेति—उदाख्यदुदाहरत्, कोऽसौ ? आम्बवो युधिष्ठिरश्च, कम् ? कर्मोपायं बलदुर्गराष्ट्रधान्यादिविषयमात्मीयम्, तथा प्रक्रमं षाड्गुण्यविशेषम्, तथा तत्फलाप्तिं कार्यारम्भात् कार्यफलं कार्यप्रसिद्धिं, कथं यथा भवति ? साधु कथम्भूतं कर्मोपायं प्रक्रमञ्च ? पौरुषेणानुविद्धमनुस्यूतम्, पुनर्वस्तूदात्तं वस्तुसमृद्धम्, युक्तमेतत्, स्यात् भूरिवाक् प्रचुरवचनम्, कथम्भूता स्यात् ? अल्पसारा अल्पार्था तुच्छेत्यर्थः । हि यस्मात् यथा स्वल्पे दर्पणे दृश्यं स्तम्भकुम्भादिवस्तुस्थवीयः स्थूलतरं स्यादिति ॥१४॥

किं व्यायामो यो विहीनः शमेन व्यायामं यः प्रेक्षते किं शमस्तौ ।
योगक्षेमस्यैतयोः षड्गुणास्ते योनिस्तेभ्यः स्थानवृद्धिक्षयाः स्युः ॥१५॥

किमिति—स किं व्यायामः कार्यारम्भाणां योगाराधनलक्षणः, यो विहीनः स्यात्, केन ? शमेन कर्मफलभोगोपभोगानां क्षमाधनलक्षणेन, किं हि स्वर्गफलनिरपेक्षस्तपोमार्गस्तथा स किं शमो यः प्रेक्षते, कथम् ? व्यायामम्, तपस्याक्लेशव्यपेक्षः स्वर्गः, तौ व्यायामशमौ योनिः स्याताम्, कस्य ? योगक्षेमस्य । 'अत्र समाहारापेक्षया एकवचनम् । एतयोर्व्यायामशमयोः ते षड्गुणाः सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावलक्षणाः योनिः स्युः, तेभ्यः षड्गुणेभ्यः स्युः, के ? स्थानवृद्धिक्षयाः फलानि । तथाहि यस्मिन्गुणे परस्य वृद्धिरात्मनः क्षयस्तस्मिन् तिष्ठेत्स क्षयः, यस्मिन्परस्य क्षय आत्मनो वृद्धिस्तस्मिन्तिष्ठेत्सा वृद्धिः, यस्मिन्परस्य आत्मनश्च क्षयो न तत्स्थानम् अथवा यदि यातव्यः शत्रुस्थानस्थितः स्यात्तेन सह सन्ध्यासने स्तः, वृद्धियुतश्चेद्भवेत्तेन सार्द्धं द्वैधीभावसंश्रयौ स्तः । यदि क्षयी स्यात्तेन सार्कं यानविग्रहौ स्तः ॥१५॥

तद्यातव्यं तत्प्रकृत्यानुकूल्यं दैवं मार्त्यं कर्मनिर्माणशक्तिम् ।
ध्यात्वा कृत्याकृत्यपक्षान्गृहीत्वा वाग्दानाभ्यामुद्यतेनाभिषेण्यम् ॥१६॥

तदिति—तत्तस्मात्कारणादभिषेण्यं सेनयाऽभियातव्यमुद्यतेन विजिगीषुणा, किं कृत्वा ? पूर्वं गृहीत्वादाय, कान् ? कृत्याकृत्यपक्षान्, कृत्याः कर्तुं शक्याः, अकृत्याः कर्तुमशक्याः, कृत्यानामकृत्यानाञ्च ये पक्षास्तान् भेद्याभेद्यपक्षानित्यर्थः । काभ्याम् ? वाग्दानाभ्याम्, यतः किं वाङ्मात्रेण दानरहितेन, किं दानमात्रेण सम्भाषणरहितेन कार्यं स्यात्, अतः द्वाभ्यामेव युगपद्भवितव्यं कार्यसिद्धये । किं कृत्वा ? पूर्वं ध्यात्वा, कम् ?

राज परिपूर्ण रूपसे विकसित गाम्भीर्यके कारण पराक्रमके समुद्र (आम्बवो राशिः) थे तथा वीर वृत्तिके...] ॥१३॥

जाम्बवन्त अथवा युधिष्ठिरने सैन्य, दुर्ग आदि कर्मोंके उपायों, संधि, विग्रह आदि प्रक्रमों तथा इनके फलोंकी प्राप्तिके विषयमें भलीभाँति समझा दिया था। यह मंत्रणा पौरुष के पुटसे व्याप्त थी, अर्थमें महान् थी। बहुत वचन और थोड़े अर्थ वाली नहीं थी क्योंकि छोटेसे दर्पणमें भी बड़े-से-बड़े पदार्थकी परछाईं दिख जाती है ॥१४॥

वह बल-साधना किस काम की जिसका फल व्यवस्था और समृद्धि न हो। वह शान्ति और समृद्धि भी कैसी जो कष्टों और साहसकी अपेक्षा करती हो। व्यायाम और शमको योग तथा क्षेमका उद्गम कहा है। इन्हीं दोनोंमें सन्धि, विग्रह आदि वे षड्गुण निहित हैं जिनके प्रयोग-द्वारा अवस्थिति, वृद्धि और क्षय होते हैं ॥१५॥

अतएव विजिगीषुको सहायता करनेमें समर्थ तथा असमर्थ पक्षोंका विचार करके और उन्हें आश्वासन तथा सहायता देकर अथवा लेकर अनुगामी बनाकर, सब प्रकारसे

यातव्यं व्यसनिनमधार्मिकं घुणजग्धकाष्ठसधर्माणं शत्रुम्, तथा ध्यात्वा, किं तत्प्रकृत्यानुकूल्यं शत्रुप्रकृतीनां स्वाम्यमात्यादीनामानुकूल्यं तथा ध्यात्वा, किम्? दैवं धर्माधर्मलक्षणम्, तथा ध्यात्वा, किम्? मार्गं नयानयलक्षणम्, तथा ध्यात्वा, काम्? निर्माणशक्तिं कार्यनिष्पत्तियोग्यतामिति ॥१६॥

साम्ना मित्रारातिपातौ भवेतां दण्डेनारं केवलं नैव मैत्री।

सान्त्वे दण्डः साम दण्डे न वह्नेर्दाहोऽस्त्येकः शैत्यदाहौ हिमस्य ॥१७॥

साम्नेति—भवेतां स्याताम्, कौ? मित्रारातिपातौ मित्रं शत्रुपातश्च, केन? साम्ना, तथा स्यात्। किम्? आरम् अरेर्भावः, शत्रुत्वमित्यर्थः। कथम्? केवलं परमेकमेव वा, केन? दण्डेन, नैव मैत्री स्यात्। अतो न स्यात्, कः? दण्डः, क? सान्त्वे साम्नि युक्तमेतत् तथा न स्यात् किम्? साम, क? दण्डे। अस्ति, कः? दाहः, कथम्भूतः? एकः, कस्य? वह्नेः कृशानोः, स्तः स्याताम्, कौ? शैत्यदाहौ, कस्य? हिमस्य तुहिनस्येति ॥१७॥

तीक्ष्णो नादः साधयेद्यन्म्रदीयान्मूलं नाप्नोत्यग्निरापः खनन्ति।

किञ्च प्राप्यं वक्रशीलो न यावद्यात्येवर्जुस्तावदभ्येत्य भुङ्क्ते ॥१८॥

तीक्ष्ण इति—साधयेत्, कः? म्रदीयान् मृदुभाषी नरः, किम्? यत्, अद एतत्कार्य, तन्न साधयेत्, कः? तीव्रः तीव्रभाषी, यतो नाप्नोति न लभते, कः? अग्निः, किम्? मूलम्, यथा खनन्त्युन्मूलयन्ति, काः? आपः पयांसि, किम्? मूलम्, अथ तीव्रत्वं प्रदर्शितम्। किञ्चाधिकमुच्यते। यावत् न याति न प्राप्नोति, कः? वक्रो वक्रशीलो नरः, किम्? प्राप्यं लभ्यं वस्तु। तावद्भुङ्क्त एव, कः? ऋजुः प्राणी, किम्? प्राप्यम्, किं कृत्वा? पूर्वमभ्येत्य शीघ्रमागत्येति ॥१८॥

साम्नारब्धे शात्रवे किं चरैर्वा भेद्या दूतैरेव तस्योपजाप्याः।

भिन्नं राज्यं सुप्रवेशं मणिं वा वज्रोत्कीर्णं निर्विशेत्किं न तन्तुः ॥१९॥

साम्नेति—किमाक्षेपे, किं प्रयोजनम्? कैः? चरैर्गूढपुरुषैः, क सति? शात्रवे शत्रुसमूहे साम्ना सान्त्वेनारब्धे सति, वा अथवा जायन्ते, के? उपजाप्याः कर्णेजपाः, कथम्भूताः? भेद्याः भेत्तुं शक्याः, केन? साम्ना, तदा किं प्रयोजनम्। कैः? दूतैरेव, युक्तमेतत्। स्यात् किम्? राज्यम्, कथम्भूतम्, सुप्रवेशम्, कथम्भूतं सद्? भिन्नम्, वा शब्दोऽत्रोपमार्थोऽवगम्यते, तेनायमर्थः तन्तुर्दवरकः, वज्रोत्कीर्णं हीरकेण विद्धं मणिं सुप्रवेशं यथा, किं न निर्विशेदपि तु निर्विशेदेव ॥१९॥

सन्नद्ध होकर सेना लेकर शत्रुपर आक्रमण करना चाहिये। इसके पूर्व शत्रुकी स्वामी, आदि अठारह प्रकृतियों, पुण्य पाप, नीति-निपुणता अथवा अनीतिमत्ता और कार्य-शक्तिका भी विचार कर लेना चाहिये ॥१६॥

सामके द्वारा मित्र-प्राप्ति तथा शत्रु-विनाश होता है। दण्डके उपयोगसे शत्रु ही होते हैं मित्रता नहीं होती है। सामके स्थानपर दण्डका और दण्डके पात्रपर सामका प्रयोग ठीक नहीं है। एक (दण्ड) तो अग्निसे जलाना है तथा दूसरा (साम) हिमके शीत और दाहके सदृश है ॥१७॥

तीक्ष्ण प्रकृति वह कार्य नहीं कर पाता जो कोमल प्रकृति करता है। अग्नि पेड़की जड़ तक नहीं पहुँच पाती किन्तु पानी उसे उखाड़कर फेंक देता है। टेढ़ा चलनेवाला (कुटिल) जब तक अभीष्टके पास पहुँचता भी नहीं है तब तक सीधा चलता (सरल) उसके पास पहुँचकर उपभोग भी कर लेता है ॥१८॥

यदि शत्रुका प्रतीकार साम-द्वारा आरम्भ हो जाय तो गुप्तचरोंकी क्या आवश्यकता है? उसके सन्निकट परामर्शदाताओंमें दूतोंके द्वारा ही भेद डाल देना चाहिये। भेदके शिकार राज्यपर विजय पाना सुकर होता जैसा कि वज्रके द्वारा भेदे गये मणिमें क्या सरलतासे तागा नहीं चला जाता है? ॥१९॥

नानामार्गः पांसुलो दीर्घसूत्रः शत्रुः पन्थाश्चाप्तगत्यागमेन ।
यत्तत्क्षेपं जायते तत्कदा वा गम्यो नीचैश्चक्षुरप्रक्रमेण ॥२०॥

नानेति–जायते, कः ? शत्रुः, कथं यथा भवति ? यत्तत्क्षेपम्, यदा तदा काले क्षेपो भवतीत्यर्थः । केन ? आप्तगत्यागमेन, ये येषामवञ्चकास्ते तेषामाप्ताः आप्तानां यातायातेन, कथम्भूतः शत्रुः ? नानामार्गः समृद्धासमृद्धप्रायः, पुनः कथंभूतः ? पांसुलः पापिष्ठः, पुनः दीर्घसूत्रः भाविकार्यफलसम्पदन्वेषी, तत्कदा वा गम्यो जायते शत्रुः । केन हेतुना ? नीचैश्चक्षुरप्रक्रमेण नीचैश्चक्षुर्येषां ते नीचैश्चक्षुषस्तेषामप्रक्रमेण शत्रूणामनुद्योगेनेत्यर्थः । अथवा तत्कदा वा गम्यः । कैः ? नीचैर्न्यायमार्गहीनैः, केन च हेतुना ? क्षुरप्रक्रमेण बाणप्रक्रमेणेति । पन्थाश्चैव यत्तत्क्षेपं जायते, केन ? आप्तगत्यागमेन, कथम्भूतः पन्थाः ? नानामार्गः बहुप्रकारः प्राञ्जलाप्राञ्जलप्रायः पुनः पांसुलः रेणूत्करेण सह वर्त्तमानः, पुनः दीर्घसूत्रः दूरतरस्तत्, कदा वा गम्यः पन्थाः केन हेतुना ? नीचैश्चक्षुरप्रक्रमेण अधोनयनप्रवृत्त्या अधश्चक्षुषी कृत्वा शनैः शनैरित्यर्थः ॥२०॥

अप्यज्ञात्वा रावणावार्यशक्तिं के मे तन्त्रावापयोश्चेत्यमत्वा ।
नो स्थातव्यं देशकालानपेक्षं शय्योत्थायं धावतां कार्यसिद्धिः ॥२१॥

द्धिः । अपीति–नो स्थातव्यम्, कथं यथा भवति ? देशकालानपेक्षं देशकालावनपेक्ष्येत्यर्थः । किं कृत्वा ? पूर्वमज्ञात्वा, काम् ? रावणावार्यशक्तिं रावणस्याप्रतिषेध्यां शक्तिम् । किं कृत्वा ? पूर्वममत्वा । कथम् ? इति ? के पुरुषाः स्युः, कस्य ? मे मम, कयोर्मध्ये ? तन्त्रावापयोः, तन्त्रं स्वप्रकृत्युत्पत्तिविधानलक्षणम्, आवापः परशक्तीनामात्मनि विषयेऽध्यारोपलक्षणः, तन्त्रञ्चावापश्च तन्त्रावापौ तयोस्तन्त्रावापयोरपीति, युक्तमेतत् कार्यसिद्धिः, किं कुर्वतां सताम् ? धावतां पुरुषाणाम्, कथं यथा भवति ? शय्योत्थायं शय्याया उत्थायेति ।

अधुना भारतीयः–हे आर्य गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यत इत्यार्यस्तत्सम्बोधनम्, नो स्थातव्यम्, कथम् ? देशकालानपेक्षम्, किं कृत्वा ? पूर्वमज्ञात्वा, काम् ? शक्तिम्, क्व ? अरौ शत्रौ, कथम्भूते ? अणावपि क्षुद्रेऽपि, किं कृत्वा ? पूर्वममत्वा, के मे तन्त्रावापयोश्चेति, युक्तमेतत्, शय्योत्थायं धावतां कार्यसिद्धिरिति ॥२१॥

इत्याकूतं तस्य भीमोहितस्य ज्ञात्वालापैरञ्जनानन्दनोऽसौ ।
इत्थंकारं पथ्यमर्थ्यं जगाद न्याय्यं नोपेक्षिक्षिपन्ते हि सन्तः ॥२२॥

इतीति–जगाद कोऽसौ ? अञ्जनानन्दनः हनूमान्, किम् ? पथ्यम्, कैः कृत्वा ? आलापैः, कथम्भूतम् ? अर्थ्यमभिलषणीयम्, किं कृत्वा ? पूर्वमित्थङ्कारमेवं कृत्वा, किं कृत्वा ? पूर्वं ज्ञात्वा, किम् ? आकू-

---

अस्थिर नीतिमान्, पापनिष्ठ, अवसरका लाभ उठानेमें असमर्थ शिथिल शत्रु मार्गके समान प्रामाणिक पुरुषोंके चले जाने तथा वापस न आनेके कारण जिस किसीके द्वारा तिरस्करणीय हो जाता है । नीचेकी ओर ही देखनेवाले ऐसे शत्रुपर कब एकाएक आक्रमण नहीं किया जा सकता है ? विविध वीथियों युक्त, धूलमय (सूखा) दूर दूर तक चला गया तथा विश्वस्त लोगोंसे आया-गया मार्ग जिस किसीके जाने योग्य हो जाता है । ऐसे मार्गपर कब नीची दृष्टि करके सावधानीसे चलना चाहिये ॥२०॥

रावणका प्रतिरोध करनेके लिए कठिन शक्तिको बिना जाने, कितनी अपनी निजीशक्ति है और कितनी दूसरोंसे मिलेगी इसका विचार बिना तथा अनुकूल देश तथा समयकी उपेक्षा करके नहीं रहना चाहिये क्योंकि शय्यासे उठकर ही दौड़ते हुओंको ही सफलता मिलती है [हे आर्य कृष्ण ? छोटेसे छोटे भी शत्रुकी शक्तिको बिना जाने (आर्य ? अणौ–अपि अरौ शक्तिं अज्ञात्वा)...सफलता मिलती है] ॥२१॥

भयसे मोहित (भी-मोहित) उस जामवन्तके वचनों द्वारा ही उसके अभिप्रायको जान-

---

१. 'नानासर्गः'–द० ।

तमभिप्रायम्, कस्य ? तस्य जाम्बवस्य, कथम्भूतस्य ? भीमोहितस्य भिया मोहं प्राप्तस्य, कथं ज्ञात्वा ? इत्युक्तप्रकारेण, युक्तमेतत् नोपेचिक्षिपन्ते-नोपेक्षितुमिच्छन्ति, के ? सन्तः सत्पुरुषाः, किम् ? न्याय्यं न्यायादनपेतम्, कथम् ? हि स्फुटमिति ।

भारतीयः—जगाद, कोऽसौ ? भीमः, किम् ? पथ्यम्, कथम्भूतम् ? अर्थ्यम्, किं कृत्वा ? पूर्वमिरम्ङ्गत्मेवङ्करणा अङ्गीकारं विधाय, (कुत्रा?) क्व ? असौ खड्गे, किं कृत्वा ? पूर्वं ज्ञात्वा, किम् ? आकूतम्, कस्य ? तस्य युधिष्ठिरस्य, कथम्भूतस्य ? हितस्याव्यभिचारिणः कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, कथम्भूतो भीमः ? रञ्जनानन्दनः रञ्जना चित्ताह्लादनोपायलक्षणा, रञ्जनया नन्दयतीति रञ्जनानन्दनः अत्र ल्युप्रत्ययः । कैः कृत्वा ? आलापैरिति । युक्तमेतत्, न्याय्यं नोपेचिक्षिपन्ते हि सन्तः ॥२२॥

न्यूना वाणी नोपकुर्याज्जडानामुन्मूढानां चाधिकोद्वेजनाय ।
न स्तोकेयं तावकी नातिरिक्ता वस्तूपात्तान्वेति लावण्ययुक्तिम् ॥२३॥

न्यूनेति—नोपकुर्यात् । का ? वाणी, केषाम् ? जडानां हेयोपादेयविवेकविकलानाम्, कथम्भूता ? न्यूना स्तोकाऽल्पाक्षरा । अत्र क्रियाया अध्याहारः । तथा च जायते, का ? वाणी, कस्मै ? उद्वेजनाय, केषाम् ? उन्मूढानाम् प्राज्ञानाम्, कथम्भूता सती ? अधिकाऽक्षराडम्बरतया प्रचुरा कार्यशून्येत्यर्थः, इयं तावकी वाणी तावन्न स्तोका न तुच्छा स्यात्तथा न स्यादतिरिक्ता रिक्तं शून्यमतिक्रान्ताऽतिरिक्ता प्रचुरा, अतएवान्वेत्यनुयाति, का ? इयं तावकी वाणी, काम् ? लावण्ययुक्तिं विद्वज्जनानां युक्तियुक्तार्थसम्पादकतया[1] प्रामाण्यपदताम्, कथम्भूता सती ? वस्तूपात्ता वस्तुना उपात्ता वस्तूपात्ता परमार्थयुक्तियुक्ता, याथातथ्यविवेचनवतीत्यर्थः॥२३॥

सन्दिग्धेऽस्मिन्सत्पथे कापथीयैः पाश्चात्यानां पूर्वजैः पत्रपातः[2] ।
सोऽस्त्येवार्द्रो यः कृतः सन्नयाख्यस्तद्व्यामोहः किं वृथैव क्रियेत ॥२४॥

सन्दिग्ध इति—एवकारोऽत्रावधारणार्थोऽधिगम्यते । अस्त्येव, कः ? स पत्रपातः भाषापत्रम्, कथम्भूतः ? आर्द्रो नूतनः, पुनः कथम्भूतः ? सन्नयाख्यः सती समीचीना नयस्याख्या नाम यस्य स तथोक्तः, केषामस्त्येव ? पाश्चात्यानां पश्चात्समुत्पन्नानाम्, यः कृतः, कैः ? पूर्वजैरार्यैः, क्व सति ? अस्मिन्सत्पथे सतां मार्गे, कथम्भूते ? सन्दिग्धे सन्देहतुलामारूढे, कैः ? कापथीयैः दुर्जनानां मार्गसङ्घातैः यतः, तत्तस्मात्कारणात्, किं वृथैव एवमेव क्रियेत, कः ? व्यामोह इति ॥२४॥

सन्तिष्ठन्ते सान्त्वमात्रेण नान्ये लिप्सन्तेऽर्थं ते न माद्यन्त्यदाने ।
कुप्यन्त्यन्ये दत्रिमाद्वैरबन्धाद्वैरं मन्ये दत्रिमं तल्लघीयः ॥२५॥

कर अञ्जना सतीके नन्दन हनुमानने निम्न प्रकारसे परिणाममें सुखावह तथा सारगर्भित वाक्य कहे थे । उचित ही है सज्जन पुरुष न्याय-मार्गकी कभी भी उपेक्षा नहीं करना चाहते हैं [हितचिन्तक उस धर्मराजके अभिप्रायको समझकर तलवारके विषयमें अपने वचनोंके विनोदसे सबको हर्षित करते हुए भीमने पहिले तो उसका अनुमोदना की थी और फिर शुभावह तथा उपयोगी सम्मति दी थी । सज्जन...] ॥२२॥

थोड़ा कहे जानेपर मूर्खोंकी समझमें नहीं आता है, बहुत बोलना विशेषज्ञ विद्वानोंको उद्वेजित कर देता है किन्तु आपकी पूर्वोक्त उक्ति न कम है और न व्यर्थका प्रलाप ही है । समुचित सुझाव रूप अर्थसे परिपूर्ण होनेके कारण वह विद्वानोंकी युक्तिके समान है ॥२३॥

विविध पुनीत मार्गोंके कारण सन्देह भाजन इस समीचीन नीतिमार्गमें पूर्व पुरुषोंने धर्मनीति रूपसे विख्यात तथा सर्वथा नूतन जो परम्परा भावी पीढ़ियोंके लिए स्थापित की है वह आपके सामने है, तब व्यर्थके लिए ही द्विविधामें क्यों पड़ते हैं ॥२४॥

1. संवादकतया—द० । 2. पत्रपाठः—द० ।

सन्तिष्ठत इति–न सन्तिष्ठन्ते न विरमन्ति, के ? अन्ये शत्रवः, केन ? सान्त्वमात्रेण, ये लिप्सन्ते लब्धुमिच्छन्ति, किम् ? अर्थं द्रव्यम्, न माद्यन्ति न तुष्यन्ति, के ? ते पुरुषाः, क्व ? अदाने, कुप्यन्ति कोपमायान्ति, के ? ते पुरुषाः, कस्मात् ? दत्रिमात्, क्व ? अन्तेऽवसाने, कथम्भूताद्दत्रिमात् ? वैरबन्धाद्वैरं बध्नात्येवं शीलात्, अतो मन्ये जानेऽहम्, किम् ? दत्रिमम्, किं मन्ये ? वैरम्, तत्तस्मात्कनीयो दत्रिममस्लाघ्यमिति ॥२५॥

भेत्तुं नारिः शक्यतेऽरातिगृह्या भेद्या भिन्नेष्वेषु वैरी विभिन्नः ।
किं भेदोक्त्या किं विभिन्नैः शफैर्वा गौरेवाश्वः किं त्वभिन्नैर्न वाह्यः ॥२६॥

भेत्तुमिति–न शक्यते, कोऽसौ ? अरिः, किं कर्तुम् ? भेत्तुं तदा स्युः, के ? अरातिगृह्या अमात्यादयः पक्षाः, कथम्भूताः ? भेद्याः भेत्तुं शक्याः, यतः स्यात्, कोऽसौ ? वैरी, कथम्भूतः ? विभिन्नः, वेषु सत्सु ? एष्वरातिगृह्येषु, कथम्भूतेषु ? भिन्नेषु वाऽथवा, किं क्रियते; कया ? भेदोक्त्या, अत्र किमिति शब्दः प्रश्नार्थे बोद्धव्यः, किं गौरेव वृषभ एव वाह्यते ? कैः ? शफैः खुरैः, कथम्भूतैः ? विभिन्नैः, किन्तु न वाह्यो जायते ? कः ? अश्वः, कैः ? शफैः, कथम्भूतैः ? अभिन्नैः, अपितु वाह्य एवेति ॥२६॥

कृत्याकृत्येष्वन्यदीयेषु योज्ये स्याद्दण्ड्योऽन्यः सामभेदोपदाने ।
कल्प्येऽन्यस्मिन्कः परो दण्ड्यमानः शूराः शत्रौ कुर्वते तेन दण्डम् ॥२७॥

कृत्याकृत्येष्विति–स्यात् कः ? अन्यः शत्रुः, कथम्भूतः ? दण्ड्यो दण्डमर्हतीति, दण्ड्यो दण्डोचितः, क्व सति ? सामभेदोपदाने, साम च भेदश्च उपदानञ्च, सामभेदोपदानम्, तस्मिन् कथम्भूते ? योज्ये, केषु विषयेषु ? कृत्याकृत्येषु भेद्याभेद्येषु सामन्तमण्डलादिषु अन्यदीयेषु कल्प्येऽन्यस्मिन्सति कल्पनागोचरेऽसौ सति, कः ? परो दण्ड्यमानोऽस्ति, अपि तु न कोऽपि, 'अत्र वासना विवक्षितं विपक्षं विहायान्यो दण्ड्यमानो नाम नास्ति । तेन कारणेन कुर्वते विदधति, के ? शूराः, अतुलबलपराक्रमिणः क्षत्रियकुमाराः, कम् ? दण्डम्, क्व ? शत्रौ अराविति ॥२७॥

कोऽपि क्षोभीभूतलङ्केशवारी राजन्नासीद्व्याप्नवानित्यचिन्त्यम् ।
शस्त्रं शास्त्रं विक्रमं कौलपुत्र्यं तस्यैवानुप्रेक्षसे नास्य विष्णोः ॥२८॥

क इति–हे राजन् हे जाम्बव, आसीत्, कः ? कोऽपि, कथम्भूतः ? क्षोभीभूतलङ्केशवारी अक्षोभः सक्षोभो भूतः क्षोभीभूतः क्षोभीभूतश्चासौ लङ्केशश्च क्षोभीभूतलङ्केशस्तं वारयतीत्येवं शीलः स तथोक्तः, पुनः

अन्य राजा लोग केवल आश्वासनों या साम-नीतिसे नहीं मानते हैं क्योंकि वे सम्पत्तिके लोलुप होते हैं। जब तक उन्हें धन नहीं मिलता है वे विरत नहीं होते हैं। शत्रुताका सूत्रपात करनेवाली दानहीनताके कारण वे अन्तमें कुपित भी हो जाते हैं। अतएव दानहीनताको सबसे निकृष्ट वैर मानना चाहिये ॥२५॥

शत्रुके द्वारा वशमें करणीय मंत्री आदि यदि नहीं फूटते हैं तो शत्रु भेद-नीति द्वारा नहीं जीता जा सकता है और यदि अरातिग्राह्य मन्त्री आदिमें फूट पड़ गयी तो शत्रुको पराजित ही समझिये। फिर भेदके लिए प्रयत्नसे क्या लाभ ? क्योंकि गाय फटे खुरोंसे ही चलती है पर क्या अभिन्न खुरोंसे घोड़ा नहीं दौड़ता है ? ॥२६॥

शत्रु पक्षके विषयमें क्या करणीय है और क्या अकरणीय है यह विचार करनेपर जब साम, भेद आदि उपाय त्याज्य हो जाँय तो शत्रु दण्डनीय ही होता है। इस कार्य परम्परामें कौन शत्रुपक्ष दण्डनीय नहीं है, अर्थात् सभी हैं। इसी कारणसे शूर पुरुष शत्रुपक्षपर दण्डनीतिका प्रयोग करते हैं ॥२७॥

हे राजन् अत्यन्त कुपित रावणका तिरस्कार-कर्ता व्यापक प्रभावशाली कोई हुआ था क्या यह अविचारणीय है। उसके ही आयुधबल, नीतिशास्त्रज्ञता, पराक्रम और

कथम्भूतः ? व्यासवान् इति हेतोरनुप्रेक्षसेऽवलोकसे, कः ? त्वम्, किं किम् ? शस्त्रं तथा शास्त्रं तथा विक्रमं तथा कौलपुत्र्यम्, कथम्भूतम् ? अचिन्त्यम्, कस्य ? तस्यैव रावणस्य नास्य विष्णोर्लक्ष्मणस्येति सम्बन्धः ।

भारतीयः पक्षः—हे राजन् हे युधिष्ठिर, कोऽपि केशवारिरासीत्, कथम्भूतः ? क्षोभी सर्वदा प्रयाणसम्भ्रमवान्, पुनः कथम्भूतः ? व्यासवान्, कम् ? भूतलमवनीतलमिति हेतोरनुप्रेक्षसे, कोऽसौ ? त्वम्, किं किम् ? शस्त्रं तथा शास्त्रं तथा विक्रमं तथा कौलपुत्र्यम्, कथम्भूतम् ? अचिन्त्यम्, कस्य ? तस्यैव जरासन्धस्यैव नास्य विष्णोर्नारायणस्येति ॥२८॥

यः साम्राज्यं प्राज्यमध्यक्षमेषां त्वं नार्याढ्यं नोऽग्रहीद्वेत्सि किं तम् ।
सश्रीरामेणाहतो माधवेन द्रष्टव्योऽयं केन चान्येन साध्यः ॥२९॥

य इति—हे आर्य (हे) गुणिगणसमाश्रय, किं न वेत्सि किं न जानासि, त्वम्, कम् ? तम् रावणम्, योऽग्रहीत् गृहीतवान्, किम् ? साम्राज्यम्, कथम् यथा भवति ? अध्यक्षम् प्रत्यक्षम्, केषाम् एषां नोऽस्माकम्, कथम्भूतं साम्राज्यम् ? प्राज्यं प्रौढिमारूढम्, पुनराढ्यम्, सोऽयं रावणो द्रष्टव्यः, कथम्भूतः सन् ? आहतः, केन ? श्रीरामेण, कथम्भूतेन ? माधवेन लक्ष्मीवल्लभेन, चकारात्समुच्चयोऽभिगम्यते, तेनायमर्थः,—श्रीरामं च विहाय केनान्येन साध्यो भवति, अपि तु न केनापि ।

भारतीयः—हे आर्य स्वामिन्, किं न वेत्सि ? कम् ? तं जरासन्धम्, योऽग्रहीत्, किम् ? साम्राज्यम्, कथं यथा भवति ? अध्यक्षम्, केषाम् ? एषान्नोऽस्माकम्, कथम्भूतं साम्राज्यम् ? प्राज्यम्, पुनराढ्यम्, सोऽयं द्रष्टव्यः, कथम्भूतः सन् ? आहतः, केन ? माधवेन नारायणेन, कथम्भूतेन ? श्रीरामेण श्रीरेव रामा रमणी यस्य स श्रीरामस्तेन यद्वा श्रीरामाभ्यां लक्ष्मीबलभद्राभ्यां सह वर्तमानेन, केन चान्येन साध्यः ॥२९॥

दीप्त्यानिष्टं यस्य [1]निष्टब्धमारं ख्यातोऽवद्यन्यश्चरित्रैरवद्यम् ।
युष्मादृक्षा बाहवो यस्य पक्षास्तत्त्रैलोक्यं जय्यमस्यावलोक्यम् ॥३०॥

दीप्त्येति—निष्टब्धं निरस्तम्, किम् ? आरमरीणां समूहः, कया ? दीप्त्या क्षात्रतेजसा, कस्य ? यस्य, कथम्भूतं सदारम् ? अनिष्टमनभिमतम्, यः ख्यातः प्रसिद्धः, कैः ? चरणैराचरणैः, किं कुर्वन् ? अवद्यन् निरस्यन्, किम् ? अवद्यं पापमयशो वा, युष्मादृक्षाः भवादृशाः पक्षाः यस्य बाहवो विद्यन्ते, तत्तस्मात् कारणात्, अवलोक्यम्, किम् ? त्रैलोक्यम्, कथम्भूतम् ? जय्यं जेतुं शक्यम्, कस्य ? अस्य रामस्य विष्णोश्चेति ॥३०॥

इतीदमाकर्ण्य स पावनंजयेरतोऽत्रपार्थस्य विरित्सया रिपोः ।
उदीर्णमुच्चैः फलदोहलायुधस्तथासदृक्षः पुनरब्रवीद्वचः ॥३१॥

अनुगामी कुलीन राजपुत्रताका आप विचार करते हैं इस विष्णु रामको क्यों नहीं देखते हैं [हे धर्मराज ! पृथ्वीको कँपानेवाला (क्षोभीभूतलं) कोई व्यापक प्रभावशाली श्रीकृष्णजीका शत्रु (केशवारि) हुआ है यह अविचारणीय......विष्णु श्रीकृष्णजीको......] ॥२८॥

हे सुग्रीव ! क्या आर्य उस रावणको नहीं जानते हैं जिसने हम सबके सामने ही अत्यन्त समृद्ध तथा विस्तृत साम्राज्यको बलपूर्वक ग्रहण किया है । अब तो यही देखना है कि वह लक्ष्मीके वल्लभ (मा-धवेन) श्रीरामके द्वारा मारा जाय । किसी दूसरेके द्वारा उसकी समाप्ति शक्य नहीं है [हे यदुपति ! क्या आप उस जरासन्धको······देखना है कि वह लक्ष्मी और बलराम (श्री + रामेण) से अनुगत माधवके द्वारा मारा जाय ।···] ॥२९॥

जिसके प्रतापके द्वारा शत्रुओंका उपद्रव दूर हो जाता है, अपने प्रशस्त आचरणके द्वारा जो पाप-कर्मोंका परिहर्ता रूपसे प्रसिद्ध है तथा, आप जाम्बवन्त अथवा पाण्डव ऐसे तपस्वी राजा जिसकी भुजाएँ हैं तथा जिसके लिए तीनों लोकोंकी विजय भी सुकर है वही राम अथवा कृष्ण इस (रावण अथवा जरासंध) की ओर दृष्टि देवें ॥३०॥

---

1. निष्टस्म्–द० ।

इतीति–अब्रवीदवादीत्, कोऽसौ ? स ऋक्षः जाम्बवः, किम् ? वचः, कथम् ? पुनः पुनरपि, कथम् ? तथा तेनैवाञ्जनानन्दनाभिहितप्रकारेण, किं कृत्वा ? पूर्वमाकर्ण्य, किम् ? इदम् उदीर्णमुदीरितम्, कस्य ? पावनञ्जयेः पवनञ्जयस्यापत्यं पुमान् पावनञ्जयिस्तस्य पावनञ्जयेः पवनञ्जयपुत्रस्य हनुमन्नाम्नः, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, केन हेतुनोदीर्णम् ? विरित्सया हन्तुमिच्छया, कस्य ? रिपोः शत्रोः, कथम् ? उच्चैः अतिशयेन, अतः कारणात्पुनरब्रवीद्वचः, कथम्भूतम् ? सत्समीचीनम्, कथम्भूत ऋक्षः ? फलदोहलायुधः फले विपक्षक्षोदलक्षणे दोहलं दोहलकं यस्य तदायुधं यस्य स फलदोहलायुधः, कथम्भूतस्य पावनञ्जयेः ? अत्रपार्थस्य न त्रपामर्थयतेऽत्रपार्थस्तस्यात्रपार्थस्य सलज्जस्येत्यर्थः। अत्र पार्थस्येति हनूमतः कौलिन्यं दर्शितम्।

अथ भारतीयः–अब्रवीत्, कः ? स हलायुधो बलभद्रः, किम् ? वचः, कथम् ? पुनस्तथा भीमोदितप्रकारेण, किं कृत्वा ? पूर्वमाकर्ण्य, किम् ? इदम् उदीर्णमुदीरितम्, कस्य ? पार्थस्य भीमस्य, केन हेतुना ? निरित्सया कस्य ? रिपोः, कथम्भूतमुदीर्णम् ? पावनं पवित्रं नीतिमार्गानुसारीत्यर्थः। कथमुदीर्णम् ? इत्युक्तविधिना, कथम्भूतो हलायुधः ? असदृक्षोऽनुपमः अत्र रूपेणाचारेण वा क्षात्रधर्मेण सकलकलापरिपूर्णत्वेन वा न हलायुधस्य तुल्योऽस्ति कश्चनेति भावः। पुनः कथम्भूतः ? अजेरत्वः अरेर्जरासन्धस्य पराभवं कर्तुं मन्यत इत्यर्थः। पुनः कथम्भूतः ? उच्चैःफलद उच्चैः फलानि ददातीत्युच्चैःफलदः स्वाश्रितानुन्नतां पदवीं नीतवान्[1] ॥३१॥

आक्रीडशैलाः कुलपर्वतास्ते वाप्यः समुद्रा जगदङ्गणं तत्।
दिशः समस्तास्तव लङ्घनानां भवन्ति कीर्तेरपि न प्रभूताः ॥३२॥

आक्रीडेति–भवन्ति जायन्ते ? के ? ते लोकविख्याताः कुलपर्वताः कथम्भूताः ? आक्रीडशैलाः क्रीडागिरयः, कस्याः ? तव कीर्त्तेस्ते समुद्राः वाप्यः क्रीडादीर्घिका भवन्ति। तथा तव कीर्त्तेस्तज्जगत् अङ्गनं प्राङ्गणं क्रीडार्थं भवति। तथा तव कीर्त्तेर्लङ्घनानामनर्गलफा[2]लकेलीनां दिशोऽपि समस्ता न प्रभूता न प्रचुरा भवन्तीति शेषः[3] ॥३२॥

बलीयसोऽपि द्विषतां निहन्तुरवद्यवृत्तेरपि कीर्त्तिभाजः।
मातेव नीतिर्विपदां विहन्त्री नेया न सा कामदुधाऽवधूतिम् ॥३३॥

बलीयस इति–न नेया न प्रापणीया, का ? सा नीतिः, काम् ? अवधूतिमवधीरणम्, कस्य ? तवेत्यध्याहार्यम्, कथम्भूतस्यापि ? बलीयसः अपि बलं सैन्यादिबाह्य[4]मान्तरं वा शक्तित्रयलक्षणम्, बलसाह-

राजा पवनञ्जयके पुत्र, कुलीन एवं संकोचशील हनुमानके द्वारा शत्रुको मारनेकी इच्छासे स्पष्ट तथा बलपूर्वक कहे गये उक्त वचनोंको सुनकर, शत्रुके विनाशकी अभिलाषा-रूपी अस्त्रधारी उस रिच्छकुलीन (ऋक्षः) जामवन्तने फिरसे बोलना प्रारम्भ किया था [उक्त प्रकारसे शत्रु जरासन्धके विनाशकी इच्छासे कहे गये भीम (पार्थस्य) के वचनोंको सुनकर महाफलोंके दाता (उच्चैःफलदः) विजयशील तथा लोकोत्तर (असदृक्षः) हलायुध बलरामने पुनः पवित्र सम्मति दी थी] ॥३१॥

विजययात्रापर निकले तुमको वे कुलाचल क्रीडाशैल हो जायँगे, समुद्र बावडीतुल्य सुतर हो जायँगे, और सारा विश्व आँगनके समान हो जायगा तथा समस्त दिशाएं तुम्हारी कीर्तिके उछलने (विस्तार) के लिए पर्याप्त न होंगी ॥३२॥

अतरंग बहिरंग बलशाली, शत्रुओंके विनाशमें समर्थ, निर्दोष आचरणधारी तथा

१. वंशस्थवृत्तम्। २. 'अनर्गल फलकेलीनाम्'–प०, ब०, ना०। ३. उपजातिः।
४. 'बलं मातङ्गतुरङ्गमानुचरचरलक्षणं बाह्यम्, अन्तरंगं वा बलं शक्तित्रयलक्षणम्।'–प०, द०।

सर्व्यात् पुरुषोऽपि बलोऽभिधीयते, अत्यर्थं बलवतः पुनर्द्विषतां विपक्षाणां निहन्तुः, पुनरवद्यवृत्तस्य निरवद्या-चरणशीलस्य पुनः कीर्त्तिभाजोऽपि, कथम्भूता नीतिः ? विपदां विपत्तीनां विहन्त्री विध्वंसिनी पुनः सम्पदां कामदुघा कामान् दोग्धीति सा, केव ? मातेव यथा जननी सर्वार्थसम्पादयित्री स्तनन्धयानां नावमान्या तथा नीतिरपि ॥२३॥

विद्याबलेन विभवेन पराक्रमेण
चिन्त्यस्त्वया बलवता बलवान्विपक्षः ।
दण्डारणिप्रकृतिरग्निरिवान्तरुत्थ-
स्तापं तनोति हि महानुभयोर्विमर्दः ॥२४॥

विद्येति—बलवता त्वया कर्त्रा विपक्षः शत्रुः चिन्त्यश्चिन्तनीयः, केन चिन्त्यः ? विद्याबलेन विद्या-श्चतस्र आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिलक्षणास्तासां बलेन सामर्थ्येन, तथा विभवेन विभूत्या तथा पराक्रमेण पौरुषेण, कथम्भूतो विपक्षः ? बलवान् हि यतस्तनोति विमर्दः संग्रामः, कम् ? तापम्, कयोः ? तयोरुभयोर्न-रेन्द्रयोः, कथम्भूतो विमर्दः ? महान्, क इव ? अग्निरिव यथाग्निस्तनोति तापम् । कथम्भूतोऽग्निः ? दण्डारणिप्रकृतिः दण्डो मथनकाष्ठम् अरणिरधःकाष्ठम्, दण्डश्चारणिश्च दण्डारणी त एव प्रकृतिरुत्पत्तिकारणं यस्य स दण्डपाणिप्रकृतिः । पुनः कथम्भूतः ? अन्तरुत्थः मध्यसमुत्पन्न इति[1] ॥२४॥

नयस्य शौर्यस्य धनस्य कीर्त्तेर्वाग्देवतायाः सततं श्रियश्च ।
मध्यस्थभावेन कृताभिवृद्धिर्विभीषणः किं विदितो न भीष्मः ॥२५॥

नयस्येति—किं न विदितः, कः ? विभीषणो विभीषणनामधेयो रावणानुजः, कथम्भूतः ? भीष्मो भयानकः, पुनः कथम्भूतः ? कृताभिवृद्धिः विहितोपचयः, कस्य ? नयस्य तथा शौर्यस्य तथा धनस्य तथा कीर्त्तेस्तथा वाग्देवतायाः सरस्वत्याः श्रियश्च, अत्र वासनार्थोऽभिधीयते आत्मापेक्षो नयः, आत्मनिरपेक्षं शौर्यम्, बहिरङ्गं धनम्, हिरण्यादिबाह्या पुण्यावाप्तिः कीर्त्तिः, कर्मारम्भाणामुपायशास्त्रं वाग्देवता, कर्मफलोपभोगानां विभवानुभवः श्रीः, केन कृत्वा कृताभिवृद्धिः ? मध्यस्थभावेन समवृत्त्या, कथम् ? सततमनवरतमिति ।

भारतीयः पक्षः—किं न विदितः किं न विज्ञातः, कः भीष्मो गाङ्गेयनामा कौरवबलनेता, कथम्भूतः ? विभीषणो भयङ्करः[2] ॥२५॥

त्वं श्रीमहामङ्गल कुम्भकर्ण कन्याकुमारं वर वीरलक्ष्म्याः ।
समं रथो यस्य मनोरथश्च पूर्णस्तथाशासु कथं न वेत्सि ॥२६॥

यशस्वी आपको माताके समान नीतिकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नीतिपथ ही विपत्तियोंका विनाश करता है तथा अभिलषित अर्थोंको सहज ही जुटाता है ॥२३॥

स्वयं बलशाली आपके द्वारा उद्धत तथा बली शत्रुका, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंकी दृष्टिसे, सम्पत्ति साधनोंकी अपेक्षा तथा पराक्रमके आधारसे विचार किया जाना चाहिये। क्योंकि घिसने और घिसी जानेवाली लकड़ियोंके बीचसे उत्पन्न स्वाभाविक आगके समान संग्राम भी दोनों पक्षोंको महान् कष्ट देता है ॥२४॥

मध्यम मार्ग अथवा मध्यस्थताको धारण करके नीति, शौर्य, धन, वाग्देवी, सरस्वती तथा लक्ष्मीकी अनवरत वृद्धि करता हुआ यह दृढ़ रावणका भाई विभीषण अथवा अत्यन्त भयंकर कौरवोंका सेनापति भीष्म क्या आपको विदित नहीं है ? ॥२५॥

---

१. वसन्ततिलकावृत्तम् । २. उपजातिः ।

त्वमिति–हे श्रीमहामङ्गल, कथं न वेत्सि, कः ? त्वम् , कम् ? कुम्भकर्णं कुम्भकर्णनामधेयं रावणानुजम् , कथम्भूतम् ? कन्याकुमारं कन्येव कुमारोऽपरिणीतः पुमान् कन्याकुमारोऽभिधीयते, तं कन्याकुमारं परिणेतारं वरमित्यर्थः । कस्या वरम् ? (वर) वीरलक्ष्म्याः (श्रेष्ठ) जयश्रियः (तथा) पूर्णः, कः ? रथश्चक्रचरणः, कासु आशासु दिक्षु, कस्य ? यस्य, कथम् ? समं युगपत् , तथा मनोरथश्च पूर्णः, कस्य ? यस्य, कासु ? आशासु वाञ्छासु ।

भारतीयः–हे महामङ्गल ! हे कुम्भ ! हे वर ! कस्याः ? वीरलक्ष्म्याः, किं न वेत्सि, तं कर्णं कर्णनामधेयं नरं कौरवबलाढ्यम्, कथम्भूतम् ? कन्याकुमारं कन्यायाः कुमारस्तं कुमारीपुत्रमित्यर्थः । शेषं समम् ॥३६॥

द्विषन्मारीचोग्रप्रबलरथवेगो दिशि दिशि
स्वयं गर्जन्द्रोणो रणशिरसि केनाथ विधृतः ।
सदाप्युच्छ्वासेनोच्छ्वसिति भुवनं यस्य सकलं
स कैर्वार्यो दुर्योधन इह बलेनेन्द्रजिदसौ ॥३७॥

द्विषदिति–स मारीचो मारीचनामधेयो रावणमातुलः, केन विधृतः, अपि तु न केनापि, क ? रणशिरसि युद्धमूर्द्धनि, किं कुर्वन् ? द्विषन् , कथम् ? अद्य साम्प्रतम्, कथम्भूतो मारीचः ? द्रोणो मेघः, कथम् ? स्वयं स्वरूपेणात्मनेत्यर्थः किं कुर्वन् ? गर्जन् गर्जितं कुर्वन्, पुनः प्रबलरथवेगः प्रबलो रथवेगो यस्य स तथोक्तः, क ? दिशि दिशि, अथवा असाविन्द्रजिन्नामा रावणपुत्रः कैर्वार्यः कैः प्रतिषेध्यः, क ? इह रणशिरसि, अपि तु न कैरपि । कथम्भूतः सन् ? दुर्योधनः दुःखेन योद्धुं शक्यः, यस्येन्द्रजितः श्वासेन सकलं भुवनमुच्छ्वसित्युच्छ्वासं करोति ।

भारतीयः पक्षः–स द्रोणो धनुर्विद्यायां प्रसिद्धो द्रोणाचार्यनामधेयो गुरुः केन रणशिरसि विधृतः न केनापि, किं कुर्वन् ? स्वयमात्मना गर्जन् ? कथम्भूतः ? द्विषन्मारी द्विषतो मारयतीत्येवं शीलः शत्रुविनाशक इत्यर्थः । पुनश्चोग्रप्रबलरथवेगश्चोग्र आश्चर्यभूतः अथवा चकारोऽत्र, उग्रप्रबलरथस्य वेगो यस्य सः तथोक्तः, क दिशि दिशि, अथासौ दुर्योधनः दुर्योधननामधेयो गान्धारीपुत्रः कौरवाधिपः कैर्वार्यः, क ? इह रणशिरसि, अपि तु न कैरपि, कथम्भूतः ? बलेन शरीरसामर्थ्येन चतुरङ्गसैन्यलक्षणेन वा इन्द्रजिदिन्द्रस्य जेता । शेषं प्राग्वत्[1] ॥३७॥

हे लक्ष्मी तथा कल्याणके भाजन सुग्रीव ! वीरता रूपी श्रेष्ठ लक्ष्मीके लिए बालब्रह्मचारी (कन्याकुमार) वर रावणके अनुज उस कुम्भकर्णको नहीं जानते हो । जिसके समस्त दिशाओंमें व्याप्त रथके साथ साथ मनोरथ भी पूर्ण हो गये हैं [हे श्री के वर, तथा महामंगलमय कलश ! क्या आप वीरलक्ष्मीके कर्ण समान कुमारी कुन्तीके पुत्र सिन्धराज कर्णको नहीं जानते हैं । जिसके······] ॥३६॥

समस्त दिशाएँ जिनके तीव्र रथके वेगसे आज आक्रान्त हैं और गरजते हुए मूर्तिमान प्रलय मेघ (द्रोण) तुल्य है उस शत्रु रावणके मामा मारीचको युद्धमें कौन रोकेगा ? जिसकी साँसके द्वारा सर्वदा ही सारे जगत्की साँस फूल जाती है तथा जो भीषण युद्ध करता है उस इन्द्रजीतको यहाँ युद्धमें किसके द्वारा परास्त किया जायगा ? [शत्रुओंके संहारक, सब दिशाओंमें प्रबल वेगशील रथको बढ़ाते हुए तथा क्रोधसे गरजते हुए उस द्रोणाचार्यका (स्वयं-गर्जन्-द्रोणः) घोर संग्राममें किसके द्वारा प्रतिरोध किया जायगा ? सेनाके द्वारा इन्द्रको भी जीतनेमें समर्थ (बलेन-इन्द्रजित्) कौरव-राज दुर्योधनका युद्धमें कौन सामना करेगा क्योंकि उसकी आज्ञासे सकल भुवन व्याप्त है] ॥३७॥

---

१. शिखरिणीवृत्तम् ।

एभिः शिरोभिरतिपीडितपादपीठः
सङ्ग्रामरङ्गशवनर्त्तनसूत्रधारः ।
तं कंसमातुल इहारिगणं कृतान्त-
दन्तान्तरं गमितवान्न समन्दशास्यः ॥३८॥

एभिरिति—दशास्यो रावणः, कं तं भुवनतले प्रतीतमरिगणं शत्रुमेलापकं न गमितवान् न नीतवान् ? अपि तु सर्वमपि गमितवान् । किम् ? कृतान्तदन्तान्तरं यमदशनमध्यप्रदेशम् , क्व ? इह मध्यलोके, कथम् ? समं युगपत्, कथम्भूतः सन् ? समातुलः मातुलेन मारीचेन सह वर्त्तमानः, पुनः कथम्भूतः ? एभिः पूर्वोक्तै-र्नरेन्द्रैः शिरोभिर्मौलिभिः अतिपीडितपादपीठः अतिपीडितं निघृष्टं पादपीठं यस्य सः, सामन्तोपमर्दितचरणविष्टर इत्यर्थः पुनः सङ्ग्रामरङ्गशवनर्त्तनसूत्रधारः समरनर्तनस्थाने शवनर्त्तनाचार्यः ।

भारतीयः—स कंसमातुलो जरासन्धः तमरिगणं कृतान्तदन्तान्तरं न गमितवान, अपि तु गमितवानेव, कथम्भूतः ? मन्दशास्यः मन्दतोद्रेकस्वादात्मंमन्यानां शिक्षादायकः । अन्यत्सर्वं समम्[1] ॥३८॥

विगणय्य परस्य चात्मनः प्रकृतीनां समवस्थितिं पराम् ।
अमुयोपचिताः कयापि चेद्द्विषतेऽसूयिषिषन्ति सूरयः ॥३९॥

विगणय्येति—चेद्यदि, उपचिताः पुष्टिं नीताः, के ? सूरय आचार्य्याः, कयापि, कया ? अमुया प्रकृति-समवस्थित्या, तदा असूयिषिषन्त्यसूयां कर्त्तुमुत्सहन्ते, कस्मै ? द्विषते शत्रवे, किं कृत्वा ? पूर्वं विगणय्य ज्ञात्वा विमर्श्येत्यर्थः, काम् ? परस्य शत्रोस्तथाऽऽत्मनः परामुत्कृष्टां प्रकृतीनां समवस्थितिम्[2] ॥३९॥

तत्संहारो मा स्म भूद्बन्धुतायाः सिद्धादेशव्यक्तये सिद्धशैलम् ।
नीत्वा विष्णुं तं परीक्षामहेऽमी ज्ञात्वा दण्डं साम वा योजयामः ॥४०॥

तदिति—तत्तस्मात्कारणात् बन्धुतायाः बन्धुसमूहस्य मैत्र्या वा संहारो विलयो मा स्म भूत् मा भवत् । अतः परीक्षामहे परीक्षाङ्कुर्मः । के ? अमी वयम् , किं कृत्वा ? पूर्वं नीत्वा तं विष्णुं लक्ष्मणम्, कं नीत्वा ? सिद्धशैलं कोटिशिलाम्, कस्यै ? सिद्धादेशव्यक्तये श्रुतज्ञानोपदिष्टनिश्चयाय, तथा च योजयामः । कम् ? दण्डं वाऽथवा साम, किं कृत्वा ? पूर्वं ज्ञात्वा, कं ? तं विष्णुं लक्ष्मणम् । भारतपक्षे नारायणमिति[3] ॥४०॥

इत्यस्य वाचमभिनन्द्य भरोत्थितानां
राज्ञां गलाङ्गदगलद्गुलिकाच्छलेन ।

इन पराक्रमी राजाओंके मस्तकोंसे पूजित चरण, आसनपर विराजमान, संग्राम रूपी रंगमंचपर शवोंके नर्तन करानेके लिए सूत्रधार तथा अपने मामासे अनुगत उस दशमुखने इस पृथ्वीमें कौनसे अपने शत्रु समूहको एक ही साथ यमके दाँतोंके बीचमें नहीं झोंक दिया है ? [······सूत्रधार तथा मूर्खताके कारण अहंकारियोंके शिक्षक (मन्दशास्यः) उस कंसके मामा, जरासंध (कंसमातुलः)ने इस पृथ्वी······झोंक दिया है !] ॥३८॥

अपनी अथवा शत्रुकी अठारह प्रकृतियोंकी अन्योन्य साधना उत्कृष्ट स्थितिकी उपेक्षा करके यदि किसी प्रकृतिसे प्रेरित होकर राजा शत्रुके प्रति अभियान करता है तो नीति-शास्त्रके आचार्य उसपर ईर्ष्या ही करते हैं ॥३९॥

अतएव बन्धुता अथवा बन्धुओंका संहार नहीं होना चाहिये । वासुदेव लक्ष्मण अथवा कृष्णको लेकर कोटिशिलापर जाते हैं और वहाँसे जिज्ञासा करते हैं । वहाँ श्रुतज्ञानियोंसे जानकर साम अथवा दण्डका प्रयोग करेंगे ॥४०॥

---

१. वसन्ततिलकावृत्तम् । २. वैतालीयं वृत्तम् । ३. शालिनीवृत्तम् ।

मन्त्रस्य कल्पितमिवाजनि मल्लिकाना-
मराधनं जयपरं मुकुलोपहारैः ॥४१॥

इति श्रीद्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये
मन्त्रनिर्णयकथनो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

इतीति—अजनि जातम्, किम् ? आराधनम्, कस्य ? मन्त्रस्य, कैन ? गलाङ्गदगलद्गुलिकाच्छलेन गलस्याङ्गदा गलाङ्गदाः, गलाङ्गदेभ्यो गलन्त्यश्च ता गुलिकाश्च गलाङ्गदगलद्गुलिकास्तासां छलेन कण्ठकेयूरक्षरन्मौक्तिकव्याजेन, केषाम् ? राज्ञां भूपानाम्, कथम्भूतानां राज्ञाम् ? सरोत्थितानाम्, किं कृत्वा ? पूर्वमभिनन्द्य संस्तुत्य, उररीकृत्येत्यर्थः । काम् ? वाचं वाणीम्, कस्य ? अस्य जाम्बवस्य, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण मन्त्रस्याराधनम्, किमिव ? कल्पितमिव, कैः ? मुकुलोपहारैः कलिकोपहारैः, कासाम् ? मल्लिकानाम्, कथम्भूतमाराधनम् ? जयपरं जयं विपत्ति पालयतीति जयपरमिति ।

भारतपक्षे—अस्य बलभद्रस्येति[1] ॥४२॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदी नाम दधानायां टीकायां सुग्रीवजाम्बवाञ्जनेय-नारायणपाण्डवादिमन्त्र-कथनो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

उक्त प्रकारकी इस जामवन्त अथवा बलरामकी सम्मतिको स्वीकार करके झटकेके साथ उठे राजाओंके गलेके भूषण अथवा अंगपरसे गिरते हुए मल्लिकाकी कलियोंकी अञ्जलि-तुल्य मणियोंके व्याजसे मंत्रणाकी पूजाविधि सी हो गयी थी जिसका परिणाम विजय ही था ॥४१॥

इति निर्दोषविद्याभूषणभूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके शिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र-द्वारा विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी टीकामें 'सुग्रीवजाम्बवाञ्जनेय-नारायणपाण्डवादिमंत्रकथन नामक एकादश सर्ग समाप्त ।

---

1. वसन्ततिलकावृत्तम् ।

द्वादशः सर्गः

अथ वानराधिपतिभिः प्रबलैः परमः पुमान्बलयुतोऽनुगतः ।
श्रुतविक्रमप्रश(मि)भिः प्रययौ विनयैर्विभूतिमिव सिद्धशिलाम् ॥१॥

अथेति–अथशब्दोऽत्र मन्त्रकथनानन्तर्यार्थो बोद्धव्यो मङ्गलार्थो वा गृह्यते । प्रययौ प्रकर्षेण गतवान्, कः ? परमः पुमाँल्लक्ष्मणः, काम् ? सिद्धशिलां कोटिशिलानामधेयां दृषदम्, कथम्भूतः सन् ? अनुगतः, कैः ? वानराधिपतिभिः सुग्रीवप्रभृतिभिर्वानरेन्द्रैः, कथम्भूतैः ? प्रबलैः प्रकृष्टसामर्थ्यवद्भिः, पुनः श्रुतविक्रमप्रशमिभिः शास्त्रशौर्योपशमवद्भिः । कथम्भूतः परमः पुमान् ? बलयुतः रामयुक्तः, कामिव ? विभूतिमिव, यथा सम्पदं विनयैरनुगतः सन् पुमान् प्रयातीति शेषः ।

भारतीयः–अथवा परमः पुमान्नारायणः सिद्धिशिलां प्रययौ, कथम्भूतः सन् अनुगतः, कैः ? नराधिपतिभिः समुद्रविजयादिभिर्भूपैः, कथम्भूतैः ? प्रबलैः प्रकृष्टबलसैन्ययुक्तैः, पुनः कथम्भूतैः ? श्रुतविक्रमप्रशमिभिः, कथम्भूतः परमः पुमान् ? बलयुतः बलभद्रयुतः, कामिव ? विभूतिमिव, यथा विनयैरनुगतः सन् मानवो विभूतिं प्रयातीति[1] ॥१॥

अनुजग्मुरेनमनुकूलतया हरिवंशजाः सुखचरा बहवः ।
व्यवसायमायनिचया इव तं किममी न वाततनयप्रमुखाः ॥२॥

अनुजग्मुरिति–किं नानुजग्मुरपि त्वनुजग्मुरेव, के ? अमी हरिवंशजाः सुग्रीवादयो नरेन्द्राः, कम् ? तमेनं लक्ष्मणम्, कया ? अनुकूलतया आनुकूल्येनाततयेत्यर्थः, कथम्भूता हरिवंशजाः ? सुखचराः प्रशस्यविद्याधराः, पुनर्वाततनयप्रमुखाः हनुमत्प्रभृतयः, कतिसंख्याः ? बहवः प्रचुराः, क इव कं यथा ? इव यथा आयनिचयाः द्रव्यप्रवेशद्वाराणि व्यवसायमुद्यममनुगच्छन्तीति ।

भारतीयः–हरिवंशजाः यादवान्वयसमुत्पन्नाः, भूपालाः, तं नारायणम्, सुखचराः सुखेन वर्त्तमानाः, पुनराततनयप्रमुखा विस्तीर्णनीतिप्रमुखाः । शेषं समम् ॥२॥

रविमण्डलोत्थित इवान्य इव स्वयमन्यजन्म गतवानिव सः ।
नरभीमयोजनसुदुःसहया प्रभया परिष्कृततनुः शुशुभे ॥३॥

रवीति–स लक्ष्मणः शुशुभे, कथम्भूतः ? प्रभया परिष्कृततनुरलङ्कृतशरीरः, कथम्भूतया ? जनानां सुदुःसहयाऽतिशयेन सोढुमशक्यया, कथम्भूतः ? नरभीमयो नराणां भयहेतुः, क इवोत्प्रेक्षितः ? रविमण्डलोत्थित इव सूर्यबिम्बात्समुत्पन्न इव, तथाऽन्य इवोत्प्रेक्षित इव स्वयमात्मनाऽन्यजन्म गतवानिव ।

मंत्रणाके बाद, बड़ी सेनाओंके स्वामी, शास्त्र, पराक्रम तथा प्रशमधारी वानरवंशी राजाओंसे अनुगत, बलभद्र (राम)के साथ परम पुरुष लक्ष्मण उसी प्रकार कोटिशिलाको गया था जैसे विनम्रतासे अनुगत विभूति जाती है [समुद्रविजय आदि राजाओंसे अनुयात बलरामके साथ परमपुरुष कृष्ण उसी प्रकार कोटिशिला······जाती है] ॥१॥

हरिवंशमें उत्पन्न ये बहुतसे उत्तम विद्याधर (सु-खचरा) हनुमान आदि अनुकूल होनेके कारण क्या उस लक्ष्मणके पीछे पीछे वैसे ही नहीं गये थे जैसे उद्योगशीलताके साथ सम्पत्तिके आगमन मार्ग चलते हैं [यादववंशमें उत्पन्न बहुतसे सुखसे जीवन बिताते तथा विस्तृत नीतिके प्रमुख संचालक अनुकूलताके कारण क्या उस कृष्णके···है] ॥२॥

अत्यन्त परिष्कृत शरीर होनेके कारण लोगोंके लिए भयकारक वह लक्ष्मण, जनसाधारणके लिए न सहने योग्य अपनी कान्तिके द्वारा ऐसा सुशोभित हुआ था कि वह सूर्य-

1. सर्गेऽस्मिन् प्रमिताक्षरावृत्तम् ।

भारतीयः—शुशुभे, कः ? स नारायणः, कथम्भूतया प्रभया ? नर्मभियोजनसुदुःसहया, नरोऽर्जुनः, भीमो वृकोदरः तयोर्योजनं योगस्तेन सुदुःसहया । शेषं समानम् ॥३॥

विशदं यशोऽखिलदिशं निखिलां भुवमायतिः स्तुतिकथां महिमा ।
समतीयिवत्सममिदं सकलं भुजयोः शिरोऽस्य समतीतवतोः ॥४॥

विशदमिति—इदं सकलं कर्म समतीयिवदतिक्रान्तवत् ? किम् ? इदं सकलं कर्तृ, कथम् ? सममेकवेलया, कयोः सतोः ? भुजयोर्बाह्वोः, कथम्भूतयोः सतोः ? शिरः समतीतवतोः, मस्तकमतिलङ्घितवतोः, कस्य ? अस्य लक्ष्मणस्य विष्णोश्च । अत्रेदं तात्पर्यम्—उन्नतस्कन्धायन्तोऽकनायशःप्रभृतीनां स्पर्धा प्रदर्शिता । तद्यथा—समतीयिवत्, किं कर्तृ ? यशः, काम् ? अखिलदिशं समस्ताशाम्, कथम्भूतम् ? विशदम्, तथा समतीयुषी, का ? आयतिः प्रसिद्धिः, काम् ? भुवम्, कथम्भूताम् ? निखिलाम्, तथा समतीयिवान्, कोऽसौ ? महिमा माहात्म्यम्, काम् ? स्तुतिकथाम् ॥४॥

किमु मे भुजेन भुवनस्य भरं वहतः शिला बहिरियं जगतः ।
दधतो भुवं किमु नगस्य भरस्तरुरित्ययं स्मयमियाय मुहुः ॥५॥

किमिति—किमित्यनेन शब्देनाक्षेपो गम्यते, उ अहो, इयं शिला जगतः किं बहिरस्ति, मे मम, किं कुर्वतः ? वहतो धरतः, कम् ? भुवनस्य भरम्, केन कृत्वा ? भुजेन बाहुना, किमु भुवं दधतः बिभ्रतः नगस्य गिरेः तरुर्भरः अपि तु नैव, इत्ययं विष्णुः मुहुर्वारं वारं स्मयं गर्वमियाय गतवान् ॥५॥

विनिपातितं विनिहितं प्रथमं क्वचिदात्मनोद्धृतमदः सुहृदाम् ।
अधुनात्मसाहसमसौ सहसा ददृशे व्रजन्निव निरूपयितुम् ॥६॥

विनिपातितमिति—अधुना साम्प्रतमिति ददृशे दृष्टः, कोऽसौ ? असौ विष्णुः, किं कुर्वन् ? व्रजन्, कथम् ? सहसा शीघ्रम्, किं कर्तुमिव ? निरूपयितुमिव, किम् ? अद एतदात्मसाहसं धैर्यम्, केषाम् ? सुहृदाम्, कथम्भूतं सत् ? विनिपातितं तथा विनिहितं तथोद्धृतम्, केन ? आत्मना, क्व ? क्वचित् क्वापीत्यर्थः, कथम् ? प्रथममिति ॥६॥

सघनागमो निजशुचिः सुरभिर्वनपुष्पगः समहिमोग्रजवः ।
सरसां शरच्छविमितः शिशिरो मरुदन्वगाच्चमृतुमूर्त्तिरिव ॥७॥

सघनागम इति—अन्वगादनुगतः, कोऽसौ ? मरुद्वातः, कम् ? तं विष्णुम्, कथम्भूतः ? सघनागमः सह घनागमेन वर्त्तमान इति सघनागमः मन्दया गत्या वर्त्तमान इत्यर्थः । पुनर्निजशुचिः निजेनात्मना शुचिर्निर्मलः रेणूत्करशून्य इत्यर्थः, पुनः सुरभिः सुगन्धिः, अतएव सुरभिर्यतो वनपुष्पगः कान्तारकुसुममकरन्द-

---

मण्डलसे उत्पन्न, अथवा दूसरेके तुल्य अथवा स्वयमेव दूसरे जन्मको प्राप्तके समान शोभित हो रहा था [...अर्जुन, भीम आदिसे सम्बन्धके कारण असह्य वह कृष्ण......था] ॥३॥

इस लक्ष्मण अथवा कृष्णके शिरके ऊपर उठी भुजाओंने एक साथ ही आगे कहे सब चमत्कारोंका भी अतिक्रमण कर दिया था। निर्मल यशने समस्त दिशाओंको, सौभाग्यकी ख्यातिने पूर्ण विश्वको तथा महिमाने स्तुतिकी चर्चाको लाँघ दिया था ॥४॥

समस्त विश्वके दायित्वको इन भुजाओंसे उठाये हुए मेरे लिए क्या यह शिला जगत् के बाहर है ? पृथ्वीको धारण करनेवाले भूधरके लिए पेड़का भार अलग होता है क्या ? यह सोच कर वह (लक्ष्मण-कृष्ण) आश्चर्यमें पड़ गये थे ॥५॥

कहीं पर छोड़ा गया अथवा रखा गया अपना प्राचीन साहस अब मैंने अपने आप ही सम्हाल लिया है । बन्धु-बान्धवोंको यह प्रत्यय करानेके लिए ही अकस्मात् जाता हुआ सदृश वह लक्ष्मण अथवा कृष्ण देखा गया था ॥६॥

मेघोंकी घटायुक्त, स्वयमेव निर्मल, वनके फूलोंके परागयुक्त होनेसे सुगन्धित, शीतलता (हिम) युक्त, शरत् ऋतुके तालाबों की (अथवा सरस) कान्ति युक्त, शिशिर तथा ओरसे

विन्दुत्करत्रासनावासिततनुरित्यर्थः । पुनः समहिमः समं हिमं यस्य सः सर्वजनतापहारकतया प्रशस्य इत्यर्थः, पुनरभजवः प्रधानवेगः मयूरपिच्छभेदीत्यर्थः । पुनः शरच्छविं वारिरूपतामितः प्राप्तः, कथम्भूतां शरच्छविम् ? सरसां रसिकाम् । अत्र तात्पर्यं जललवसमालम्बिततयाऽतिसूक्ष्मसूक्ष्मस्वभावताप्रतिपन्नान् पयःकणान् प्रक्षरतीत्यर्थः । अतएव शिशिरः शीतलः, क इवोत्प्रेक्षितो मरुत् ? ऋतुमूर्त्तिरिव, षण्णां ऋतूनां मूर्त्तिरिव तद्यथा शरच्छरत्कालः स लोकप्रसिद्धो घनागमः प्रावृट्, तथा शुचिः ग्रीष्मः, तथा सुरभिर्वसन्तः, तथा समहिमो हेमन्तः, कथम्भूतः सन् ? छविं स्वच्छतामितः, केषाम् ? सरसां सरोवराणां तथा शिशिर एते षड्ऋतवस्तमनुजग्मुरिवेति ॥७॥

क्वचनातिपातमटवीमटवीं सधुनीं धुनीमभिनिवेशमगात् ।
सलतागृहान्वसतिरम्यतया तरसाभिपादमभिपादमगात् ॥८॥

क्वचनेति–अगात् गतवान्, कः ? स विष्णुः, कथम् ? तरसा शीघ्रम्, किं कृत्वा ? पूर्वमतिपातमतिक्रम्य, काम् ? अटवीमटवीम्, अरण्यानीमरण्यानीम् पुनः किं कृत्वा ? पूर्वमभिनिवेशं प्रविश्य, काम् ? धुनीं धुनीम्, तरङ्गिणीं तरङ्गिणीम्, पुनः किं कृत्वा ? पूर्वमभिपादमभिपादं प्रपद्य, कान् ? अगान् पर्वतान् "अगानित्यत्र केचिद्वृक्षानिति व्याख्यानयन्ति" । कथम्भूतान् ? सलतागृहान्, कया ? वसतिरम्यतया मन्दिररमणीयतयेति ॥८॥

पथि पाण्डुराजकुलवृद्धिमतः किल केशवं मुखरयन्ककुभः ।
इति भीमसेन उचितावसरं सरसं जगाद स मरुत्तनयः ॥९॥

पथीति–किल लोकोक्तौ शास्त्रोक्तौ वा । अतः कारणाज्जगाद उक्तवान् कोऽसौ ? स मरुत्तनयो हनूमान्, कम् केशवं लक्ष्मणम्, क्व ? पथ्यध्वनि, कथं यथा भवति ? उचितावसरं योग्यप्रस्तावं पुनः सरसं पुनः पाण्डुनिर्मलं परीक्षाक्षोदक्षममित्यर्थः, कथम् ? इति वक्ष्यमाणप्रकारेण, किं कुर्वन् ? ककुभ आशा मुखरयन् शब्दयन्, कथम्भूतः ? भीमसेनः भीमा सेना यस्य सः, अथवा भीमा चासौ सा च भीमसा तस्या इनः भीमसेनः, शत्रूणां प्रध्वंसनवशात्परमोत्कर्षं प्राप्ता या लक्ष्मी तस्या प्रभुरित्यर्थः । कथम्भूतं केशवम् ? राजकुलवृद्धिं राजकुलस्य नरेन्द्रसमूहस्य वृद्धिर्यस्य स तथोक्तस्तम्, तस्य लक्ष्मणस्यानेकेषां भूमिपालानां मेलापकोऽभूदित्यर्थः । अथवा पाण्डुराजकुलवृद्धिं पाण्डुरं निःपापं तथा विशदम्, अजनामा नृपो दशरथस्याद्यः पुरुषः, अजस्य कुलमजकुलं पाण्डुरञ्च तदजकुलञ्च पाण्डुराजकुलं तस्य वृद्धिर्यस्मात् तम् ।

भारतीयः—भीमसेनो वृकोदरः; कथम्भूतः ? पाण्डुराजकुलवृद्धिमतः पाण्डुराजकुलस्य पाण्डुराजान्वयस्य वृद्धौ मत इष्टः, पुनर्मरुत्तनयः मरुतः देवाः सन्त्यस्य मरुत्तः 'पर्वमरुद्भ्यां तः', इति सूत्रेण तप्रत्ययः, मरुत्तस्येन शक्रस्येव नयो नीतिर्यस्य स तथोक्तः शेषं तुल्यम् ॥९॥

शशिनस्तुलां समुपयाति कुलं भवतो यतेरुपशमश्च विधाम् ।
तव पौरुषं स्वसदृशं भुवनं भ्रमदभ्यपेक्ष्य भुजयोरजरत् ॥१०॥

बहता फलतः मूर्तिमान छहों ऋतुयुक्त पवन उसके पीछे-पीछे बह रहा था [घनागमसे वर्षा, सरस छवि शरद, शीतलतासे शिशिर, सम-हिमसे हेमन्त, सुरभि वन पुष्प युक्त वसन्त तथा निजशुचि ग्रीष्म] ॥७॥

कहीं पर जंगलके बाद जंगलोंको पार करता, नदियोंसे समन्वित नदियोंको; घुसकर लाँघता, और लताकुञ्जोंसे व्याप्त एवं सब तरफसे वृक्षों द्वारा आच्छादित पर्वतोंको पैदल ही पैदल; भवनकी रमणीयताके साथ चढ़ता-उतरता वह वेगसे चला जा रहा था ॥८॥

भीषण सेनाके स्वामी उस पवनञ्जयके पुत्र हनुमानने धवल कीर्तिधारी राजा अजके कुल (रघुवंश)की वृद्धिकी दृष्टिसे उचित अवसर देखकर दिशाओंको गुँजाते हुए निम्न सरस वचन लक्ष्मणजीको कहे थे [राजा पाण्डुके वंशकी प्रतिष्ठाभूत इन्द्रके समान नीतिज्ञ (मरुत्तनय) भीमने श्री कृष्णसे···वचन कहे थे] ॥९॥

शशिन इति– समुपयाति प्राप्नोति, किं कर्तृ ? कुलमन्वयः, काम् ? तुलां सादृश्यम्, कस्य ? शशिनश्चन्द्रस्य, विशदतया सकललोकानामानन्दकारिकुलमित्यर्थः । तथा भवत उपशमः यतेर्योगिनः श्रियां तुलां समुपयाति, तथा तव भुजयोः पौरुषं पराक्रमोऽवजीर्णम्, किं कुर्वत् ? भुवनं जगत् भ्रमत् पर्यटत्, किं कृत्वा ? पूर्वमव्यपेक्ष्यानपेक्ष्य, किम् ? स्वसदृशमात्मसमं मित्रम् । अन्येषां शत्रूणामभावात्युद्धाभावो दर्शितः ॥१०॥

तव पूर्वजेन यदुनोपनताः किमरातयो नरघुणा निहताः ।
सकलं जगद्वशगतं कृतवान्स कथा शिलोद्धरणडम्बनया ॥११॥

द्वि० तवेति–उ अहो, किं नोपनताः किं न नम्रीकृताः ? के ? अरातयः शत्रवः, तथा किं न निहताः किं न प्रध्वस्ताः ? के ? अरातयः, केन ? रघुणा दशरथेन, कथम्भूतेन ? पूर्वजेनाद्येन, कस्य ? तव, अपि तूपनता निहताश्च । अत्र तात्पर्यं ये शरणमागतास्ते नम्रीकृताः, ये च स्तब्धवृत्तयस्ते निहता इत्यर्थः । तथा कृतवान्, कोऽसौ ? स रघुः, किम् ? जगत्, कथम्भूतम् ? वशगतमात्माधीनं पुनः सकलं समस्तं यद्यस्मात् कारणात्; तत्र किं प्रयोजनम् ? कथा ? शिलोद्धरणडम्बनया तवेति शेषः ।

भारतीयः–किं निहता अपि तु, न, के ? अरातयः, कथम्भूताः सन्तः ? उपनताः, पुनः नरघुणाः नरकीटकाः, केन कर्त्रा ? यदुना राज्ञा, कथम्भूतेन ? पूर्वजेन, कस्य ? तव, तथा च कृतवान् स यदुः, किम् ? जगत्, कथम्भूतम् ? वशगतं पुनः सकलम्, तत्र किं ? कथा शिलोद्धरणडम्बनयेति ॥११॥

जनमाकलय्य भुवि सांशयिकं भवतस्तथाप्युचितमुद्यमनम् ।
तदिदं द्विषां हि पलितङ्करणं विजयश्रियश्च सुभगङ्करणम् ॥१२॥

जनमिति–त्वं भुवि जनं लोकं सांशयिकं संशयापन्नं हि स्फुटमाकलय्य जानीहि, तथापि भवतस्तव उद्यमनमुद्यम उचितं स्यात्, तदिदमुद्यमनम्, कथम्भूतं स्यात् ? द्विषां शत्रूणां पलितङ्करणम् अपलितं पलितङ्क्रियतेऽनेन तत्तथोक्तम्, तथा विजयश्रियश्च सुभगङ्करणम् असुभगं सुभगङ्क्रियतेऽनेन तत्तथोक्तम् । "कृञः करणे ख्युट् च" । अत्रेदं तात्पर्यम्–त्वदुद्यमं श्रुत्वा पलायमानानां द्विषतां भूमेरुद्भूतेन रेणूत्करेण धूसरितकेशाः सन्तो वार्द्धकेन विना त्वयोद्यमेन कृत्वा पलिता इव क्रियन्ते, तथा चिरं निःसौभाग्याया जयश्रियस्त्वयोद्यमेन कृत्वा सौभाग्यं क्रियते ॥१२॥

कुलपर्वताः कुलपराभवतः समवैमि तेऽद्य निजमुन्नमनम् ।
कलयन्ति फल्गु विलयं मनुते सवितोदयास्तमयसानुमतोः ॥१३॥

कुलेति–समवैमि जानामि, कलयन्ति मन्यन्ते, के ? ते कुलपर्वताः कुलाचला मेर्वादयो गिरयः, किम् ? उन्नमनमुन्नतिम्, कथम्भूतम् ? फल्गु व्यर्थम्, पुनः कथम्भूतम् ? निजमात्मीयम् । कुतः ? कुलपरा-

---

आपका कुल (लोकके लिए आनन्दकारी होनेसे) चन्द्रमाकी समानता करता है, आपकी शान्ति यतियोंकी प्रशमता तुल्य है और आपके भुजाओंका पराक्रम त्रिभुवनमें घूमता हुआ किन्तु अपने सदृश दूसरेको न पाकर (निराशासे) थक गया है ॥१०॥

आपके पूर्वज महाराज रघुने क्या शरणागत शत्रुओंको विनम्र नहीं बनाया था ? अथवा अहंकारियोंका सर्वनाश नहीं किया था ? उन्होंने तो सारे संसारको जीत लिया था, अतएव आश्चर्य है (यत्-उ) इस कोटिशिलाके उठानेकी विडम्बनासे क्या लाभ है ? [आपके वंशके आदिपुरुष राजा यदुने नरकीट, विनम्र शत्रुओंको क्या मारा था ? उन्होंने........ लाभ है] ॥११॥

तथापि संसारकी संशयशील जनताको पुरुषार्थ जता दीजिये इस दृष्टिसे आपका यह उद्योग सर्वथा उचित है। क्योंकि आपके भयसे भागते शत्रुओंके बाल धूलधूसर (पके सदृश) हो जांयगे और विजयलक्ष्मीका सौभाग्य फिरसे चमक उठेगा ॥१२॥

हे लक्ष्मण अथवा कृष्ण ? आपके द्वारा हुए अपने वंशके पराभवके कारण कुलाचल

भवतोऽन्यथाभिभवात्, कस्य ? ते तव, कथम् ? अद्य साम्प्रतम्, अतो मनुते, कः ? सविता रविः, कम् ? विलयं प्रध्वंसम्, कयोः ? उदयास्तमयसानुमतोरुदयाचलास्ताचलयोः । अत्रेदं तात्पर्यम्—विष्णोः कुलादभिभूतानां क्षोणीधराणां स्वकीयमुन्नतिं फल्गुमन्यमानानां विलये सति तन्मध्यवर्तित्वादुदयास्तभूधरयोर्विलयं मनुतेऽहं निराश्रयो भविष्यामीति सखेदत्वं सूर्यस्य प्रदर्शितम् ॥१३॥

तदितो निरूपय पयोधरयोस्तटयोर्भरेण मृन्दुमदगतिम् ।
वलिशोभितां सरितमश्वमुखीमपि सारसानुगमनाकुलिताम् ॥१४॥

तदितीति—हे विष्णो निरूपयावलोकयस्व, कः ? त्वम्, काम् ? सरितम्, कथम् ? तदित इतस्ततः, कथम्भूताम् ? वलिशोभिताम् तरङ्गशोभिताम्, पुनः मृदुमन्दगतिं पेशलालसगमनाम्, केन ? पयोधरयोर्जलधारिणोस्तटयोः कूलयोर्भरेण पुनः सारसानुगमनाकुलितां सारसानां लक्ष्मणानामनुगमनेन गमनपौनःपुन्येन आकुलितां क्षोभं नीतामित्यर्थः । अपि शब्दोऽत्र समुच्चये न केवलं सरितमवलोकय, अश्वमुखीं किन्नरीमप्यवलोकय, कथम्भूताम् ? पयोधरयोस्स्तनयोस्तटयोरुच्छ्रितयोर्भरेणोन्नत्येन मृदुमन्दगतिं पुनर्वलिशोभितां जठरराजित्रयविराजितां पुनः सारसानुगमनाकुलितां सारञ्च तत् सानुषु गमनं च, तेनाकुलिताम् ॥१४॥

इह सैकतं तरणितप्तमिदं परिहृत्य हंसकुलमेति सरः ।
विरला वसन्ति च सति व्यसने किमु पक्षपातनिरता हि पुनः ॥१५॥

इहेति—इहास्मिन्प्रदेशे इदं हंसकुलं तरणितप्तं दिनकरप्रदीप्तं सैकतं सिकतापुञ्जं परिहृत्य परित्यज्य सरः सरोवरमेति व्रजति । युक्तमेतत्—किं वसन्ति तिष्ठन्ति, के ? विरलाः सत्पुरुषाः, अपि तु न केऽपि, क्व सति ? व्यसने विनिवासनिपाते, उ अहो पुनः किं वसन्ति, के ? पक्षपातनिरताः, अपि तु न, कथम् ? हि स्फुटमिति शेषः ॥१५॥

परतो नतं जघनपार्ष्णिभराद्बहु पूर्वतः कुचभरात्किमपि ।
पुलिनेषु सूचयति तत्पदयोरमराङ्गनागमनमत्र पदम् ॥१६॥

परत इति—अत्रास्मिन्प्रदेशे सूचयति, किं कर्तृ ? पदम्, किं कर्म ? अमराङ्गनागमनम्, कयोः पदम् ? तत्पदयोरमराङ्गनाचरणयोः, केषु ? पुलिनेषु सैकतेषु, कथम्भूतम् ? नतम्, कथं यथा भवति ? बहु, कथम् ? परतः पश्चात्, कस्मान्नतम् ? जघनपार्ष्णिभरात् जघनभरेणान्तर्हितत्वात् पार्ष्णोर्भारोऽप्युपचर्यते, न तु साक्षादस्तीति भावः । तथा नतम्, कथम् ? किमपि कियत्, कथम् ? पूर्वतः पुरतः कस्मात् किमपि नतम् ? कुचभरादिति ॥१६॥

आज अपनी ऊँचाई व्यर्थ ही समझते हैं । फलतः सूर्य भी उदयाचल और अस्ताचल पर्वतोंकी समाप्तिकी कल्पना करता है, ऐसा मेरा विचार है ॥१३॥

जलके प्रवाहके रोकनेवाले किनारोंकी ऊँचाईके कारण धीरगम्भीर बहती हुई, तरंगोंसे सुन्दर तथा सारसोंके इधर-उधर आने-जानेसे आकुल इस नदीको तथा स्तनोंकी ऊँचाई और भारके कारण विलासपूर्वक मन्दमन्द जाती, त्रिवलिसे सुन्दर तथा ठोस और उन्नत शिखरों (सार-सानु) पर चलनेके कारण अश्वमुखी किन्नरीको भी देखिये ॥१४॥

सूर्यके आतपसे तपायी गयी वालुकामय स्थानको छोड़कर यह हंसोंका झुंड तालाबकी ओर चला आरहा है । उचित ही है क्योंकि विरले ही चरित्रवान व्यक्ति आपत्ति आनेपर दृढ़ रहते हैं । जो पंखोंपर उड़ने वाले हैं [जो पक्षपाती लोग हैं] उनका तो कहना ही क्या है ॥१५॥

जंघा तथा नितम्बोंके भारके कारण एड़ीकी तरफ बहुत गहरा तथा पंजेकी तरफ भी स्तनोंके भारके कारण कुछ कम गहरे पदचिह्न बतलाते हैं कि इन वालुकामय प्रदेशोंमें देवोंकी देवियाँ विहार करके गयी हैं ॥१६॥

अमुतश्च पुष्पशयनं रचितं नवयावकाङ्कितपदं त्रिदशैः ।
रुधिरारुणं कुसुमबाणचितं मदनस्य पञ्चकमिव ज्वलति ॥१७॥

अमुत इति–अमुतश्चास्मिन्प्रदेशेऽपि ज्वलति भाति, किम् ? पुष्पशयनं कुसुमास्तरणम्, कथम्भूतं सत् ? चितं विहितम्, कैः ? त्रिदिवैर्देवैः, पुनः कथम्भूतम् ? नवयावकाङ्कितपदं नूतनालक्तकचिह्नितपदम्, किमिवोत्प्रेक्षितम् ? मदनस्य कन्दर्पस्य रुधिरारुणं रक्तशोणितं कुसुमबाणचितं प्रसूनशरपुष्टं पञ्चकं युद्धमिव ॥१७॥

स्तनतापशूनमथनम्रनलं बिशपत्रमत्र कुसुमास्तरणे ।
किमुतोज्झितान्यमनसा विगुणा सुरयोषिता विरहवल्लकिका ॥१८॥

स्तनेति–अत्रास्मिन्प्रदेशेऽभूत्, किम् ? बिशपत्रं पद्मिनीपत्रं कथम्भूतम् ? स्तनतापशूनं कुचतापशुष्कं पुनरथनम्रनलमथनम्रो नलो यस्य तत्तथोक्तम्, स्तनतापशूनत्वान्नलोऽपि शुष्को बिसपत्रस्येति भावः, क्व ? कुसुमास्तरणे, उताहो किमुज्झिता किं परित्यक्ता, अपि तु न । का ? विरहवल्लकिका वियोगवीणा, कया ? सुरयोषिताऽमररमण्या, कथम्भूता सती ? विगुणा त्रुटिततन्त्रीका, कथम्भूतया सत्या सुरयोषिता ? अन्यमनसाऽन्यचित्तया । अत्र वासनार्थः प्रदर्श्यते-चिरप्रोषितो भर्ता कदाऽऽगमिष्यति, कदा तं हम्र्यां द्रक्ष्यामि कदाऽतिदीर्घवियोगाग्निदग्धैः कटाक्षविक्षेपैरात्मपतिहृदयं जर्जरीकरिष्यामीति चिन्तार्दनावस्थाप्राप्तचिन्तयेत्यर्थः ॥१८॥

मृगनाभिजं परिमलं द्विरदः करिदानगन्धमनुयाति हरिः ।
इह जन्तुरेवमपरोऽपि परं विनिहन्तुमेव समनुव्रजति ॥१९॥

मृगेति–इहास्मिन्प्रदेशे द्विरदो हस्ती मृगनाभिजं कस्तूरिकाजातं परिमलमनुयात्यनुगच्छति । एवमुक्तप्रकारेण हरिः सिंहः करिदानगन्धमनुयाति । अपरोऽपि जन्तुः परमन्यं विनिहन्तुमनुव्रजति ॥१९॥

सरसीह मज्जति करिण्यलिनां परिधिः कराग्रनिभृतः स्फुरति ।
जलदेवतार्थमिदमुद्गतवत्क्षणमातपत्रमिव बर्हमयम्[1] ॥२०॥

सरसीति–इहास्मिन्प्रदेशेऽलिनां भ्रमराणां परिधिः मण्डलं परिस्फुरति, कथम्भूतः ? कराग्रनिभृतः शुण्डाग्रस्थितः क्व सति ? करिणि गजे सरसि सरोवरे मज्जति ब्रुडति सति । उत्प्रेक्षते उद्गतवदिव (उद्गतवत् उद्गतमिव) किम् ? इदम् आतपत्रं छत्रम्, किमर्थम् ? जलदेवतार्थम्, कथम्भूतम् ? बर्हमयं पिच्छमयम्, क्षणं मुहूर्त्तमेकमिति शेषः ॥२०॥

इस ओर देवताओंके द्वारा बनायी गयी, नूतन तथा गीले आलतायुक्त पदचिह्नोंसे भूषित, पुष्पशय्या है। जो फूलके बाणोंसे व्याप्त तथा रक्तसे लाल होनेके कारण कामदेवके संग्रामकी भूमिके समान जगमगा रही है ॥१७॥

इस पुष्पशय्यापर स्तनोंकी उष्मासे सूखा नालयुक्त कमलपत्र ऐसा प्रतीत होता है जैसी कि विदेश गये प्रेमीकी चिन्तासे आकुलचित्त देवोंकी अप्सराके द्वारा छोड़ी गयी बिना तारकी विरहवीणा होती है ॥१८॥

कस्तूरी मृगकी नाभिसे उत्पन्न सुगन्धके पीछे हाथी चलता है, हाथी के मदजलकी गन्धका सिंह पीछा करता है, इस प्रकार इस अरण्यमें एक जन्तु दूसरे जन्तुको मारनेके लिए उसका पीछा करता है ॥१९॥

इस वनमें जब हस्तिनी तालाबमें गोता लगाती है तो उसकी सूँड़के अग्रभागपर स्थिर बैठे भौंरोंका छत्ता ऊपरको उड़ता है। ऊपर उड़ता यह वर्तुलाकार भौंरोंका झुंड उस समय ऐसा लगता है मानो मयूरपक्षमय छत्र ही जलदेवताके ऊपर तन गया हो ॥२०॥

---

१. मञ्चकमिव–द० ।

सबलाकिका नवतृणा जगती मृदु निर्झरं वहति वाति मरुत् ।
सविताऽऽवृतश्च विपिनैरिह किं जलदागमः सततसंनिहितः ॥२१॥

सबलाकिकेति–इहास्मिन्प्रदेशे वहति, का ? पृथ्वी जगती, कम् ? निर्झरम्, कथम् ? यथा मृदु मन्दम्, कथम्भूता ? सबलाकिका बलाकाभिः सह वर्त्तमाना पुनर्नवतृणा नवानि नूतनानि तृणानि यस्यां सा तथोक्ता, तथा वाति, कः ? मरुत्, तथा वृतस्तिरोहितः, कः ? असौ सविता सूर्यः, कैः ? विपिनैः कान्तारैः, अतः किं विद्यते जलदागमः प्रावृट्, कथम्भूतः ? सततसंनिहितोऽनवरतनिकटवर्त्तीति शेषः ॥२१॥

द्विपदन्तपत्रमदमौक्तिकवद्धतः श्रवोभुजगलं शबरान् ।
करिणां न केवलमसून्मनुवे हरतोऽमुतः सकलसारमपि ॥२२॥

द्विपेति–इह केवलं मनुवे जानेऽहम्, कान् ? शबरान् किरातान्, किं कुर्वतः सतः ? दधतः, किम् ? श्रवोभुजगलं कर्णबाहुकण्ठम्, कथम्भूतम् ? द्विपदन्तपत्रमदमौक्तिकवत् । अत्रेदं तात्पर्यम्—दन्तिदन्तपत्रं कर्णयोः, मदं भुजकक्षयोः, मौक्तिकानि गले । हरतोऽपि मनुवे, कान् ? असून्प्राणान्, केषाम् ? करिणाम् सकलसारम्, क्व ? अमुतोऽमुष्मिन्प्रदेश इति शेषः ॥२२॥

अभिषेचकं निपतता हरिणा पुरतः क्रमेण पदयोर्द्विरदः ।
स्थितवानिहोन्नमितकुम्भकरः क्षणमङ्कुशेन विनिरुद्ध इव ॥२३॥

अभिषेचकमिति–इहास्मिन्प्रदेशे स्थितवान्, कोऽसौ ? द्विरदो हस्ती, क इवोत्प्रेक्षितः ? अंकुशेन विनिरुद्ध इव, कथम् ? क्षणं मुहूर्त्तमेकम्, कथम्भूतः सन् ? उन्नमितकुम्भकरः, केन ? निपतता हरिणा सिंहेन, केन ? पदयोः क्रमेण चरणयोः फालेन, कथम् ? पुरतः, कथं निपतता ? अभिषेचकं पुच्छमूलं लक्षीकृत्येति शेषः ॥२३॥

तरवो न सन्त्यफलिनो न लताः कुसुमोज्झिता न विरतस्रुतयः ।
सरितोऽलिहंसशुककोकिलकध्वनिवर्जितोऽत्र न परोऽस्ति रवः ॥२४॥

तरव इति–अत्रेह प्रदेशे तरवो वृक्षा अफलिनः फलरहिता न सन्ति, तथा लताः कुसुमोज्झिताः प्रसूनशून्या न सन्ति, तथा सरितो नद्यः विरतस्रुतयः जलनिर्झरोज्झिता न सन्ति, तथा परोऽन्यो रवो ध्वनिरलिहंसशुककोकिलध्वनिवर्जितः भ्रमरादिशब्दवर्जितो नास्ति ॥२४॥

इह भान्ति मण्डपभुवः सलताः सवितर्दिका गिरिपतत्सलिलाः ।
वनदेवताभिरपदिश्य मिथः पथिकान्प्रपा इव शुचौ रचिताः ॥२५॥

इस वनकी भूमिपर धीरे-धीरे बहते झरनोंके तुषारयुक्त हवा बहती है, सर्वदा सारस उड़ते रहते हैं, नूतन कोमल दूब उगती रहती है तथा ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंके कारण सूर्य छिपा रहता है अतएव ऐसा लगता है कि यहां बारहों महीना वर्षा ऋतु रहता है ॥२१॥

मेरा विचार है कि इस वनमें हाथियोंके दन्तपत्रोंको कानोंमें पहिने, मदको दोनों भुजाओंमें आत्मसात् किये तथा मस्तकके मुक्ताओंको गलोंमें धारण किये हुए भीलोंने हाथियोंके केवल प्राण ही नहीं लिये हैं अपितु उनकी समस्त सारभूत सम्पत्ति (वस्तुएँ) भी हर ली है ॥२२॥

इस वनमें सामनेसे ही पूँछके हिस्सेको लक्ष्य करके उछलते हुए सिंहके पंजोंका बचाव करनेकी दृष्टिसे हाथी गण्डस्थलों तथा सूंड़को तानकर क्षणभर वैसा ही जमके खड़ा रहता है जैसा कि महावतके अंकुशके संकेतपर निश्चल हो जाता है ॥२३॥

इस प्रदेशमें ऐसे वृक्ष नहीं हैं जिनपर फल न आते हों, सब लताएँ ऐसी हैं जो फूलती हैं, एक भी नदी ऐसी नहीं है जिसकी धार टूट जाती हो तथा भौंरा, हंस, शुक, कोकिल, आदिकी मधुर कूजके सिवा दूसरी ध्वनि नहीं सुनायी पड़ती है ॥२४॥

इहेति–इह प्रदेशे सलताः लताभिः सह वर्त्तमानाः मण्डपभुवः भान्ति, कथम्भूताः ? सवितर्दिकाः वेदिकासहिताः, पुनः गिरिपतत्सलिला गिरिभिः पतत्सलिलं यासु ताः क्षोणीधरप्रक्षरज्जलाः, का इव ? पथिकान-ध्वगान् अपदिश्योद्दिश्य शुचौ ग्रीष्मे वनदेवताभिः मिथः परस्परं रचिताः प्रपाः पानीयशालिका इव ॥२५॥

पतितस्तरोः शकुनिविष्ठिचितः शबरैरितोऽर्कसपर्यक्रियया ।
उपयुक्तमुक्तसिततण्डुलकैरवभाति कीर्ण इव पर्णचयः ॥२६॥

पतित इति–इतोऽस्मिन्प्रदेशे तरोः वृक्षात् पतितः शकुनिविष्ठिचितः विहङ्गमामेध्ययुक्तः पर्णचयः पत्र-समूहोऽवभाति शोभते, क इव ? शबरैः कर्तृभिरुपयुक्तमुक्तसिततण्डुलकैरुपयोगीकृतोज्झितश्वेततण्डुलसमूहैः कीर्ण इव, कया ? अर्कसपर्यक्रियया सूर्यार्चा-(र्चा) विधिना ॥२६॥

कुसुमं धनुर्मधुलिहोऽस्य गुणः शुककूजितं समरतूर्यरवः ।
मदनस्य साधनमिदं प्रचुरं सुलभं न साध्यमिह तद्विपिने ॥२७॥

कुसुममिति–इह विपिनेऽस्मिन्कान्तारे मदनस्य कन्दर्पस्य यत् इदं साधनं विद्यते, कथम्भूतम् ? प्रचुरम्, पुनः सुलभं सुप्रापम्, तद्यथा कुसुमं धनुर्जायते, मधुलिहो भ्रमरा अस्य धनुषो गुणो जायते, तथा शुक-कूजितं कीरध्वनिः समरतूर्यरवः रणवाद्यशब्द इति साधनम्, तत्तस्मात् साध्यं सुलभं न, अपि तु सुलभमेवेति काकुः[1] ॥२७॥

त्रिदिवेच्छया व्रतमिहत्यजनैः क्रियते न मुच्यत इदं दिविजैः ।
तदिदं वनं दिवमवैमि दिवं शतशीर्णकल्पतरुदोषहताम् ॥२८॥

त्रिदिवेति–इहत्यजनैरिहसम्भूतैर्जनैः त्रिदिवेच्छया व्रतं क्रियते विधीयते, त्रिवर्गाणामन्योन्यबाधातोज्झि-तत्वाद्यथावृत्तिकेन धर्मार्थकामाचरणलक्षणेन धर्मेण दीव्यते गम्यते प्राप्यत इति यः प्रदेशः स त्रिदिवस्तस्ये-च्छया, तथा न मुच्यते न परित्यज्यते, किम् ? इदं वनम्, कैः ? दिविजैः देवैः, तत्तस्मादवैमि जानामि, किम् ? इदं वनम्, काम् ? दिवं स्वर्गम्, तथाऽवैमि, काम् ? दिवम्, कथम्भूताम् ? शतशीर्णकल्पतरुदोष-हतां शतशीर्णाश्च ते कल्पतरवस्तेषां दोषस्तेन हताम्, इदमेतिह्यमत्र, इह वने नन्दनायमानकल्पकेलिसुखं प्रपन्नेषु देवेषु दिव्यसुखं मन्यमानेषु सत्सु मनुष्याणामिव सुधापानसन्तृप्तमानसतया प्रसिद्धानां फलादिभक्षणा-भावात् सफलानुयोगत्वात्कल्पतरुभिरेवमेव शीर्यते स्मेति भावः ॥२८॥

यहाँपर लताओंसे घिरी हुई, मध्यमें वेदीसे युक्त तथा पर्वतोंसे उतरती छोटी-छोटी जलधाराओंसे शोभित मंडप-भूमियाँ हैं। वे ऐसी लगती हैं—मानो वनदेवताओंने पथिकोंकी सुविधाकी दृष्टिसे परस्परमें विचार करके ग्रीष्मऋतुके लिए पियाऊएँ स्थापित कर दी हैं ॥२५॥

इस ओर वृक्षोंसे घिरी तथा पक्षियोंकी बीटसे व्याप्त पत्तोंकी राशि वैसी प्रतीत होती है जैसी कि भीलोंके द्वारा की गयी सूर्यकी पूजाके उपयोगमें आये और पूजा-समाप्तिपर इधर-उधर बिखेर दिये गये तण्डुल लगते हैं ॥२६॥

पुष्पराशि रूपी धनुष, भ्रमर पंक्ति रूपी उसकी ज्या तथा शुक, आदिकी कूजरूपी युद्ध-भेरियोंकी ध्वनि ये सब कामदेवकी समरयात्राकी साधन-सामग्री इस वनमें प्रचुर मात्रामें सुलभ है किन्तु समस्या यही है कि कोई जेय नहीं है ॥२७॥

यहाँ उत्पन्न मनुष्य स्वर्गकी इच्छासे व्रत, नियमादि का पालन करते हैं और अपनी रमणीयताके कारण यह वन स्वर्गके देवों-द्वारा कभी भी नहीं छोड़ा जाता है। अतएव मैं इस वनको स्वर्गीय नन्दनवन ही समझता हूँ। और सोचता हूँ स्वर्गका नन्दनवन अनुपयुक्त फलोंसे लदे वृक्षोंके कारण नष्ट हो रहा होगा ॥२८॥

---

1. अत्रातिशयोक्तिः–प०, द० ।

इति सङ्कथां निशमयन्सुहृदः स निशामयन्सपदि तत्तदयम् ।
समराघवक्रमधुराजगती रतिमाप येन समवाप शिलाम् ॥२९॥

इतीति–समवाप प्राप्तवान् , कोऽसौ ? सोऽयं लक्ष्मणः, काम् ? शिलाम् , किं कुर्वन् ? निशमयन् शृण्वन् , काम् ? सङ्कथां वार्त्ताम् , कस्य ? सुहृदः हनूमतः, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, किं कुर्वन् ? निशामयन् पश्यन् , किम् ? पदार्थसार्थम् , येन लक्ष्मणेन कृत्वा आप, का ? जगती पृथ्वी, काम् ? रतिम् , कथम्भूता सती ? समराघवक्रमधुरा रघूणामय राघव. राघवश्चासौ क्रमश्च राघवक्रमः राघवक्रमस्य धुरा राघवक्रमधुरा, समा प्राञ्जला राघवक्रमधुरा यस्याः सा तथोक्ता ।

भारतीयपक्षे–समवाप, कोऽसौ ? सोऽयं विष्णुः, काम् ? शिलाम् , किं कुर्वन् ? निशामयन् , काम् ? सङ्कथां परस्पराकुटिलभाषणम् , कस्य ? सुहृदो भीमस्य, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, किं कुर्वन् ? निशामयन् पश्यन् , किम् ? तत्तत्प्रसिद्धं वस्तुजातम् , किमाप अपि तु न प्राप्तवती, का ? समराघवक्रमधुराजगतिः अघवत्पापवत् वक्रोऽघवक्रः समरे सङ्ग्रामेऽघवक्रः समराघवक्रः स चासौ मधुश्च समराघवक्रमधुस्तस्य राजगतिः समराघवक्रमधुराजगतिरघवत्समरक्रूरमधुराज्यमित्यर्थः, काम् ? रतिम् , केन ? येन विष्णुनेति ॥२९॥

ऋषिकोटिभीत इति जन्यभिया स्वगले निबध्य मदनेन नदीम् ।
प्रविविक्षुणा खलु कुतश्चिदियं न शिलाहृतेति कलितं हरिणा ॥३०॥

ऋषीति–न आहृता अपि त्वाहृता आनीतेत्यर्थः का ? इयं शिला, केन ? मदनेन रतिपतिना, कुतः ? कुतश्चित् , कथम् ? खलु निश्चयेन, कथम्भूतेन ? प्रविविक्षुणा प्रवेशं कर्तुमिच्छता, काम् ? नदीम् , किं कृत्वा ? पूर्वं निबध्य काम् ? शिलाम् , क ? स्वगले, कया ? जन्यभिया जनापवादभयेन, कथमिति ? ऋषिकोटिभीत इति, हरिणा लक्ष्मणेन । भारतपक्षे—नारायणेन ॥३०॥

प्रभविष्यतः कलियुगाद्भयतो न खलूपगोप्य भुवि धर्मनिधिम् ।
यतिभिः शिलोपरिकृतेयमिति प्रवितर्कितं हलधरेण तदा ॥३१॥

प्रेति–तदा तस्मिन्काले प्रवितर्कितं हलधरेण रामेण कथम् ? इति न कृता, अपि तु कृतैव, का ? इयं शिला, कैः ? यतिभिः, कथम् ? उपरि, कथम् ? खलु निश्चयेन, किं कृत्वा ? पूर्वमुपगोप्य, कम् ? धर्मनिधिम् , कस्याम् ? भुवि, कस्मात् ? भयतो भयात् , कस्माद्भयम् ? कलियुगात् कलिकालात् , कथम्भूतात् ? प्रभविष्यतः भाविनः । भारतपक्षे–हलधरेण बलभद्रेण ॥३१॥

हरिणा जिनाभिषवणोन्मनसा जनताविदूर्यमुपपादयितुम् ।
निकटाश्म पाण्डुकशिलागपतेः खलु साहृतेत्यवहितं हरिभिः ॥३२॥

मित्र हनूमानकी उक्त सुन्दर चर्चाको सुनता हुआ तथा उन-उन रमणीय पदार्थोंको देखता हुआ वह लक्ष्मण अनायास ही कोटि-शिलापर पहुँच गया था जिसके द्वारा संतुलित रघुवंशियोंके चरणोंकी आधार पृथ्वीको प्रसन्नता हुई थी [मित्र भीमकी निष्कपट समीचीन उक्त बातें सुनता हुआ तथा उन-उन वास्तविकताओंको समझता हुआ श्रीकृष्ण कोटिशिलापर पहुँच गये थे जिसके कारण युद्धमें होने वाले पापोंके कारण क्रूर-आचरण दैत्य मधुके राज्यको प्रसन्नता नहीं हुई थी ॥२९॥

इस वनमें तपर्लीन करोड़ों ऋषियोंसे डर, लोकापवादकी आशंकासे कामदेवके द्वारा तो कहींसे यह शिला इसलिए लायी गयी होगी कि इसे गलेमें बाँधकर वह नदीमें डूब जायगा ऐसी कल्पना हरि लक्ष्मण अथवा कृष्णके मनमें आयी थी ॥३०॥

उस समय राम अथवा बलरामके मनमें यह विचार भी आया था कि भविष्यमें बलपूर्वक आने वाले कलियुगके भयसे धर्मकी निधिभूत इस शिलाको भूमिके भीतर छिपाके रख दिया गया था किन्तु यतियोंने इसे भूमिके ऊपर कर दिया है ॥३१॥

हरिणेति—अवहितं प्रतीतिमानीतम्, कैः ? हरिभिः सुग्रीवादिभिर्वानरेन्द्रैः, कथम् ? इति माहृता, अपि त्वाहृता, का ? पाण्डुकशिला, केन ? हरिणा इन्द्रेण, किमर्थमाहृता ? उपपादयितुम्, किम् ? जनताविदूर्यं जनानां समूहो जनता, आविदूर्यं सामीप्यमित्यर्थः जनताया आविदूर्यं जनताविदूर्यम्, कथम्भूतेन हरिणा ? जिनाभिषवणोन्मनसा जिनाभिषेकोत्कण्ठितचित्तेन, कस्मादाहृता ? अमरशैलमेरोः निकटात्समीपात्, किं कर्तुम् ? उपपादयितुम्, कथम् ? खलु निश्चयेनेति । भारतपक्षे—हरिभिर्यादवैः ॥३२॥

उपवीणयन्दृषदि सिद्धपदं निलयान्निलिम्पनिवहो निरगात् ।
न महः क्षणं विषहते स्म हरेर्बलवत्तरोऽस्ति बलिनोऽप्यथवा ॥३३॥

उपेति—निरगान्निर्गतवान्, कोऽसौ ? निलिम्पनिवहः देवसमूहः, कस्मात् ? निलयात्स्वकीयस्थानात्, किं कुर्वन् ? उपवीणयन् वीणयोपगायन्, किम् ? सिद्धिपदं जिनेश्वरयशः, अथवा रागद्वेषपरित्यागादात्मस्वरूपोपलब्धिं प्राप्तानां यतीनां कन्दर्पदर्पविजयलक्षणां सिद्धिम्, कस्याम् ? दृषदि शिलायाम्, तथा न विषहते स्म सोढुं न क्षमते स्म, कोऽसौ ? निलिम्पनिवहः किम् ? महस्तेजः, कस्य ? हरेर्लक्ष्मणस्य, कथम् ? क्षणं मुहूर्त्तमेकम्, युक्तमेतत्, अस्ति कः ? बलवत्तरो बलीयान्, कस्मात् ? बलिनः । अथवा कस्य ? बलिनः । भारतपक्षे—हरेर्नारायणस्य, शेषं प्राग्वत् ॥३३॥

गजगण्डघट्टितमदच्छुरितां गजशङ्कया मुनिशिलां नखरैः ।
विलिखन्रसन्नभिपतञ्छरभः शरणं व्यगाहत गुहागहनम् ॥३४॥

गजेति—व्यगाहत प्रविष्टवान्, कः ? शरभः शार्दूलः, किम् ? शरणम्, किम् ? गुहागहनं गुहा च गहनञ्च गुहागहनम्, दरीमुखमित्येके व्याकुर्वन्ति । किं कुर्वन् ? विलिखन्नुत्किरन्, काम् ? मुनिशिलां कोटिशिलाम्, कैः ? नखरैर्नखैः, कया ? गजशङ्कया गजभ्रान्त्या, कथम्भूतां सतीम् ? गजगण्डघट्टितमदच्छुरितां करिकपोलसङ्घर्षमदजलविलिप्ताम्, किं कुर्वन् ? रसन् गर्जन्, पुनः किं कुर्वन् ? अभिपतन् सम्मुखं गच्छन्निति ॥३४॥

तमुदीक्ष्य शैलमुपयन्रभसा ववृधे स्वयं स भुवनाभ्यधिकम् ।
करकन्दुकाद्गिरिमतीव लघुं पुरुषोत्तमोऽतिपरुषोऽजगणत् ॥३५॥

तमिति—ववृधे वृद्धिं गतवान्, कोऽसौ ? स पुरुषोत्तमो लक्ष्मणः, कथम् ? स्वयमात्मना, कथं यथा भवति ? भुवनाभ्यधिकम्, किं कुर्वन् ? उपयन् समीपं गच्छन्, कथम् ? रभसा औत्सुक्येन, किं कृत्वा ? पूर्वमुदीक्ष्यावलोक्य, कम् ? तं शैलं कोटिशिलानामधेयं भूधरम् । तथा अजगणत् अमंस्त, कः ? पुरुषोत्तमः, कम् ? गिरिम्, कथम्भूतम् ? लघुम्, कथम् ? अतीव अतिशयेन, कस्मात् ? करकन्दुकात् हस्तकन्दुकात्,

---

सुग्रीवादि वानरवंशी अथवा यादव राजाओंको यही विश्वास हुआ था कि श्रीजिनेन्द्रदेवका अभिषेक करनेके लिए उत्सुक इन्द्रके द्वारा पर्वतराज सुमेरुके ऊपरसे लायी गयी यह पाण्डुकशिला ही है, जो कि नरलोककी जनताके समीप लानेकी दृष्टिसे लायी गयी है ॥३२॥

स्वर्गवासी देव लोग वीणाके ऊपर सिद्ध परमेष्ठीकी स्तुतिको गाते हुए अपने अपने स्वर्गीय विमानोंसे निकले थे किन्तु इस (सिद्ध) कोटि-शिलापर उपस्थित हरि लक्ष्मण अथवा कृष्णके तेजको एक क्षण भी न सह सके थे । ठीक ही है श्रेष्ठ बली हरिसे अधिक बलवान् भी कोई हो सकता है ॥३३॥

हाथीके गण्डस्थलसे बहते मदजलसे लिपी हुई कोटिशिलापर हाथीकी आशंकासे उछलकर आया सिंह, नखोंसे उसे खरोंच कर शरणभूत गुफा अथवा घने वनमें चला जाता है ॥३४॥

उस पर्वतको देखकर ही बड़े वेगके साथ उसके निकट पहुँचते हुए अत्यन्त कठोर

कथम्भूतः सन् पुरुषोत्तमोऽजगणत् ? अतिपरुषोऽतिशयेन कठोरः । भारतपक्षे–पुरुषोत्तमो नारायणः । शेषं सुगमम् ॥२५॥

जघनं निबध्य वसनेन घनं विनियम्य केशनिचयं शिरसि ।
भुवमुत्खनंश्चरणपार्ष्णितलैः स ववल्ग मल्ल इव वल्गु नदन् ॥२६॥

जघनमिति–चचाल चलति स्म, कोऽसौ ? स लक्ष्मणः । भारतपक्षे–स विष्णुः, क इव ? मल्ल इव, किं कुर्वन् ? वल्गु नदन् मधुरं गर्जन्, पुनः किं कुर्वन् ? उत्खनन्नुल्लिखन्, काम् ? भुवं वसुन्धराम्, कैः कृत्वा ? चरणपार्ष्णितलैः, किं कृत्वा ? विनियम्य दृढं नियम्य, कम् ? शिरसि मस्तके केशनिचयम्, किं कृत्वा ? पूर्वं निबध्य नियम्य, किम् ? जघनं नितम्बं कटिप्रदेशम्, केन ? वसनेन वस्त्रेण, कथं यथा भवति ? घनं गाढमिति ॥२६॥

पदघातजातदरि मुक्तधरं स धराधरं सुकृतवान्कृतवान् ।
विजहाति वा बलवता निहतः श्लथमण्डलः किल न कः पृथिवीम् ॥२७॥

पदेति–कृतवान् विहितवान्, कोऽसौ ? स विष्णुः, कम् ? धराधरं शैलम्, कथम्भूतम् ? मुक्तधरं मुक्ता धरा येन तम्, कथं यथा भवति ? पदघातजातदरि पदघातेन जाता दरी यस्मिन्मोचनकर्मणि तत्तथोक्तं यथा, कथम्भूतः स विष्णुः ? सुकृतवान्, वाऽथवा, युक्तमेतत्, किल लोकोक्तौ, श्लथमण्डलो भूत्वा को न पृथिवीं विजहाति, अपि तु सर्वोऽपि परित्यजति, कथम्भूतः सन् ? निहतः, केन ? बलवता बलिनेति ॥२७॥

स दरीमुखेन नतकुब्जतनुः प्रविशन्नधस्पदममुष्य गिरेः ।
समवैमि दर्शितवराहगतिर्गतवान्वराह इति नाम तदा ॥२८॥

स इति–समवैमि जानेऽहं तदा तस्मिन्काले गतवान्, कोऽसौ ? स विष्णुः, किम् ? नामाख्याम्, कथमिति ? वराह इति, कथम्भूतः सन् ? दर्शितवराहगतिः प्रकटितदंष्ट्रिवृत्तिः, किं कुर्वन् सन् ? प्रविशन् किम् ? अधः पदमधोभागम्, कस्य ? अमुष्य अस्य गिरेः, केन ? दरीमुखेन कथम्भूतो भूत्वा ? नतकुब्जतनुः नता चासौ कुब्जा सङ्कुचिता तनुर्यस्य सः ॥२८॥

उरसा निपीड्य भुजयोर्द्वितयं परितः प्रसार्य परिचार्य शिलाम् ।
समुदक्षिपद्वरविवाहशिलामिव गोमिनीं परिणिनीषुरसौ ॥२९॥

उरसेति–समुदक्षिपदुत्क्षिप्तवान्, कोऽसौ ? असौ विष्णुः, काम् ? शिलाम्, कामिव ? वरविवाह-

---

पुरुषोत्तम लक्ष्मण अथवा कृष्ण अपने आप ही सारे विश्वसे भी अधिक सोत्साह हो गये थे। तथा वह शिला उनको हाथकी गेंदसे भी बहुत छोटी प्रतीत हुई थी ॥२५॥

परिधान वस्त्रके द्वारा कमर तथा जाँघोंको कसकर, माथेपर बालोंको जकड़कर बाँधके, भूमिको पैरोंके तलुओंसे खोदता हुआ तथा मधुर मधुर बड़बड़ाता हुआ वह लक्ष्मण अथवा कृष्ण कोटिशिलाकी ओर बढ़ा जा रहा था ॥२६॥

विशाल पुण्यके स्वामी लक्ष्मण अथवा कृष्णने चरणोंके आघातसे ही फटते हुए उस पर्वतको भूमिसे अलग कर दिया था। उचित ही है क्योंकि जिसकी आधारभूमि शिथिल हो जाय तथा प्रबल विरोधीके द्वारा आक्रान्त हो तो कौन ऐसा है जो उखड़ न जाय [जिस राजाका अपना सामन्तमण्डल दुर्बल अथवा उदासीन हो तथा प्रबल शत्रुके प्रहार हो रहे हों वह भी अपने राज्यसे च्युत हो जाता है] ॥२७॥

शरीरको मोड़कर कुब्जेकी तरह गुफामेंसे इस कोटिशिलाके पर्वतके नीचेके भागमें घुसते हुए विष्णु (लक्ष्मण तथा कृष्ण)ने यतः सूकरकी चालका प्रदर्शन किया था अतएव इसी समयसे इनका भी नाम वराह पड़ गया होगा ऐसा मैं समझता हूँ ॥२८॥

दोनों भुजाओंको पूरा फैला कर छातीसे चिपकाकर कोटिशिलाको उठाकर इस

शिलामिव, कथम्भूतः ? गोमिनीं लक्ष्मीं परिणिनीषुः परिणेतुमिच्छुः, किं कृत्वा ? समुदक्षिपत् ? परिधार्य सामस्त्येन धृत्वा, किं कृत्वा ? पूर्वं प्रसार्य, किम् ? भुजयोर्बाह्वोः द्वितयं युगम् , कथम् ? परितः सामस्त्येन पुनर्निपीड्य, केन ? उरसा वक्षसा ॥३९॥

कृतपाणिपीडनविधिः प्रथमं पुरुषोत्तमेन समुदूढतनुः
विरराज कोटिकशिला भयतः परिकम्पिता नववधूरिव सा ॥४०॥

कृतेति–विरराज शुशुभेतराम् , काऽसौ ? सा कोटिशिला, कथम्भूता सती ? पुरुषोत्तमेन विष्णुना समुदूढतनुः समुद्धृतमूर्तिः, पुनः कृतपाणिपीडनविधिः, कथम् ? प्रथमम् , पुनरपि कथम्भूता ? भयतः परिकम्पिता, केव विरराज ? नववधूरिव, कथम्भूता ? समुदूढतनुः, केन ? पुरुषोत्तमेन नरप्रधानेन सम्भोगचातुरीचतुरेण, पुनः प्रथमं कृतपाणिपीडनविधिः विहितपरिणयनविधाना ॥४०॥

परितः पतद्भुजगपङ्क्तिरसौ गलितान्त्रजालजटिलेव बभौ ।
परिभिन्ननिर्झरजला हरिणा विधृतानिलेन घनमूर्त्तिरिव ॥४१॥

परित इति–असौ कोटिशिला बभौ । केव ? गलितान्त्रजालजटिलेव च्युतान्त्रमालाजटावलम्बिनीवेत्यर्थः, कथम्भूता सती ? पतद्भुजङ्गपंक्तिः क्षरत्सर्पश्रेणिः, कथम् ? परितः सामस्त्येन, पुनः परिभिन्ननिर्झरजला स्रवन्निर्झरपानीया, पुनः हरिणा विधृता, केव ? अनिलेन विधृता घनमूर्त्तिरिव मेघमूर्त्तिरिव ॥४१॥

दिवि दुन्दुभिः प्रणिननाद दिवः कुसुमाञ्जलिः प्रणिपपात तथा ।
तमुदीक्ष्य विस्मयमिवोच्चलितास्तरवोऽपि पुष्पमभितश्चकरुः ॥४२॥

दिवीति–दिवि गगने दुन्दुभिः देवतूर्यं प्रणिननाद ध्वनितवान् , तथा कुसुमाञ्जलिः पुष्पवृष्टिः दिवः गगनात् प्रणिपपात, तथा तरवो वृक्षाः अपि अभितः सामस्त्येन पुष्पं चकरुः विक्षिप्तवन्तः । अत्र आत्यपेक्षयैकवचनम् । क इवोत्प्रेक्षिताः, तं विष्णुम् उदीक्ष्य विलोक्य विस्मयमाश्चर्यम् उच्चलिता इव ॥४२॥

द्विषतां भयेन सुहृदां प्रमुदा द्युनिवासिनामतिशयेन हरेः ।
अपि साहसैरभवदुद्धृषितं ननु वस्त्वनेकविधमेकविधम् ॥४३॥

द्विषतामिति–अपिशब्दः समुच्चये । द्विषतां शत्रूणां भयेन उद्धृषितं रोमाञ्चितम् अभवत् जातम् ,

---

लक्ष्मण अथवा कृष्णने कोटिशिलाको उसी प्रकार उठा दिया था जैसे लक्ष्मीके साथ विवाह करनेको उद्यत विष्णुने विवाहशिलाको उठाया था ॥३९॥

पुरुषोत्तम लक्ष्मण अथवा कृष्णकी भुजाओं-द्वारा कसके दबायी गयी, और गोदमें उठायी गयी यह कोटिशिला काँपती हुई [पाणिग्रहण होनेके बाद पहिले-पहिले आलिंगन की गयी अतएव भयसे काँपती हुई] नव वधूके समान सुशोभित हुई थी ॥४०॥

निकलकर चारों ओर भागते हुए साँपोंके गुच्छोंके कारण यह कोटिशिला ऐसी लगती थी मानो इसकी आँतें ही फैल गयी हैं । लक्ष्मण अथवा कृष्णके द्वारा उठानेसे सब तरफ फूटकर बहते झरनोंके पानीके कारण वह शिला वायुसे उड़ाये गये मेघके समान प्रतीत होती है ॥४१॥

मूर्तिमान आश्चर्यके समान बढ़ते हुए लक्ष्मण अथवा कृष्णको देखकर स्वर्गमें देवोंकी दुन्दुभियां गरज उठी थीं, आकाशसे पुष्पवृष्टि हो पड़ी थी तथा वृक्षोंने भी स्वयमेव सर्वत्र पुष्पोंको बिखेर दिया था ॥४२॥

आतंकके कारण शत्रुओंके रोम खड़े हो गये थे, हर्षातिरेकमें मित्रोंका शरीर पुलकित हो उठा था, आश्चर्यकी अतिने स्वर्गवासी देवोंको रोमांच ला दिया था तथा अपने साहसकी

तथा सुहृदां प्रमुदा आनन्देन, तथा द्युनिवासिनां देवानाम् अतिशयेन आश्चर्येण, तथा साद्भुतैर्धैर्यैः हरेः विष्णोः, युक्तमेतत्, ननु अहो जायते, किम्? वस्तु एकविधं सदनेकविधमिति ॥४३॥

अवलोक्य तं कलकलं मुमुचुर्दिशि खेचरा जितशिलोद्धरणम्।
सहधर्ममानितनया विततं प्रविजेष्यसे रिपुमपीति जगुः ॥४४॥

अवेति–खेचराः सुग्रीवादयो विद्याधराः कलकलं कोलाहलं दिशि मुमुचुः, किं पूर्वं कृत्वा? तं लक्ष्मणं जितशिलोद्धरणं जितं शिलाया उद्धरणं येन तं अवलोक्य, कथम्भूताः? सहधर्ममानितनयाः सह युगपत् परस्पराव्यभिचारितायाः परित्यागात् धर्मेण विनयलक्षणेन मानितो नयो नीतिः गृहाश्रमलक्षणो येषां ते तथोक्ताः, अथवा धर्मेण शिष्टपरिपालनदुष्टनिग्रहलक्षणेन मानितो नयो नीतिर्येषां ते 'शिष्टानां प्रतिपालनं दुष्टानां निग्रहो राज्ञां धर्मो न तु शिरोमुण्डनं, जटाधारणं तीर्थात्तीर्थान्तरगमनं चे'ति वचनात्। अपिशब्दोऽत्र समुच्चयार्थः। तथा जगुरुक्तवन्तः, कथम्? इति विततम् अनवरतं विजेष्यसे, कः? त्वम्, कम्? रिपुं रावणम्, कथम्? सह एकहेलया।

भारतीयपक्षे–'धर्ममानितनयाः धर्मस्य पाण्डुनरेन्द्रस्य मानिनः मानवन्तः गर्विष्ठाः तनयः पुत्राः पाण्डवाः रिपुं प्रविजेष्यसे इति जगुः। शेषं समम् ॥४४॥

प्रतिरोप्यतां तदियमत्र शिला भवितासि शत्रुकुलनिर्दलनः।
प्रतिशुश्रुवानिति वचः सुहृदां समतिष्ठिपत्पुनरिमां स हरिः ॥४५॥

प्रतिरोप्यतामिति—प्रतिशुश्रुवान् अङ्गीकृतवान्, किं? सुहृदां वचो वचनम्, कथम्? इति, तत्तस्मात् प्रतिरोप्यतां स्थाप्यताम्, का? इयं शिला, क्व? अत्रास्मिन् स्थाने, यतो भवितासि, कः? कथम्भूतः? शत्रुकुलनिर्दलनः रिपुवंशावमर्दी, पुनः पश्चात् समतिष्ठिपत् प्रतिरोपयामास, कः? स हरिर्लक्ष्मणः, काम्? इमां शिलाम्, भारतपक्षे–हरिर्नारायणः ॥४५॥

सरसीजलप्लवहिमस्तमसौ द्विपदानसौरभमथानुभवन्।
मृगनाभिगन्धमपि गन्धवहः सभयं वनेचर इवाभिययौ ॥४६॥

सरसीति–अभिययौ सम्मुखं गतवान्, कः? असौ गन्धवहो वायुः, कम्? तं विष्णुम्, कथम्? सभयं यथा, कथम्भूतः गन्धवहः? सरसीजलप्लवहिमः जलाशयपयःपूरशीतलः, किं कुर्वन्? अनुभवन्,

---

लीनतासे स्वयमेव लक्ष्मण तथा कृष्ण भी प्रफुल्लित थे। इस प्रकार एक ही वस्तुने अनेक रूप धारण किये थे ॥४३॥

सफलतापूर्वक कोटिशिलाका उद्धरण करते हुए उस लक्ष्मणको अथवा कृष्णको देखकर आकाशचारी देवों और विद्याधरोंने दशों दिशाओंको जयके कोलाहलसे गुंजा दिया था, धर्मपूर्वक नीति-मार्गका पालन करनेके कारण [धर्मराज पाण्डुके स्वाभिमानी पुत्रोंके साथ] निश्चित ही आप शत्रुओंको पूर्ण रूपसे जीतेंगे यह घोषणा की थी ॥४४॥

आप निश्चित ही शत्रु-कुलका सर्वनाश करेंगे अतएव इस शिलाको फिर यहाँ रख दीजिये। लक्ष्मण अथवा कृष्णने स्वर्गवासियोंके इन वचनोंको स्वीकार कर लिया था और कोटिशिलाको फिर यथास्थान रख दिया था ॥४५॥

जलाशयोंके जलप्रवाहके स्पर्शके कारण शीतल, हाथियोंके मदजलकी सुगन्धिसे

---

१. मुमुचुः, के? खेचराः देवाः, कम्? कलकलम्, कस्याम्? दिशि, कलकलाऽपेक्षयाऽत्र वीप्सा सम्भाव्यते। तेनायमर्थो लभ्यते दिशि दिशि। किं कृत्वा? अवलोक्य, कम्? तं विष्णुम्, कथम्भूतं? जितशिलोद्धरणम्, अपि तथा धर्म'—प०, द०।

किम् ? द्विपदानसौरभं द्विरदमदामोदम् , अपिशब्दः समुच्चयं सूचयति तथा मृगनाभिगन्धं कस्तूरीपरिमलम् , क इव ? वनेचर इव भिल्ल इव, यथा वनेचरस्तं विष्णुम् अभियाति । अन्यत्समम् ॥४६॥

उत्खातरोपणमिदं निजमेव पुंसा न्याय्यं व्रतं तदनुपालय पालनीयम् ।
इत्यग्रजस्य वचनं प्रतिमान्य तुष्टस्तुष्टाव सिद्धपदपंक्तिमसावुपेन्द्रः ॥४७॥

उत्खातेति–उपेन्द्रो लक्ष्मणोऽग्रजस्य रामस्य वचनं प्रतिमान्य अङ्गीकृत्य तुष्टो हृष्टः सन् सिद्धपदपंक्ति सिद्धं पदं येषां ते सिद्धपदाः तेषां पंक्तिं मुक्तश्रेणीं तुष्टाव स्तौति स्म । कथं वचनम् ? इति, उत्खातरोपणम् उन्मूलितप्रत्यवस्थापनमेव व्रतं पालनीयम् , कथम्भूतम् ? निजमात्मीयम् , केषाम् ? पुंसां पुरुषाणाम् , पुनः कथम्भूतम ? न्याय्यं न्यायादनपेतं तत् अनुपालय । भारतपक्षे–उपेन्द्रो विष्णुः, अग्रजस्य बलभद्रस्येति[1] ॥४७॥

योऽधः स्थितोऽशोकतरोरभासीत्तद्वृक्षमूलीयमहाव्रतस्य ।
फलं यतिभ्यः प्रथयन्निवार्हन्वन्द्यः सुराणां स पुनः पुनातु ॥४८॥

य इति–सः अर्हन् पुनातु पवित्रीकरोतु, कथम्भूतः ? सुराणां देवानां पुनः वारं वारं वन्द्यः स्तुत्यः । पुनः कथम्भूतः ? अशोकतरोः पिण्डीद्रुमस्य अधः अधोभागे स्थितः, किं कुर्वन्निव ? यतिभ्यः फलं प्रथयन्निव, यः अभासीत् रेजे । कस्य फलम् ? तद्वृक्षमूलीयमहाव्रतस्य, वृक्षस्य मूलं हितं यस्य स वृक्षमूलीयः, स चासौ वृक्षमूलीयश्च तद्वृक्षमूलीयः तस्य महाव्रतं तस्य लोकप्रसिद्धस्य वृक्षमूलनिवासिनो मुनिगणस्य महाव्रतमित्यर्थः[2] ॥४८॥

बोधाम्भोधौ यः समाधीन्दुवृद्धे सिद्धेरुच्यं कर्तुमिच्छन्निवर्द्धिम् ।
निन्ये मान्यं साधु रत्नत्रयं नः सिद्धः सिद्धां कार्यसिद्धिं करोतु ॥४९॥

बोधेति–करोतु विदधातु स सिद्धो मुक्तात्मा, काम् ? कार्यसिद्धिं, कार्यं मोक्षलक्षणम् , सिद्धिः प्राप्तिः प्रसिद्धिर्वा, कार्यस्य सिद्धिः कार्यसिद्धिस्ताम् , केषाम् ? नोऽस्माकम् , कथम्भूतां कार्यसिद्धिम् ? सिद्धां पूर्वापरप्रमाणबाधापरित्यागाद्युक्तियुक्तचेतसां पुंसां प्रतीतिशिखरिशिखरमारूढाम् । यो निन्ये नीतवान् , किम् ? रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावम् , काम् ? ऋद्धिं वृद्धिम् , क ? बोधाम्भोधौ, बोधः अवगमविगमसजन्माज्ञानातिशयः स बोधाम्भोधिः तस्मिन् केवलज्ञानसमुद्रे, कथम्भूते ? समाधीन्दुवृद्धे क्रोधादिचतुष्टयजनितचित्तकालुष्यपरित्यागाद्यदात्मनः प्रसन्नता स समाधिः, स एवेन्दुः तेन वृद्धे, कथम्भूतं रत्नत्रयम् ? साधु साधूनां मोक्तुमिच्छूनां योग्यत्वात्साध्वित्यभिधीयते । अथवा आत्मीयदोषैः परित्यक्तत्वात्साधु । पुनः कथम्भूतम् ? मान्यं

व्याप्त तथा कस्तूरी मृगकी नाभिके गन्धसे सुगन्धित पवन उस लक्ष्मण अथवा कृष्णके सामने भयके कारण भीलके समान धीरे-धीरे चल रहा था ॥४६॥

आदर्श पुरुषोंका यह अपना न्यायोचित तथा सब प्रकारसे पालने योग्य व्रत है कि जिसे उखाड़ दिया है उसकी पुनः स्थापना कर दें अतएव आप भी इसका पालन करिये। ज्येष्ठ भाई राम या बलरामकी इस सम्मतिको उपेन्द्रने स्वीकार कर लिया था और बड़े संतोषके साथ सिद्धपरमेष्ठीकी चरणपंक्तिकी स्तुति की थी ॥४७॥

समवशरणमें अशोक वृक्षके नीचे विराजमान होनेसे दर्शनीय तथा अनन्त सुख रूपी मोक्षके मूलभूत महाव्रतोंके सुफलको यतियोंको देता हुआ, सदृश वह अर्हन्त परमेष्ठी हमारा वन्द्य है । वही देवोंको भी पवित्र करें ॥४८॥

कषाय परित्यागसे उत्पन्न चित्तकी निर्मलतामय समाधि रूपी चन्द्रमाके द्वारा ज्वारको प्राप्त केवलज्ञानरूपी समुद्रमें जिसने अमूल्य सम्यग् दर्शन-ज्ञान—चरितमय रत्नत्रयकी

---

१. वसन्ततिलकावृत्तम् । २. उपजातिवृत्तम् ।

सुरोरगनरेन्द्राणां पूज्यम्, किं कुर्वन्निव रत्नत्रयं वृद्धिं निन्ये। इच्छन्निव, किं कर्तुम्? कर्तुं विधातुम्, किम्? दृश्यं भूषणम्, कस्याः? सिद्धेः मुक्तिललनाया इति ॥४९॥

तथाचार्यं चर्यापरिणतमुपाध्यायमखिल-
श्रुतोपाध्यायं तं बहुविधतपःसाधनपरम्।
स्तुवे साधुं साधु स्थितिजननिरोधव्यतिकरं
सदा पश्यत्प्राहुस्त्रितयमिदमेव त्रिपुरुषम् ॥५०॥

तथेति–तथा द्वयोरर्हत्सिद्धयोरार्शीरूपतया स्तवनप्रकारेण स्तुवे स्तवीमि, कम्? आचार्यं सूरिम्, कथम्भूतम्? चर्यापरिणतं चर्याज्ञानदर्शनचरणतपोवीर्याचाराः पञ्च, चर्याभिः परिणतस्तं चर्यापरिणतं पञ्चाचारेषु अज्ञानवासनावासितान्तःकरणतया जलतैलवदुपर्युपरि वर्त्तमानं जनं परिणामयन्तमात्मस्वरूपोपलब्धिलब्धमित्यर्थः। तथा स्तुवेऽहम्, कम्? उपाध्यायं पाठकम्, कथम्भूतम्? अखिलश्रुतोपाध्यायं समस्तागमस्योपदेष्टारम्, तथा स्तुवेऽहम्। कम्? तं साधुं संसारसागरसंसरणसरागपरिणामबहिर्मुखत्वादन्तर्मुखाकारतयाऽऽत्मानमवलोकमानः तद्रूपतया परिणमन् बहिर्भवेषु संयोगतामाप्तेष्वपूदासीनतामवलम्बमानः साधुरभिधीयते। कथम्भूतं साधुम्? बहुविधतपःसाधनपरं बहुविधं बाह्याभ्यन्तरप्रकारम्, बहुविधं च तत्तपश्च बहुविधतपस्तत्साधनं च हेतुः हेयं हेयरूपतयोपादेयमुपादेयतया विवेचकं ज्ञानं साधनमित्युच्यते, बहुविधतपश्च साधनञ्च बहुविधतपःसाधने, ते परे परमोत्कर्षं प्राप्ते यस्य स तथोक्तस्तम्, अतः कारणात् प्राहुर्वदन्ति, के? विद्वज्जनाः, किम्? तदिदं त्रितयम्, किमेव प्राहुः? त्रिपुरुषं त्रयाणां पुरुषाणां समाहारस्त्रिपुरुषं हरिहरहिरण्यगर्भम्, किं कुर्वत्? पश्यत् अवलोकमानम्, कम्? स्थितिजननिरोधव्यतिकरम्, स्थितिः ध्रौव्यम्, जन उत्पादः, निरोधो व्ययः, स्थितिश्च जनश्च निरोधश्च स्थितिजननिरोधास्तेषां व्यतिकरः सम्बन्धो यस्य पदार्थसार्थस्य तत्तथोक्तम् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सदित्यर्थः। कथं यथा भवति? साधुपूर्वापरप्रमाणबाधाविषयतायाः परित्यागादात्मप्रतीतिविषयमन्दिरं यथा, कथम्? सदा सर्वकालम्, अत्र तात्पर्यमभिधीयते, प्रबोधकत्वादमार्गान्मार्गेष्वारोपकाच्छीलात् प्रच्यवमानानां शीले प्रत्यवस्थाप्यत्वाद्विनेयानां कारुण्यबुद्धयाप्रतिपालकः स्यात्तस्य तथाविविधतपसा विविधकर्मभस्मीकरणात्साधुः हरोऽभिधीयते, कषायदैत्यानां क्षयकारकत्वात्तस्येति शेषः[१] ॥५०॥

इत्युच्चकैः स्तुतिशतं विरचय्य विष्णु-
र्नामालिखन्सुरगणैर्जहसे शिलायाम्।
द्वीपाम्बुराशिकुलपर्वतदेवलोक-
लोकान्तरेषु लिखितं किल केन वेति ॥५१॥

इतीति–जहसे हसितः, कः? विष्णुः, कैः? सुरगणैः देवसमूहैः, किं कुर्वन्? शिलायां दृषदि नाम आलिखन् उत्किरन्, किं कृत्वा? पूर्वं विरचय्य कृत्वा, किम्? स्तुतिशतम्, कथम्? उच्चकैरतिशयेन,

---

भलीभाँति वृद्धि, मुक्तिरूपी वल्लभाके आभूषण बनानेके लिए की है वह सिद्ध परमेष्ठी हमारी अनन्त कार्यसिद्धि अर्थात् मोक्षके साधक हों ॥४९॥

ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप-वीर्य पंचाचारके आचरणमें आचार्य परमेष्ठीको, समस्त शास्त्रोंके समीचीन उपदेशक उपाध्याय परमेष्ठीको, तथा अनेक प्रकारके बाह्य तथा अभ्यन्तर तपकी साधनामें लीन साधु परमेष्ठीकी भी स्तुति करता हूँ। ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययकी प्रक्रियाको सदा भलीभाँति समझनेवाली यह त्रिपुटी ही वास्तव ब्रह्मा-विष्णु-महेश त्रिपुरुष हैं ॥५०॥

इस प्रकार प्रगाढ़ श्रद्धापूर्वक सैकड़ों स्तुतियां करनेके बाद लक्ष्मण अथवा कृष्ण

---

१. -नामवलम्बी मुनिः सा-प०, द०। २. शिखरिणीवृत्तम्।

कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, तद्यथा किलेतिशब्द[1]ऽप्याश्चर्ये खेदे वा, कैनेति शब्दोऽनुयोगार्थो ग्राह्यः वा अथवा केन लिखितं किम् ? नाम, केषु द्वीपाम्बुराशिकुलपर्वतदेवलोकलोकान्तरेषु द्वीपं समुद्रसमृद्धनगरपुरपत्तनादि, अम्बुराशयः समुद्राः, कुलपर्वताः उदयास्तमयभूधरादयः देवलोकः स्वर्गावतीपुरी, लोकान्तरं मनुष्यलोकः, इतरेतराश्रयो द्वन्द्वः, तानि तथोक्तानि तेषु सुरगणानां प्रहासवचनमिदमिति[1] ॥५१॥

इत्थं हिरण्यकशिपूदयपक्षपाती
नारायणः पथि बभूव निवर्तमानः ।
सिद्धाभिपूजनविशेषविवृद्धतेजाः
श्रीवर्धनं जयकरं विनयं निराहुः ॥५२॥

इति श्रीधनञ्जयकविविरचिते राघवपाण्डवीयापरनाम्नि द्विसंधानकाव्ये लक्ष्मणवासुदेवयोः कोटिशिलोद्धरणकथनो नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

इत्थमिति–बभूव जज्ञे, कोऽसौ ? नारायणो विष्णुर्लक्ष्मणः, कथम्भूतः ? निवर्त्तमानो व्याघुटन्, क्व ? पथि मार्गे, पुनः कथम्भूतः ? हिरण्यकशिपूदयपक्षपाती हिरण्यं काञ्चनम् , कशिपू ग्रासाच्छादने, उदयः अभ्युदयः, हिरण्यं च कशिपू च उदयश्च हिरण्यकशिपूदयाः तेषां पक्षपातोऽस्यास्तीति सः तथोक्तः, बन्दिभ्यो वंशस्तुतिकरणेन कनकग्रासाच्छादनविभूतीनां दातेति भावः । पुनः कथम्भूतः ? सिद्धाभिपूजनविशेषविवृद्धतेजा आदावेव तेजस्वी सिद्धाभिपूजनाद्विशेषेण वृद्धं तेजो यस्य स तथेति, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, युक्तमेतन्निराहुर्वदन्ति, के ? विद्वज्जनाः, कम् ? विनयं प्रश्रयम् , कथम्भूतम् ? जयकरम् , पुनः श्रीवर्द्धनमिति ।

भारतीये–इत्थमुक्तप्रकारेण, सिद्धाभिपूजनविशेषविवृद्धतेजा भूत्वा नारायणो निवर्त्तमानः, पथि बभूव, कथम्भूतः सन् ? हिरण्यकशिपूदयपक्षपाती हिरण्यकशिपुर्नाम दैत्यराजस्तस्योदयपक्षं पातयतीत्येवंशीलः स तथोक्तः, हिरण्यकशिपोः प्राणहर्तेत्यर्थः । अन्वतसमम् ॥५२॥

इति श्रीनिरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्र-पण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिका-चकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां पदकौमुदी नाम दधानायां टीकायां लक्ष्मणवासुदेवकोटिशिलोद्धरणकथनं द्वादशः सर्गः ॥१२॥

शिलापर नाम लिखते हुए देवोंके द्वारा देखे गये थे । आश्चर्य है ? क्योंकि द्वीप, जलनिधि, कुलाचल, अमरपुरी, अथवा लोकान्तरमें कब किसने अपना नाम लिखा है ॥५१॥

सम्पत्ति (हिरण्य) सुख सामग्री (कशिपू) तथा समृद्धि (उदय) के पक्षका समर्थक लक्ष्मण अथवा हिरण्यकशिपु नामके दैत्यके उत्कर्षका समाप्तिकर्ता कृष्ण सिद्धशिला पर सांगोपांग सिद्ध परमेष्ठीकी पूजाके कारण लौटता हुआ मार्ग में अद्भुत रूपसे बढ़े तेजके स्वामी नरनायक हुये थे । क्योंकि विद्वज्जन भगवान्‌की विनयको लक्ष्मीका पोषक तथा विजयका कर्ता कहते हैं ॥५२॥

निर्दोष विद्याभूषणभूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके प्रशिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाचातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर नेमिचन्द्र द्वारा विरचित कवि धनञ्जयके राघवपाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी टीकामें लक्ष्मण-वासुदेव कोटिशिलोद्धरण कथन नामक द्वादश सर्ग समाप्त ।

---

१. प्रश्नार्थो–प०, द० । २. वसन्ततिलकावृत्तम् ।

त्रयोदशः सर्गः

स श्रीशैलोदीर्णबलेन प्रजिहानः स्थित्यादौत्यन्नाम निरूढं हरिणोक्तः ।
वैदेह्यर्थं योजयतैको व्यवसायं तद्दूरक्षः स्थानमरातेरभियातः ॥१॥

स इति—सः श्रीशैलो हनूमान् अभियातः, उद्दिश्य गतवान् , किम् ? तत् आ विद्वदङ्गनाप्रसिद्धं स्थानं लङ्काख्यं पुरम् , कस्य ? अराते रावणस्य, कथम्भूतम् ? दूरक्षः, दुष्टानि रक्षांसि राक्षसा यत्र तत् , कथम्भूतोऽभियातः ? एकः एकाकी, पुनः कथम्भूतः ? हरिणा लक्ष्मणेन उक्तः, किं कुर्वता ? व्यवसायं निश्चयं योजयता प्रेरयता, किमर्थम् ? वैदेह्यर्थं विदेहानगरी तस्यामभवा, अथवा विदेहो राजा तस्यापत्यं स्त्री वैदेही तदर्थम् सीतानिमित्तमित्यर्थः, किं कुर्वाणः ? प्रजिहानः प्राप्नुवन् , किं तत् ? त्यन्नाम हनूमानित्यभिधानम् , कथम्भूतम् ? निरूढम् आबालगोपालविख्यातम् , क्व ? स्थित्यादौ उत्पत्तिकालमारभ्य, कथम्भूतेन हरिणा ? अदीर्णबलेन पुष्टसामर्थ्येन ।

भारतीयः—नाम अभियातः, कोऽसौ ? स एकः श्रीशैलः श्रीशैलनामधेयः कश्चित् पुमान् , किम् ? तल्लोकप्रसिद्धं स्थानं राजगृहाख्यं पुरम् , कस्य ? अरातेर्जरासंधनामधेयस्य शत्रोः, किं कुर्वन् ? दौत्यं दूतकर्म प्रजिहानः, कथम्भूतं दौत्यम् ? स्थित्या निरूढं रूढिमत् , कथम्भूतः सन् ? हरिणा नारायणेन उक्तः, कथम्भूतेन हरिणा ? अदीर्णबलेन प्रौढप्रौढिमता पुनः कथम्भूतेन ? वै स्फुटं देह्यर्थं पुरुषार्थं व्यवसायमुद्यमं योजयता, कथम्भूतः श्रीशैलः ? दूरक्षो दुःखेन रक्षितुं शक्या इति ॥१॥

दुर्गं राष्ट्रं तीर्थमरण्यं व्रजमायञ्जानञ्शत्रोश्चारमबुद्धः स्वयमन्यैः ।
स स्वीकुर्वन्कृत्यमकृत्यं व्युपजापैः स्थाने स्थानं स्वप्नमपीच्छन्प्रयतोऽभूत् ॥२॥

दुर्गमिति—स श्रीशैलः प्रयतः प्रयत्नपरः अभूदजनिष्ट, किं कुर्वन् ? आयन् आगच्छन् , किं तत् ? दुर्गं तथा राष्ट्रं तथा तीर्थं तथा अरण्यं तथा व्रजं घोषम् , किं कुर्वन् ? शत्रोः रिपोः चारं गतिं जानन् , कथम्भूतः ? अन्यैरपरैः स्वयमात्मना अबुद्धः अज्ञातः, किं कुर्वन् ? कृत्यं भेद्यम् अथवा अकृत्यमभेद्यममात्यादिकं व्युपजापैः सामादिभिः प्रयोगैः स्वीकुर्वन् उररीकुर्वन् , पुनः किं कुर्वन् ? स्थाने निरुपद्रवे प्रदेशे स्थितिं तथा स्वप्नमपि निद्रां चेच्छन् ॥२॥

अध्वान्तेऽसौ चेतसि वैरं प्रतिबन्धञ्ज्ञाता नीतेः संप्रतिमातामहतापम् ।
कुर्वन्धैर्येणावर्जितं तद्रिपुजातं साम्नायोज्य स्वामिनि सर्वंसहमेयः ॥३॥

वैदेहीके उद्धारके लिए अपने पूर्ण पुरुषार्थका प्रयोग करते हुए, प्रकृष्ट सामर्थ्यवान लक्ष्मणके द्वारा कहे गये, सृष्टिके प्रारम्भसे ही त्यत् (हनूमान) नामके विख्यात धारक वह पवनसुत दुष्ट राक्षसोंसे भरे शत्रु रावणकी पुरीको अकेले ही चल दिये थे [पुरुषार्थके लिए पूर्ण प्रयत्नशील प्रबल बलशाली कृष्णके द्वारा प्रेरित कोई एक श्रीशैल नामके सज्जन परिस्थितियोंके कारण अत्यन्त नियमबद्ध दूतके कार्यके भारको लेकर अत्यन्त अरक्षित शत्रु जरासंधकी राजधानी राजगृहको चल दिये थे] ॥१॥

वह किले, राष्ट्र, घाटों या तीर्थों, वनों, आभीर-पल्लियों को पार करता जाता था । शत्रुके गुप्तचरोंकी गतिविधिपर दृष्टि रखता था तथा शत्रुओंके लिए वह अज्ञात था, फोड़ने योग्य अथवा स्वामिभक्त शत्रुके लोगोंको साम, आदिके उपायोंसे वशमें करता हुआ, सुरक्षित स्थानपर रुकता तथा सोता हुआ वह श्रीशैल अपने दूत कर्ममें पूर्णरूपसे जुट गया था ॥२॥

---

१. सर्गोऽस्मिन्मत्तमयूरं वृत्तम् ।

अध्वान्त इति-संप्रति असौ श्रीशैलः अञ्जनासूनुः हनूमान् ऐयः गतवान्, किं कुर्वन् ? तत् जगद्विख्यातं रिपुजातं शत्रुसमूहं स्वामिनि रामे सर्वंसहं सर्वं सहत इति सर्वंसहम् आज्ञासहिष्णुं कुर्वन् विदधत्, किं कृत्वा ? पूर्वम् आयोज्य सम्बध्य, केन सह ? साम्ना सान्त्वेन प्रयोगेण, कथम्भूतं सत् ? अवजितम्, केन कृत्वा ? धैर्येण पौरुषेण तथा कुर्वन् मातामहतापं महेन्द्रराजस्य अञ्जनासुन्दरीतातस्य पश्चात्तापम्, क्व ? अध्वान्ते मार्गमध्ये, कथम्भूतः ? नीतेः ज्ञाता, किं कुर्वन् ? वैरं प्रतिबन्धन्, मम माता गर्भिणी सती निर्दयेनानेन महेन्द्रेण मन्दिरान्निर्वासितेति वैरम्, क्व ? चेतसि मनसीति।

भारतीय पक्षः—ऐयः प्राप्तवान्, कः ? असौ श्रीशैलनामधेयो दूतः कम् ? आपम् आपोऽस्मिन्देशे सन्तीत्यापः, तं सजलप्रदेशम्, केन ? महता गरिष्ठेन धैर्येण, किं कुर्वन् ? तद्रिपुजातम् अवजितं संतर्जितं सत् साम्ना पूर्वम् आयोज्य स्वामिनि विष्णौ सर्वं सहं कुर्वन्, कथम्भूतः श्रीशैलो दूतः ? संप्रतिमाता वर्त्तमानकालपरिच्छेदकः निश्चयवानित्यर्थः, पुनः नीतेर्ज्ञाता, पुनः किं कुर्वन् ? अध्वान्ते निर्मले चेतसि वैरं प्रतिबध्नन् ॥३॥

अभ्यालोलङ्कायमानो यश ओजो वाञ्छन्नुद्यन्नीतिविदार्य प्रियवेषः।
प्रेप्सुः शालं राजगृहं तं समतीतश्चक्रे लङ्कामाकुलवृत्तिं परमाजौ ॥४॥

अभ्यालोलमिति–स हनुमान् लङ्कां लङ्कासुन्दरीनामधेयां वनमालिनः पुत्रीं परम् अत्यर्थम् आकुलवृत्तिम् आजौ संग्रामे चक्रे चकार, कथम्भूतः ? शालं प्राकारं समतीतः अतिक्रान्तः, किं कृत्वा ? पूर्वं विदार्य भङ्क्त्वा, कथम्भूतः सन् ? तत् विख्यातं राजगृहं राजमन्दिरं प्रेप्सुः प्राप्तुमिच्छुः, पुनः कथम्भूतः ? प्रियवेषः सतामाकारभूतः, पुनः अभ्यालोऽदुष्टः सुहृदय इत्यर्थः, किं कुर्वन्, अयमानो गच्छन्, काम् ? लङ्कां लङ्कानामधेयां नगरीम्, किं कुर्वन् ? वाञ्छन्, किम् ? यशः तथा ओजः क्षात्रं तेजः तथा उद्यन् प्राप्नुवन् काम् ? नीतिं स्वं स्वमाचारम् लोका नीयन्ते प्राप्यन्ते यया सा नीतिः ताम्।

भारतीयः—हे विदार्य्य विदाम् आर्य हे विद्वज्जनानां मध्ये गुणगणसमाश्रय श्रेणिक चक्रे कृतवान्, कः ? स श्रीशैलो दूतः, कम् ? परं शत्रुम्, कथम्भूतम् ? कामाकुलवृत्तिम् अभिलाषेणाकुलवृत्तिम्, क्व ? आजौ संग्रामे, कथम्भूतः ? समतीतो लङ्घितवान्, कम् ? तं सजलप्रदेशम्, पुनः शालं प्रेप्सुः, किं कुर्वन् ? राजगृहम् उद्यन् गच्छन् पुनः कामयमानोऽभिलषन्, किम् ? अभ्यालोलं स्थिरतरं यशः तथा ओजः तथा नीतिम्, अलं वाञ्छन् ॥४॥

दारुप्राकारोऽप्यमुताहो रथकक्ष्या किंवाश्वीयं वारिधिवेला परिखा स्वित्।
सौधा जालोल्लासितधूमाः किमु मेघाः श्वेता नीलाब्दं सवमन्तीतीति शशङ्के ॥५॥

मार्गमें आये मातामह महेन्द्रराजके प्रति मन ही मन वैर भावको पुष्ट करता हुआ नीतिशास्त्र का पंडित वह हनूमान दृढ़ताके द्वारा ही पराजित शत्रुराजा समूह को साम के प्रयोग करने के पश्चात् अपने स्वामी रामके प्रति सर्वथा आज्ञाकारी बनाता हुआ चला आरहा था [निर्मल चित्तमें वैरकी गांठ बाधता हुआ, नीतिज्ञ, सर्वोत्तम अनुमान कर्ता, अपने असीमित धैर्यके द्वारा ही पराजित शत्रुओंको साम नीति द्वारा स्वामी कृष्णका पूर्ण अनुयायी बनाता हुआ उस प्रदेशमें पहुँचा था जो जलबहुल है ॥३॥

लंकापुरीको जाते हुये निष्कपट शिष्ट, कीर्ति और प्रतापके इच्छुक, उत्कृष्ट नीतिके ज्ञाता, शिष्ट तथा प्रिय वेषधारी तथा युद्धमें परकोटोंको लांघ कर सर्वविदित राजभवनमें घुसनेके लिए उद्यत उस हनुमानने वनमालीकी पुत्री लंकासुन्दरीको अत्यन्त चंचल-चित्त कर दिया था [अत्यन्त स्थायी (अभ्यालोल) यश और तेजकी अभिलाषा करता हुआ, समर्थ नीति व्यवहारका इच्छुक, प्रिय वेष श्रीशैल इस जलमय प्रदेशको पार करके परकोटेको लांघकर राजगृहमें प्रवेश कर रहा था। तथा उसने शत्रुको युद्धके लिए अत्यन्त लालायित कर दिया था ॥४॥

दार्विति–उताहो अयं दारुप्राकारः, अहो रथकट्या रथसमूहः, किं वाजीयम् अश्ववृन्दम्, किं वा वारिधिवेला, स्वित् किं वा इयं परिखा, किमु अहो किमिमे सौधाः गृहाः, कथम्भूताः ? जालोल्लासितधूमाः गवाक्षोद्गीर्णधूमधूम्राः, किं वमन्ति किमुद्गिलन्ति, के ? मेघाः, कान् ? नीलाम्भोवाहान्, कथम्भूताः सन्तः ? श्वेताः शुभ्रा इति शशङ्के स इति ॥५॥

निर्बद्धोच्चैरावतमुच्छीकरसेकं दृष्ट्वास्योच्चैरावणतुङ्गद्विपशालम् ।
जाता चेतस्यम्बुदबन्दीगृहशङ्का पुण्योपात्ता किं प्रभुशक्तिर्न करोति ॥६॥

निर्बद्धेति–जाता, का ? अम्बुदबन्दीगृहशङ्का मेघानां कारागृहभ्रान्तिः, क्व ? चेतसि । कस्य ? अस्य हनूमतः, कथम् ? उच्चैरतिशयेन, किं कृत्वा ? पूर्वं दृष्ट्वा आलोक्य, किम् ? रावणतुङ्गद्विपशालं द्विपानां शाला द्विपशालं हस्तिशालं तुङ्गं च द्विपशालं तुङ्गद्विपशालं रावणस्य तत् तुङ्गद्विपशालं रावणतुङ्गद्विपशालम्, कथम्भूतम् ? उच्छीकरसेकम्, ऊर्ध्वं शीकराणां शुण्डोन्मुक्तजलकणानां सेको यत्र तदुच्छीकरसेकं पुनर्निर्बद्धोच्चैरावतम् उच्चश्चासावैरावत उच्चैरावतः निर्बद्धः उच्चैरावतो यत्र तन्निर्बद्धोच्चैरावतम्, युक्तमेतत्, पुण्योपात्ता प्रभुशक्तिः किं न करोति ? अपि तु सर्वं करोत्येव ।

भारतीयः–जाता, का ? अम्बुदबन्दीगृहशङ्का, क्व ? अस्य श्रीशैलनाम्नो दूतस्य चेतसि, किं कृत्वा ? पूर्वं दृष्ट्वा, किम् ? उच्चैरावणतुङ्गद्विपशालम् उच्चोन्नता ऐरावणवत्तुङ्गाः ये द्विपास्तेषां शाला यत्र तत्, कथम्भूतम् ? उच्छीकरसेकम्, पुनर्निर्बद्धोच्चैरावतम्, इरावत्यां भवा ऐरावता हस्तिनः, उच्चाश्च ते ऐरावताश्च उच्चैरावताः निर्बद्धा आलानिता उच्चैरावता यत्र तत्, शेषं पूर्ववत् ॥६॥

दृष्ट्वा दम्यान्शृङ्खलबन्धेन किशोरानेवं ह्येतैः संप्रति पीडामपि नीतैः ।
दम्यन्तेऽन्ये स्वाम्युपकारैर्न तु नाथा जात्यस्येत्थं वृत्तिरुदात्तेति स मेने ॥७॥

दृष्ट्वेति–मेने अमंस्त, कोऽसौ ? सः, कथम् ? इति दम्यन्ते, के कर्मतापन्नाः ? अन्ये शत्रवः, कैः कर्तृभिः ? एतैः किशोरैः, कथम् ? एवं स्वदमनप्रकारेण, कैः कृत्वा ? स्वाम्युपकारैः, कथम् ? संप्रति सांप्रतम्, कथम् ? हि स्फुटम्, कथम्भूतैरपि ? दम्यन्ते पीडां नीतैरपि, केन कृत्वा ? शृङ्खलबन्धेन, किं कृत्वा पूर्वं मेने सः ? दृष्ट्वा, कान् ? किशोरान् अश्वबालकान्, कथम्भूतान् ? दम्यान्, कथम् ? इत्थमनेन प्रकारेण न तु ते पुनर्दम्यन्ते, के ? नाथाः प्रभवः, कैः ? एतैः, युक्तमेतत्, जायते, का ? वृत्तिर्वर्तनम्, कस्य ? जात्यस्य जातिसमुद्भवस्य, कथम्भूता ? उदात्ता उत्कटा ॥७॥

उद्यत्कक्षा गोपुरशालध्वजमाला मत्तालम्बालम्बनबाला समृदङ्गाः ।
तस्याधावत्तुङ्गतुरङ्गावबभासे राजन्यानां कन्दुकभूमिर्नगरी वा ॥८॥

क्या यह लकड़ीका परकोटा है या रथोंकी विशाल पंक्ति है ? क्या यह अश्वसेना है या समुद्रका तट है अथवा परिखा है ? जालियोंसे धुआं निकालते हुए विशाल भवन हैं अथवा श्वेत मेघ नील नील जलराशिका वमन कर रहे हैं ? इस प्रकारसे वह सन्देहमें पड़ गया था ॥५॥

रावणकी ऊँची हस्तिशालामें ऐरावतके समान हाथी बँधे थे तथा वे अपनी सूँड़ोंसे जलबिन्दु बरसा रहे थे। इसको देखकर ही हनुमानको मन ही मन ऐसा लगा था कि यह मेघोंका कारावास है। पूर्व पुण्यसे प्राप्त प्रभुता क्या नहीं करती है [इरावतीमें उत्पन्न तथा सूँड़से पानी उछालते हुए ऐरावत हाथी सदृश बड़े बड़े हाथियोंकी शाला (उच्चैरावणतुंगद्विपशाला) को देखकर दूत श्रीशैलको मनही मन ऐसा······है] ॥६॥

साँकलोंमें बाँधकर वशमें किये गये तथा सिखाये गये बछा घोड़ोंको देखकर उस हनूमान या श्रीशैलके मनमें यह विचार हुआ था—इस समय इस प्रकारसे कष्ट दिये जानेपर भी स्वामीका कार्य करनेके लिए तत्पर इन घोड़ोंके द्वारा बादमें शत्रु भी इसी प्रकार पराजित किये जायँगे। फलतः यह उदात्त परम्परा इनकी जातिका ही गुण है ॥७॥

उद्यदिति—अवबभासे प्रतिभासते स्म, का ? कन्दुकभूमिः कन्दुकैः क्रीडा क्रियते यस्यां भूमौ सा कन्दुकभूमिः, केषाम् ? राजन्यानां राजपुत्राणाम् , कस्य ? तस्य हनूमतः श्रीशैलनाम्नो दूतस्य च, उद्यत्कक्षा गोपुरप्राकारयोरन्तर्भूमिः कक्षा उद्यन्ती कक्षा यस्याः सा पुनः गोपुरशालध्वजमाला गोपुरशालेषु ध्वजमाला यस्यां सा, पुनः मत्तालम्बालम्बनबाला मत्तालम्बानाम् आलम्बनं यस्यां ताः मत्तालम्बालम्बनाः मत्तालम्बालम्बना बाला यस्यां सा तथोक्ता, अवष्टम्भनकाष्ठावष्टम्भमुग्धाङ्गनेत्यर्थः, पुनः समृदङ्गा समर्दला पुनः आधावत्तुङ्गतुरङ्गा आधावन्तः तुङ्गाः तुरङ्गा यस्यां सा, केव ? नगरीव, विशेषणानि पूर्ववत् ॥८॥

यत्रोद्वेगे मूर्छति शोकेनयमस्त्री तस्थौ दुःस्थं चाशुभवानीशसमेत्या ।
त्यक्त्वालङ्का राज्यविभोगं धनदोऽपि द्वेषी कारागारमसौ तन्निचचाये ॥९॥

यत्रेति—निचचाये ददर्श, कः ? असौ हनुमान् , किम् ? तत् लोकप्रसिद्धं कारागारं बन्दीगृहम् , यत्र कारागारे तस्थौ स्थितवती यमस्त्री छाया नामधेया कृतान्तभार्या, कथम् ? दुःस्थं दौःस्थ्यं यथा, क्व ? उद्वेगे सति, कीदृग्विधे ? मूर्छति वृद्धिं याति, केन ? शोकेन शुचा, चकारः समुच्चयार्थः, तथा तस्थौ, का ? भवानी गौरी दुःस्थमिति क्रियाविशेषणम् , कथम्भूता ? ईशसमेत्या ईशानयुक्ता ; क्व सति ? उद्वेगे, किं कुर्वति ? मूर्छति, केन ? शोकेन, कथम् ? आशु शीघ्रम् , तथा तस्थौ, कः ? असौ धनदोऽपि द्वेषी, कथम् ? दुःस्थम् , किं कृत्वा ? पूर्वं त्यक्त्वा अपाकृत्य, कम् ? अलकाराज्यविभोगम् अलंकानगरी नगरी राज्यविभोगं राज्यानुभवनम् । विन्दुच्युतकं, **"यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित् । नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभंगाय सम्मतौ"** इति वचनात् ।

भारतीये—असौ दूतः तत् कारागारं निचचाये ददर्श, यत्र कारागारे तस्थौ, कः ? द्वेषी शत्रुः, कथं यथा भवति ? अनयम् अन्याय्यप्रवेशम् , कथं यथा भवति ? दुःस्थं क्षुत्पिपासादिजनितबाधायां सत्याभक्ष्यादीनामप्राप्तौ तदभिलाषमित्यर्थः, क्व सति ? शोके किं कुर्वति ? मूर्छति विदधति, तथा शोकादुद्वेगे च सति, कथम्भूतः सः ? अशुभवान् , कथम्भूतोऽपि सन् ? धनदोऽपि धनं ददातीति धनदः, अपिशब्दात् बन्धनात्पूर्वं स्थूलदातेत्यर्थः, किं कृत्वा ? पूर्वं त्यक्त्वा विहाय, किम् ? अलङ्काराज्यविभोगम् अलङ्काराः कङ्कणकुण्डलादिविभूषणानि, आज्यवयः षोडशवार्षिकाः कमनीयकामिन्यः, भोगः 'कुङ्कुमकर्पूरचन्दनादिलक्षणः, अलङ्काराश्च आज्यवयश्च भोगश्च अलङ्काराज्यविभोगम् , कया ? ईशसमेत्या स्वामिसंगत्या जरासन्धादभिभवेनेत्यर्थः, पुनः कथम्भूतः ? शस्त्री शस्त्रवान् , उक्तं च **"सम्भोगलालसा नित्यं घनपीनपयोधरा । षोडशाब्दा तु या नारी बुधैराज्यविरुच्यते"** ॥९॥

दूतको राजपुत्रोंके गेंद खेलनेकी भूमि नगरीके समान ही सुन्दर लगी थी । क्योंकि प्रवेश द्वार और सीमा (परकोटा) पर ध्वजा तथा मालाएं लगी थीं, गोपुरके पासकी भूमि (कक्षा) विस्तृत थी, छज्जेके सहारेकी लकड़ियोंपर भी स्त्रियाँ खुदी थीं, मृदंग बज रहे थे तथा घोड़े लगातार इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥८॥

इस हनुमानने रावणके कारागारको देखा था जिसमें विपत्तिमें पड़े (अशुभवान्) पतिके पास आकर यमकी पत्नी भायोद्वेगमें शोकके कारण मूर्छित हो जाती थी । तथा रावणका शत्रु कुबेर भी 'अलकापुरीके राज्यके भोगोंको छोड़कर अत्यन्त कष्टकारक परिस्थितियोंमें पड़ा था [श्रीशैलने जरासंधका वह कारागार देखा था जिसमें जरासंधके सामने पड़नेका साहस (भवानीके पति शिवजीकी पूजा) करनेके कारण ही शत्रुलोग शीघ्र ही आभूषण, षोडशी युवतियाँ तथा समस्त भोगोंसे वंचित होकर बड़े कष्टसे रहते थे । पहिले पर्याप्त सम्पत्ति भेंट करनेपर भी अन्याय पूर्वक पकड़े गये ये शस्त्रसन्नद्ध राजा लोग अनुताप और शोकसे मूर्छित हो जाते थे] ॥९॥

---

१. कर्पूरकाश्मीरचन्दनादिस्वभाव–प०, द० ।

सारङ्गर्द्धं संगतसत्त्वैरथयुक्तं रम्यं राजच्छत्रवितानैर्बहुफेनैः ।
बद्धोत्सेधं नीरविशालं नृपमार्गं गच्छन्गङ्गासागरसङ्गं स्मरति स्म ॥१०॥

सारङ्गेति—स दूतः गङ्गासागरसंगं स्मरति स्म सुरसरित्सरित्पतिसङ्गमम् अचिन्तयत्, किं कुर्वन् ? गच्छन् अयमानः, कम् ? नृपमार्गं राजपदवीम्, कथम्भूतम् ? सारङ्गर्द्धं गजेन्द्रसमृद्धम्, पुनः रथयुक्तं स्यन्दन-समन्वितं पुनः रम्यं रमणीयम्, कैः ? संगतसत्त्वैः सं समीचीनं न्यायमार्गानुयायि गतं गमनं येषां ते संगताः संगताश्च ते सत्त्वाश्च संगतसत्त्वास्तैः नीतिमार्गानुसारिभिः प्राणिभिः शिष्टजनैरित्यर्थः, पुनः बद्धोत्सेधं बद्ध उत्सेधो यत्र स बद्धोत्सेधस्तं विरचितशोभमित्यर्थः, कैः ? राजच्छत्रवितानैः नरेन्द्राणामातपत्रसमूहैः अथवा छत्राणि च वितानानि च छत्रवितानानि राजन्ति च तानि छत्रवितानानि राजच्छत्रवितानानि तैः शोभमाना तपवारणचन्द्रोपकैरित्यर्थः, कथम्भूतैः ? बहुफेनैः फेनकल्पैः डिण्डीरपिण्डसदृशैरित्यर्थः, शुभ्रत्वाच्छत्राणां वितानानां च, पुनरपि कथम्भूतं राजमार्गम् ? नीरविशालं निर्गतो रविर्यस्मात् स नीरविः नीरविः शालो यत्र स नीरविशालः तं निर्गतसूर्यप्राकारं प्राकारस्योच्चशृङ्गैर्गगनमार्गमिलितत्वाद्बहिःस्थितदिनकरमित्यर्थः, अथशब्दः प्रकारान्तरसूचकः, कथम्भूतं गङ्गासागरसङ्गम् ? सारङ्गर्द्धं चातकाढ्यम्, पुनः कथम्भूतम् ? सङ्गतसत्त्वैः मिलितमीनमकरादिजीवैः युक्तम्, पुनः रम्यं मनोहरम्, पुनः राजच्छत्रवितानैः राजत् छत्रवत् वितानं येषां तैः, बहुफेनैः प्रचुरडिण्डीरैः बद्धोत्सेधम्, पुनः कथम्भूतम् ? नीरविशालं नीरवीनां जलविहङ्गमानां शालो यत्र तम् ॥१०॥

सांध्यं रागं रत्नमयूखैर्विदधानं क्षीराम्भोधेः सैकतमुद्यन्मकरीकम् ।
सैंहं पीठं निर्जयदास्थायुकमुच्चैरक्षोभीतं मागधसेव्यं व्यलुलोकत् ॥११॥

सांध्यमिति—स हनूमान् तं रावणं व्यलुलोकत् अपश्यत्, कथम्भूतम् ? रक्षोभीतं रक्षोभिः परिवारितम्, पुनः मागधसेव्यं वन्दिनामास्तोतव्यम्, पुनः सैंहं सिंहानाभिदं सैंहं पीठमासनं सिंहासनमित्यर्थः, आस्थायुकम् आस्थितम्, कथम्भूतं पीठम् ? उच्चकैः उन्नतम्, किं कुर्वाणम् ? रत्नमयूखैः कृत्वा सांध्यं संध्याभवं रागं विद-धानम्, पुनः क्षीराम्भोधेः दुग्धसमुद्रस्य सैकतं सिकतामयप्रदेशं निर्जयत् न्यक्कुर्वाणम्, कथम्भूतं सत् ? उद्यन्मकरीकम् उद्यन्त्यो मकर्यो यत्र तत् ।

भारतीयः—स दूतः मागधसेव्यं मागधानां क्षत्रियविशेषाणां सेव्यं तं जरासन्धं व्यलुलोकत्, कथम्भूतो दूतः ? अक्षोभी निःक्षोभः, कथम् ? उच्चैरतिशयेन, कथम्भूतं जरासंधम्, सैंहं पीठम् आस्थायुकम्, अन्यत् समम् ॥११॥

दीर्घन्यस्तं हस्तमधिष्ठायुकमीषत् पीठीबद्धालाननिषण्णद्विपशोभम् ।
भूभृच्चूडाकोटिषु पादं निदधानं रागाक्रान्तं भानुमिवोच्चैरुदयस्थम् ॥१२॥

कुलकेन व्याख्यास्यामः, दीर्घेति—स हनूमान् तं रावणमवोचत्, कथम्भूतम् ? अधिष्ठायुकम् अवष्ट-भ्योपविष्टम्, कम् ? हस्तम्, कथम्भूतम् ? दीर्घन्यस्तं दीर्घं न्यस्तः दीर्घन्यस्तस्तम्, कथम्भूतं रावणम् ? ईषत्पीठी-बद्धालाननिषण्णद्विपशोभम् ईषत्पीठ्यां वेदिकायां पूर्वं निबद्धः पश्चादालाननिषण्णः स चासौ द्विपश्च तस्येव

हाथियोंसे व्याप्त, यथास्थान बँधे सिंहादि प्राणियोंसे सुन्दर, रथोंसे युक्त, घने फेनके समान राजाओंके छत्रोंके कारण चँदोवा युक्त पक्के बने लम्बे ऊँचे तथा पानीसे धुले राज-मार्गसे जाते हुए हनुमान या श्रीशैलको गंगा तथा समुद्रके संगमकी याद आयी थी [संगम भी चातकोंसे व्याप्त है, एकत्रित मीनादि प्राणियोंसे रम्य होता है, सुन्दर छत्रोंके समान फेन राशिसे युक्त तथा गहरा और जलचर पक्षियोंके गतागतसे युक्त होता है] ॥१०॥

सब तरफ जड़े हुए रत्नोंकी किरणोंसे संध्याकी लालिमाको फैलाते हुए, उछलती हुई मकरियोंसे युक्त क्षीरसागरके सैकतके विजेता, उन्नत सिंहपीठपर विराजमान, राक्षसोंसे घिरे तथा बन्दियोंके द्वारा प्रशंसित रावणको हनुमानने देखा था [– क्षोभहीन स्थिर तथा मगध देशके लोगोंसे सेवित उस जरासंधको श्रीशैलने देखा था] ॥११॥

शोभा यस्य तम् अथवा ईषत्पीठीबद्धालाननिषण्णद्विपशोभमित्यादि क्रियाविशेषणम् , अत्र तात्पर्यार्थोऽयं सभायामुभये पार्श्वेऽपीषत्पीठीबद्धालाननिषण्णेषु मदवशात्स्वशिरोनिधूयमानेषु द्विपेषु विषये गतागतं विदधनया कर्णमैत्रीं प्राप्तया भ्रूवल्लरीं ललाटशिखरं नयन्त्या दृष्ट्या तरलनिरीक्षणाज्जनितशोभं यथा भवति, कथम्भूतं रावणम् ? उदयस्थम् उदयं प्राप्तम्, पुनः रागाक्रान्तम्, पुनः कथम्भूतम् ? भूभृच्चूडाकोटिषु नरेन्द्रमुकुटशिखरेषु पादं निदधानं स्थापयन्तम् , कमिव ? भानुमिव, सूर्यं यथा, कथम्भूतं भानुम् ? उदयस्थम् उदयगिरिशिखरगतम् , पुनः रागाक्रान्तं पुनः पादं किरणम् , जात्यपेक्षयैकवचनम् ; भूभृच्चूडाकोटिषु शिखरिशिखरेषु निदधानम् । भारतपक्षे—जरासन्धम् ॥१२॥

स्त्रीणां शुक्लैः सामिकटाक्षैः सहपातं संगच्छद्भिश्चामरभारैः कृतशोभम् ।
कल्लोलानां मीनविलासैर्मिलितानां नुन्नं वेलाशैलमिवाब्धेः समवायैः ॥१३॥

स्त्रीणामिति—कथम्भूतम् ? चामरभारैः प्रकीर्णकसमूहैः कृतशोभं कृता शोभा यस्य तम्, कथम्भूतैः ? स्त्रीणां शुक्लैः धवलैः सामिकटाक्षैः अर्द्धनेत्रापाङ्गैः सह पातं संगच्छद्भिः पतनं प्राप्नुवद्भिः, कमिव ? वेलाशैलमिव, कथम्भूतैः ? अब्धेः समुद्रस्य मीनविलासैः मत्स्यक्रीडनैः मिलितानां कल्लोलानां तरङ्गाणां समवायैः समूहैः नुन्नं प्रतिहतम् ॥१३॥

श्रीवाग्देव्योर्वक्षसि वाचि स्थितिमत्योः कण्ठे हारं वास्तुकसीमेव वहन्तम् ।
मुक्तामालां मन्मथदोलामिव लोलां बिभ्राणाभिर्वारवधूभिः परिविष्टम् ॥१४॥

श्रीवाग्देव्योरिति—पुनः कथम्भूतम् ? वारवधूभिर्विलासिनीभिः परिविष्टं परिवेष्टितम्, किं कुर्वन्तीभिः ? मुक्तामालां मौक्तिकदाम बिभ्राणाभिः दधानाभिः, कथम्भूताम् ? लोलां चञ्चलाम् , कामिव ? मन्मथदोलामिव रतिपतिहिन्दोलकमिव, किं कुर्वाणम् ? वहन्तं धरन्तम् , कम् ? हारम् , क्व ? कण्ठे ग्रीवायाम् , कामिव ? वास्तुकसीमेव[1], वसतिमर्यादामिव, कयोः ? श्रीवाग्देव्योः लक्ष्मीसरस्वत्योः, कथम्भूतयोः ? स्थितिमत्योः, क्व ? वक्षसि उरसि, वाचि वाण्यामिति क्रमेण ॥१४॥

एवं वाक्यं विष्टरविष्टस्तमवोचद्यत्रानुक्तं नापि दुरुक्तं स मनोज्ञः ।
कालान्तेऽपि क्षोभमगच्छन्गुरुसत्त्वः पारावारः सोऽयमपूर्वश्चिरदृष्टः ॥१५॥

एवमिति—स हनूमान् रावणं प्रति एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वाक्यमवोचत्—यत्र वाक्ये नास्ति किम् ? अनुक्तम् अथवा नाप्यस्ति, किम् दुरुक्तम्, चिरदृष्टः, कः ? सोऽयं रावणः कथम्भूतः ? अपूर्वः पारावारः, एवंविधः पारावारोऽपि भवति, कथम्भूतः सन् ? गुरुसत्त्वः स्थूलनक्रमकरादिजीवः, रावणः किंविशिष्टः ? गुरुसत्त्वः गुरु गरिष्ठं सत्त्वं पुरुषधर्मो यस्य सः, किं कुर्वन् ? अगच्छन् । कम् ? क्षोभम् , क्व सति ? कालान्तेऽपि सति प्रलयकालेऽपि, पुनः मनोज्ञः परिचितोपलक्षकः, पुनः विष्टरविष्टः आसनोपविष्टः ।

हाथको नीचे लटकाकर सिंहासनकी पीठपर सहारा लेकर बैठे रावणकी शोभा वैसी ही थी जैसी कि वेदीपर बाँधे गये और बादमें खूँटे (बाँधनेका स्तम्भ) के सहारे बैठे हाथीकी होती है। विकासको प्राप्त तथा सीताकी आसक्तिसे व्याप्त वह राजाओंके मुकुटोंपर भी [उदयाचलपर आगत अरुणोदययुक्त तथा पर्वतोंके शिखरोंपर किरणें डालते] सूर्यके समान चरणोंको रखता था ॥१२॥

सुन्दरियोंके आधे खुले नेत्रोंसे गिरते धवल कटाक्षोंके साथ-साथ ढुरते हुए चमरोंकी कान्तिसे उसकी शोभा ऐसी बढ़ गयी थी, जैसीकी तटवर्ती पर्वतकी उस समय होती है जब मछलियोंके झुण्डोंकी क्रीड़ायुक्त एक साथ उठती हुई लहरें उससे टकराती हैं ॥१३॥

क्रमशः वक्षःस्थल तथा वाणीमें निवास करती लक्ष्मी और सरस्वतीके निवासोंकी सीमा रेखाके समान कण्ठमें हार पहिने हुई और कामदेवके हिंडोलेके समान चंचल मुक्ता-माला धारिणी वेश्याओंसे वह घिरा हुआ था ॥१४॥

---

1. सीमनृशब्दस्य स्त्रीत्वाद्द्वितीयायां चिन्त्यमिदम् ।

भारतपक्षे—स दूतोऽवोचत् । शेषं समम् । कुलकम् ॥१५॥

वृत्तस्कन्धः पत्रसमृद्धः शुचिशाखस्त्वं यैर्दृष्टः कामफलानां वितरीता ।
सन्निध्यातः कल्पतरुस्तैर्न च यैस्तैः प्रज्ञाचक्षुर्विक्रमशीलः परिपाता ॥१६॥

वृत्तेति— दृष्टः , कः ? त्वं भवान् , कैः ? यैः पुरुषैः, कथम्भूतः ? वितरीता दाता, केषाम् ? कामफलानाम् , पुनः शुचिशाखः शुचयो निर्लाञ्छनाः शाखाः सोदरोदरजादयो यस्य सः, पुनः पत्रसमृद्धः प्रोत्तुङ्गतुरङ्गमादिवाहनाढ्यः, पुनः वृत्तस्कन्धः वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स तथोक्तः, सन्निध्यातो दृष्टः, कः ? कल्पतरुः कल्पवृक्षः, कैः ? तैः पुरुषैः, कथम्भूतः कल्पतरुः ? शुचिशाखः शुचयोऽशुणगोचराः शाखा यस्य सः, पुनः पत्रसमृद्धः पलाशसम्भृतः, पुनः वृत्तस्कन्धः वर्तुलबुध्नः तथा न दृष्टः, कः ? त्वम् , कैः ? यैः पुरुषैः न दृष्टः, कः ? कल्पतरुः, कैः ? तैः पुरुषैः, पुनरपि कथम्भूतस्त्वम् ? प्रज्ञाचक्षुः, पुनरपि कथम्भूतः ? विक्रमशीलः, पुनरपि कथम्भूतः ? परिपाता प्रतिपालकः ॥१६॥

सर्वस्यास्मिञ्जन्मनि जातस्य जनस्य द्वेषो दोषे प्रेमगुणे चेति निसर्गः ।
दुष्यो गुण्यः स्याच्च स येनाचरितेन प्रायस्तद्वेवेत्ति न कश्चित् कुरुते वा ॥१७॥

सर्वस्येति—अस्मिन् जन्मनि इह संसारे, जातस्योत्पन्नस्य सर्वस्य समस्तस्य जनस्य दोषे द्वेषो जायते गुणे च प्रेम प्रीतिः जायते इति निसर्गः स्वभावः, च पुनः येनाचरितेन दोषगुणरूपेण दुष्यः दोषवान् तथा गुण्यो गुणवांश्च स्यात् तद् दोषगुणस्वभावानां चरितं कश्चित् प्राणी प्रायः बाहुल्येन न वेवेत्ति न जानाति वा अथवा न कुरुते । अन्तःपातिनी नञोऽप्युभयत्रार्थावलोको दरीदृश्यते; काकनयनगोलकवत् डमरुकमणिवच्च, तस्योभयार्थावलोकात् । अत्र प्रस्तुतप्रक्रमो ज्ञेयः । उभयत्र व्याख्या समा ॥१७॥

अर्थान् प्राणान् स्वान् विनयन्ते गुणहेतोस्तत्तद्भ्यस्तद्यदि दत्त्वा गुणिनः स्युः ।
छेदः कोऽयं तद्व्रज सीतोपनयेन श्रीसम्पत्त्योः स्थावरभूतां गुणवत्ताम् ॥१८॥

अर्थानिति—विनयन्ते [1]विनयं कुर्वन्ति, के ? जनाः, कान् ? अर्थांस्तथाप्राणांश्च, कथम्भूतान् ? स्वान् स्वकीयान्, किमर्थं विनयन्ते ? गुणहेतोर्गुणानां निमित्तम्, तत्ततः यदि चेत्स्युर्भवेयुः, के ? गुणिनः, किं कृत्वा ? पूर्वं दत्त्वा वितीर्य, किम् ? तदर्थादि, केभ्यः ? तद्वद्भ्यो गुणिभ्यः, कोऽयं छेदः केयं हानिः स्यात् । तत्तस्मात्

मृत्युकाल आ जानेपर भी प्रकृतिमें स्थिर, महान् पराक्रमी, तथा मनकी बातोंका ज्ञाता अतएव लोकोत्तर समुद्र [प्रलयकालमें भी शान्त, बड़े-बड़े जन्तुओंसे भरा] के तुल्य आसनपर बैठे रावण अथवा जरासंधको हनूमान अथवा श्रीशैलने देरतक देखा था । इसके उपरान्त उसको ऐसे वचन कहे थे जिनसे न तो कुछ छूटता ही था और न जो अशिष्ट रीतिसे कहे ही गये थे ॥१५॥

भिम्रादि राजाओंके चक्रसमूह युक्त, तुरंग आदि वाहन (पत्र) से समृद्ध, पवित्र बन्धु-बान्धवोंसे शोभित, तथा यथेच्छ फलोंके दाता आपको जिन्होंने देखा है वे अनायास ही कल्पवृक्षका स्मरण करते हैं । और जिन्होंने गोल तने युक्त, पत्तोंसे हराभरा, पुष्ट डालोंसे विशाल तथा अभिलाषाओंका पूरक कल्पवृक्ष देखा है उन्होंने विवेकरूपी नेत्रधारी, स्वभावसे ही पराक्रमी तथा प्रतिपालक आपको नहीं सोचा है ॥१६॥

इस संसारमें उत्पन्न समस्त प्राणी विशेषकर मनुष्योंकी प्रकृति ही यह है कि दोषोंसे विमुख होते हैं और गुणोंसे प्रीति करते हैं । किन्तु जिस आचरणके द्वारा दोषभाजन होते हैं अथवा गुण-गृह होते हैं उसको प्रायः कोई भी नहीं सोचता है और न आचरण ही करता है ॥१७॥

गुणोंकी प्राप्तिके लिए अपनी सम्पत्ति तथा प्राणोंको भी समर्पण कर देते हैं, यदि गुणियोंको अर्थ या प्राण देकर स्वयं गुणी हो जाते हैं तो आपकी ही कौन-सी यह हानि है ?

1. व्ययं कुर्वन्ति—प०, द० ।

कारणात् व्रज गच्छ, कः ? त्वम्, काम् ? गुणवत्ताम्, केन कृत्वा ? सीतोपनयेन जानकीसमर्पणेन, कथम्भूतां गुणवत्ताम् ? स्थावरभूतां स्थिरस्थितिकारणम्, कयोः ? श्रीसंपत्योः श्रीः हिरण्यमण्यादिस्वभावा, संपत्तिर्गोमहिष्यादिस्वभावा श्रीश्च सम्पत्तिश्च श्रीसंपत्ती तयोः । भारतीये—सीतोपनयेन भूमिप्रदानेन । शेषं समम् ॥१८॥

मृत्वा जीवित्वैव च यस्मिन्गुणमेयात्तस्मिन्मर्तुं जीवितुमिच्छेद्गुणगृह्यम् ।
प्राहुः संपद्व्यापदमस्माद्वनमुच्चैरामो ही नो नायत पाण्डुप्रभवोऽर्यः ॥१९॥

मृत्वेति—एयात् प्राप्नुयात्, कः ? प्राणी, कम् ? गुणम्, किं कृत्वा ? पूर्वं मृत्वा जीवित्वा च, कस्मिन् ? यस्मिन्नेव कार्ये, इच्छेत् वाञ्छेत्, कः ? प्राणी, किं कर्त्तुम् ? मर्त्तुं जीवितुं च, कस्मिन् ? तस्मिन्नेव कार्ये, प्राहुर्वदन्ति, के ? नीतिमन्तो जनाः, किम् ? संपद्व्यापदम् सम्पच्च व्यापच्च अत्र सन्धिः प्रत्ययः, कं प्राहुः ? गुणगृह्यं गुणग्राहकं जनम्, अस्मात् कारणात् ही कष्टं नोऽस्माकम् अर्यः स्वामी रामः उच्चैरतिशयेन वनं नायत नायासीत्, कथम्भूतः ? पाण्डुप्रभवः प्रशस्तजन्मा । इदं व्याख्यानं काका व्याख्येयम् ।

भारतीयः—नायत, कः ? पाण्डुप्रभवः युधिष्ठिरः, कथम्भूतः ? नोऽस्माकम् अर्यः पुनः आमः आर्द्रहृदयः, उच्चैरत्यर्थं ही कष्टम् । अत्र पूर्वार्द्धगतं व्याख्यानं बोध्यम् ॥१९॥

मन्दोदर्यामिच्छसि चित्तव्यतिपातं न्याय्यं त्वं वैभीषणमुक्तं न शृणोषि ।
नाद्याप्युच्चैः किञ्चिदतीतं तव कार्यं गत्वा विष्णुं तं प्रभविष्णुं वरिवस्य ॥२०॥

मन्दोदर्यामिति—इच्छसि, कः ? त्वम्, कम् ? चित्तव्यतिपातम् अप्रेमतया चेतोऽन्यत्र नेतुम्, कस्याम् ? मन्दोदर्यां मन्दोदरीनामधेयायां पट्टमहिष्याम् । अत्रान्यायप्रवृत्त्या परकलत्रासक्ततया प्रगलितप्रेमपरम्परां मन्दोदरीं कर्त्तुमिच्छसीति भावः । तथा न्याय्यं न्यायादनपेतं विभीषणस्येदं वैभीषणम् उक्तं वचनं न शृणोषि नाकर्णयसि । अद्यापि सांप्रतमपि उच्चैः महत् तव कार्यं नातीतं न गतम्, कथम्भूतम् ? किञ्चिदपि, अतः कारणात् त्वं प्रभविष्णुं प्रभवनशीलं तं विष्णुं लक्ष्मणं गत्वा वरिवस्य नमस्कुरु ।

भारतीयः—इच्छसि, कः ? त्वम्, कम् ? चित्तव्यतिपातं चित्तं प्रपातयितुम्, कस्याम् ? दर्य्यां गुहायाम्, कथम्भूतस्त्वम् ? मन्दः हेयोपादेयविकलः, तथा न शृणोषि, कः ? त्वम्, किम् ? उक्तम्, कथम्भूतम् ? भीषणं भयावहम्, कथम्भूतं सत् ? न्याय्यम्, कथम् ? वै स्फुटम्, अद्याप्युच्चैः कार्यं किञ्चित् नातीतम्, कस्य ? तव भवतः, अतस्त्वं गत्वा प्रभविष्णुं तं विष्णुं वासुदेवं वरिवस्य ॥२०॥

इत्युक्तेऽस्मिन्पादमुपार्च्य मणिपीठात् प्रापय्योरुं सव्यगतासिस्थितदृष्टिः ।
न्यस्यन्नक्ष्णोरिन्द्रियवर्गं सकलं तु क्षोभात्कायं कोपविवृत्तिं गमयन्नु ॥२१॥

जो सीताको वापस करके [पाँच ग्राम भूमि पाण्डवोंको दिलाकर] चिरस्थायी लक्ष्मी और वैभव संयुक्त गुणीपनेको प्राप्त हो ॥१८॥

जिस कार्यके करनेपर मरके अथवा जीवित रहकर गुणोंकी प्राप्ति होती हो, गुणोंका लोभी उसकी पूर्तिमें मरने अथवा जीनेकी अभिलाषा करता है क्यों कि नीतिमान् गुणोंकी प्राप्तिको सम्पत् और विपरीतको विपत्ति कहते हैं। इसी कारणसे हमारा पूज्य विमल वंशमें उत्पन्न राम वनमें आया है [पाण्डुराजसे उत्पन्न और अत्यन्त सहृदय युधिष्ठिर वनमें आया है] ॥१९॥

हे रावण ! तुम पटरानी मन्दोदरीसे अपने चित्तको हटाना चाहते हो। और भाई विभीषणके द्वारा कहे गये न्यायपूर्ण वचनोंको नहीं सुनते हो। आज भी तुम्हारा कोई कर्म पूर्ण रूपसे नहीं बिगड़ा है। जा करके अत्यन्त प्रभावशाली रामकी शरण ग्रहण करो [हे मन्द बुद्धि जरासंध ! क्या गुफामें जाकर दिन बितानेकी मनमें है? जो तुम न्यायोचित भीषण सत्य पर कान नहीं देते हो। आज भी············कृष्णको प्रणाम करो] ॥२०॥

सभ्रूयुग्मं वैरविरुद्धं घटयन्नु स्विद्यन्क्रोधक्वाथितलावण्यरसो नु।
रुद्धः स्थित्वाधोरणमुख्यैर्द्विरदो नु प्रोचे विष्णोरित्यरिरग्निं विवमन्नु ॥२२॥ युग्मम्।

द्विः। इत्युक्ते सभ्रूभङ्गमिति–प्रोचे प्रकर्षेणोक्तवान्, कः? अरी रिपुः, कस्य? विष्णोः लक्ष्मणस्य, रावण इत्यर्थः, कथम्? इति वक्ष्यमाणापेक्षया, क्व सति? अस्मिन्नुक्ते, कथम्? इति उक्तप्रकारेण, किं कृत्वा? पूर्वं प्रापय्य नीत्वा, कम्? पादं चरणम्, कं नीत्वा? ऊरुम्, कथं पादम्? अपास्तम् आकृष्टम्, कस्मात्? मणिपीठात् रत्नमयपादविष्टरात्, कथम्भूतः? सव्यगतासिस्थितदृष्टिः सव्ये दक्षिणपार्श्वे गतः प्राप्तो योऽसिः खड्गः तत्र स्थिता दृष्टिर्लोचनं यस्य सः, किं कुर्वन्? न्यस्यन्नु आरोपयन् इव, कम्? इन्द्रियवर्गं स्पर्शनरसन-घ्राणश्रोत्रसंदोहम्, कयोर्न्यस्यन्? अक्ष्णोर्लोचनयोः, कथम्भूतमिन्द्रियवर्गम्? सकलं समस्तम्, सकलशब्दात् मनसोऽपि ग्रहणम्, नु शब्दोऽत्र इवार्थः। किं कुर्वन्? गमयन्नु प्रापयन्निव, कम्? कायं शरीरम्, काम्? कोपविवृत्तिम्, कस्मात्? क्षोभात्, नुशब्दोऽत्र वितर्कार्थाभिधायकः, किं कुर्वन्नु? घटयन्नु विरचयन्निव, किम्? वैरविरुद्धं भ्रूयुग्मम्, अत्र वैरवशाद् भ्रूयुगलं ललाटशिखरं नयन्निति भावः। पुनः किं कुर्वन्? स्विद्यन् स्वेदजलं मुञ्चन्, पुनः कथम्भूतः? क्रोधक्वाथितलावण्यरसः कोपोत्कलितलावण्यरसः, किं कृत्वा पूर्वं प्रोचे? स्थित्वा स्थितो भूत्वा, कथम्भूतः सन्? अनुरुद्धः, कैः? रणमुख्यैः सुभटैः क्षत्रियकुमारैः, कथम्? अधः, किं कुर्वन्? विवमन्नु उद्गिलन्निव, कम्? अग्निम्, क इव अनुरुद्धः? द्विरदो नु यथा गजेन्द्रोऽनुरुध्यते, कैः? आधोरणमुख्यैः हस्तिपकाग्रणीभिः।

भारतीये–प्रोचे, कः? अरिः वासुदेवस्य जरासन्ध इत्यर्थः। इतिशब्दोऽत्र वक्ष्यमाणार्थसूचकः, क्व सति प्रोचे? अस्मिन्नुक्ते, कथम्? इति उक्तप्रकारेण। शेषं पूर्ववत् ॥२२॥

प्राणान्कृत्वान्यत्र कथंचित्तव कायं केनाप्यन्येनाविशतैतद्यदि वोक्तम्।
भाषा नैषा ते ननु मत्तस्य विलापं श्रुत्वा मद्यस्यैष न तस्येत्यविचार्यम् ॥२३॥

प्राणानिति–न स्यात्, का? एषा भाषा, कस्य? ते तव। यदि चेदुक्तम्, किम्? एतत्, केन? त्वया। वा अथवा उक्तम्, किम्? एतत्, केन? केनाप्यन्येन, केनचित्त्वत्परेण स्वामिना, किं कुर्वता सता? आविशता प्रविशता, कम्? कायं शरीरम्, कस्य? तव, कथम्? कथञ्चिन्महता कष्टेन, किं कृत्वा? पूर्वं कृत्वा विधाय, कान्? प्राणान्, क्व? अन्यत्र, असून्विहायेत्यर्थः, युक्तमेतत्, सोपस्कारतया व्याख्यायते। ननु अहो अविचार्यं स्यात् वचः, कस्य? तस्य पुंसः यो ब्रूते, कथम्? इति, न स्यात्, कः? एष प्रलापः, कस्य? मद्यस्येति, किं कृत्वा पूर्वं ब्रूते? श्रुत्वा आकर्ण्य, कम्? विलापं प्रलापम्, कस्य? मत्तस्येति। अत्र तावत्तव स्वामी मदिरायते तदनुशीलनान्मत्तो भूत्वा त्वं यदृच्छया प्रब्रवीषीति भावः ॥२३॥

यद्यप्युक्तं दूतमवध्यं हृदि कृत्वा पत्युः पातश्चेतसि चिन्त्यः स तथापि।
काकोलूकं क्रीडदरण्ये भयमुक्तं मत्वा गच्छेत्कस्तदजस्रं शर्वविसम् ॥२४॥

इस प्रकारसे दूतके द्वारा कहे जानेपर मणिमय चौकीपरसे उठाये गये पैरको जाँघके ऊपर रखते हुए, दाँयी तरफ लटकती तलवारके ऊपर दृष्टि डालते हुए, समस्त इन्द्रियोंके समूहको केवल दोनों आँखोंमें डालते हुए, क्षोभके कारण पूरे शरीरमें क्रोधका पूर फैलाते हुए, दोनों भृकुटियोंको वैरके कारण वक्र करते हुए, क्रोधकी अग्निमें पके लावण्यके रसके समान पसीनेसे युक्त, प्रधानोंके द्वारा युद्धसे रोके गये अतएव आवेशमें नीची गर्दन किये बैठे (प्रधान महावतोंके द्वारा वशमें किये गये) हाथीके समान राम तथा कृष्णके शत्रु रावण–जरासंधने आगको उगलनेके समान कठोर वचन कहे थे ॥२१–२२॥

किसी प्रकार अपने प्राणोंको कहीं छिपाकर तुम्हारे शरीरमें प्रवेश पाये किसी दूसरे ने यह सब कहा है यह तुम्हारी भाषा नहीं है। यदि उस मत्तकी बोली सुनकर यह कहा गया है तो मदिराका विकार होनेके कारण यह अविचारणीय ही है ॥२३॥

यदीति–यद्यपीदमुक्तम्, अनेन तथापि चिन्त्यः, कः ? स घातो विनाशः, कस्य ? पत्युः स्वामिनः, क चिन्त्यः ? चेतसि मनसि, किं कृत्वा पूर्वं चिन्त्यः ? कृत्वा विधाय, कम् ? दूतम्, कथम्भूतम् ? अवध्यम्, क ? हृदि हृदये, युक्तमेतत्, कः ? गच्छेत् अपितु न कोऽपि, किम् ? तदरण्यम्, कथम्भूतम् ? शवविस्रं कुथितमृतक-पूतिगन्धव्याप्तम्, किं कृत्वा ? पूर्वं मत्वा ज्ञात्वा, किम् ? काकोलूकं काकाश्च उलूकाश्च काकोलूकम्, कुर्वन् ? क्रीडन्, क ? यस्मिन्नरण्ये, कथम्भूतं सत् ? भयमुक्तं निर्भयम्, कथम् ? शश्वत् अनवरतमिति । अत्र तावत्स्वत्स्वामी शश्वायते, पूतिगन्धवत्त्वजनितोहमिति प्रत्ययवशात्स्वयापि काकोलूकायितम् । अतएव महच्छायापिनि कोपः सतामनुचित इति भावः ॥२४॥

न न्यूनानां भीतिरनूनादिति तस्मात्तत्किं नान्येषामपि मान्याद्भयमस्ति ।
भृङ्गस्याङ्गक्षोभसहोऽन्यं मदमुज्झन्सर्वाङ्गीणं मुञ्चति हस्ती किमहत्वा ॥२५॥

नेति–नास्ति, का ? भीतिः, केषाम् ? न्यूनानां बलहीनानाम्, कस्मात् ? अनूनात् अधिकबलात्, कथम् ? इति हेतोः तद्भयं किं नास्ति ? अपि त्वस्त्येव, केषाम् ? अन्येषामपि समबलानामपि, कस्मात् ? तस्मात् अनूनात् समस्तानां जनानां मान्यात् पूज्यात्, युक्तमेतत्, किं मुञ्चति परित्यजति ? अपितु न, कः ? हस्ती दन्ती, कम् ? अन्यं प्राणिनम्, किं कृत्वा ? पूर्वम् अहत्वा अप्राणव्यपेतीकृत्य अन्यं प्राणिनं हत्वा मुञ्चतीत्यर्थः । किं कुर्वन् ? सर्वाङ्गीणं मदम् उज्झन्, पुनः कथम्भूतः ? भृङ्गस्य भ्रमरस्य अङ्गक्षोभसहः ॥२५॥

योऽलङ्कर्मीणोऽपि स एवं न विवक्षुर्नूनं कालत्राकृतकायस्तव नाथः ।
स्वामिस्थानीयेन विरुद्धः स मयामा भूमेरन्तर्गच्छति भीरुः किमिदानीम् ॥२६॥

य इति–न स्यात्, कः ? स प्राणी, कथम्भूतः ? विवक्षुः वक्तुमिच्छुः, कथम् ? एवं प्रकारेण, यः प्राणी स्यात्, कथम्भूतोऽपि ? अलङ्कर्मीणोऽपि, अलङ्कर्मणेऽलङ्कर्मीणः सर्वकार्यसमर्थोऽपीत्यर्थः । नूनमिति शब्दो निश्चयार्थाभिधायक उत्प्रेक्षाभिधायकोऽप्यस्ति, द्वयोरपि ग्रहणम् । इदानीं सम्प्रति किं गच्छति ? कः ? स नाथः स्वामी, कम् ? अन्तर्मध्यम्, कस्याः ? भूमेः पृथ्व्याः, कस्य नाथः ? तव, कथम्भूतः सन् ? मयाऽमा सार्द्धं विरुद्धः विपरीतः पुनः भीरुस्त्रस्तः पुनः कालत्राकृतः कालायान्तकाय देयः निहितः कायः शरीरं येन स तथोक्तः, अत्र "देये त्रा च" [शा० ३।४।६२] इति त्रा प्रत्ययः, केन सह ? स्वामिस्थानीयेन स्वपरिवारसमूहेनेति[1] ॥२६॥

श्रुत्वा भग्नान्दूत विचेतीकृतवृत्तीन्नाज्ञासीद्वा संप्रति जातो यदि वाऽसौ ।
कस्मिन्कोऽयं केशवनामा पतितः किं न प्रस्तीमे मज्जति युद्धेऽसृजि बालः ॥२७॥

श्रुत्वेति–हे दूत स भवत्स्वामी रणरमणे विचेतीकृतवृत्तीन् हेयोपादेयविवेकविकलान् स्वपरसामर्थ्यपरिज्ञानशून्यानित्यर्थः । विपक्षान् भग्नान् श्रुत्वा न अज्ञासीत् न प्रतिबुद्धः, यदि वा संप्रति जातोऽसौ कस्मिन्निति

यद्यपि दूत अवध्य होता है तथापि उसके कथनको मनमें रखकर उसके स्वामीके विनाशका पूर्ण चित्तसे विचार करना ही चाहिये । क्योंकि जहाँ काक और उल्लू खेलते हों तथा सर्वत्र शव तथा पीप व्याप्त हो उस वनमें कौन व्यक्ति निडर होकर जायगा ॥२४॥

तुच्छोंको महापुरुषोंसे भय नहीं रहता इसीलिए क्या दूसरों (समान या शत्रु) को भी मान्य पुरुषोंसे नहीं डरना चाहिये ! सारे शरीरसे मदजलको बहाता तथा भौंरोंकी रेलपेलको भी सहता हुआ हाथी दूसरे अवज्ञाकारीको बिना मारे छोड़ता है ? ॥२५॥

जो तुम्हारा स्वामी सब कार्य करनेमें समर्थ है वह इस प्रकारसे बोलकर निश्चित ही अपना शरीर कालकी बलि बनाता है । उसके स्वामी होने योग्य मेरे साथ विरोध करके वह भीरु अब देखते-देखते ही पृथ्वीसे समाप्त हो जायगा ॥२६॥

हे दूत ! मेरे प्रहारोंसे मूर्छित किये गये तथा सर्वथा उन्मूलित शत्रुओंकी कथा सुनकर भी तुम्हारे स्वामीने मुझे नहीं जाना है । अथवा यदि यह अभी उत्पन्न हुआ है तो कहाँ?

---

1. रामस्य कृष्णस्य वा प्रभुप्रभविष्णुना स्वामितुल्येन वेति रुचिरतरोऽर्थः ।

प्रघने ? कोऽयं केशवनामा, अथवा किन्न मज्जति ब्रुडति स बालः, क ? असृजि रुधिरे, कथम्भूते ? प्रस्तीमे द्रवीभूते, कथम्भूतः सन् ? युद्धे रणे पतितः ॥२७॥

स व्यात्युक्षीं नाडिविमुक्तै रुधिरौघैरन्त्रस्रग्भिर्व्यत्यभिताडीमपशब्दैः ।
कृत्वा व्याक्रोशीं च यमस्य द्विजदोलामिच्छत्यारुह्यायमकालेऽपि वसन्तम् ॥२८॥

स इति—सोऽयं भवत्स्वामी अकालेऽपि अप्रस्तावेऽपि यमस्य कृतान्तस्य द्विजदोलां दंष्ट्रान्तरालदोलाम् आरुह्येच्छति, कम् ? वसन्तम्, किं कृत्वा ? पूर्वं कृत्वा [illegible], काम् ? व्यात्युक्षीं परस्परासेचनम्, कैः कृत्वा ? रुधिरौघैः, कथम्भूतैः ? नाडिविमुक्तैः धमनीनिःसृतैः तथा कृत्वा, काम् ? व्यत्यभिताडीम् अन्योन्यहननम्, काभिः कृत्वा ? अन्त्रस्रग्भिः अन्त्रमालाभिः, तथा च कृत्वा, काम् ? व्याक्रोशीं परस्पराभिशपनम्, कैः कृत्वा ? अपशब्दैरिति ॥२८॥

इति स मरुतः शक्त्यास्तोकं (कः) पदं पृथुसंपदः
शमनिरतया वृत्त्या श्रेयस्तरां स्वपतेः श्रियम् ।
परिणमयितुं दूतोऽवोचत्प्रसह्य रिपुक्षिपां
स न हि सचिवः स्वामिस्वार्थं भनक्ति भरेषु यः ॥२९॥

इतीति—द्वि० स मरुतः वायोस्तोकः पुत्रो हनूमान् दूतः अवोचत्, किं कर्तुम् ? स्वपतेः स्वस्वामिनो रामस्य श्रेयस्तरां कल्याणवतीं श्रियं लक्ष्मीं परिणमयितुं वर्द्धयितुम्, किं कृत्वा ? पूर्वं प्रसह्य, काम् ? रिपुक्षिपां शत्रोरधिक्षेपम्, कया ? शमनिरतया उपशमसक्तया वृत्त्या, कथम् ? इति उक्तप्रकारेण, पुनः कथम्भूतः ? पदं स्थानम्, कस्याः ? शक्त्याः सामर्थ्यस्य, कथम्भूतायाः शक्त्याः ? पृथुसंपदः पृथ्वी संपत् यस्याः सकाशात् तस्याः, युक्तमेतत्, हि स्फुटं स सचिवो न स्यात् यः स्वामिस्वार्थं भनक्ति, केषु सत्सु ? भरेषु, केषाम् ? शत्रूणां दुर्वचसामित्यध्याहार्यं पदमिति ।

भारतीयपक्षे—समरुतः समं रुतं यस्य स तथोक्तः उच्चनीचयोः परित्यागेन हृदयङ्गमवचनः पुनः शक्त्या स्वबलेन अस्तोकः पुष्टः पुनः संपदः पृथु गरिष्ठं पदम् । अन्यत् समम्[1] ॥२९॥

दशाननोद्दीपनमात्रहेतोस्तत्सञ्जरासंधरयाद्दृतस्य ।
दीपस्य गेहे स्फुरतस्तवापि स्नेहच्युतस्य ज्वलनं कियद्वा ॥३०॥

दशेति—हे दशानन हे रावण, वाऽत्रावधारणार्थः, कियत् कियत्कालमेव तज्ज्वलनं स्यात्, कस्य ?

यह केशव नामका कौन है ? क्या यह बाल (मूर्ख) बहते हुए युद्धके रुधिरमें गिरकर डूब नहीं जायगा ॥२७॥

नाडियोंसे निकले रुधिरपूरकी होली, आँतोंरूपी मालाओंकी छीना झपटी तथा अपशब्दोंकी बकझक करके असमयमें ही यमके दाँतोंरूपी झूलेपर चढ़कर तुम्हारा स्वामी वसन्त मनाना चाहता है [वसन्तोत्सवमें पिचकारीसे रंग फेंका जाता है, मालाओंसे एक दूसरेको मारा जाता है, गालियां देते हैं और झूला झूलते हैं] ॥२८॥

इस प्रकारके शत्रुके आक्षेपोंको अत्यन्त शान्तिनिष्ठ स्वभावके द्वारा सहन करके पवनञ्जयके पुत्र और अपनी सामर्थ्यके कारण विशाल राज्यलक्ष्मीके पात्र हनुमानने अपने स्वामी रामकी [स्वपतेः] कल्याणकारी सम्पत्तिके विकासके लिए उत्तर दिया था। क्योंकि वह सच्चा सचिव नहीं है जो शत्रुके दबावमें अपने स्वामीके स्वार्थको भूल जाय। [अथवा एक सदृश मिष्टभाषी, अपने बलसे विशाल तथा विशाल सम्पत्तिके स्वामी दूतने अपने स्वामी कृष्णकी…] ॥२९॥

हे रावण ? शत्रुको उत्तेजित करनेमें समर्थ, पृथ्वीके द्वारा अनादृत फलतः स्नेहसे

---

१. हरिणीवृत्तम्।

दीपस्य, तथा तवापि, कथम्भूतस्य तव ? स्नेहच्युतस्य प्रीतिरहितस्य नितरां कठोरहृदयस्येत्यर्थः । किं कुर्वतः सतः ? स्फुरतः विजृम्भमाणस्य, क्व ? गेहे मन्दिरे, कथम्भूतस्य ? आहतस्य व्यापारितस्य, कया ? भरया भूम्या, सज्जरासम् इति क्रियाविशेषणं सीदति क्लेशं करोतीति "सत्सु द्विषः" [जै० सू० २।३।५९] इति क्विप्, सद् द्वेषः, रायतीति रः "आतः कः" [जै० सू० २।२।३] रः शब्दः, असनम् आसः, सदो जातः सज्जः, सज्जश्चासौ रश्च सज्जरः, सज्जरस्य आसो यत्र ज्वलनकर्मणि तत् सज्जरासं द्वेषप्रभवशब्दाक्षेपम्, पुनरपि कथम्भूतस्य ? उद्दीपनमात्रहेतोः उद्दीपनमात्रमेव हेतुर्यस्य तस्य दैवविजृम्भणमात्रकारणस्येत्यर्थः । दीपस्य कथम्भूतस्य ? स्नेहच्युतस्य तैलरहितस्य, किं कुर्वतः ? स्फुरतः, क्व ? गेहे, पुनः कथम्भूतस्य ? सज्जरासंधराहतस्य जराया अस्तोन्मुखताया मन्दतेजसां परिणतेः आसन्धः आ सामस्त्येन योगो यस्य स जरासन्धः जरासन्धश्चासौ रयश्च जरासन्धरयः, सन् सत्तामात्रः, संश्चासौ जरासन्धरयश्च सज्जरासन्धरयः, सज्जरासन्धरयेण आहतः सज्जरासन्धरयाहतस्तस्य तमोन्तस्य तैलक्षयवशाच्छिखाप्रकम्पवद्वेगेन कटाक्षितस्येत्यर्थः, पुनः दशाननोद्दीपनमात्रहेतोः वर्तिकामुखे प्रज्वलनमात्रहेतोरिति ।

भारतीये–हे जरासन्ध कंसमातुल, कियद्वा कियत् कालमेव तत्सामीचीनं ज्वलनं निरवद्यतया विजृम्भणं स्यात्, कस्य ? दीपस्य तवापि, किं कुर्वतः ? स्फुरतः, क्व ? गेहे, कथम्भूतस्य ? स्नेहच्युतस्य पुनः रयाहतस्य आतुरवृत्त्या सविक्षेपमूर्तेः, पुनः दशाननोद्दीपनमात्रहेतो दैवावस्थायां प्रथमप्रारम्भे विजृम्भणमात्रकारणस्येत्यर्थः । दीपस्य विशेषणानि प्राग्वत्[1] ॥३०॥

अपि दूरमपैष्यती प्रदेशं यदि वा विश्रमितुं त्वयि स्थिता ।
न वधूं वरलिप्सया व्रजन्तीमिव लक्ष्मीमवरोद्धुमर्हसि त्वम् ॥३१॥

अपीति–यदि वा स्थिता ? का ? वधूः, किं कर्तुम् ? विश्रमितुं श्रमं स्फोटयितुम्, क्व ? त्वयि विषये, किं कुर्वती सती ? अपैष्यती अतिक्रमिष्यती, कम् ? प्रदेशम्, कथम्भूतम् ? दूरमपि, तर्हि नार्हसि न योग्यो भवसि, कः ? त्वम्, किं कर्तुम् ? अवरोद्धुं नियन्त्रयितुम्, काम् ? तां वधूं सीताम्, कथम्भूताम् ? लक्ष्मीम्, रूपकमेतत्, किं कुर्वन्ती ? व्रजन्ती, कयेव ? वरलिप्सया इव रामं प्राप्तुमिव ।

भारतीयः–यदि वा स्थिता, का ? लक्ष्मीः, किं कर्तुम् ? विश्रमितुम्, क्व ? त्वयि, किं कुर्वती सती ? अपैष्यती, कम् ? प्रदेशम्, कथम्भूतमपि ? दूरमपि, तर्हि नार्हसि, कः ? त्वम्, किं कर्तुम् ? अवरोद्धुम्, काम् ? तां लक्ष्मीम्, किं कुर्वन्तीम् ? व्रजन्तीम्, कया ? वरलिप्सया नारायणं प्राप्तुमिच्छया, कामिव व्रजन्तीम् ? वधूमिव ॥३१॥

वंचित और अपने ही घरमें माननीय तुम्हारा ; सत्य पक्षकी जीर्णताका मूलाधार यह क्रोधका आवेग [स्पष्ट निर्वाणके लक्षणों और वेगसे युक्त, तैलहीन, केवल वर्तिकामें जलते तथा भभकते] दीपकके समान कबतक चलेगा ?

अन्वय—जरासंध ! दशाननोद्दीपनमात्रहेतोः रयाहतस्य गेहे स्फुरतः स्नेहच्युतस्य तव दीपस्य वा तत् ज्वलनं कियद्वा ?

हे कंसके मामा जरासंध ! भाग्यकी प्रारम्भिक अवस्थाके कारण प्रकर्षको प्राप्त, किन्तु आतुरतासे विक्षिप्त, अपने ही भवनमें दिखाई देती और प्रजाके प्रेमसे वंचित तुम्हारी यह वृद्धि अब कितने दिन चलेगी ॥३०॥

यद्यपि इस समय तुम्हारे श्रमको व्यर्थ करनेके लिए यहाँ रुकी हुई है तथापि रामकी वधू सीता दूर देशको जायगी ही । अतएव अपने घर रामसे मिलनेकी इच्छासे जाती हुई इस लक्ष्मीके समान वधूको अपने अन्तःपुरमें ले जाना तुम्हें उचित नहीं है [हे जरासंध ! यदि राज्यलक्ष्मी विश्राम करनेके लिए आज तुम्हारे पास रुकी है तथापि दूर प्रदेशको जायगी ही । वर कृष्णकी प्राप्तिके लिए जाती हुई इस वधूके समान लक्ष्मीको रोकना तुम्हें शोभा नहीं देता है] ॥३१॥

---

1. उपजातिः वृत्तम् ।

उक्तेन पौनःपुनिकेन किं वा वेलामिवोर्वी प्रलयाम्बुराशेः ।
चमूं विकर्षन्तमवेक्षमाणः स्वप्ने हरिं पश्यसि तं समक्षम् ॥३२॥

उक्तेनेति—वा अथवा किं प्रयोजनम्, केन ? पौनःपुनिकेन उक्तेन पुनः पुनर्भवेन द्विरुक्तेनेत्यर्थः, पश्यसि, कः ? त्वम्, कम् ? तं हरिं लक्ष्मणं समक्षमिति क्रियाविशेषणं प्रत्यक्षं यथा भवतीत्यर्थः, किं कुर्वाणस्त्वम् ? अवेक्षमाणः अवलोकमानः, कम् ? हरिं लक्ष्मणं नारायणं च, क्व ? स्वप्ने, किं कुर्वन्तम् ? विकर्षन्तम्, काम् ? चमूं सेनाम्, कथम्भूताम् ? उर्वीं गरिष्ठाम्, कामिव ? प्रलयाम्बुराशेर्वेलामिव । उभयत्र समन्यत्[1] ॥३२॥

समातुलानीतनयैः स्वबन्धुभिः प्रभो जयत्येष निहत्य ते बलम् ।
समेध्यलङ्कारचितं पुरस्तव स्थिरं मनश्चेत्कुरुदेशमीशिता ॥३३॥

समेति—हे प्रभो जयति, कः ? एष लक्ष्मणः, किं कृत्वा ? स्वबन्धुभिः विभीषणादिभिरात्मबान्धवैः सह ते तव बलं सैन्यं निहत्य, कथम्भूतैः ? समातुलानीतनयैः साधारणतया निरुपद्रवतया च सर्वासां प्रजानां प्रतिपालकत्वात्समं यथा भवति तथा शत्रुभिर्न तुल्यत्वेनोपमीयते इत्यतुलं यथा सममतुलम् आनीतो निश्चितो नयो यैस्ते समातुलानीतनयास्तैस्तथोक्तैः, हे मेध्य पवित्र ! चेद्यदि ईशिता ऐश्वर्येणानुभविष्यति, कः ? स लक्ष्मणः, कम् ? देशं जनपदम्, कथम् ? पुरोऽग्रतः, कस्य ? तव, तदा कुरु विधेहि, किम् ? मनश्चेतः, कथम्भूतम् ? स्थिरं निश्चलम्, पुनः कथम्भूतं सत् ? लङ्कारचितं लङ्कायां मन्दमन्दवातवशाद्दोलायमानैः शुभ्रांशुकोपलक्षितध्वजैः स्तम्भैस्तोरणवद्भिः प्रासादैरनन्यशोभां प्राप्ता ममेयं पुरीति कृत्वा विहितं मनः स्थिरं कुर्विति भावः

भारतीयः—प्रभोजयसि प्रासयति, कः ? एष नारायणः, किम् ? बलं सैन्यम्, कस्य ? ते तव, कैः कृत्वा ? स्वबन्धुभिर्बलभद्रादिभिरात्मबान्धवैः, कथम्भूतैः ? समातुलानीतनयैः मातुलानीपुत्राः युधिष्ठिरादयः तत्सहितैः, किं कृत्वा पूर्वं प्रभोजयति ? निहत्य प्रध्वंस्य तथा ईशिता, कः ? स चक्रपाणिः, कम् ? कुरुदेशं कुरुजाङ्गलनामधेयं जनपदम्, चेदस्ति, किम् ? मनः, कथम्भूतम् ? स्थिरम्, कस्य ? तव भवतः, कथम्भूतं सत् ? कारचितं कारः कामचारः, तेन चितं पुष्टम्, कथम् ? अलमत्यर्थम्, तदा समेधि सम्यक् प्रकारेण भव, पुरः पुरत इति[2] ॥३३॥

नयस्यावद्यस्य व्यपनयमुखेन स्तुतिकृतौ
जनस्यापि क्षान्तिर्भवति वसतिस्तस्य भविता ।
कथंकारं व्रीडां पतसि पतिदेवत्यचरिते
सुरापाने मौनव्रतमिव तदेतत्प्रहसनम् ॥३४॥

नेति—भवति जायते, का ? क्षान्तिः क्षमा, कस्य ? जनस्यापि, कस्यां सत्याम् ? स्तुतिकृतौ स्तवन-

---

बार-बार कहने से क्या लाभ है ? प्रलयकालके समुद्रकी वेलाके समान विनाशक विशाल सेनाको बढ़ाते हुए हरिको स्वप्नमें देखते हुए तुम अब उनको साक्षात् सामने देखोगे ॥३२॥

लक्ष्मणके समान निरुपम तथा नीतिमार्गके प्रतिपालक अपने साथियोंके द्वारा वह तुम्हारे ऐसे प्रभुकी सेनाका संहार करके विजय प्राप्त करेगा । यदि वह तुम्हारे सामने ही इस देशका स्वामी होनेवाला है तो हे बलि (मेध्य) भूत ! लंकामें आसक्त अपने मनको स्थिर करो [बलभद्रादि भाइयों और पाण्डवादि मामाके पुत्रों द्वारा कृष्ण; अपनेको प्रभु माननेवाले तुम्हारी सेनाको काटकर विजय प्राप्त करेगा और कुरुजांगल देशका स्वामी बनेगा । यदि अत्यन्त मनमानी करनेसे ढीठ तुम्हारा मन स्थिर है तो उसके सामने बढ़ो] ॥३३॥

निराकरण करनेके रूपसे पापाचरणमें लीन लोगोंकी चर्चा करनेपर भी सुननेवालोंको

---

१. उपजातिः वृत्तम् । २. वंशस्थवृत्तम् ।

क्रियायाम्, केन कृत्वा स्तुतिकृतिः स्यात्? व्यपनयमुखेन निराकरणद्वारेण, कस्य व्यपनयमुखेन? नयस्य, कथम्भूतस्य? अवद्यस्यावद्यबहुलत्वादवद्यस्तस्यावद्यस्य प्रचुरपापोत्पत्तिकारणस्येत्यर्थः। भविता भविष्यति, पतिदेवत्यचरिते व्रीडां विहाय [पतिदेवत्यचरिते] पतसि चेत्तदेतत्प्रहसनं स्यात् तव, किमिव? सुरापाने सुरास्वादने मौनिव्रतमिव इति[1] ॥३४॥

अन्तर्बहिः संप्रति कालरात्रौ तवोद्यतायां हरिशस्त्रपातैः।
लब्धश्चिरस्येति तनोतु तिर्यग् ज्योत्स्नामकालेऽपि यमाट्टहासः ॥३५॥

अन्तरिति—तनोतु, कोऽसौ? यमाट्टहासः, काम्? ज्योत्स्नाम्, क्व? अकालेऽपि अप्रस्तावेऽपि, कथम्? तिर्यक्, कथम्भूतः सन्? लब्धः, कथम्? चिरस्येति चिरेणेतिकालेन, कैः कृत्वा लब्धः? हरिशस्त्रपातैः लक्ष्मणमुक्तमार्गणगणैः, कस्यां सत्याम्? कालरात्रौ, कथम्भूतायाम्? उद्यतायामुल्लसन्त्याम्, कस्य? तव, कथम्? अन्तर्बहिः, कथम्? संप्रति साम्प्रतमेव।

भारते—हरिशब्देन नारायणः[2] ॥३५॥

इत्युक्त्वासौ तस्य विरागं प्रकृतीनां
नानाभाषावेषलिपिज्ञैरवसर्पैः।
ज्ञात्वा हस्तेकृत्य समस्तं पुरिकृत्यं
तस्याः पारं प्राप्य च रम्यं वनमागात् ॥३६॥

इतीति—नानाभाषावेषलिपिज्ञैः नानाभाषाः करपल्लव्यादयः, नानावेषाः कौलिकमौतिकाद्याकाराः; नानालिपयः कार्णाटकद्रमिलान्ध्राङ्गवङ्गदेशोद्भववर्णानां पङ्क्त्या विन्यासाः; नानावेषाश्च भाषाश्च लिपयश्च नानाभाषावेषलिपयः ताः जानन्ति तैः, तस्य रावणस्य प्रकृतीनां स्वाम्यमात्यादीनां सङ्घानां विरागं च विशिष्टमनुरागं ज्ञात्वा इति पूर्वोक्तप्रकारेण उक्त्वा च पुरि लङ्कायां समस्तं निखिलं कृत्यं करणीयं हस्तेकृत्य स्वाधीनं विधाय तस्या लङ्कायाः पारं पर्यन्तं प्राप्य असौ हनूमान् रम्यं पल्लवितकुसुमितफलितविविधवनस्पतिशाखान्तरोपविष्टमत्तमयूरकोकिलालापसुन्दरं वनमागादागतवान्।

भारतीये—असौ दूतः। तस्य जरासन्धस्य। तस्याः राजगृहनगर्याः। शेषं समम्[1] ॥३६॥

उपवनमभिरामवल्लभां स वनजनेत्ररुचिं निरूपयन्।
स्वपतिगुणविशेषरञ्जितामुपलभते स्म सतीं वचोहरः ॥३७॥

उपवनमिति—स वचोहरो हनूमान् रामवल्लभां जानकीम् उपलभते स्म ददर्श, कथम्भूताम्? वनजने-

---

शान्ति हो जाती है तथा अनीतिमान्का निर्वाह हो जाता है किन्तु लोकलाज छोड़कर यदि देवता स्वरूप नृपति ही अनाचरण करने लगें तो कैसे चलेगा। उस अवस्थामें तुम्हारा यह हँसना मदिरा पीकर मौनव्रत धारण करनेके समान है ॥३४॥

हरि लक्ष्मण अथवा कृष्णाजीके सतत शस्त्र प्रहारके द्वारा अब तुम्हारे अन्तरंग और बाहर, दोनोंमें ही कालरात्रि फैल जानेपर बहुत समय बाद आया यमका अट्टहास ही असमयमें बिजलीका प्रकाश करे ॥३५॥

इस प्रकारसे रावण अथवा जरासंधको कहकर तथा विविध भाषाओं, वेषों और लिपियोंके ज्ञाता गुप्तचरों द्वारा उसकी प्रजाकी उदासीनता अथवा विमुखताको भाँपकर अपने पूरे कर्त्तव्यको मुट्ठीमें करके उस दूतने लंका अथवा राजगृह नगरके एक किनारे जाकर सुन्दर वनमें प्रवेश किया था ॥३६॥

इस वनके आसपास सर्वत्र देखते हुए उस निर्भय दूत हनुमानने कमलके समान सुन्दर

---

१. शिखरिणीवृत्तम्। २. वंशस्थवृत्तम्। ३. मत्तमयूरवृत्तम्।

-रुचिं वनजस्येव नेत्रयो रुचिर्यस्याः सा तां कमलदललोचनामित्यर्थः, पुनः स्वपतिगुणविशेषरञ्जिताम् स्वपतेर्गुणविशेषाः शौर्यादयस्तै रञ्जितां रामस्य गुणैराह्लादितामित्यर्थः, पुनः सतीम् , किं कुर्वन्नुपलेभे ? अभिनिर्भयं यथा उपवनं निरूपयन्नवलोकमानः ।

भारतीयः—हे अभिराम श्रेणिक, स वचोहरः श्रीशैलनामा दूतः कांचिद्वल्लभां कामिनीम् , उपलभते स निरीक्षां चक्रे, कथम्भूताम् ? वनजनेत्ररुचिम् ? वनजमिव नेत्रे वनज नेत्रे तयो रुचिर्यस्यास्ताम् , आकर्णान्तविश्रान्तनेत्रां पुनः स्वपतिगुणविशेषरञ्जितां 'चक्रवर्तिगुणविशेषैरानन्दितां, पुनः सतीम् अतिसमीचीनाम् अङ्गेषूपाङ्गेषु च सम्पूर्णलक्षणोपलक्षितामित्यर्थः । किं कुर्वन् ? उपवनं निरूपयन् ।[1] अन्यत्तुल्यम् ॥३७॥

पथिपथि परिरक्षतो दिगन्तान्दशमुखरागवतो वनान्तपालान् ।
उपशमफलया स विद्यया तां नयविदवोचन् मोहयन्निनतीदम् ॥३८॥

पथीति—नयवित् नीतिज्ञः स वचोहरो हनूमान् इदमेतत् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण तां सीताम् अवोचत् उक्तवान् , किं कुर्वन् ? वनान्तपालान् वनमाल्यादीन् उद्यानपालकान् उपशमफलया उपशम एव फलं यस्याः सकाशात्तया विद्यया मोहयन् मोहं नयन् , कथम्भूतान् ? दशमुखरागवतः दशमुखे रागो विद्यते येभ्य (येषां) ते तान् रावणानुरागिणः पुनः पथिपथि दिगन्तान् दिशां सीम्नः परिरक्षतः ।

भारतीये—स वचोहरः तां कामिनीम् अवोचत् , कथम्भूतः ? नयवित् व्यवहारमार्गप्रवीणः, कथम्भूतान् वनान्तपालकान् ? दश दशसंख्योपेतान् पुनः मुखरागवतः सुखेष्वारक्तिभानं दधानानित्यर्थः[3] ॥३८॥

तवैव संदर्शनसंकथाः कथास्त्वयि प्रसक्ताः श्रुतयो दिवानिशम् ।
त्वयैव वाञ्छाः सहवासतत्परा विना त्वदुर्वीपतिरुन्मनायते ॥३९॥

तवेति—तवैव कथाः वार्त्ताः प्रवर्त्तन्ते, कथम्भूताः ? सन्दर्शनसंकथाः, सन्दर्शनं संकथयन्तीति ताः अवलोकनसूचिन्य इत्यर्थः तथैव त्वयि प्रसक्ताः त्वत्सम्बन्धविषयाः श्रुतयः आकर्णनानि प्रवर्त्तन्ते । तथा त्वयैव सहवासतत्पराः एकत्रावस्थानसम्बन्धिन्यो वाञ्छाः दिवानिशं यथा तथा प्रवर्त्तन्ते त्वद्विना त्वया विना उर्वीपतिः रामः उन्मनायते खेदमनुभवति

भारतीये—उर्वीपतिर्गरुडध्वजः । शेषं सुगमम् ।[4] ॥३९॥

सुनिचितमपि शून्यमाभासते परिजनविभवोऽपि सैकाकिता ।
अरुचिरभवदस्य लक्ष्मीमुखे त्वदनभिगमनेन रिक्तं मनः ॥४०॥

नेत्रवती और अपने पति रामके विशेष गुणोंकी स्मृतिमें प्रसन्न रामकी प्राणप्यारी सती सीताको देखा था [हे अभिराम श्रेणिक ! राजगृहके वनको देखते हुए उस श्रीशैल दूतने कमलनयनी, सती और द्वारकाधीश कृष्णके गुणोंपर मुग्ध सुन्दरीको देखा था] ॥३७॥

प्रत्येक मार्गपर दशों दिशाओंसे रक्षामें निरत रावणपर अनुरक्त वनके रक्षकोंको निष्क्रिय करनेवाली विद्यासे मूर्छित करके नीतिशास्त्रके पण्डित हनुमानने सीताजीसे यह कहा था [दशों दिशाओंसे आगत प्रत्येक वर्गकी रक्षामें नियुक्त ऊपरसे ही जरासंधके भक्त वनरक्षकोंको शान्त करनेमें समर्थ अपनी कुशलतासे वशमें करके उस व्यवहारज्ञ श्रीशैलने उस कृष्णपर मुग्ध नायिकासे कहा था] ॥३८॥

तुम्हारे देखनेका वर्णन करनेवाली ही कथाएँ होती हैं, दिन-रात तुम्हारे सम्बन्धकी ही चर्चाएँ सुनता है और तुम्हारे सहवासकी ही कामना करता है तथा हे सती ! पृथ्वीपति राम अथवा कृष्ण तुम्हारे बिना उदास रहते हैं ॥३९॥

---

१. चक्रपाणिः—प. ध. । २. अपरवक्त्रम् वृत्तम् तल्लक्षणम्—"अयुजि ननरला गुरुः समे न जमपरवक्त्रमिदं ततो जरौ ।" [वृ. र. ४।९] । ३. पुष्पिताग्रावृत्तम् । ४. वंशस्थवृत्तम् ।

सुनिचितमिति-अलं भृशम् आभासते वस्तु वृथा न तु शून्यम्, कथम्भूतमपि ? सुनिचितमपि संभृतमपि, तथा साप्यैकाकिताऽऽभासते यः परिजनविभवः परिवारजनसम्पत्, तथा अभवत्, का ? अरुचिर-प्रीतिः, क ? लक्ष्मीसुखे, कस्य ? अस्य नरपतेः रिक्तं मनो वर्त्तते, केन ? त्वदनभिगमनेन तवानभिगमनेन त्वया सह सम्भोगव्यापारमन्तरेणेत्यर्थः[1] ॥४०॥

अनुरहसमुपैति मन्त्रं मुहुः परमपि परिवृत्त्य नाथेत सः ।
असुषु वसुषु च व्ययं व्यश्नुते सपदि तव कृते न किं तत्कृतम् ॥४१॥

अन्विति-उपैति प्राप्नोति, कः ? स रामः, कम् ? मन्त्रं गुप्तभाषणम्, कथम् ? अनुरहसम् एकान्ते जन-कोलाहलोज्झिते प्रदेशेऽपीत्यर्थः । तथा नाथेत याचेत अनेन मार्गेण गच्छन्ती मत्तमतङ्गजगामिनी मन्मनो-हारिणी मैथिली भवद्भिर्दृष्टा न वेति पृच्छेदित्यर्थः, कम् ? इदं मार्गगामिनं जनम्, अपिशब्दात् अत्र भेरुण्ड-विहङ्गमचक्राङ्गचकोरसर्पतसर्पादीनां ग्रहणम् । किं कृत्वा पूर्वं नाथेत ? परिवृत्य, कथम् ? मुहुर्वारंवारम्, तथा-चोक्तं–"भो भो भुजङ्ग तरुपल्लवलोलजिह्व बन्धूकपुष्पदलसन्निभलोहिताक्ष । पृच्छामि ते पवनभोजन कोम-लाङ्गी काच्चित्त्वयात्र शरदिन्दुमुखी न दृष्टा ॥" तथा व्यश्नुते, कः ? स रामः, कम् ? व्ययम्, केषु ? असुषु प्राणेषु वसुषु च द्रव्येषु, कथम् ? सपदि शीघ्रम्, हे सुन्दरि अनेन प्रकारेण तत् किं न कृतम् अपितु सर्वमेव कृतम्, कथम् ? कृते निमित्ते, कस्य ? तवेति ।

भारतपक्षे–स नरेन्द्रः । परमपि इतरमपि जनम् । शेषं सुगमम् ॥४१॥

सुहृदयमसुदेयं प्रेम मेऽन्योन्ययोगात्सहजमुपकरिष्यत्यायतं हन्त यस्मिन् ।
स्वयमुपनयमानं तत्कदाभावितादृग्दिनमनुदिनमेवं ध्यायति त्वां नरेन्द्रः ॥४२॥

सुहृदयमिति–हन्त अहो तद्दिनं कदा कस्मिन् काले भावि भविष्यति, कथम् ? तादृक् तादृशं पुनः उपनयनमानं प्रढौकमानम्, कथम् ? स्वयमात्मना, यस्मिन् दिने उपकरिष्यति, किं कर्म ? सुहृदयं कर्म, किम् ? प्रेम, मे मम, कस्मात् ? अन्योन्ययोगात् परस्परसम्बन्धात्, कथम्भूतं प्रेम ? असुदेयम् असवः प्राणा देया यत्र तत्तथोक्तम्, पुनः कथम्भूतम् ? सहजं नैसर्गिकं पुनः आयतं दीर्घम्, एवमुक्तप्रकारेण नरेन्द्रो रामः त्वां ध्यायति स्मरति, कथम् ? अनुदिनं प्रतिदिनम् । भारतपक्षे–नरेन्द्रो विष्णुः । शेषं सुगमम्[2] ॥४२॥

सेनां विष्णोरथरयमयीं धीरकाकुत्स्थनादां
नागैर्व्याप्तामिह समकरैर्दिग्गतैरीक्षितासे ।
कल्पान्ताब्धिप्लुतिमिव महाभीममत्स्यध्वजौघां
संगन्तासे त्वमचिरमतस्तेन पद्मेश्वरेण ॥४३॥

लोगोंसे परिपूर्ण भी उसे शून्य-सा लगता है, विभव और परिजनोंसे घिरे रहनेपर भी वह अपनेको एकाकी समझता है, सम्पत्ति और सुखोंसे (लक्ष्मी सहवाससे कृष्णको) इसे अरुचि हो गयी है तथा तुम्हारे वियोगसे इसका मन खाली हो गया है ॥४०॥

एकान्त मिलते ही अपने आपसे बोलता है, बारम्बार घूम-फिर कर दूसरोंसे तुम्हारे विषयमें पूछता है, क्षण भरमें ही अपनी सम्पत्ति तथा प्राणोंसे भी विरक्त हो जाता है। हे देवि ! वह कौन-सा कार्य है जो राम अथवा कृष्णने तुम्हारे विरहमें न किया हो ॥४१॥

'प्राण देकर भी पालनीय, स्वाभाविक और अपरिमित मेरा प्रेम एक दूसरेके सहवास के द्वारा जिस दिन मेरे हृदयको तृप्त करेगा' हाय वह दिन किस वेलामें अपने आप आयगा ? इस प्रकार नारायण प्रतिदिन तुम्हारा ही ध्यान करता है ॥४२॥

---

1. प्रमुदितवदना वृत्तम् । तल्लक्षणञ्च "प्रमुदितवदना भवेन्नौ ररौ ।" [वृ. र. ३।५२] ।
२. मालिनीवृत्तम् ।

सेनामिति—हे क्षामोदरि विष्णोर्लक्ष्मणस्य इहास्मिन् प्रदेशे रथरयमयीं स्यन्दनवेगेन निर्वृत्तां सेनां वाहिनीं त्वम् ईक्षितासे द्रक्ष्यसि, कथम्भूताम् ? धीरकाकुस्थनादां धीरः काकुस्थस्य नादः यस्यां ताम् अक्षोभरामध्वनिम्, पुनः समकरैः सह मया शोभया वर्त्तन्त इति समाः, समाः करा येषां तैः सशोभशुण्डादण्डैः दिग्गतैः दिक्षुप्रसृतैः नागैर्गजैः व्याप्तां, पुनः कथम्भूताम् ? महाभीममत्स्यध्वजौघां गरिष्ठभयानकमीनाकारालम्बसमूहाम्, कामिवेक्षितासे ? कल्पान्ताब्धिप्लुतिमिव कल्पान्तकालजलधिप्लवमिव, कथम्भूताम् ? रथरयमयीं रथस्येव रयो रथरयो स हेतुर्यस्यास्ताम्, पुनः धीरकाकुस्थनादां कुर्वमुधा, ताम् आ आकु, आकु तिष्ठति आकुस्थः वसुन्धरां व्याप्य-स्थित इत्यर्थः, धीरं च कं च धीरकं निस्तरङ्गजलं गम्भीरजलमित्यर्थः, धीरकः आकुस्थो नादो यस्यां सा तथा ताम् अतलस्पर्शिजलवशान्मेदिनीव्यापिघोषामित्यर्थः पुनः नागैर्हस्तिभिः व्याप्ताम्, कथम्भूतैः ? समकरैः सह मकरैर्जलचरजीवविशेषैर्वर्त्तन्त इति तैस्तथोक्तैः । अत्र मकराणां साहचर्याज्जलनागानां ग्रहणम् । पुनः कथम्भूतैः ? दिग्गतैः दिक्षु गतैः, पुनः कथम्भूताम् ? महाभीममत्स्यध्वजौघाम्, भीमाश्च मत्स्या महान्तश्च ते भीमाश्च ते मत्स्याश्च महाभीममत्स्याः, (ते) ध्वजा इव ओघेषु जलप्रवाहेषु यस्यां ताम्, अतः कारणात् अचिरं शीघ्रं त्वं तेन पद्मेश्वरेण रामेण संगन्तासे संगमिष्यसे ।

भारतीये—हे कृशोदरि ! त्वं विष्णोः दामोदरस्य रयमयीं वेगमयीं सेनाम् ईक्षितासे, कथम्भूतां सेनाम् ? धीरकाकुस्थनादां काकुर्वक्रोक्तिः तस्यां तिष्ठतीति काकुस्थः धीरः काकुस्थो नादो यस्यां ताम्, पुनः कथम्भूताम् ? महाभीममत्स्यध्वजौघाम्, भीमो वृकोदरश्च मत्स्यो विराटश्च भीममत्स्यौ तयोर्ध्वजौघ आलम्बपंक्तिः महान् भीममत्स्यध्वजौघो यस्यां ताम्, अथ विष्णुसेनादर्शनानन्दरसादनन्तरं पद्मेश्वरेण पद्मायाः ईश्वरेण संगन्तासे । अतः अस्मात् प्रदेशात् अन्यत्सर्वं प्राग्वत् ॥४३॥

इतीदमभिधाय तां नयपरोऽयमाश्वासयन्प्रदाय नृपमुद्रिकासमुपलक्षितं प्राभृतम् ।
मुदायत पतिं रिपोः कुलधनं जयन्तं विधोस्तथैति हि कृतार्थवक्रमुपर्पर्णमासं महः ॥४४॥

इति श्रीद्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघवपाण्डवीये महाकाव्ये
हनुमन्नारायणदूताभिगमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

इतीति—आयत आगतवान्, कोऽसौ ? अयं हनूमान्, कम् ? पतिं रामं पत्युः समीपमागत इत्यर्थः, कया ? मुदा हर्षेण, किं कुर्वन् ? आश्वासयन् धीरयन्, काम् ? तां जानकीम्, किं कृत्वा ? पूर्वम्, प्रदाय दत्त्वा, किम् ? प्राभृतमुपायनम्, कथम्भूतम् ? नृपमुद्रिकासमुपलक्षितम्, किं कृत्वा ? पूर्वमभिधाय उक्त्वा,

---

आप यहाँपर रथोंके वेगसे युक्त, सुन्दर शुण्डाधारी समस्त दिशाओंमें फैले हाथियोंसे पूर्ण, अत्यन्त भयानक मत्स्य चिह्नयुक्त ध्वजाओंसे छायी तथा काकुस्थ रामकी गम्भीर ध्वनिसे चालित अतएव प्रलय समुद्रके पूर तुल्य [प्रलयपूर भी रथके वेगसे चलता है, पानी गहरा होता है, उसका रोर समस्त पृथ्वीमें होता है, दिशा दिशामें मकर तथा नाग होते हैं, भीषण मछलियाँ ध्वजाकी तरह पानीपर उछलती हैं] विष्णुकी सेनाको देखेंगी और शीघ्र ही उस प्रभु पद्मके साथ आपका मिलन होगा।

अन्वय—विष्णोः रथमयीं धीरकाकुस्थनादां समकरैः दिग्गजैः नागैः व्याप्तां महाभीम-मत्स्यध्वजौघां कल्पान्ताब्धिप्लुतिमिव ईक्षितासे अतः तेन पद्मेश्वरेण त्वमचिरात् संगन्तासे ।

अत्यन्त वेगशालिनी, भटोंकी व्यंगोक्तियोंके नादसे युक्त, समानतासे कर ग्रहीता प्रधान नागवंशी राजाओंसे परिपूर्ण, महान् भीम तथा मत्स्यराज विराट्की ध्वजाओंसे शोभित फलतः प्रलयकालीन समुद्रके पूर तुल्य कृष्णकी सेनाको देखोगी और इस स्थान पर ही तुम्हारा उनसे मिलन होगा ॥४३॥

उक्त प्रकारसे यह सब कहकर राजा रामकी मुन्दरीके रूपमें भेंट देकर उस सीताको

---

१. मन्दाक्रान्ता वृत्तम् । तल्लक्षणञ्च "मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्" [वृ० र० ३।९४] ।

किम् ? इदमेतत्, कथम् ? इति उक्तप्रकारेण, कथम्भूतो हनूमान् ? नयपरः नयं पिपर्तीति सः, नीतेः पालक इत्यर्थः, कथम्भूतं पतिम् ? जयन्तं पराभवन्तम्, किम् ? रिपोः कुलधनं कुलं च धनं च कुलधनम् अथवा कुलमेव धनम्, तथा हि स्फुटम् ऐति आगच्छति, किं कर्तृ ? महस्तेजः कृतार्थवक्त्रं कृतार्थस्य वक्त्रं रामस्य वदनम्, कस्य ? विधोश्चन्द्रस्य, कथम्भूतं महः ? उपपौर्णमासं पौर्णमासीसमीपोद्भवम् ? कस्मात् ? अञ्जनानन्दनवदनोद्गीर्णजनकतनयाकुशलकिंवदन्तीश्रवणादिति योज्यम्।

भारतीये–हे कृतार्थ कृतपुण्य ! हे नृप-श्रेणिक ! तथा तेनैव प्रकारेणायत प्राप्तवान् कोऽसौ ? अयं श्रीशैलनामधेयो दूतः, कम् ? पतिं चक्रपाणिम्, किं कुर्वन्तम् ? रिपोः कुलधनं जयन्तम् अभिभवन्तम्, किं कृत्वा ? प्राभृतं प्रदाय, कथम्भूतम् ? मुद्रिकासमुपलक्षितं मुद्रैव मुद्रिका अत्रैवकारोऽवधारणार्थोऽवगम्यते, तेनायमर्थः–यादवानां कुलक्रमायाता लक्ष्मीः मुद्रा गरुडमुद्रा या ग्राह्या तया समुपलक्षितं मुद्रामुद्रितमित्यर्थः, किं किं कुर्वन् ? उद्यानस्थां कांचित् कामिनीम् आश्वासयन्, किं कृत्वा ? पूर्वमभिधाय च, किम् ? इदमेतत् कथम् ? इत्युक्तप्रकारापेक्षया, कथम्भूतो दूतः ? नयपरः नीतिनिष्ठः, यथा येन प्रकारेण ऐति, किं कर्तृ ? महः किमेति ? वक्त्रं वदनम्, कस्य ? नृपतेः, कथम्भूतम् ? उपपौर्णमासम्, विधोरिन्दोः, कथम् ? हि स्फुटमिति[1] ॥४४॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां द्विःसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य राघवपाण्डवीयापरनाम्नः काव्यस्य पदकौमुदी नामदधानायां टीकायां हनुमन्नारायणदूताभिगमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

द्वारा बँधाता हुआ वह नीतिमार्गका पालक दूत अपने स्वामीके पास वापस आगया था। स्वामी राम अथवा कृष्ण भी शत्रुओंके वंश तथा वैभवको जीतनेमें समर्थ थे तथा [दूतसे वल्लभाके समाचार सुनकर] उनके मुख पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान कान्तियुक्त हो उठे थे ॥४४॥

इति निर्दोषविद्याभूषणभूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके शिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र-द्वारा विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी टीकामें हनुमन्नारायणदूताभिगमन नामका त्रयोदश सर्ग समाप्त।

---

१. पृथ्वी छन्दः, तल्लक्षणम्–"जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः [वृ. ई० ३-१-९१]।

चतुर्दशः सर्गः

श्रीपार्थः सपदि हरिस्तथा सरामः सुग्रीवः सदसि समं प्रभाविराटः ।
निश्चित्य प्रकृतिषु शक्तिमभ्यमित्रं व्युत्तस्थुः प्रलयदवानला इवामी ॥१॥

श्रीपार्थ इति–अमी एते भूपालाः अभ्यमित्रं शत्रुं लक्ष्यीकृत्य व्युत्तस्थुः अभ्युत्थिताः, क इवोत्प्रेक्षिताः ? प्रलयदवानला इव कल्पान्तकालवह्नय इव, किं कृत्वा ? पूर्वं निश्चित्य आत्मप्रतीतिमानीय, काम् ? शक्तिं सामर्थ्यम्, केषु विषये ? प्रकृतिषु सप्तसु स्वाम्यमात्यादिस्वभावासु, के ते भूपाला इति दर्शयन्नाह–व्युत्तस्थौ, कः ? हरिर्लक्ष्मणः, कथम्भूतः ? श्रीपार्थः श्रियं पाति श्रीपाः, श्रीपा अर्था यस्य सः श्रीपार्थः लक्ष्मीरक्षणपरायण-प्रयोजनवान्, पुनः[1] प्रभाविराटः प्रभावी राटो यस्य सः प्रभाविराटः सप्रभावध्वनिः मयि सुग्रीवे करे करवालं गृहीतवति रणरङ्गे न मां प्रति कस्यचित् क्षत्रियकुमारस्य सम्मुखं स्थातुं शक्तिरस्ति इति गर्जिगर्जिमद्ध्वनिरित्यर्थः । क ? सदसि सभायां सरामः रामसहितः सुग्रीवः व्युत्तस्थौ ।

भारतीये—व्युत्तस्थुः, के ? अमी नरेन्द्राः । कथम् ? अभ्यमित्रम्, क इवोत्प्रेक्षिताः ? प्रलयदवानला इव, कृत्वा पूर्वं व्युत्तस्थुः ? निश्चित्य, काम् ? शक्तिम्, कासु ? प्रकृतिषु, क ? सदसि, के ते नरेन्द्राः ? इति-प्रकटयति–व्युत्तस्थौ श्रीपार्थः श्रियोपलक्षितः पार्थः श्रीपार्थः लक्ष्म्योपलक्षितोऽर्जुनः, कथम् ? सपदि शीघ्रम्, तथा व्युत्तस्थौ, कः ? स हरिः चक्रपाणिः, किं विशिष्टः ? सरामः बलभद्रसहितः पुनः सुग्रीवः शोभना ग्रीवा यस्य सः पुनः समं प्रभाः समं सम्यक् प्रकृष्टा भा यस्य सः, प्रकृष्टप्रतापवानित्यर्थः, तथा व्युत्तस्थौ, कोऽसौ ? विराट[2] इति ॥१॥

स्कन्धस्था मदकरिणः प्रयाणभेरी दध्वान प्रतिसमयं निहन्यमाना ।
अत्युच्चं पदमधिरोप्य मान्यमारान्न्यक्कारं क इह परैः कृतं सहेत ॥२॥

स्कन्धेति–मदकरिणः मत्तमातङ्गस्य स्कन्धस्था प्रतिसमयं क्षणं क्षणं प्रतिनिहन्यमाना ताड्यमाना सती प्रयाणभेरी दध्वान ध्वनितवती । युक्तमेतत्-परैरन्यैर्दुर्जनैः कृतं विहितं न्यक्कारं कः सहेत, कथम् ? आरात्

स्वामि, अमात्यादि सातों अपनी प्रकृतियोंकी शक्तिका सभामें निश्चय करके रामसे संयुक्त लक्ष्मीका रक्षक हरि (लक्ष्मण) तथा शोभायुक्त प्रतापके कारण दारुण सुग्रीव, शत्रुके विरुद्ध प्रलयकालीन दावानलके समान चल दिये थे [स्वामी···राजसभामें विचार करके लक्ष्मीका स्वामी अर्जुन, बलभद्रयुक्त कृष्ण तथा सुन्दर ग्रीवाधारी वैभव तथा प्रतापके लिए ख्यात विराटराज तुरन्त शत्रुके विरुद्ध···थे] ॥१॥

मदोन्मत्त हाथीके कन्धेपर रखी तथा प्रतिक्षण बजायी गयी युद्ध-यात्राकी भेरी जोरोंसे गर्ज उठी थी । निकटमें ही खूब ऊँचे तथा मान्य स्थानपर रखकर शत्रुके द्वारा बजाये गये नगाड़ेकी कौन उपेक्षा कर सकता है । सर्वथा सम्मानयुक्त अत्यन्त उन्नत स्थानपर

---

1. -जनवानित्यर्थः कथम् ? सपदि शीघ्रम्, तथा व्युत्तस्थौ, कः स रामः राघवः, कथम् ? सपदि तथा व्युत्तस्थौ, कः ? स सुग्रीवः किष्किन्धनगराधिपः, कथम्भूतः ? प्रभाविराटः प्रभावी राटो यस्य सः प्रभाविराटः सप्रभावध्वनिः, मयि सुग्रीवे कालकरालं करवालं रणरङ्गे गृहीतवति सति माम्प्रति न कस्यचित् क्षत्रियकुमारस्य सम्मुखे स्थातुं शक्तिरस्तीति गर्जिगर्जिमद्ध्वनिरित्यर्थः क्व सदसि सभायाम् कथम् ? समं युगपदिति शेषः ।···भारती–प० द० ।

2. सर्गेऽस्मिन् प्रहर्षिणी वृत्तम् ।

पश्चात्, क ? इहास्मिन् लोके, किं कृत्वा ? पूर्वमधिरोप्य नीत्वा, कम् ? मान्यं जनम्, किमधिरोप्य ? अत्युच्चं पदं स्थानम् ॥२॥

आरावं दिशि दिशि तं निशम्य तस्या रोमाञ्चैः परिहृषितैस्तनुर्नृपाणाम् ।
अम्भोदप्रथमरवोत्थरत्नसूचिभिः संरेजे स्वयमिव सा विदूरभूमिः ॥३॥

आरावमिति–नृपाणां राज्ञां तनुः रोमाञ्चैः रोमाङ्कुरैः संरेजे शुशुभेतराम्, कथम्भूतैः ? परिहृषितैः अत्यानन्दसमुत्थितैः, किं कृत्वा ? पूर्वं तस्याः प्रयाणभेर्याः दिशि दिशि प्रतिदिशम् आरावं ध्वनिं निशम्य श्रुत्वा, केव संरेजे ? यथा सा लोकप्रसिद्धा विदूरभूमिः विदूरो नामपर्वतः तस्य भूमिः, कथम्भूता ? अम्भोदप्रथमरवोत्थरत्नसूचिभिः, अम्भोदस्य मेघस्य प्रथमरवात् उत्था उत्पत्तिर्यासां ताः रत्नसूचयो यस्यां सा, कथम् ? स्वयमात्मनेति ॥३॥

रागादेः सह वसतोऽपि तापवृत्तेर्यः स्वस्मिन्नवधिरहो न कस्यचित्सः ।
भूपानां रिपुमभिपश्यतामिवोग्रं यत्कोपे स्फुरति रसान्तरं न जज्ञे ॥४॥

रागादेरिति–अहो आश्चर्यं कस्यचित् कस्यापि न स्यात्, कः ? स योऽवधिः सीमा, कस्य ? रागादेः अविद्याधर्मस्य, कथम्भूतस्य ? तापवृत्तेः तापः वृत्तिर्यस्य सः तस्य, किं कुर्वतः ? सहवसतोऽपि एकत्रावस्थानवतोऽपि, क ? स्वस्मिन्नात्मनि, अतएव कारणात् न जज्ञे न जातम्, किं तत् ? रसान्तरम् एकस्मात् रसादपरो रसो रसान्तरं यत् स्फुरति विजृम्भते, क सति ? कोपे, कथम्भूतम् ? यद्रसान्तरम् उग्रं सोढुमशक्यम्, केषाम् ? भूपानां नृपाणाम् ? कथम्भूतानामिव ? रिपुं शत्रुम् अभि सामस्त्येन पश्यतामिव निरीक्षमाणानामिव ॥४॥

सारङ्गैः कृतमणिमण्डनैर्विगाढा साश्वासा प्रतिदिशमुन्नमत्स्यदामा ।
सामन्तैः पथि चलिता चमूः पयोधेर्वेलेव प्रबलमदध्वनन्मरुद्भिः ॥५॥

सारङ्गैरिति–अदध्वनत् ध्वनितवती, का ? सा चमूः, कथम् ? प्रबलं प्रकृष्टबलं यथा, कथम्भूता सती ? चलिता, क ? पथि मार्गे, कथम् ? अमा सार्द्धम्, कैः ? सामन्तैः, पुनः कथम्भूता ? उन्नमत्स्यदा उच्चलद्वेगा, कथम् ? प्रतिदिशं दिशं दिशं प्रति, पुनः साश्वा अश्वैः सह वर्तमाना पुनः सारङ्गैर्गजैर्विगाढा व्याप्ता कथम्भूतैः सारङ्गैः ? कृतमणिमण्डनैः कृतं मणीनां मण्डनं येषां तैः । केवादध्वनत् ? पयोधेः समुद्रस्य वेलेव, कथम्भूता सती ? पथि मार्गे चलिता, कथम् ? यथा भवति प्रबलं प्रौढप्रौढि यथा भवति तथा पुनरुन्नमत्स्य-

---

स्थापित करके बादमें शत्रुके द्वारा सामने ही की गयी अवज्ञाको कौन सहन कर सकता है] ॥२॥

समस्त दिशाओंमें प्रयाणभेरीके उस घोषको सुनकर परम आनन्दसे उठे रोमाञ्चके द्वारा राजा लोगोंकी काया वैसी ही शोभित हुई थी; जिस प्रकारसे वर्षारम्भमें मेघोंकी प्रथम गर्जनाको सुनते ही अपने आप निकले रत्नके अंकुरोंसे युक्त विदूर-पर्वतकी भूमि होती है ॥३॥

मनमें प्रबल सन्तापका भाव होने पर किसी भी व्यक्तिको उसके साथ ही अपने आत्मामें रहनेवाले राग आदि भावोंकी सीमापर अनुभव नहीं होता है उसी प्रकार शत्रुको सामने खड़ा देखते हुए राम तथा कृष्णके अनुयायी राजाओंको क्रोध आ जानेके कारण दूसरे प्रबल रसोंका अनुभव ही नहीं हो रहा था ॥४॥

मणियोंके आभूषणोंसे सुसज्जित हाथियोंसे व्याप्त, घोड़ोंसे पूर्ण, वेगके साथ प्रत्येक दिशामें बढ़ती हुई और मार्गमें सामन्त राजाओंके द्वारा संचालित वह राघव-पाण्डव सेना आंधीके द्वारा उठायी गयी समुद्रकी लहरोंके समान [समुद्रवेला भी वातकपूर्ण, मणितुल्य

दाम उन्नं केशं प्रापितं मत्स्यानां मीनानां दाम माला यस्यां सा तथोक्ता, कैः ? तैः प्रसिद्धैः मरुद्भिर्वातैः, कथम् ? यथा भवति सामं साद्धं यथा भवति, पुनः साश्वासा आश्वासैः जलप्रवेशैः सह वर्त्तमाना सा, कथम् ? प्रतिदिशं दिशं दिशं प्रति पुनः सारङ्गैश्चातकैः विगाढा कथम्भूतैः कृतमणिमण्डनैः मणयः सूक्ष्मसूक्ष्मा जलबिन्दवोऽभिधीयन्ते, शब्दानामनेकार्थत्वात्तेषां मण्याकारत्वाद्वा कृतं मणीनां मण्डनं यैस्तैरिति ॥५॥

आनीलं द्विपमधिरुह्य रामभद्रः श्वेतोऽब्दं मिहिर इवासितं निरैयः ।
सिन्दूरद्युतिरचितं स पीतवासाः कृष्णोऽभ्रं जलद इवारुणं तडित्वान् ॥६॥

आनीलमिति–रामभद्रो राघवः निरैयः निर्जगाम, किं कृत्वा ? पूर्वमानीलं सर्वाङ्गश्यामं द्विपं गजमधिरुह्य, क इव ? मिहिर इव यथा [1]मेघेऽसितं नीलमब्दं मेघमधिरुह्य (निर्गच्छति) कथम्भूतः मिहिरः ? श्वेतः शुभ्रः । अत्र तात्पर्यमुपन्यस्यते, घनसमयनिवृत्तौ सत्यां शरत्समयस्य प्रवृत्तौ सत्यां गगनप्रवृत्तस्य नीलनीरदाधिरूढस्य जलरिक्तोदरस्य [2]शुभ्राभ्रस्य शोभां नीलगजाधिरूढो रामो निर्गमनसमये बभार । तथा निरैयः, कः ? पीतवासा लक्ष्मणः, किं कृत्वा ? पूर्वमधिरुह्य, किम् ? अभ्रम्, कथम्भूतम् ? सिन्दूरद्युतिरचितम्, क इव ? जलद इव, यथा जलदो निर्गच्छति, किं कृत्वा ? पूर्वमधिरुह्य, किम् ? अभ्रम्, कथम्भूतम् ? अरुणम् आरक्तम्, कथम्भूतः जलदः ? कृष्णः पुनस्तडित्वान् विद्युद्युक्तः । अत्र भावो विभाव्यते दिनेशस्य निष्क्रान्तौ संध्यायाश्च प्राप्तौ सत्यां गगनतटगमनोन्मुखारुणाभ्रमधिरूढस्य तडिद्युक्तस्य कृष्णस्य जलदस्य शोभां सिन्दूरद्युतिरचितगजेन्द्राधिरूढो लक्ष्मणः पीतांशुकपरिधानो निर्गमनसमये बिभराम्बभूवेति भावः ।

भारतपक्षे–रामभद्रो रेवतीरमणः । पीतवासा नारायणः ॥६॥

ये कुन्त्यां जननमिता विभासयन्तो राजानः पथिषु नभः सदाञ्चितेन ।
धाम्ना ते ननु चतुरङ्गसेनयोच्चैः प्रासादिस्थितियुतया स्म संचरन्ते ॥७॥

य इति–ननु अहो संचरन्ते स्म निर्जग्मुः, के ? ते राजानः, कथम् ? उच्चैः, कया सह ? चतुरङ्गसेनया हस्त्यश्वरथपदातिपृतनया, कथम्भूतया ? प्रासादिस्थितियुतया प्रासादीनि प्रास आदिर्येषां शस्त्राणां तानि प्रासादीनि, कुन्त-सेल्ल-भल्लि-तीरी-तोमर-यष्टि-मुद्गर-शक्ति-चक्रादीनि तेषां स्थित्या युता तया किं, कुर्वन्तः ? ये त्यां तां प्रसिद्धां कुं पृथिवीं धाम्ना तेजसा पथिषु मार्गेषु विभासयन्तः, केषां धाम्ना ? नभःसदां विद्याधराणां सुग्रीवप्रभृतीनाम्, कथम्भूतेन धाम्ना ? चितेन पुष्टेन, कथम्भूताः, राजानः ? जन-नमिताः जन-नमस्कृताः इति ।

भारतीये–ननु अहो संचरन्ते स्म, के ? ते लोकविख्याताः राजानः, केषु ? पथिषु, कया सह ? तुरङ्गसेनया हयवाहिन्या, कथम्भूतया ? उच्चै प्रा पृ पालनपूरणयोरित्यस्य धातोः प्रयोगः पूर्णं पृ० क्विप् प्रत्ययान्तः विचः, सर्वापहारीनाशः, पालना रक्षणम्, पूर्णं भरणपोषणादि, उच्चैः प्रर्यस्या सा उच्चैःप्रस्तया उच्चैःप्रा

उछलते जलबिन्दुयुक्त, भँवरोंसे (आश्वास) भीषण, और सब तरफ उछलती मछलियोंकी माला से भूषित होती है] जोरोंसे गर्ज रही थी ॥५॥

गहरे काले हाथीपर चढ़कर श्वेत वस्त्रधारी राम तथा बलराम युद्धके लिए निकलते थे । घन श्याम मेघोंके ऊपरसे उदित सूर्यके समान, पीताम्बरधारी तथा विद्युत (के समान अस्त्र)-धारी लक्ष्मण तथा कृष्ण सिन्दूरसे सजाये गये अतएव लाल हाथीपर जाते हुए ऐसे लगते थे जैसा सन्ध्याकी लालीमेंसे उड़ता बिजलीयुक्त मेघ लगता है ॥६॥

जनताके द्वारा मान्य, सुग्रीव, आदि विद्याधरोंके द्वारा पुष्ट अपने तेजके द्वारा पूर्ण पृथ्वीको प्रकाशित करते हुए वे रामके पक्षके राजा लोग हस्ति-अश्व-रथ-पदाति चारों प्रकारकी प्रास, कुन्त आदि शस्त्रोंसे सुसज्जित सेनाके साथ मार्गमें चले जा रहे थे ।

महारानी कुन्तीसे उत्पन्न, देवताओंके द्वारा भी मान्य अपनी शरीर कान्तिसे शोभाय-

---

१. 'मार्त्तण्ड' इति समुचितोऽर्थः—सं० ।

२. शुभ्रभास्करस्य—सं० ।

अतीवरक्षणभरणपोषणयेत्यर्थः, अथवा उच्चैः प्राः इति विशेषणं राज्ञाम्, कथम्भूतास्ते राजानः ? उच्चैःप्रा पृङ् व्यायाम इत्यस्य रूपं प्रियते इति प्रः, अकूप्रत्ययः, उच्चैः प्रो येषां ते उच्चैःप्राः उच्चैर्व्यायामवन्तः शस्त्रास्त्र-कृतश्रमाः पुनः कथम्भूतया ? सादिस्थितिश्रुतया अश्वारोहाधिष्ठितया, (क) उच्चैः प्रासादिस्थितिश्रुतया उच्चैः प्रासादाः सन्ति येषां ते उच्चैःप्रासादिनः सप्तभूमिगृहस्वामिनः[1] उच्चैःप्रासादिनामिव या स्थितिः तया श्रुतया एतेन सेनायां गुदुदुरपटमण्डपादिसमृद्धिरम्यधायि, ये राजानः कुन्त्यां कुन्तीविषये जननं जन्म इताः प्राप्ताः युधिष्ठिरादयः इत्यर्थः, कथम्भूताः ? धाम्ना शरीरेण तेजसा विभासयन्तः शोभमानाः, कथम्भूतेन धाम्ना ? अश्रितेन लोकप्रशस्येन पुनः नभःसदा नभसि सीदतीति तेन गगनविजृम्भमाणेनेत्यर्थः ॥७॥

शौर्यान्तस्थिति विषमाभयादवोत्थं वैराटं चतुरगकुञ्जरप्रधानम् ।
सौमित्र्याहितरति संयदुत्कपीनं गत्वैक्यं जगदिव तद्बलं चचाल ॥८॥

शौर्येति—चचाल चलति स्म, किम् ? तद्बलम्, तेषां बलं तद्बलम्, किमिव चचाल ? जगदिव, किं कृत्वा ? पूर्वमैक्यं गत्वा, कथम्भूतम् ? संयदुत्कपीनं संयति संग्रामे उत् उच्चैः कपीनाम् इनः अधिपो यत्र तत्, अथवा संयदुत्कपयः इना प्रभवो यत्र तत् संग्रामोत्कटमर्कटनायकमित्यर्थः, पुनः सौमित्र्याहितरति सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रिः लक्ष्मणः तेन आहिता रतिर्यत्र तत् पुनः वैराटं वैरम् अटति वैराटं वैरगामि, पुनः कथम्भूतम् ? चतुरगकुञ्जरप्रधानं चतुरं गच्छन्तीति चतुरगाः, चतुरगाः कुञ्जराः प्रधाना यत्र तत् पुनः दवोत्थं दवाग्निसमुत्पन्नम्, कया ? विषमाभया तीव्रतरदीप्त्या पुनः शौर्यान्तस्थिति क्षात्रधर्मोररीकृतस्थिति ।

भारतीये–तद्बलं सैन्यं चचाल, कथम्भूतम् ? संयदुत्कपीनं संयते रणाय उत्कैः उत्कण्ठितैः पुम्भिः पीनं पुष्टं निरन्तरम्, पुनः सौमित्र्याहितरति सौमित्र्ये सौहार्दे आहिता रतिर्येन तत् समीचीनमित्रत्वारोपिता शक्तीत्यर्थः, पुनः शौर्यान्तस्थिति शूरो वसुदेवः शूरस्यापत्यं शौरिः नारायणः तेन अन्ता स्थितिर्यस्य तत्, पुनः विषमाभयाद-वोत्थं विषमाभा ये यादवास्तेभ्य उत्था यस्य तत्, तीव्रतरप्रतापवद्भ्यो यादवेभ्य उत्पन्नम् तथा चचाल वैराटं बलं विराटो नाम नरेन्द्रस्तस्येदं वैराटम् कथम्भूतम् ? तुरगकुञ्जरप्रधानं हयकरिसनाथीकृतमित्यर्थः ॥ ८ ॥

उत्कीर्णैरिव विधुभिर्मुखैस्तमालप्ररोहैरिव चिहुरैर्दृशां विलासैः ।
कुर्वद्भिः सर इव सोत्पलं दिगन्तं तद्देव्यः प्रसमचरन्त दन्तिनीभिः ॥९॥

उत्कीर्णैरिति—प्रसमचरन्त भासयन्तो गताः, काः ? तद्देव्यः तेषां पूर्वोक्तानां, राज्ञां महिष्यः तदन्तः-पुरसीमन्तिन्यः, काभिर्दन्तिनीभिः किं प्रसमचरन्त ? दिगन्तमाशान्तम्, कैः कृत्वा ? मुखैराननैः, कैरिवोत्प्रे-क्षितैः ? विधुभिरिव चन्द्रैरिव, कथम्भूतैः ? उत्कीर्णैः उल्लिखितैः, पुनः कैः प्रसमचरन्त ? चिहुरैः कुटिलकेश-

---

मान वे पाण्डव राजा मगधके मार्गपर चले जा रहे थे, निश्चित ही यह सेना रक्षण करनेमें अग्रणी अश्वारोहियोंसे घिरी थी ॥७॥

पराक्रमके परम श्रद्धालु, असाधारण प्रतापके कारण दावानल तुल्य, व्यूह रूपसे चलती मुख्य हस्तिसेना युक्त, युद्धमें शिरोमणि वानरोंके राजाओंसे पूर्ण सुमित्राके पुत्र लक्ष्मणमें एक निष्ठ, फलतः एक सूत्र बद्ध होकर शत्रुके ऊपर बढ़ती हुई वह सेना संसारके समान प्रयाण कर रही थी।

लोकोत्तर प्रतापी यादवोंसे बनी, मुख्य रूपसे अश्वों और हस्तिमय विराट राजाकी सेना सहित, पारस्परिक मित्रताके भावकी प्रगाढ़ताके कारण सर्वथा एकरूप, युद्धके प्रेमी भटोंसे परिपूर्ण तथा शूर कुलमें उत्पन्न वासुदेव द्वारा नियन्त्रित वह सेना क्या चली थी अखिल विश्व ही मगधपर टूट पड़ा था ॥८॥

खोदकर बनाये गये चन्द्रोंके तुल्य सुन्दरमुखी, तमालके गाढ़ अंकुरों सदृश केश-धारिणी, नेत्रोंके विलास द्वारा समस्त दिशाओंको विकसित कमलयुक्त तालाबोंके समान

---

१. सप्तक्षण गृहा—प० द०

पादैः कै रिव ? तमालप्ररोहैरिव, सुगममेतत् , पुनः कै समचरन्त ? दृशां लोचनानां विलासैः कटाक्षविक्षेपैः, कथम्भूतैः दृशां विलासैः ? दिगन्तं सोत्पलं सकुवलयं सर इव सरोवरमिव कुर्वद्भिर्विदधद्भिः ॥ ९ ॥

उत्कार्तस्वररुचयोऽपि सौम्यभावा भामिन्यः सहजघनाः कुचोदिताङ्ग्यः ।
मेघालीष्विव करिणीषु दिव्यरुच्या लालित्यात्तडित इवाभवन्स्फुरन्त्यः ॥१०॥

उत्कार्तस्वर इति—भामिन्यः अभवन्संजाताः, कथम्भूताः ? सौम्यभावाः प्रसन्नतथाशान्तरूपाः, कस्मात् ? लालित्यात् मनोहरत्वात् , किं कुर्वन्त्यः ? करिणीषु भासमानाः पुनः उत्कार्तस्वररुचयोऽपि निष्टप्तकाञ्चनभासोऽपि गौरवर्णकान्तयः इत्यर्थः, पुनः सहजघनाः पुनर्दिव्यरुच्याः मनोहराभरणाः पुनः कुचोदिताङ्ग्यः कुचाभ्यां स्तनाभ्यामुदितम् उन्नतम् अङ्गं यासां ताः कुचोदिताङ्ग्यः, का इव का वाऽभवन् भामिन्यः ? मेघालीषु तडित इव, यथा मेघालीषु स्फुरन्त्यः तडितो भान्ति, कथम्भूताः ? सौम्यभावाः, कस्मात् ? लालित्यात् मनोज्ञत्वात् कस्याः लालित्यम् ? दिव्यरुच्याः मनोहरदीप्तेः, पुनः उत्कार्तस्वररुचयोऽपि उत्क उत्कटः आर्त्तः भयानकः स्वरः शब्दो यत्र सा रुचिर्यासां ताः निखिलजननयनकम्पनकारिणी विद्युतः स्फूर्त्तिः रुचिरभिधीयते, पुनः सहजघनाः सहजाः सह सार्द्धं जाता घना मेघा यासां ताः, पुनः कुचोदिताङ्ग्यः कौ भुवि चोदितं प्रेषितमङ्गं शरीरं याभिस्ताः ॥१०॥

उन्नेतुं तपनवितापमङ्गनानां छन्नाभिर्मणिमयकम्बलैर्नृपीभिः ।
शोणाभिर्बभुरधिरूढसांध्यरागा गच्छन्त्यस्ततय इवाम्बुदां करिण्यः ॥११॥

उन्नेतुमिति—करिण्यः नृपीभिः करिकम्बलैः बभुः, कथम्भूताभिः ? शोणाभिर्लोहिताभिः पुनः मणिमयकम्बलैः छन्नाभिर्झम्पिताभिः, का इव ? अम्बुदां मेघानाम् , क्विबन्तमिदं रूपम् 'आतो धातोः' इत्यनेन सूत्रेणाकारलोपः । ततय इव श्रेणय इव पुनः अधिरूढसान्ध्यरागा अधिरूढः सांध्यो रागो याभिस्ताः, किं कर्तुम् ? तपनवितापं सूर्यातपम् उन्नेतुं निराकर्त्तुम् , कासाम् ? अङ्गनानां राज्ञीनाम् ॥११॥

मायूरं गतयुतनौप्लवं गतानां वाहानां पथि परतोऽधिरोपिताभिः ।
बालाभिः कुचभुजपीडिता युवानस्तद्भूयः स्थपुटदरीषु पानमीषुः ॥१२॥

मायूरमिति—युवानः तरुणाः स्थपुटदरीषु नीचोच्चभूमिगर्त्तासु तद्यानं शिविकाम् (यानम्) ईषुः वाञ्छन्ति स्म, कथम् ? भूयो वारंवारम्, कथम्भूताः सन्तो युवानो वाञ्छन्ति स्म ? कुचभुजपीडिताः स्तनबाहुकर्दर्शिताः, काभिः ? बालाभिः तारुण्यरसकूपिकाभिः तरुणीभिः, कथम्भूताभिः ? अधिरोपिताभिः, क्व ? परतः पृष्ठे, केषाम् ? वाहानां वाजिनाम्, कथम्भूतानाम् ? गतानां प्राप्तानाम्, किम् ? गतं गमनम्, कथम्भूतम् ? मायूरं मयूराणामिदं मायूरम्, उत अथवा गतानाम्, कम् ? नौप्लवं यानपात्रगमनम्, क्व ? पथि अध्वनि ॥१२॥

वनानी और हथिनियोंपरकी जाती हुई दोनों सेनाओंकी रानियोंकी छटा ही निराली थी ॥९॥

तपाये हुए सोनेके समान कान्तिमती होकर भी अत्यन्त सौम्यशीला, सुन्दर समान जंघाधारिणी, स्तनोंके उभारयुक्त, रानियाँ मेघपंक्तिके तुल्य हस्तिनियोंमें भी अपने अलौकिक लालित्यके कारण बिजलीके समान शोभित हो रही थीं [विद्युत भी मेघोंके साथ उत्पन्न होती है, कर्कश भयानक कड़क करती है, असाधारण चमक होती है, करिणीके समान काली मेघालिमें अपने ज्योतिपुंजसे चमकती है तथा पृथ्वीकी ओर वज्र रूपसे गिरती है] ॥१०॥

रानियोंके ऊपर आती धूपको रोकनेके लिए मणि जटित कम्बलोंसे ढकी हुई, गेरू आदिकी शृंगार-सज्जाके कारण लाल लाल फलतः उड़ती मेघपंक्ति के समान जाती हुई हथिनियोंकी शोभा हुई थी [मेघपंक्ति भी सूर्यके आतपको रोक लेती है, मणि आदिके उत्पादक जलराशिसे पूर्ण होती है, सन्ध्याकी लालिमाके चढ़नेपर लाल हो जाती है] ॥११॥

मोरके समान उड़ते अथवा नौकाके समान सरपट जाते घोड़ोंकी पीठपर बैठायी गयी फलतः आगे बैठे युवकको कुचों और भुजाओंसे जोरसे जकड़ती हुई तरुणियोंके कारण वे बार-बार यही इच्छा करते थे कि सरल मार्गसे न जाया जाय ॥१२॥

आत्मैव स्वयमवधार्यते कथंचिद्दुर्वारः परिणतमण्डलः प्रतापी ।
नामेति व्यभिचरितं तदातपत्रैः पूषास्तं गत इव न त्विषं पुपोष ॥१३॥

आत्मेति—नाम अहो व्यभिचरितम्, कैः? तदातपत्रैः नरेन्द्रघर्मवारणैः कथमिति? अवधार्यते निश्चीयते, कः? आत्मा स्वरूपम्, केन? सूर्येणेत्यध्याहार्यं च, कथम्? स्वयमेव आत्मनैव, कथंचिन्महता कष्टेन, भवामि, कोऽसौ? अहम्, कथम्भूतः? प्रतापी प्रतापवान् परिणतमण्डलः पुनः दुर्वारो दुःखेन वरीतुं शक्य इत्यतएव प्रयाणसमये पूषा सूर्यः त्विषम् आतपं न पुपोष न पुष्णाति स्म, क इवोत्प्रेक्षिते? अस्तं गत इव ॥१३॥

निःशेषोऽप्यधिवृपि बद्धचित्रचिह्नो मातङ्गस्तुरगतरङ्गभाजि तुङ्गः ।
नौसंघः समभिपतनमहाकराग्रं सेनाब्धावतरदुच्चकर्णधारः ॥१४॥

निःशेष इति—मातङ्गो हस्ती सेनाब्धौ सैन्यसमुद्रे अतरत् तरति स्म, अत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, कथम्भूते सेनाब्धौ? तुरगतरङ्गभाजि वाजिकल्लोलाश्रिते, कथं यथा भवत्यतरत्? सम अभिपतन् महाकराग्रम् ऊर्ध्वीभवन्-महाशुण्डाग्रम्, कथम्भूतोऽपि मातङ्गः? निःशेषोऽपि समस्तोऽपि बद्धचित्रचिह्नः नियमितविविधध्वजः, कथं यथा भवति? अधिवृपि प्रतिशम्बकम्, पुनः कथम्भूतः? तुङ्गः उच्चः पुनः उच्चकर्णधारः उच्चैः कर्णवर्त्तिकः इत्यर्थः । उपमार्थो दर्श्यते—क इवातरत् मातङ्गः? नौसंघ इव यथा निःशेषोऽपि प्रवहणसमूहस्तरति, क्व? समुद्रे, कथम्भूते? तुरगतरङ्गभाजि, कथम्भूतो नौसंघः? उच्चकर्णधारः उच्चैर्नियामक इति । अन्यत् समम् ॥१४॥

यद्दूरं निकटतरं हयाः समीयुर्नेदीयो यदतिययुः क्षणाद्दवीयः ।
दूरस्थं यदसुलभं तदाप्तुकामस्तत्प्राप्तं त्यजति नवप्रियो हि लोकः ॥१५॥

यदिति—समीयुः संजग्मुः हयाः अश्वाः, किं तत्? निकटतरं समीपतरं स्थानम्, यत् विद्यते किम्? दूरम् । अतिययुरतिशयेन गताः किं तत्? दवीयो दूरतरं स्थानम्, कथम्? क्षणात् क्षणमात्रेण, यद्विद्यते, किम्? नेदीयो निकटतरम्, युक्तोऽयमर्थः, हि यस्मात् कारणात् त्यजति, कः? लोको जनः, किम्? तद्वस्तु, कथम्भूतम्? यत् संप्राप्तं लब्धम् । कथम्भूतो लोकः? नवप्रियः नवं प्रियं यस्य सः, पुनः आप्तुकामः लब्धुकामः, किम्? तद्वस्तु, कथम्भूतम्? यत् दूरस्थं पुनः कथम्भूतम्? असुलभं दुर्लभम् । अथवा असुभिर्लभ्यते असुलभं प्राणाः सुलभाः वस्त्विदं दुर्लभं चेति मनसि कृत्वा प्राणान् दत्वा गृह्णत इत्यर्थः ॥१५॥

वध्रीभिर्विमथितमग्र्यपश्चिमाभिः स्वेदाम्भः सितरुचि फेनिलं हरीणाम् ।
रूप्यस्य स्फुरदिव मण्डनं चकाशे केषां वा श्रमफलमुन्नतिं न धत्ते ॥१६॥

सेनामें जाते छत्रोंने थोड़ी सी भूल की थी। उनके कारण अस्तको प्राप्तके समान सूर्यका प्रताप पुष्ट नहीं हो सका था। अपितु पूर्ण रूपसे बड़ा अपना गोलाकार होनेपर भी प्रतापी तथा जाज्वल्यमान सूर्य अपने आपको भी किसी तरह समझ पाता था ॥१३॥

रंग-बिरंगी और चिह्नोंयुक्त ध्वजाओंसे शोभित, श्रेष्ठ महावतोंसे परिचालित, लम्बी सूड़ोंको आगे फटकारते ऊँचे-ऊँचे समस्त हाथी अश्वोंरूपी तरंगोंसे भरे सेना समुद्रमें वर्षाकालीन नौकाओंके समूहके समान कूद पड़े थे [वर्षाकालीन समुद्रमें भी लहरें तेजीसे चलती हैं, बड़े-बड़े ग्राह उछलते रहते हैं तो भी विविध पालोंसे युक्त, कर्णधारों द्वारा खेयी गयी, पतवार चलाती और ऊँची-ऊँची समस्त नौकाएँ चलती हैं] ॥१४॥

दौड़ते हुए घोड़े दूर जो पदार्थ थे उन्हें निकटतरके समान पा जाते थे और जो बहुत दूर थे उनमें भी निकटस्थोंके समान आगे निकल जाते थे। ठीक ही है, क्यों कि नूतनका प्रेमी संसार सरलतासे अप्राप्य तथा दूरस्थको प्राप्त करना चाहता है और जो प्राप्त है उसको छोड़ देता है ॥१५॥

वाप्रीभिरिति–चकाशे शुशुभे किम् ? स्वेदाम्भो घर्मजलम्, केषाम् ? घोणानामश्वानाम्, कथम्भूतं सत् ? विमथितमालोडितं सत्, काभिः ? वप्रीभिः चर्मयष्टिभिः, कथम्भूताभिः ? अपूर्वपश्चिमाभिः अग्रभवाभिः पश्चाद्भवाभिश्चेत्यर्थः, पुनः कथम्भूतं घर्मजलम् ? सितरुचि श्वेतदीप्ति पुनः फेनिलं संजातफेनम्, किं कुर्वत् चकाशे ? स्फुरद्दीप्यमानम्, किमिव ? रूप्यस्य रजतस्य मण्डनमिव, युक्तमेतत् वा श्रमफलं केषाम् उन्नतिं न धत्ते, अपितु सर्वेषामपीति ॥१६॥

मातङ्गप्रभृतिपदाभिघातधूतः संप्राप्य प्रसरमितस्ततोऽपि पांसुः ।
आरुक्षन्नृपतिशिरः समुद्धतत्वान्नीचस्य स्थितिरियमद्भुतं न किंचित् ॥१७॥

मातङ्गेति–पांसुः रेणुः नृपतिशिरः आरुक्षत् आरुरोह, किं कृत्वा ? पूर्वम् इतस्ततोऽपि यत्र तत्रापि प्रदेशे प्रसरं व्याप्तिं सम्प्राप्य, कथम्भूतः ? मातङ्गप्रभृति पदाभिघातधूतः, मातङ्गप्रभृतीनां गजेन्द्रादीनां चतुरङ्गसैन्यानां पदाभिघातेन धूतः मातङ्गादिचरणक्षोदोत्क्षिप्तः, युक्तमेतद्द्वयं स्थितिः स्यात्, कस्य ? नीचस्य, कस्मात् ? समुद्धतत्वात्, अतएव किंचिदद्भुतं न ॥१७॥

संतप्तस्तपनमरीचिभिः कटाभ्यां नागानां मदगुरुणाग्रपल्लवेन ।
क्षुण्णोऽपि भ्रमरगणः स्थितोऽनुकर्णं छाया यत्पदमपि सा वरं न तूष्णम् ॥१८॥

संतप्तेति–भ्रमरगणः द्विरेफसमूहः, अनुकर्णं श्रवणयोः पश्चात् क्षुण्णोऽपि क्षोभं नीतोऽपि स्थितः, केन ? मदगुरुणा अग्रपल्लवेन कर्णाग्रभागेन कथम्भूतः ? तपनमरीचिभिः दिनकृत्किरणैः संतप्तः, काभ्यां क्षोभं नीतः सन् ? नागानां दन्तिनां कटाभ्यां कपोलाभ्याम्, युक्तमेतत्, छायापि यत् पदं विद्यते सावरं स्यान्न तूष्णमिति ॥ १८ ॥

कायस्य त्वचि कठिनस्य कर्कशायां निर्यातुं विकलमपास्य तप्तमनास्यात् ।
सूत्कारस्नुतकरशीकराः कराग्रैरन्तस्थं ववमुरिव द्विपाः श्रमाम्भः ॥१९॥

कायस्येति–द्विपाः हस्तिनः कराग्रैः शुण्डाग्रैः श्रमाम्भः श्रमजलं ववमुरिव वमन्ति स्मेव, कथम्भूतम्, अन्तःस्थम्, किं कृत्वा ? पूर्वमास्यादवक्त्रात् विकलमसमर्थं तप्तं श्रमाम्भः अपास्य अपाकृत्य किं कर्तुम् ? निर्यातुम्, कस्याम् ? कायस्य त्वचि शरीरस्य चर्मणि, कथम्भूतस्य ? कठिनस्य कर्कशस्य, कथम्भूतायां त्वचि ? कर्कशायां निष्ठुरायाम् कथम्भूताः सन्तो द्विपाः ? सूत्कारस्नुतकरशीकराः सूत्कारवशात्प्रस्यन्दितशुण्डानिष्च्यूतजलकणाः इत्यर्थः ॥ १९ ॥

उच्छ्वासाद्विविधमरं लघु वहन्तः किं न्यूनं किमधिकमित्यधीश्वराणाम् ।
सत्कारं निजनियतं च कर्म कामा मध्यस्थाः समतुलयन्निवाध्वनीनाः ॥२०॥

आगे तथा पीछे चलती हुई चाबुकोंके द्वारा मथे गये समान, अत्यन्त धवल तथा झागयुक्त घोड़ोंका बहता पसीना वैसा ही शोभित हुआ था जैसा जगमगाता चाँदीका आभूषण लगता है [उचित ही है, क्योंकि] ऐसा कौन है ? परिश्रमके फलस्वरूप जिसकी उन्नति न हुई हो ॥१६॥

हाथी, आदि वाहनोंके चलने (पैर मारने) से उठी धूल पहिले तो इधर, उधर सर्वत्र फैल गयी थी। इसके बाद ऊपर उड़ने (उद्धत होने) के कारण राजाके शिरके भी ऊपर पहुँच गयी थी। इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्योंकि नीचकी स्थिति ही यही है ॥१७॥

सूर्यकी किरणोंके द्वारा तपाया गया तथा हाथियोंके बहते मदजलसे भींगनेके कारण भारी कानके अगले भागके द्वारा सताया गया भी भौरोंका समूह कानके पीछे बैठा हुआ था। उचित ही है––थोड़ी-सी भी छाया भली होती है, गर्मी नहीं ॥१८॥

प्रकृत्या कठोर देहकी अत्यन्त कर्कश चमड़ीसे पसीनेको निकालनेमें असमर्थ हाथी शरीरके भीतर भरे उष्ण स्वेद जलको मुखसे निकालकर, 'सू' 'सु' करनेमें सूँड़से निकलते जलके बिन्दुओंके बहानेसे सूँड़से ही उगल रहे थे ॥१९॥

उच्छ्वासादिति–समतुलयन्निव सम्यक् प्रकारेण तुलयन्ति स्मेव, के ? कार्माः कर्मणि नियुक्ताः कार्माः कार्यवाहाः पुरुषाः, कम् ? सत्कारं सम्मानम् , केषाम् ? अधीश्वराणां स्वामिनाम्, तथा समतुलयन्निव च, के ? कार्याः, किम् ? कर्म, कथम्भूतम् ? निर्जनियतं कर्मणांमध्ये किं न्यूनं स्यात् किमधिकं स्यात् इति, कथम्भूताः सन्तः ? मध्यस्थाः सत्कारकर्मणोरित्यध्याहार्यम् , पुनः कथम्भूताः ? अध्वनीनाः अध्वानमलङ्गामिनः, किं कुर्वन्तः ? विविधभरं- कार्यभारं वहन्तः, कथम्भूतम् ? उच्छ्वसात् आयासवशात् नासाद्वारेणवायुविमोचनात् लघुम् ॥ २० ॥

सेनैवं विरचितपार्थवाजिवेगादिक्ष्वाकुस्थितिविधिना यशो निधित्सुः ।
प्रस्थानात्प्रभृति पृथग्विधा निवेशान्नात्रुट्यज्जलनिधिगामिनी धुनीव ॥२१॥

सेनेति–सेना निवेशात् प्रभृति स्थितियोग्यप्रदेशं मर्यादीकृत्य प्रस्थानात् प्रयाणकम् प्रदेशात् नात्रुट्यत् न त्रुटितस्म, केव ? धुनीव नदी यथा, कथम्भूता ? जलनिधिगामिनी, कथम्भूता सेना पृथग्विधा विविधा, पुनः कथम्भूता ? निधित्सुर्निधातुमिच्छुः, किम् ? यशः, कस्मात् ? एवं ? विरचितपार्थवाजिवेगात्, एवमिति शब्दोऽ-ङ्गीकारे वर्त्तते, तस्य सतामवश्यंभावितत्वात् एवमेवमित्यङ्गीकारेण कृत्वा विरचितं पार्थवं यस्मिन् स एवंविरचित-पार्थवः अङ्गीकारविहितपृथुत्वः, आजौ वेगः आजिवेगः संग्रामोत्सुकत्वमित्येवं विरचितपार्थवश्चासावाजिवेगश्च, एवं विरचितपार्थिवाजिवेगस्तस्मात्, केन ? इक्ष्वाकुस्थितिविधिना इक्ष्वाकूणां रामलक्ष्मणादीनां स्थितिविधिः इक्ष्वाकुस्थितिविधिस्तेन, इक्ष्वाकूणामाशयेति ।

भारतीयः–सेना नात्रुट्यत्, कस्मात् ? निवेशात्, कथम् ? प्रभृति, कस्मात् ? प्रस्थानात् कथमेव एव-मुक्तप्रकारेण, केव ? धुनीव, यथा धुनी न त्रुट्यति, कस्मात् निवेशात् उत्पत्तिस्थानमादिकृत्वा स्थितियोग्य-प्रदेशं मर्यादीकृत्य न त्रुट्यतीत्यर्थः । कथम्भूता सती ? जलनिधिगामिनी, कथम्भूता सेना ? पृथग्विधा विविधा, पुनः कथम्भूता ? यशोनिधित्सुः, कासु ? दिक्षु आशासु, केन ? आकुस्थितिविधिना कुम् आ आकु, आकोः स्थितिः आकुस्थितिः तस्या यो विधिः तेन, पृथ्वीं व्याप्यावस्थानविधानेनेत्यर्थः, पुनः विरचितपार्थवाजिवेगा, पार्थोऽर्जुनः, पार्थस्य वाजी पार्थवाजी, विरचितः पार्थवाजिनो वेगो यया सा तथोक्ता ॥२१॥

बीभत्सं रणरुचिरङ्गदोजितश्रीराशंसुर्जितपरभूमिपावनिश्च ।
भीमोघस्थितिरिपुदुर्धरं स्वरूपं पौरस्त्यां धुरि गतिमापतां ध्वजिन्याः ॥२२॥

द्वि० बीभत्समिति–आपतां प्राप्तवन्तौ, कौ ? अङ्गदः पावनिश्च हनूमान् एतौ, काम् ? गतिम्, कथम्भूताम् ? पौरस्त्यां पुरो भवा पौरस्त्या ताम् अग्रभवामित्यर्थः, कस्याः ? ध्वजिन्याः सेनायाः धुरि, कथम्भूतोऽङ्गदः पावनिश्च ? रणरुचिः रणे संग्रामे रुचिः प्रीतिर्यस्य सः, पुनः अजितश्रीः पुनः भीमो भयानकः

अपनी महाप्राणता अथवा लम्बी साँस रोककर नाना प्रकारके भारोंको अनायास ही ले जाते हुए विहंगी (कावर) धारक कुशलतापूर्वक मार्गको पार करते हुए, स्वामियोंके सम्मान और अपनेपर आये दायित्व; इन दोनों (कौन बड़ा है और कौन कम है) को मध्यस्थके समान तौलते हुए समान लगते थे ॥२०॥

इक्ष्वाकुके वंशधरोंकी आज्ञासे युद्धकी त्वराकी विशालता (पार्थव + आजिवेगात्) से परिपूर्ण नाना प्रकारकी राघव सेना विजयके यशकी प्रतिष्ठा करनेके लिए नदीके समान समुद्रकी ओर बढ़ती हुई भी प्रारम्भसे लेकर लक्ष्य पर्यन्त चली गयी थी बीचमें कहीं भी टूटी नहीं थी [अर्जुनके घोड़ोंके वेगसे (पार्थ + वाजि) समस्त पृथ्वीको आक्रान्त करके (आ-कु-स्थिति-विधिना) दिशाओंमें अपनी कीर्ति स्थापित करनेके लिए चतुरंग पाण्डव सेना समुद्रगामिनी नदीके समान स्कन्धावारसे लेकर युद्धस्थली पर्यन्त अखण्ड रूपसे फैली थी] ॥२१॥

युद्धके प्रेमी, रौद्ररसकी प्रशंसा करनेमें लीन, लक्ष्मीके निधान, शत्रुओंकी भूमिके विजेता और भयके कारण स्वयमेव निरुत्साहको प्राप्त शत्रुओंके लिए युद्धमें दुर्धर अंगद

पुनः आशंसुः श्लाघमानः, किम् ? बीभत्सं रौद्रं स्वरूपम्, कथं स्वरूपम् ? जितपरभूमि जिता परेषां शत्रूणां भूमिर्येन तत् पुनः अघस्थिति अघस्य स्थितिर्येषु अघेनोपलक्षिता स्थितिर्येषां वा ते अघस्थितयः ते च ते रिपवश्च अघस्थितिरिपवस्तेषां दुर्द्धरं पापस्थितिमनुष्याणां दुःखेन धर्तुं शक्यमिति, अथवा भीमोघस्थितिदुर्धरं भिया भयेन मोघा निष्फला स्थितिर्येषां ते भीमोघस्थितयः भीमोघस्थितयश्च ते तयोक्तास्तेषां दुर्द्धरस्तम् ।

भारतीये—आप प्राप्तवान्, कः ? भीमो वृकोदरः, काम् ? तां गतिम्, कथम्भूताम् ? पौरस्त्याम्, कस्याम् ? धुरि, कथम्भूतः ? गदोर्जितश्रीः गदया ऊर्जिता श्रीर्येन सः पुनः जितपरभूमिपावनिः जितापरभूमिपानां शत्रुनृपाणाम् अवनिः पृथ्वी येन अभिभूतेतरनरेश्वरभूमिरित्यर्थः । पुनः बीभत्समर्जुनं श्लाघमानः कथम्भूतमर्जुनम् ? रणरुचिरं रणः रुचिरः प्रीत्युत्पादको यस्य सः तम्, अथवा रणे रुचिं प्रीतिं राति गृह्णातीति तं पुनः अघस्थितिरिपुदुर्द्धरं पापस्थितीनां रिपूणां दुःखेन धर्तुं शक्यम्, पुनः कथम्भूतम् ? स्वरूपं स्वस्य आत्मनो रूपं यस्य स तम्, कस्याम् ? ध्वजिन्यां धुरि इति ॥२२॥

तत्पार्श्वे गतधृतिमत्स्यदेशमाढ्यं भुञ्जानोऽनलसहितः सुखं प्रतस्थे ।
पञ्चालोचितविषयप्रभुश्च सैन्यं बिभ्राणः सवसुयशोविलासिनीलः ॥२३॥

तत्पार्श्वे इति—स लोकविख्यातो नीलः नीलनामधेयो विद्याधरचक्रवर्ती प्रतस्थे, किं कुर्वाणः ? तत्पार्श्वे तस्या ध्वजिन्याः पार्श्वे हनुमदङ्गदपार्श्वे वा सैन्यं बिभ्राणो धरन्, कथम्भूते तत्पार्श्वे ? गतधृतिमत्स्यदे- गतधृतिरस्यास्तीति गतधृतिमान् गतधृतिमान् स्यदो यस्य तस्मिन् गमनधरणवद्वेगे इत्यर्थः, कथम्भूतं सैन्यम् ? वसुयशोविलासि वसुयशोभ्यां द्रव्यश्लोकाभ्यां विशेषेण लसतीत्येवंशीलं तत्, किं कुर्वाणः ? शमाढ्यम् उपशम- प्रधानं सुखं भुञ्जानोऽनुभवन्, कथम्भूतो नीलः ? नलसहितः नलनामधेयेन राज्ञा संयुतः, पुनः पञ्चालोचित- विषयप्रभुः पञ्चालाः क्षत्रियाः तेषाम् उचिता ये विषया भोगास्तेषां प्रभुः स्वामीः अथवा पाञ्चालो देशः, पञ्चाल एव उचितो योग्यो विषयो येषां ते पञ्चालोचितविषयाः पञ्चालदेशोद्भवाः क्षत्रियास्तेषां प्रभुः ।

भारतीये—प्रतस्थे, कः ? राजा, किं कुर्वाणः ? मत्स्यदेशं वैराटदेशं भुञ्जानः, कथम्भूतम् ? आढ्यं समृद्धम् कथं यथा भवति ? सुखं यथा; एतेन विराटनामधेयो नरेन्द्रश्चचालेति लब्धम्, किं कुर्वाणः ? तत्पार्श्वे तस्याः पार्श्वे सैन्यं बिभ्राणः, कथम्भूते तत्पार्श्वे ? गतभृति गतं धरति गतधृत् तस्मिन्, कथम्भूतो विराटः ? अनलसहितः अलसाः मन्दाः न अलसाः अनलसाः उद्योगिनस्तेषां हितः, अथवा अनलसाः सकलकलाकुशलाः हिताः अमात्यादयः पुरुषा यस्य सः पुनः, पञ्चालोचितविषयप्रभुः आलोचिताः सकललोकप्रतीताः, विषयाः इष्टस्रग्वनिताचन्दनादयः, आलोचिताश्च ते विषयाश्च, आलोचितविषयाः, पञ्च च ते आलोचितविषयाश्च पञ्चालोचितविषयास्तेषां प्रभुः शृङ्गाररसरसिक इत्यर्थः तथा चोक्तं "रससङ्गेन यो रीतेर्विदधाति सुवर्णताम्, स कविः स नरेन्द्रश्च धन्यः कस्य न जायते", पुनः कथम्भूतः ? सवसुयशोविलासिनीलः वसु द्रव्यम्, यशो वर्णः, विलासिन्यः सुन्दर्यः, इला मेदिनी एतैः सह वर्तते सः तथोक्तः ॥२३॥

और पवनसुत रामकी सेनाके आगे-आगे चले जा रहे थे [अपनी गदाके कारण अधिक शोभायमान, शत्रु-पक्षसे मिले राजाओंकी भूमिका विजेता, पापके गर्तमें पड़े शत्रुओं कौरवोंके द्वारा रोके जानेके लिए अत्यन्त कठिन और युद्धके लिए आतुर अर्जुन (बीभत्स) की प्रशंसामें लीन भीम कृष्णकी सेनाके आगे चल रहा था] ॥२२॥

शान्तिकालके विशाल सुखोंका भोक्ता, सम्पत्ति और कीर्तिके द्वारा शोभित, सबकी चर्चाके विषय पाँचों इन्द्रियोंके भोगोंका स्वामी (पञ्च-आलोचित-विषय-प्रभुः) तथा विशाल सेनाका नेता वह नील भी यात्राके आयासको सहनेमें समर्थ रथपर (गतधृति मत्स्यदे) चढ़कर नलके साथ उन अङ्गद और हनुमानके पार्श्वमें चल रहा था [धन, कीर्ति, कामिनी और भूमिकी अपेक्षा परिपूर्ण, आलससे दूर और हितैषी, सम्पन्न मत्स्य देशका सुखसे भोग करता तथा पाञ्चाल और संलग्न देशोंका भी राजा विराट सेना लेकर आक्रमण सहनेमें समर्थ पाण्डव सेनाके पार्श्वमें चल रहा था] ॥२३॥

तन्मध्यं हरिकुलनायकैरनेकैरामोदस्फुटसितचन्दनोचिताङ्गः ।
दुर्वृत्तं विजहदसज्जनार्दनोऽसौ भूपार्थक्षतशमनोद्यतो जगाहे ॥२४॥

तन्मध्यमिति—जगाहे गाहते स्म, कोऽसौ ? असौ रामो राघवः, किम् ? अद एतत्तन्मध्यं तस्या ध्वजिन्या मध्यम्, कैः सह: ? हरिकुलनायकैर्वानरसमूहस्वामिभिः । कथम्भूतैः ? अनेकैर्नानाविधैः, किं कुर्वन् ? दुर्वृत्तं दुःशीलत्वं विजहत् । कथम्भूतो रामः ? स्फुटसितचन्दनोचिताङ्गः स्फुटसितः सुग्रीवः चन्दनश्चन्दननामधेयो नृपः तयोरुचितम् अङ्गं यस्य सः तथोक्तः, अत्र रामशरीरस्य सुग्रीवचन्दनयोः आरक्षकत्वं प्रतिपादितम्, कथम्भूतः ? असज्जनार्दनः असतो जनानर्दयतीति असज्जनार्दनः रिपुप्रध्वंसक इत्यर्थः । पुनः भूपार्थक्षतशमनोद्यतः भूपानां यः अर्थः क्षात्रधर्मः तस्य यत् क्षतं लोपः तस्य शमने उद्यतः भूपार्थक्षतशमनोद्यतः, अद इत्यत्र विसर्गभूतस्य सकारस्य स्फुटपदसकारस्य लोपो द्रष्टव्यः "झरो झरि स्वे" [जै० सू० ५।४।१३९] इत्यनेन सूत्रेण सकारलोपप्रतिपादितत्वात् ।

भारतीये—जनार्दनो नारायणः तन्मध्यं तस्या ध्वजिन्या मध्यं जगाहे, कैः सह: ? हरिकुलनायकैः समुद्रविजयादिभिर्नरेन्द्रैः, किं कुर्वन् ? असौ लङ्के असत् असमीचीनं क्षत्रियकुमारैर्निन्दितं दुर्वृत्तं विजहत् परित्यजन्, कथम्भूतो जनार्दनः आमोदस्फुटसितचन्दनोचिताङ्गः, आमोदेन स्फुटं यत् सितचन्दनं तस्योचितमङ्गं यस्य स परिमलप्रवक्तव्यश्वेतश्रीखण्डयोग्यशरीर इत्यर्थः, पुनः भूपार्थक्षतशमनोद्यतः भुवः पृथिव्याः पार्थानां पाण्डवानां क्षतशमने उद्यतः ॥२४॥

मदोत्तमाद्रेयबलेभसारे भागेऽपरे सर्पति जाम्बवेऽस्मिन् ।
द्वीपेऽन्विते राजभिरप्रसह्यैः ससर्प वेलेव चमूः पयोधेः ॥२५॥

मदेति—ससर्प जगाम, का ? चमूः सेना, क्व ? अस्मिन् द्वीपे, अत्र केव ससर्प चमूः ? पयोधेः वेलेव, अस्मिन् द्वीपे, क्व सति चमूः ससर्प ? अपरे पश्चिमे पाश्चात्ये भागे, पुनः कथम्भूते ? जाम्बवे जाम्बवस्यायं जाम्बवः तस्मिन् जाम्बवक्षत्रियसम्बन्धिनि पुनः मदोत्तमाद्रेयबलेभसारे मदोत्तमाः मदप्रधानाः आद्रेयाः अद्रिजाताः ये बलेभाः सैन्यगजाः तैः सारे पुनः सर्पति विजृम्भमाणे पुनः राजभिर्नरेन्द्रैः अन्विते युक्ते, कथम्भूतैः राजभिः ? अप्रसह्यैः सोढुमशक्यैः ।

भारतीये—चमूः ससर्प, क्व ? जाम्बवे जम्ब्वा इदं जाम्बवं तस्मिन् जम्बूपलक्षिते द्वीपे, केव ? पयोधेः वेलेव क्व सति चमूः ससर्प ? भागे, कथम्भूते ? अपरे पश्चिमे, किं कुर्वति सति ? सर्पति, पुनः कथम्भूते ? मदोत्तमाद्रेयबलेभसारे मदोत्ताः मदक्लिन्नाः त्रिगण्डैर्मदजलप्रवाहिण इत्यर्थः, ये माद्रेययोर्माद्रीपुत्रयोर्नकुलसहदेवयोर्बलेभाः तैः सारे । अन्यत्समम्[1] ॥ २५ ॥

अनेक वानरवंशी राजाओंके साथ उस सेनाके बीचमें श्रीराम जा रहे थे, सुग्रीव (स्फुटसित) और चन्दन इनके अंग-रक्षक थे, स्वयं ये दुराचारके त्यागी थे और दुष्टोंके विनाशक थे तथा क्षात्र धर्मपर आये प्रहारका वारण करनेके लिए कटिबद्ध थे [अनेक यादववंशी राजाओंसे घिरे, पृथ्वी और पाण्डवोंके साथ हुए अन्यायका प्रतीकार करनेको उद्यत जनार्दनने शस्त्रविद्या (असौ) के प्रतिकूल (असत्,) निन्द्य आचरणको छोड़कर उस सेनाके केन्द्रको सम्हाला था । उनके पूरे शरीरपर श्वेत चन्दनका लेप हो रहा था जिसकी सुगन्ध सर्वत्र फैल रही थी] ॥२४॥

सामना करनेके लिए अशक्य राजाओंसे युक्त, पर्वतोंमें उत्पन्न (आद्रेय) मदोन्मत्त उत्तम हाथियोंके कारण सुपुष्ट जामवन्तकी पीछे चलती हुई सेना इस लंकाद्वीपपर उसी तरह चढ़ गयी थी जैसे समुद्रकी लहरें चढ़ जाती हैं [सामना मदजलसे गीले (मदोत्त) माद्रीसुतों (माद्रेय) की हस्ति-सेनासे सबल पाण्डव सेना इस जम्बूद्वीपके अपर भागमें उसी तरह है] ॥२५॥

---

१. उपजातिवृत्तम् ।

एवं नानाक्षत्रियवर्गैः पृतनाग्रे सालङ्कान्तं रौप्यमिवैतैः सह सालम् ।
वेलापातश्वेततरङ्गं जलराशिं तं सारम्भोगाङ्गमवापन्नृपतिश्च ॥२६॥

एवमिति–सा पृतना सेना लङ्कान्तं लङ्कासमीपवर्तिनं सालं प्राकारम् अवापत् प्राप्तवती, कमिव ? रौप्यं रजतनिर्माणमिव, कथम् ? अग्रे प्रथमं कथम् ? एतैः नाना क्षत्रियवर्गैः सह, कथम् ? एवमुक्तप्रकारेण, तथा अवापत् प्राप्तवान्, कः ? नृपतिश्च रामः, कम् ? तं जलराशिं समुद्रम्, कथम्भूतम् ? वेलापातश्वेततरङ्गम्, सुगममेतत्, तथावापत्, कः ? नृपतिः, किम् ? भोगाङ्गं भोगः सकृद्भुज्यते इति भोगः भोगस्याङ्गमिति भोगाङ्गं ताम्बूलकुसुमचन्दनादि, कथम्भूतम् ? सारं प्रधानमिति ।

भारतीयः पक्षः–अवापत्, का ? पृतना सेना, कम् ? जलराशिम्, कथम् ? अग्रे प्रथमम्, अग्रे इति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययपदम्, कैः सह ? एतैः नानाक्षत्रियवर्गैः, कथम् ? अलमत्यर्थम्, कथम्भूतं जलराशिम् ? गाङ्गं गङ्गाया अयं गाङ्गस्तम्, पुनः कथम्भूतम् ? वेलापातश्वेततरङ्गम्, कमिव ? रौप्यं रजतमयं सालमिव पुनः कान्तं मनोहरं तथा चावापत् नृपतिर्जनार्दनः, कम् ? जलराशिम्, कथम् ? अलमत्यर्थम्, कथम्भूतः जनार्दनः ? सारम्भः साटोपः[1] ॥२६॥

चिरानवस्थाननियोगखिन्नमेकस्थमत्यायतमापगौघम् ।
यथाम्बुराशिं ध्वजिनीरजोभिः श्यामायमानं ददृशुर्बलानि ॥२७॥

चिरेति–बलानि सैन्यानि अम्बुराशिं समुद्रं ददृशुः निरीक्षाञ्चक्रिरे, कथम्भूतम् ? ध्वजिनीरजोभिः सेनारेणूत्करैः श्यामायमानम्, कमिवोत्प्रेक्षितम् ? यथापगौघं सरित्समूहमिव, कथम्भूतम् ? एकस्थमेकत्रविश्रान्तम्, पुनः चिरानवस्थाननियोगखिन्नं बहुतरकालपर्यटनव्यापारेण श्रान्तं पुनः अत्यायतं दीर्घतरम् ।

भारतीये–ददृशुः, कानि ? बलानि, कम् ? अम्बुराशिं जलसमूहम्, कथम्भूतम् ? आपगौघम् आपगानामोघः आपगौघः आपगौघस्यायमापगौघस्तम्, कथम्भूतं ददृशुः ? ध्वजिनीरजोभिः श्यामायमानं पुनः अत्यायतम्, कमिवोत्प्रेक्षितम् ? एकस्थं यथा एकत्र विश्रान्तमिव । शेषं सुगमम्[2] ॥२७॥

दिदृक्षुराद्यन्तमिव प्रमाणं पूर्वापरं वा प्रथमाभिषङ्गात् ।
समुद्रतीरं जितसर्वलोका सेनापगां व्याप्तवती बलेन ॥२८॥

द्विः । दिदृक्षुरिति–आप प्राप्तवती, का ? सेना, किम् ? समुद्रतीरं जलधितटम्, कथम्भूता ? व्याप्तवती, काम् ? गां पृथिवीम्, केन कृत्वा ? बलेन रामचन्द्रेण, कथम्भूता सती ? जितसर्वलोका, सुगममेतत्, केवो-

---

विविध वंशोंके क्षत्रिय राजाओंसे परिपूर्ण यह रामकी सेना उक्त प्रकारसे, किनारेपर अपनी श्वेत तरंगोंको फेंकते हुए लंकाके पासके अतएव चाँदीके परकोटाके समान समुद्रके पास पहिले पहुँच गयी थी तथा राजा भी भोगके प्रधान साधनको प्राप्त हुआ था [" यह पाण्डव सेना अत्यन्त सुन्दर, किनारे पर धवल लहराते अतएव चाँदीके परकोटाके सदृश गंगाकी जलराशिके पास सबसे पहिले पहुँची थी । और इसके बाद सजधजके साथ राजा जनार्दन भी पहुँचे थे] ॥२६॥

राघव-सेनाने अत्यन्त विस्तृत तथा सेनाके चलनेसे उड़ी धूलके कारण काले-काले समुद्रको देखा था । मानो चिरकालतक घूमते रहनेके कारण थकी नदियोंकी विपुल जलराशि ही एक स्थानपर रुक गयी थी [पाण्डव सेनाने"'काले मगधकी नदियोंके समूहको देखा था जो चिरकालतक भटकते रहनेके कारण खिन्न, अतएव एक जगहपर थमी जलराशिके तुल्य लगता था] ॥२७॥

पहिले-पहिले पहुँचनेके कारण आदि और अन्त अथवा आगा और पीछा देखनेकी

---

१. मत्तमयूरवृत्तम् । २. उपजातिवृत्तम् ।

प्रेक्षिता ? दिदृक्षुर्द्रष्टुमिच्छुरिव, किम् ? प्रमाणं प्रकृष्टं मानं प्रमाणम्, कथम्भूतम् ? आद्यन्तम् आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ आद्यन्तौ यस्य तदाद्यन्तं वाथवा पूर्वापरं पारम्पर्यतया प्रसिद्धं प्रमाणं दिदृक्षुरिव, कस्मात् ? प्रथमाभिषङ्गात् प्रथमसम्बन्धात् ।

भारतीयः—व्याप्तवती, का ? सेना, काम् ? आपगां नदीं गङ्गाम्, कथम्भूता समुद्रती ? रञ्जितसर्वलोका आनन्दिताखिलविश्वा, केन कृत्वा ? बलेन सामर्थ्येन बलभद्रेण वा पुनः समुद्रतिः मुदि रतिः मुद्रतिः सह मुद्रत्या वर्त्तते इति समुद्रतिः हर्षरत्या सह वर्तमाना पूर्वार्द्धं पूर्वोक्तव्याख्यानविषयं बोधव्यम् ॥२८॥

समुद्रं हा न्यायं विदधदहितस्यापिहितधीः
स नीलाभोगङ्गां व्युदतरदवन्विष्णुरखिलम् ।
गतं खेलं कुर्वद्बलमपि तथा वानरमयं
रजस्त्वेकं चम्वाः सलिलधिनिषिद्धं निववृते ॥२९॥

द्विः । समुद्रमिति–हा कष्टं व्युदतरत् व्युत्तीर्णवान्, स विष्णुर्लक्ष्मणः, कम् ? समुद्रम्, कथम्भूतम् ? नीलाभोगं नील आभोगो यस्य तम्, किं कुर्वन् ? विदधत् कुर्वन्, किम् ? न्यायं नीतिम्, कथम्भूतो विष्णुः ? हितधीः हितं सुखं तत्कारणं च, हिते धीर्यस्य स हितधीः, कस्यापि ? अहितस्यापि शत्रोरपि अथवा विदधत् कुर्वन्, किम् ? हान्यायं हानेः आयं प्रध्वंसस्य प्राप्तिम् ? अहितस्य रिपोः, कथम्भूतोऽपि ? हितधीरपि उपकारनिष्ठबुद्धिरपीत्यर्थः, किं कुर्वन् ? अवन् रक्षन्, काम् ? गां मेदिनीम् तथागतं, किमपि ? बलमपि, कुर्वत्, किम् कुर्वत् ? अलं विभूषाम्, क ? खे गगने, कथम्भूतं बलम् ? वानरमयं वानरा हेतुर्यस्य तद्वानरमयं पुनः अखिलं तु पुनः निववृते निवृत्तम्, किम् ? एकं रजः कस्याः ? चम्वा : सेनायाः, कथम्भूतं सन्निवृत्तम् ? सलिलधिनिषिद्धमिति ।

भारतीयः–व्युदतरत्, कः ? स विष्णुर्नारायणः, काम् ? गङ्गां सुरसरितम्, किं कुर्वन् ? विदधत्, कम् ? न्यायं नीतिम्, कस्य ? अहितस्य शत्रोः, किं कुर्वन्नपि ? अवन्नपि, कम् ? न्यायं नीतिम्, क ? आत्मनीतिसंयोज्यम्, कथम्भूतो विष्णुः ? नीलाभः श्यामलकायकान्तिः पुनः हितधीः हितेष्वव्यभिचारिषु धीर्यस्य स हितधीः, पुनः कथम्भूतः ? समुद्रंहाः, मुत् हर्षः रंहो वेगः मुदो रंहः मुद्रंहः सह मुद्रंहसा वर्त्तते इति समुद्रंहाः, अथवा व्युदतरत् गङ्गां स विष्णुः किं कुर्वन् ? विदधत् कुर्वन्, किम् ? आयं संयोगम्, कया सह ? हान्या विनाशेन, कस्य ? अहितस्य विपक्षस्य, किं कुर्वन् ? अवन् रक्षन्, कम् ? समुद्रम्, रः ध्वनिः, सह मुदा वर्त्तते इति समुत् समुच्चासौ रश्च समुद्रः तं समुद्रं सानन्दरवमित्यर्थः, क ? आत्मनीत्यध्याहार्यम्, कथम्भूतः सन् ? अपिहितधीः अनावृतमतिः ज्ञानावरणीयकर्मसंयोगवियोगात् सकलशास्त्रप्रवीणबुद्धिरित्यर्थः तथा गतम्, किम् बलमपि. कथम्भूतम् ? नरमयम्, वा इवार्थे, तेनोपमार्थो लभ्यते, किं कुर्वदिव गतम् ? कुर्वदिव,

---

इच्छासे ही, अपने सामर्थ्यके द्वारा समस्त पृथ्वीको आक्रान्त करती, विश्व-विजयिनी वह सेना समुद्र-तटपर पहुँच गयी थी [''' इच्छासे ही, नारायणकी उपस्थितिके कारण सानन्द और अनुरक्त, तथा समस्त लोकको प्रसन्न करती उस सेनाने गंगा नदीको व्याप्त कर लिया था] ॥२८॥

शत्रुके भी कल्याण करनेका इच्छुक, न्यायका कर्ता तथा पृथ्वीकी रक्षामें तत्पर लक्ष्मण नीली नीली शोभामय समग्र सागरको पार कर गये थे । और वानरोंकी सेना भी आकाशमें (खमें) पूर्ण रूपसे चलती हुई पार हो गयी थी । समुद्रके जलसे शान्त अतएव रोकी गयी सेनाकी धूल ही केवल लंका जाते जाते लौट आयी थी [शत्रुके लिए विनाशक संयोग (हान्याय) का कर्त्ता, समस्त आनन्दमय प्रसंगोंका रक्षक, बुद्धिमत्ताके लिए ख्यात (अपिहितधीः) तथा नील कान्तिके धारक उस विष्णुने गंगाको पार कर लिया था । और

कम् ? खेलं क्रीडाम् , कथम्भूतं बलम् ? अखिलं समस्तं तु पुनः निवृत्ते, किम् ? एकं रजः, कस्याः ? चम्वाः, कथं सत् ? सलिलविनिषिद्धमिति[1] ॥ २९ ॥

तद्वानेयद्विपमदमरुद्भ्रान्तचित्तं कथञ्चिद्
भूतावेशाद्भ्रमदिव शिरो धुन्वदाधोरणानाम् ।
तीरोपान्तप्रहितनयनं हास्तिकं वारि तीर्णं
गन्तुं सेतुः कृत इव घटाबद्धमक्षौहिणीनाम् ॥३०॥

तदिति–तीर्णम् , किम् ? हास्तिकं हस्तिसमूहः, किं तीर्णम् ? वारि जलम् , कथम्भूतं सन् ? घटाबद्धम् , क इवोत्प्रेक्षितम् ? सेतुरिव, कथम्भूतः ? विहितः, किं कर्तुम् ? गन्तुम् , कासाम् ? अक्षौहिणीनां सेनानाम् , कथम्भूतं हास्तिकम् ? तीरोपान्तप्रहितनयनं तटसमीपप्रेरितलोचनम् , किं कुर्वत् ? धुन्वत् कम्पयत् , किम् ? शिरो मस्तकम् , केषाम् ? आधोरणानां हस्तिपकानाम् , किं कुर्वत् ? भ्रमत्, कस्मादिव ? भूतावेशादिव ग्रहावेशादिव, कथम्भूतावेशोऽजनिष्ट ? कथञ्चित् केनचित्प्रकारेण, पुनः कथम्भूतम् ? तद्वानेयद्विपमदमरुद्भ्रान्तचित्तं वने भवा वानेयाः वानेयाश्च ते द्विपाश्च वानेयद्विपाः तस्य समुद्रस्य वानेयद्विपास्तेषां मदमरुता भ्रान्तं चित्तं यस्य तत्तथोक्तं समुद्रवनभवेभमदामोदवायुसंमोहितचेत इत्यर्थः[2] ॥ ३० ॥

वाजी वायुमयं जवं जवमयं चित्तं स चेतोमयं
देहं बिभ्रदिवाखिलोऽपि चटुलोऽप्यारोढुरेवाशये ।
काये चैक्यमुपेयिवानिव वशादर्णः समुत्तीर्णवान्
दम्यं नाम विवर्तते दमयितुः शीलेन कालान्तरे ॥३१॥

वाजीति–समुत्तीर्णवान् , कः ? स वाजी अश्वः, अत्र जात्यपेक्षयैकवचनम् , किम् ? अर्णो जलम् , कस्मात् ? वशात् , कस्यैव ? आरोढुरेव अश्ववारस्यैव, कथम्भूतः ? अखिलोऽपि पुनः चटुलोऽपि चञ्चलोऽपि, क इवोत्प्रेक्षितः ? ऐक्यम् अभेदम् उपेयिवानिव प्राप्तवानिव, क ? आशये हृदये काये शरीरे च, कस्यैव ? आरोढुरेव, किं कुर्वन्निव ? वायुमयम् अनिलनिर्माणं जवं वेगं बिभ्रदिव धरन्निव तथा चित्तं मनः जवमयं वेगनिर्माणं बिभ्रदिव तथा बिभ्रदिव, कम् ? देहम् , कथम्भूतम् ? चेतोमयं मनोनिर्माणम् , युक्तमेतत् , नाम अहो विवर्तते परिणमति, किम् ? दम्यं वस्तु, दमयितुः शिक्षासमर्थस्याचार्यस्य शीलेन कौशल्यगुणेन, क ? कालान्तरे[3] समयान्तरे ॥ ३१ ॥

प्राप्तव्योमासङ्गमोघं रथानां सव्येष्टास्तेऽनादिचक्रभ्रमेण ।
मुक्ताशं संसारपारं सुखं तं भव्यं सन्मार्गा इव स्मानयन्ति ॥३२॥

प्रयाणको खेल समझती वह पुरुष सेना भी पार हो गयी थी केवल······गंगाके द्वारा रोका धूलिपुञ्ज ही इस पार रह गया था] ॥२९॥

जंगली हाथियोंके मदजलसे वासित गंधके कारण कुछ कुछ मत्त अतएव भूतावेशके प्रभावके समान महावतोंके शिरोंको हिलाते हुए, उस किनारेकी भूमिपर दृष्टि गड़ाये और पानीको पार करके व्यूह-रचनासे चलते हाथियोंका समूह ऐसा लगता था; मानो सेनाके जानेके लिए पुल ही बना दिया हो ॥३०॥

पूरीकी पूरी चंचल अश्वसेनाका वेग वायुके समान था, चित्त वेगमय था, शरीर चित्तमय था तथा चित्त और शरीर एक-मेक हो जानेके कारण वह अश्वारोहियोंकी प्रेरणासे जलराशिको पार कर गयी थी। उचित ही है शिक्षार्थी या विनेय समय बीतनेपर शिक्षक या आचार्यके शीलसे प्रभावित होता है ॥३१॥

---

१. शिखरिणीवृत्तम् । २. मन्दाक्रान्तावृत्तम् । ३. शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ।

प्राप्तेति–आनयन्ति स्मानीतवन्तः, के ? ते सव्येष्ठाः सारथयः, कम् ? तमोघं समूहम् , केषाम् ? रथानाम् । केन कृत्वा ? अनादिचक्रभ्रमेण नास्त्यादिर्यस्य स अनादिः आदेरपेक्षायाम् अन्तस्यापि ग्रहणं निरपेक्षाभावविषयत्वात् सापेक्षत्वाच्च सर्वपदार्थसार्थानाम् इति, चक्राणां भ्रमः चक्रभ्रमः अनादिश्चासौ चक्रभ्रमश्च अनादिचक्रभ्रमः तेन कथं यथा भवति ? मुक्ताशंसं मुक्तप्रशंसम् , कथं यथा भवतीत्यानीतवन्तः ? सुखं यथा कथम्भूतं मोघम् ? प्राप्तव्योमासङ्गं प्राप्तो व्योम्नः आकाशस्य आसङ्गः सम्बन्धो येन सः तु पुनः सारपारं सारो रेणूत्करः कोऽर्थः सारः पारः पर्यन्तो यस्य स सारपारः तं सारपारं पुनः भव्यं रम्यम् , क इवानयन्ति स्म ? सन्मार्गा इव यथा सन्मार्गाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणाः आनयन्ति, कम् ? भव्यं धर्मनिष्ठं जनम् , कमानयन्ति ? संसारपारं भवतटम् , कथं यथा भवति ? सुखम् , केन कृत्वा ? अनादिचक्रभ्रमेणोपार्जिततीव्रकर्मोपशमवशात् द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयस्य लब्ध्या इत्यर्थः, कथम्भूतं भव्यम् ? प्राप्तव्योमासङ्गम् उमया सङ्गः कीर्तिसंयोगः प्राप्तव्य उमासङ्गो यस्य तं पुनः मुक्ताशं मुक्ता आशा येन तं परित्यक्तबाह्यव्यापारम्[1] ॥ ३२ ॥

कर्णश्रुतिं गच्छति तूर्यनादे ध्वजेषु दृष्टिं पुरतः स्पृशत्सु ।
मोहं गतानीव चिरं विजज्ञुः कथंचिदात्मावसथं बलानि ॥३३॥

कर्णेति–विजज्ञुः जानन्ति स्म, कानि ? बलानि, कम् ? आत्मावसथं स्वकीयां वसतिम् , कथम् ? कथञ्चित् महता कष्टेन, कथम् ? चिरं बहुतरकालेन, कथम्भूतानीवोत्प्रेक्षितानि बलानि ? मोहं गतानीव, क सति ? तूर्यनादे कर्णश्रुतिं कर्णरन्ध्रमार्गं गच्छति सति, केषु सत्सु ? ध्वजेषु आलम्बेषु[2] पुरतोऽग्रतः दृष्टिं स्पृशत्सु[3] ॥३३॥

तदेव गाम्भीर्यमदः प्रमाणमगाधता सैव तदायतिश्च ।
चमूरशेषा विततानुकूलं सा नद्यधीनप्रतिमेव रेजे ॥३४॥

तदेव इति–द्विः । तदेव गाम्भीर्यमस्ति तथा अद एतत् एव प्रमाणमस्ति, तथा सैवागाधताऽस्ति, तथा तदायतिश्च तद्दैर्घ्यं चास्तीति कृत्वा रेजे भाति स्म, का ? सा चमूः सेना, कथम्भूता सती ? वितता प्रसृता, कथम् ? अनुकूलं प्रतितटम् , पुनः कथम्भूता ? अशेषा समस्ता, केव रेजे चमूः ? नद्यधीनप्रतिमेव नदीनामधीनः नद्यधीनः नद्यधीनस्य प्रतिमा नद्यधीनप्रतिमा समुद्रमूर्त्तिरिवेत्यर्थः ।

भारतीय–नद्यधीनप्रतिमेव नद्या अधीना नद्यधीना नद्यधीना चासौ प्रतिमा च नद्यधीनप्रतिमा सेव गङ्गायत्तमूर्त्तिरिवेत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥ ३४ ॥

विचित्ररत्नप्रतिमाविशालं राजालयं राजकमभ्युपेत्य ।
रामाननालोकगतादराक्षं पार्श्वक्षतं रोद्धुमनोऽवतस्थे ॥३५॥

सतत प्रचलित चक्रोंकी गतिके द्वारा विस्तृत आकाशमें व्याप्त धूलि पुंजके बाहर ले जाकर प्रशंसनीय ढंगसे सारथि लोग रथोंकी पंक्ति सुखसे ठीक रास्तेपर वैसे ही बढ़ाये लिये जा रहे थे जैसे कल्याणकारी तथा स्पृहणीय रत्नत्रय रूपी मोक्षमार्ग, लोकमें साध्यभूत लक्ष्मीके मोहके कारण निष्फल-अनादि कालसे चले आये संसार-समुद्रके उस पार; आशा-पाशसे रहित भव्य जीवको भेज देता है ॥३२॥

वाद्योंके आरावसे कानोंके छेद भर जाने से तथा आगेसे आँखोंपर ध्वजाओंके पड़ जानेके कारण सेनाकी टुकड़ियां मूर्च्छाको प्राप्तके समान बहुत देरसे अपने-अपने निवासको पहिचान सकी थीं [मूर्च्छित व्यक्ति भी कानोंपर वाद्य बजानेसे तथा आँखोंमें शीतल पदार्थादि लगानेपर बड़ी कठिनाईसे आत्मचैतन्यको प्राप्त होता है] ॥३३॥

वह परिपूर्ण और किनारे, किनारे दूरतक फैली राघव अथवा पाण्डव सेना समुद्र अथवा गंगा नदीकी मूर्तिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि इसकी गहरायी, (शक्तिकी सीमा) विस्तृत संख्या, अथाहपना (गुप्तता) तथा विस्तार समुद्र या गंगाके तुल्य ही थे॥३४॥

---

१. शालिनीवृत्तम् । २. अलम्बेषु–प०, द० । ३. उपजातिवृत्तम् ।

विचित्रेति—अवतस्थे स्थितवत्, किम्? राजकं राजसमूहः, किं कृत्वा? पूर्वमभ्युपेत्य सामस्त्येन प्राप्य, कम्? राजालयं राजमन्दिरम्, कथम्भूतम्? विचित्ररत्नप्रतिभाविशालं विचित्ररत्नानां प्रतिभां दीप्तिम् अवतीति विचित्ररत्नप्रतिभावी स चासौ शालो यस्य तम्, कथम्भूतं राजकमवतस्थे? रोद्धुमनः रोद्धुं मनो यस्य तद्रोद्धुमनः नियमयितुं चेतः, किम्? पार्थक्षतं पृथुरेव पार्थम्, पृथौ भवं वा 'तत्र भवः' [जै० सू० ३।३।२८] इत्यण् भीमात्रेदिखवशसयस्य[1] लोपः (भवमात्रे टिखवशादनयवस्य लोपः) पार्थं च तत्क्षतं च पार्थक्षतं दीर्घतरमार्गोत्पन्नायासवशात्तीव्रतरं खेदमित्यर्थः? पुनरपि कथम्भूतं राजकम्? रामाननालोकगतादृ-रामस्य यत् आननं मुखं तस्य य आलोकः अवलोकनं तत्र गतः प्राप्तः आदरो ययोस्ते अक्षिणी यस्य तत्तथोक्तं दाशरथिमुखावलोकनप्रवृत्तादरलोचनमित्यर्थः।

भारतीये—विचित्ररत्नप्रतिभाविशालं विचित्ररत्नैः प्रतिभाभिर्यः शाला यस्य तम्, कथम्भूतं राजकमव-तस्थे? पार्थक्षतं पार्थानां क्षतं पाण्डवक्षतं रोद्धुमनः पुनः रामाननालोकगतादराक्षं रमणीयरमणीमुख-निरीक्षणे सादरेक्षणम्। योजना सर्वा प्राग्वत् ॥ ३५ ॥

पथः श्रमं नेतुमपेतभारैर्विगाह्य हस्तेन विमुक्तमम्भः।
विशीर्यमाणं प्रति सूर्यमुद्यन्मुक्ताफलाकारमियाय नागैः ॥३६॥

पथ इति—अम्भो जलं मुक्ताफलाकारम् इयाय जगाम, किं कुर्वत्? प्रतिसूर्यं सूर्यं प्रति उद्यत् ऊर्ध्वं गच्छत्, पुनः कथम्भूतम्? विशीर्यमाणं शतशः स्फुटत्, पुनः कथम्भूतम्? नागैर्हस्तिभिः हस्तेन शुण्डया विमुक्तं समुत्सृष्टम्, किं कृत्वा? पूर्वं विगाह्य आलोड्य, किं कर्तुम्? नेतुम् अपाकर्तुम्, कम्? श्रमम्, कस्य? पथो मार्गस्येत्यध्याहार्यम्, कथं नागैः? अपेतभारैः उत्तारितभारैः ॥ ३६ ॥

पादघातविहितं चिरमागस्तद्भुवं क्षमयितुं प्रणमय्य।
स्वं शिरोऽधिपदमश्वसमूहश्चाटुकार इव निर्लुठति स्म ॥३७॥

पादेति—अश्वसमूहः निर्लुठति स्म निर्लुलोठ, क इव? चाटुकार इव प्रतिच्छन्दानुवर्तीव, किं कृत्वा? पूर्वं प्रणमय्य नमयित्वा, किम्? शिरो मस्तकम्? कथम्भूतम्? स्वमात्मीयम्, कथम् अधिपदं पदयोरुपरि, किं कर्तुम्? भुवं पृथिवीं तत् आगः क्षमयितुम्, तत् किमागः यत् चिरं पादघातविहितं चरणहनन-कृतम् ॥ ३७ ॥

तीरद्रुमेषु करिणः पटमण्डपेषु वाहाः सुधाभवनभित्तिषु राजलोकाः।
आवासमादिषत, दम्पतयो गुहासु सर्वत्र पुण्यसहिताः सुखमावसन्ति ॥३८॥

विचित्र रत्नोंकी कान्तिसे देदीप्यमान परकोटासे घिरे राजभवनके समीप पहुँचकर लम्बा मार्ग चलनेके कारण थके (पार्थक्षतं) तथापि रामके मुखको देखनेसे उत्साहित राजा घेरा डालनेकी इच्छासे स्थिर हो गये थे [विविध प्रकारके मणियोंकी कान्तिसे जगमगाते मगधराजके प्रासादके निकट पहुँचते ही रमणीके मुख देखनेके लिए उत्सुक तथा अर्जुनसे संचालित राजाओंने घेरा डालनेकी दृष्टिसे व्यूह रचना की थी] ॥३५॥

भारको उतारकर (कार्यसे मुक्त) मार्गकी थकानको दूर करनेके लिए समुद्र (गंगाकी धार) में उतरे हाथियों (नागवंशी सैनिकों)की सूँड़ों अथवा हाथोंसे सूर्यकी ओर फेंका (सूर्यके प्रति अर्घ रूपसे दत्त) बूँद बूँद करके फैला जल उछलते हुए मोतियोंकी अंजलीके समान लगता था ॥३६॥

टापोंकी मार (पादाघात) द्वारा चिरकालसे संचित अपने पापको क्षमा करानेके लिए ही पहिले अपने शिरको पैरोंमें झुका कर चाटुकारके समान बादमें घोड़े भूमिपर लोटने लगे थे (चाटुकार भी पहिले की गयी पैरोंकी मारके अपराधको क्षमा करानेके लिए पैरोंमें मस्तक झुका देता है और बादमें घोड़ेकी तरह पैरोंमें लोट जाता है ॥३७॥

---

१. भवमात्रे टिखश्च। अभूपस्य लोपः। द०।

तीरेति–करिणो गजाः तीरद्रुमेषु आवासं स्थितिं आदिषत गृहीतवन्तः, वाहा अश्वा पटमण्डपेषु आवासम् आदिषत। राजलोकाः सुधाभवनभित्तिषु शुभ्रगृहप्रधानेषु आवासम् आदिषत।

भारतपक्षे–सुधाभवनभित्तिषु, सुधावत् आभा यासां ताः सुधाभाः ताश्च ता वनभित्तयश्च तासु अमृतशीतलास्वित्यर्थः तथा दम्पतयः स्त्रीपुरुषद्वन्द्वानि गुहासु कन्दरासु आवासम् आदिषत। युक्तोऽयमर्थः। पुण्यसहिताः दैवाधिकाः पुरुषाः सर्वत्र सर्वस्मिन् स्थाने सुखं यथा भवति तथा आवसन्ति तिष्ठन्ति[1] ॥ ३८ ॥

गाङ्गाहिताः प्रतिजवैर्जलपातशीताः कच्छान्तरेषु मरुतः कृतपुष्पवासाः।
वार्धा बलाध्वपरिखेदममुं विनिन्युः संबन्धनं जयति विश्रमदायि विश्वम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीधनञ्जयकविविरचिते राघवपाण्डवीयापर नाम्नि द्विसन्धान-
महाकाव्ये प्रयाणनिरूपणो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

गाङ्गेति–मरुतो वाताः अमुम् इमं बलाध्वपरिखेदं सैन्यानां मार्गश्रमं विनिन्युः अपाकृतवन्तः, कथम्भूताः मरुतः? वार्धाः वार्धौ भवा वार्धाः वार्धेरागताः[2] वा वार्धाः समुद्रोद्भवाः सामुद्रा वा, पुनः कथम्भूताः? कृतपुष्पवासाः विहितकुसुमामोदाः, केषु? कच्छान्तरेषु पुनः जलपातशीताः नीरपूरशीतलाः, पुनः कथम्भूताः? प्रतिजवैः प्रतिवेगैः गां भुवं गाहिता व्याप्तवन्तः, युक्तमेतत्, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, किम्? संबन्धनं सम्बन्धः, कथम्भूतम्? विश्वं समस्तं पुनः विश्रमदायि।

भारतीयः–कथम्भूताः मरुतः? गाङ्गाः गङ्गायां भवाः गङ्गाया इमे वा पुनः हिताः सुखकारिणः पुनः वार्धाः वाः दधति वार्धा वारिधारिण इत्यर्थः। शेषं सुगमम् ॥ ३९ ॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनय-
चन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिका-
चकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां द्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य राघवपाण्डवीया-
परनाम्नः काव्यस्य पदकौमुदीनामदधानायां टीकायां प्रयाणनिरूपणो
नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

हस्तिसेना तटवर्ती वृक्षोंके नीचे रुकी थी। अश्व सेना कपड़ेके मण्डपोंमें बँधी थी और राजा लोग सुधाकी कान्तियुक्त (सुधाभ) वन-पंक्तिके पीछे ठहरे थे तथा दम्पत्ति गुफाओंमें चले गये थे। उचित ही है पुण्यात्मा लोग सर्वत्र सुखके साथ रहते हैं ॥३८॥

पानीके ऊपर उड़नेसे शीतल, कछारमें फूले पुष्पोंकी सुगन्ध युक्त समुद्रकी हवाएँ (पानीको धारण किये) पृथ्वीपर आती हुई [गंगासे उठी (गांग) तथा सुखद (हिता) हवाके झोंके] रास्ता चलनेसे उत्पन्न सेनाकी थकानको दूर कर रही थीं। विश्राम अथवा शान्तिका दाता सम्बन्ध संसारमें सबसे बढ़कर है ॥३९॥

इति निर्दोषविद्याभूषणभूषितपण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र
गुरुके शिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्य-चन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र-द्वारा
विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान
काव्यकी पदकौमुदी टीकामें प्रयाणनिरूपण नामका
चतुर्दश सर्ग समाप्त।

---

1. वसन्ततिलका वृत्तम्। २. वार्धेरिमे वा–प०, द०।

पञ्चदशः सर्गः

अथ वनमनुकूलमङ्गनाभिः समलयजाङ्कपयोधरोचिताभिः ।
सह गतिमृजुमन्थरां गताभिः सरति यदूर्जितनायका विजहुः ॥ १ ॥

अथेति–अथ शब्द आनन्तर्ये वर्त्तते, विजहुः विहृतवन्तः, के ? कपयो वानराः सुग्रीवादयः, किम् ?
तद्वनम्, कथम् ? अनुकूलं तटं तटं प्रति, कथम् ? सह, काभिः ? अङ्गनाभिः कामिनीभिः, कथम्भूताभिः ?
अधरोचिताभिः अधरौ ओष्ठौ उचितौ सामुद्रिकलक्षणसम्पन्नौ सुपक्वबिम्बसदृशौ स्थूलोन्नतदूषणोज्झिताविति भावः,
अधरावुचितौ यासां ताभिः, पुनः कथम्भूताभिः ? ऋजुमन्थराम् अवक्रां मन्दां च गतिं गताभिः प्राप्ताभिः,
कथम्भूतां गतिम् ? समलयजां समश्चासौ लयः समलयस्तस्माज्जातां 'लयः साम्यमुदाहृतमिति वचनात्, कथम्भूताः
कपयः ? ऊर्जितानां प्रौढिमत्प्रतापवतां नायकाः स्वामिनः, यत् अस्ति वनम्, कथम्भूतम् ? सरति सक्रीड-
मिति ।

भारतीयः–यदूर्जितनायकाः यदवश्च ते ऊर्जितनायकाश्च यादवाः प्रतापिनो नरेन्द्राश्च विजहुः । किम् ?
वनम्, कथम् ? अनुकूलं पुनः सरति सक्रीडम्, कथम् ? अङ्गनाभिः सह, कथम्भूताभिः ? समलयजाङ्कपयोधरो-
चिताभिः मलयजाङ्केन चन्दनस्थासकेन सह वर्तते इति समलयजाङ्कौ एवंभूतौ पयोधरौ उचितौ सामुद्रिक-
लक्षणविषयौ घनपीनोन्नतौ नातिस्थूलौ नातिह्रस्वौ नातिदीर्घौ यासां ताभिः[1] ॥१॥

दिशि विदिशि परस्परं न दृष्टं विरचयता कुसुमोच्चयं जनेन ।
न च ददृशुररण्यजास्तदन्तं बहु किमु चेति निरूपितं न कैश्चित् ॥२॥

दिशीति—न दृष्टं नावलोकितम्, कथम् ? परस्परम् अन्योन्यम्, केन ? जनेन लोकेन, किं कुर्वता
सता ? कुसुमोच्चयं फुल्लपुष्पत्रोटनं विरचयता, क्व ? दिशि विदिशि, तथा च न ददृशुर्न दृष्टवन्तः, के ? अर-
ण्यजाः पुलिन्दादयो जीवाः, किम् ? तदन्तं वनमध्यं वनपर्यन्तं वा उ शब्दः सम्बोधनार्थवाचकः, उ अहो किं
बहु, चकाराद्बह्विति लभ्यम्, किमिव बह्विति ? न कैश्चिच्च निरूपितम्, किम् ? वनम्, कथम् ? इति ईदृशम्
इतीति कृत्वेत्यर्थः ॥२॥

पृथु विहितवता वनं विधात्रा चिरमुचितानुपभोग्यमेकयोग्यम् ।
ललितजनचितं कृतं कथञ्चित्परिहरतेव तदापदे श्रमं तम् ॥३॥

सम तथा लयसे समन्वित सीधी और मन्द चाल चलती तथा शुभ लक्षण मय ओष्ठधारिणी अंगनाओंको साथ लेकर, प्रतापी राजाओंके नेता तथा रति भावसे प्रेरित सुग्रीव आदि वानरवंशी राजा समुद्रके किनारे किनारे वनमें चंक्रमण करने लगे थे [मलयज चन्दन-के लेप युक्त स्तनधारिणी सरल और धीमी धीमी चलती सुपात्र नायिकाओंके साथ निकले यादववंशी प्रतापी राजा लोग प्रेमपूर्वक गंगाके किनारेके वनमें विहार कर रहे थे] ॥१॥

दिशाओं और विदिशाओंमें पुष्पोंका चयन करते हुए लोगोंने न तो आपसमें एक दूसरेको देखा था। और न वनवासी भील आदिने ही इन्हें देखा था। बहुत क्या कहें ? आश्चर्य तो यही है कि किन्हीने भी उस वनका ओर-छोर नहीं जान पाया था ॥२॥

---

१. सर्गेऽस्मिन् पुष्पिताग्रावृत्तम् । तल्लक्षणञ्च "अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" [वृ. र. ४।१०]

पृथिवति–कृतम्, किम् ? वनम्, केन ? विधात्रा ब्रह्मणा, कथम्भूतम् ? ललितजवचितं कमनीयलोकविभूषितम्, किं कुर्वतेव सता ? परिहरतेव त्यजतेव, कम् ? तं श्रमं प्रयासम्, क ? अपदे अस्थाने कथञ्चिन्महता कष्टेन, कथम् ? तदा तस्मिन् काले, कथम्भूतेन विधात्रा ? विहितवता कृतवता किम् ? वनम्, कदा ? चिरम् कथम्भूतम् ? उचितानुपभोग्यम् उचितानां शिष्टजनानाम् अनुपभोग्यम्, कथम्भूतम् ? एकयोग्यं क्रूरसत्त्वानां योग्यम्, कथम्भूतम् ? पृथु विस्तीर्णम् ॥ ३ ॥

प्रियमदइदमेतदित्यपूर्वं प्रति जनताग्रगमेन [1]तृप्तुमैच्छत् ।
यदि परिचितसाम्यतोऽन्यतोऽपि प्रतिविरतोऽस्ति न कस्य निर्वृतिः स्यात्॥४॥

प्रियमिति–ऐच्छत् वाञ्छति स्म, का ? जनता जनसमूहः, किं कर्तुम् ? तृप्तुं तृप्तिमात्मानमानेतुम्, केन ? अग्रगमेन पुरोयानेन, किं प्रति ? अपूर्वं प्रति, कथम् ? इति अदः प्रियमिदं प्रियमेतत् प्रियमिति यदि चेदस्ति, कः ? प्रतिविरतो विरक्तो जनः, कस्मात् ? अन्यतोऽपि अन्यस्मादपि वस्तुनः कथम्भूतात् ? परिचितसाम्यतः परिचितेन अनुभवभानीतेन वस्तुना साम्यं सादृश्यं यस्य तस्मात्तथोक्तात् तदा कस्य न कस्यापि निर्वृतिः सौख्यं स्यादित्यर्थः ॥४॥

कुसुममिषुचयो गुणोऽलिमाला मृदुविटपायतयष्टयो धनूंषि ।
विविधमिदमनङ्गशस्त्रजातं सफलमभूच्चिरलक्ष्यदर्शनेन ॥५॥

कुसुममिति–कुसुमं पुष्पम् इषुचयो बाणसमूहोऽभूत् तथाऽलिमाला भ्रमरश्रेणिः गुणो जीवाऽभूत्, मृदुविटपायतयष्टयः कोमलविटपदीर्घयष्टयः धनूंषि चापान्यभवन् इति कृत्वा विविधं नानाप्रकारमिदमनङ्गशस्त्रजातं कन्दर्पायुधसमूहः सफलम् अर्थक्रियाकारि अभूत्, केन ? चिरलक्ष्यदर्शनेन बहुतरसमयतो वेध्यावलोकनेनेति ॥५॥

कलमलिकुलकोकिलाप्रलापं स्मरधनुरानकनादमाकलय्य ।
दयितपरिगमेऽपि कातराणां धगिति कृतं हृदयेन कामुकीनाम् ॥६॥

कलमिति–धगिति कृतम्, केन ? हृदयेन, कासाम् ? कामुकीनां कन्दर्पदर्पकदर्थितानां कामिनीनाम्, क सत्यपि ? दयितपरिगमेऽपि वल्लभपरिरम्भेऽपि, कथम्भूतानां कामुकीनाम् ? कातराणां भीरूणाम्, किं कृत्वा हृदयेन धगिति कृतम् ? कलं मनोहरम् अलिकुलकोकिलप्रलापं स्मरधनुरानकनादम् आकलय्य शङ्कित्वा ॥ ६ ॥

अनादि कालसे शिष्ट लोगोंके उपयोगके लिए अनुपयुक्त तथा क्रूर जंगली प्राणियोंके अनुकूल वनोंके रचयिता विधाताने अस्थानमें कृत परिश्रमके अपवादसे बचनेकी दृष्टिसे हो बड़े परिश्रम पूर्वक सुन्दर शिष्ट लोगोंसे परिपूर्ण इस वनको बनाया था ॥३॥

'आ हा, यह कैसा प्यारा है ? यह कैसा है ? इसकी सुन्दरता देखिये ?' इत्यादि शब्दों द्वारा अब तक न देखे गये पुष्पोंके प्रति उद्गार प्रकट करती जनता आगे-आगे बढ़ कर ही संतुष्ट होना चाहती थी । यदि जाने पहचे और एक समानसे भी लोग विरत नहीं होते हैं, तो विलक्षणसे किसको निवृत्ति हो सकती है ॥४॥

फूलों रूपी बाणोंका विशाल संचय, भ्रमरश्रेणि मयी जीवा तथा कोमल और लम्बी डालियाँ रूपी धनुष, ये कामदेवके विविध शस्त्रसमूह बहुत समय बाद लक्ष्य सरस पुरुषोंके सामने आते ही सफल हो गये थे ॥५॥

भ्रमरश्रेणी तथा कोकिलोंकी मधुर वाणीको सुनके कामदेवके धनुषकी टंकारका भ्रम हो जानेके कारण प्रकृतिसे ही भीरु कामिनियोंके हृदय धक्-धक् करने लगे थे, यद्यपि उनके वल्लभ ही उनको आश्लेष कर रहे थे ॥६॥

---

१. 'प्रप्तुमै-' उचितो पाठः

प्रणयकलहकैतवं प्रणामं शपथमसत्यमुपागमं विलज्जम् ।
प्रतिमिथुनमिदं निरूप्य रेजे स्फुटदिव तत्सकलं हसेन पुष्पम् ॥ ७ ॥

प्रणयेति–तत् सकलं समस्तं पुष्पं रेजे शुशुभे, किं कुर्वदिव ? हसेन हास्येन स्फुटदिव किं कृत्वा ? प्रतिमिथुनं मिथुनं मिथुनं प्रति प्रणामं प्रणिपातं प्रणयकलहकैतवं प्रणयकलहेन कैतवं दम्भो यत्र तं तथा विलज्जं विगतालज्जा यत्र तत् उपागमम् आलिङ्गनम् इदं सर्वं निरूप्यावलोक्य ॥ ७ ॥

अवचितकुसुमावशिष्टवृन्तं वनमबलाकृतिविस्मयेन हृस्तम् ।
विकसितमकृतेव तन्महान्तो ननु रुजतामपि सुग्रहा गुणेन ॥ ८ ॥

अवचितेति–तद्वनं हृस्तम् अबलाकृतिविस्मयेन अबलानामाकृतिः अबलाकृतिस्तस्यां विस्मयेन कामिनीकायाद्भुतेन विकसितम् अकृतेव चकारेव, कथम्भूतं वनम् ? अवचितकुसुमावशिष्टवृन्तम् अवचितकुसुमैरवशिष्टानि वृन्तानि यत्र तत् त्रोटितपुष्पोज्झितप्रसववन्धनमित्यर्थः, युक्तमेतत्, ननु अहो जायन्ते, के ? महान्तः सन्तो नराः । कथम्भूताः ? सुग्रहाः सुखेन ग्रहीतुं शक्याः, केषामपि ? रुजतामपि पीडाकारिणामपि, केन कृत्वा ? गुणेन ॥ ८ ॥

कथमपि नमयन्त्युपेत्य शाखां करयुगलेन लतान्तमुच्चिचीषुः ।
स्तनकलशभरेण भग्नमध्या तरुमवलम्ब्य निषेदुषीव काचित् ॥ ९ ॥

कथमिति–काचित् कामिनी तरुं वृक्षं करयुगलेन हस्तद्वन्द्वेन अवलम्ब्य अवष्टभ्य, कथमपि महता कष्टेन शाखां नमयन्ती निषेदुषी स्थितवती, कथम्भूता ? उपेत्य समीपमागत्य लतान्तं कुसुमम् उच्चिचीषुः उच्चेतुमिच्छुः, केवोत्प्रेक्षिता ? स्तनकलशभरेण कुचकुम्भभारेण भग्नमध्येव ॥९॥

निकटसुलभमुद्गमं विहाय श्लथवलिनीव विदूरगं ललङ्घे ।
प्रथयितुमुदरं परा स्त्रिया हि प्रियतमविभ्रमगन्धनोऽन्यसङ्गः ॥ १० ॥

निकटेति–परा अन्या काचित् कामिनी उद्गमं पुष्पं ललङ्घे अतिक्रान्तवती, कथम्भूतम् ? विदूरगम् अनिकटतरम् कथं यथा भवति ? श्लथवलिनी विशिथिलितवलिपरिधानग्रन्थि, किं कृत्वा ? पूर्वं निकटसुलभम् उद्गमं विहाय मुक्त्वा, किं कर्तुम् ? उदरं जठरं प्रथयितुं प्रकटयितुम् युक्तमेतत् स्यात् कः ? अन्यसङ्गः कथम्भूतः ? प्रियतमविभ्रमगन्धनः वल्लभकटाक्षसूचकः, कस्याः? स्त्रियाः कामिन्याः, कथम् ? हि स्फुटमिति ॥१०॥

प्रणय कलह और उसका दम्भ दूर करनेके लिए पैरोंमें पड़ना, झूठे शपथ तथा अनुकूल होकर निर्लज्ज रूपसे आलिंगन, आदि प्रत्येक युगलकी क्रियाओंको देखकर ही वह समस्त पुष्प समूह हँसीके मारे फटते (खिलते) के समान सुन्दर लगता था ॥७॥

फूल तोड़ लेनेके बाद शेष बचे डंठलोंसे पूर्ण वह वन सुकुमारांगी नायिकाओंकी लोकोत्तर आकृतिको देखकर उत्पन्न हुए आश्चर्यके कारण खुले हुए हस्तों (रोमांचों) से युक्तके समान प्रतीत होता था। ठीक ही है महापुरुष गुणोंके कारण कष्टदाताओंके भी वशमें हो जाते हैं ॥८॥

कोई नायिका दोनों हाथोंसे पकड़कर लताके ऊपर विकसित पुष्पको तोड़नेकी इच्छासे बड़े परिश्रम पूर्वक शाखा तक पहुँच कर उसे झुकाती हुई ऐसी प्रतीत होती थी, मानो स्तनरूप कलशोंके भारसे कमर टूट जानेके कारण पेड़ पकड़कर ही खड़ी रह गयी है ॥९॥

दूसरी कामिनी पास ही विकसित अतएव सुलभ पुष्पको छोड़कर अपने कृश उदरको प्रकट करने के लिए ही नीवीको शिथिल करती समान बहुत ऊपर खिले पुष्पके लिए उचक रही थी। उचित ही है क्योंकि स्त्रियोंके व्यर्थ कार्य परम प्रिय वल्लभके कटाक्षोंके प्रेरक होते हैं ॥१०॥

---

१. उच्चिकीर्षुः–द० ।

सुरभि वितरितुं प्रसूनमेका सकृदधिपेन विपक्षनाम नीता ।
कितव तव फलं तदस्तु लब्धं प्रियजनयेऽर्पय पुष्पमित्यकुप्यत् ॥ ११ ॥

सुरभीति—एका कामिनी अकुप्यत् कुपितवती, कथमिति ? हे कितव धूर्त अस्तु तिष्ठतु, किं तत् ? प्रसूनम् अर्पय देहि कस्मै ? प्रियजनये प्रियभार्यायै यतो लब्धं प्राप्तम्, किम् फलम् ? कस्य ? तव, सवेत्यध्याहार्यम्, कथम्भूता सती अकुप्यत् ? नीता प्रापिता, किम् ? विपक्षनाम सपत्न्यभिधानम्, केन ? अधिपेन स्वामिना, कथम् ? सकृदेकवारम्, किं कर्तुम् ? सुरभि सुगन्धि प्रसूनं वितरितुं दातुम् ॥११॥

कुचयुगमतुलं कुतोऽस्य भारः किल भवतीति तुलाधिरोपणाय ।
सह तुलयितुमात्मनोद्यतेव क्षणमपरा व्यलगीत्प्ररोहदोलाम् ॥ १२ ॥

कुचेति—अपरा अन्या काचित् कामिनी प्ररोहदोलां व्यलगीत् आरुरोह, कथम्भूता सती ? तुलाधिरोपणाय उद्यता, किं कर्तुमिव ? अतुलम् अनुपमं कुचयुगं स्तनद्वितयं तुलयितुमिव, कथम् ? सह, केन ? आत्मना, कथमिति कृत्वा व्यलगीत् ? किल शब्दो लोकोक्तौ वाक्यालङ्कारे वा वर्तते, किम् ? स्यात्, कः ? भारः, कस्य ? अस्य कुचयुगस्य, कुतः ? आत्मनः सकाशात्, आहो स्वित् किं स्यात् आत्मनो भारः कुचयुगात् इति ॥ १२ ॥

अवचनमधिशय्य मन्युनान्या पृथगधिपाद्विरचय्य पुष्पशय्याम् ।
स्मरशरशयनस्थितेव दूना ननु विरहः प्रियगोचरोऽपि दीनः ॥ १३ ॥

अवचनमिति—बभूवेति क्रियाध्याहार्या, "साध्याहाराणि वाक्यानि भवन्तीति वचनात्", बभूव, का ? अन्या कामिनी, कथम्भूता ? दूना कदर्थिता, केन ? मन्युना कोपेन, किं कृत्वा ? पूर्वमधिशय्य निद्राय, कथं यथा भवति ? अवचनं संभोगगोचरालापरहितम्, कथम् ? पृथक्, कस्मात् ? अधिपात् स्वामिनः, किं कृत्वा ? पूर्वं विरचय्य विधाय, काम् ? पुष्पशय्यां प्रसूनास्तरणम्, केव दूना बभूव ? स्मरशरशयनस्थितेव कुसुमशरोपणशयनमारूढेव, युक्तमेतत्, ननु अहो जायते, कोऽसौ ? विरहः, कथम्भूतो जायते, दीनः[1], कथम्भूतोऽपि सन्, प्रियगोचरोऽपि वल्लभविषयोऽपीति शेषः ॥ १३ ॥

व्रततिषु गहनासु कापि लीनं मृगयितुमीश्वरमाकुलं भ्रमन्ती ।
करधृतलतिकावलोपलब्धुं तमुदधृतेव मनोभवस्य शाखाम् ॥१४॥

व्रततिष्विति— उपधृतेव उद्धृतिं नीतेव, का ? अबला कापि कामिनी, काम् ? मनोभवस्य मकरध्वजस्य शाखाम्, कथम्भूता ? करधृतलतिका हस्तधृतवल्ली, किं कर्तुम्, कम् ? उपलब्धुं प्राप्तुम्, तमीश्वरम्, किं कुर्वति ? भ्रमन्ती पर्यटन्ती हिण्डमानेत्यर्थः, कथं यथा भवति ? आकुलं व्यग्रम्, किं

सुगन्धित फूलको देते समय पतिके द्वारा एक बार ही सौतका नाम लिये जानेपर एक नायिका कुपित हो उठी थी । और कहती थी 'हे कितव ! इस पुष्पको अपनी प्राणप्यारीको ही दो । रहने दो । तुम्हारी प्रीतिका फल मैं पा चुकी' ॥११॥

अन्य विलासिनी अपने निरुपम स्तनको अपनी ही कायाके साथ तौलनेके लिए और इस स्तन युगलका भार किस कारणसे होता है यह निश्चय करनेके लिए ही दोनों को तुलापर रखनेके लिए उद्यतके समान क्षण भरके लिए लटकते हुए वटके प्ररोहोंपर झूल गयी थी ॥१२॥

क्रोधके आवेगमें कोई नायिका पतिसे अलग पुष्पशय्या बना कर चुपचाप लेटी हुई ऐसी दिखती थी मानो कामदेवके बाणोंकी शर-शय्यापर लिटाकर सतायी जा रही हो । उचित ही है, क्योंकि प्रेमीके सामने रहनेपर भी विरह-व्यथा कम नहीं होती है ॥१३॥

सघन लता कुंजमें छिपे अपने प्राणनाथको खोजनेके लिए आकुलतापूर्वक इधर-उधर

---

1. –ऽप्यदीनः उचिततरः पाठः ।

कर्तुम् ? मृगयितुम् अवलोकयितुम्, कम् ? ईश्वरं पतिम्, कथम्भूतम् ? व्रततिषु वल्लीषु लीनम् कथम्भूतासु ? गहनासु घनतरासु ॥१४॥

श्रवसि शिरसि कृत्स्नमुच्चयेऽपि स्मितहसितानुकृतीर्ष्यया क्षिपन्ती ।
मुकुलमुदितमुद्गमं च सर्वस्वमपि वनस्य परोद्यतेव हर्तुम् ॥१५॥

श्रवसीति—परा काचित् कामिनी वनस्य सर्वस्वं हर्तुमिव उद्यता, किं कुर्वन्ती ? श्रवसि कर्णे मुकुलं कलिका क्षिपन्ती प्रेरयन्ती तथा शिरसि मस्तके उद्गमं क्षिपन्ती, कस्मात् क्षिपन्ती ? ईर्ष्यया स्पर्द्धया, कथम्भूतमुद्गमम् ? कृत्स्नं समस्तं पुनः उदितं निर्गतं पुनः स्मितहसितानुकृति स्मितमीषद्धास्यम् ओष्ठपुटस्याव्यादानाद्दृदयान्तर्वर्त्तितया हास्यमित्यर्थः । हसितमोष्ठपुटं प्रसार्य यत् हास्यं प्रवर्त्तते तद्धसितमित्यर्थः, स्मितं च हसितं च स्मितहसिते स्मितहसितयोरनुकृतिर्यस्य तत्तथोक्तम्, अथवा विशेषणमिदं द्वयोर्मुकुलोद्गमयोर्योद्धव्यं, तद्यथा कथम्भूतं मुकुलम् ? स्मितानुकृति, उद्गमं च कथम्भूतम् ? हसितानुकृति, क्व सत्यपि ? उच्चयेऽपि त्रोटनेऽपि ॥१५॥

इति चपलविलासिनीविहारैर्विलुलितमुद्गतकर्णिकारकोशम् ।
प्रशमयितुमुपप्लवं वधूभ्यो मुकुलितहस्तमिवाबभावरण्यम् ॥१६॥

इति—अरण्यं वनम् आबभौ सामस्त्येन रेजे, किमिव ? मुकुलितहस्तमिव कुड्मलितकरमिव, काभ्यः ? वधूभ्यः कामिनीभ्यः, किं कर्तुम् ? प्रशमयितुम् उपशान्ति नेतुम्, कम् ? उपद्रवमुपप्लवम्, कथम्भूतमरण्यम् ? विलुलितमुपद्रुतम्, कैः ? चपलविलासिनीविहारैश्चञ्चलकामिनीक्रीडनैः, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, पुनः कथम्भूतम् ? उद्गतकर्णिकारकोशं निर्गतकर्णिकारकर्णिकम् इति ॥ १६ ॥

स्थलकमलपरागपिञ्जरागः परिचितवांश्च नदीनवार्जवं यः ।
श्रममभिभवति स्म कामिनीनां विधुतमयूरशिखः स मातरिश्वा ॥१७॥

स्थलेति—मातरिश्वा वायुः कामिनीनां नारीणां श्रमं खेदम् अभिभवति स्म अपाकरोत्, कथम्भूतः ? विधुतमयूरशिखः पुनः स्थलकमलपरागपिञ्जरागः स्थलपङ्कजकिञ्जल्ककर्बुरकान्तिः यश्च परिचितवान् प्राप्तवान्, कम् ? नदीनवार्जवं समुद्रवारिवेगम् ।

भारतीयः—यश्च परिचितवान्, किम् ? नदीनवार्जवं नवश्च तत् आर्जवं च नवार्जवं नद्या नवार्जवं नदीनवार्जवं सरिन्नूतनप्राञ्जलत्वम् अर्थात् गङ्गायाः नवार्जवं लब्धम् । शेषं समम्, उभयत्र वायोः सुरभिशीतलमन्दा गुणाः प्रदर्शिताः ॥ १७ ॥

भटकती कोई मुग्धा उसे (पतिको) पानेके लिए हाथसे लता पकड़े थी तो ऐसी प्रतीत होती थी मानो कामदेवकी शाखा ही उठा लायी है ॥१४॥

अपने स्मित और हासका अनुकरण करती हुई समान कलियाँ और विकसित फूलोंको पुष्प चयनके द्वारा क्रमशः अपने कानों और जूड़ेमें सजाती हुई कोई कामिनी ऐसी प्रतीत होती थी मानो वह उस क्रीडावनका सर्वस्व ही चुरानेके लिए टूट पड़ी हो ॥१५॥

उक्त प्रकारसे चंचल विलासिनियोंके वन विहारके प्रसंगसे नोचे गये, उस क्रीड़ा वनने इस चतुर्दिक् उपद्रवको शान्त करनेके लिए ही उन वधुओंके सामने कनेरकी कलियोंके बहानेसे हाथ ही जोड़ दिये थे ॥१६॥

समुद्रकी जलराशिके वेगसे [गंगा नदीके नूतन निर्मल पूरसे] सम्बद्ध अतएव शीतल, स्थलके कमलोंके परागसे व्याप्त फलतः सुगन्धित और मोरोंके पंखोंको फैलाती हुई तीव्र हवाने क्रीड़ामें लीन कामिनियोंकी थकानको दूर कर दिया था ॥१७॥

क्षुपविपिनलतान्तरे जनानामिति सुरतव्यवहारवृत्तिरासीत् ।
ननु दयितपरस्परानिकारव्यवहरणं भुवि जीवितव्यमाहुः ॥१८॥

क्षुपेति—जनानां क्षुपविपिनलतान्तरे क्षुपाः ह्रस्वशाखाः शाखिनः विपिनलता वनकन्दलिन्यः अन्तरं मध्यं क्षुपाश्च विपिनलताश्च क्षुपविपिनलतास्तासामन्तरे सुरतव्यतिहारवृत्तिः संभोगपरस्परानुवर्तनम् आसीत् ननु युक्तमेतत्, भुवि भूमौ विद्वांसो दयितपरस्परानिकारव्यवहरणं दयितयोर्दम्पत्योः परस्परानिकारस्य अन्योन्याप्रतारणस्य व्यवहरणं जीवितव्यं जीवितम् आहुः ॥१८॥

परिषजति परस्परं समेत्य प्रतिमिथुने कुचमण्डलं बबाधे ।
भजति हि निजकर्कशं न पीडां करमपरमध्यगतापचारकं वा ॥१९॥

परीति—परस्परम् अन्योन्यं परिषजति आलिङ्गति सति कुचमण्डलं स्तनमण्डली बबाधे बाधते स्म ; किं कृत्वा ? पूर्वं समेत्य मिलित्वा, युक्तमेतत् वा अथवा पीडा कर्त्री कं पुरुषं न भजति अपितु सर्वमेव, कथम्भूतं सन्तम् ? अपरमध्यगतापचारकम् अपरयोर्मध्यगतो योऽपचारकस्तम् द्वयोरन्तरस्थितं परिपान्थकमित्यर्थः, कथम्भूतम् ? निजकर्कशम् आत्मना कठिनमित्यर्थः, कथम् ? हि स्फुटम् ॥१९॥

उदधमदिव तत्पराभिमर्शादधरयुगं व्यतिचुम्बितं स्वमङ्गम् ।
अधरितगतयो गृहीतमुक्ताः समुपचिता हि सह व्रणैः स्फुरन्ति ॥२०॥

उदिति—अधरयुगम् ओष्ठद्वयं स्वं स्वकीयमङ्गम् उदधमदिव उच्छ्वासयति स्मेव, कस्मात् ? तत्पराभिमर्शात् तस्य प्रतिमिथुनस्य यः पराभिमर्शः तस्मात्, कथम्भूतम् अधरयुगम् ? व्यतिचुम्बितं परस्परवक्त्रसंयोगीकृतम्, युक्तमेतत्, स्फुरन्ति विजृम्भन्ते, के ? अधरितगतयः अधरिता गतिर्येषां ते अधोगतस्फुरणा इत्यर्थः, कथम्भूताः ? व्रणैः समुपचिताः संभृताः, कथम् ? सह युगपत्, पुनः कथम्भूताः ? गृहीतमुक्ताः पूर्वं गृहीताः पश्चान्मुक्ताः तथाविधा अधरा अपि भवन्तीति भावः ॥२०॥

परभृतशुकसारिकाविरावाः समममबलासुरतारवं तिरोऽधुः ।
अपि चरितमवाच्यमन्यदीयं रहयति पक्षिगणो न किं मनुष्यः ॥२१॥

परभृतेति—परभृतशुकसारिकाविरावाः कोकिलादीनां (कोकिलकीरसारिकाणां) स्वराः अबलासुरतारवं मुग्धाङ्गनारतकूजितं तिरोऽधुः प्रच्छादितवन्तः, कथम् ? समम्, युक्तमेतत्, पक्षिगणः विहङ्गमसमूहोऽपि अन्यदीयं परकीयम् अवाच्यमपि गोप्यमपि चरितं चेष्टितं रहयति क्षमयति किं पुनः मनुष्यो न प्रच्छादयतीत्यर्थः। अत्र भाव उभयस्वते पक्षौ जनकजननीसम्बन्धलक्षणौ येषां ते पक्षिणः कुलसंभूताः तेषां गणोऽपि अवाच्यम् ।

छोटे-छोटे पौधोंकी सघन पंक्ति और लताओंकी आड़में क्रीड़ा करते लोगोंकी सुरतक्रियाका आचरण हुआ था। सत्य है, क्योंकि प्रेमी तथा प्रेमिकाके परस्पर निश्छल व्यवहारको ही संसारमें जीवन कहते हैं ॥१८॥

निकट आकर एक दूसरेको गाढ़ आलिंगन करनेमें प्रत्येक जुगलको स्तन मण्डल बड़ी बाधा दे रहा था। ठीक ही है, जो स्वयमेव कठोर है वह अथवा दोके बीच में आया बाधक किसको कष्ट नहीं देता है ? ॥ १९ ॥

तत्तत् युगलों के द्वारा गाढ़ आलिंगन किये जानेपर सतत चुम्बन किये गये दोनों ओष्ठोंने अपनी अपनी कायाको वायुसे फुला सा दिया था। ओष्ठोंकी प्रणयगति को प्राप्त अतएव दबाकर दन्त-क्षतोंके साथ छोड़े गये ओठ फड़कते ही हैं [निन्दनीय आचरण कर्ता भी बन्धन को प्राप्त होते हैं और घावोंसे भरी देह लेकर जब छूटते हैं तो वेदना से तड़पते हैं] ॥ २० ॥

कोकिल, तोता, मैना आदि पक्षियोंकी सतत और सरस ध्वनिने मुग्धाओंकी सुरतकी चीखको सर्वथा छिपा दिया था। दूसरोंके गोपनीय आचरणको पक्षि समूह भी गुप्त रखता

अन्यदीयं चरितं प्रच्छादयति, किं मनुष्यः किमिति शब्देन मनुष्य आक्षिप्यते, मनुष्यमात्रोऽकुलीनो न रक्षयति ॥ २१ ॥

प्रशमय रुषितं प्रिये प्रसीद प्रणयजमप्यहमुत्सहे न कोपम् ।
तव विमुखतयाऽधिरूढचापे मनसिशये कुपिते कुतः प्रसादः ॥२२॥

प्रशमयेति–हे प्रिये वल्लभे तत्तस्मात् कारणात् त्वं रुषितं रोषं प्रशमय, तथा प्रसीद प्रसन्ना भव, यस्मात् अहमपि नोत्सहे न सोढुं शक्नोमि, कम् ? प्रणयजमपि स्नेहसमुत्पन्नमपि कोपम्, कुतः कस्मात् प्रसादः प्रसन्नता स्यात् अपि तु न भवेत्, क सति ? मनसिशये कन्दर्पे कुपिते प्राप्तकोपे, कथम्भूते ? अधिरूढचापे अधिज्यकोदण्डे, कया ? तव विमुखतया भवत्याः पराङ्मुखत्वेन ॥ २२ ॥

मम यदि युवतिं विशङ्कसेऽन्यां श्वसिमि तव श्वसितैर्मृषान्ययोगः ।
भवतु मनसि संशयस्त्वमैक्यात्प्रविभजसे त्वयि जीवितं कथं मे ॥२३॥

ममेति–यदि चेत् विशङ्कसे शङ्काविषयीकरोषि, काऽसौ ? त्वम्, काम् ? युवतिं कामिनीम्, कथम्भूताम् ? अन्यामपराम्, कस्य ? मम, तदा मृषा एवमेव अन्ययोगः अन्यस्याः कामिन्याः योगः सम्बन्धः, यः श्वसिमि प्राणिमि, कैः ? तव भवत्याः श्वसितैः प्राणितैः, भवतु नाम मनसि संशयः सन्देहः, कथं प्रविभजसे केन प्रकारेण पृथक्करोषि, काऽसौ ? त्वं भवती, किम् ? जीवितं त्वयि स्थितम्, कस्य ? मे मम कस्मात् ? ऐक्यात् अपृथक्त्वात् ॥ २३ ॥

न पुनरिदमहं करोमि जीवन्निति शपथेऽधिकृते पुराकृतं स्यात् ।
त्यज कुपितमितीरिते नु सत्यं कुपितवती भवसीव तन्न जाने ॥२४॥

नेति–नु अहो सत्यं कुपितवती भवसीव, तन्न जाने तन्न वेद्म्यहम्, क सति ? ईरितेऽभिहिते सति कथित इत्यर्थः, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, त्यज जहि, किम्, कुपितं कोपम्, यतः स्यात् भवेत्, किम् ? पुराकृतं कर्म, क सति ? शपथे आशायाम्, कथम्भूते ? अधिकृतेऽङ्गीकृते, कथमिति ? जीवन् पुनरिदं नाहं करोमि इति ॥ २४ ॥

बहुतिथमवलोक्य नाथमानं कलयसि सत्यमिमं कृतापराधम् ।
अनुदितवचनं नवप्रियं मां गणयसि गर्वितमन्यवारितं वा ॥२५॥

बह्विति–कलयसि जानासि, काऽसौ ? त्वम्, कम् ? इमं जनं कृतापराधं विहितागसम्, कथम् ? सत्यं परमार्थतः, किं कृत्वा ? पूर्वमवलोक्य निरीक्ष्य, कम् ? माम्, किं कुर्वाणम् ? नाथमानं याचमानम्, कथम्भूतं सन्तम् ? बहुतिथं बहूनां पूरणं बहून् जनान् मेलयित्वा तैः सह प्रार्थयन्नित्यर्थः तथा गणयसि मन्यसे, कम् ? माम्,

---

है तो क्या समीचीन मातृ-पितृ पक्षोंमें (पवित्र) उत्पन्न मनुष्य नहीं छिपायेगा ? ॥ २१ ॥

हे प्रिये, कोपको शान्त करो, प्रसन्न हो जाओ। मैं प्रणयकी लड़ाईको भी सहन नहीं कर सकता हूँ। तुम्हारे मुख फेर लेने पर और मनमें उत्पन्न कामदेवके धनुष चढ़ा लेनेपर मेरी कहाँ कुशल है ? ॥२२॥

यदि तुम्हें मेरी किसी दूसरी प्रेमिकाके होनेका सन्देह है तो विश्वास रखो मैं तुम्हारी ही साँससे जीवित हूँ, पर-सम्बन्ध झूठ है। मनके सन्देहको जाने दो। तुमपर ही मेरा जीवन है। तुम्हारे प्राणोंमें एकमेक मेरे प्राणोंको क्यों अलग करती हो ? ॥२३॥

शायद कभी पहले भूल हुई हो। क्रोध छोड़ो। 'फिर जीते जी कभी ऐसा अपराध नहीं करूँगा।' ऐसी शपथ ले लेने पर भी मैं यथार्थ नहीं जानता कि क्यों तुम कुपित हो गई हो ॥२४॥

विविध प्रकारसे तुम्हारी प्रार्थना करते हुए देखकर क्या मुझको वास्तवमें ही तुम

कथम्भूतम् ? नवप्रियम्, पुनः कथम्भूतं सन्तम् ? अनुदितवचनम् अनुक्तवाक्यम्, तथा गणयसि गर्वितं वा अथवा अन्यवारितम् अन्यया कामिन्या वारितं प्रतिषिद्धं वेति शेषः ॥ २५ ॥

शिथिलय हृदयं न मेऽनुरागं विसृज विषादमिमं न तन्वि वाक्यम् ।
इति दयितमुपागमैकदौत्यं[1] स्वयमबलाभिगतं कथञ्चिदैच्छत् ॥२६॥

शिथिलयेति–ऐच्छत् स्वीचकार, कासौ ? अबला मुग्धाङ्गना काचित्, कम् ? दयितं वल्लभम्, कथम् ? कथंचित् महता कष्टेन, कथम्भूतं दयितम् ? उपागमैकदौत्यम् आलिङ्गनाय साधारणं दूतत्वं यस्य स तथोक्तस्तम्, कथम्भूतम् ? अभिगतं स्वीकृतवन्तम्, किम् ? वाक्यम्, कथम् ? स्वयमात्मनैव, अथवा शोभनोऽयो यस्मिन् वाक्याङ्गीकारकर्मणि तत् स्वयं समीचीनदैवं यथा भवति, कथम् ? इति, हे तन्वि तनूदरि ! शिथिलय शिथिलीकुरु, कासौ ? त्वम्, किम् ? हृदयं मा कोपगच्छेतोदृढं विधेहीत्यर्थः । न शिथिलय त्वम्, कम् ? अनुरागम् अतीव प्रीतिम्, कस्य ? मे मम, तथा विसृज विमुञ्च, कम् ? विषादम् आनन्दाभावम्, न विसृज, कम् ? इमं मल्लक्षणं जनमिति ॥२६ ॥

तरलयसि दृशं किमन्यचेता, दृतिरिव लोहकृतां किमुष्णमुष्णम् ।
श्वसिषि, किमिदमुत्त्रसस्यपैतुं, किमिव भयं, वद का मनःप्रिया ते ॥२७॥

इदानीं कुलकेन व्याख्यायते—तरलयसीति–दृशं दृष्टिं किं तरलयसि चपलयसि, कथम्भूतः सन् ? अन्यचेताः अन्यस्यां चेतो यस्य सः अपरमनस्क इत्यर्थः, तथा उष्णम् उष्णं किं श्वसिषि प्राणिषि, केव ? लोहकृताम् अयस्काराणां दृतिरिव भस्त्रेव, किमिदमुत्त्रससि उद्विजसे, किं कर्तुम् ? अपैतुम् अपसर्तुम्, किमिव भयं विद्यते भवतः, वद त्वं ब्रूहि का मनःप्रिया चित्तवल्लभाऽस्ति ते तवेति ॥२७॥

अलस इव, गतं कुतोऽपि चित्तं मृगयितुमिच्छुरिवोद्भ्रमन्निव त्वम् ।
किमसि किमपराकृतिं प्रपन्नस्तव चपलस्य मनोगतं न वेद्मि ॥२८॥

अलस इति–किमसि भवसि त्वं भवान्, क इव ? अलस इव आलस्योपहत इव, किमसि, क इव ? इच्छुरिवाभिलाषुक इव, किं कर्तुम् ? मृगयितुम् अवलोकयितुम्, किम् ? चित्तं चेतः, कथम्भूतम् ? गतं नष्टम्, कस्मात् कारणात् ? कुतोऽपि, किमसि, किं कुर्वन्निव ? उद्भ्रमन्निव मुह्यन्निव, किमपराकृतिम् अन्याकारं प्रपन्नोऽसि प्राप्तोऽसि, न वेद्मि न जानामि, कासौ ? अहम्, किम् ? चपलस्य तरलस्य तव मनोगतमभिप्रायम् ॥२८॥

किमतिविपिनमन्तरे नदी वा तव गिरिदुर्गमुतास्ति योषितो वा ।
यदनवरतचिन्तयाऽसि खिन्नो ननु च तथा सति किं नु वल्लभत्वम् ॥२९॥

अपराधी समझती हो ? मुझ नये प्रेमीसे बोलती भी नहीं हो और मुझे ही अहंकारी तथा दूसरी प्रेमिकाके द्वारा रोका गया सोचती हो ॥२५॥

मनकी गाँठको थोड़ा ढीला करो, मेरी प्रगाढ़ प्रीतिको नहीं । इस शोकको छोड़ो, अपने वचन (प्रेमप्रतिज्ञा) को मत त्यागो । इस प्रकार पुनर्मिलनके एकमात्र दूतपनेको प्राप्त तथा अपने आप ही प्रेयसीके पास पहुँचे प्रेमीको सरला नायिकाने बड़ी कठिनाईसे अंगीकार किया था ॥२६॥

दूसरी प्रेमिकामें चित्त रहनेसे आँखोंको चंचल क्यों किये हो ? लुहारों की धौंकनीके समान किस कारणसे तुम उष्ण उष्ण साँसें ले रहे हो ? क्यों भागने के लिए बार-बार चौंक पड़ते हो ? तुम्हें क्या डर है ? बोलो तुम्हारी मनमें बसी प्यारी कौन है ? ॥२७॥

तुम आलसीसे क्या हो रहे हो ? कहीं चले गये मनको ही खोजने के लिए उत्सुक समान तुम क्यों भटकते से हो ? किस कारणसे आज तुम्हारी आकृति ही दूसरी हो रही है ? अत्यन्त चालाक तुम्हारे मनकी बात ही मैं नहीं समझ पा रही हूँ ॥२८॥

---

1. "गमैकदैत्यमिति" पाठोऽपि रुचिरः ।

किमिति—तव अन्तरे मध्ये किं अतिविपिनं महदरण्यमस्ति, वा अथवा नद्यस्ति, उत् अथवा गिरिदुर्गमस्ति, वा अथवा किं योषितः[1] सन्ति, यत् यस्मात् कारणाद् अनवरतचिन्तया निरन्तरचिन्तनेन त्वं खिन्नः दुर्बलः असि, ननु अहो तथा च सति एवं च सति पूर्वोक्तप्रकारे सतीत्यर्थः, किं नु वल्लभत्वं वाल्लभ्यम्। अथ प्रकारान्तरेण व्याक्रियते—चकारो नियमार्थो गम्यते, तेनायमर्थः—तथा सत्येव हे वल्लभ ! त्वं किं नु अपि तु त्वमेवास्माकं वल्लभो भवसीत्यर्थः ॥२९॥

मधुरमभिहितो न भाषते मां न खलु भवानभिचुम्बितः प्रणिंस्ते ।
न च परिरभते कृतोपगूढः पटलिखितः स्विदपेक्षते न दृष्टः ॥३०॥

उपलम्भपुरःसरतया व्याक्रियते—मधुरमिति—भवान् त्वं मां न भाषते न ब्रूते, कथंभूतः सन् ? अभिहितः संभाषितः, कथं यथा भवति ? मधुरं कर्णकुहराह्लादि तथा न प्रणिंस्ते न चुम्बति, कोऽसौ ? भवान्, काम् ? माम्, कथम् ? खलु निश्चयेन, अथवा खलुशब्दो नियमार्थो गम्यते तेनायमर्थो नैव प्रणिंस्ते कथंभूतः सन् ? अभिचुम्बितः, तथा न परिरभते नालिङ्गति। कोऽसौ ? भवान्, काम् ? माम्, कथंभूतः सन् ? कृतोपगूढः कृतालिङ्गनः, स्वित् अथवा नापेक्षते नाङ्गीकरोति, कोऽसौ ? भवान्, काम् ? माम्, कथंभूतः सन् ? दृष्टः अवलोकितः, पुनः कथंभूतः ? पटलिखितः वस्त्रचित्रित इत्यर्थः ॥३०॥

इति किमपि विकोपितास्तरुण्यः किल तरुणान्विनियम्य काञ्चिदाम्ना ।
कलवलयरवं विशीर्णसूत्रं कुसुमगुणैरवताडयांबभूवुः ॥३१॥

इतीति—किलशब्दोऽत्र वाक्यालंकारे वरीवर्ति। अवताडयांबभूवुः सामस्त्येन ताडितवत्यः, काः ? तरुण्यो युवतयः, कान् ? तरुणान् यूनः, कैः कृत्वा ? कुसुमगुणैः पुष्पसूत्ररज्जुभिः, किं कृत्वा ? पूर्वं विनियम्य विशेषेण नियंत्र्य, केन कृत्वा ? काञ्चिदाम्ना मेखलामालया, कथं यथा भवति ? कलवलयरवं पुनः विशीर्णसूत्रम्, कथंभूताः ? किमपि विकोपिताः विशेषेण कोपं प्रापिताः, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण ॥३१॥

कुपितमवचनं शिरःप्रणामः शपथमयः प्रणयः कृतोपचारः ।
इदमद इति गोचरो न वाचां प्रतिदयितं बहुकैतवं बभूव ॥३२॥

क्या तुम्हारे अथवा तुम्हारी प्रेमिकाके बीचमें कोई घना वन है ? अथवा कोई नदी बह रही है ? या कोई दुर्गम पहाड़ आ गया है ? जिसके कारण तुम अनवरत चिन्तित हो और खेद-खिन्न हो। वास्तवमें यदि ऐसा है तो बलिहारी आपकी वल्लभताकी ? ॥ २९ ॥

रसीली बातें करनेपर भी आप चुप हैं। तरह-तरहसे लगातार चुम्बन करनेपर भी आप मेरा चुम्बन नहीं करते हैं। गाढ़ आलिंगन करनेपर भी आप आलिंगनके लिए नहीं बढ़ते हैं। मेरी दृष्टि आपपर ही लगी है किन्तु आपकी दृष्टि मेरी ओर घूमती ही नहीं है। मानो–आप सामने नहीं हैं आपका चित्रपट मैं देख रही हूँ ॥ ३० ॥

इस प्रकारसे बहुत खिजाये जानेपर तरुणी कामिनियोंने अपने तरुण प्रेमियोंको करधनीरूपी शृंखलासे बाँध दिया था और फूल-मालाओंरूपी चाबुकोंसे तड़ातड़ मारना प्रारम्भ कर दिया था। फलस्वरूप तागा टूट जानेसे फूल बिखर गये थे और हाथकी चूड़ियों-की झनझनाहटसे वातावरण व्याप्त हो गया था ॥ ३१ ॥

---

१. षष्ठीकरणे अर्थसौष्ठवं भविष्यति—यथा हि 'तव योषितो वा अन्तरे महदरण्यमस्ति, अथवा नदी अस्ति, अथवा....' इत्यादि।

कुपितमिति—न बभूव न प्राप्नोति स्म, कोऽसौ ? गोचरः विषयः, किम् इदम्, अदः इति एतत्, कैतवम्, कथंभूतम् ? बहु बहुप्रकारम् असत्यव्यवहारम्, कथम् ? प्रतिदयितं दयितं दयितं प्रति, कासां गोचरः ? वाचाम्, वचनानां कृत्वा, गोचरः प्रदर्श्यते—तथा बभूव किं कर्तृ ? कुपितं कोपः, कथंभूतम् ? अवचनं वचनरहितम्, तथा बभूव, कोऽसौ ? शिरःप्रणामः, कथंभूतः ? शपथमयः मातृपित्रादिवधविधान-लक्षणाज्ञा शपथोऽभिधीयते, शपथेन निर्वृत्तः शपथमयः, तथा बभूव, कोसौ ? प्रणयः स्नेहः, कथंभूतः ? कृतोपचारः कृत उपचारो यत्र स तथोक्तः। अत्र कुपितादिकर्तृपदानां कैतवमिति सर्वत्र योज्यं कर्मेति ॥३२॥

इति वनमभितो विहृत्य खेदादगुरुचितायति साधुनीपयोगात् ।
समकररुचिरक्षतां हरीणां प्रियजनता रतये समुद्रवेलाम् ॥३३॥

इतीति—अगुः गतवत्यः, काः ? प्रियजनताः प्रियाश्च ता जनताः 'अडद्प्रियादौ स्त्रियां पुंवत्' [जै० सू० ४।३।१४६] इति अनेन सूत्रेण पुंवद्भावः। काम् ? समुद्रवेला पयोधिवेलाम्, कस्यै ? रतये क्रीडायै, केषां प्रियजनताः ? हरीणां सुग्रीवादीनां कपीन्द्राणाम्, कथंभूतां समुद्रवेलाम् ? समकररुचिरक्षतां मकरा जलचरविशेषाः रुचिराः मत्स्याः अभिधीयन्ते। उक्तं च—"रुचिरं कुसुमं प्रोक्तं रुचिरं रुधिरं तथा, रुचिरः शफरः प्रोक्तो रुचिरं पेशलं मतम्", इति जयाभिधाने दृष्टत्वात्, मकराश्च रुचिराश्च मकररुचिरा-स्तेषां क्षतेन सह वर्तत इति तां समकरमीनजनितगाहनामित्यर्थः, कस्मादगुः ? खेदात् श्रमात्, किं कृत्वा ? विहृत्य फलपुष्पपल्लवोच्चयार्थं पर्यट्य, किम् ? वनं कान्तारम्, कथम् ? अभितः सामस्त्येन, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, कथंभूतं वनम् उचितायति, उचिता योग्या आयतिर्दैर्घ्यं यस्य तत्—कस्मात् ? साधुनीपयोगात् साधवश्च ते नीपाश्च साधुनीपा फलकुसुमपल्लवैर्मनोहराः कदम्बा इत्यर्थः तेषां योगात्।

भारतीयः—अगात् गतवती, काऽसौ ? प्रियजनता, किम् ? धुनीपयः नदीजलम्, कस्यै ? रतये, केषां प्रियजनता ? हरीणां यादवानाम्, कथंभूता प्रियजनता ? समुद्रवा समुत् सानन्दो रवो यस्याः सा समुद्रवा, कस्मात् ? खेदात्, किं कृत्वा पूर्वं विहृत्य, किम् ? वनम्, कथम् ? इति उक्तप्रकारेण, कथंभूतं वनम् ? अगुरुचितायति अगुरुभिः वृक्षविशेषैश्चिता संभृता आयतिर्यस्य तत्, कथम् ? अभितः सामस्त्येन, कथंभूतानां हरीणाम् ? इलां भुवं रक्षतां प्रतिपालयताम्, कथं यथा भवति ? समकररुचि समः साधारणः "न्यूनान्यून-परित्यागात् साधारणसमो मतः" इति वचनात्, करः सिद्धायः, रुचिः प्रीतिः, समः करो यस्यां सा समकरा, समकरा रुचिर्यस्मिन् पृथ्वीपालनलक्षणे कर्मणि तद्यथा भवतीति ॥३३॥

कुपित होना और बोलना छोड़ देना, माता-पिताकी शपथ खाना और पैरोंमें माथा टेक देना, मनानेके लिए तरह-तरहसे प्रेमोपचार करना और प्रीति प्रकट करना इत्यादि भाँति-भाँतिके कपटपूर्ण व्यवहार प्रत्येक प्रेमिकाके साथ इतने किये गये थे कि उनको शब्दोंमें कहना कठिन है ॥ ३२ ॥

[साधुनीपयोगात् उचितायति वनं अभितो विहृत्य खेदात् हरीणां प्रियजनता रतये समकररुचिरक्षतां समुद्रवेलां अगुः] ऊँचे और सीधे कदम्ब वृक्षोंकी बहुलताके कारण विहारके लिए अत्यन्त उपयुक्त वनके कोने-कोनेमें घूमनेके बाद वानरों (सुग्रीव आदि)की प्रिय जनता थक गयी थी। फलतः मगरों और (रोहू) मछलियोंसे व्याप्त समुद्रके किनारे जलविहारके लिए जा पहुँची थी।

[अगुरुचितायति वनं अभितः विहृत्य खेदात् इलां रक्षतां हरीणां समकररुचिः प्रियजनता समुद्रवा रतये धुनीपयः अगात्] अगुरु चन्दन आदिके वृक्षोंकी सघनताके कारण विस्तृत वनमें उक्त प्रकारसे प्रेमलीला करती हुई यादवोंकी अनुरक्त जनता क्लान्त हो गयी

पयसि भयमवेत्य योषितां दयितजनोऽभवदग्रतः सरः ।
कुतपनियतविक्रमाः स्त्रियः क्व न विधुरे पुरुषः पुरःसरः ॥३४॥

पयसीति—दयितजनः भर्तृसमूहः योषिताम् तरुणीनाम् अग्रतः सरः अभवत्, किं कृत्वा ? पयसि वारिणि भयम् अवेत्य अवगम्य, युक्तमेतत्, स्त्रियः कुतपनियतविक्रमाः कुतपे नियतो विक्रमो यासां ताः तथोक्ताः उडुम्बरकनियमितचरणाः, क्व ? विधुरे भये, पुरुषः तासां स्त्रीणां पुरःसरो न भवेत् अपि तु सर्वस्मिन् भवेदेवेति ॥३४॥

प्रणिपतदिव वारि पादयोस्त्रसदवलग्नमिवापि जङ्घयोः ।
शिथिलयदिव लोलमंशुकं प्रिय इव चाटुमुपानयद् वधूः ॥३५॥

प्रणिपतदिति—वारि कर्तृ वधूः कामिनीः चाटु चाटुकारम् उपानयत् प्रापयत्, किं कुर्वदिव ? पादयोः प्रणिपतदिव, किं कुर्वदिव ? त्रसदिव उद्विजमानमिव बिभ्यदिवेत्यर्थः, कथंभूतं सत् ? जङ्घयोरपि अवलग्नं सक्तमिव पुनः अंशुकं वस्त्रं शिथिलयदिव, कथंभूतम् ? लोलं चञ्चलम्, क इवोपानयद् वधूः ? प्रिय इव वल्लभ इव, प्रियविशेषणानि पूर्वोक्तानि तुल्यार्थानि ॥३५॥

तुलितरसनमौपनीविकं वलिभमिवाम्बु बभूव नाभिगम् ।
त्रिवलिषु पुनरुक्तवीचिकं बहुभवमेत्य बलावसंगतः ॥३६॥

तुलितेति—अम्बु वारि तुलितरसनं तुलिता रसना येन तत्तथोक्तं बभूव संजातम्, रसना सर्वरत्नाङ्गी, उक्तं च—"रसना सर्वरत्नाङ्गी मेखला मुखसंयुता । एकयष्टिर्भवेत् काञ्ची करोति कटिसूत्रकमिति" ? कथं-भूतम् ? औपनीविकम् नीवी समीपे भवम् परिधानग्रन्थिसमीपस्थितम्, किमिवोत्प्रेक्षितम् ? वलिभमिव, वलिषु भवम्, वलिभम्, वलिसमुत्पन्नमिवेत्यर्थः, पुनः नाभिगम् नाभौ गतम्, तथा एति आगच्छति, किं कर्तृ ? अम्बु, किम् ? बहुभवं प्राचुर्यम्, कस्मात् ? अबलावसंगतः कामिनीसंयोगात्, कथंभूतं तत् ? पुनरुक्त-वीचिकं पुनरुक्ता वीचयो येन तत्तथोक्तं द्विगुणीकृततरङ्गकम्, कासु ? त्रिवलिषु वलित्रये, अत्र लुप्तोपमा बोध्या । यथा जनः अबलावसंगतः कामिनीसंयोगात् बहुभवं बहूनां भवानां समाहारो बहुभवं तत् प्रचुरजन्म एति गच्छति ॥३६॥

थी । आदर्श और एक समान करव्यवस्थाके कारण प्रसन्न, पृथ्वी-पालकोंकी यह जनता आनन्द-से कोलाहल करती हुई विश्राम और विनोदके लिए नदीकी धाराकी ओर बढ़ गयी थी ॥३३॥

जलमें संकट हो सकता है यह सोचकर ही प्रेमी अपनी-अपनी प्रेयसियोंके आगे-आगे पानीमें उतरते जा रहे थे । स्त्रियोंका साहस पानीमें उतरते ही पानी-पानी होने लगता है, तब कौन ऐसा पुरुष है जो प्रियाके भीत होते ही आगे न बढ़े ॥ ३४ ॥

पहले चरणोंमें पड़ते (पैर डुबाता) हुएके समान बादमें जांघों तक पहुँचकर (जांघ डुबाता) भी डरता हुआ (लहराता) सदृश और अन्तमें चंचल (लहराती) साड़ीको भी ढीला (लथपथ) करता हुआ समुद्र या नदीका पानी भी प्रेमियोंके समान प्रेमिकाओंका अनुरंजन कर रहा था ॥३५॥

नीवी (साड़ीकी गाँठ) तक पहुँचकर पानी करधनीके समान हो गया था । नाभि तक पहुँचकर उसने त्रिवलिके समान नायिकाको भूषित किया था और त्रिवलिसे मिलकर

---

१. "कुतपोऽस्त्रियां दौहित्रे वाद्ये छागजकम्बले । कुशे दिनस्याष्टमांशे ना सूर्ये कुतपो पुनः ।" मेदिनी । अतो 'कुतपे कुशे नियतो विक्रमो यासां ताः' व्याख्योचिततरा ।

अभिमुखमवलम्बितोऽम्बुना निचितकुचद्वयसंप्रियाजनः ।
स्तनजघनभरेण पीडितः स्फटिकमयीमिव भित्तिमाश्रितः ॥३७॥

अभीति—अम्बुना वारिणा कर्त्रा प्रियाजनः अवलम्बितः अभिमुखमिति क्रियाविशेषणमेतत् निचित-कुचद्वयसम् कुचौ परिमाणं कुचद्वयसम् "परिमाणे द्वयसद्घ्नण्मात्रट." [जै० सू० ३।४।१५९] इत्यनेन सूत्रेण द्वयसडिति प्रत्ययः, निचितं कुचद्वयसं यस्मिन् अवलम्बनलक्षणे कर्मणि तद्यथा भवति तथा, क इवोत्प्रेक्षितः ? आश्रित इव, काम् ? भित्तिम्, कथंभूताम् ? स्फटिकमयीं स्फटिकनिर्वृत्ताम्, कथंभूतः प्रियाजनः ? स्तन-जघनभरेण पीडितः ॥३७॥

परिचितमभिगम्य लीलया कुचभुजयोर्विशतान्तरं मिथः ।
परिषजदिव योषितो जलं चलवलिबाहुयुगेन निर्बभौ ॥३८॥

परिचितमिति—जलं निर्बभौ भाति स्म, किं कुर्वदिव ? अङ्गनाः कामिनीः परिषजदिव आलिङ्ग-दिव, केन कृत्वा ? चलवलिबाहुयुगेन तरङ्गभुजद्वन्द्वेन, कथम् ? मिथः परस्परम्, किं कुर्वता सता ? अन्तरं मध्यं विशता, कयोः ? कुचभुजयोः, कया ? लीलया अनायासेन, किं कृत्वा ? पूर्वमभिगम्य प्राप्य, कथंभूतम् अन्तरम् ? परिचितं संस्तुतमिति ॥३८॥

अधिजलमधिकुङ्कुमं बभौ करधृतमङ्गनया स्तनद्वयम् ।
कनककलशयुग्ममम्भसि स्मरमभिषेक्तुमिवावतारितम् ॥३९॥

अधीति—अङ्गनया कामिन्या करधृतं हस्तधृतं स्तनद्वयं कुचयुगं बभौ रेजे, कथंभूतम् ? अधिकुङ्कुमं प्रचुरकुङ्कुमचर्चितम्, क्व बभौ ? अधिजलं जलमध्ये, किमिव ? कनककलशयुग्ममिव शातकुम्भकुम्भद्वितय-मिव, कथंभूतम् ? कन्दर्पमभिषेक्तुम् । अम्भसि जले अवतारितम् ॥३९॥

करतलपिहितं प्रियाननं प्रियमृदुसिक्तविपक्तशीकरम् ।
मुकुलितमिव पद्ममुल्लसद्विरलतुषारजलं व्यराजत ॥४०॥

करेति—प्रियाननं भामिन्या मुखं व्यराजत, बभौ, कथंभूतम् ? करतलपिहितं हस्ततलप्रच्छादितं पुनः प्रियमृदुसिक्त-विपक्तशीकरं प्रियेण मृदु यथा भवति पूर्वं सिक्ताः पश्चाद् विपक्ताः लग्नाः शीकरा

पानीकी लहरें दुगुनी सदृश हो गयी थीं। इस प्रकार कामिनियोंके सम्पर्कसे पानीने भी अनेक भव (रूप) धारण किये थे ॥३६॥

पुष्ट एवं कठोर कुच-युगल-प्रमाण गहरा पानी जलक्रीड़ामें विभोर इन प्रेयसियोंके मुखके सामने आ गया था [मुखका भी चुम्बन कर रहा था]। और इस पानीमें डूबी नायिकाएँ ऐसी लगती थीं कि अपने स्तन और जंघाओंके भारसे पीड़ित होकर इन्होंने स्फटिकमणिकी भीतिका सहारा ले लिया है ॥३७॥

पूर्व-परिचितके समान रतिलीला करता हुआ पानी नायिकाओंको सब तरफसे आवेष्टित करके उनके स्तनों और बाहुलताओंके बीचमें भी घुस गया था। तथा चपल तरंगों रूपी भुजाओंके द्वारा उनका आलिंगन करते हुएके समान सुशोभित हो रहा था॥३८॥

पानीमें उतरती हुई नायिकाओंने अपने-अपने स्तनोंको कुंकुमसे रंगे हाथों-द्वारा सम्हाल लिया था। इस प्रकारसे सम्हाली गयी स्तनोंकी जोड़ीको देखकर लगता था कि ये स्तन नहीं हैं, अपितु कामदेवके अभिषेकके लिए पानीमें डुबाये गये कुंकुम-चर्चित दो सोनेके सुन्दर कलश ही हैं ॥३९॥

वारिकणा यस्मिन् तत्, किमिव ? मुकुलितं संकुचितं पद्ममिव, कथंभूतम् ? उल्लसद्विरलतुषारजलम् उल्लसद् विजृम्भमाणं विरलं हिमवारि यत्रेति ॥४०॥

निचितमलकमल्पमौक्तिकग्रथितमिवाम्बुकणैर्नतभ्रुवः।
नयनबहलपक्ष्म चारुचत् प्रणयजबाष्पविशङ्कितप्रियम् ॥४१॥

निचितमिति—अलकम् अरुचत्, जात्यपेक्षयैकवचनम्, आविष्टलिङ्गत्वान्नपुंसकलिङ्गं च केशपाश इत्यर्थः, कथंभूतम् ? अम्बुकणैः उदबिन्दुभिः निचितम् निभृतम्, कस्या अलकम् ? नतभ्रुवः नते भ्रुवौ यस्याः तस्याः, अत्र लज्जा व्यङ्ग्या, किमिवारुचत् ? अल्पमौक्तिकग्रथितमिव पुनः नयनबहलपक्ष्म-लोचनगोलकच्छदघनकेशः पुनः प्रणयजबाष्पविशङ्कितप्रियं प्रणयजेन बाष्पेण कृत्वा विशङ्कितः प्रियो येन तत् स्नेहोद्भवाश्रुविशङ्कितवल्लभमिति ॥४१॥

किमु विलुलितकुङ्कुमावलि किमधिकुचं नखरक्षतं नवम्।
विमतिरिति विपक्षसेचनेन च कुपितोऽकुपितोऽबलाजनः ॥४२॥

किमिति—चकारोऽत्र संभावनार्थो विभज्यते न तु समुच्चयार्थः, तेनायमर्थो लभ्यते, अकुपितोऽपि सन् अबलाजनः कुपितः, केन ? विपक्षसेचनेन सपत्नीजनोक्षणेन, कथंभूतः ? विमतिः विशङ्कितमनाः, कथम् ? इति कृत्वा दर्शयति, उ अहो किं विलुलितकुङ्कुमावलिः आघाततया प्रकटीभूता घुसृणरेखेयमित्यर्थः, कथम् ? अधिकुचं कुचयोरुपरि, अथवा नखरक्षतं नखक्षतम्, किंभूतम् ? नवं नूतनम् ॥४२॥

सपदि न तदवेयुषी वधूरधिदयितायतबाहु विप्लुता।
रमणसलिलयोः किमीयतः पुलकितमङ्गमिति प्रसङ्गतः ॥४३॥

सपदीति—न अवेयुषी न ज्ञातवती, का ? वधूः, किम् ? तत्, कथम् ? सपदि शीघ्रम्, कथम् ? इति प्रकटयते, पुलकितं रोमाञ्चितम्, किम् ? अङ्गम्, कस्मात् ? प्रसङ्गतः संबन्धात्, कयोः ? रमण-सलिलयोः भर्तृजलयोः, कथंभूतात् प्रसङ्गात् ? किमीयतः कस्यायं किमीयः तस्मात् कस्य संबन्धिनः, कथम् ? अधिदयितायतबाहु आयतौ च तौ बाहू च आयतबाहू दयितस्य आयतबाहू दयितायतबाहू दयितायतबाह्वो-रुपरि अधिदयितायतबाहु रमणस्योद्दण्डदोर्दण्डयोरुपरि विप्लुता ॥४३॥

वल्लभकी पानीकी बौछारसे बचनेके लिए वल्लभाने अपना मुख हाथोंसे ढक लिया था। तो भी प्रेमी-द्वारा धीरे-धीरे उछाले गये पानीकी कुछ बूँदे उसके मुखपर रह गयी थीं। फलतः उसका मुख क्वचित्-क्वचित्, ओसकी बूंदोंसे युक्त विकसित कमलकी कलीके समान कान्तिमान हो गया था ॥४०॥

जलक्रीडामें रत नायिकाके पलक झपके हुए थे। उसके गुँथे हुए सुन्दर जूड़ेपर पानीकी कुछ बूँदे रुक गयी थीं और इनके कारण वह ऐसा सुन्दर लगता था मानो थोड़े-से मोतियोंसे सजाया गया हो। आँखोंके घने पलकोंपर भी कुछ जलबिन्दु रुक गये थे। वे भी पतिपर हुई शंकाके कारण आँखोंमें छलक आये शोकके आँसुओंकी छटा दिखा रहे थे ॥४१॥

सपत्नीके द्वारा पानी डाले जानेपर प्रसन्नतासे जलक्रीड़ा करती हुई नायिकाएँ भी अप्रसन्न हो गयी थीं। और कह उठी थीं, मेरा कुंकुमका लेप क्यों पोंछ डाला ? और तुम्हारे कुचपर नया नखक्षत कहाँसे आ गया ? ॥४२॥

पतिने अपनी आजानु लम्बी भुजाओंपर पत्नीको पानीमें तैरा दिया था। इसके कारण नायिकाको तुरन्त रोमांच हो गया था। किन्तु वह मुग्धा यह न समझ सकी कि वह (रोमांच) पतिके स्पर्श और जलक्रीड़ामें-से किसके कारण हुआ था ॥४३॥

परिहृषितमुखं कुचद्वन्द्वं दधदधरोऽपि बभूव पाण्डुताम् ।
श्लथितमथ विलेपनाञ्जनं निधुवनमन्वहरज्जलप्लवः ॥४४॥

परीति—जलप्लवो जलक्रीडा निधुवनं स्त्रीपुंसयोः संयोगम् अन्वहरत् अनुचकार, तथा हि कृत्वा दर्शयति—कुचद्वयं स्तनयुगं परिहृषितमुखं रोमाञ्चकिताननं बभूव संजातम्, अपिशब्दः समुच्चये, अधरोऽपि पाण्डुतां दधत् बभूव संजातः ताम्बूलजनितरागविरहात् शुक्लोऽभवदित्यर्थः; अथ तथा विलेपनाञ्जनं विलेपनं च अञ्जनं च विलेपनाञ्जनम्, समाहारत्वादेकवचनम्, श्लथितं श्लथं बभूव । अत्र भावोऽप्युपन्यस्यते—जलप्लवपक्षे जलक्रीडनाधिक्यं व्यङ्ग्यम् । निधुवनपक्षे—परिहृषिततया कुचद्वये पाण्डुतया अधरे अञ्जनविरहाल्लोचने चुम्बनं विलेपनश्लथनाच्चालिङ्गनं व्यङ्ग्यम् ॥४४॥

जलपरिचयैरुत्सूत्रत्वं गतः परिघट्टितः
शिथिलितगुणो मुक्ताहारोऽप्यधोगतिमागतः ।
चटुलललनाकण्ठासक्तेष्वहो किमु संयमः
किमनशनतावासस्तेषां ध्रुवं विलयः पुनः ॥४५॥

जलेति—मुक्ताहारोऽपि अधोगतिम् आगतः, कथंभूतः ? शिथिलितगुणः श्लथसूत्रः, पुनः कथंभूतः ? उत्सूत्रत्वं दवरकाभावं गतः प्राप्तः पुनः जलपरिचयैः जलानुशीलनैः परिघट्टितः विलुलितः, युक्तमेतत्, अहो चटुलललनाकण्ठासक्तेषु चपलललनागलालिङ्गनरसिकेषु किमु संयमो नियन्त्रणं स्यात् अपि तु न संभाव्यते किम् ? अनशनतावासः, नश्यते नशनम्, नशनस्य भावो नशनता, नशनतायाः [1]वासः, नशनतावासः, न नशनतावासः अनशनतावासः अनशनतागन्ध[2]:, अपि तु न भवेदेव, ध्रुवं निश्चयेन तेषां चटुलललनाकण्ठासक्तानां पुनर्विलय एव स्यात्—"यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित्," इत्यलंकारपरिभाषया लोकोक्तौ जडपरिचयस्य प्रभावो विभाव्यते, मुक्ताहारोऽपि मुक्तः आहारो येन स तथोक्तोऽपि तपस्व्यपि अधोगतिम् आगतः, कथंभूतः ? शिथिलितगुणः गलितज्ञानाभ्यासः पुनः उत्सूत्रत्वं शास्त्राभावं गतः, पुनः परिघट्टितः स्वच्छवासनावासितः, कैः ? जडपरिचयैः जडा अज्ञाततत्त्वास्तेषां परिचयाः संसर्गास्तैः, युक्तमेतत्, अहो चटुलललनाकण्ठासक्तेषु पुंसु किमु संयमः आजन्मव्रतपरिग्रहः, अपि तु न, निरर्थक एव स्यात्, तथा किमनशनतावासः,अशनता भृष्टाहारता वासो वस्त्रम् अशनता च वासश्च अशनतावासः अत्र समाहारापेक्षयैकवचनम्, न अशनतावासः अनशनतावासः अपि तु अशनवासपरित्यागोऽनर्थक एव स्यात्, ध्रुवं परमार्थतः तेषां पुंसां पुनर्विलयः संसारसंसरणं स्यात् इति[3] ॥४५॥

जलक्रीड़ाने सुरत-लीलाका अनुकरण किया था । क्योंकि कुच-कलशोंके मुख विकसित हो गये थे, दोनों ओठ सफेद पड़ गये थे, शरीरपर मला गया शालिचूर्णका लेप धुल (पुँछ) गया था तथा आँखोंका अंजन आदि भी फीके हो गये थे ॥४४॥

बहुत समय तक पानीमें पड़े रहनेके कारण उलझी मोतियोंकी मालाका तागा शरीर और जलकी रगड़में पड़कर ढीला पड़ गया था और नीचेको लटक गया था । चंचल ललनाओंकी ग्रीवामें पहने गये गहनोंको ठीकसे बँधा रखा जा सकता है ? या उनमें लेश मात्र अनश्वरता लायी जा सकती है ? चंचल कामिनियोंके गलेमें पड़ी वस्तुओंका टूटना-फूटना ही निश्चित है [श्लेषमें ड और ल का भेद नहीं होता । अतएव जलको 'जड' करनेपर—दुष्टोंकी संगतिके कारण शास्त्रविरुद्ध (उत्सूत्र) आचरणमें लीन, फलतः व्यसनोंकी चपेटमें आया और यम-नियम आदि गुणोंकी साधनामें शिथिल साधक भोजन

---

1. आवासः सुष्ठुतरः यतो हि चटुलललनाकण्ठासक्तानाम् कृते नाशस्यैव आवासः ।

2. लेश इति यावत् । 3. हरिणीवृत्तम् ।

कान्तोन्नतस्तननितम्बनिपीडनेन प्राप्तं प्रवक्तुमिव भोगमगादगाधम् ।
मध्येजलं तटजलं जलवृत्तयोऽल्पे धावन्ति हि श्रियमुदीरयितुं महद्भ्यः ॥४६॥

कान्तेति—अगात् गतम्, किम् ? तटजलम्, कथम् ? मध्येजलं किं कर्तुम् इव ? प्रवक्तुमिव निवेदयितुमिव, कम् ? भोगम्, कथंभूतम् ? प्राप्तमनुशीलितम्, केन ? कान्तोन्नतस्तननितम्बनिपीडनेन, पुनः कथंभूतम् ? अगाधं प्रचुरम्, युक्तमेतत्, हि स्फुटं जलवृत्तयः जलस्येव वृत्तिर्येषां ते तथोक्ताः श्रियम् उदीरयितुं धावन्ति, केभ्यः ? महद्भ्यः सत्पुरुषेभ्यः कथंभूताः ? अल्पे तुच्छाः, अथ च जलवृत्तयः जडानामिव वृत्तिर्येषां ते तथोक्ताः अथवा जडा वृत्तिर्येषां ते तथोक्ताः[1] ? ॥४६॥

मध्यस्थवृत्तमपि वञ्चति नन्वगाधं लोको दुरन्तमपि गच्छति गाहनीयम् ।
यद्गुल्फजानुजघनस्तनदघ्नमेव स्त्रैणं समागममयान्न पयो गभीरम् ॥४७॥

मध्यस्थेति—ननु अहो वञ्चति जहाति, कोऽसौ ? लोकः, किम् ? मध्यस्थवृत्तं मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थं मध्यस्थं च तद्वृत्तं च मध्यस्थवृत्तम् अथवा मध्यस्थानां वृत्तं मध्यस्थवृत्तम्, कथंभूतमपि ? अगाधमपि, तथा गच्छति, किम् ? गाहनीयं वृत्तम्, कथंभूतमपि ? दुरन्तमपि दुष्टमन्तं तटं यस्य तत्, अथवा दुष्टस्वरूपमपि, यद्यस्मात् कारणात् नायात् न याति स्म, किं कर्तृ ? पयः, कम् ? समागमम्, कथंभूतं पयः ? गभीरमतलस्पर्शि, तर्हि कथंभूतमेवायात् ? गुल्फजानुजघनस्तनदघ्नमेव गुल्फजानुजघनस्तनाः परिमाणं यस्य तत्तथोक्तम्, कथंभूतं समागमम् ? स्त्रैणं स्त्रीणामयं स्त्रैणः तम्[2] ॥४७॥

स्रस्ताः स्रजः शिथिलितानि विलेपनानि संदर्शितानि च विपक्षनखक्षतानि ।
इत्यात्मदोषचकिता इव वेपमाना वेलावधूभिरभवत् क्षणदृष्टनष्टाः ॥४८॥

छोड़े रहनेपर भी गिर जाता है। चपल कामिनियोंके आकण्ठ श्लेषके लिए आतुर लोगोंसे कभी संयम पाला गया है ? उनके अनशन और वस्त्रत्याग (दिगम्बरत्व)से भी क्या होना है ? इनका तो विनाश ही अटल भविष्य है] ॥४५॥

सुन्दरियोंके उन्नत स्तन और नितम्बोंसे टकराते-टकराते किनारेके पानीमें भँवरें (भोग) उठने लगी थीं। इसे बतानेके लिए ही वह बीचके जलमें गहरे चला गया था। पानीमें पड़े थोड़े लोग (देव) क्या बहुतों (दैत्यों)से लक्ष्मीको उबारनेके लिए दौड़ते ही हैं [जड़ या चंचल स्वभावके छोटे लोग ही किनारे या बीचमें कामिनियोंके साथ की गयी जलक्रीड़ाके असीम आनन्दको बड़ोंसे कहनेके लिए या अपनी सम्पत्तिका प्रदर्शन करनेके लिए दौड़ते हैं] ॥४६॥

जलक्रीड़ामें लगे लोग बीचमें भरे वृत्ताकार गहरे पानीको छोड़ देते हैं और ऊबड़-खाबड़ होनेपर भी किनारेके पैठने योग्य कम पानीमें घुसते हैं इसीलिए पंजा, एड़ी, पिंडुली, जांघ, स्तन तक गहरे पानीको ही कामिनियोंका संपर्क प्राप्त हुआ था। गहरा पानी अछूता रहा था [लोक भी मध्यस्थ स्वभावके गंभीर व्यक्तियोंसे भागते हैं और अन्तमें धोखा देनेवाले चपल व्यक्तियोंका साथ करते हैं। स्त्रियोंके दास ही पैर, एड़ी आदि दबाते हैं। धीर गंभीर ऐसा नहीं करते हैं] ॥४७॥

---

१. वसन्ततिलकावृत्तम् ।

२. दृष्टान्तालंकारः—पृ० ८० ।

स्रस्ता इति—वेला जलकल्लोलाः अभवन् अजनिषत, कथंभूताः ? क्षणदृष्टनष्टाः क्षणं पूर्वं दृष्टाः पश्चान्नष्टाः क्षणदृष्टनष्टाः, काभिः ? वधूभिः मुग्धाङ्गनाभिः, किं कुर्वाणाः वेलाः ? वेपमानाः कम्पमानाः, किं विशिष्टा इवोत्प्रेक्षिताः ? आत्मदोषचकिता इव स्वकीयापराधभीता इव, कथम् ? इति कृत्वा दोषं दर्शयति, स्रस्ताः च्युताः स्रजो मालाः तथा विलेपनानि अङ्गरागाः शिथिलितानि तथा विपक्षनखक्षतानि सपत्नीकर-रुहव्रणानि संदर्शितानि ॥४८॥

तथा वेषं तेषां कुसुमरचितं कुङ्कुमचितं
दधानोदाराणां दिशि दिशि जनानां प्रियतमम् ।
चिरं चक्रे शङ्कामिव हृदि परासंगजननीं
नदीवाहो वेला त्वरितगतिरीशस्य सरिताम् ॥४९॥

तथेति—द्विः—तथा क्षणदृष्टनष्टभवनप्रकारेण अहो चक्रे कृतवती, का ? सरितामीशस्य समुद्रस्य वेला, काम् ? शङ्काम्, कथंभूतामिव ? परासंगजननीमिव परेषामासंगः परासंगः तं जनयतीति ताम् अन्येषामासंगस्य जनयित्रीमिव, क्व ? तेषां जनानां हृदि हृदये, कथम् ? चिरं बहुकालम्, कथंभूतानाम् ? उदाराणाम्, कथंभूता वेला ? त्वरितगतिः त्वरिता गतिर्यस्याः सा शीघ्रतरप्रवर्तना, क्व ? दिशि दिशि, केव ? नदीव किं कुर्वाणा ? वेषम् अलंकारं दधाना, कथंभूतम् ? कुसुमरचितं पुनः कुङ्कुमचितं पुनः प्रियतमं मनोहारि ।

भारतीयः पक्षः—नदीवाहो नदीपूरः चक्रे, काम् ? शङ्काम्, कथंभूतामिव ? परासंगजननीमिव, क्व ? दाराणां कलत्राणां हृदि, तथा जनानां लोकानाम्, कथम् ? चिरम्, कथंभूतो नदीवाहः ? त्वरितगतिः त्वरिता गतिर्यस्य सः, क्व ? दिशि दिशि, केव त्वरितगतिः ? सरिताम् ईशस्य वारिनिधेः वेलेव, कथंभूतः ? कुसुमरचितं पुनः कुङ्कुमचितं प्रियतमं वेषम् आकारं दधानो परन् अन्योन्यथा वेलानदीजलयो रमणरमणी-क्रीडाधिक्यात् कुसुमकुङ्कुममयत्वं प्रदर्शितमिति[1] ॥४९॥

पुष्पं प्रवालमखिलं स्ववनस्य कोपारसर्वस्वमाहृतमुपाहरतीव भूयः ।
भूपा विहृत्य पयसि द्रुतमित्यपेयुः के वान्यदुत्सुकधियोऽन्यधनं जयन्तः ॥५०॥

इति श्रीधनंजयकविविरचिते राघवपाण्डवीयापरनाम्नि द्विसन्धानमहाकाव्ये कुसुमावचय-जलक्रीडावर्णनं नाम पञ्चदशः सर्गः ।

टूटी मालाओं, पुंछे हुए अंगराग तथा साफ-साफ दिखते नखक्षत आदि अपने अनाचारोंके कारण भीत और कांपती हुई क्षण-भर सामने आकर छिपी दोषी नायिकाके समान समुद्र अथवा गंगाकी वेला (किनारा) को कुलीन बहुओंने देखा था [क्यों कि जल-क्रीड़ामें टूटी मालाएँ, विलेपन झरे पंखे आदि किनारे जा लगे थे और किनारेपर पक्षी आदिके पंजोंके ठप्पे बन रहे थे। और संध्या हो जानेके कारण क्षण-भर ही यह सब देखा जा सका था ॥४८॥

सब दिशाओंमें फूलोंसे सजे और ढके, कुंकुमके विलेपनसे सने और लोगोंको परम प्रिय किनारेकी चंचल शोभाने समुद्र या नदीके अनन्त पाट (आसंग)की मनमें शंका कर दी थी [पुष्पोंसे सजे, 'अंगराग युक्त और अत्यन्त मनोहारी वेशभूषाको देखकर, बड़ों-बड़ोंको भी परके प्रति अभिसारकी शंका हो ही जाती है] ॥४९॥

---

१. शिखरिणीवृत्तम् ।

पुष्पमिति—अपेयुरपसस्रुः अपसृतवन्तः, के ? भूपा नरेन्द्राः, कथम् ? तूर्णं शीघ्रम्, किं कृत्वा ? विहृत्य संक्रीड्य, क्व ? पयसि जले, कथम् ? इति उक्तप्रकारेण, किं कुर्वंतीव ? पयसि उपाहरन्तीवाददतीव, किम् ? पुष्पं प्रसूनं तथा प्रवालं कोमलपल्लवं कथम् ? भूयो मुहुर्मुहुर्वारंवारमिति यावत्, कथंभूतं द्वयम् ? अखिलं समस्तम्, पुनः कथंभूतम् ? सर्वस्वं पुनः भूपैः आहृतम् आनीतमिति संबन्धो बोद्धव्यः, कस्य ? स्ववनस्य आत्मकान्तारस्य, कस्मात् ? कोपात् रोषात् के वा विजिगीषवः स्युः अपि तु न केऽपि, कथंभूताः सन्तः ? अन्यदुत्सुकधियः अन्यस्मिन् उत्सुका धीर्येषां ते तथोक्ताः, किं कुर्वन्तः ? जयन्तः किम् ? अन्यधनमिति ॥५०॥

इति श्रीनिरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्र-पण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिका-चकोरेण नेमिचन्द्रेण कृतायां द्विसन्धानकवेर्धनंजयस्य राघवपाण्डवीयापरनाम्नः काव्यस्य पदकौमुदीनामदधानायां टीकायां कुसुमावचय-जलक्रीडाव्यावर्णनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

क्रोधमें आकर हरण किये गये वनके फूल, कोमल पत्र आदि समस्त सम्पत्तिको वापस करते हुएके समान इन सबसे युक्त जलराशिको छोड़कर राघव-पाण्डव राजा लोग जलक्रीड़ा करनेके उपरान्त त्वरासे पानीमें-से निकल आये थे। क्योंकि लक्ष्यके प्रति कृत-संकल्प विजयी पुरुष दूसरेकी सम्पत्तिपर दृष्टि नहीं डालते हैं ॥५०॥

निर्दोष विद्याभूषणभूषित, पण्डितमण्डलीपूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके प्रशिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाचातुरी-चन्द्रिकाचकोर नेमिचन्द्र-द्वारा विरचित कविधनंजयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धानकाव्यकी पदकौमुदी टीकामें कुसुमावचय-जलक्रीडावर्णन नामका पंचदश सर्ग समाप्त।

षोडशः सर्गः

ततः समीपे नवमस्य विष्णोः श्रुत्वा बलं संभ्रमदष्टमस्य ।
क्रुधा दशन्नोष्ठमरिं मनःस्थं गाढं जिघत्सन्निव संनिगृह्य ॥१॥

तत इति—द्विः । कुलकेन व्याख्यास्यामोऽधुना । ततो रामपाण्डवप्रयाणानन्तरं निरैयो निर्गतवान्, रावणः किं कुर्वन्निव ? जिघत्सन्निव ग्रसितुमिच्छुरिव कम् ? अरिं शत्रुम्, कथम्भूतम् ? मनःस्थम्, किं कृत्वा ? पूर्वं सन्निगृह्य निपीड्य, कथम् ? गाढमत्यर्थम्, किं कुर्वन् ? क्रुधा कोपेन ओष्ठं दशन् खादन् पुनः किं कृत्वा निरैयः ? अष्टमस्य अष्टानां सङ्ख्यापूरणोऽष्टमः तस्याष्टमस्य विष्णोर्लक्ष्मणस्येत्यर्थः, बलं सैन्यं श्रुत्वा आकर्ण्य कथम्भूतस्य ? नवमस्य नवा नूतना मा लक्ष्मीर्यस्य तस्य अथवा अस्य विष्णोः बलं किं विशिष्टम् ? नवम् अपूर्वम् किं कुर्वत् ? संभ्रमत् पर्यटत्, क्व ? समीपे निकटे । अथ भारतीयः—सोऽयं जरासन्धो राजा निरैयो निरगमत्, किं कृत्वा ? अस्य विष्णोर्नारायणस्य बलं श्रुत्वा, कथम्भूतस्य ? नवमस्य नवानां सङ्ख्यापूरणो नवमः तस्य, क्व ? समीपे कथम्भूतम् ? सम्भ्रमदष्टं संभ्रमग्रस्तम्, शेषं प्राग्वत् ॥१॥

तद्दंशभीताधररागसङ्गादिवारुणाक्षस्तदुपाश्रयेण ।
पिङ्गयोर्भ्रुवोरुद्गतधूमराजिर्नभ्रादिवेन्द्रायुधमध्यकेतुः ॥२॥

तद्दंशेति—कथम्भूतो रावणः ? अरुणाक्षः अरुणे अक्षिणी यस्य स तथोक्तः कस्मादिव ? तद्दंशभीताधररागसंगादिव तस्य रावणस्य दंशस्तद्दंशस्तद्दंशभीतश्चासावधरश्च तद्दंशभीताधरस्तस्य यो रागस्तस्य संगात् संबन्धादिव, पुनः कथम्भूतः ? उद्गतधूमराजिः उद्गता धूमराजिर्यस्य सः समुत्पन्नधूमश्रेणिः, कयोर्मध्ये ? पिङ्गयोर्भ्रुवोः केन ? तदुपाश्रयेण तयोरक्ष्णोर्लोचनयोर्य उपाश्रयस्तेन क इव ? नभ्रादिव मेघ इव कथम्भूतो सभ्रात् ? इन्द्रायुधमध्यकेतुः इन्द्रायुधस्य मध्ये केतुर्यस्य सः ॥२॥

हस्तं कृपाणे हृदयं स्थिरत्वे दृष्टिं सपत्ने च समादधानः ।
सदात्मतन्त्रोऽप्युदितस्य मन्योरालुच्यमानाङ्ग इव स्यदेन ॥३॥

हस्तमिति—कथम्भूत इव ? मन्योः क्रोधस्य स्यदेन वेगेन आलुच्यमानाङ्ग इव आह्रियमाणशरीर इव, कथम्भूतस्य ? उदितस्य उत्पन्नस्य, कथम्भूतोऽपि ? आत्मतन्त्रोऽपि स्वायत्तोऽपि, कथम्भूतोऽपि ? सदात्मतन्त्रोऽपि सन्त आत्मतन्त्रा यस्य स तथोक्तः, कथम् ? सदा सर्वकालम्, किं कुर्वाणः ? कृपाणे खड्गे हस्तं करं समादधानः आरोपयन् तथा स्थिरत्वे स्थैर्ये हृदयं दृष्टिं सपत्ने शत्रौ च ॥३॥

समुद्र पार करनेके बाद लंकामें बढ़ती हुई आठवें विष्णु (लक्ष्मण) की नूतन सेनाके निकट आ पहुँचनेका समाचार सुनकर रावणने [गंगा पार करनेके बाद राजधानीके निकट पहुँची और भयके साथ देखी गयी नौवें विष्णु (श्रीकृष्ण) की सेनाका सन्देश मिलते ही जरासन्धने] क्रोधसे ओठ चबा लिये थे । मानो मनमें बैठे शत्रु राम या कृष्णको जोरसे ओठोंमें बन्द करके मार डालना चाहता था ॥ १ ॥

रावण अथवा जरासन्ध, 'कहीं मुझे चबा न जाये', इस भयसे ओठोंकी लाली आँखोंमें पहुँच गयी थी । क्रोधसे जलती आँखोंके निकट होनेके कारण भृकुटियाँ धूम्ररेखाके समान तन गयी थीं । तथा नेत्रोंकी झाँकी बिना बादलोंके चमकती बिजलीमें धूम्रकेतुके समान लगती थी ॥ २ ॥

---

१. सर्गेऽस्मिन् उपजातिवृत्तम् ।

अलङ्घितव्योमगधार्यभूमिं प्रियामिवाशंसुरयं स राजा ।
चित्तेन लङ्कामवशात् प्रकोपव्याजं वहन्राजगृहान्निरैयः ॥४॥

अलङ्घितेति–सोऽयं राजा रावणः, कस्मात् ? राजगृहात् राजमन्दिरात्, किं कुर्वन् ? वहन् धरन्, कम् ? प्रकोपव्याजं प्रकोपाक्षेपम्, कस्मात् ? अवशात् पारतन्त्र्यात्, कथम्भूतः ? आशंसुः प्रशंसन्, काम् ? लङ्काम्, केन ? चित्तेन, कामिव ? प्रियामिव, कथम्भूतां लङ्काम् ? अलङ्घितव्योमगधार्यभूमिं व्योम गच्छन्तीति व्योमगाः विद्याधराः अलङ्घिताश्च ते व्योमगाश्च अलङ्घितव्योमगाः अलङ्घितव्योमगैर्धार्या भूमिर्यस्यास्ताम्, अजेयैः खेचरैर्ध्रियमाणावनिमित्यर्थः । हे मगधार्य, मगधाः क्षत्रियाः अर्यः स्वामी मगधानामर्यः अथवा मगधो देशस्तस्यार्यः तस्य सम्बोधनं क्रियते हे मगधार्य श्रेणिक ? सोऽयं राजा जरासन्धो निरैयः कस्मात् ? राजगृहात् राजगृहनगरात् किं कुर्वन् ? वहन् किम् ? अवलमग्निम्, कथम्भूतम्, प्रकोपव्याजं क्रोधरूपम्, केन ? चित्तेन, कथम्भूतः ? आशंसुः, काम् ? प्रियाम्, कामिव भूमिमिव कथम्भूतो जरासन्धः ? अलङ्घितव्यः अजय्य इत्यर्थः ॥४॥

समागधैर्योऽनुगतः सहायैरक्षोदवैराकुलिताखिलाशः ।
रणाजिरं विश्वजगद्विनाशं यमः स्वयं कर्तुमिवावतीर्णः ॥५॥

समागधैरिति—अवतीर्णो रावणः, किं कर्तुमिव ? रणाजिरं कर्तुमिव विधातुमिव, कथम्भूतम् ? विश्वजगद्विनाशं विश्वानि च तानि जगन्ति तेषां विनाशो यत्र तत्, कथम्भूतः ? यमः कालप्रायः, कथम् ? स्वयमात्मना, पुनः कथम्भूतः ? समागधैर्यः मां लक्ष्मीं गच्छति प्राप्नोतीति मागं मागं च तद्धैर्यं च मागधैर्यं सह मागधैर्येण वर्तते इति समागधैर्यः पुनरपि कथम्भूतः ? अनुगतो युक्तः, कैः ? सहायैः मित्रैः, पुनः आकुलिताखिलाशः आकुलिता अखिला आशा येन स तथोक्तः व्यग्रीकृतसमस्तदिक्कः, कैः सहायैः ? रक्षोदवैः रक्षांस्येव दवाः रक्षोदवास्तैः राक्षसदावानलैरिति । भारतीयः पक्षः—स जरासन्धः स्वयमात्मना यमोऽवतीर्णः कथम्भूतः सन् ? अक्षोदवैराकुलिताखिलाशः क्षोदो विकारः न क्षोदो यस्य तदक्षोदम् अक्षोदं च तद्वैरं च अक्षोदवैरं तेनाकुलिता अखिलाशा येन तथोक्तः । अथवा अः नारायणः आत् क्षोदो यस्य तदक्षोदं वीराणां समूहो वैरं अक्षोदं च तद्वैरं च अक्षोदवैरं तेनाकुलिता अखिला आशाः समस्ता अभिलाषा यस्य सः योऽनुगतमागधैः मगधदेशोद्भूतैः क्षत्रियैः शेषं सुगमम् ॥५॥

रावण या जरासन्धका हाथ तलवारपर जा पहुँचा था, मनने स्थिरता या दृढ़ता पायी थी और आँखें शत्रुपर जमी हुई थीं। इस तरह वह आत्म-नियन्त्रणमें था, तो भी भभकते क्रोधके कारण अपने ही शरीरको नोचता-सा लगता था ॥ ३ ॥

ऐसे राजा रावणने लंकाको मन-ही-मन सराहना की थी क्योंकि यह आकाशगामी विद्याधरोंसे रक्षित थी—अथवा आकाश-गामियों-द्वारा शासित विद्याधर लोक भी इस लंकाकी महिमाको नहीं पा सकता था। किन्तु अपनी बेबशीको क्रोधके रूपमें प्रकट करता हुआ वह राजमहलसे चला था [ऐसे राजा जरासन्धने मागध आर्योंकी भूमि (मगध देश) की अन्तरंगसे वैसी सर्वांग प्रशंसा की थी जैसी कोई कामके वश होकर अपनी प्रियतमाकी करता है। तथा क्रोधाविष्ट होकर उसने राजगृहनगरीसे प्रयाण किया था] ॥ ४ ॥

धैर्यधारी लक्ष्मीकी प्राप्तिमें साधक (मा-ग) सहायक, रावणके पीछे चल रहे थे और राक्षसोंकी सेनारूपी दावानलने समस्त दिशाओंको संकटसे व्याप्त कर दिया था। लगता था कि रणभूमिके रूपमें अखिल विश्व और तीनों लोकोंको विनाशकी लीला-भूमि बनानेके लिए स्वयं यमराज ही स्वर्गसे उतर कर आया है [जरासन्धके पीछे अनुगत एवं सहायक

सङ्ग्रामरङ्गं शवनृत्यरम्यं सुराः समागच्छत पश्यतेति ।
निमन्त्रणायेव निकाय्यमेषामापूर्य तूर्यं विरुतं विचक्रे ॥६॥

सङ्ग्रामेति—तूर्यं विरुतं विचक्रे विशेषेण कृतवत्, किं कृत्वा ? पूर्वमेषां सुराणां निकाय्यं मन्दिरमापूर्य संस्कृत्य, कस्मादिव ? निमन्त्रणायेव, कथमिति कृत्वा दर्शयति हे सुराः हे देवाः समागच्छत पश्यत निरीक्षध्वं यूयम्, किम् ? संग्रामरङ्गम्, कथम्भूतम् ? शवनृत्यरम्यं प्रेतनर्तनपेशलम् ॥६॥

शुद्धं निसर्गेण कलङ्कबद्धमङ्गं म्रदीयः कठिनं मनः स्वम् ।
बहिस्तदन्तर्युधि कुर्वतीव भ्रेजे नृपाणां समितिः सवर्मा ॥७॥

शुद्धमिति—नृपाणां समितिः समूहः भ्रेजे बभौ, कथम्भूता ? सवर्मा सकवचा, किं कुर्वतीवोत्प्रेक्षिता ? बहिर्बाह्यं ससदङ्गमन्तर्मध्ये कुर्वतीव विदधतीव, कथम्भूतम् ? म्रदीयः मृदुतरम्, पुनरपि कथम्भूतम् ? शुद्धं निर्मलम्, केन ? निसर्गेण स्वभावेन, पुनरपि कथम्भूतम् ? स्वमात्मीयं तथा कुर्वतीव, किं तत् स्वम् ? मनः, कथम् ? बहिर्बाह्यम्, कथम्भूतं सत् ? अन्तः आन्तरम् अन्तर्गतमित्यर्थः, पुनः कथम्भूतम् ? कठिनं निष्ठुरम्, पुनरपि कथम्भूतम् ? कलङ्कबद्धं पापयुक्तम्, केन ? निसर्गेण स्वभावेन पुनरपि क्व कुर्वतीव ? युधि रणे ॥७॥

रथो वरूथस्य हयस्य वाजी गजः करेणोः पदिकः पदातेः ।
दुर्मन्त्रितं ध्यानमिवात्मबिम्बं स्वस्यैव संनद्धमिवाग्रतोऽभूत् ॥८॥

रथ इति—रथो वरूथस्याग्रतोऽभूद् बभूव, वाजी हयस्याग्रतोऽभूत्, गजः करेणोः हस्तिनोऽग्रतोऽभूत् तथा पदिकः पदातेरग्रतोऽभूत्, रथादिसर्वं किमिवोत्प्रेक्षितम् ? दुष्टो मन्त्रः स जातोऽस्येति दुर्मन्त्रितं ध्यानमिव तथात्मबिम्बमिव सन्नद्धं स्वस्यैवाग्रतोऽभूदित्युत्प्रेक्षितं चेति ॥८॥

राज्ञां सरेणुः कलुषस्वभावो रोषोद्गतश्वास इवाशु मूर्तः ।
सेने निषेधन्निव मध्यमापत्प्रायः क्षतं नेच्छति पांशुलोऽपि ॥९॥

राज्ञामिति—सरेणुः सारक्षतं रजः मध्यम् आपत् । किं कुर्वन्निव ? सेने ध्वजिन्यौ निषेधन्निव वारयन्निव, कथम् ? आशु शीघ्रम्, क इवोत्प्रेक्षितो ? राज्ञां नरेन्द्राणां मूर्तः कलुषस्वभावो रोषोद्गतः श्वास इवेति, सुगमम्, युक्तमेतत्, प्रायो बाहुल्येन पांशुलोऽपि क्षतं नेच्छतीति विशेषः ॥९॥

मागध राजन्य चल रहे थे और विकारसे परे, श्री विष्णु कृष्णके वैरके कारण उसकी सब आशाएँ धुंधली हो गयी थीं तो भी विश्व और तीनों लोकोंको प्रलय पूरमें झोंकनेको उद्यत कालके समान जरासन्ध पाण्डव सेनाकी ओर बढ़ा जा रहा था] ॥ ५ ॥

रणकी तुरईका तार-गम्भीर आराव देवलोकमें भी व्याप्त हो गया था । मानो यह उन्हें निमन्त्रण दे रहा था—'हे देवताओ' आओ । और नाचते हुए योद्धाओं, धड़ों और शिरोंके कारण कुतूहलपूर्वक देखने योग्य इस युद्धरूपी संहार नाटकको देखो' ॥ ६ ॥

कवच धारण करके युद्धमें उतरे युयुत्सु राजाओंकी लम्बी-लम्बी कतारें देखनेपर लगता था कि स्वभावसे ही शुद्ध और कोमल अपने अन्तस्तल और शरीरको कवचके बहाने बाहरसे कठोर और मलिन दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं ॥ ७ ॥

रथके आगे रथ जा रहा था, वाजीके आगे हय बढ़ा जा रहा था, हथिनीको पिछाड़कर हाथी चल रहा था और पदाति पदातिसे आगे निकलनेका प्रयत्न कर रहा था । इस प्रकार समस्त सेना उस कुध्यानके समान थी जिसमें खोटे मन्त्रका जाप होनेसे [इष्ट देवताका साक्षात्कार न होकर] अपना ही समग्र प्रतिबिम्ब सामने आ जाता है ॥८॥

साक्षादलङ्घ्यो दिवसो नु सोऽयं सृष्टेरियत्तावधिरेव कश्चित् ।
आशाः समूहन्निव राजलोकः संनह्यति स्म प्रतिकेशवस्य ॥१०॥

साक्षादिति—नु अहो साक्षात् परमार्थतः सोऽयं कश्चित् कश्चन किमलङ्घ्यो दिवसः संहारदिवसः, किमेष इयत्तावधिः कस्याः ? सृष्टेरिति, किं कुर्वन्निव ? समूहन्निव, वितर्कयन्निव, काः ? आशा दिशः, स राजलोकः संनह्यति स्म सन्नहनं करोति स्म, कस्य ? प्रतिकेशवस्य प्रतिनारायणस्येति ॥१०॥

तमूर्जसारावणिमव्यपेतौ दुर्योधनं क्रोधपराक्रमौ तौ ।
दृष्ट्वा दधानं पुलकात्तमङ्गं रागेण भीत्याप्यभवद्ध्वजिन्योः ॥११॥

तमिति—अभवत् संजातम्, किम् अङ्गम्, कथम्भूतम् ? पुलकात्तं रोमाञ्चगृहीतम्, कयोः ? ध्वजिन्योः सेनयोः, केन ? रागेण प्रीत्या तथा भीत्या भयेनापि, किं कृत्वा ? पूर्वं दृष्ट्वाऽवलोक्य, कम् ? तं लोकप्रसिद्धं रावणिं रावणस्यापत्यं पुमान् रावणिः इन्द्रजित् तं तथोक्तम्, कथम्भूतम् ? दुर्योधनं योद्धुमशक्यम् किं कुर्वाणं सन्तम् ? दधानं धरन्तम्, कौ ? तौ लोकोत्तरौ क्रोधपराक्रमौ, कथम्भूतौ ? अव्यपेतौ अपरित्यक्तौ, केन ? ऊर्जसा बलेन । अत्र स्वसेनाया रागेण परसेनाया भीत्या पुलकात्तमङ्गमभूदिति भावः । भारतीयपक्षे—रागेण भीत्यापि ध्वजिन्योः पुलकात्तमङ्गमभूत्, किं कृत्वा ? पूर्वं दृष्ट्वा कम् ? तं लोकप्रसिद्धं दुर्योधनं तन्नामधेयं राजानम्, किं कुर्वाणम् ? अरौ शत्रौ तौ लोकोत्तरौ क्रोधपराक्रमौ दधानम्, कथम्भूतौ ? अणिमव्यपेतौ अणोर्भावः अणिमा तेन व्यपेतौ अणुत्वपरित्यक्तौ प्राचुर्ययुक्तावित्यर्थः ॥११॥

नमस्यया संप्रति कुम्भकर्णं बलिं नवं संयुगभूतकेभ्यः ।
प्रदातुमुद्यन्तमिवारिरूपं दुःशासनं वीक्ष्य जनश्चकम्पे ॥१२॥

नमस्ययेति—जनो लोकः संप्रति अधुना कुम्भकर्णं कुम्भकर्णनामानं रावणभ्रातरं वीक्ष्यावलोक्य, किं कुर्वाणमिवोत्प्रेक्षितम् ? संयुगभूतकेभ्यः संग्रामभूतसमूहेभ्यः बलिं प्रदातुमुद्यन्तमिव, कया ? नमस्यया नमसि तेन, कथम्भूतम् ? नवं नूतनम्, किं बलिं दातुम् ? अरिरूपम् अरीणां रूपम् अरिरूपं शत्रुशरीरम् अथवा अरय एव रूपं यस्य बलेः तमरिरूपं बलिम्, कथम्भूतं कुम्भकर्णम् ? दुःशासनं तीव्राज्ञम् । भारतीयः पक्षः—चकम्पे, कोऽसौ ? जनः, कथम् ? संप्रति, किं कृत्वा ? पूर्वं वीक्ष्य, कम् ? दुःशासनं दुःशासननामानं राजानं दुर्योधनानुजम्, कीदृशम् ? कुम्भकर्णं कुम्भको नाम हस्ती कुम्भकः ऋणं यस्य स कुम्भकर्णः तं कुम्भकर्णं कुम्भकस्य स्वामिनमित्यर्थः ॥१२॥

युद्धके लिए तत्पर राजाओंके दूषित मनकी अथवा क्रोधसे निकले श्वासकी मूर्तिके समान धूलिपुंज शीघ्र ही दोनों सेनाओंके बीचमें उमड़ आया था। मानो वह इन्हें लड़नेसे रोक रहा है, क्योंकि पापी (धूलिमय) भी बहुधा मार-काटको पसन्द नहीं करता है ॥९॥

'क्या यह वही दिन है जिसका जान-बूझकर भी अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है ? अथवा सृष्टि आज तक ही रहनी है' यह सोचकर प्रतिनारायण लक्ष्मण अथवा कृष्णके अनुयायी राजाओंका समूह कवच पहनकर तैयार होने लगा था ॥ १० ॥

निरर्थक न जानेवाले क्रोध तथा पराक्रमसे विभूषित और अपने बलके कारण भीषण युद्धकर्ता रावणके पुत्र (रावणि) इन्द्रजीतको देखकर दोनों सेनाओंकी देह प्रीति तथा भयके कारण रोमांचित हो उठी थी। [शत्रुपर (अरौ) पूर्णरूपसे तथा पूरी शक्तिके साथ बरसनेवाले क्रोध और पराक्रमके स्वामी उस राजा दुर्योधनको देख कौरव सेना प्रीतिसे तथा पाण्डव सेना आशंकाके कारण पुलकित हो उठी थी] ॥ ११ ॥

तब युद्धके समस्त देवताओंको नमस्कार करके शत्रुरूपी नूतन बलि चढ़ानेके लिए तैयार और नियन्त्रण करनेके लिए कठोर रावणके भाई कुम्भकर्णको देखकर लोग काँप

न कानि कुम्भासुरभावमाजौ दुर्मर्षणं दूरमभिद्रवन्तम् ।
रुषात्मशङ्कामगमन्निरीक्ष्य प्रजातमुच्चैर्भुवना नितान्तम् ॥१३॥

नेति—कानि भुवनानि आत्मशङ्कां नागमन् न गच्छन्ति स्म अपितु सर्वाणि भुवनानि आत्मशङ्कां जग्मुरिति भावः । कथम् ? उच्चैरतिशयेन, कथं यथा भवति तान्तं कष्टम्, किं कृत्वा ? पूर्वं निरीक्ष्य, कम् ? कुम्भासुरभावं कुम्भासुरो नाम रावणस्य मण्डलिकस्तस्य भावम्, किं कुर्वन्तम् ? अभिद्रवन्तं विजृम्भमाणम्, क्व ? आजौ संग्रामे, कथं यथा भवति ? दूरं विप्रकृष्टम्, कथम्भूतं कुम्भकर्णम् ? दुर्मर्षणं दुःसहं पुनः रुषा कोपेन प्रजातं समुत्पन्नं तथा, का प्रजा आत्मशङ्कां नागमत् अपितु सर्वेत्यर्थः, कथम् ? नितान्तम् अतिशयेन, किं कृत्वा ? पूर्वं निरीक्ष्यावलोक्य, कम् ? तं कुम्भासुरभावम्, कथम्भूतम् ? आतम् आ सामस्त्येन अतो ज्ञातं यस्य स आतस्तम् आतं सविवेकम् अत सातत्यगमन इत्यस्य धातोः प्रयोगेऽच्प्रत्ययान्तः "सर्वे गत्यर्थाः धातवो ज्ञानार्थे बोद्धव्याः" इति वचनात्, पुनः कथम्भूतम् ? दूरमभिद्रवं दुःखेन रमन्ते दूरमा दुर्विलासिनः पुरुषाः दूरमान् भिनत्तीति दूरमभित् दूरमभित् रवो यस्य स तं तथोक्तम्, कथम्भूतम् ? रुषा कोपेन दुर्मर्षणम् ? कथम्भूता प्रजा ? उच्चैर्भुवना उच्चैर्भुवनं यस्याः सा । भारतीयः पक्षः—कानि भुवनानि आत्मशङ्कां नागमन् अपि तु सर्वाणीत्यर्थः, कथं यथा भवति ? तान्तम्, कथम् ? उच्चैरतिशयेन, किं कृत्वा ? पूर्वं निरीक्ष्य, कम् ? दुर्मर्षणं दुर्मर्षणनामानं दुर्योधनस्य लघुभ्रातरम्, किं कुर्वन्तम् ? अभिद्रवन्तम्, काम् ? कुं पृथिवीम्, कया ? रुषा कोपेन कथं यथा भवति ? प्रजातं प्रजानामातो यस्मात् स प्रजातस्तं प्रजातं लोकानां सन्ततं पलायनं यस्मात् इत्यर्थः, कथं यथा भवति ? दूरं कथम्भूतम् ? आजौ युधि भासुरभावं दीप्तस्वरूपम् ॥१३॥

आकृष्टचापं द्रुतमुक्तबाणं कुलोचिताकर्णमसौ जयश्रीः ।
उत्काकुमारीचरणं विहाय भीतेव गन्तुं परवासमासीत् ॥१४॥

आकृष्टेति—जयश्रीः परवासं प्रोषितत्वं गन्तुं संजाता आसीत्, केवोत्प्रेक्षिता प्रोषितेव, किं कृत्वा ? पूर्वं विहाय परित्यज्य, किम् ? मारीचरणं रावणमातुलसङ्ग्रामम्, कथम्भूतम् ? आकृष्टचापम् आकर्षण-विषयीकृतधनुष्कम् कथं यथा भवति ? आकर्णं कर्णपर्यन्तं पुनः द्रुतमुक्तबाणं शीघ्रमुत्कलितशरम्, कथं यथा भवति ? उत्काकु काकुरभिप्रायसूचकं वचः उदिता काकुर्यत्र बाणमोचनकर्मणि तद्यथा, वेध्यनामपूर्वक-मित्यर्थः, कथम्भूता जयश्रीः ? कुलोचिता निजभुजप्रतापवह्निं प्रदीपयितुं शत्रूणां कुं पृथ्वीं लान्ति गृह्णन्तीति कुला वीराः, वीरभोग्या वसुन्धरेति श्रुतेः, तेषामुचिता योग्येत्यर्थः । भारतीयः—आसीत्, काऽसौ ? जयश्रीः किं विशिष्टा सती ? उत्का उत्सुका, किं कर्तुम् ? गन्तुम्, कम् ? परवासं परमन्दिरम्, केव ? भीतेव किं

उठे थे [··········कुम्भक नामके हाथीपर सवार (कुम्भक-ऋदर्श) दुर्योधनके भाई दुःशासनको सामने देखकर·········] ॥ १२ ॥

अन्वय–उच्चर्भुवना का प्रजा नितान्तमातं दूरमभिद्रवं, रुषा दुर्मर्षणं तं निकुम्भासुर-भावं निरीक्ष्य आत्मशंकां नागमत् ।

निकुम्भासुरकी सर्व साधारणमें ख्यात और अत्यन्त दूर प्रदेशमें क्रीड़ा करते लोगोंको भी डरानेवाली गर्जना को सुनकर तथा क्रोधके कारण असह्यरूपसे तीव्र निर्दय प्रवृत्तिको देखकर किस समृद्ध देशकी जनता ऐसी थी जो अपने भविष्यकी चिन्तामें न पड़ गयी हो ।

अन्वय—कानि भुवनानि उच्चैः तान्तं, कुं दूरमभिद्रवन्तं, रुषा प्रजातं आजौ भासुरभावं दुर्मर्षणं निरीक्ष्य आत्मशंकां नागमन् ।

दूर-दूर तक पृथ्वीको आक्रान्त करनेवाले क्रोधसे उद्दीप्त तथा युद्धमें ही अत्यन्त प्रसन्न एवं प्रभावक दुर्योधनके मनुज दुर्मर्षणको देखकर पृथ्वीके कौन-से ऐसे भाग थे ? जो अत्यन्त कड़ककर, अपने अनिष्टको कल्पनासे न काँप उठे थे ॥ १३ ॥

कृत्वा ? पूर्वं विहाय, कम् ? कर्णं कर्णनामधेयं नरेन्द्रं दुर्योधनगृह्यम्, कथम्भूतं सन्तम् ? कुमारीचरणं कुमार्याः सकाशात् चरणं प्रवर्त्तनं जन्म यस्य तम् "कन्या कुमारीति श्रुतेः, पुनः कथम्भूतम् ? आकृष्टचापं आकृष्टं चापं येन तम् पुनः द्रुतमुक्तबाणं द्रुतं मुक्ताः बाणा येन तम्, कथम्भूता जयश्रीः ? कुलोचिता वंशयोग्या, अत्रभावोऽप्युपन्यस्यते-कुलीना [हि] कामिनीव जयश्रीः स्ववंशलाञ्छनभीत्या लोकदूष्यं कन्या-पुत्रं विहाय सत्पुरुषमन्दिरं गन्तुमुत्कासीदिति सम्बन्धः । अथवा आकृष्टचापं द्रुतमुक्तबाणं कर्णनरेन्द्रं विहाय असौ खड्गविषये च कुमारीचरणं कन्याव्रतं च विहाय भीतेवोत्का जयश्रीः परवासं गन्तुमासीदिति शेषः ।।१४।।

कुर्वन्स्वरं हस्त उदारवृत्तिं स कं प्रहस्तः सहसा रणेन ।
दीप्रांशुकस्तत्र जयद्रथोऽयं रिपुं प्रकुप्यन्नवशं चकार ।।१५।।

(चतुरर्थकः)

कुर्वन्निति---सोऽयं हस्तः हस्तनामधेयो राजा कं रिपुं वशं न चकार, अपि तु सर्वम्; किं कुर्वन् ? स्वरं विदधत्, कथम्भूतम् ? उदारवृत्तिम्, किं कुर्वन् ? रणेन युद्धेन सहसा शीघ्रं प्रकुप्यन् सन्, कथम्भूतो हस्तः ? प्रहस्तः प्रकृष्टौ हस्तौ यस्य सः, आजानुप्रलम्बकर इत्यर्थः, पुनः दीप्रांशुकः उज्ज्वलवस्त्रः पुनः जयद्रथः जयन् रथो यस्य सः, क्व ? तत्र रणे, एकः पक्षः, तथा सोऽयं प्रहस्तः प्रहस्तनामधेयो राजा प्रकुप्यन् सन् कं रिपुं वशं न चकार, अपि तु सर्वम्, किं कुर्वन् ? सारणेन गमनेन सह सार्द्धम् उदारवृत्तिं कुर्वन्, कस्मात् ? स्वरंहस्तः आत्मवेगात्, कथम्भूतः प्रहस्तः ? दीप्रांशुकः पुनः जयद्रथः, क्व ? तत्र तस्यामुदारवृत्ताविति, द्वितीयः पक्षः, तथा सोऽयं शुकः शुकाभिधानो नरेन्द्रः कं रिपुं वशं न चकार अपि तु सर्वम्; किं कुर्वन् ? प्रकुप्यन्, क्व ? तत्र रिपौ, पुनः किं कुर्वन् काम् ? उदारवृत्तिम्, कथम्भूताम् ? दीप्रां तेजस्विनीम्, कस्मात् ? प्रहस्तः प्रहसनं प्रहः, क्विप् रूपम्, प्रकृष्टं हास्यमित्यर्थः; तस्मात् प्रहस्तः प्रहसनात्, कथम्भूतात् ? स्वरंहस्तः स्वं द्रव्यम् रंहो वेगः, स्वस्य रंहो यस्मिन्स्तत्तथोक्तं तस्मात्, कथम्भूतः ? जयद्रथः, इति तृतीयः पक्षः, अथ चतुर्थो भारतीयः—सोऽयं जयद्रथो जरासंधगृह्यो नरेन्द्रः प्रकुप्यन् सन् कं रिपुं वशं न चकार अपि तु सर्वमकरोदेवेत्यर्थः, कथम्भूतः ? दीप्रांशुकः दीप्राः अंशवः किरणा यस्यासौ दीप्रांशुः सूर्यः कं तेजः, तदुक्तं "ब्रह्मात्मवाततेजस्सु कायस्वर्गशिरोजले । सुखेऽर्थेषु क्षमस्वेव कः शब्दोऽप्यत्र वर्त्तते इति" दीप्रांशोरिव कं यस्य सः यस्य जयद्रथस्य हस्तो नोदार नोदयं प्राप्तवान् ? अपि तूदारैव, किं कुर्वन् ? कुर्वन् काम् ? वृत्तिं व्यापा-रम् केषु ? कं प्रहस्तः कं प्रहसन्तीति क्विप् कंप्रहसस्तेषु कंप्रहस्सु, कंप्रहस्स्वेकंप्रहस्तः "दृश्यतेऽन्यतोऽपि [जै. सू. ४।१।७९]" इति सूत्रनिर्दिष्टत्वात् तस्, वक्रोक्तितया हास्यं कुर्वाणेषु पुरुषेषु इत्यर्थः कस्मात् वृत्तिं कुर्वन् स्वरंहस्त स्वस्यात्मनो वेगः स्वरंहस्तः "कायास्तसै [जै. सू. ४।१।७३] इति सूत्रनिर्दिष्टत्वात् तस् कथम्भूतः ? सहसा सह युगपत् स्यतीति वित् (विच्) सहसा हिंस्रः क्व ? रणे, रणं विहायान्यत्र हिंस्रो न भवतीति भावः ।।१५।।

शत्रुको व्यंग्य-वचन कहते हुए शीघ्रतासे कान तक पूरे रूपसे खींचे गये धनुषसे बरसाये गये बाणोंसे व्याप्त मारीचके युद्धको छोड़कर, डरी हुई-सी विजय-लक्ष्मी पर (परमात्मा) श्रेष्ठ पुरुष रामके आश्रयमें चली गयी थी, क्योंकि लक्ष्मी पृथ्वी (कु) के विजेता (लाति) वीरोंकी ही भोग्य (उचित) है।

अन्वय---आकृष्टचापं, द्रुतमुक्तबाणं, कुमारीचरणं कर्णं विहाय असौ उत्का कुलोचिता जयश्रीः भीतेव परवासं गन्तुमासीत् ।

धनुषको पूरा खींचकर शीघ्रतासे बाण बरसानेमें निपुण और कुमारी कुन्तीसे उत्पन्न राजा कर्णको छोड़कर कुल मर्यादाकी प्राप्तिके लिए उत्कण्ठित जयश्री धर्मसन्तति पाण्डवोंकी ओर चल दी थी ॥ १४ ॥

उस युद्धमें रणके प्रसंगसे उच्च स्वरसे ललकारते, प्रखर रूपसे हाथोंको फटकारते और क्रोधसे उद्दीप्त आजानुबाहु राजा शुकने अकस्मात् ही किस शत्रुको वशमें नहीं कर

संरम्भिणाशान्तनवेन मुक्तः क्षोभेण भूरिश्रवसाम्बरेण ।
स्वयंभुवा वाग्गुरुणा न सोढः स सिंहनादः कृतवर्मणा च ॥१६॥

(पञ्चार्थकः)

पञ्चकृत्वः, संरम्भिणेति—स सिंहनादो न सोढः, कया ? भुवा भूम्या क्षोभेण कृत्वा यः सिंहनादो मुक्तः, केन ? संरम्भिणा मेघनादेन रावणपुत्रेण, कथम्भूतेन ? आशान्तनवेन आशान्ते दिगन्ते नवः स्तुतिर्यस्य स तथोक्तस्तेन सर्वदिक् प्रसिद्धेनेत्यर्थः पुनः कथम्भूतेन वरेण उत्तमेन, केषां मध्ये ? भूरिश्रवसां प्रचुरयशसाम्, कथं यथा भवति ? स्वयम् अयो भाग्यवद्धो विधिः शोभनोऽयो यस्मिन् कर्मणि तत्स्वयम् पुनः कथम्भूतेन ? वाग्गुरुणा वचनगरिष्ठेन पुनः कथम्भूतेन कृतवर्मणा विहितसन्नाहेन, इत्येकः पक्षः, तथा स सिंहनादो न सोढः, केन कर्त्रा ? भुवा न सोढः कथम् ? स्वयमात्मना क्षोभेण कृत्वा यः सिंहनादो भूरिश्रवसा भूरिश्रवोऽभिधानेन कुम्भकर्णपुत्रेण मुक्तः, कथम्भूतेन ? संरम्भिणा रभस्यवता पुनः कथम्भूतम् ? शान्तनवेन शान्तश्चासौ नवश्च शान्तनवस्तेन शान्तनवेन उपशमवता यौवनवता चेत्यर्थः, पुनः कथम्भूतेन ? आम्बरेण अम्बरगतिराम्बरस्तेन तथोक्तेन पुनरपि गुरुणा गरिष्ठेन पुनः कृतवर्मणेति शेषः । अथ भारतीयः—स्वयम् आत्मना अम्बरेणाकाशेन भुवा भूम्या च सिंहनादो न सोढः, क्षोभेण कृत्वा यः सिंहनादो मुक्तः, केन ? शान्तनवेन गाङ्गेयेन, कथम्भूतेन ? संरम्भिणा औत्सुक्यवता, पुनः कथम्भूतेति ? भूरिश्रवसा प्रचुरयशसा पुनः गुरुणा पुनः कृतवर्मणा, तृतीयः पक्षः, तथा स्वयम्भुवा ब्रह्मणा न स सिंहनादः सोढः यो वा क्षोभेण कृत्वा सिंहनादो मुक्तः, केन कर्त्रा ? गुरुणा द्रोणेनाचार्येण, कथम्भूतेन ? संरम्भिणा पुनः आशान्तनवेन सर्वदिक्प्रसिद्धेन पुनः भूरिश्रवसां वरेण प्रचुरयशसां श्रेष्ठेन पुनः कृतवर्मणा, चतुर्थः पक्षः, तथा स्वयम्भुवा अयोनिजेन गुरुणा बृहस्पतिनापि स सिंहनादो न सोढः यः क्षोभेण कृत्वा सिंहनादो मुक्तः, केन कर्त्रा ? कृतवर्मणा कृतवर्माभिधानेन नरेन्द्रेण, कथम्भूतेन ? संरम्भिणा कोपयुक्तेन पुनः शान्तनवेन शान्तेषु जितेन्द्रियेष्वेव पुरुषेषु नवः स्तवनं यस्य तेन शान्तैरपि स्तुतेनेत्यर्थः पुनः भूरिश्रवसां वरेणेति शेषः, पञ्चमः पक्षः ॥१६॥

लिया था ? क्योंकि उसका रथ जिधर जाता था उधर ही विजय होती थी ।

अन्वय—प्रहस्तः स्वरंहस्त उदारवृत्तिं कुर्वन्, दीप्रांशुकः, रणे स-हसा सोऽयं जयद्रथः प्रकुप्यन् कं रिपुं वशं न चकार ।

यद्यपि लोगोंके द्वारा हँसा गया था तथापि अपने वेगके साथ आगे-आगे बढ़कर उदार प्रकृतिका परिचय देता हुआ, प्रखरकिरण (सूर्य) के समान तेजस्वी और रणमें अकस्मात् ही संहारकर्ता, उस जयद्रथने कुपित होनेपर किस शत्रुको नहीं हरा दिया था ? ॥ १५ ॥

(प्रथम अर्थ) महान् यशस्वियोंके अग्रणी मेघनाद (संरम्भिन्) की सिंहगर्जनाको किसीने भी नहीं सहा था, क्योंकि इसकी कीर्ति दिशाओंके अन्त तक फैली थी, इसके मारे पृथ्वी काँपती थी, इसके वचनोंमें सार था, और उस समय वह कवच धारण करके युद्धके लिए सन्नद्ध था (द्वितीय अर्थ) अत्यन्त वेगवान्, प्रकृतिसे अशान्त और युवक, बातका हठी और युद्धवेशमें उपस्थित खेचर पुत्र भूरिश्रवाकी रोषसे निकली हुँकारको स्वयम् रामने भी नहीं सहा था ।

(तृतीय अर्थ) विश्वमें अत्यन्त विख्यात, वय तथा पदके कारण पितामह, कवचादिसे सुसज्जित तथा युद्धके प्रपंचमें प्रवीण भीष्म (शान्तनव) के द्वारा क्रोधावेगसे किये गये अनक्षरी युद्धघोषको पृथ्वी और आकाश भी स्वयं नहीं सम्हाल सके थे । (चतुर्थ)

---

१. 'अशान्तश्चासौ नवश्च अशान्तनवस्तेन अशान्तनवेन औद्धत्यवतेति ।

२. अवाक् अनक्षरः शब्दभेदरहित इति यावत् सिंहनाद अध्यवसेयः ।

रथानिमेऽन्ये च समं नरेन्द्राः प्रपूरिताशानथवाजियुक्तान् ।
आपूरयन्ति स्म मनोरथांश्च किं नोद्यतानामुपपद्यते च (वा) ॥१७॥

रथानिति—आपूरयन्ति स्म, के ? इमे अन्ये च नरेन्द्राः, कान् ? रथान्, कथम् ? समं युगपत् प्रपूरिताशान् प्रपूरिता आशा दिशो यैस्ते तथोक्तास्तान् पुनः वाजियुक्तान् वा अथवा आपूरयन्ति स्म नरेन्द्राः कान् ? मनोरथान् कथम्भूतान् ? प्रपूरिताशान् प्रपूरिता आशा वाञ्छा यैस्तान् पुनः आजियुक्तान् सङ्ग्राम-युक्तान्, युक्तमेतत्, वा अथवा उद्यतानाम् उद्यतवतां पुंसां किं नोपपद्यते किन्न जायते, अपि तु सर्वमप्युपपद्यते, इति शेषः ॥१७॥

स्वयं पराङ्गा(पुरा ना-)मयसीति भर्तुर्ज्या [1]स्त्रीर्नवोढेव पुरन्ध्रिवर्गैः ।
बलात्कृता राजभिरङ्कलग्ना वक्रस्य भूयो धनुषः खरस्य ॥१८॥

स्वयमिति—बलात्कृता दार्ढ्यं नीता, का कर्मतापन्ना ? ज्या मौर्वी, कथम् ? भूयः पुनः, कथमिति ? स्वयं पुरा नामयसि भर्तुरिति स्वामिनः स्वयमात्मना पुरा पूर्वं नम्रा भविष्यसि । कैर्बलात्कृता ? राजभिर्नरेन्द्रैः, कथम्भूता सती ? अङ्कलग्ना, कस्य ? धनुषः, कथम्भूतस्य ? वक्रस्य पुनः खरस्य निष्ठुरस्य, केव बलात्कृता ? नवोढा नूतनपरिणीता स्त्रीव, कैः ? पुरन्ध्रिवर्गैः प्रौढमहिलाजनैः, कथमिति ? स्वयं पुरा नामयसि भर्तुरिति शेषं सुगमम् ॥१८॥

जीवाभिघातं कृतधर्मपीडं न्याय्येषु मार्गेषु निषक्तचित्ताः ।
ते सत्यसन्धाः सुधियोऽपि चक्रुर्यो यादृशः कर्म च तस्य तादृक् ॥१९॥

जीवेति—न्याय्येषु मार्गेषु निषक्तचित्ताः ते सत्यसन्धाः सत्यप्रतिज्ञाः सुधियोऽपि सन्तः जीवाभिघातं कृतधर्मपीडमिति विशेषणं चक्रुरिति, विरोधं परिहरति—न्याय्येषु मार्गेषु न्याय्याश्च ते इषुमार्गाश्च न्याय्येषु-मार्गास्तेषु शराणां मार्गेषु दृष्टिमुष्टिसन्धानव्याजेषु दत्तचेतस्का इत्यर्थः, पुनः सत्यसन्धाः सत्यं सन्दधते बाणान्

युद्धके लिए तैयार, दिगन्त विख्यात, महान् यशस्वियोंमें श्रेष्ठ तथा कवचधारी द्रोणाचार्य (गुरु) के मुखसे निकली रोषके कारण अस्पष्ट सिंहगर्जनाको कृष्ण (स्वयम्) भगवान्-ने भी सहन नहीं किया था। (पंचमार्थ) अत्यन्त कुपित तथा उत्तेजित, यशस्वियोंके प्रमुख, शान्त पुरुषोंके द्वारा स्तुत कृतवर्माके मुखसे निकली हुंकारको स्वयम् भगवान् तथा बृहस्पति (गुरु) ने भी नहीं सहा था ॥ १६ ॥

घोड़ोंसे युक्त समस्त दिशाओंमें व्याप्त रथोंपर पूर्वोक्त राजा तथा और दूसरे राजा लोग भी एक साथ बैठ गये थे। मानो युद्धमें लीन इनके अभिलषित मनोरथ ही पूर्ण हो गये थे। ठीक ही है, पुरुषार्थी पुरुषोंके लिए क्या नहीं प्राप्त होता है ? ॥ १७ ॥

टेढ़े तथा तीक्ष्ण धनुषके ऊपर राजाओं-द्वारा चढ़ायी गयी डोरीको उनकी पत्नियोंने इसलिए खूब कसा तथा कड़ा किया था कि नव-विवाहिता स्त्रीके समान वह उनके पतियोंके शत्रुओंको स्वयं झुका देगी [प्रौढ़ स्त्रियोंके द्वारा विमुख और रुष्ट पतिके पास भेजी गयी तथा जबरदस्ती उसकी देहसे चिपटी नव-विवाहिता बहू भी बादमें पतिको सर्वथा झुका लेती है] ॥ १८ ॥

न्याय मार्गपर चलनेके लिए कृत-संकल्प और सच्चे प्रतिज्ञा पालक विवेकी पुरुषोंने भी धर्मकी विनाशक जीवहिंसा की थी [विरोधाभास है। परिहार] शस्त्रविद्या-सम्मत

---

1. स्त्री नवोढेव टीकासम्मतः पाठः। मूलपाठोऽपि ज्यापक्षे अन्वीः, नवोढापक्षे पदच्छेदेन योज्यः।

सत्यसन्धाः पुङ्खितोऽपि दक्षाः कार्मुकीं विहितचापकर्षणं यथा भवति जीवाभिघातं प्रत्यञ्चाविस्फारं चक्रुः कृतवन्तः, युक्तमेतत्, यो यादृशः तादृगेव तस्य कर्म जायते, चकारोऽत्रावधारणे योद्धव्योऽव्ययानाम-नेकार्थत्वात् ॥१९॥

उत्कर्ण्य मौर्वीनिनदं नृपाणां तनूलता कण्टकिताऽनुरागात् ।
उत्सेकतो वीररसैकसारादभूद्विरूढेव समं रिपूणाम् ॥२०॥

उत्कर्ण्येति—अनुरागादानन्दभरात् कण्टकिता सती तनूलता सममेव हेलयाऽभूत् संजाता, केषाम् ? नृपाणाम्, केव ? विरूढेव अङ्कुरितेव, कस्मात् ? उत्सेकतो गर्वात्, कथम्भूतात् ? वीररसैकसारात्, किं कृत्वा ? पूर्वं कण्टकिता तनूलता उत्कर्ण्य ऊर्ध्वकर्णं श्रुत्वा, कम् ? मौर्वीनिनदं ज्याध्वनितम्, केषाम् ? रिपूणामिति ॥२०॥

ज्याचक्ररुद्धं स्थितमङ्गमेव रवेरिवोच्चैः परिवेषभाजः ।
तेजो जगद्व्याप तु राजकस्य रोद्धुं परं ज्योतिरहो न शक्यम् ॥२१॥

ज्येति—स्थितमङ्गमेव, कथम्भूतम् ? ज्याचक्ररुद्धं मौर्वीमण्डलनियन्त्रितम्, कस्य ? राजकस्य नरेन्द्रसमूहस्य, कस्येव ? रवेरिव, यथोच्चैः परिवेषभाजो रवेरङ्गमेव स्थितं तु पुनर्व्याप व्याप्नोति स्म, किं कर्तृ ? तेजः, किं कर्म ? जगत् लोकम्, कस्य ? राजकस्य, कस्येव ? रवेरिव, यथा रवेस्तेजो जगद्व्याप्नोति, युक्तमेतत्, अहो परं निरुपमं ज्योतिः रोद्धुं न शक्यं स्यादिति शेषः ॥२१॥

घाताय कर्तुं द्विषतां प्रवीरैः शरोऽग्रमुक्तान्मनसो रथाच्च ।
प्रागभ्यमित्रोऽजनि पश्चिमोऽपि पश्चान्न शीघ्रः प्रथमोऽपि मन्दः ॥२२॥

घातायेति—अत्र चकारेण सम्भावनार्थो निवेद्यते। द्विषतां शत्रूणां घाताय कर्तुं प्रवीरैः सुभटैः रथात् मनसोऽप्यग्रमुक्तात् अभ्यमित्र्यः[1] शत्रुसम्मुखः सन् शरः प्राक् पूर्वोऽजनि, युक्तमेतत्, शीघ्रः पश्चिमोऽपि न पश्चात् स्यात् मन्दः प्रथमोऽपि न प्रथमः स्यात् इति शेषः ॥२२॥

शर संचालनकी विधि (न्याय्य-इषुमार्गेषु) में तल्लीन, तथा ठीक लक्ष्य (सन्ध) को साधते हुए सन्मति योद्धा धनुष (धर्म) को पूरा खींचते थे तथा ज्याको फटकारते थे। उचित ही है जो जैसा होता है उसका कर्म भी वैसा होता है ॥ १९ ॥

शत्रु राजाओंकी ज्याकी टंकारको सुनकर शुद्ध वीर रसका उद्रेक होनेसे सपक्षी राजाओंके इकहरे शरीर एकाएक वैसे ही रोमांचित हो उठे थे जिस प्रकार घन-गर्जनाके साथ-साथ वृष्टिके सेकसे बेलें अंकुरित हो उठती हैं ॥ २० ॥

योद्धा राजाओंका तना हुआ उत्तम शरीर डोरी रूपी धनुषके गोलेसे घिर गया था तथा उसका प्रताप सारे विश्वमें फैल गया था। अतएव वे परिवेशसे घिरे और संसारको प्रकाशित करते सूर्य-बिम्बके समान लगते थे। उचित ही है क्योंकि सर्वोपरि ज्योति या पराक्रमको कौन रोक सकता है ? ॥ २१ ॥

शत्रुओंपर प्रहार करनेके लिए महान् योद्धाओं-द्वारा छोड़ा गया बाण, अपनेसे पहले चले योद्धाके रथ और मनसे भी जल्दी शत्रुके सामने जा धमका था। उचित ही है बादमें चला वेगशाली भी पीछे नहीं रहता और पहले चला धीमा भी आगे नहीं जा पाता है ॥ २२ ॥

---

1. अभ्यमित्र्यः इति द प्रतौ पाठ उचितः ।

अन्योन्यमुत्पीडयतोः सखीव ज्याधन्वनोर्मध्यमनुप्रविश्य ।
निवारयन्तीव युगं विदूरं तदायतेषुः पृथगाचकर्ष ॥२३॥

अन्योन्यमिति—आचकर्ष आकृष्टवती, का ? इषुपङ्क्तिः, किम् ? तद् द्वितयं पृथक्, कथम्भूता सती ? आयता दीर्घा, किं कुर्वतीव ? निवारयन्तीव, किम् ? युगं युद्धम्, कथं यथा भवति तथा वि(दूरं)दूरतरम्, केव ? सखीव, किं कृत्वा ? अनुप्रविश्य, किम् ? मध्यम्, कयोः ? ज्याधन्वनोः मौर्वीचापयोः, किं कुर्वतोः ? उत्पीडयतोः कदर्थयतोः, कथम् ? अन्योन्यमितरेतरमिति ॥२३॥

परस्परं वेगितमाप्नुवन्तो न पेतुरुद्भिद्यशरा हयाश्च ।
तेऽन्योन्यसेनामुभयेऽप्यनाप्य स्वं श्लाघमाना इव तीक्ष्णभावम् ॥२४॥

परस्परमिति—ते उभयेऽपि द्वितयेऽपि शरा हयाश्च न पेतुः न पतिताः, किं कृत्वा ? पूर्वमनाप्याऽप्राप्य, काम् ? अन्योन्यसेनामितरेतरसैन्यम्, किं कृत्वा ? पूर्वमुद्भिद्य ऊर्ध्वं भित्त्वा, कथम् ? परस्परम्, किं कुर्वन्तः सन्तः ? आप्नुवन्तः, किम् ? वेगितम्, किं कुर्वन्त इव ? श्लाघमाना इव, कम् ? तीक्ष्णभावं स्वमात्मीयमिति शेषः ॥२४॥

इयत्तया वक्तुमहं न शक्तः स्यदान्निपूर्णां युधि ये गिरिभ्यः ।
स्थवीयसोऽप्याशु विभिद्य नागान्निबद्धकोपा इव रक्तरक्ताः ॥२५॥

इयत्तयेति—युधि सङ्ग्रामे, तेषामित्यध्याहार्यम्, इषूणां बाणानां स्यदात् वेगात् इयत्तया वक्तुं न शक्तोऽहम्, ये इषवो निबद्धकोपा इव रक्तरक्ताः रक्तेन रुधिरेण रक्ताः शोणिता इत्यर्थः, बभूवुः, किं कृत्वा ? पूर्वं विभिद्य विशेषेण भित्त्वा, कान् ? नागान् हस्तिनः, कथम् ? आशु शीघ्रम्, कथम्भूतान् ? गिरिभ्यः पर्वतेभ्यः स्थवीयसः स्थूलतरानपि ॥२५॥

आस्येषु जिह्वा हृदयेषु हस्तानंसेषु शूराः श्रवणान् पृषत्कैः ।
समस्तभन्पुष्करिणां पिशाचान् स्तम्भेषु कीलैरिव मन्त्रसिद्धाः ॥२६॥

आस्येष्विति—शूराः भटाः पृषत्कैः बाणैः पुष्करिणां हस्तिनाम् आस्येषु मुखेषु जिह्वाः समस्तभन् कीलयामासुः, तथा हृदयेषु हस्तान् शुण्डादण्डान्, तथा अंसेषु स्कन्धेषु श्रवणान्, क इव ? मन्त्रसिद्धा इव, यथा मन्त्रिणः पिशाचान् कीलैः स्तम्भेषु संस्तभ्नन्तीति शेषः ॥२६॥

एक-दूसरेको परस्परमें पीड़ा देते हुए धनुष और ज्याके बीचमें आये हितैषी मित्रके समान लम्बे-लम्बे बाण ऐसे लगते थे मानो उन दोनोंके संघर्षको दूर करनेके लिए ही उन्हें अलग-अलग खींचकर रोक रहे थे ॥ २३ ॥

अपनी-अपनी तीक्ष्णता और उग्रताकी प्रशंसा करते हुए और प्रतिक्षण वेगको बढ़ाते हुएके समान वे दोनों अर्थात् योद्धाओंके बाण तथा घोड़े पक्ष और विपक्षकी सेनाओं तक बिना पहुँचे परस्परमें ही टकराकर नहीं गिर गये थे ॥ २४ ॥

उन बाणोंकी तेजी या गतिको नहीं कहा जा सकता है, जो युद्ध-भूमिपर आये और पहाड़ोंसे भी विशालकाय हाथियोंको पलक मारनेके समयमें ही छेदकर निकल जाते थे । और रक्तसे ऐसे लाल हो जाते थे, मानो तीव्र क्रोधसे ही भभक रहे हैं ॥ २५ ॥

वीर योद्धाओंने अपनी बाण-वर्षाके द्वारा हथिनियोंकी जीभोंको मुखोंमें, शुण्डा दण्डको छातीपर और कानोंको कन्धोंपर उसी तरह टांक दिया था जिस प्रकार मन्त्रोंको जगानेवाले सिद्ध पुरुष कीलोंके द्वारा पिशाचोंको खम्भोंपर कीलित कर देते हैं ॥२६॥

निर्याणभागेष्विषुभिर्विभिन्नास्तैरङ्कुशाकर्षनिबद्धशङ्काः ।
परावृतन् दूरमिभा न भीताः स्मरन्ति शिक्षां विधुरेऽपि धीराः ॥२७॥

निर्याणेति—तैः शूरैः इषुभिः शरैः निर्याणभागेषु कुम्भस्थलप्रदेशेषु विभिन्ना इभा हस्तिनः दूरं यथा भवति तथा परावृतन् परावृत्ताः, कथम्भूताः सन्तः ? अंकुशाकर्षनिबद्धशङ्काः अङ्कुशैराकर्षणे निबद्धा शङ्का येषां ते, युक्तमेतत्, धीराः शूराः शिक्षां विद्योपादानं स्मरन्ति, क्व सत्यपि ? विधुरेऽपि कष्टेऽपि, न भीताः, त्रस्ताः पुरुषाः शिक्षां न स्मरन्तीति शेषः ॥२७॥

व्यद्धुं परानानतपूर्वकायाः स्कन्धान्तयोस्तैर्विनिखातबाणाः ।
योधाः सतूणद्वितया इवासन् बध्नात्यनर्थोऽपि कुतश्चिदर्थम् ॥२८॥

व्यद्धुमिति—योधाः धनुर्धराः तैः [1]विपक्षद्भिः स्कन्धान्तयोरंसान्तरालयोः विनिखातबाणाः विनिखाता निहिता बाणा येषां ते तथोक्ताः सन्तः सतूणद्वितया इव सबाणयुग्मा इव आसन् बभूवुः, कथम्भूताः ? परान् शत्रून् व्यद्धुं ताडयितुम् आनतपूर्वकायाः, युक्तमेतत्, कुतश्चित्पदार्थादनर्थोऽप्यर्थं बध्नातीति शेषः ॥२८॥

तेषां धनुर्मण्डलितं यशो न द्विषो धरित्र्यामपतन्न बाणाः ।
पृष्ठे निषङ्गः स्थितवान्न कश्चिन्ननाम देहो हृदयं ननाम ॥२९॥

तेषामिति—तेषां नरेन्द्राणां धनुः मण्डलितं कुटिलितं यशो न मण्डलितं सङ्कुचितमित्यर्थः, द्विषो धरित्र्याम् भूमौ अपतन् न बाणाः; वैरिणो मेदिन्यां पेतुः न तु शराः, पृष्ठे निषङ्गः बाणधिः स्थितवान् न कश्चित् शत्रुः, नाम अहो देहः कायः ननाम नम्रोऽभूत् न हृदयं ननामेति शेषः ॥२९॥

ततो यदूनां बलमप्यवस्थां गतं हतं तैः परिवर्तते स्म ।
स्थिरासिकापेयमधिष्ठितानां तद्वारियादोभिरिवाम्बुधीनाम् ॥३०॥

द्विः तत इति—ततो धीरवर्णनानन्तरं परिवर्तते स्म व्याघुटितम्, किम् ? तद्बलम्, केषाम् ? अधिष्ठितानाम् आश्रितानाम्, किं तत् ? कापेयं कपीनां भावः, कपिज्ञातेर्ढण् [जै० सू० ३.४।११७] कपित्वं वानराणामित्यर्थः, कथम्भूतं बलम् ? स्थिरासि स्थिरा असयो यत्र तत् तथोक्तम् यद्बलं गतम्, काम् ? ऊनां हीनाम् अपि अवस्थाम्, कथम्भूतम् ? तैः शत्रुभिर्हतं सत्, इव यथा अम्बुधीनां समुद्राणां यादोभिर्जलजन्तुभिर्हतं सत् ऊनाम् अवस्थां गतमपि वारि परिवर्तते इति शेषः ।

बाणोंकी मारके द्वारा गण्डस्थल फोड़ दिये जानेपर भी हाथियोंको अंकुशके खींचनेकी शंका हो जाती थी। फलतः डरे रहनेपर भी वे लौटकर दूर तक मार करते थे। उचित ही है, धीर व्यक्ति विपत्तिमें पड़ जानेपर भी क्या शिक्षाको याद नहीं करते हैं? अपितु करते ही हैं और डरते नहीं हैं ॥२७॥

शत्रुओंको छेदनेके लिए शरीरके ऊपरी भागको आगेकी ओर झुकाये हुए योद्धाओंके कन्धोंपर प्रतिपक्षी योद्धा बाण गाड़ देते थे। तब वे ऐसे लगते थे मानो दोनों कन्धोंपर तूणीर लटकाये हैं। ठीक ही है कभी-कभी बुराईसे भी भलाई हो जाती है ॥२८॥

वीर योद्धाओंके धनुष खिंचते-खिंचते गोल हो गये थे किन्तु यश ज्योंका त्यों था। उनके शत्रु पृथ्वीपर लेट गये थे पर एक भी बाणने धरती नहीं छुई थी। पीठपर केवल तूणीर ही चढ़ा था कोई दूसरा छू भी नहीं पाया था। और शरीर अवश्य झुकता था किन्तु मनने आत्मसमर्पण नहीं ही किया था ॥२९॥

दृढ़ताके साथ तलवार चलाती हुई (स्थिरासि), जमकर लड़ते हुए सेनानायकों-

---

१. शत्रुभिः –प० ।

भारतीयः पक्षः—तद् यदूनां यादवानां बलं परिवर्तते स्म, कथम्भूतानाम् ? अधिष्ठितानाम्, कथम्भूतं बलम् ? स्थिरासिकापेयं स्थिरमासितुं पर्यायः स्थिरासिका सा अपेया परित्याज्या यस्य तत् तथोक्तम् । शेषं प्राग्वत् ॥३०॥

तथा हरीणां कलहायमाना सेना मुखं दातुमपारयन्ती ।
मुधातिसुप्ता बहुवासराणि क्षणं न वेश्येव ययौ न तस्थौ ॥३१॥

द्विः तथेति—तथा तेनैव प्रकारेण हरीणां वानराणां सेना न ययौ न गता न च तस्थौ न स्थितवती, केव ? वेश्येव, कथम् ? क्षणं मुहूर्तमेकम्, कथं सती ? अतिसुप्ता अतिनिद्राणा गुरुत्रासवतीत्यर्थः, कानि ? बहुवासराणि प्रचुराणि दिनानि, कथम् ? मुधा एवमेव, कथम्भूता ? कलहायमाना कलहं कुर्वाणा पुनः मुखं दातुम् अपारयन्ती पराङ्मुखीभवन्ती ।

भारतीयः—हरीणां यादवानां सेना । शेषं प्राग्वत् ॥३१॥

तदाशशंसे रणभूमिरेषां प्राज्योचिताङ्गा पतिमात्तबाणा ।
परासुमज्जातिकृतावलेपा पतिंवराभ्यङ्गविधिं गतेव ॥३२॥

तदेति—तदा तस्मिन् काले रणभूमिः पतिं स्वामिनम् आशशंसे श्लाघते स्म, केषाम् ? एषां नरेन्द्राणाम्, कथम्भूता ? प्राज्योचिताङ्गा प्राज्यानि प्रचुराणि उचितानि योग्यानि अङ्गानि गजवाजिरथपदातिलक्षणानि यस्यां सा तथोक्ता, पुनः कथम्भूता ? आत्तबाणा गृहीतशराः, पुनः कथम्भूता ? परासुमज्जातिकृतावलेपा परासूनां शवानां मज्जा तया अतिकृतोऽवलेपोऽवलेपनं यस्याः सा, केव पतिमाशशंसे रणभूमिः ? पतिंवरेव विवाहोचिता कन्येव, कथम्भूता सती ? अभ्यङ्गविधिं मज्जनक्रियां गता, पुनः प्राज्योचिताङ्गा प्रकृष्टमाज्यं प्राज्यं प्रकृष्टं पूर्णं प्राज्यरोचितमङ्गं (प्राज्यानि पूर्णविकसितानि उचितानि आनुपातिकानि अङ्गानि) यस्याः सा, पुनः आत्तबाणा (पतित्वेन गृहीतकौमारहरः) पुनः परासुमज्जातिकृतावलेपा परा सम्पूर्णलक्षणलक्षिता (श्रेष्ठा) या असुमतां जातिः प्राणिजातिः, तस्यां कृतोऽवलेपो गर्वो यया सा तथोक्ता ॥३२॥

की वह वानरसेना यद्यपि संख्याकी दृष्टिसे कुछ हीन (ऊना) अवस्थाको प्राप्त हुई थी तथापि शत्रुओंके द्वारा आघात होते ही फिर वैसे ही टूट पड़ी थी जैसे जलचर जन्तुओंकी उछल-कूदके कारण समुद्रका पानी चंचल हो उठता है [एक स्थानपर ठहरने (स्थिरासिका) की प्रवृत्तिसे दूर (अपेयं) अर्थात् अत्यन्त उद्योगी दृढ़ अनुगामी राजाओंकी यादवसेना विशेष अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर भी शत्रुओंके द्वारा प्रहार होनेपर दूसरी ओरसे वैसे ही चढ़ बैठी थी जैसे जलचर···चंचल हो उठता है] ॥३०॥

इस प्रकारसे युद्धमें लीन वानरसेना अथवा यादवसेना (हरीणां सेना) शत्रुओंसे डटकर, सम्मुख-युद्ध करनेमें सफल हो सकी थी अर्थात् व्यूह-युद्ध कर रही थी। वेश्याके समान कई दिन तक न सो सकी थी और न क्षण-भरके लिए भी स्थिर ही रह सकी थी और न आगे बढ़ सकी थी (वेश्या भी जिससे कलह करती है, मुख छूने नहीं देती है, रातें जाग-जागकर बिता देती है और न भागती है और न क्षण-भर पास ही बैठती है) ॥३१॥

प्रचुर हस्ती, अश्व, रथ और पदाति सेनाके उपादेय अंगोंसे पूर्ण, बाणोंसे व्याप्त तथा मृत सैनिकोंकी चर्बीसे लिपी हुई फलतः विवाहके लिए उबटन लगाये वधूके समान रणभूमिने राजाओंके नायकोंकी प्रशंसा की थी [वधूके भी अंग पुष्ट, आनुपातिक रीतिसे पूर्ण विकसित तथा सुन्दर होते हैं। प्राणि-जगत्‌की श्रेष्ठ जाति (मनुष्य गति) को भी ऐसी सुन्दरीका तब गौरव होता है जब वह प्रेमीको पतिरूपसे स्वयं वरण करनेके लिए उबटन आदि लगाकर तैयार होती है] ॥३२॥

स्थिराक्षरान्तं युधिशब्दपूर्वं नामप्रसिद्धं भुवनं समस्तम् ।
यस्य स्तुतेऽद्यापि विनामयुक्तं क्रुद्धः सरामो हि गतिर्नयस्य ॥३३॥

द्धि: स्थिरेति—हि स्फुटं स रामो दाशरथिर्युधि सङ्ग्रामे क्रुद्धोऽपि सन् नयस्य नीतेर्गतिरासीत्, अद्यापि साम्प्रतमपि स्तुते स्तौति, किं कर्तृ ? भुवनम्, कथम्भूतम् ? समस्तम्, किम् ? नाम, कस्य ? यस्य रामस्य कथं [कथंभूतं प्रसिद्धं प्रकृष्टं सिद्धपरमेष्ठित्वं गतम्] यथा भवति ? विनामयुक्तं विनामो युक्तो यत्र स्तवनकर्मणि तद्यथा भवति प्रणामोऽभिक्रमित्यर्थः, कथं यथा भवति ? स्थिराक्षरान्तं न क्षरतीत्यक्षरो मोक्षः अन्तः अष्टगुणलक्षणो धर्मः अक्षरस्य अन्तः अक्षरान्तः, स्थिरोऽविचलः अक्षरान्तो यस्मात् स्तवनकर्मणस्तद्यथा भवति, कथं यथा भवति ? शब्दपूर्वम् शब्दो यशः, उक्तञ्च "शब्दः प्रपठ्यते सद्भिराविष्कारे गिरि ध्वनौ, यशस्येवाभिप्रायां शब्दशास्त्रविशारदै"—रिति शब्दः पूर्वो यस्मात् स्तवनकर्मणस्तद्यथा भवति । अत्र पूर्वं जगद्वाच्यस्थित्या नरेन्द्रनागेन्द्रविभूतिसुखसेवनानन्तरं पश्चात्तत्स्तवनान्मोक्षो भवितेति यथा मोक्षो भवतीति भावोऽप्युदन्यस्तः ।

भारतीयः पक्षः—यस्य शत्रोः स नरेन्द्रः क्रुद्धः एतस्य प्राणापहारं करोमीति हृदयेऽत्यन्ततया दुष्टपरिणामतया कुपितस्तस्य शत्रोः गतिर्नास्ति, केनोपायेन जीवामीति लक्षणादर्त्तना न विद्यते, कथम् ? हि स्फुटम्, कथम्भूतोऽपि सन् ? सरामोऽपि रः गम्भीरो ध्वनिः, आमः सार्द्रं चेतः उक्तञ्च—"आमो रोगे तथाऽपक्वे सार्द्रे चित्तेऽपि पठ्यते, रः शब्दः कोविदैर्यानि गम्भीरे च ध्वनाविति," सह रामाभ्यां वर्तत इति सरामः, यस्य नरेन्द्रस्य नाम अद्यापि समस्तं भुवनं स्तुते स्तौति, कथम्भूतं नाम ? स्थिराक्षरान्तं स्थिरमक्षरमन्ते यस्य नाम्नस्तत्तथोक्तम्, पुनः कथम्भूतम् ? युधिशब्दपूर्वं युधिशब्दः पूर्वमादिर्यस्य तत् पुनः विनामयुक्तं षत्वणत्वयोर्विनाम संज्ञेयं, विनामेन षत्वेन युक्तं यत्तत्तथोक्तं पुनः प्रसिद्धं विश्रुतं, [अथवा प्रकृष्टा या साधुता तां गतम्] युधिष्ठिरनामेति भावः ॥३३॥

स्वैरञ्जनानन्दनमाशुकारैर्भीमन्दमानम्रमरातिजातम् ।
कुर्वन्तमुद्यन्तमुदीक्ष्य सेन्द्रैर्विसिस्मिये खेऽधिगतैर्विमानम् ॥३४॥

द्धि: स्वैरिति—विसिस्मिये विस्मितम्, कैः ? सेन्द्रैः देवैः, कथम्भूतैः ? खे गगने विमानं[1] देवयानम् अधिगमैरधिष्ठितैः, किं कृत्वा ? अञ्जनानन्दनं हनूमन्तम् उदीक्ष्य निरीक्ष्य, कथम्भूतम् ? उद्यन्तम् उद्यमं कुर्वाणम्, पुनः कथम्भूतम् ? स्वैः स्वीयैराशुकारैः शीघ्रकरणैः अरातिजातं शत्रुसमूहं भीमन्दं भयनिरुत्साहम् आनम्रञ्च कुर्वन्तं विदधतम् ।

आज समस्त संसार यश (शब्द) की गाथासे आरम्भ करके अविचल मोक्ष (अक्षर) की प्राप्ति पर्यन्त जिसके जीवनकी सब घटनाओं (नाम) की स्तुति करता है और परम सिद्धके (प्रसिद्ध) रूपमें प्रणाम (वि-नाम) करता है वही राम कुपित होकर भी इस युद्धमें नीतिमार्गके आचरणके आदर्श थे [जिसके नाममें पहले 'युधि' शब्द है और अन्तमें विनाम (षत्व) युक्त स्थिर (ष्ठिर) शब्द है और साधुताके अवतार (प्रसिद्ध) जिस युधिष्ठिरकी आज भी पूरा विश्व स्तुति करता है। इतना ही नहीं; जिसका हृदय करुणासे भींगा (स-आम) है तथा वाणी(र) गम्भीर है वह जिसपर कुपित हो जाता है उसका संसारमें निर्वाह (गति) नहीं है] ॥३३॥

अपने तीव्र आक्रमणोंके द्वारा अनगिनते (वि-मान) तथापि भयसे शिथिल (भी-मन्द) शत्रुओंके समुदायोंको चरणोंमें झुकाता (वि-नम्र) हुआ तथा युद्धमें उत्साहपूर्वक तल्लीन अंजनानन्दन (हनुमान्) को देखकर आकाशमें आये इन्द्र तथा देवगण आश्चर्यमें

---

1. विगतं मानं प्रमाणं यस्मात् तदरातिजातम् ।

अधुना भारतीयः—विसिस्मिये, कैः ? खेऽधिगतैः खेऽधिगतं येषां तैः विद्याधरैः, कथम्भूतैः ? सेन्द्रैः इन्द्रयुतैः किं कृत्वा ? भीमं वृकोदरम् उद्यतम् उद्यमं कुर्वन्तम् उदीक्ष्य पुनः अरातिजातं स्वैरं स्वभावमान-मीरयतीति स्वैरस्तम्, कैः ? आशुकारैः, दमानम्रं दमेन आनम्रं कुर्वन्तम्, कथम्भूतं भीमम् ? जनानन्दनम् ? जनानानन्दयतीति जनानन्दनस्तम्, पुनः कथम्भूतम् ? विमानं विशिष्टो मानो गर्वो यस्य तं प्रकृष्टाहङ्कार-मिति भावः । ३४।।

प्रभाविताराततनयस्य वीर्यं कृताधिपार्थस्य निरूप्य भीताः ।
दत्तान्तराः पूर्वसरा बभूवुर्विपद्विरुद्धा इव बन्धुवर्गाः ।।२५।।

द्विः प्रभावीति—बन्धुवर्गाः बन्धुसमूहाः भीताः सन्तः विपद्विरुद्धा इव बभूवुः संजाताः, कथम्भूताः ? पूर्वसराः अग्रेसराः, पुनः दत्तान्तराः दत्तावसराः, किं कृत्वा ? पूर्वं निरूप्यावलोक्य, किम् ? प्रभावि प्रभाववत्, तारातनयस्याङ्गदस्य वीर्यम्, कथम्भूतस्य ? कृताधिपार्थस्य कृतोऽधिपार्थो येन तस्य विहित-राघवार्थस्येति शेषः ।

अथ भारतीयः—विपद्विरुद्धा इव विपदा विरुद्धास्ते तथोक्ता इव बन्धुवर्गाः भीमादि बान्धव-समूहा बभूवुः, कथं यथा भवति ? कृताधि विहितमानसपीडम्, कथम्भूताः ? पूर्वसराः पुरःसराः पुनः दत्तान्तराः पुनः भीताः भीः इता गता येषां ते भीताः विनष्टभयाः, किं कृत्वा ? पूर्वं पार्थस्यार्जुनस्य वीर्यं शक्तिं निरूप्यावलोक्य, कथम्भूतस्य ? प्रभाविताराततनयस्य अरातीनामयमारातः स चासौ नयश्च आराततनयः प्रभावितो निश्चित आराततनयो येन तस्य तथोक्तस्य ।।३५।।

वरूथिनीलङ्घनमन्यसैन्यं ज्वलत्प्रकोपानलमुत्पतन्तम् ।
दृष्ट्वा यमाकारमरिप्रजातं संहारमह्नाय भुवः शशङ्के ।।३६।।

वरूथीति—श्रिः । अरिप्रजा भुवः पृथिव्याः संहारं शशङ्के शङ्कितवती, कथम् ? अह्नाय झटिति, किं कृत्वा ? अन्यसैन्यं परबलम् उत्पतन्तम् अभिगच्छन्तम् तं प्रसिद्धं नीलं नीलाभिधानं वा नरेन्द्रं दृष्ट्वा, कथम्भूतमन्यसैन्यम् ? घनं निविडं पुनः वरूथि वरूथाः अस्मिन् सन्तीति वरूथि तद् रथगुप्तियुतम्

पड़ गये थे [सहज भावसे वेगके साथ किये गये गदाके प्रहारोंसे शत्रुओंके झुण्डोंको दमन करके गिराते (आनम्र) हुए, पाण्डव लोगों (जन) के आनन्दके कारण और अत्यन्त अहंकारी (वि-मानं) भीमको आगे बढ़ता देखकर आकाशचारी (विद्याधर) तथा उनके नायक आश्चर्यचकित रह गये थे] ।।३४।।

स्वामी रामके (अधिपस्य) इष्ट कार्य (अर्थस्य) को करते हुए तारके पुत्र (तारा तनयस्य) अंगदके आश्चर्यकारक पराक्रमको देखकर भयभीत मित्र राजा भी विपत्ति कालमें मुख मोड़नेवालोंके समान आगे बढ़े चले जा रहे थे तथा अंगदकी विजयकी परिस्थिति पैदा कर रहे थे (विपत्ति कालमें अपने भी [illegible] हो जाते हैं, पहले ही साथ छोड़ देते हैं और सामना नहीं होने देते हैं) [शत्रु कौरवों (अराति) की राज तथा युद्ध नीति (नयस्य) को भी विफल करते हुए तथा उनके मनको आकुलता (आधि) में डालते हुए अर्जुनके पराक्रमको देखकर भीम, आदि पाण्डव भी, विपत्तिके ही विरुद्ध हो गये लोगोंके समान, युद्धमें आगे-आगे बढ़े जा रहे थे तथा अर्जुनकी प्रगतिके अवसरको जुटा रहे थे। और भय (भी) तो उनसे दूर-दूर ही भागता-फिरता था (इतः)] ।।३५।।

क्रोधकी अग्निसे तमतमाते हुए तथा मूर्तिमान् यमराज नीलको रथोंसे घिरी (वरूथि) तथा अभेद्य (घन) शत्रुओंकी सेनाके ऊपर टूटता देखकर रावणकी प्रजा

---

१. भीः इता गता येभ्यः विनष्टभयाः ।

कथम्भूतं नीलम् ? ज्वलत्प्रकोपानलं ज्वलन् प्रकोप एवानलो यस्य तं पुनः यमाकारं यमस्येवाकारो यस्य तम् इत्येकोऽर्थः, तथा अरिप्रजा नलं दृष्ट्वा नलाभिधानं वा नरेन्द्रं वीक्ष्य भुवः संहारं शशङ्के, कथम्भूता अरिप्रजा ? ज्वलत्प्रतापा, कथम्भूतम् अन्यसैन्यम् ? वरूथिनीलङ्घनं वरूथिनी सेना लङ्घते इति तथोक्तम्।

भारतीयः—अन्यसैन्यं कर्तृ शशङ्के शङ्कितवती, किं कर्मतापन्नम् ? संहारम्, कथम्भूतम् ? अरिप्रजातम् शत्रुसंभवम्, कस्याः ? भुवः, कथम् ? अलुप्य, किं कृत्वा ? यमाकारं यमस्य पुत्रत्वात् यमौ नकुलसहदेवौ तयोराकारं मूर्तिं दृष्ट्वा, किं कुर्वन्तम् ? अन्यसैन्यं कौरवसैन्यम् उत्पन्नं तत् । अन्यत् पूर्ववत्। तृतीयोऽर्थः ॥३६॥

स वानराणां पतिरुग्रसेनः किं वर्मणा स्यात्किल मर्मणेव ।
¹परादगृहीतेन भियेति चित्रं संनद्धवान् संनहनं न भेजे ॥३७॥

द्विः स इति—चित्रमाश्चर्यं स वानराणां पतिः सुग्रीवः सन्नहनं न भेजे, कथम्भूतः सन् ? सन्नद्धवान्, कथम् ? इति, किल कोकोक्तौ, वर्मणा सन्नहनेन किं स्यात्, कथम्भूतेन ? परादितरस्मादगृहीतेन, कया कृत्वा ? भिया भयेन, केन ? मर्मणेव, कथम्भूतो वानराणां पतिः ? उग्रसेनः उग्रा सेनाऽस्य स तीव्रदण्ड इति शेषः ।

भारतीयः—वाऽथवा स नराणां पतिः उग्रसेन उग्रसेनाभिधानो नरेन्द्रः सन्नहनं न भेजे । शेषं तुल्यम् ॥३७॥

दिधक्षवे लोकमरातिसेनं संधुक्षमाणं द्रुपदेन तेन ।
क्रोधाग्नयेऽकल्प्यत कोटिकल्पं भामण्डलेनोत्तपतार्कतेजः ॥३८॥

द्विः । दिधक्षेति—तेन प्रसिद्धेन भामण्डलेन जानकीभ्राता नाकल्प्यत न कल्पितम् किम् ? अरातिसेनम् अरातीनां सेना अरातिसेनम्, कथम्भूतम् ? संधुक्षमाणम्, कस्मै ? क्रोधाग्नये कोपवह्नये, क्व ? द्रुपदे दारुस्थाने, कथम्भूताय क्रोधाग्नये ? दिधक्षवे, कम् ? लोकम्, किं कुर्वता सता भामण्डलेन ? उत्तपता, किम् ? अर्कतेजः सूर्यवर्चः, कथम्भूतमरातिसेनम् ? कोटिकल्पं कोटिप्रमाणम् ।

सोचती थी कि अब शीघ्र ही संसारका भी संहार हो जायेगा (यमके समान संहारकर्ता तथा समस्त सेना (वरूथिनी) के भेदन (लंघन) में समर्थ नल नामके राजाको शत्रुसेनाकी ओर बढ़ता देखकर, रावणके अकार्यके कारण क्रोधसे जलती (ज्वलत्प्रकोपा) उसकी प्रजा सोचती थी उसका ही नहीं अपितु विश्वका अन्त निकट है) [सेनाओंको परास्त (लंघन) करनेमें समर्थ, लपटें लेती क्रोधाग्निके समान उग्र, यमके समान भयानक आकृतिधारी (यमके आत्मज) अथवा युगल रूपसे उत्पन्न (यमाकार) नकुल और सहदेवको आक्रमण करते देखकर ही प्रतिपक्षी (अन्य) कौरव सेना अपने राज्यकी समाप्तिकी, इस कल्पनाको करके काँप उठी थी जो शत्रुओं पाण्डवोंके द्वारा होनेवाली था ॥३६॥

आश्चर्य है कि दुर्दम्य सेनाके स्वामी वानरोंके राजा सुग्रीवने [अथवा मनुष्यों (नराणां) के अधिपति (पति) उग्रसेनने] युद्धके लिए तैयार होकर भी कवच नहीं पहना था ! वह कहता था कवचका क्या होगा ? शत्रुसे रंचमात्र भय न खानेवाला हृदय ही पर्याप्त है ॥३७॥

सूर्यके तेजसे भी अधिक प्रतापी सीताके भाई प्रसिद्ध भामण्डलने समस्त लोकको भस्मसात् करनेके लिए अत्यन्त प्रज्वलित अपनी क्रोधरूपी अग्निमें ईंधनकी लकड़ी

---

१. परादन्यस्मात् अगृहीतेन भिया मर्मणा शत्रुभयशून्यचेतसेति । इतरस्मादगृहीतेनेति । सम्प्रदाने द्वितीया ।

भारतीयः—तेन द्रुपदेन द्रुपदनाम्ना राज्ञा अरातिसैन्यं संधुक्षमाणं नाकल्पतैव, कस्मै ? क्रोधाग्नये, कथम्भूताय ? दिधक्षवे, कम् ? लोकम्, किं कुर्वता सता ? उत्तरता उत्तेजयता, किम् ? अर्कतेजः, केन कृत्वा ? भामण्डलेन दीप्तिपरिवेषेण, कथम्भूतम् ? कोटिकल्पमिति शेषः ॥३८॥

तीव्रोद्धवं क्रुद्धमनेकसैन्यं परासुषेणन्तमरिव्रजाय ।
निर्विद्य नित्यास्तमयात्कथंचिद्वैरोचनीदीप्तिरुपायतेव ॥३९॥

द्विः तीव्रेति—वैरोचनी विरोचनस्येयं वैरोचनी, दीप्तिः तं लोकप्रसिद्धं सुषेणं सुषेणाभिधं राजानमुपायतेव परिणीतवतीव, किं कृत्वा ? पूर्वं निर्विद्य, कस्मात् ? नित्यास्तमयात् अनवरतास्तात्, कथम् ? कथंचिन्महता कष्टेन, कथम्भूतं सुषेणम् ? क्रुद्धम्, कस्मै ? अरिव्रजाय रिपुवर्गाय पुनः तीव्रोद्धवमुग्रगर्वं पुनः अनेकसैन्यं प्रचुरबलम्, कथम्भूता दीप्तिः ? परा उत्कृष्टा ।

भारतीयः—वैरोचनो नाम कौरवगृह्यो राजा तस्येयं वैरोचनी दीप्तिरुपायतेव गतवतीव, कम् ? उद्धवं नारायणामात्यमुद्धवाख्यम् । किं कुर्वन्तम् ? अणन्तम् ऊर्जन्तम्, कस्मै ? अरिव्रजाय, कथम्भूताय ? परासुषे, 'असु क्षेपणे' इत्यस्य धातोः क्वसुप्रत्ययान्तः 'सर्वधातुभ्यः क्वसुकानौ वक्तव्याविति; निराकृतवद् इत्यर्थः, किम् ? अनेकसैन्यम्, कथम्भूतं सत् ? क्रुद्धम्, कथम्भूता दीप्तिः ? तीव्रा, या वैरोचनी दीप्तिः अयात् गतवती, कम् ? अस्तम्, किं कृत्वा ? पूर्वं निर्विद्य, कथम् ? कथंचित्, कथम्भूता ? नित्या परैरनभिभवनीयेति भावः ॥ ३९ ॥

सज्जाम्बवः क्षोभणमभ्यगच्छन्न केवलं वारिधयोऽद्रयश्च ।
भिन्ना विदूरे विशिखैरमोघं तथा दुरन्तं विदुरस्य शस्त्रम् ॥४०॥

सदिति—न केवलमभ्यगच्छन्, कोऽसौ ? सज्जाम्बवः, संश्चासौ जाम्बवः, सज्जाम्बवः जाम्बवाभिधानः सुग्रीवस्य मन्त्री, किम् ? क्षोभणम्, तथा अभ्यगच्छन्, किम् ? क्षोभणम्, के ? वारिधयः समुद्राः अद्रयः पर्वताश्च, कथम्भूताः सन्तः ? विशिखैर्बाणैर्विदूरे सङ्ग्रामे विभिन्नाः, तथा विद्वांसोऽस्य जाम्बवस्य अमोघं सफलं दुरन्तं दुर्द्धरं शस्त्रं विदुः जानन्ति, वारिध्यद्रिक्षोभणप्रकारेणेति ।

भारतीयः—न केवलं वारिधयः क्षोभणमभ्यगच्छन्, कथम्भूताः सन्तः ? सज्जाम्बवः सज्जमम्बु येषां ते तथोक्ताः, अद्रयश्च क्षोभणमभ्यगच्छन्, कथम्भूताः ? भिन्नाः, कैः ? विशिखैः बाणैः, तथा इति

(द्रु-पद) की जगह क्या कोटि संख्या प्रमाण शत्रुओंकी सेनाको नहीं झोंक दिया था ?

प्रताप-पुंज (भा-मण्डल) के द्वारा सूर्यके तेजको भी पछाड़नेमें समर्थ द्रुपद देशके राजाने (द्रुपदेन) शत्रु लोकको जलानेके लिए भभकती हुई क्रोधाग्निके कुण्डमें करोड़ों प्रमाण कौरव सेनाकी आहुति दे दी थी ॥३८॥

प्रतिदिन अस्त होनेवाले सूर्यसे विरक्त होकर सूर्यकी उत्कृष्ट दीप्ति, अत्यन्त प्रतापी वानर राजा सुषेणके पास किसी प्रकारसे चली ही गयी थी । यह सुषेण राजा भी (शत्रु समूहपर कुपित होनेके कारण) राम-रावण युद्धमें विशाल सेनाके साथ सम्मिलित हुआ था ।

कौरव पक्षके राजा वैरोचनकी प्रखर दीप्तिने भगवान् कृष्णके अमात्य उद्धवको वरण कर लिया था । विशाल सेनाके अधिपति उद्धव भी तिरस्कारके पात्र शत्रु-समूहपर क्रुद्ध थे । यही कारण है कि वैरोचनकी स्थायी प्रतिष्ठा सदाके लिए लुप्त हो गयी थी ॥३९॥

राम रावण युद्धमें (विदूरे) केवल जामवन्त ही क्षुब्ध नहीं हुए थे अपितु इसके बाणोंसे छेदे गये पर्वत और समुद्र भी कांप उठे थे । क्योंकि इस जामवन्तके शस्त्र ऐसे ही (अद्भुत) विनाशक और लक्ष्यभेदी थे ।

महाभारतमें धृतराष्ट्रके अनुज विदुरके उतर आनेपर पानीसे लहराते समुद्रों और विशाल पर्वतोंमें भी नाना वर्षाके कारण केवल उथल-पुथल ही नहीं मच गयी थी, अपितु

अड्डुः रक्षन्ति स्म, के ? वारिषयः, कम् ? अन्तं स्वरूपं द्रवकाठिन्यलक्षणम्, रे शब्दः निकृष्टसम्बोधने, रे जनाः अविद्वान्सः । विद्वज्जना विदुर्जानन्ति, किम् ? शस्त्रम्, कथम्भूतम् ? अमोघम्, कस्य ? विदुरस्य विदुराभिधानस्य धृतराष्ट्रस्य लघीयसो भ्रातुरिति शेषः ॥ ४० ॥

न सोढवैराधितरौद्रहेतिः स्थिरं तथैकं पदमन्यसेना ।
वैराटवीचारभयेन[1] जाता गेहेष्विवाजिष्वपि कस्य गर्जः ॥ ४१ ॥

नेति—न जाता, का ? अन्यसेना सोढवैराधितरौद्रहेतिः विराधितो विराधितनामधेयश्चन्द्रोदयनामधेयस्य विद्याधरस्य पुत्रः, विराधितस्येमा वैराधित्यः, सोढाः वैराधित्यः विराधसम्बन्धिन्यो रौद्राः तीव्रा हेतयो यया सा अन्यसेना । तथा एकं स्थिरं पदं नाधीत्, केन ? वैराटवीचारभयेन, वैरमेवाटवी तस्यां यः चारः प्रवर्तनं तस्माद्यद्भयं तेन, युक्तमेतत्, आजिष्वपि सङ्ग्रामेष्वपि कस्य गर्जो विद्यते अपितु न कस्यापि, केष्विव ? गेहेष्विव, यथा गेहेषु सर्वेषां जनानां गर्जो न तथाजिष्वपीति शेषः ।

अथ भारतीयः—न जाता, का ? अन्यसेना, कथम्भूता ? सोढवैरा, सोढं वैरं यया सा सोढवैरा, तथा न जाता अन्यसेना, कथम्भूता ? रौद्रहेतिः, तथा नाधित न धृतवती, का ? अन्यसेना, किम् ? स्थिरमेकं पदम्, केन ? वैराटवीचारभयेन वैराटः विराटाख्यो नरेशः, वीचारः आभिचारिकं कर्म, मारणमित्यर्थः, विराटसम्बन्धी[2] यो वीचारः तस्माद्यद्भयं तेन । अन्यत्समम् ॥ ४१ ॥

तं सत्यकोपाहतशत्रुमुच्चैरामन्दमारम्भगभीरनादः ।
विभीषणः सोऽग्रजवैरभीतः समेत्य नाथं प्रधनं ननाथ ॥४२॥

द्विः तमिति—तं लोकप्रसिद्धं नाथं स्वामिनं रामं राघवं प्रधनं सङ्ग्रामं स विभीषणो रावणभ्राता ननाथ याचितवान्, कथम् ? उच्चैरतिशयेन, किं कृत्वा ? पूर्वं समेत्य आगत्य, कथम्भूतं रामम् ? सत्यकोपाहतशत्रुं सत्यश्चासौ कोपश्च सत्यकोपः अकृत्रिमक्रोधः, तेन हताः शत्रवो येन तम्, कथम्भूतः ? दमारम्भगभीरनादः विद्याभ्यासाय श्रमो दमः, दमस्यारम्भः दमारम्भः तस्मिन्[3] गभीरो नादो यस्य सः, पुनः अग्रजवैरभीतः रावणवैरात् भस्तः ।

इन्होंने जैसे-तैसे (तथा) अपने स्वरूप (अन्त) की रक्षा की थी (अड्डुः) । अहो प्रतापी विदुरके शस्त्रकी घातकताको किसने नहीं जाना था ? ॥ ४० ॥

शत्रु रावणकी सेना न तो (चन्द्रोदय विद्याधरके पुत्र) विराधके भीषण शस्त्रोंकी मारको सह सकी थी और न एक भी कदम जमकर लड़ सकी थी क्योंकि इससे शत्रुता करके वन-वन मारे फिरनेके भयसे वह व्याप्त थी । घरके समान युद्धमें भी किसी एककी ही हुंकार नहीं चलती है ।

विराट राजाके संहारके भयसे कांपती कौरव सेना न तो शत्रु (पाण्डवों)की मारको सम्हाल सकी थी, न भयंकर शस्त्रोंको सह सकी थी और न डटकर एक भी प्रतिरोध कर सकी थी । ठीक ही है युद्धमें भी घरके समान एक ही व्यक्तिकी नहीं चलती है ॥ ४१ ॥

अग्रज रावणकी शत्रुतासे भीत और विद्याभ्यास (दम) के सतत आरम्भके कारण गम्भीरतासे बोलते विभीषणने विश्व विख्यात प्रभु रामके पास आकर बड़े आग्रहके साथ युद्ध करनेकी प्रार्थना की थी क्योंकि वह जानता था कि रामका कोप सच्चा है और शत्रुओं-का संहार करेगा ।

---

1. वैरेण यो अटव्यां चारः पलायनं तस्माद्भयेन व्याप्ता । 2. वैराटाद् वीचारः तस्माद्भयं–प० । 3. तेन–प० ।

भारतीय:—अपाहृतशत्रु तं नाथं युधिष्ठिरं प्रथनं सत्यकः सत्यकाभिधानः कौरवश्रुहो ननाथ, कि कृत्वा ? मन्दं समेत्य, कथम्भूतः ? उच्चैराः प्रचुरधनः पुनः आरम्भगभीरनादः आरम्भे गभीरो नादो यस्य सः, पुनः अग्रजवैः प्रधानवेगैः विभीषणः भयंकरः पुनः अभीतो निर्भयः ॥४२॥

स एष संभूय समुद्यतात्मा विश्वोऽपि विश्वं भुवनं जिगीषुः ।
राजाध्यपेतो बहुशस्त्रपातो बभूव रागादिरिवात्मतन्त्रः ॥४३॥

स इति—स एष विश्वोऽपि समस्तोऽपि राजा आत्मतन्त्रो बभूव सञ्जातः, किं कृत्वा ? पूर्वं संभूय मिलित्वा, कथम्भूतः ? समुद्यतात्मा पुनः विश्वं समस्तं भुवनं जगत् जिगीषुः जेतुमिच्छुः, पुनः अध्यपेतः अभितः अपृथक् प्राप्त इत्यर्थः । कस्मात् ? रागात् रणेऽर्थेऽनुरागात् "इष्टे वस्तुनि प्रीतिः राग" इति श्रुतेः, पुनः बहुशस्त्रपातः प्रचुरशस्त्रपातः, क इव आत्मतन्त्रो बभूव ? इरिव अ. नारायणस्तस्यापत्यम्, इः कामः यथात्मतन्त्रः, कस्मात् ? रागात् इष्टे स्त्रवनितादिवस्तुनि प्रीतेः अथवा रागादिरिव अविद्योपप्लव इव, कथम्भूतः ? अपातः लज्जाया अध्यपेतः, कथम् ? बहुशो बहुकालमिति ॥ ४३ ॥

अप्यङ्गसंवारकमङ्गरागं स मन्यमानः कवचं प्रविष्टान् ।
प्रागेव मन्ये शरणं प्रविष्टान् ध्यायंस्तनुत्रं कथमाददीत ॥४४॥

अपीति—मन्येऽहं जाने स विश्वोऽपि राजा तनुत्रं कवचं कथम् आददीत अङ्गीकुर्यात्, किं कुर्वन् ? ध्यायन् चिन्तयन्, कान् ? कवचं प्रविष्टान् नरेन्द्रान्, कथम्भूतान् ? प्रागेव पूर्वमेव शरणं प्रविष्टान्, किं कुर्वाणोऽपि ? अङ्गरागम् अङ्गसंवारकम् अङ्गप्रच्छादकं मन्यमानोऽपि इति ॥ ४४ ॥

चिरं निबद्धो नियमेन सोऽयं तीव्रासिधारव्रतबद्धचित्तः ।
कर्तुं यथेष्टं गुरुणा कथंचिदुपेक्षितः शिष्य इवोदियाय ॥४५॥

चिरमिति—सोऽयं विश्वोऽपि राजा यथेष्टं स्वेच्छाचरणं कर्तुं विधातुमुदियाय उद्यमं कृतवान्, कथम्भूतः ? नियमेन वीरव्रतेन चिरं बहुतरकालं निबद्धः सन्निरुद्धः, कथम्भूतः ? तीव्रासिधारव्रतबद्धचित्तः असिधारैव व्रतम् असिधाराव्रतं तीव्रं च तदसिधाराव्रतं च तीव्रासिधाराव्रतं तेन बद्धं चित्तं येन स तथोक्तः,

---

प्रारम्भ (आरम्भ)से ही गम्भीरता पूर्वक बोलता, शत्रुओंको पराजय करता, अपनी अत्यन्त (अग्र-) वेगशीलता (जवैः) के कारण भयंकर तथा निर्भय (अभीतः) उस सत्यकि नामके राजाने धीरेसे (मन्दं) धर्मराज युधिष्ठिरके पास जाकर घोर संग्राम करनेकी प्रार्थना की थी ॥४२॥

इस प्रकार यह पूरा राजवर्ग अपने आप ही उत्साहपूर्ण होकर पूरेके पूरे संसारको जीतनेकी इच्छासे नाना प्रकारके शस्त्रोंको चलाता हुआ मिल करके एकमेक हो गया था । तथा अपने-अपने स्वामीकी भक्तिके कारण कामदेव (नारायणके पुत्र 'ई' काम) के समान आत्मनिर्भर हो गया था [त्रिभुवनजयी, मनोभव और राजतन्त्र (बन्धन) से मुक्त कामदेव भी, उत्पन्न होते ही बहुधा आसक्तिके कारण लोकलाज (अपातः) को छोड़कर मनमानी (आत्मतन्त्र) करता है] ॥ ४३ ॥

शरीरके लेपको भी कवचके भीतर घुसा शरीरका दूसरा आवरण समझनेके कारण उक्त समस्त राजवर्ग तनुत्रको क्यों धारण करता ? क्योंकि इसका मन पहले ही शरणमें आये लोगोंकी कल्पनामें लीन हो गया था ॥ ४४ ॥

तीक्ष्ण धार युक्त तलवारके चलानेके लिए कृत-संकल्प और लम्बे अरसेसे युद्धके नियमोंके पालक, गुरुके द्वारा उपेक्षित शिष्यके समान राजवर्गकी मनमानी करनेकी हिम्मत

पुनरपि कथम्भूतः ? कथंचिन्महता कष्टेन गुरुणा उपेक्षितः, क इव ? शिष्य इव, यथोदियाय शिष्यः, किं कर्तुम् ? कर्तुम्, किम् ? यथेष्टम्, कथम्भूतः ? उपेक्षितः, केन ? गुरुणा, कथम् ? कथंचित्, पुनः कथम्भूतः ? नियमेन परिमितकालेन व्रतेन निबद्धः निबद्धः पुनस्तीव्रासिधाराव्रतबद्धचित्तः, असिधारेव व्रतम् असिधाराव्रतं तीव्रे असिधाराव्रते बद्धं चित्तं येन स तथोक्तः ॥ ४५ ॥

आस्थायुकः स्यन्दनमन्तरिक्षमापातुकस्तोयनिधेरशेषः ।
विपक्षयुद्धान्यभिलाषुकोऽयं वेलोद्यतो ग्राह इवावभासे ॥४६॥

आस्थायुक इति—अयम् असौ अशेषः समस्तो राजा स्यन्दनं रथम् आस्थायुक अधितिष्ठन् आवभासे शुशुभे, कथम्भूतः ? अन्तरिक्षं गगनम् आपातुकः आपतन्नुत्प्लवमान इत्यर्थः, विपक्षयुद्धानि शत्रुरणानि अभिलाषुकोऽभिलषन्, क इव ? ग्राह इव, यथा जलचरविशेषः, कथम्भूतः ? वेलोद्यतः वेलोच्छलितः, कस्य ? तोयनिधेः समुद्रस्य, कथम्भूतो ग्राहः ? स्यन्दनं प्रवाहम् आस्थायुकः पुनः अन्तरिक्षम् आपातुकः पुनः विपक्षयुद्धानि अभिलाषुकः ॥ ४६ ॥

भ्रूभङ्गमात्रेण परस्य भङ्गं ज्याघातमात्रेण नृपाभिघातम् ।
ते चक्रुरारोपितचापचक्राः स्वायासतन्त्रं हि जयं निराहुः ॥४७॥

भ्रूभङ्गमात्रेणेति—ते नरेन्द्राः परस्य शत्रोः भङ्गं तेजोभिभवं भ्रूभङ्गमात्रेण चक्रुः कृतवन्तः, नृपाभिघातं राजहननं ज्याघातमात्रेण मौर्वीविस्फारमात्रेण चक्रुः कृतवन्तः । कथम्भूताः ? आरोपितचापचक्राः कुण्डलीकृतशरासनसमूहाः, युक्तमेतत्, हि यस्मात् कारणान्निराहुर्निर्वदन्ति, के ? विद्वज्जनाः, कम् ? जयम्, कथम्भूतम् ? स्वायासतन्त्रम् आत्मप्रयत्नाधीनमिति ॥ ४७ ॥

स्थिते समर्थे सति दक्षिणाङ्गे वामोऽङ्गभागः प्रथमोऽग्रगोऽभूत् ।
अकल्पभूयोपनतं विनेतुं जन्ये व्यवस्यन्निव जन्यमेषाम् ॥४८॥

स्थित इति—एषां राज्ञां वामोऽङ्गभागः प्रथमोऽग्रगोऽभूत्, क्व सति ? दक्षिणाङ्गे समर्थे स्थितेऽपि सति, किं कुर्वन्निव ? व्यवस्यन्निव निश्चिन्वन्निव, किम् ? जन्यं वामोऽयमिति प्रतिकूलोऽयमिति जनापवादं विनेतुं स्फोटयितुम्, क्व ? जन्ये सङ्ग्रामे, कथम्भूतं जन्यम् ? अकल्पभूयोपनतं न कल्पस्य भावोऽकल्पभूयमसंकल्पत्वं तेन प्रवृत्तमिति ॥ ४८ ॥

बड़ी मुश्किलसे पड़ी थी [चिरकालसे नियमोंके पालक और असिधारा व्रतके लिए अभ्यस्त शिष्यको भी गुरुके द्वारा स्वतन्त्र कर दिये जानेपर भी स्वैराचार करनेकी हिम्मत नहीं पड़ती है] ॥४५॥

रथोंके ऊपर आरूढ़, आकाशमें उड़ते हुएके समान तथा शत्रुपक्षसे युद्ध करनेके लिए अत्यन्त उत्सुक यह समस्त राजसमूह, समुद्रके किनारेपर उछलकर आये मगरके समान शोभित हो रहा था [किनारेके पास उभरा मगर भी प्रवाह (स्यन्दन) के विपरीत चढ़ता है और पानीके ऊपर ऐसी छलांगें लेता है कि उड़ता-सा प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥

धनुषको पूरा खींचकर आगे बढ़ते हुए इस राजसमूहने अपनी भृकुटिको टेढ़ा करके ही शत्रुको झुका दिया था और धनुषकी डोरीकी फटकारके द्वारा ही शत्रुको मार दिया था। उचित ही है, क्योंकि विजय अपने-अपने पुरुषार्थके ही आधीन है ॥ ४७ ॥

युद्धके प्रारम्भ होनेपर शरीरके सबल दक्षिण भागके रहते हुए भी धनुष खींचते समय योद्धाओंका बाँया भाग सबसे पहले आगेकी ओर निकल आया था। इसपर कवि

---

१. भुपच्छतमान बः ।

द्राघिम्नि बाह्वोरुरसः प्रथिम्नि प्रसर्पति स्याद्यदि शक्रचापम् ।
तदा कृतज्यं तदपि प्रभूणां नाकर्षणस्य प्रभवेद्रणेऽमि ॥४९॥

द्राघिम्नीति—अवैमि जानेऽहं तदपि शक्रचापमपि न प्रभवेत् न समर्थं भवेत्, कस्य ? प्रभूणामाकर्षणस्य, कथम् ? तदा तस्मिन् काले युद्धसमये, यदि चेत् स्यात्, किम् ? शक्रचापम् इन्द्रधनुः, कथम्भूतम् ? कृतज्यं विहितप्रत्यञ्चम्, क्व सति ? बाह्वोः भुजयोः द्राघिम्नि सति, पुनः किं कुर्वति सति ? प्रसर्पति प्रसरति सति, तथा प्रथिम्नि सति विस्तीर्णत्वे सति, कस्य ? उरसो वक्षस इति शेषः ॥४९॥

पुरः प्रसस्रे धनुषा द्विषद्भ्यः पलायनं सूचयतेव पश्चात् ।
ज्ययापजग्मे भुजवीरलक्ष्मीं संवर्धयन्त्येव जयस्य दिष्ट्या ॥५०॥

पुर इति—पुरः पुरस्तात् धनुषा प्रसस्रे प्रसृतम्, किं कुर्वतेव ? सूचयतेव निवेदयतेव, किम् ? पलायनम्, केभ्यः ? द्विषद्भ्यः शत्रुभ्यः, कथम् ? पश्चात्, तथाऽपजग्मेऽपसृतम्, कया ? ज्यया मौर्व्या, किं कुर्वाणयेव ? संवर्द्धयन्त्येव वृद्धिं नयन्त्येव, काम् ? भुजवीरलक्ष्मीम्, कथम् ? दिष्ट्योत्सवेन, कस्य ? जयस्येति ॥५०॥

तेऽपातयन्मार्गणमेष वाहं सोऽप्यश्ववारं हृदयं निषादी ।
नान्योन्यपातानुगतं व्यमुञ्चन् विमार्गसम्पातभियेव बाणाः ॥५१॥

त इति—ते नरेन्द्राः मार्गणं बाणम् अपातयन्, तथा एष मार्गणः वाहम् अश्वम् अपातयत्, सोऽपि वाहः अश्ववारम् अपातयत्, तथा निषादी अश्ववारः हृदयम् अपातयत्, तथा न व्यमुञ्चन् न तत्यजुः, के ? बाणाः शराः, किम् ? अन्योन्यपातानुगतम्, कयेव ? विमार्गसम्पातभियेवेति शेषः ॥५१॥

गुणेन मुक्तं गुरुपर्वरिक्तं मुखेन तीक्ष्णं प्रतिपक्षबद्धम् ।
मर्माविदेषामिषुजालमायादपारिपक्ष्यस्य तुलां जनस्य ॥५२॥

गुणेनेति—एषां नरेन्द्राणाम् इषुजालं शरश्रेणिः अपारिपक्ष्यस्य हेयोपादेयविवेकविकलस्य मूर्खस्य जनस्य तुलामायात्, कथम्भूतमिषुजालम् ? गुणेन ज्यया मुक्तम् अत्याकृष्टं पुनः गुरुपर्वरिक्तं गुरु च तत्पर्व च गुरुपर्व तेन गुरुपर्वणा स्थूलग्रन्थिना रिक्तं पुनः मुखेन तीक्ष्णं पुनः प्रतिपक्षबद्धं पश्चात्पिच्छबद्धं

कल्पना करता है कि बारंबार होनेवाले अकल्पनीय अपवाद (क्योंकि यह वाम = उलटा अंग है) का मार्जन करनेके लिए ही उसने ऐसा किया था ॥ ४८ ॥

यदि इन्द्रधनुषपर ही ज्या चढ़ा दी जाती तथा वह भुजाओंकी लम्बाईसे भी ज्यादा खिंचता तथा वक्षःस्थलसे भी अधिक फैलता, तो भी युद्धके उल्लासमें समस्त राजवर्गके खींचनेके लिए वह पर्याप्त न होता ॥ ४९ ॥

शत्रुओंके द्वारा किये जानेवाले भावी पलायनका संकेत करनेके लिए ही योद्धाओंका धनुष, चलाये जानेपर आगेको फैल गया था। विजयके शकुन रूपसे ज्या भी पीछेको फैल गयी थी मानो वीरोंकी भुजाओंकी लक्ष्मी ही बढ़ गयी थी ॥ ५० ॥

योद्धा बाणको बरसाते (गिराते) थे, बाण घोड़ेको गिरा देता था, घोड़ा घुड़सवारको गिरा देता था और घुड़सवार अपने हृदयको गिरा देता था। इस प्रकार एक दूसरेको गिरानेकी परम्परा होनेसे योद्धा लोग विमार्ग (वि-पक्षियोंके मार्ग आकाश) में चले जानेकी आशंकासे बाणोंको नहीं छोड़ते थे। [अर्थात् कूद लाघ कर बाण चला रहे थे] ॥ ५१ ॥

ज्या (गुण) से छोड़े गये, ज्याकी मोटी गाँठसे दूर, अत्यन्त तीक्ष्ण अग्रभागयुक्त, पीछेकी ओर (प्रति) पंखे लगाये हुए तथा शत्रुओंके मर्मस्थलपर आघात करते बाणोंका

पुनः मर्मवित् मर्म विध्यतीति तत्, अपरिष्कृतो जनोऽपि कथम्भूतः ? गुणैः शास्त्राभ्यासादिना मुक्तः पुनः गुरुपर्वरिक्तः सूरिपरम्परया हीनः पुनः मुखेन तीक्ष्णः परुषः । शेषं सुगमम् ॥५२॥

तान्प्रावृषेण्याम्बुदभासि पांशौ मध्ये दृशं रुन्धति शब्दलक्ष्यः ।
शरोऽभिनत्पूगतिथानरातीन्को वा निषेद्धा भवितव्यतायाः ॥५३॥

तानिति—शरो बाणः तानरातीन् अभिनत् भिनत्ति स्म, कथम्भूतान् ? पूगतिथान् पूगानां पूरणाः पूगतिथाः "बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्" इत्यनेन सङ्ख्यापूरणात्, कथम्भूतः ? शब्दलक्ष्यः शब्दवेध्यः, क्व सति ? पांशौ रेणौ, किं कुर्वति सति ? दृशं दृष्टिं रुन्धति सति, आवृण्वति सति, क्व ? मध्ये, कथम्भूते पांशौ ? प्रावृषेण्याम्बुदभासि प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः स चासावम्बुदश्च तस्येव भाः सादृश्यं यस्य स तस्मिन् सजलजलदसदृश इत्यर्थः, युक्तमेतत्, वाथवा भवितव्यतायाः प्राप्तव्यतायाः, को निषेद्धा, अपितु न कोऽपि ॥५३॥

तथाविधेऽप्युद्यति धूलिजाले नृपा रिपून्प्रापुरमी यथास्वम् ।
सर्वस्य पूर्वानुभवोऽनुबन्धी को विश्वणन्मुह्यति नक्तमास्ये ॥५४॥

तथेति—अमी नृपाः रिपून् यथास्वं यथायोग्यं प्रापुः, क्व सति ? तथाविधे तादृशेऽपि धूलिजाले उद्यति ऊर्ध्वं गच्छति सति, युक्तमेतत्, नक्तं रात्रौ विश्वणन् भुञ्जानः सन् आस्ये मुखे को मुह्यति मोहं गच्छति अपि तु न कोऽपि, सर्वस्य पूर्वानुभवः पूर्वसंस्कारः अनुबन्धी प्रेरक इति ॥५४॥

तथोभयेषामपि भूपतीनां चिरात् प्रकोपश्चिरकालरूढः ।
परस्परं भार इवावतीर्णो जज्ञे लघुर्विश्रमदित्सयेव ॥५५॥

तथेति—तथा तेनैव प्रकारेण उभयेषामपि द्वयेषामपि भूपतीनां नरेन्द्राणां चिरादवतीर्णः प्रकोपो जज्ञे जातः, कयेव ? विश्रमदित्सयेव विश्रमं दातुमिच्छयेव, कथम् ? परस्परमन्योन्यम्, कथम्भूतः ? चिरकालरूढः पुनः लघुः, क इवावतीर्णः ? भार इवेति ॥५५॥

समूह श्रेष्ठ पुरुषकी तुलनाको प्राप्त हुआ था। [असंस्कृत मनुष्य भी गुणोंसे हीन होता है, आचार्य (गुरु) परम्परा (पर्व) से शून्य होता है, कठोर वचन बोलता है, विरुद्ध मार्ग (प्रतिपक्ष) में लीन रहता है तथा तत्त्वके रहस्य (मर्म) को नहीं जानता है] ॥ ५२ ॥

वर्षा ऋतुमें उमड़ते मेघोंके समान घने धुंधले रंग युक्त धूलके छा जानेपर योद्धाओंकी आँखें अपने आप मुँद गयी थीं। तो भी शत्रुकी आवाजको निशाना करके चलाये गये बाणोंने, झुण्डके झुण्ड शत्रुओंको भेद दिया था। ठीक ही है, भवितव्यताको रोकनेमें कौन समर्थ है ॥ ५३ ॥

उक्त प्रकारसे धूलका बवण्डर छा जानेपर भी ये योद्धा-राजा यथायोग्य प्रकारसे अपने-अपने शत्रुको पा जाते थे। उचित ही है क्योंकि सबका पुराना संस्कार प्रेरक होता है जैसे कि रातको भोजन करनेवाले किसी भी व्यक्तिको अपने मुँहके विषयमें धोखा नहीं होता है ॥ ५४ ॥

दोनों पक्षोंके राजाओंके मनमें भारके समान बहुत समयसे जमा क्रोध इस घोर संग्राममें भी एक दूसरेको आराम देनेकी इच्छासे ही उतर गया (बरस पड़ा) था और वह हलका प्रतीत होने लगा था ॥ ५५ ॥

ऋजुस्वभावादवदातवृत्ताः स्वनाथनाम्नाभियुः कृताङ्काः ।
तूर्णं मृधोद्यावनिमन्त्रणाय दूता इवान्योन्यचमूं पृषत्काः ॥५६॥

ऋज्विति—पृषत्काः बाणाः अन्योन्यचमूमितरेतरसेनाम् अभिययुरभिगच्छन्ति स्म, कस्मै ? मृधोद्यावनिमन्त्रणाय रणोद्यमनिमन्त्रणाय वा रणोत्सवनिमन्त्रणाय, कथम् ? तूर्णं झटिति, क इव ? दूता इव, कथम्भूताः पृषत्काः ? अवदातवृत्ताः अवदातं वृत्तं येषां ते खण्डितवृत्तय इत्यर्थः, कस्मात् ? ऋजुस्वभावात्, पुनः कथम्भूताः ? कृताङ्काः विहितचिह्नाः, केन ? स्वनाथनाम्ना आत्मप्रभ्वभिधानेन, कथम्भूता दूताः ? अवदातवृत्ताः शुद्धवृत्तयः । अन्यत्समानम् ॥५६॥

छत्रध्वजानामितरेतरस्य दण्डास्तदावादिषताधंचन्द्रैः ।
नवप्रियत्वोद्भिदयेव भूपैर्न तत्यजेऽन्योन्यकृतं वधेऽपि ॥५७॥

छत्रेति—तदा तस्मिन् काले अर्द्धचन्द्रैः अर्द्धचन्द्राकारैः बाणैः छत्रध्वजानां दण्डाः अवादिषत, (अबाधिषत)[1] छिन्नाः, कस्य ? इतरेतरस्य, तथा न तत्यजे न त्यक्तम्, किम् ? अन्योन्यकृतं कर्मव्यतिहारः, कैः ? भूपैः, क्व सति ? वधेऽपि, कयेव ? नवप्रियत्वोद्भिदयेव नूतनप्रेमभङ्गभयेनेवेति भावः ॥५७॥

ते सायकाः संयति संनिवृत्य कर्तुं प्रियाख्यानमपारयन्तः ।
स्वं साहसं पत्युररातिवर्गैर्भृत्या इवाख्यन्पतिताः पतद्भिः ॥५८॥

त इति—ते सायकाः बाणाः साहसं नाऽयं नाऽहमिति प्रत्ययलक्षणम् आख्यन् निवेदितवन्तः, कथम्भूतम् ? स्वमात्मीयम्, कस्य ? पत्युः स्वामिनः, कथम्भूताः सन्तः ? पतिताः, कैः सार्द्धम् ? अरातिवर्गैः, किं कुर्वद्भिः ? पतद्भिः, किं कुर्वन्तः ? अपारयन्तः अशक्नुवन्तः, किम् ? प्रियाख्यानं भवतां शत्रवो निपातिता अस्माभिरिति, क्व ? संयति सङ्ग्रामे, किं कृत्वा ? पूर्वं सन्निवृत्य व्याघुट्य, इव यथा पतद्भिररातिवर्गैः सहपतिताः स्वं साहसं पत्युराख्यन् भृत्याः संयति, किं कुर्वन्तः ? अपारयन्तः, किम् ? प्रियाख्यानम्, किं कृत्वा ? पूर्वं सन्निवृत्येति ॥५८॥

ध्रुवस्य शौर्यायतनस्य कर्तुं राज्ञा शिलाशासनमिच्छतेव ।
वक्षः स्वनामाक्षरमार्गणाङ्कं परोवरस्याक्रियताखिलेन ॥५९॥

ध्रुवस्येति—अक्रियत कृतम्, किं कर्मतापन्नम् ? वक्षो हृदयम्, कथम्भूतम् ? स्वनामाक्षरमार्गणाङ्कम् स्वकीयनामाक्षरोपलक्षितशरचिह्नम्, केन ? अखिलेन राज्ञा समस्तेन नरेन्द्रेण, कस्य ? परोवरस्य

एक दूसरेकी सेनाको युद्धरूपी महोत्सवका निमन्त्रण देनेकी इच्छासे ही उभय पक्षके योद्धाओंके बिलकुल सीधे, बिना चक्कर लगाये सीधे उड़ते हुए तथा अपने-अपने स्वामीके नामके चिह्नसे युक्त बाण दूतके समान तेजीसे चले जा रहे थे ॥ ५६ ॥

उभय पक्षके द्वारा चलाये गये अर्धचन्द्राकार बाणोंने एक दूसरेके छत्रों तथा ध्वजाओंके दण्ड भी काट डाले थे । इसी प्रकार नूतन प्रीतिके टूटनेकी आशंकासे राजाओंने मर जानेपर भी एक दूसरेके द्वारा किये गये [प्रहारों] को भी नहीं छोड़ा था [नूतन प्रेमी भी मर-मर करके भी एक दूसरेको नहीं छोड़ते हैं] ॥ ५७ ॥

युद्धस्थलीमें दिखाये गये अपने साहसके समाचाररूपी प्रिय कथाको; उक्त प्रकारसे छोड़े गये बाण सेवकोंकी भाँति लौटकर स्वामियोंसे न कह सके थे । क्योंकि जिन्हें वे लगे थे उन्हें मार कर लुढ़कते हुए शत्रुओंके शरीरोंमें बिधे, वे बाण भी गिर गये थे । और इस प्रकारसे ही उन्होंने अपनी सफलताको प्रकट किया था ॥ ५८ ॥

1. अबाधि—पुस्तुकः ।

परस्परस्य, किं कुर्वतेव ? इच्छतेवाभिलषतेव, किं कर्तुम् ? शिलाशासनं शिलोत्कीर्णप्रशस्तिम्, कस्य ? ध्रुवस्य स्थिरस्य शौर्यायतनस्य शौर्यकोशस्य वीरश्रीकीर्तनस्येत्यर्थः ॥५९॥

महीक्षितां दक्षिणबाहुदेशे शरक्षतेऽभूत्क्षतजप्रवाहः ।
वीरश्रियो लाक्षिकपादरागः क्रान्तः श्रमात्प्राप्त इवार्द्रभावम् ॥६०॥

महीक्षितामिति—महीक्षितां राज्ञां दक्षिणबाहुदेशे क्षतजप्रवाहो रक्तप्रवाहः अभूत् संजातः, क इवोत्प्रेक्षितः ? वीरश्रियो लाक्षिकपादराग इव, लाक्षया रक्तो लाक्षिकः स चासौ पादरागश्च लाक्षिकपादरागः, कथम्भूतः ? क्रान्तः संक्रान्तः सन् पुनः श्रमात् आर्द्रभावं द्रवत्वं प्राप्तः ॥६०॥

नृपाः किरीटेषु समुन्नतेषु चितेषु रत्नैर्मकरीगणैश्च ।
द्विषां निचख्नुर्विशिखान्विरोधाद्वेलाद्रिकूटेष्विव चक्रिणस्ते ॥६१॥

नृपा इति—नृपाः विरोधात् द्विषां शत्रूणां किरीटेषु मुकुटेषु विशिखान् बाणान् निचख्नुः निखातवन्तः, कथम्भूतेषु ? रत्नैर्मकरीगणैश्च निचितेषु रचितेषु पुनः समुन्नतेषु, क इव ? चक्रिण इव, यथा चक्रेश्वरा वेलाद्रिकूटेषु विरोधात् विशिखान् निखनन्ति ॥६१॥

इतीश्वराः केशवतो भवन्तः साधारणं प्राप्य रणं सलज्जाः ।
यावन्मनः स्थाम पुनः प्रजह्रुरप्यन्यसाम्यं महतां हि दैन्यम् ॥६२॥

इतीति—इति ईश्वराः यावन्मनःस्थाम मनोबलं तावत् पुनरपि प्रजह्रुः प्रहरन्ति स्म, किं कृत्वा ? पूर्वं साधारणं न्यायमार्गानुगामि रणं प्राप्य, किं कुर्वन्त ईश्वराः ? भवन्तो जायमानाः, कस्मात् ? केशवतः केशवात् केशवगृह्या इत्यर्थः, पुनः सलज्जाः, युक्तमेतत्, हि स्फुटं महतां सताम् अन्यसाम्यं परोपमां दैन्यं दीनत्वं स्यादिति ॥६२॥

यावन्निमेषः पतितोऽपि नैकस्तावत्पपातेषुरसावसंख्यः ।
न यावदेकः पततीषुरेषां सुताः परेषामपतन्नशेषाः ॥६३॥

स्थिर योद्धा तथा पराक्रमके भण्डार समस्त योद्धाओंने अपनेसे हीन शत्रुओंके वक्षःस्थलोंको अपने-अपने नामके लेखयुक्त बाणोंसे भेद दिया था। मानो अपनी विजयका शिलालेख लगानेकी इच्छासे ही उन्होंने ऐसा किया था ॥ ५९ ॥

योद्धा राजाओंकी दायीं भुजापर बाणका घाव होनेपर उससे रक्त बहने लगा था। यह बहता रक्त भी बड़ा परिश्रम करनेसे आये पसीनेसे पिघले वीरलक्ष्मीके लाखसे रंगे पैरोंके रंग (आलता) के समान शोभित हो रहा था ॥ ६० ॥

रत्नों तथा अनेक कलगियों (मकरी) से भरे हुए शत्रु राजाओंके ऊँचे-ऊँचे मुकुटोंमें योद्धा राजाओंने वैरके कारण बाणोंको उसी तरहसे गाड़ दिया था जिस प्रकारसे चक्रवर्ती तीरवर्ती पर्वतोंके शिखरोंको पार करता है [वेलाद्रि भी ऊँचे होते हैं तथा रत्नों और मकरोंसे व्याप्त होते हैं] ॥ ६१ ॥

श्री नारायणके पक्षमें आये प्रधान राजा लोग उक्त प्रकारके साधारण युद्धको करनेके कारण लज्जित थे फलतः इन्होंने अपने मन और तनकी पूरी दृढ़ता और साहसके साथ पुनः घोर प्रहार करना आरम्भ किया था। उचित ही है, क्योंकि दूसरेकी बराबरी करना भी महापुरुषोंके लिए दीनता दिखानेके ही समान है ॥ ६२ ॥

---

१. निचख्नुरिति—प०, अ०।

यावदिति—एकोऽपि निमेषो यावत्पर्यन्तं तावद् असंख्याः संख्यातीतो बाणः (–तीतः असौ इषुर्बाणः) पपात पतितः, एकोऽपीषुर्यावन्न पतति तावदेषां परेषां शत्रूणाम् अशेषाः समस्ताः सूताः सारथयोऽपतन् पतिताः ॥६३॥

हृता हया न द्विषतां प्रतापा रथोऽवरुग्णो न मनोरथोऽभूत् ।
वैरथ्ययोगेऽपि महारथत्वं नापत्सु यत्सीदति तद्धि धैर्यम् ॥६४॥

हृता इति—हया अश्वाः हृताः न तु प्रतापा हृताः, केषाम् ? द्विषतां शत्रूणाम्, रथः अवरुग्णो भग्नः मनोरथो भग्नो नाभूत्, महारथत्वं महारथित्वं पौरुषं जायते महतां द्विषताम्, क्व सति ? वैरथ्ययोगेऽपि विनष्टो रथो येषां ते विरथाः तेषां भावो वैरथ्यं तस्य योगे सति, युक्तमेतत्, आपत्सु सतीषु यच्च सीदति न क्लेशाय जायते हि यस्मात्तद्धैर्यम् उच्यते इति शेषः ॥६४॥

रथान्नतूच्चैः पदतोऽवतेरुश्चापं सपत्ना जगृहुर्न खेदम् ।
तथावदानोचितचेतसोऽपि दोषाभिमुख्येन गुणं निजघ्नुः ॥६५॥

रथादिति—सपत्नाः शत्रवः रथादवतेरुरवतीर्णाः उच्चैः पदतः जनप्रशंसास्पदी[1]भूताद्भुवनभ्रमणशीलात् यशसो नावतेरुः, तथा सपत्नाः चापं धनुः जगृहुः गृहीतवन्तः ननु खेदं दैन्यम् तथा गुणं शौर्य[2]सौण्डीर्यादिलक्षणं निजघ्नुः निहतवन्तः, केन ? दोषाभिमुख्येनानीतितत्परतया, कथम्भूताः सन्तोऽपि ? अवदानोचितचेतसोऽपि अवदानं त्यागशौर्याभ्यां विख्यातत्वम्, अवदाने उचितं योग्यं चेतो येषां ते तथोक्ताः, अपीति विरुद्धं परिह्रियते, निजघ्नुः आस्फालयन्ति स्म, के ? ते सपत्नाः, कम् ? गुणं मौर्वीम्, केन ? दोषाभिमुख्येन दोषोर्भुजयोराभिमुख्यं प्रधानता तेन, कथम्भूताः अपि ? अवदानोचितचेतसोऽपि अवदानस्य खण्डनस्योचितं चेतो येषां ते तथोक्ताः ॥६५॥

उल्काशरं शक्रधनुस्तडिज्ज्यं घना दधाना इव तत्कथंचित् ।
अधिज्यचापाः शरजालमुग्रं ते लोहितापक्रममभ्यमुञ्चन् ॥६६॥

जितने समयमें एक बार पलक भी नहीं झपते हैं उतनी देरमें मुख्य नायकने असंख्यात बाणोंकी वर्षा कर दी थी। जबतक इनका एक बाण जाके गिरता तबतक शत्रु राजाओंके सारथि आदि सबके सब ढेर हो जाते थे ॥ ६३ ॥

शत्रु राजाओंके घोड़े मारे गये थे किन्तु प्रताप तब भी बाकी था। केवल रथ ही खण्डित हुए थे मनोरथ ज्योंके त्यों थे। और रथहीन होकर पैदल लड़ रहे थे तथापि महारथी कहलाते थे। वास्तवमें धीरज वही है जो घोर विपत्तिमें भी नष्ट न हो ॥ ६४ ॥

शत्रु राजा रथ टूट जानेपर रथसे उतर गये थे किन्तु उच्च पदकी मर्यादासे भ्रष्ट नहीं हुए थे। ऐसा होनेपर भी उनने धनुषको ही पकड़ा था खेदको नहीं। इस प्रकारसे त्याग तथा शौर्यमय चित्त होनेपर भी इन्होंने दोषोंमें लीन होकर अपने ही गुणोंको कैसे नष्ट कर दिया था यही आश्चर्य है? [शत्रुओंके काटने (अवदान) के अनुकूल (उचित) मनोवृत्तिके कारण (चेतसा) भुजाओं (दोष) के बलकी प्रधानतासे अपने धनुषकी मौर्वी (गुण) को बार-बार फटकार रहे थे] अर्थात् भुजाओं (दोषों) में फँसाकर जीवा (धनुषकी डोरी) को नष्ट कर दिया था ॥ ६५ ॥

---

१. स्पर्दीभूतलक्षणादमुवः—ग० ।
२. सौण्डीर्य-गाम्भीर्यादि लक्षणम्—प० ज० ।

उल्केति—ते सपत्नाः शरजालं बाणसंहतिम् अभ्यमुञ्चन् शत्रुं लक्षीकृत्य मुक्तवन्तः, कथम्भूताः सन्तः ? अधिज्यचापाः आरोपितशरासनाः, कथम्भूतं, शरजालम् ? उग्रं सोढुमशक्यं पुनः लोहितापक्रमं लोहमस्यास्तीति लोही, लोहिनो भावो लोहिता तस्या अपक्रमो यत्र तत् अथवा लोहितस्यापक्रमो यत्र तत् कथम् ? कथंचिन्महता कष्टेन, के इवाभ्यमुञ्चन् ? घना इव मेघा यथा, किम् ? शरजालं जलसमूहम्, कथम्भूतम् ? उग्रं तीव्रं पुनः लोहितापक्रमम्, किं कुर्वाणाः ? दधानाः धरन्तः, किम् ? शक्रधनुः इन्द्रचापम्, कथम्भूतम् ? उल्काशरम् उल्केव शरो यत्र तत् तथोक्तम्; पुनः तडिज्ज्यं तडिदेव ज्या यत्र तत् ॥ ६६ ॥

ते रोपणैराशु पताकंभासस्तत्पादघाताविनयक्रुधेव ।
चिह्नैश्चमूनां निहतैर्निपेते भियोत्तरीयैरिव दिग्वधूनाम् ॥६७॥

त इति—ते नरेन्द्राः रोपणैः बाणैः अर्कभासः सूर्यदीप्तीः आवृषत आच्छादितवन्तः, कयेव ? तत्पादघाताविनयक्रुधेव तस्य सूर्यस्य पादाः तत्पादाः तत्पादानां घाताः तत्पादघाताः तेभ्यो योऽविनयः तस्मात् या क्रुत् क्रोधस्तयेव, तथा निपेते निपतितम्, कैः ? चिह्नैः ध्वजैः, कासाम् ? चमूनां सेनानाम्, कथम्भूतैः ? रोपणैर्निहतैः, कैरिव ? दिग्वधूनां दिगङ्गनानां भिया भयेन उत्तरीयैरिव ॥६७॥

तैरुत्तरङ्गाकुलितास्तुरङ्गा वातैः प्रवाहा इव वारिराशेः ।
रथाश्च नुन्नाः परतोऽपसस्रुः स्वं मन्यमाना इव दुर्निमित्तम् ॥६८॥

तैरिति—तुरङ्गाः अश्वाः परतः पश्चात् तैः सपत्नैः रोपणैः नुन्नाः प्रेरिताः सन्तः अपसस्रुः अपसृतवन्तः, कथम्भूताः ? उत्तरङ्गाकुलिताः उत्तरङ्गः पलायनं तेन आकुलिताः, के इव ? वारिराशेः समुद्रस्य प्रवाहा इव, कथम्भूताः ? वातैर्नुन्नाः, तथा रथाः परतः पश्चात् अपसस्रुः, कथम्भूताः ? सपत्नैर्नुन्नाः पुनः स्वमात्मानं दुर्निमित्तमिव मन्यमानाः ॥६८॥

हतः करेणुः पतितः पदातिर्भग्नो वरूथः शिबिरं निरस्तम् ।
भुवोऽभवद्विश्वममङ्गलोत्थं भारो निरुन्धन्निव भूमिकम्पम् ॥६९॥

हत इति—करेणुः हस्ती हतः, पदातिः भृत्यः पतितः, रथावरूथो रथगुप्तिर्भग्नः, तथा शिबिरं सेनानिवेशः निरस्तं नष्टम्, तथा भुवो भूमेः भारोऽभवत्, किं कुर्वन्निव ? विश्वं समस्तम् अमङ्गलोत्थं भूमिकम्पं निरुन्धन्निव निषेधन्निव ॥६९॥

शत्रुराजा अपने-अपने धनुषकी डोरीको चढ़ाकर लोहेकी शुद्धता (लोहिता) में सन्देह न होनेके कारण अत्यन्त तीक्ष्ण और भयानक बाणोंकी वैसे ही बरसा रहे थे जैसे इन्द्रधनुषपर-से वज्ररूपी बाणको बिजलीकी चमकरूपी ज्याको धारण करनेवाले मेघ आकाश (लोहित) से गिरती उग्र जल [शर] धारको पृथ्वीपर छोड़ते हैं ॥ ६६ ॥

उन्होंने अपने बाणोंकी बौछारसे सूर्यके प्रकाशको भी ढक दिया था क्योंकि उस (सूर्य) के पैर (पाद-किरण) लगनेके अपमानसे उन्हें क्रोध आ गया था। बाणोंके द्वारा काटे गये विविध सेनाओंके चिह्न (ध्वजाएँ) भी ऐसे गिर पड़े थे जैसे भयके कारण दिशाओंरूपी बहुओंके उत्तरीय वस्त्र ही खिसक रहे हों ॥६७॥

उक्त प्रकारसे बरसते शत्रुओंके बाणोंके द्वारा चारों ओरसे सताये गये दूसरी सेनाके घोड़े तथा रथ इनको अपने बुरेके पूर्वचिह्न समझकर वैसे ही भाग लिये थे जैसे आँधीके आनेपर उठी लहरोंसे व्याप्त समुद्रकी जलराशि किनारेसे टकरा कर लौटती है ॥६८॥

हाथी मर रहे थे, पदाति धड़ाधड़ गिर रहे थे, रथ-रक्षक टूट गये थे और सेनाके शिविर उजड़ गये थे। इस प्रकारके अमंगलसे उत्पन्न सर्वव्यापी भूकम्पको रोकते हुएके समान सारा संसार हो गया था ॥६९॥

ध्वनत्सु तूर्येषु शिवाङ्गनासु भेजे समङ्गल्यरवोद्यतासु ।
सशोणिता भूः परिणीयमाना कन्याऽभिषिक्तेव कषायतोयैः ॥७०॥

ध्वनत्स्विति—भूः भूमिः भेजे रराज, केषु सत्सु ? तूर्येषु वाद्ये ध्वनत्सु ध्वनिं कुर्वत्सु, तथा शिवाङ्गनासु शृगालीषु मल्यरवोद्यतासु, गलस्यायं गल्यः स चासौ रवस्तस्मिन्नुद्यतासु, कथम् ? समं युगपत् कथम्भूता भूः ? सशोणिता सरक्ता, केव भेजे ? परिणीयमाना कन्येव, कथम्भूता कन्या ? कषायतोयैः अभिषिक्ता, केषु सत्सु ? तूर्येषु ध्वनत्सु तथा शिवाङ्गनासु सभर्तृकासु कामिनीषु समङ्गल्यरवोद्यतासु मङ्गलमर्हतीति, मङ्गल्यः स चासौ रवस्तेन सह वर्तमानं यत् कर्म तस्मिन्नुद्यतासु ॥७०॥

इत्युद्यतं राजकमन्यपक्षं प्रत्युद्ययावुत्कमुपेन्द्रगृह्यम् ।
स्वमर्पयन्तं सदनेऽभिमित्रं रणेऽभ्यमित्रीणमुदारमाहुः ॥७१॥

इतीति—उपेन्द्रगृह्यं राजकं नारायणपक्षीयो नरेन्द्रसमूहः उद्यतं अन्यपक्षं प्रति उत्कम् उत्कण्ठितं सत् इति उक्तप्रकारेण उद्ययौ उद्गतम्, युक्तमेतत् आहुर्बुवन्ति, के ? सूरयः, कम् ? अभ्यमित्रीणं भटम् किं ब्रुवन्ति ? अभिमित्रं सहायम्, क्व ? रणे सङ्ग्रामे, कथम्भूतम् ? उदारम्, किं कुर्वाणं सन्तम् ? स्वमात्मानं सदने गृहेऽर्पयन्तम् ॥७१॥

स्वं पूर्वकायं प्रविशद्भिरश्वैरमुक्तमार्गै रथकर्मभारैः ।
अतारि तिर्यङ्नरकोपबद्धा कृच्छ्रात् कृताघैरिव जन्यभूमिः ॥७२॥

स्वमिति—स्वमात्मीयं पूर्वकायमग्राङ्गं प्रविशद्भिरश्वैर्वाजिभिः जन्यभूमिः सङ्ग्राममेदिनी अतारि अवतीर्णा, कथम्भूतैः ? अमुक्तमार्गैः अत्यक्तसंचरैः पुनः रथकर्मभारैः रथकर्मैव भारो येषां तैः, कथमतारि ? कृच्छ्रात्, तिर्यक्, कथम् ? तिर्यक्कृच्छ्रादित्यव्ययं विभक्तिप्रतिरूपकम्; कष्टेन, कथम्भूता ? नरकोपबद्धा नराणां यः कोपः तेन बद्धा, कैरिवातारि ? कृताघैरिव विहितपापैः प्राणिभिर्यथा जन्यभूमिः कृच्छ्रादुत्तीर्यते, कथम्भूता ? तिर्यङ्नरकोपबद्धा तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तिर्यङ्नरकास्तैरुपबद्धा, कथम्भूतैः ? कृताघैः प्राणिभिः ? अमुक्तमार्गैः अत्यक्तसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणपथिभिरथाथवा किं कुर्वद्भिरिव ? स्वमात्मीयं पूर्वकायं अनेकजन्मपुद्गलप्रचयोज्ज्वलक्षणं शरीरं कर्मभारैः कर्मसमूहैः प्रविशद्भिः ॥७२॥

रक्तरंजित युद्धभूमि रंगीन पानीसे नहलायी गयी और परिणयके लिए तैयार कन्याके समान लगती थी। क्योंकि रणभेरियाँ बज रही थीं, इसके साथ-साथ शियारियोंके गलेसे (गल्यरव) 'हुआँ हुआँ' की तान लग रही थी [महावर आदि शृंगारसे सज्जित कन्याके विवाहमें भी बाजे बजते हैं तथा सौभाग्यवती (शिवा) नारियाँ (अंगना) उत्साहके साथ मंगल गीत गाती हैं ॥७०॥

उपेन्द्र श्री लक्ष्मण अथवा श्रीकृष्णके पक्षके राजा लोग शत्रुसमूहपर टूट पड़े थे, क्योंकि वे लड़ाईके लिए उत्सुक तथा तैयार भी थे। राजभवनमें सर्वदा मित्रके आगे-पीछे चलनेवालेको (अभि-मित्रं) और रणमें अपनेको बलिदान करके भी शत्रुओंपर टूट पड़नेवालों (अभि-अमित्रीणं) को ही, वास्तवमें उदार कहा जाता है ॥७१॥

रथोंके खींचनेके भारसे दुहरे तथा अपने रास्तेको पकड़े जाते-जाते शरीरके अगले भागको तिरछे-तिरछे शत्रुसेनामें घुसेड़ते हुए घोड़ोंने, घोर पापियोंके समान बड़े कष्टसे युद्धभूमिको पार किया था क्योंकि योद्धाओंके क्रोधके कारण इसमें बाधाएँ-ही-बाधाएँ थीं (नर-कोप-बद्धा) [मोक्षमार्गसे विमुख, कर्मोंके बन्धनसे लदे और अपने-अपने पूर्वार्जित शरीरोंको धारण करते हुए पापी जीव भी मोक्षके मार्ग सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्रको न

रथान्वसावेशविवृत्तचक्रान् रथ्याः सुखेनाचकृषुस्तुरङ्गाः ।
सारथ्यभीषुभ्रमणानुकूलमाकृष्यते स्नेहवशेन सर्वः ॥७३॥

रथेति—तुरङ्गाः अश्वाः सारथ्यभीषुभ्रमणानुकूलं सारथिरज्जुभ्रमणानुकूलं यथासुखेन कृत्वा वसावेशविवृत्तचक्रान् वसा शरीरस्नेहः[1] ? तदावेशेन विवृत्तानि भ्रमणशीलानि चक्राणि येषां तान् रथान् आचकृषुराकृष्टवन्तः, कथम्भूतास्तुरङ्गाः ? रथ्याः रथं वहन्तीति रथ्याः, युक्तमेतत्, सर्वो जनः स्नेहवशेनाकृष्यते ॥ ७३ ॥

ततोऽभ्यमित्रीयमिदं गरीयो राजन्यकं व्याततं धर्मलोपम् ।
गुणच्छिदापूर्वसरं परेषां क्रोधाकुलानामविधिः[2] कुतो वा ॥७४॥

तत इति—ततो हस्त्यश्वरथसैन्यावर्णनानन्तरम् इदं राजन्यकं राजपुत्रसमूहः धर्मलोपं दयाप्रधानस्य व्रतस्य नाशं चापलोपं च व्याततं तनोति स्म, केषाम् ? परेषां शत्रूणाम्, कथम्भूतं धर्मलोपम्[3] ? गुणच्छिदापूर्वसरम् औदार्यादिगुणच्छेदनाग्रेसरं ज्यानाशपुरःसरं च, कथम्भूतं राजन्यकम् ? अभ्यमित्रीयं शत्रुमभिलक्षीकृत्य स्थितं पुनः गरीयो गरिष्ठम्, युक्तमेतत्, वा शब्दोऽत्र संभावनायां विभाव्यते, तेनायमर्थः; क्रोधाकुलानामपि अविधिः कुतः स्यात्, अपितु विधिरेव स्यात् ॥७४॥

विद्यानवद्यैः कवचानि शस्त्रैस्तेन द्विधाभित्सत शात्रवस्य ।
सहस्रशः सन्तमसानि तीव्रैरुस्रैर्निशीथस्य विवस्वतेव ॥७५॥

विद्येति—तेन राजन्यकेन शस्त्रैः तोमरकुन्तादिभिः शात्रवस्य शत्रुसमूहस्य कवचानि सन्नहनानि अभित्सत भिन्नानि, कथम् ? द्विधा द्विखण्डं यथा भवति, कथम्भूतस्य ? सहस्रशः सहस्रसंख्यस्य शात्रवस्येत्यर्थः, कथम्भूतैः शस्त्रैः ? विद्यानवद्यैः धनुर्विद्यापूतैः, इव शब्दोऽत्रोपमार्थो बोद्धव्यः, केन कैः कानीव ? विवस्वता सूर्येण तीव्रैः सोढुमशक्यैः उस्रैः किरणैः निशीथस्य रात्रेः सन्तमसानि घनान्धकाराणीव ॥७५॥

छोड़कर (अमुक्त) तिर्यंच, नरक आदि दुस्तर गतियोंसे व्याप्त चौरासी लाख योनियोंसे (जन्म-भूमि) बड़ा तप करके ही पार पाते हैं ॥७२॥

रथोंमें जुते घोड़े सारथिकी चाबुक जिधर जाती थी उधर ही उत्साहके साथ रथोंको खींच रहे थे। रथोंके पहिये भी चर्बीका औंगन लगे रहनेके कारण हलके चलते थे। घोड़ों और पहियोंकी यह अनुकूलता भी ठीक थी क्योंकि स्नेहपाशमें पड़कर सभी खिचते आते हैं ॥७३॥

उक्त प्रकारसे हस्ति अश्व-रथ सेनाके संघर्षके बाद शत्रुओंको लक्ष्य करके बढ़ते हुए महान् राजकुमारोंने शत्रुओंके व्रत-नियमादि गुणोंको खण्डित करके उनको धर्मभ्रष्ट कर दिया था [अर्थात् ज्याको काटकर उनके धनुष (धर्म) को भी समाप्त कर दिया था] ठीक ही है, क्योंकि क्रोधसे पागल लोगोंके लिए कुछ भी अकरणीय नहीं होता है ? अपितु वे सभी कर डालते हैं ॥७४॥

शस्त्रविद्याकी दृष्टिसे सर्वगुण सम्पन्न अपने शस्त्रोंकी मारसे इन राजपुत्रोंने हजारों शत्रु राजाओंके कवचोंको उसी तरह टूक-टूक कर दिया था जैसे सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणोंके द्वारा रात्रिके गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर देता है ॥७५॥

---

१. मज्जेति सद्भावेशेन क्षेपणेति ।

२. -मविधिरिति सुष्ठुतरः पाठः । अविधिः—कार्याकार्य विवेक इति ।

३. धर्मस्य धनुष्काण्डस्येति ।

करीव सोऽपात्तमुखच्छदोऽयं व्यपोढवर्मा युधि वैरिवर्गः ।
पतन्गृहीतासिररोधि बाणैर्नयैर्विनीपात इवावनीशैः ॥७६॥

करीवेति—सोऽयं वैरिवर्गः शत्रुसमूहः अवनीशैः भूपैः कर्तृभिः बाणैः कृत्वा युधि सङ्ग्रामे अरोधि रुद्धः, कथम्भूतः व्यपोढवर्मा मुक्तकवचः पुनः अपात्तमुखच्छदः परित्यक्तमुखप्रच्छादनपटः, क इव ? हस्तीव, किं कुर्वन् ? पतन् अवस्रंसमानः पुनः गृहीतासिः स्वीकृतखड्गः, क इव अरोधि वैरिवर्गः ? विनीपात इव दुर्नय इव अत्युत्सन्निपात इत्यर्थः, कैः ? नयैः सामादिभिरिति ॥७६॥

निहत्य निस्त्रिंशगतिं तदीयां धृतः कथंचिन्नृपतिव्रजेन ।
प्रभावशास्त्रप्रबलेन तेन शमेन रागादिरिवारिसंघः ॥७७॥

निहत्येति—तेन नृपतिव्रजेन नरेन्द्रव्यूहेन, कथम् ? कथंचिन्महता कष्टेन, किं कृत्वा ? पूर्वं निस्त्रिंशगतिं खड्गव्यापारं निहत्य, कथम्भूताम् ? तदीयां शत्रुसम्बन्धिनीम्, कथम्भूतेन नृपतिव्रजेन ? प्रभावशास्त्रप्रबलेन प्रभावशम् अस्त्रम् यस्य तत् प्रभावशास्त्रं दोष्ण्यायत्तशस्त्रम्, प्रकृष्टं बलं प्रबलम्, प्रभावशास्त्रं प्रबलं यस्य तेन, क इव धृतः ? रागादिरिव, केन ? शमेन, किं कृत्वा ? पूर्वं निहत्य, काम् ? निस्त्रिंशगतिं निर्दयप्रवृत्तिम्, कथम्भूताम् ? तदीयां रागादिसंबन्धिनीम्, कथम्भूतेन शमेन ? प्रभावशास्त्रप्रबलेन प्रकृष्टो भावो यस्य तत् प्रभावं प्रभावं च तत् शास्त्रं च प्रभावशास्त्रम् तस्मात् प्रकृष्टं बलं यस्य स तथोक्तस्तेन कथम् ? कथंचित् ॥७७॥

अभूम शौर्यस्य पदं रणेऽस्मिन्नधाम धैर्यं प्रथितं वयं तत् ।
अस्थामयुक्ता इति भूमिपानां समु(मो)ह्यते स्म द्वितयेन युद्धम् ॥७८॥

अभूमेति—समु(मो)ह्यते स्म मोहं नीयते स्म, किम् ? युद्धम्, केन कर्त्रा ? द्वितयेन, केषाम् ? भूमिपानां नरेन्द्राणाम्, कथम् ? इति कृत्वा दृश्यते यतः कारणात् वयमस्थामयुक्ता असामर्थ्यसमन्विताः अभूम संजाताः तत्तस्मात् कारणात् प्रथितम्, किम् ? धैर्यम्, कथम्भूतम् ? पदं स्थानम्, कस्य ? शौर्यस्य, क्व ? अस्मिन् रणे सङ्ग्रामे, न प्रथितम् न कीर्तितम्, किम् ? धाम प्रतापलक्षणं तेजः, कथम्भूतं धाम, कस्य ? शौर्यस्य, कथम्भूतं सत् अभूम ? स्तोकमिति शेषः ।

अथ भारतीयः—समु(मो)ह्यते स्म सम्यक्प्रकारेण विसवर्धते स्म, किम् ? युद्धम्, केन ? भूमिपानां द्वितयेन कथम् ? इति कृत्वा दर्शयति—तत् कारणात् अस्थाम स्थितवन्तः, के ? वयम्, कथम्भूताः सन्तः ?

मुखके आवरण (भिलमिली) को उतारे, कवचहीन, तथा तलवार हाथमें लिये, लिये ही लुड़कते अतएव हाथीके समान गिरते हुए शत्रु राजाओंके समूहको दूसरे पक्षके राजाओंके बाणों-द्वारा वैसे ही रोका गया था जैसे नीतिके आश्रयसे घोर पतन रोका जाता है ॥७६॥

दीप्ति, नियन्त्रण तथा शास्त्र (प्रभा-वश-अस्त्र) की दृष्टिसे सर्वथा उत्कृष्ट राजाओंके समूहने प्रशमके समान शत्रुओंकी तलवारकी गतिको मिटा करके किसी तरह वैसे बन्दी बना लिया था जैसे प्रशम राग-द्वेष, आदिको वशमें कर लेता है [प्रशम भी उत्कृष्ट निर्मल भावों तथा शास्त्र (प्रभाव-शास्त्र) ज्ञानके द्वारा पुष्ट होकर रागादिकी कठोर प्रवृत्तिको रोक लेता है] ॥७७॥

इस राम-रावण युद्धमें लड़ते हुए राजाओंके युगल मूर्च्छित हो गये थे । क्योंकि उनके मनमें यह भाव आया था—हममें दुर्बलता या अस्थिरता (अस्थाम) आ गयी थी फलतः शूरताके मूल धैर्यको हम प्रकट न कर सके और न प्रचुर (अभूम) तेजका ही प्रदर्शन कर

---

१. प्रभा दीप्तिः वशं नियन्त्रणम् अस्त्रं च तेषु प्रबलेन बलवत्तरेण नृपतिव्रजेनेति ।

युक्ताः मिलिताः, यतो यस्मात् कारणात् अभूम संजाताः, के ? वयम्, किम् ? पदम्, कस्य ? शौर्यस्य, तथा अधाम धृतवन्तः, के ? वयम्, किम् ? धैर्यम्, क्व ? अस्मिन् रणे, कथम्भूतं धैर्यम् ? प्रथितं विख्यातम् ॥७८॥

बिभ्रत्सदाशाननिरूढदीप्तिं गन्धारकोऽसिं पतितोऽधिकर्धिः ।
समारुतिः किन्नरराजवन्द्यो जातोऽत्र भीमोहननाददूरः ॥७९॥ (चतुरर्थः)

बिभ्रदिति—किं न रराज अपितु रराजैव, कोऽसौ ? स दाशाननिः अक्षयकुमारः अथवा मेघनादाभिधानो रावणपुत्रः, कथम्भूतः सन् ? गान्धारकः पृथिव्या भर्त्तेत्यर्थः, पुनः कथम्भूतः ? पतितः आगतः, किं कुर्वन् ? ऊढदीप्तिं धृततेजसम् असिं खड्गं बिभ्रत् दधानः, कथम्भूतः ? अधिकर्द्धिः प्रचुरसमृद्धिः पुनः स मारुतिः मया प्राणेनोपलक्षिता रुतिर्मारुतिः सह मारुत्या वर्तमानः, सप्राणध्वनिरित्यर्थः, पुनः वन्द्यः प्रशस्यः तथा जातः, कथम्भूतः ? भीमोहननाददूरः भियो भयात् मोहनं मोहो यस्य स भीमोहनः भीमोहनश्चासौ नादश्च भीमोहननादः तस्माद् दूरः भयमोहध्वनिवर्जितः, क्व ? अत्र रणे इत्येकः पक्षः, तथा किं न रराज, अपि तु रराजैव, स मारुतिर्हनूमान्, किं कुर्वन् ? असिं खड्गं बिभ्रत्, कथम्भूतम् असिम् ? शाननिरूढदीप्तिं शाणनिशितकान्तिम्, कथम् ? सदा सर्वकालम्, कथम्भूतः सन् ? पतितः गतः स्थित इत्यर्थः, क्व ? अत्र रणे, तथाधारको धरिष्यति, कोऽसौ ? समारुतिः, काम् ? गां पृथिवीम्, कथम्भूतः ? अधिकर्द्धिः, अन्यत् समम्, द्वितीयोऽर्थः ।

अथ भारतीयौ पक्षौ—किं न रराज अपितु रराजैव, कोऽसौ ? गान्धारको दुर्योधनः, किंभूतः ? असिं मण्डलाग्रं बिभ्रत्, कथम्भूतः ? समारुतिः समानध्वनिः, अन्यत् समम्, जातः, कोऽसौ ? गान्धारकः, कथम्भूतः ? भीमोहननाददूरः, अत्र रणे तृतीयोऽर्थः । किं जातः अपितु न जातः, कोऽसौ ? भीमो वृकोदरः, कथम्भूतः ? अदूरो निकटः, कस्मात् ? हननात् हतेः शत्रूणां हननं विहाय कार्यान्तरे तत्परो जात इत्यर्थः, क्व ? अत्र रणे, कथम्भूतो न रराज ? वन्द्यः नरेन्द्राणां पूज्यः, अथवा नरराजस्यार्जुनस्य वन्द्यः, कथम्भूतः ? समारुतिः समेषु सर्वेषु प्राणिषु आरुतिरभयध्वनिर्यस्य स तथोक्तः पुनः अधिकर्द्धिः अधिका ऋद्धिर्यस्य सः, कस्मात् ? पतितः स्वामिनो युधिष्ठिरात्, कथम्भूतः ? असिं बिभ्रत् धरन्, कथम्भूतम् असिम् ? सदाशाननिरूढदीप्तिं दाशा भृत्याः, आनः प्राणनम् आश्वासनमित्यर्थः, दाशानाम् आनः दाशानः, सह दाशानेन वर्तन्ते सदाशाना निरूढा चासौ दीप्तिश्च निरूढदीप्तिरुत्तेजितकान्तिः सदाशाना-

---

सके [इस कौरव-पाण्डव युद्धमें युद्धलीन उभय पक्षके राजाओंने भलीभाँति (सम्यक्) यह तर्क किया था (उह्यते स्म) कि हम पराक्रमके भागी हुए हैं (अभूम-क्रिया), लोकोत्तर (प्रथित) धैर्यको धारण किया है (अधाम) और मिलकर (युक्ताः) डटे रहे हैं (अस्थाम)॥७८॥

१–इस राम-रावण युद्धमें अत्यन्त चमचमाती तलवारको लेकर कूद पड़ा वह दशाननका पुत्र (स दाशाननिः) अक्षयकुमार (मेघनाद) क्या सुशोभित नहीं हुआ था ? अपि तु हुआ ही था क्योंकि वह पृथ्वी (गां) का पालक (धारक) था, समृद्धिशाली था, उसकी ध्वनि (रुतिः) प्राण (मा) पूर्ण थी, तथा उसके हुंकार (नाद) में भय भी और मूर्च्छा (मोहन) का लेश भी न होनेसे (दूर) वह सबके लिए प्रशंसनीय था ।

२–इस युद्धमें विद्याधरों (किन्नरों) के राजाओं-द्वारा वन्दनीय वह पवनसुत (मारुतिः) खराद (शान) पर चढ़ाये जानेके कारण चमकती तलवारको लिये रहनेके कारण अत्यन्त भयंकर (भीमः) और शत्रुसंहार (हनन) में लीन हो गया था । क्योंकि वह पृथ्वी (गां) को धारण करनेवाला (धारकः) था तथा अपने स्वामी (पतितः) से भी अधिक शक्तिशाली था ।

निस्त्रुदीप्तिर्यस्य स तथोक्तः उत्तेजितदीप्ति खड्गं विलोक्य यस्य दासानां प्राणानमसूदित्यर्थः, किं कर्त्तुम् ? धारकः धर्तुम्, काम् ? गां पृथ्वीम् अथवा अहं कष्टं ननाद जगर्ज, कोऽसौ ? भीमः, कथम्भूतः ? क्रूरः दुष्टध्वनिः, अत एव जातः, कोऽसौ ? भीमः, कथम्भूतः ? स मारुतिः समेषां सर्वेषां शत्रूणाम् आरुतिः आलापो यस्मात् सः, क्व ? अत्र सङ्ग्रामे पुनः किन्नरराजानां प्रधानगन्धर्वाणां वन्द्यः स्तुत्य इति चतुर्थोऽर्थः ।।७९।।

परेऽपि ये यैर्विधुता नरेन्द्राः [1]कैर्नावबुद्धं युधि नाम तेषाम् ।
यः कोऽपि दिग्देशकुलप्रमाणं वेवेक्ति राज्ञोऽपि परं स वेत्ति ।।८०।।

परे इति—परेऽपि अन्येऽपि ये नरेन्द्राः यैः नरेन्द्रैः विधुताः, कस्याम् ? युधि सङ्ग्रामे, तेषां नरेन्द्राणां नाम केनावबुद्धम् अवगतम् अपितु न केनापि, यः कोऽपि वेवेक्ति जानाति, किम् ? दिग्देशकुलप्रमाणं दिशः पूर्वादयः देशा अङ्गकलिङ्गादयः, कुलानि इक्ष्वाकुसूर्यादीनां वंशाः दिशश्च देशाश्च कुलानि च तानि तथोक्तानि, तेषां प्रमाणं तत् तथोक्तं परं केवलं वेत्ति कोऽसौ ? सोऽपि पुरुषः, कान् ? राज्ञो नरेन्द्रान् इति ।।८०।।

आपृच्छमाना इव नादवत्त्वान्निरोद्धुकामा इव विप्रयोगात् ।
सोच्छ्वासकैरुच्छ्वसतां प्रियाणां प्राणा नृणां कण्ठगता बभूवुः ।।८१।।

आपृच्छमाना इति—नृणां प्राणा असवः कण्ठगता गलस्थिता बभूवुः संजाताः, किं कुर्वतां सताम् ? उच्छ्वसताम्, कैः ? सोच्छ्वासकैः किंविशिष्टा इवोत्प्रेक्ष्यन्ते ? आपृच्छमाना इव । प्रश्नं कुर्वाणा इव, कस्मात् ? नादवत्त्वात्, किं विशिष्टा इव ? निरोद्धुकामा इव निरोद्धुमनस इव, कस्मात् ? विप्रयोगात्, कासाम् ? प्रियाणां कामिनीनाम् ।।८१।।

३—शानपर चढ़ाकर सदैव चमकायी गयी तलवारको लेकर भारतमें कूदा (अत्र पतितः) गान्धारीका पुत्र दुर्योधन असीम विभूतिका स्वामी होकर भी, समस्त प्राणियोंको रुलाकर (आरुतिः) भी, किन्नरों और राजाओंके द्वारा वन्दनीय होकर भी तथा अत्यन्त रुद्र (भीम) होकर भी क्या मृत्यु (हनन) के निकट (अदूर) नहीं आया था (जातः) । अर्थात् मारा ही गया था ।

४—सज्जनों (सतां) की आशा और जीवनके द्वारा अपनी शोभाको बढ़ाती हुई पृथ्वीका (गां) पालक, वायुप्रधान (मारुतिः) अर्थात् स्थूल और प्रभु धर्मराजसे भी अधिक शक्तिशाली भीम तलवारको लेकर क्या मनुष्योंके राजाओं अथवा अर्जुनका भी पूज्य नहीं हुआ था । हर्ष है (अहं) कि इस रणमें कर्कश ध्वनिवाला वह भीम भी गरज पड़ा था ।।७९।।

इस युद्धमें एक पक्षके राजाओं-द्वारा जो दूसरे राजा घेरे या मारे गये थे उनके नामको किसने जाना है । जो कोई इन राजाओंकी दिशा, अंग, वंगादि देश और इक्ष्वाकु, पौरवादि वंशको भी जानता है वह ही बहुत जानता है क्योंकि अनभिगत राजाओंके नाम-ग्राम जानना असम्भव है ।।८०।।

लम्बी-लम्बी साँसें लेकर हाँफते हुए योद्धाओंके प्राण गलेमें आकर अटक गये थे । 'घर-घर' नादके बहानेसे वे प्रश्न करनेके समान प्रतीत होते थे तथा अपनी-अपनी प्रियतमाओंके चिर वियोगकी कल्पनासे मानो प्राणोंको रोकनेका ही प्रयत्न कर रहे थे ।।८१।।

---

१. केनावबुद्धम् इति टीकासम्मतः पाठः ।

असृग्वसामांसरसेन भग्ना मस्तिष्कमुन्मग्नकपालशल्कम् ।
आस्वाद्य तद्दाधिककल्पमल्पा लेभे रुचिर्भग्नमुखैः पिशाचैः ॥८२॥

असृगिति—पिशाचैः अल्पा स्तोका रुचिः लेभे प्राप्ता, किं कृत्वा ? पूर्वमास्वाद्यालिह्य, किम् ? तन्मस्तिष्कं शिरोभेदः, कथम्भूतम् ? उन्मग्नकपालशल्कं उन्मग्नं कपालशल्कं येन तत्तथोक्तं संभृतकपालखण्डमित्यर्थः, पुनः दाधिककल्पं दध्ना संस्कृतं वस्तु दाधिकम्, ईषत्सिद्धि दाधिकं दाधिककल्पं दाधिकसदृशमित्यर्थः । किम्भूता रुचिः ? असृग्वसामांसरसेन रक्तमांसस्नेहवशेन भग्ना, कथम्भूतैः पिशाचैः ? भग्नमुखैरपाटववदनैः ॥८२॥

भुवि दिशि दिवि कश्चिद्यः समज्ञा(ज्ञा)नतृप्तः
सपदि हरिविधानं यातुधानः सुरो वा ।
परिततसुमनास्तं विक्रमं धाम धैर्यं
विपुलपुलकिताङ्गस्तत्र तुष्टाव तुष्टः ॥८३॥

भुवीति—तुष्टाव स्तुतवान्, कोऽसौ ? स यातुधानो राक्षसः, कम् ? तं विक्रमं तथा धाम प्रतापं तथा धैर्यम्, क्व ? तत्र सङ्ग्रामे, कथम्भूतः ? तुष्टः आनन्दवान्, पुनः विपुलपुलकिताङ्गः प्रचुररोमाञ्चितशरीरः पुनः परिततसुमनाः प्रसृतचेताः, कथम्भुतं विक्रमादि ? हरिविधानं हरेर्नारायणात् विधानं क्रिया यस्य तत् सर्वम्, यः कश्चित् कश्च न तृप्तः अपितु तृप्त एव, केन ? मज्ज्ञा मज्जया रसादीनां सप्तधातूनां मध्ये षष्ठेन धातुविशेषेण, क्व नु ? भुवि भूमौ दिशि आशायां दिवि गगने, वा अथवा तुष्टाव, कोऽसौ ? सुरो देवः, कम् ? तं विक्रमं धाम धैर्यं च, कथम्भूतः ? तुष्टः पुनः परिततसुमनाः परितताः सुमनसो येन स तथोक्तः विस्तृतकुसुमः कृतपुष्पवर्ष इत्यर्थः, कथम्भूतः सुरः ? समज्ञानतृप्तः समं च तत् ज्ञानं च समज्ञानं तेन तृप्तः स तथोक्तः, यः कश्चिदभूत्, क्व ? भुवि दिवि दिशीति शेषं सुगमम् ॥८३॥

इहावाप्तकीर्तिं[1] हरिदवधिमन्यत्र समया—
त्रिलिम्पानां बालां मम पतिरितीवोत्सवभरात् ।
स्वदेहं नृत्यन्तं सह सुरवधूभिः परनृपा
विमानस्योत्सङ्गे ददृशुरधिकं विस्मितदृशः ॥८४॥

करीब-करीब जमे हुए दहीके समान और कपालरूपी खप्परमें पूर्ण रूपसे भरे हुए मस्तिष्कके पदार्थको चखकर मुंह टेढ़ा करनेवाले पिशाचोंको इस नरसंहारमें बहुत कम आनन्द आया था क्योंकि सफेद मस्तिष्कमें रक्त, चर्बी और मांस मिल जानेसे वह बेस्वाद हो गया था ॥८२॥

जो राक्षस चर्बीसे सन्तुष्ट नहीं हुआ था उसका चित्त भी नारायण अथवा वानरोंके द्वारा कृत इस संहारको अकस्मात् देखकर शान्त हो गया था। उसके पूरे शरीरमें जोरोंका रोमांच हो गया था और वह अत्यन्त तृप्त होकर नारायणके पराक्रम, तेज तथा धैर्यकी सारी पृथ्वी, सब दिशाओं और आकाशमें प्रशंसा कर रहा था [हरिकी इस संहारलीलाको देखकर शम (सम) और विवेकको प्राप्त किसी देवके सारे शरीरमें निर्वेदका रोमांच हो आया था। उसने आकाशसे पुष्प वृष्टि की थी (परि-तत-सुमनाः) और शौर्य, प्रताप तथा दृढ़ताकी तीनों लोकों, दशों दिशाओं तथा स्वर्गमें स्तुति करता चला जा रहा था] ॥८३॥

1. शिखरिणीवृत्तम् ।

इहेति—परतपाः शत्रवः स्वदेहमात्मशरीरं नृत्यन्तं नटन्तं ददृशुः दृष्टवन्तः, कथम् ? सह सार्द्धम्, काभिः ? सुरवधूभिः विमानस्य देवयानस्योत्सङ्गे मध्ये, कथं यथा भवति ? अधिकं प्रबलप्रवृत्ति, कथम्भूताः सन्तः ? विस्मितदृशः आनन्दवशाद्विस्फारितलोचनाः, कस्मात् ? उत्सवभरात्, कथम् ? इतीव हेतोः, कथमिति कृत्वा प्रकाश्यते—अवापत् प्राप्तवान्, कोऽसौ ? मम पतिः स्वामी इह मध्यलोके हरिदवधि हरितो दिशोऽवधिः सीमा यस्यास्तां सर्वाशामर्यादाम् कीर्तिम्, तथा चावापत् मम पतिः निलिम्पानाम् अमराणां बालां देवाङ्गनाम्, क्व ? अन्यत्र परलोके, कथम् ? समनात् क्षणात् एव ॥८४॥[1]

पतितसकलपत्रा तत्र कीर्णारिमेदा वनततिरिव रुग्णा सामजैर्भूमिरासीत् ।
निहतनिरवशेषा स्वाङ्गशेषावतस्थे कथमपि रिपुलक्ष्मीरेकमूला लतेव ॥८५॥[2]

पतितेति—आसीत् संजाता, का ? भूमिः, कथम्भूता ? रुग्णा भङ्गवती, कैः ? सामजैः हस्तिभिः, कथम्भूता सती ? पतितसकलपत्रा प्रभ्रष्टसमस्तवाहना पुनः कीर्णारिमेदाः कीर्णं प्रसृतमरीणां मेदो यस्यां सा तयोक्ता भूमिः, केव ? वनततिरिव वनपङ्क्तिर्यथा, कथम्भूता ? पतितसकलपत्रा परिभ्रष्टसम्पूर्णच्छदा, कथम्भूता सती ? सामजैः रुग्णा भग्ना, तथा अवतस्थेऽवस्थिता, का ? रिपुलक्ष्मीः, कथम् ? कथमपि महता कष्टेन, कथम्भूता ? निहतनिरवशेषा निहतं निरवशेषं चतुरङ्गं यस्याः सा तथोक्ता, कथम्भूता ? स्वाङ्गशेषा स्वाङ्गमेव शेषं यस्याः सा तथोक्ता, केव ? एकमूला लतेव, कथम्भूता ? निहतनिरवशेषा निहतं निरवशेषं फलकुसुमादि यस्याः सा तथोक्ता । अन्यत् समम् ॥८५॥

सामाजिकैर्नृपजनैः पिशिताशिवर्गैः शैलूषतामुपगतैश्च कबन्धपात्रम् ।
नृत्यं शिवारुतमृदङ्गरवं निरूप्य संगृह्य बन्दिमविशञ्छिबिरं हरीशाः ॥८६॥[3]

द्विः सामाजिकैरिति—हरीशाः शिबिरं स्कन्धावारं सेनानिवेशस्थानम् अविशन् प्रविष्टाः, किं कृत्वा ? पूर्वं हिरण्यादिभिः कृत्वा बन्दि बन्दिजनं संगृह्यादाय संतर्प्येत्यर्थः, किं कृत्वा ? पूर्वं निरूप्य दृष्ट्वा, किम् ? नृत्यम्, कथम्भूतम् ? कबन्धपात्रं कबन्धान्येव रुण्डान्येव पात्राणि यत्र तत्, पुनः शिवारुतमृदङ्गरवम् शिवारुतमेव मृदङ्गरवो यत्र तत्, कैः सद्भिः ? नृपजनैः सामाजिकैः सभ्यैः, तथा, कैः सद्भिः ? पिशिताशिवर्गैश्च राक्षससमूहैः, कथम्भूतैः ? शैलूषतां नटस्वरूपमुपगतैः ।

अधुना भारतीयः पक्षः—हरीशा यादवाः शिबिरमविशन् । शेषं प्राग्वत् ॥८६॥

मरकर स्वर्ग गये और सुराङ्गनाओंके साथ स्वर्गके विमानोंमें विराजमान वीर राजाओंने आँखें फाड़-फाड़कर अपने नाचते हुए मृत शरीरको युद्धस्थलीमें देखा था। (मरणके बाद स्वभावसे ही थोड़ी देर तक उचकते-कूदते शरीरमें कवि कल्पना करता है कि) जो कि बड़ा आनन्द इसलिए मना रहा था कि उसके स्वामीने मध्यलोकमें दिग्-दिगन्त तक व्याप्त कीर्तिको प्राप्त किया था तथा दूसरे ही क्षण, स्वर्गमें जाकर सुरबालाओंको वरण किया था ॥८४॥

टूटे-फूटे वाहनों (पत्र) से व्याप्त तथा शत्रुओंकी चर्बीसे लथपथ भूमि, जंगली हाथियों (सामजैः) के द्वारा उजाड़ी गयी अटवीके समान प्रतीत होती थी [हाथियोंके निकलनेपर जंगलके पेड़ोंपर पत्ते नहीं रहते हैं तथा भूतल बिट खदिरोंसे पट जाता है]। समस्त सेनाके नष्ट हो जानेपर अकेली बची शत्रुओंकी लक्ष्मी बड़े कष्टसे उस लताके समान खड़ी थी जिसकी जड़मात्र शेष रह जाती है [समस्त पत्ते, फूल-फलके नष्ट हो जानेपर लताको भी जड़का ही सहारा रह जाता है] ॥८५॥

---

१. लक्षण एव प० ज० । शिखरिणीवृत्तम् ।

२. मालिनीवृत्तम् ।

३. वसन्ततिलकावृत्तम् ।

वाराङ्गना ननृतुरुत्पतिताः पताकाः कुन्त्यौव्रतैकधृतिराप तदा महर्धिम् ।
लक्ष्मीधरो निलयमुज्ज्वलदृश्यसेव्यः सश्रीधनं जयचिताश्वबलो विवेश ॥८७॥

द्वि॰ वाराङ्गना ननृतुरिति—वाराङ्गनाः विलासिन्यो ननृतुः नृत्यं चक्रुः, तथा पताकाः उत्पतिताः उच्छ्रिताः ऊर्ध्वीकृताः, तदा तस्मिन् काले लक्ष्मीधरो लक्ष्मणः कुं पृथ्वीम् आप प्राप्तवान्, कथम्भूतः ? तीव्रतैकधृतिः तीव्रतायामेका धृतिर्यस्य सः, तथा आप लक्ष्मीधरः, काम् ? महर्द्धिं महती चासौ ऋद्धिश्च महर्द्धिः ताम्, तथा श्रीधनं श्रीरेव धनं यत्र तत्, जयम् आप, तथा निलयं गृहं विवेश प्रविष्टवान्, कथम्भूतः उज्ज्वलदृश्यसेव्यः उज्ज्वलर्द्धिः ऋश्यैः सेव्यः प्रभावत्कपिसेव्यः अथवा उज्ज्वलः कान्तिमान्, दृश्यो रूपवान्, सेव्यः सेवायोग्यः, स च तथोक्तः, पुनः चिताश्वबलः पुष्टहयसैन्यः ।

अथ भारतीयः—कुन्ती महर्द्धिम् आप लेभे, कथम्भूता व्रतैकधृतिः, कदा ? तदा, तथा लक्ष्मीधरो विष्णुः निलयं विवेश, कथम्भूतम् ? सश्रीधनंजयं श्रियोपलक्षितेन धनंजयेन सह वर्तते इति तं ससम्पदर्जुनम् कथम्भूतो लक्ष्मीधरः ? चिताश्वबलः चिता अश्वा यस्य स चिताश्वः चिताश्वो बलो बलभद्रो यस्य सः । शेषं तुल्यम् ॥८७॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीमण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां द्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य राघवपाण्डवीयापरनाम्नः काव्यस्य पदकौमुदीनाम दधानायां टीकायामुभयसङ्ग्रामव्यावर्णनं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

■

पहले रुण्डरूपी अभिनेताओं (पात्र) का नृत्य देखकर तथा सियारियोंके रोनेरूपी मृदंगोंकी ध्वनिको सुनकर और चारणोंको पुरस्कार देकर अपने दरबारियों और परिजनों तथा नटोंके स्थानको प्राप्त राक्षसोंके साथ राघवेन्द्र अथवा यादवेन्द्रने अपने-अपने शिविरमें प्रवेश किया था ॥८६॥

उस समय वाराङ्गना नाचने लगी थीं, विजय पताकाएं फहरा रही थीं। तीव्रतामें सबसे उत्तम, लक्ष्मीके निवास, उछलते-कूदते वानरों (ऋश्य) के द्वारा सेवित लक्ष्मणजीने पृथ्वीको प्राप्त किया था तथा कान्ति, धन और जयकी पोषक अश्व सेनाके साथ अपने महा वैभवशाली गृहमें प्रवेश किया था [विजयी पाण्डव सेनाकी वैजयन्तियाँ फहरा रही थीं, वेश्याएं नाच रही थीं। अपने व्रतमें एकनिष्ठ महारानी कुन्ती (व्रतैकधृतिः कुन्ती) को लोकोत्तर प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। तथा श्री धनंजय और अश्व संचालनमें प्रवीण बलभद्रके साथ कान्तिमान (उज्ज्वल) दर्शनीय (दृश्य) एवं पूजनीय (सेव्य) लक्ष्मीपति श्रीकृष्णने अपने गृहमें प्रवेश किया था] ॥८७॥

इति निर्दोष विद्याभूषण भूषित पण्डित मण्डलीके पूज्य षट्तर्क चक्रवर्ती श्रीमान् पण्डित विनयचन्द्र गुरुके प्रशिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाकी चातुर्यचन्द्रिकाके चकोर, नेमिचन्द्र-द्वारा विरचित कवि धनंजयके राघवपाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी टीकामें 'उभय संग्राम' व्यावर्णन नामका षोडश सर्ग समाप्त ॥१६॥

■

सप्तदशः सर्गः

अथ संयुगं सुतरसाप्तयुगमरिरपश्चिमो हरेः ।
कालमिव समधिरुह्य रथं तमकालचक्रगतिचक्रमाविशत् ॥१॥

(द्विः) अथ नायकवर्णनानन्तरम् आविशत् प्रविष्टवान्, कोऽसौ ? अरिः, किम् ? संयुगं संग्रामम्, कथम्भूतोऽरिः ? अपश्चिमः आद्यः, कस्य ? हरेर्लक्ष्मणस्य रावण इत्यर्थः, किं कृत्वा ? तं लोकोत्तरं रथं समधिरुह्य, कथम्भूतं रथम् ? सुतरसाप्तयुगं सुतैः पुत्रैः रसेन स्नेहेन आप्तं युगं धुरा यस्य पुनः अकालचक्रगतिचक्रम् अकालचक्रस्येव गतिर्ययोः तथाभूते चक्रे यस्य तं तथोक्तम्, कमिव ? कालमिव मृत्युमिव, कथम्भूतम् ? अकालचक्रगतिचक्रम् प्रलयकालप्रवृत्तिसमूहम् ।

भारतीयः पक्षः—आविशत् हरेरपश्चिमोऽरिर्जरासन्ध इत्यर्थः । कम् ? संयुगम्, किं कृत्वा ? पूर्वं समधिरुह्य; कम् ? रथम्, कथम्भूतम् ? सुतरसाप्तयुगं सुष्ठुतरतीति सुतरम् अतिप्लवमानं मनोवेग इत्यर्थः, सप्त्योरिदं साप्तम् आश्वम्, साप्तं च तद्युगं च साप्तयुगं सुतरं साप्तयुगं यस्य तम् । अन्यत् सुगमम्[1] ॥१॥

अशिरः शवं शरणमेव विशति कवचं बिभर्ति यः ।
प्राणविनिमयमयं हि यशः सुलभं भवेदिति स वर्म नाददे ॥२॥

अशिर इति—सः अरिः वर्म सन्नाहम् इति नाददे न जग्राह, किमिति एषः किम् अशिरः मस्तकरहितं शवं शरणं विशति, कोऽसावेषः ? यः कवचं बिभर्ति, हि यस्मात् यशः किं सुलभं भवेत् ? कथम्भूतम् ? प्राणविनिमयमयं प्राणानां विनिमयः परिवर्तनं तेन निर्वृत्तं प्राणविक्रयलभ्यमित्यर्थः ॥२॥

तमधूममग्निमिव दृष्टिविषमिव विमुक्तकञ्चुकम् ।
नागमिव विगतवक्त्रपटं बलवर्जितं ददृशुरूर्जितं सुराः ॥३॥

तमिति—सुराः देवाः तमरिम् अधूमं निर्धूमम् अग्निमिव ददृशुः, पुनः दृष्टिविषं सर्पविशेषमिव ददृशुः, कथम्भूतम् ? विमुक्तकञ्चुकम् अपास्तनिर्मोकम्, तथा कमिव ? विगतवक्त्रपटम् अपाकृतवदनाच्छादनम् ऊर्जितं प्रौढं बलवर्जितं[2] बलभद्ररहितं नागं गजमिव ददृशुः ॥३॥

[नायक वर्णनके उपरान्त प्रतिनायकका वर्णन करते हैं] पुत्रोंके स्नेह (रस) रूपी आँगन युक्त धुरावाले तथा प्रलय चक्रके समान अत्यन्त वेगवान रथके ऊपर चढ़कर श्री लक्ष्मणके मुख्य शत्रु रावणने यमके समान युद्धभूमिमें प्रवेश किया था [अत्यन्त सरलतासे आगे बढ़ते (सुतर) घोड़ों (साप्त)की जोड़ीसे युक्त, अत्यन्त वेगवान रथके ऊपर दृढ़तापूर्वक सवार श्रीकृष्णके प्रथम शत्रु जरासंधने मृत्युके समान युद्धस्थलीमें प्रवेश किया था] ॥१॥

रावण अथवा जरासंधने कवच नहीं पहिना था। इनका विचार था कि जो कवच धारण करता है वह (शिरस्त्राण अलग होनेके कारण मस्तक-हीन) शवकी शरण लेता है। (जो कि स्वाभिमानके विरुद्ध है। और यशको मलिन करता है) क्योंकि वीरोंको प्राणोंकी बाजी लगानेपर ही मिलनेवाले यश, कवच सुलभ कर देता है ॥२॥

---

१. सर्गेऽस्मिन् उद्गतावृत्तम् । तल्लक्षणं हि 'सजसादिमे सलघुकौ च न सजगुरुकैरथोद्गता । त्र्यङ्घ्रिगत भनजला गयुताः सजसा जगौ चरणमेकतः पठेत् । [वृ० र० ६ अ०-५ ।''']

२. बलेन सैन्येन रहितमिति ।

तनुरक्षया परिणतेव कुपितमपि हेतिरूपताम् ।
यातमिव निशितशस्त्र(मस्त्र)मपि ज्वलनात्मतां गतमिवास्य चक्रिणः ॥४॥

तनुरिति—अस्य चक्रिणः तनुः शरीरं परिणतेव प्राप्तवार्द्धक्या वनितेव बभूवेति क्रियाध्याहार्य्या, कथम्भूता ? अक्षमा न विद्यते क्षमा यस्यां सा क्रोधरूपेत्यर्थः, कथम्भूता परिणता ? वार्द्धकवशात् अक्षया गन्तुमशक्ता तयाकुपितमपि हेतिरूपतां शस्त्रसारूप्यं यातं गतमिव निशितं तीक्ष्णं शस्त्र(अस्त्र)मपि ज्वलनात्मतां वह्निरूपतां गतमिव ॥४॥

स रुषायुधं विषमिवाहिरशनमिव तोयदोऽसृजत् ।
क्षौद्रपटलपतितैरिव तच्छरघैः शिरस्त्रनिवहैर्मही बभौ ॥५॥

स इति—सोऽरिः आयुधं शस्त्रं रुषा कोपेन असृजत् मुक्तवान्, कः किमिव ? अहिः सर्पः विषमिव गरलमिव, पुनः अशनिवज्रं तोयदो मेघ इव तत्तस्मात् शिरस्त्र-निवहैः शिरांसि त्रायन्त इति शिरस्त्राणि तेषां निवहैः समूहैः मही मेदिनी बभौ रेजे, कैरिव ? क्षौद्रपटलपतितैः मधुच्छत्रच्युतैः शरघैरिव मधुमक्षिका-भिरिव ॥५॥

दहनास्त्रपाणिरपमूर्धं विदधदरिसैन्यमाजनुः ।
वेदनं भयरसमित्यशिरः पुरतः स दिव्यमधृतेव नाकिनाम् ॥६॥

दहनेति—सोऽरिः अधृतेव धृतवानिव, किम् ? दिव्यम्, कथम्भूतम् ? अशिरो न शिरो यस्य तदशिरः प्रतिद्वन्द्वरहितमित्यर्थः पुरतः अग्रतः, केषाम् ? नाकिनां देवानाम्, कथम् ? इति कृत्वा प्रकाश्यते, भो नाकिनो देवाः न वेद न वेद्म्यहम्, कम् ? भयरसम्, कथम् ? आजनुः आजन्म, किं कुर्वन् ? अरिसैन्यम् अपमूर्द्धम् अपगतमस्तकं विदधत् कथम्भूतः सन् ? दहनास्त्रपाणिः ज्वलनबाणहस्त इति ॥६॥

सेनारहित तथा उद्धत इस शत्रु (रावण-जरासन्ध)को युद्धके अनुरागी देवताओंने बिना धुएँकी आगके समान अथवा केंचुली छोड़नेके बाद बाहर आये 'दृष्टिविष' (जिसकी दृष्टिमें ही विष होता है) साँपके समान अथवा बाहरके दाँतोंसे रहित हाथीके समान देखा था ॥३॥

चक्रधारी अथवा चक्रवर्ती इस शत्रुका शरीर बुढ्ढी स्त्रीके समान अशक्त हो गया था। अथवा क्षमाहीन हो गया था। अत्यन्त क्रुद्ध होकर भी वह शस्त्र (हेति)के समान (पराधीन) हो गया था तथा तीक्ष्ण शस्त्रोंका (लक्ष्यहीन) प्रहार करके भी वह (भभकती, किन्तु न जलाती) ज्वालाके सदृश प्रतीत होता था [बुढ़ियाके शरीरमें भी सामर्थ्य नहीं रहती है, गुस्सा होनेपर 'हा, हा' (हा-इति) करने लगती है तथा तीक्ष्ण हथियार पास रहनेपर भी, प्रयोग न करके अपने मन ही मन जलती रहती है] ॥४॥

जैसे साँप विषका वमन करता है अथवा जैसे मेघ वज्र बरसाते हैं उसी प्रकार रुष्ट हो कर यह शत्रु शस्त्र चला रहा था। बिखरे हुए शिरस्त्राणोंके कारण युद्धस्थलीकी वही दशा हो गयी थी जो मधु-मक्खियोंके छत्तेसे गिरी मधुमक्खियोंके भूमिपर पड़े रहनेसे होती है ॥५॥

अग्निबाणोंको हाथोंसे छोड़ते हुए इस शत्रुने अपने शत्रुओंकी सेनाको बिना मस्तक-का अथवा बिना नेताका कर दिया था। मैंने जन्मसे ही कभी भी भयका रसास्वादन नहीं किया है यही दिखानेके लिए इसने अपनी बेजोड़ (अ-शिर) अथवा बिना मस्तककी दिव्य देहको रसके रसिया देवोंके सामने रख दिया था। (अर्थात् अपनेको मरा समझकर युद्धमें जूझ गया था) ॥६॥

अनुजं तु मृत्युमिव हन्तुममुमभिजिहानमारुधत् ।
तीव्रमन्धतमसमभ्युदयै रथवाहनेन सवितेव केशवः ॥७॥

अन्विति—आरुधत् रुद्धवान्, कोऽसौ ? केशवो लक्ष्मणः, कम् ? अमुमरिं रावणम्, केन कृत्वा ? रथवाहनेन रथाश्वेन, अत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, किं कुर्वाणम् ? अभिजिहानं सम्मुखमागच्छन्तम्, किं कर्त्तुम् ? हन्तुम्, तथा आरुधत्, कः ? केशवः, कम् ? अनुजं विभीषणं कुम्भकर्णं वा, किं कुर्वाणम् ? अभिजिहानम्, किं कर्त्तुम् ? हन्तुम्, कथम्भूतं रावणं विभीषणं कुम्भकर्णं च ? तीव्रं सोढुमशक्यम् कमिव ? मृत्युमिव, कैः कृत्वा ? अभ्युदयैः गजतुरगपदातिलक्षणाभिर्विभूतिभिः, क इवारुधत् ? सवितेव सूर्य इव, किम् ? अन्धतमसं घनान्धकारम्, कैः कृत्वा ? अभ्युदयैः किरणसन्दोहलक्षणाभिर्विभूतिभिः, किं कुर्वाणं मृत्युम् ? अभिजिहानम्, किं कर्त्तुम् ? हन्तुम्, कथम् ? अनुजन्तु जन्तुं जन्तुमनु प्रतिजन्तुं, कैः कृत्वा ? अभ्युदयैः उपर्युपरिदुःखसंघातलक्षणैः, कथम् ? तीव्रं निर्दयमिति ।

भारतीयः पक्षः—अथारुधत्, कोऽसौ ? केशवो नारायणः, कम् ? अमुं जरासन्धम्, केन कृत्वा ? वाहनेन, किं कुर्वन्तम् ? अभिजिहानम्, शेषं पूर्ववत् ॥७॥

चिरमेष चेतसि निरुद्धमुदितमिव मन्त्रमग्रतः ।
प्रेतपतितनृपकोपचयं निचितं पुनः परिभवादिवैक्षत ॥८॥

चिरमिति—एषः केशवः उदितमुद्गतमुल्लुतमित्यर्थः, अरिं पुनरैक्षत व्याघुट्यावलोकितवान्, कथम् ? अग्रतः पुरतः, कथम्भूतम् ? निरुद्धं नियन्त्रितम्, क्व ? चेतसि चित्ते, कथम् ? चिरं बहुतरकालम्, कमिव ? मन्त्रमिव षाड्गुण्यलक्षणमन्त्रमिव, कथम्भूतम् ? उदितमुद्गतं सन्तम्, चित्ते चिरं निरुद्धम्, तथा कमिवैक्षत ? प्रेतपतितनृपकोपचयमिव पतिताश्च ते नृपाश्च पतितनृपाः प्रेताश्च ते पतितनृपाश्च प्रेतपतितनृपाः तेषां कोपचयस्तम्, कथम्भूतम् ? निचितं पुञ्जीकृतम्, कस्मात् ? परिभवादिति शेषः ॥८॥

प्रियसंगमात्प्रथमसङ्गमरिकृतमबोधि सोऽधिकम् ।
वृन्दमलघु सुहृदो महतां द्विषतां हि कीर्तिरतुला तु जायते ॥९॥

प्रियेति—अबोधि ज्ञातवान्, कोऽसौ ? स केशवः, कम् ? प्रथमसङ्गम्, कथम्भूतम् ? अधिकं पुनः अरिकृतं रिपुविहितम्, कस्मात् ? प्रियसङ्गमात् इष्टजनमेलापकात्, युक्तमेतत् महतां सताम् अलघुस्थूलं वृन्दं समूहः सुहृदो मित्रस्य भवति, तथा तु पुनर्जायते, का ? अतुला कीर्तिः केन ? द्विषता शत्रुणा, कथम् ? हि स्फुटमिति ॥९॥

तेज, क्रोधान्ध तथा तमोगुण प्रधान चतुर्विध सेनाके द्वारा मृत्युके समान संहार करनेके लिए आगे बढ़ते हुए इस रावणको तथा इसके अनुज (कुम्भकर्ण)को लक्ष्मणने अपने रथको बढ़ाकर उसी तरह रोक दिया था जिस प्रकार सूर्य उदयकालकी किरणोंके द्वारा घने काले अन्धेरेको समाप्त कर देता है [तेज'' सेनाके द्वारा प्रत्येक प्राणीको (अनु-जन्तु) और बढ़ती मृत्युके समान सामने आये जरासंधको श्रीकृष्णने रथके घोड़ोंके द्वारा रोक दिया था] ॥७॥

नारायणने चिरकालसे मन-ही-मन जलते हुए और अब सामने आये मन्त्रके समान शत्रुको देखा था। वह रावण अथवा जरासंध मरकर भूत हुए राजाओंके उस संचित कोपके समान था जो तिरस्कार होने पर फिर नया हो जाता है [मन्त्र भी सिद्ध होनेके बाद मनमें रहता है और जगानेपर फल देता है तथा प्रेत भी बलि दिये जानेके बाद पुनः अवज्ञा होने-पर सताने लगता है] ॥८॥

निजपौरुषं हि पुरुषस्य कवचमिह कस्य संवृतिः ।
भानुमत इव न हन्ति रुचिं घनदेहबन्धनमयीति नाबध्नीत् ॥१०॥

निजेति—नाबध्नीत् बध्नाति स्म, कोऽसौ ? केशवः, किम् ? कवचम्, कथम् ? पुरुषस्य निजपौरुषं कवचं स्यात्, संवृतिः कस्य रुचिं दीप्तिं न हन्ति अपितु सर्वस्य, कथम्भूता ? घनदेहबन्धनमयी घनदेह एव बन्धनं तेन निर्वृत्ता मेघशरीरमयीत्यर्थः ॥१०॥

उदयाद्विभूतिरिव भोगगतिरिव नयात्प्रसादतः ।
सर्वधृतिरिव परं पुरुषं जयदेवता गणतिथावृत स्वयम् ॥११॥

उदयादिति—जयदेवता जयश्रीः परं पुरुषं पुरुषोत्तमं स्वयं परप्रेरणमन्तरेणैव अवृत वृतवती, कथम्भूता ? गणतिथा गणस्य पूरणा, केव ? विभूतिरिव, कस्मात् ? उदयात्, केव ? भोगगतिरिव भोग-विषया प्रवृत्तिरिव, कस्मात् ? नयात् भोगविषयाया नीतेः, केव ? सर्वधृतिरिव समस्तसन्तोष इव, कस्मात् ? प्रसादतो नयविषयायाः प्रसन्नताया इति ॥११॥

ध्वजमारुरोह गरुडोऽस्य रणमिव दिदृक्षुरुच्चकैः ।
ध्मातुमिव कुपितवह्निमयं हृदि पाञ्चजन्यमुदपूरि वैरिणः ॥१२॥

ध्वजमिति—गरुडः अस्य विष्णोः ध्वजम् आरुरोह आरूढवान्, क इवोत्प्रेक्षितः ? उच्चैरतिशयेन रणं सङ्ग्रामं दिदृक्षुरिव द्रष्टुमिच्छुरिव, तथा अयं विष्णुः वैरिणो हृदि कुपितवह्निं ध्मातुमिव सन्धुक्षितुमिव पाञ्चजन्यं शङ्खम् उदपूरि पूरितवान् ॥१२॥

निनदेन तस्य मिहिरस्य शरभ इव सम्मुखं रिपुः ।
प्राप्य कणपनिकरेण रथं परतो युगद्वयसमभ्यदुद्रुवत् ॥१३॥

निनदेनेति—रिपुः शत्रुः कणपनिकरेण बाणसमूहेन परतः पश्चात् युगद्वयसं युगपरिमाणं यथा तथा रथम् अभ्यदुद्रुवत् अपसारितवान्, किं कृत्वा ? पूर्वं तस्य पाञ्चजन्यस्य निनदेन ध्वनिना सम्मुखं प्राप्य, क इव ? शरभ इव, केन ? मिहिरस्य मेघस्य निनदेनेति ॥१३॥

शत्रुके साथ हुई इस पहली मुठभेड़को नारायणने आत्मीय जनोंसे होनेवाली स्नेह भेंटसे भी बढ़कर माना था, क्योंकि महापुरुषोंकी मित्रमण्डली विशाल होती है। किन्तु उनकी अनुपम कीर्तिका प्रसार तो शत्रुके (बलनके) कारण ही होता है ॥९॥

अपना पुरुषार्थ ही मनुष्यका सच्चा कवच है। घनघटाके घिरनेसे सूर्यके समान किसीकी कान्तिको क्या आवरण (कवच) नहीं घटाता है ? अपितु घटाता ही है। इसलिए ही नारायणने युद्धमें कवच नहीं पहना था ॥१०॥

जिस प्रकार पुण्यकर्मके उदयसे अपने आप विभूतिकी प्राप्ति होती है अथवा नीति मार्गके अनुसरणसे भोगोंकी परम्परा चलती है अथवा चित्तकी निर्मलतासे सब प्रकारका धैर्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार सैन्यसमूहसे घिरी पूर्ण विजयलक्ष्मीने अपने-आप ही परम-पुरुष विष्णुको वरण किया था ॥११॥

नारायणकी गरुड़के चिह्नसे युक्त ध्वजा आकाशमें फहरा रही थी मानो चिह्नका गरुड़ युद्धको देखनेकी इच्छासे ही ऊपर चढ़ गया था। वैरियोंके हृदयोंमें धुंधाती क्रोधकी अग्निको भभकनेके लिए ही नारायणने अपने शंखको फूंका था ॥१२॥

शंखकी ध्वनिको सुनकर रावण-जरासंध शत्रु उसी प्रकार सामने आ गये थे जैसे

स्वरुषा सहोच्छ्वसितसूतगतिरथ हरिश्च कम्पनैः।
तस्य भुजमिव सदाशरथी रणशान्तिमिच्छुरिव केतुमच्छिदत् ॥१४॥

(द्वि०) स्वेति—अथानन्तरं स दाशरथिः रामो हरिश्च लक्ष्मणोऽपि कम्पनैः वाणविशेषैः तस्य रावणस्य भुजमिव केतुं ध्वजम् अच्छिदत् छिन्नवान्, किंविशिष्ट इव ? रणशान्तिमिच्छुरिव इच्छन्निव, कथम्भूतो रामो हरिश्च ? उच्छ्वसितसूतगतिः उच्छ्वसिता सूतस्य सारथेर्गतिश्चेष्टा येन स तथोक्तः, कथम् ? सह सार्द्धम्, कया ? स्वरुषा आत्मकोपेनेति।

भारतीयः पक्षः—तस्य जरासन्धस्य, कथम्भूतो हरिः ? सदाशरथी सती समीचीना आशा वाञ्छा येषां ते सदाशाः सदाशा रथिनो यस्य सः, कथम्भूतः ? उच्छ्वसितसूतगतिः उच्छ्वसिता सूतानां भटानां गतिर्येनेति ॥१४॥

धवलातपत्रमपि तस्य हतमपतदिन्दुमण्डलम्।
द्रष्टुमुपगतमिवाजिगतः परुषं रिपुः प्रतिजगर्ज तर्जयन् ॥१५॥

धवलेति—हरिणा हतं तस्य वैरिणः धवलातपत्रमपि अपतत् प्रभ्रष्टम्, किमिवोत्प्रेक्षितम् ? इन्दुमण्डलमिव चन्द्रबिम्बमिव, कथम्भूतम् ? आजि संग्रामं द्रष्टुमवलोकितुमागतम्। अतः कारणात् रिपुः परुषं कर्कशं तर्जयन् तिरस्कुर्वन् प्रतिजगर्ज गर्जितवान् ॥१५॥

विमुखः फलं विधिरिवाशु खल इव कृतं स तं यशः।
लोभ इव मद इवोपशमं गुरुशक्तिशस्त्रमरुजन्नियोजयन् ॥१६॥

विमुख इति—अरुजत् तुतोद, कोऽसौ स रिपुः कम् ? तं विष्णुम्, किं कुर्वन्निव ? शक्तिशस्त्रम् आशु शीघ्रं नियोजयन्, कथम्भूतम् ? गुरु गरिष्ठम्, क इवारुजत् ? विमुखो विधिरिव फलम्, तथा खल इव कृतं दुर्जन इवोपकारम्, तथा लोभ इव यशः कीर्तिम्, तथा मद इवोपशमम्।

भारतीयः—स जरासन्धः तं नारायणम् खेदं प्रापयत् ॥१६॥

मेघोंकी गर्जनाको सुनकर हिरण भाग जाते हैं। किन्तु बाणोंकी वर्षा पड़ते ही, इनके रथसे कोशों दूर तक सब दिशाओंमें भागते नजर आये थे ॥१३॥

अपने क्रोधके साथ-साथ सारथीकी गतिको भी बढ़ाते हुए तथा रणकी शान्ति (समाप्ति)के इच्छुकके समान दाशरथि रामने तथा लक्ष्मणने रावणकी भुजाके समान उसके रथपर उठी हुई उसकी ध्वजाको 'कम्पन' जातिके बाणोंसे काट दिया था।

अपने क्रोधके साथ-साथ सूतनृपतिके प्रगतिको करते हुए तथा सदाशयरथी योद्धाओं [सदाश-रथी]से घिरे हरि कृष्णने जरासंधकी आक्रमणके लिए उठी भुजाके समान ध्वजाको रण समाप्तिकी इच्छासे कम्पनोंके द्वारा काट दिया था ॥१४॥

नारायणके द्वारा आघात किये जानेपर उस (शत्रु रावण-जरासंध) का श्वेत छत्र भी गिर गया था। गिरता हुआ यह छत्र ऐसा मालूम देता था कि चन्द्रमण्डल ही युद्ध देखनेके लिए उतर आया है। छत्र गिरते ही शत्रु भी धमकानेके लिए कठोर गर्जना करने लगा था ॥१५॥

जिस प्रकार विपरीत दैव पुण्य कर्मके फलको, दुष्ट पुरुष उपकारको, लोभ यशको और अहंकार प्रशान्तिको नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार विचार करके शत्रुके द्वारा वेगके साथ नारायणपर छोड़े गये 'शक्ति' नामके महान् शस्त्रने उन्हें आहत कर दिया था ॥१६॥

विवशोऽपि चित्रमवलोकमयमवगमं च नामुचत् ।
येन तिमिरमभितो ददृशे कमलोदरेण विविदे न वेदना ॥१७॥

विवश इति—चित्रमाश्चर्यं विवशोऽपि परवशोऽपि सन्नवलोकं दर्शनमवगमं ज्ञानं चायं विष्णुर्नामुचन्न त्यक्तवान् तथाऽभितः सामस्त्येन तिमिरं येन कारणेन कमलोदरेण विष्णुना ददृशे दृष्टम्, तथा चकारेण पूर्वोक्तः प्रतिषेधोऽपि लभ्यते, तेनायमर्थः—वेदना पीडा । न विविदे न ज्ञातेति ॥१७॥

विधुतव्यथः क्षणमवाप युधि न किमु माधवोऽहितम् ।
दाशरथिरविरतः प्रहरन्निलयं कुलस्य सहसार रक्षसः ॥१८॥

विधुतेति—किन्नावाप अपितु प्राप्तैव प्राप्तवानेव, कोऽसौ ? दाशरथी रामः, कम् ? अहितं शत्रुम्, क्व ? युधि सङ्ग्रामे, कथम् ? क्षणं मुहूर्तमेकम्, कथम्भूतः ? अविरतो निवृत्तः पुनः उमाधवः कीर्तिप्रियः पुनः विधुतव्यथः त्यक्तपीडः, किं कुर्वन् ? कुलस्य निलयं निवासं प्रहरन् संहरन्, कथम्भूतस्य ? सहसाररक्षसः सहसारैः रक्षोभिर्वर्तत इति सहसाररक्षाः तस्य सबलिष्ठराक्षसस्य रावणस्येत्यर्थः, अथवा आर प्राप रामः, कम् ? निलयम्, किं कुर्वन् ? प्रहरन्, कस्य ? रक्षसो रावणस्य, कथम् ? सहसा शीघ्रमिति ।

भारतीयः—उ अहो, किं नावाप किं न प्राप्तवान्; अपितु प्राप्तवान्, कोऽसौ ? माधवो विष्णुः, किम् ? हितम्, क्व ? युधि, कथम् ? क्षणम्, कथम्भूतः ? दाशरथिरविः दाशो धूर्तः कुशल इत्यर्थः, रथी सारथिः दाशश्चासौ रथी च दाशरथी दाशरथी रविर्यस्य [1]सुविधावनप्रकाशनात् स तथोक्तः अतः कारणात् ररक्ष पालितवान्, कोऽसौ ? स माधवः, कम् ? निलयम्, कस्य ? कुलस्य, किं कुर्वन् ? सहसा शीघ्रं प्रहरन् । शेषं तुल्यम् ॥१८॥

सदृशौ बलेन समकालमधिकृतजयौ निजोद्धतौ ।
पुण्यदुरितनिचयाविव तौ व्यतिरेधतुर्न तु जवाद् व्यतीयतुः ॥१९॥

सदृशाविति—तौ जिगीषुप्रतिजिगीषू पुण्यदुरितनिचयौ इव व्यतिरेधतुः परस्परं प्रहृतवन्तौ व्यतिजघ्नतुरित्यर्थः, कथम्भूतौ ? सदृशौ समानौ समानकक्षाविस्यर्थः, केन ? बलेन शरीरसत्त्वेन, कथम्भूतौ अधिकृतजयौ अङ्गीकृतजयौ, कथम् ? समकालं तुल्यसमयं यथा भवति पुनः निजोद्धतौ निजात्मीया उद्धतिर्ययोः तौ तु पुनर्न व्यतीयतुः, न परस्परं गतौ विरतौ, कस्मात् ? जवाद्वेगादिति ॥१९॥

शक्ति लगनेसे नारायण (श्री लक्ष्मण-कृष्ण) अशक्त हो गये थे किन्तु उनकी दर्शन और ज्ञानकी शक्तिका लोप नहीं हुआ था । आश्चर्य यही है कि शक्तिके प्रभावसे नारायण चारों ओर अन्धकारको देखते थे किन्तु वेदनाका अनुभव नहीं करते थे ॥१७॥

कीर्ति (उमा)के स्वामी, युद्धमें लीन, अनुजके आघातकी मार्मिक पीड़ाको दबाये हुए तथा बलवान् (सहसार) राक्षसोंसे घिरे रावणकी पैतृक राजधानीपर प्रहार करते हुए दाशरथि रामने क्या क्षण-भरमें ही शत्रुको नहीं घेर लिया था ?

जरासंधके प्रहारकी व्यथाको भूले, माधवने क्या क्षण-भर ही में युद्धस्थलीमें अपना भला (हित) नहीं किया था ? अपितु किया ही था । कुशल नीतिमानों (दाशः) तथा सारथियों (रथी)में सूर्य (श्रेष्ठ) श्रीकृष्णने सहसा आक्रमण करके पाण्डव कुलके आधार (निलय) अर्जुनकी रक्षा की थी ॥१८॥

शारीरिक बलकी दृष्टिसे एक समान, एक ही समयमें विजय प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील और स्वभावसे ही उद्धत वे दोनों [नायक (राम-कृष्ण) और प्रतिनायक

---

१. सुविधायन–प० ज० । सुविधान–ब० बा० ।

विरथश्चिरेण विहितोऽपि विततधनुषाऽमुना रिपुः ।
जातमिव बहुमुखं सुकृतं विविधं स मूलविभुजं व्यलङ्घयत् ॥२०॥

विरथ इति—स रिपुर्विपक्षः मूलविभुजं मूलरथं सुकृतमिव पुण्यमिव व्यलङ्घयत् अतिक्रान्तवान्, कथम्भूतम् ? जातं समुत्पन्नं पुनः बहुमुखं प्रचुरकारणं पुनः विविधं नानाप्रकारम्, कथम्भूतः ? विहितोऽपि कृतोऽपि पुनः विरथः रथरहितः अमुना विजिगीषुणा, कथम्भूतेन ? विततधनुषा आरोपितचापेन, कथम् ? चिरेण बहुकालम् ॥२०॥

अवलोकितुं हरिविघातमसह इव गन्तुमुद्यतः ।
संख्यरुधिरमवलोक्य चिरं स मदादपप्तदिव तीव्रगुः सदा ॥२१॥

अवलोकितुमिति—तीव्रगुः सूर्यः पूर्वं सङ्ख्यरुधिरं रणरक्तं चिरं बहुतरकालम् अवलोक्य निरीक्ष्य सदा सर्वकालं मदादिव अपप्तत् पतितवान्, कथम्भूतः ? गन्तुमुद्यतः पुनः हरिविघातम् अवलोकितुम् असह इव असहमान इव ॥२१॥

स विपन्नबन्धुमुपदृश्य नृपजनमशेषमंशुमान् ।
दुःखजलमवतरीतुमिव प्रतिपश्चिमार्णवतटं व्यलम्बत ॥२२॥

स इति—सः अंशुमान् सूर्यः पश्चिमार्णवतटं पश्चिमसमुद्रतीरं व्यलम्बत अवलम्बितवान्, किं कर्तुमिव ? दुःखजलं दुःखमेव जलं तत् अवतरीतुमिव, किं कृत्वा ? अशेषं नृपजनं नृपतिलोकं विपन्नबन्धुं मृतबान्धवम् उपदृश्य दृष्ट्वा ॥२२॥

सवितापि संहृतिमियाय नियतदिवसातिलङ्घनः ।
हन्त किमु किल निषेकदिनं जगति व्यतिक्रमितुमक्षमो जनः ॥२३॥

सवितेति—सवितापि सूर्योऽपि संहृतिं संहारम् इयाय गतवान्, कथम्भूतः ? नियतदिवसातिलङ्घनः निश्चितदिवसातिक्रमः, युक्तमेतत्, हन्त कष्टं किल लोकोक्तौ किमु अहो जगति लोके निषेकदिनं मृत्युं व्यतिक्रमितुं लङ्घितुमक्षमः असमर्थो जनः, अत्र यत्र सवितापि संहृतिं प्राप्तवान्, तत्रान्ये जना निषेकदिनं व्यतिक्रमितुं कथमलं समर्था भवेयुरिति भावो विभाव्यते ॥२३॥

(रावण-जरासन्ध)] पुण्य तथा पापके सजीव ढेरके समान एक-दूसरेपर प्रहार कर रहे थे, तो भी उनमें-से किसीका भी वेग रंचमात्र नहीं घट रहा था ॥१९॥

बहुत समय तक धनुष चलाकर इस नारायणके द्वारा रथहीन (खण्डित-रथ) किया गया भी वह शत्रु सब तरफसे खुले बहुमुख तथा लक्ष्य भेदनके लिए अनुकूल अवसर-पर भी (विविध) मूलनायकके रथके सामनेसे निकल गया था और पुण्यकी समानताको प्राप्त हुआ था क्योंकि पुण्यका फल भी अनेक (बहु) साधन (मुख) जुटा देता है तथा अनेक प्रकारसे सहायक होता है ॥२०॥

बहुत समय तक युद्धमें बहती रक्तधाराको देखकर प्रखर किरणोंके सदैव स्वामी सूर्यका भी अहंकार (उष्मा) अपने-आप ढलने लगा था। और नारायणके वधको (अथवा वानरों और यादवोंके संहारको) देखनेके लिए तैयार न होनेके कारण ही उसने भी (अस्ता-चलकी ओर) चलनेकी तैयारी कर ली थी ॥२१॥

समस्त राजाओंके आत्मीय-जनयुद्धमें मर चुके थे। ऐसे इन राजाओंको देखकर सूर्य भी दुखी होकर जलमें उतरने (डूबने) के लिए ही (अथवा अन्त्येष्टिके बादका स्नान करनेके लिए ही) पश्चिम सागरके किनारेकी ओर मुड़ गया था ॥२२॥

गतवत्यरौ तमनुमत्य परमपुरुषं महोदयैः ।
व्याप्य निशिततमसंप्लवगैः स्थितमर्जुनप्रकृति तत्र राजकम् ॥२४॥

गतेति—राजकं सुग्रीवप्रभृतीनां राज्ञां समूहः तत्र रणे स्थितम्, किं कृत्वा ? तं परमपुरुषं लक्ष्मणं निशिततमसं निशितं तमो यस्य तं तीक्ष्णतिमिरोपहतं विनष्टचेतनम् अनुमत्य ज्ञात्वा, कस्मिन् सति ? अरौ गतवति सति, किं कृत्वा स्थितम् ? महोदयैः प्लवगैः वानरैः व्याप्य वेष्टयित्वा, कथम्भूतं राजकम् ? अर्जुनप्रकृति शुद्धस्वभावम् ।

भारतीयः—अर्जुनप्रकृति मध्यमपाण्डवप्रधानं राजकं स्थितम्, किं कृत्वा ? परमपुरुषं नारायणं पूर्वम् अनुमत्य, किं कृत्वा व्याप्य, कस्याम् ? निशि रात्रौ, कथम्भूतं राजकम् ? असंप्लवगैः शिष्टवीरयागैः महोदयैः ततं व्याप्तम्, क्व सति ? अरौ गतवति ॥२४॥

न किलास्ति कोऽप्यवनिमानमवगत इतीरितोद्यमः ।
पादपरिगणनया भुवनं रविरेष मित्सुरिव दूरमत्यगात् ॥२५॥

नेति—रविः सूर्यः दूरं यथा तथा अत्यगात् अतिशयेन गतवान् इवोत्प्रेक्षितः ? भुवनं जगत् पादपरिगणनया कृत्वा मित्सुरिव, कथम्भूतः ? ईरितोद्यमः, कथमिति कृत्वा प्रकाश्यते, किल लोकोक्तौ परामर्शे च, न कोऽप्यस्ति, कथम्भूतः ? अवनिमानं भूमिपरिमाणम् अवगतः ज्ञातवान् ॥२५॥

सदृशोदयास्तमयवृत्तिरजनि तपनोऽनुरागतः ।
संपदियमिह विपच्च परं परिवर्तते नहि महीयसः स्थितिः ॥२६॥

सदृशेति—तपनः सूर्यः अनुरागतः अनुरागात् सदृशोदयास्तमयवृत्तिः सदृशी उदयास्तमययोर्वृत्तिर्यस्य स तथोक्तोऽजनि संजातः, एकरूपोऽभवदित्यर्थः, युक्तमेतत्, इह लोके परं केवलम् इयं संपद् विपच्च परिवर्तते महीयसः स्थितिर्न परिवर्तते हि स्फुटम् ॥२६॥

दिनकी समाप्ति (अतिलंघन) को निश्चित करनेवाला सूर्य भी (अस्त) विनाशको प्राप्त हुआ था। यही खेदकी बात है कि संसारमें मृत्युकी वेलाको टालनेमें कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं होता है ऐसा निश्चय है ॥२३॥

शत्रुके चले जानेपर परम प्रतापी वानरोंने यह जाना था कि परम पुरुष लक्ष्मण तीक्ष्ण शक्ति लगनेके कारण अचेतन पड़े हैं। स्वभावसे सरल (अर्जुन-प्रकृति) समस्त राजा लोग यह जानते ही शोकमग्न होकर उसको घेरकर बैठ गये थे।

अत्यन्त सम्पन्न तथा शिष्टवीरों (असंप्लवगैः) से व्याप्त (ततं) अर्जुनके अनुयायी (प्रकृति) राजाओंका समूह शत्रुओंके लौट जानेपर रात्रिको परमपुरुष कृष्णको घेरकर आ बैठा था। तथा उनकी सम्मतिको जाननेके लिए प्रतीक्षा करने लगे थे ॥२४॥

कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसने पृथ्वीको स्वयं नापा हो इस लोकोक्तिसे प्रेरित होकर पुरुषार्थी सूर्य पगों (कदमों) से गिनकर पृथ्वीको नापनेके लिए ही दूर तक चला गया था [सन्ध्या समय सूर्यकी किरणें (पाद) संख्यात रह जाती हैं और वह अस्त हो जाता है] ॥२५॥

सन्ध्याकालीन लालिमाके कारण सूर्य उदय और अस्तके समय एक समान स्वभाव (लालिमा, आदि) का धारक हो गया था। उचित ही है—संसारमें यह सम्पत्ति और विपत्ति ही खूब बदलती हैं किन्तु इससे महापुरुषोंकी स्थिति रंचमात्र भी नहीं बदलती है ॥२६॥

क्षतजप्रवाहनिवहस्य समरभुवि सर्पतो द्विषः ।
रागपटलमधिरूढमिव द्युतलानि सान्ध्यमरुणं बभौ महः ॥२७॥

क्षतजेति—सान्ध्यं सन्ध्यासमुत्पन्नं महः तेजः बभौ रराज, कथम् ? अरुणम्, किमिवोत्प्रेक्षितम् ? द्युतलानि अधिरूढम्, क्षतजप्रवाहनिवहस्य रक्तपूरसमूहस्य रागपटलमिव, कथम्भूतस्य ? समरभुवि रणभूमौ द्विषः सर्पतो गच्छतः ॥२७॥

अथ वारुणीरुचिरभाजि न परममुनाम्बरस्थितिः ।
क्वापि रविरवपतन्भविता तदितीव तद्गतमगामि सन्ध्यया ॥२८॥

अथेति—अथ सन्ध्यावर्णनानन्तरं न परं केवलमभाजि सेविता वारुणी रुचिः पश्चिमा दीप्तिः, केन? अमुना रविणा, तथाभाजि त्यक्ता, का ? अम्बरस्थितिः, तथा क्वाप्यवपतन् भविता तदितीव भविष्यति रविः । अत्र लुप्तोपमा बोध्या । यथामुना मद्यपेनाभाजि सेविता, का ? वारुणीरुचिर्मदिराभिलाषः, तथाभाजि भग्ना, का ? अम्बरस्थितिः वस्त्रस्थितिः, अमुना रविणा, तथा क्वाप्यवपतन् भविता तत् ततोऽनन्तरमगामि गतम्, किम् ? तद्गतं रविगमनम्, कया ? सन्ध्ययेति ॥२८॥

परतस्तमांसि पुरतोऽस्य सवितुरभवन्महोद्यमः ।
दिग्विजयमधिकरोति किमु क्षुभितं हि पश्चिममचिन्तयन्प्रभुः ॥२९॥

परत इति—अभवन् संजातानि, कानि ? तमांसि अन्धकाराणि, कथम् ? परतः पश्चात् पृष्ठत इत्यर्थः, पुरतोऽग्रतोऽभवत्, कोऽसौ ? महोद्यमः, कस्य ? अस्य सवितुः सूर्यस्य युक्तमेतत्, उ अहो किमधि करोति, अपि तु नेति भावः, कोऽसौ प्रभुः, किम् ? दिग्विजयम्, किं कुर्वन् ? अचिन्तयन् अवितर्कयन्, किम् ? पश्चिमम्, कथम्भूतम् ? क्षुभितम्, कथम् ? हि स्फुटम् अकुटिलत्वमुपदर्शितमिति ॥२९॥

उपवन्यभूम्युपगिरं च दिवसमुपलाय वाहयत् ।
प्राप तिमिरमुतमभ्युदयं किल कं न यापयति दुर्गयापना ॥३०॥

उपेति—प्राप प्राप्तम्, किं कर्तृ ? तिमिरम्, कम् ? अभ्युदयम्, कथम्भूतम् ? उरुं गरिष्ठम्, किं कुर्वत् ? वाहयत् अतिलङ्घमानम् ? किम् ? दिवसम्, किं कृत्वा ? पूर्वमुपलाय लीनं भूत्वा, कथम् ?

समरभूमिमें बहते हुए शत्रुओंके रक्तकी धाराके पूरकी लालीको आकाश-पटलपर फैलाती हुईके समान सन्ध्याकालीन लालिमाकी कान्ति समस्त आकाशके तलमें व्याप्त हो गयी थी ॥२७॥

सन्ध्या समय सूर्य (रूपी मद्यप) के द्वारा केवल पश्चिम दिशाकी कान्तिरूपी मदिरा वारुणी का ही आनन्द नहीं लिया गया था अपितु वह आकाश (कपड़ों) में भी न रह सका था । तब सूर्य (मद्यप) कहीं जाकर गिर गया होगा, यह सोचकर सन्ध्या (मद्यपकी स्त्री) भी सूर्य (मद्यप) के रास्तेपर चली गयी थी ॥२८॥

महा पुरुषार्थके [कारण प्रकाश] सूर्य आगे-आगे चला जा रहा था और इसके पीछे-पीछे अन्धकार बढ़ता जाता था । यह देखकर पश्चिम दिशामें क्षोभ फैल गया था, क्योंकि समर्थ पुरुष बिना संकल्पके (अनायास ही) दिग्विजय कर डालते हैं ॥२९॥

वनोंके निकटकी भूमिमें तथा पहाड़ोंकी घाटियोंमें छिपकर दिनको काटनेवाला अन्धकार रात्रि होते ही विस्तारके शिखरपर पहुँच गया था । ठीक ही है; ऐसी कौन-सी

---

१. 'द्विषः' प्रासङ्गिकं भविष्यति ।

उपवन्यभूमि वने भवा वन्या सा चासौ भूमिश्च तस्या अभ्यासः कान्तारसमीपमुपगिरं च गिरिसमीपे, युक्तमेतत्, किल लोकोक्तौ, कं न यापयति नातिक्रामति दुर्गयापना दुर्गगमनिका ॥३०॥

द्युमणौ प्रतापिनि गतेऽस्तमभयचिरसङ्गमात्तमः ।
श्लिष्यदिव घनमशेषमभूत्प्रलयः प्रियो हि खरदण्डतोषिणः ॥३१॥

द्युमणाविति—अभूत् संजातम्, किम्? तमोऽन्धकारम्, किं कुर्वदिव? आश्लिष्यदिवालिङ्गदिव, कस्मात्? अभयचिरसङ्गमात् निर्भयचिरकालसंसर्गात्, क्व सति? द्युमणौ सूर्ये अस्तंगते, कथम्भूते द्युमणौ? प्रतापिनि प्रतापवति, कथम्भूतं तमः? घनं पुनः अशेषं निखिलम्, युक्तमेतत्, खरदण्डतोषिणः खरदण्डं पद्मं तोषयतीत्येवंशीलः सूर्यः तस्य प्रलयो हि प्रियो भवेत् तीव्रकरदानकुशलस्य राज इति ध्वनिः ॥३१॥

निजदुःसुतं कुलमिवाशु गुरुगृहमिवायथोद्यतम् ।
राज्यमिव समुदितव्यसनं भुवनं परास्तमवबद्धतामसम् ॥३२॥

निजेति—भुवनं जगत् परास्तं प्रक्षिप्तम्, किमिव? निजदुःसुतं कुलमिव, आशु शीघ्रं यदि वा अयथोद्यतम् अयथाचारम् असदाचारं गुरुगृहमिव समुदितव्यसनं राज्यमिव, कथम्भूतं सद्भुवनम्? परास्तम् अवबद्धतामसं तमस इदं वैकृतं तामसं बद्धं तामसं येन तत् ॥३२॥

कृतमुच्छ्रितं तदनुदात्तमधरतरमुच्चमादृतम् ।
क्वाप्यजनि न च विवेकमतिः कुनृपैकचेष्टितमिवाभवत्तमः ॥३३॥

कृतमिति—कृतं विहितम्, किं कर्मतापन्नम्? तत् उच्छ्रितम् अनुदात्तम् अधरतरं च उच्चम् उच्चैः, केन? तमसेत्यध्याहार्यम्, तद्यथा प्रदर्श्यते यत् पूर्वम् उच्छ्रितम् उच्चं तदधरं कृतं यदधरतरं तत् उच्चं कृतम्, तथा अजनि, किम्? तमः, कथम्भूतम्? आदृतमादरयुक्तम्, क्व? क्वापि, न चाजनि का? विवेकमतिर्भेदबुद्धिः, तथाभवत् संजातम्, किम्? तमः, किमिव? कुनृपैकचेष्टितमिव, येन यदुच्छ्रितं तदनुदात्तं यदधरतरं तदुच्चं कृतं क्वाप्यादृतमजनि न च तस्य विवेकमतिर्विचारबुद्धिरजनीति ॥३३॥

पुरतः स्थितं परिचितं च निकटतिमिराहतेक्षणः ।
जात इव धनमदान्ध इव क्वचनापि कोऽपि न जनोऽभ्यचायत ॥३४॥

वस्तु है जिसका पार कठोर (जीवन) यात्रा न पाती हो? अर्थात् पुरुषार्थी जीवन ही अभ्युदयका साधक है ॥३०॥

आकाशके मणिभूत अत्यन्त तेजस्वी सूर्यके अस्त हो जानेपर गाढ़ अन्धकार सर्वत्र व्याप्त हो गया था, मानो बहुत समय बाद मिलनेके कारण ही समस्त विश्वका निडर होकर गाढ़ आलिंगन करनेमें लीन था। और कमलोंके विकासक सूर्यकी प्रलयपर आनन्द मना रहा था [मलिन मनोवृत्ति (तमः) के लोगोंको भी प्रतापी (खर) तथा अनाचारियोंको दण्ड देकर ही माननेवाले राजाका नाश ही प्यारा लगता है] ॥३१॥

अन्धकार पटलमें लपटा समस्त संसार शीघ्र ही उसी प्रकार हीन अवस्थामें आ पड़ा था, जिस प्रकार अपने कुपुत्रके कारण कुल, परम्परा-विरुद्ध अनाचारके कारण गुरुकुल और ईति-भीति विपत्तिके आ जानेपर कोई राज्य परास्त हो जाता है ॥३२॥

दुष्ट राजाके व्यवहारके समान अन्धकारने भी ऊँचे पदार्थको नीचा कर दिया था, नीचेसे नीचे पदार्थ बहुत ऊँचे प्रतीत होते थे तथा कहीं पर भी ऊँच-नीच (कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य) का भेद समझमें नहीं आता था ॥३३॥

---

१. 'दण्ड' इति मूलानुसारी।

पुरत इति—पुरतोऽग्रतः स्थितं वस्तु कोऽपि जनो नाभ्यचायत नेक्षितवान्, तथा च परिचितं लब्धमनुभवगोचरमित्यर्थः, क्व ? क्वापि, कस्मिंश्चित् स्थाने, क इवोत्प्रेक्षितः ? जात इव, कथम्भूतः ? निकटतिमिराहृतेक्षणः आसन्नतिमिराभिभूतलोचनः, तथा धनमदान्ध इवोत्प्रेक्षितः क्वचनापीति शेषः ।।३४।।

इति दिग्विमूढमिव तत्र गिरिषु दरिषु स्खलत्पतत् ।
व्याप हृतमिव तमस्तमसा तदशेषमग्रजवपूरणोद्यतम् ।।३५।।

इतीति—तमः अग्रजवपुः रामशरीरं व्याप व्याप्तवान्, किमिवोत्प्रेक्षितं तमः ? तमसा कोपेन हृतमिव गृहीतमिव, किं कुर्वत् ? पतत् भ्रंशमानम्, कासु दरिषु गर्तासु, तथा किं कुर्वत् ? गिरिषु पर्वतेषु स्खलत् किमिवोत्प्रेक्षितम् ? दिग्विमूढमिव भ्रान्तमिव, क्व ? तत्र रणे, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, कथम्भूतमग्रजवपुः ? रणोद्यतम् पुनरशेषं समस्तम् ।

भारतीयः—तमः तत् अशेषं[1] जगत् व्याप, कथम्भूतं तमः ? अग्रजवपूरणोद्यतम् अग्रजवं प्रधानवेगं पूरयति पुष्टीकरोति अग्रजवपूरणः, तत्र उद्यतम् उद्यमो यस्य तत्, किमिवोत्प्रेक्षितम् ? तमसा हृतमिव, शेषं प्राग्वत् ।।३५।।

मिलिताङ्गदंपतिसुखाय सहितजनकीयनन्दनम् ।
व्योम्नि गमनमकृत त्वरितः स शनैरवाल्लघुरयाच्च मारुतः ।।३६।।

मिलितेति—स मारुतो मरुतोऽपत्यं पुमान् मारुतो हनूमान् पतिसुखाय लक्ष्मणसुखार्थं व्योम्नि गगने लघुरयात् शीघ्रवेगात् त्वरितगमनम् अकृत कृतवान्, कथम्भूतात् लघुरयात् ? शनैरवात् प्रच्छन्दाध्वनेः, कथम्भूतं गमनम् ? मिलिताङ्गदं मिलितः अङ्गदो यस्मिन् तत्, पुनः सहितजनकीयनन्दनं सहितः जनकीयनन्दनः भामण्डलो यस्मिन् तत् ।

भारतीयः—स मारुतो वायुः व्योम्नि नभसि शनैरवात् मधुरध्वनेः मिलिताङ्गदम्पतिसुखाय[2] संश्लिष्टदयिताप्राणनाथप्रमोदार्थं[3] गमनम् अयात्[4] वहति स्मेत्यर्थः कथं गमनम् ? सहितजनकीयनन्दनं जनानाम् इदं जनकीयं सहहितेन वर्तते सहितम्, जनकीयं च तन्नन्दनं च जनकीयनन्दनं सहितं जनकीयनन्दनं यस्मात् तत्, कथम्भूतो मारुतः ? अकृतत्वरितः अकृतं त्वरितं वेगो येन सः, पुनः लघुर्मन्दः मयूरपिच्छभेदीत्यर्थः ।।३६।।

सम्पत्तिके अभिमानसे अन्धे (चूर) व्यक्तिके समान आँखोंपर छाये गाढ़ अन्धकारके कारण कोई भी व्यक्ति कहींपर भी सामने रखे अथवा अत्यन्त परिचित पदार्थको भी नहीं देख पाता था [सम्पत्तिके गर्वसे चूर व्यक्ति भी पुराने परिचित और सामने आये सुपरिचित सम्बधियोंको भी नहीं पहचानता है] ।।३४।।

दिशाओंके ज्ञानसे हीन व्यक्तिके समान रणभूमिमें पहाड़ोंपर लड़खड़ाते तथा गुफाओंमें गिरते सर्वत्र व्याप्त अन्धकारने क्रोधसे अभिभूत तथापि युद्धके लिए तैयार अग्रज (राम) के शरीरको भी प्रभावित कर दिया था [पाण्डव पक्ष''' अन्धकारने प्रधान रूपसे (अग्र) युद्धके वेगको (जव) पूर्ति करनेमें (पूरण) लगे तथापि अन्धकारके कारण निष्क्रिय परम ब्रह्म (अशेष) कृष्णजीको भी प्रभावित किया था] ।।३५।।

स्वामी (लक्ष्मणजी) को स्वस्थ करनेके लिए पवनञ्जयके पुत्र हनुमान्जीने शीघ्र

---

१. अशेषं ब्रह्माणमिति ।
२. मिलितं संश्लिष्टं अङ्गं शरीरं यस्य सः जरासन्धः तस्य दम्पति''' ।
३. "इष्ट शरीर स्त्री पुंस सुख निमित्तं" प० ।—इ शरीररमणीरमणसुखनिमित्तं–द० ।
४. प्राप्तवान्–प० द० ।

भरतः स्थितः स खलु यत्र तदिदमथवातिरागतः ।
स्थानमसुखमलिनो न्यगदन्नलिनोदरं निशि निबद्धमीलनम् ॥३७॥

भरत इति—यत्र स्थाने भरतः कैकेयीनन्दनः स्थितः तदिदं स्थानं सः वातिः वातस्यापत्यं वातिः हनूमान् आगतः, कथम् ? खलु निश्चयेन कस्याम् निशि रात्रौ अथ स्थानगमनानन्तरम्, न्यगदत् कथितवान्, कोऽसौ ? वातिः, कम् ? नलिनोदरं लक्ष्मणम्, कथम्भूतम् ? निबद्धमीलनम्, कथम्भूतः ? असुखमलिनः दुःखम्लानः ।

भारतीयः—अथवा स मारुतः[1] न्यगदत् किम् ? तदिदं नलिनोदरं कमलकोशम्, कथम्भूतम् ? निबद्धमीलनं प्राप्तमंकोचम्, कस्याम् ? निशि, पुनः कथम्भूतम् ? अलिनो भ्रमरस्य स्थानम्, कथं यथा भवति न्यगदत् ? असुखं दुःखं यत्र नलिनोदरे स्थितः, कः ? सोऽलिः, कथम् ? भरतः तत्परतया कस्मात् ? अतिरागतः अत्यन्तप्रीतेः, कथम् ? खलु[2] दिवेतिध्याहार्यम् ? ॥३७॥

भुवि कोकनिष्ठ इव तत्र सहजपरिपीडनोऽभवत् ।
यः सः तपनपरितापगुणः स्वयमस्तमेत्य सह एवमुद्यतः ॥३८॥

द्विः भुवीति—तत्र तस्यां भुवि यः तपनपरितापगुणः तपनस्येव परितापगुणस्तपनपरितापगुणोऽभवत् संजातः, कथम् उद्यतः ? सहजपरिपीडनः सहजातः सहजो भ्राता लक्ष्मणः सहजं परिपीडयतीति सहजपरिपीडनः, "नन्द्यादिभ्यः [जै० सू० २।१।१०६]" इति कर्त्तरि ल्युः, अकनिष्ठो महान्, कः ? सः, असह इव असहिष्णुरिव स्वयमस्तमेति, कथम्भूतः ? उद्यतः, कथम् ? एवं विनाशं सहजं नेष्यामीत्यङ्गीकारे ।

ही आकाशमें गमन किया था । किन्तु इनके प्रस्थानमें न तो शोर हुआ था और न वेगके कारण धक्का ही लगा था । गोकि यह प्रस्थान इन्होंने जनक-नन्दन भामण्डलके साथ किया था और अंगद भी (रास्तेमें) मिल गये थे ।

जुटे हुए शरीरके धारक (मिलितांग) जरासंध दम्पतिके लिए विश्रामदायक तथा इनके हितैषी (स-हित) लोगोंके (जनकीय) आनन्दका कारण पवन आकाशमें धीरे-धीरे चल रहा था । उसका वेग बहुत हलका था तथा वह जरा भी जल्दी नहीं कर रहा था ॥३६॥

प्रयाणके बाद जहाँ भरतजीके उस स्थानपर पहुँचते ही (आगतः) दुःखसे मुरझाये उन पवनसुतने भरतजीको समाचार दिया था कि वे लक्ष्मणजी (शक्ति लगनेके कारण) रात्रिमें आँख बन्द किये (मूर्च्छित) पड़े हैं ।

उक्त प्रकारसे शत्रुपक्षके (अथ) रातको सो जाने पर (निबद्ध मीलनं) वह पाण्डव (भारत) श्रीकृष्ण (नलिनोदरं) के स्थानपर आ पहुँचा था तथा मित्रोंको जहाँ-जहाँ कष्ट था यह सब उनको बता दिया था क्योंकि उन सबपर उसका स्नेह था ॥३७॥

इस प्रकारसे (एवं) उस रणभूमिपर जो सगे भाई (सह-ज) पर भयंकर प्रहार हुआ था वह [रात्रिमें भी] सूर्यके प्रखर तापके समान जला रहा था । तथा परम पुरुषार्थी (उद्यतः) सबसे छोटेसे बड़ा (अकनिष्टः) भाई उस प्रहारको सहनेमें असमर्थ (असह) के समान स्वयमेव अस्त-सा हो रहा है ।

---

१. मरुत्, वायु-बहुलं शरीरं यस्य स मारुतः भीमः ।

२. खलु दिवेति साध्याहार्यम्-द० । खलु दिवेति साध्याहार्यम्-ज० ।

अथ भारतीयः—तत्र भुवि कोकनिष्ठ इव चक्रवाकतत्पर इव सहजपरिपीडनो निसर्गपीडकः तपनपरितापगुणः तपनस्य परितापगुणस्तपनपरितापगुणः सूर्यस्य सर्वव्यापी तापगुण इत्यर्थः, अभवत् स स्वयमस्तमेति, कथम्भूतः ? असहः, पुनः उद्यतः, कथम् ? एवं कोकं विनाशं नेष्यामीत्यङ्गीकारेण । अत्र रात्रिविभागे भवितेति शेषः ॥३८॥

विनिवार्य तं निजकरेण निशि गुरुतमोऽभिमातुलम् ।
प्राप विधुरपद्रुरभ्युदयं महसाञ्जनोऽस्य स तुतोष सङ्गतः ॥३९॥

विनिवार्येति—आञ्जनो अञ्जनातनयो हनुमान् अभ्युदयम् आप प्राप्तवान्, केन ? महसा तेजसा, किं कृत्वा ? पूर्वं विनिवार्य सम्बोध्य, कम् ? तं भरतम्, केन कृत्वा ? निजकरेण स्वहस्तेन, कथं यथा भवति अभिमातुलं मातुलेन द्रोणेन सहेत्यर्थः, कस्याम् ? निशि रात्रौ, तुतोष जहर्ष, कोऽसौ ? स मातुलो द्रोणनामा, कस्मात् ? सङ्गतः सङ्गात्, कस्य ? अस्याञ्जनस्य, कथम्भूतः आञ्जनः ? गुरुतमः गरीयान्, पुनः विधुरपद्रुः दुःखहर्त्ता ।

अथ भारतीयः—विधुश्चन्द्रः महसां तेजसाम् अभ्युदयं निशि रात्रौ प्राप, किं कृत्वा ? पूर्वं विनिवार्य किं तत्तमः, केन कृत्वा ? निजकरेण स्वकीयकिरणेन, कथम्भूतेन ? अभिमाव अभिमेति विचि रूपम्, तृतीयायां परत आकारस्य लोपः, परिच्छेदकेनेत्यर्थः, कथं तमः ? गुरु घनम्, कथम्भूतो विधुः ? अपद्रुबलिः, कथम्भूतमभ्युदयम् ? अतुलमनुपमम्, तथा च तुतोष, कोऽसौ ? जनः, कस्मात् ? अस्य विधोः सङ्गतः सङ्गात् ॥३९॥

स वामङ्क्षु द्रोणोरुचितमुदयात्संमुखगते
विधौ रागोद्रेकं धृतवति तमोधैकनिलयः ।
कथंचिच्चित्तस्य स्थितिमिव विशल्यां प्रहितवान्
विहातुं शक्यात्मप्रकृतिरनुबद्धा न हि सुखम् ॥४०॥

संसारमें जिस प्रकारसे यह निर्बाध घोर दमन हुआ है उसको सहनेमें असमर्थ यह महान् धर्मराज, अपने आप ही समाप्त-सा हो रहा है। यद्यपि सूर्यके समान प्रतापी है और [सत्यकी प्रतिष्ठाके लिए] सतत प्रयत्नशील है।

रात्रिमें चक्रवाकोंपर जो स्वाभाविक महाविपत्ति (विरह) आती है उसको न देख सकनेके कारण ही आकाशचारी अत्यन्त तेजस्वी सूर्य भी स्वयमेव अस्त हो जाता है॥३८॥

भरतके दुःखको हाथ फेर करके शान्त करनेके पश्चात् रातमें ही महान् संकट हरण हनुमान् (आंजनेय) बड़े वेगके साथ द्रोणाचलकी ओर (अभिमातुलम्) बढ़ गये थे। वह द्रोणाचल भी इसको अपने ऊपर पाकर परम प्रसन्न हुआ था।

पुण्याधिकारियों (महसां) के भी परम पूज्य तथा दुःखियोंकी (विधुर) सान्त्वनामें कुशल श्रीकृष्णजीने रातको ही मामाकी ओर जाते इसे हाथसे रोक दिया था। और वह (भीम) इसके सहवासमें सन्तुष्ट हो गया था और अभ्युदयको प्राप्त हुआ था।

अपूर्ण चन्द्रमा प्रकाशकारी (अभिमत) लम्बे-लम्बे अपने किरणोंके द्वारा घोर (गुरु) अन्धकारको दूर करके अनुपम (अतुलम्) उदयको प्राप्त हुआ था। संसारके लोक भी इसके प्रकाशमें आनन्दित हुए थे॥३९॥

---

१. दुःखस्फोटनदक्ष इत्यर्थः—प० द्र०।
२. 'विधुः श्रीवत्सलाञ्छनः' श्रीकृष्णः। चन्द्रपरो तृतीयोऽर्थः।

स इति—वा नियमार्थोऽयम्, स द्रोणः विशल्यां विशल्या [1]सुन्दरीं मङ्क्षु शीघ्रं प्रहितवान् प्रस्थापितवान्, कथम् ? कथञ्चित् महता कष्टेन, कामिव ? चित्तस्य स्थितिमिव, क्व सति विधौ दैवे[2] उदयात् उचितं शोभितं तं रागोद्रेकं धृतवति सति, कथम्भूते विधौ ? सम्मुखगते, कथम्भूतो द्रोणः ? ओघैकनिलयः अन्वयैकमन्दिरम्, युक्तमेतत्, हि स्फुटम् आत्मप्रकृतिः सुखं यथा तथा विहातुं त्यक्तुं न शक्या न समर्था, कथम्भूता सती ? अनुबद्धा ।

भारतीयः—स क्षुद्रस्तस्करादिजनः विशल्यां विगतं शल्यं यस्याः सा ताम् अशल्यां स्थितिं प्रहितवान् धृतवानित्यर्थः, कस्य ? चित्तस्य कथञ्चित् किमिव ? तम इव, कथम्भूतः ? अघैकनिलयः पापैकमन्दिरम्, क्व सति ? विधौ चन्द्रे उदयात् उचितं योग्यं रागोद्रेकं धृतवति कथम्भूतात् उदयात् ? अणोः स्वल्पात्, कथम्भूतं रागोद्रेकम् ? वामं प्रतिकूलम्, कथम्भूते विधौ ? सम्मुखगते । शेषं प्रागुक्[3] ॥४०॥

विधुतोऽभ्युदितो दिगन्तरं परितस्तारुचा तया ततः ।
निशि शक्त्युदयः पराद्युतिः कियतीनाम न हन्त्युपप्लवम् ॥४१

विधुत इति—शक्त्युदयः शक्तेरायुधविशेषस्योदयः परितः सामस्त्येन दिगन्तरमाशान्तरालम् अभ्युदितः प्राप्तवान्, कथम्भूतः सन् ? तया लोकोत्तरया तारुचा शुभ्रदीप्त्या विधुतः निराकृतः, कस्याः ? ततस्तस्याः विशल्यायाः, कस्याम् ? निशि, युक्तमेतत्, नामाहो कियती परा उत्कृष्टा द्युतिः दीप्तिः कमुपप्लवमन्धतमसं न हन्ति, अपितु सर्वमेव हन्तीति ।

अथ भारतीयः—परितस्तार[4] लपितवान् आच्छादितवानित्यर्थः, कोऽसौ ? शक्त्युदयः सामर्थ्योदयः, किम् ? दिगन्तरम्, कया कृत्वा ? तया मनोहरतया लोकप्रसिद्धया रुचा कान्त्या, कस्याम् ? निशि,

जलपूरोंके एकमात्र केन्द्र उस द्रोणाचल पर्वतने उदयके पश्चात् ऊपर उठते तथा लाल-लाल कान्तिसे व्याप्त चन्द्रमाके सामने आते ही मनकी स्वाभाविक स्थितिके समान गुणकारी विशल्या औषधिको किसी तरह शीघ्र ही भेज दिया था। उचित ही है क्योंकि अपनी अनुरक्त (अनुबद्धा) सन्तान (अपज) को छोड़ना आसान नहीं ही होता है।

अपने वंशका आधारभूत तथा शीघ्र ही उत्तेजित होनेवाले उस (भीम) ने भी विधाता (श्रीकृष्ण)के सामने आनेपर उचित मात्रामें आवेशको किया था। तथा बड़े प्रयत्नसे मनकी निःशंक स्थितिको पा सका था। अथवा ठीक ही है, चिरकालसे बँधा अपना स्वभाव आसानीसे नहीं छूटता है।

चन्द्रमाका थोड़ा थोड़ा उदय हुआ था। अतः सामने आनेपर भी उसकी कान्ति लाल ही थी। परिणाम यह हुआ कि अन्धकारके समान पापोंके भण्डार क्षुद्र व्यक्ति (चोरादि) ने भी स्वाभाविक (उचित) विपरीत आचरणको छोड़कर बड़े प्रयत्नसे अपने मनको पापवृत्तिसे बचाया था। क्योंकि अपना पुराना संस्कार छुड़ाना कठिन होता है ॥४०॥

सब प्रकारसे लक्ष्मणपर चढ़ी (अभ्युदितः) शक्ति शस्त्रका प्रभाव उस विशल्या औषधिके देते ही न जाने किस दिशामें उसी रातको विलीन हो गया था। उत्कृष्ट प्रभावशाली जड़ी किस महारोगको नष्ट नहीं करती है ?

१. औषधिमिति प्रकृतार्थः ।

२. चन्द्रे यतः रात्रावेवौषधिः नीतः दत्तश्च ।

३. शिखरिणीवृत्तम् ।

४. राक्षपितवान्—द० ज० ।

कथम्भूतः सन् ? अभ्युदितः समुत्पन्नः, कस्मात् ? ततस्तस्माल्लोकोत्तराद्विधुतरचन्द्रात्, युक्तमेतन्नाम कियती परद्युतिः कं नोपप्लवं हन्ति अपितु सर्वमेव हन्तीति भावः[1] ॥४१॥

परिमोह्यमाणमाशयं व्यसनाम्भोधिमिवोत्तरंस्तमः ।

सुखरोचिरतः सलक्ष्मणः क्षणमुल्लाघ इवोदतिष्ठत ॥४२॥

परीति—स लक्ष्मणोऽचिरेण अचिरेण कालेन उदतिष्ठत उत्थितवान्, क इव ? उल्लाघ इव व्याधिमुक्त इव गदनिर्मुक्त इवेत्यर्थः, कथम् ? क्षणं मुहूर्त्तमेकम्, कथम्भूतः ? सुखरः दृढप्रहारी अथवा सुखरः सुखदः, किं कुर्वन् ? व्यसनाम्भोधिमिव [illegible] आशयं चेतः परिमोह्यमाणं तमोऽन्धकारम् उत्तरन् सन् ।

[illegible]—अतः सुखरोचिश्चन्द्रः सलक्ष्मणः सह लक्ष्मणा वर्तत इति सः परिपूर्णत्वात् । पाण्डरादित्वान्नदयः । [illegible] । शेषं पूर्ववत् ॥४२॥

निजपूर्वया रुचिरपाण्डुरुचा परमाद्ययौषधिपतिं वरया ।

समवाप्य कान्तमधिकं रुरुचे न महस्विसङ्गतिषु कस्य रुचिः ॥४३॥

निजेति—[illegible] विशल्या नाम्न्या द्रोणराजपुत्र्या अधिकं रुरुचे शुशुभे, किं कृत्वा ? पूर्वं तं लोकोत्तरं [illegible] मनोहरं लक्ष्मणमवाप्य, अथवा कान्तं पतिमवाप्येति सम्बन्धः, कथम्भूतया ? निजपूर्वया निजपूर्वी [illegible], पुनः रुचिरपाण्डुरुचा मनोहरश्वेतकान्त्या, पुनः परमाद्यया उत्कृष्टकान्त्या युक्तमेतत्, महस्विसङ्गतिषु तेजस्विसम्बन्धेषु कस्य रुचिः न स्यादपि तु सर्वेषामपीति शेषः ।

तारापति (विधु) से उसका शक्तिका संचार रातमें ही समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो गया था । उससे साथ ही उसकी मनोहर कान्ति भी फैल गयी थी । परब्रह्मकी प्रभा किस उपद्रवको शान्त नहीं करती है ! अर्थात् सब उपद्रवोंको मिटा देती है ।

चन्द्रमाकी कान्ति दिग्-दिगन्तरालोंमें व्याप्त हो गयी थी तथा इस मनोहर प्रकाशसे रात्रिमें लोगोंको बल प्राप्त हो गया था। पूर्ण प्रकाश किस अन्धकारको दूर नहीं करता है॥४१॥

अत्यन्त तीक्ष्ण योद्धा श्री लक्ष्मणने इसे खाते ही चित्तको पूर्ण रूपसे मूच्छित करनेमें समर्थ शक्तिके विषको तुरन्त वैसे ही शान्त कर दिया था जैसे गुणी व्यसनोंके सागरको पार कर लेता है । और क्षण-भरमें ही ऐसे उठ बैठे थे मानो कुछ हुआ ही न था ।

द्यूत, आदि व्यसनोंके सागरको पार करनेके समान चित्तको मोह-जालमें फँसाते हुए कलुषित भावोंको श्री कृष्णने तत्काल सुखद कर दिया था और पाण्डव उत्साहित होकर उठ खड़े हुए थे ।

कान्त कान्ति धारक मृग चिह्नधारी चन्द्रमा भी सबको अचेत (सुषुप्त) करनेवाले अन्धकारको नाश करता हुआ और उत्सवको बढ़ाता हुआ ऊपर आ गया था ॥४२॥

श्रेष्ठ औषधि विशल्याके द्वारा लायी गयी लक्ष्मणकी पहली कान्ति (निजपूर्वया) दुर्बलताके कारण सफेद (पाण्डु) होकर भी मनोहर लगती थी । तथा विशाल मनोबलकी द्योतक थी । यह पाण्डु छवि भी (दिलकाई) सुन्दर लक्ष्मणको पाकर और जगमगा उठी थी । उचित ही है प्रतापियोंकी संगतिमें कौन नहीं चमकता है ?

परमात्मा एवं औषधीश श्रीकृष्णपर अनुरक्त और प्रकृतिस्थ (निजपूर्वया) पाण्डवोंके मनोहर प्रतापने जगन्मोहन (कान्त) श्रीकृष्णको पाकर अपनी शोभाको अत्यधिक कर लिया था । ठीक है, प्रतापियोंके साथ रहकर कौन प्रतापी नहीं हो जाता है ।

---

1. वैतालीयं छन्दः ।

अथ भारतीयः—परं केवलं आशया दिशा अधिकं रुरुचे, किं कृत्वा ? पूर्वं तमोषधिपतिं चन्द्रमवाप्य, कथम्भूतं चन्द्रम् ? कान्तं कमनीयम्, कथम्भूतया ? निजपूर्वया निजमात्मीयरूपं पूर्वं यस्याः सा तथोक्ता तया, पुनः रुचिरपाण्डुरुचा श्लक्ष्णशुक्लदीप्त्या, पुनः वरया रमणीयया। शेषं प्राग्वत्[५] ॥४३॥

स हरिन्नवोदयमुदीक्ष्य जनश्चिरचन्द्रहासभयविह्वलितः।
निजकृत्यनिर्वहणभारमितः समुदश्वसीन्निशि कवोष्णमसौ ॥४४॥[१]

स इति—सः असौ जनः कवोष्णम् ईषदुष्णं यथा तथा निशि रात्रौ समुदश्वसीत् समुच्छ्वसितवान्, कथम्भूतः ? निजकृत्यनिर्वहणभारमात्मकार्यनिर्वाहभारम् इतो गतः, किं कृत्वा ? पूर्वं नवोदयं हरिं लक्ष्मणमुदीक्ष्यावलोक्य, कथम्भूतो जनः ? चिरचन्द्रहासभयविह्वलितः चिरं चिरमारभ्य चिरमतीति चिरः, पचादित्वादच्; अपक्षय इत्यर्थः, चन्द्रहासः खड्गविशेषः, चिरः चन्द्रहासो यस्य सः चिरचन्द्रहासो रावणस्तस्माद्भयं तेन विह्वलितो विधुरितः।

भारतीय—असौ सोऽयं जनः[२] कवोष्णं समुदश्वसीत्। किं कृत्वा ? पूर्वम् उदीक्ष्य, कम् ? हरिन्नवोदयं[३] हरिति दिशि नवोदयो यस्य तं[४] चन्द्रमित्यर्थः, कस्याम् ? निशि, कथम्भूतः सन् ? चिरचन्द्रहासभयविह्वलितः[५] चन्द्रहासः चन्द्रातपः चन्द्रज्योत्स्नेत्यर्थः[६] चिरचन्द्रहासाद्भयं चिरचन्द्रहासभयं तेन विह्वलितः, शेषं पूर्ववत् ॥४४॥

दारुण्यमात्मन्यनुशय्य तीव्रं स्वतापतप्तां दयया धरित्रीम्।
निर्वृत्य निर्वापयितुं हिमांशुव्याजेन शीतोऽभ्युदयाद्दिवार्कः ॥४५॥

दारुण्यमिति—हिमांशुव्याजेन चन्द्रस्वरूपेण स्वतापतप्तां धरित्रीं मेदिनीं निर्वापयितुं सुखयितुं शीतीकर्तुमित्यर्थः, दयया पूर्वम् अनुशय्य पश्चात्तापं गत्वा निर्वृत्य व्याघुट्य असौ अर्कः सूर्यः अभ्युदयादिव

अपनी परम्परा (पूर्वया) के अनुसार निर्मल धवल कान्तियुक्त दिशाएँ सर्वोत्तम (परं) मनोहर चन्द्रमाका वरण करके सुशोभित हो उठी थीं। प्रकाशपुञ्जके साथ रहकर कौन प्रकाशित नहीं होता है ? ॥ ४३ ॥

औषधि लानेके अपने कर्त्तव्यके भारसे मुक्त तथापि चन्द्रहास नामके खड्गकी सिद्धिसे सम्बद्ध प्रकरणकी स्मृतिसे विह्वल हनुमान्‌जीने फिरसे चैतन्यको प्राप्त होते हुए लक्ष्मणको देखकर उस रात्रिमें आनन्दसे उष्ण साँस ली थी।

अपने कर्त्तव्यके निर्वाहमें पारंगत तथापि अकाल विनाशके द्योतक कौरवराजके अट्टहाससे भीत और व्याकुल पाण्डव (भीम) ने नूतन प्रतापसे देदीप्यमान कृष्णको देखकर रात्रिमें ही साहसकी साँस ली थी।

दिन भर अपने-अपने कर्त्तव्यको पूर्ण करनेमें लगे लोग रात्रिमें भी चन्द्रमाके उदयमें होते विलम्बके कारण डर तथा सकुचा गये थे। इन्होंने ही दिशाओंमें निकलती चाँदनीको देखकर आनन्दकी साँस ली थी ॥ ४४ ॥

अपनेपर बीते दारुण दुःखकी तीक्ष्णताका ध्यान करके तथा अपने दुःखसे दुःखी संसारको शान्त करनेके लिए ही करुण रससे पूर्ण ठण्डे (निर्जीव और निरुत्साहित) सूर्यवंशी (लक्ष्मण-भीम) चन्द्रोदयके समान उदित हुए थे।

---

१. प्रमिताक्षरा छन्दः—तल्लक्षणं तु, 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता'—इति। २. पाण्डवसमूहः। ३. नूतनकान्तिदीप्तं हरिं श्रीकृष्णमित्यर्थः। ४. ज्ञेय–। ५. चिरः अपक्षयभूतश्चन्द्रहासोऽट्टहासो यस्य सः चिरचन्द्रहासः कौरवाधिपतिस्तस्माद्भयं। ६. –त्स्ना चेत्यर्थः।

अभ्युद्गतवानिव, किमनुशय्य ? तीव्रं सोढुमशक्यम् आत्मनि दारुण्यं दारुणत्वम्, कथम्भूतः ? शीतः शीतलः[1] ॥४५॥

शनैः समारुह्य नभोऽनुरागं जहौ शशी लोकहितोद्यतोऽपि ।
प्रायेण सर्वोऽप्यधिरूढसंपद्व्यपोढपूर्वस्थितिरीदृगेव ॥४६॥

शनैरिति— शशी चन्द्रः पूर्वं शनैः नभो गगनं समारुह्य अनुरागं जहौ त्यक्तवान्, कथम्भूतः ? लोकहितोद्यतोऽपि, युक्तमेतत् ईदृगेव चन्द्रसम एव सर्वोऽप्यपोढपूर्वस्थितिर्जायते मुक्तपूर्वस्थितिर्भवति, कथम्भूतः सन् ? अधिरूढसंपत्, कथम् ? हि स्फुटं प्रायेण बाहुल्येन ॥४६॥

चन्द्रो वातः शीतकं चन्दनं च चोदेष्वासीदुष्णकं कामुकानाम् ।
निर्द्वन्द्वं वा चन्द्रमश्छद्मनाभूदेकच्छत्रं प्राभवं मन्मथस्य ॥४७॥

चन्द्र इति—चन्द्रः वातो वायुः शीतकं कल्हारं चन्दनं श्रीखण्डमेतत् सर्वम् उष्णकं दाहकम् आसीत् सञ्जातम्, केषाम् ? कामुकानाम् कामिनाम्, केषु सत्सु ? चोदेषु कामजनितपीडासु सतीषु, वा अथवा अभूत् सञ्जातम्, किम् ? प्राभवं प्रभुत्वम्, कस्य ? मन्मथस्य, कथम्भूतम् ? एकच्छत्रम्, केन ? चन्द्रमश्छद्मना चन्द्रव्याजेन, कथम्भूतं प्राभवम् ? निर्द्वन्द्वं विपक्षरहितम् ॥४७॥

माधवेन मधुना स्मरेण वा को मयेव मदते च तोषितः ।
इत्यहं पुरवशः स्फुटन्निव स्वल्पतारकगणः शशी बभौ ॥४८॥

माधवेनेति—शशी चन्द्रः बभौ रेजे, कीदृशः ? स्वल्पतारकगणः, कथम्भूतः ? अवशः स्वाधीनः, पुनः अहंगुर्गर्वितः किं कुर्वन्निव ? स्फुटन्निव, कथम् ? गर्वितः, तदाह—माधवेन वसन्तेन मधुना मद्येन स्मरेण वा मयेव मदते मां विना कस्तोषितः अपि तु न कोऽपि[3] ॥४८॥

अपने तेजसे तपायी गयी सृष्टिको दयापूर्वक ठण्डा करनेके लिए ही अपने तीक्ष्ण तथा दारुण प्रतापके लिए पश्चात्ताप करता सूर्य ही मानो ठण्डा होकर चन्द्रमाके रूपसे रात्रिमें निकला था ॥ ४५ ॥

संसारका हित करनेमें तत्पर होते हुए भी चन्द्रमाने अनुराग (लाली) को आकाशमें ऊपर उठकर छोड़ दिया था। उचित ही है क्योंकि सभी समुन्नत अवस्थाको प्राप्त करके प्रायः इसी प्रकार पहलेकी अवस्थाको छोड़ देते हैं ॥ ४६ ॥

कामविकारके जाग्रत होते ही प्रेमियोंके लिए शीतल चन्द्रमा, वायु तथा अत्यन्त ठण्डा चन्दन भी गरम लगने लगा था। अथवा यों कहिए कि चन्द्रमाके व्याजसे कामदेवका एकच्छत्र राज्य हो गया था और कोई भी उसके (कामदेवके) सामने खड़ा होनेमें समर्थ न था ॥ ४७ ॥

वसन्त ऋतु अथवा मदिरा अथवा कामदेव, इनमें-से कौन मेरे समान है तथा मेरे बिना इनमें-से किसका सन्तोष होता है ? (अर्थात् किसीका भी नहीं) इस प्रकारसे अहंकारमें मस्त, स्वाधीन होकर फैलता हुआ-सा चन्द्रमा थोड़े-से तारोंके साथ सुशोभित हो रहा था ॥ ४८ ॥

---

१. उपजातिश्छन्दः। २. टीकायां सम्पत् + अपोढ विग्रहकरणात् 'द्' मात्रं प्रतिभाति। मूलानुसारी-विग्रहस्तु "सर्वोऽपि व्यपोढ इति।" ३. रथोद्धतावृत्तम्।

न विधुः स्मरशस्त्रशाणबन्धः स्वयमेव स्फुरितास्च ता न ताराः।
मदनास्त्रनिशानवह्निशल्कप्रचयोऽसाविति मानिभिश्चकम्पे ॥४९॥

नेति—मानिभिः कामुकैरिति कृत्वा चकम्पे कम्पितम्, कथमिति तदाह—विधुश्चन्द्रो न भवति, कः? एषः, किं तर्हि भवति? स्मरशस्त्रशाणबन्धः, कथम्? स्वयमात्मना, ता लोकप्रसिद्धाः ताराश्च न भवन्ति, कथम्भूताः ताः? स्फुरिताः, किं तर्हि भवति? कोऽसौ मदनास्त्रनिशानवह्निशल्कप्रचयः मदनशस्त्रनिशानाग्निकणनिकर इति[1] ॥४९॥

आत्मपादशरणं कुमुदौघं भानुतापितमवेत्य सवैरम्।
हन्तुमभ्यधिकमिच्छुरिवेन्दुश्चक्रवाकमत्परकमलं च ॥५०॥

आत्मेति—स इन्दुश्चन्द्रः चक्रवाकं लोकं कमलं च आभ्यधिकं यथा भवति तथा अतपत् संतापितवान्, किं कुर्वन्निव? वैरं हन्तुमिच्छुरिव वाञ्छन्निव, किं कृत्वा? पूर्वं कुमुदौघं कैरवनिकरम् आत्मपादशरणम् अवेत्य मत्वा, कथम्भूतमवेत्य भानुतापितमिति[2] ॥५०॥

क्षीरधिप्लवकृतोद्गमैरिव प्लाविते‌ऽशुभिरतिग्मदीधितिः।
व्योम्नि मज्जनभयेन शङ्कितः सञ्चरन्निव गतेन लक्षितः ॥५१॥

क्षीरेति—अतिग्मदीधितिश्चन्द्रः जनैरित्यध्याहार्यम्, लक्षितः, केन? गतेन गमनेन, किं कुर्वन्? सञ्चरन् प्रवर्तमानः, क इवोत्प्रेक्षितः? शङ्कित इव, केन? मज्जनभयेन, क्व? व्योम्नि नभसि, कथम्भूते? अंशुभिः किरणैः प्लाविते प्रक्षोडिते, कैरिवोत्प्रेक्षितैः क्षीरधिप्लवकृतोद्गमैरिव क्षीरसमुद्रपूरविहितोत्पत्तिभिरिवेति[3] ॥५१॥

भोगसागरपरिक्रमचौरान् रागिणो जलपथे कृतकृत्यान्।
अध्यरोहदिव जेतुमुदस्त्रश्चन्द्रमण्डलतरण्डमनङ्गः ॥५२॥

भोगेति—अनङ्गः कन्दर्पः चन्द्रमण्डलतरण्डम् अध्यरोहदिव आरूढवानिव, कथम्भूतः? उदस्त्रः उत्खातशस्त्रः, किं कर्तुम्? रागिणः कामुकान् जेतुम्, कथम्भूतान्? भोगसागरपरिक्रमचौरान् भोगसमुद्रमार्गतस्करान्, पुनः कृतकृत्यान् कृतार्थिनः, क्व जेतुम्? जलपथे जलमार्गे[4] ॥५२॥

यह चन्द्रमा नहीं है अपितु कामदेवके अस्त्रोंपर धार रखनेके लिए शाण (खराद) का चक्र है। आकाशमें ये तारे नहीं खिले हैं बल्कि मदनके अस्त्रोंको खरादपर चढ़ानेसे उड़े हुए आगीके पतंगोंका समूह ही है। यह सोचकर ही रूठी हुई कामिनियाँ काँप उठी थीं ॥ ४९ ॥

सूर्यके द्वारा सताये गये और अपने पदों (किरणों) पर आश्रित (खिलनेवाले) कुमुद-समूहको देखकर वैरको दाँधे चन्द्रमाने (सूर्यके आश्रित) चक्रवाक-युगलों तथा कमलोंको अधिकसे अधिक सतानेकी इच्छा की थी ॥ ५० ॥

क्षीरसागरके पूरके बढ़ावके समान चन्द्रमाकी धवल किरणोंके द्वारा आकाशके व्याप्त हो जानेपर शान्त-शीतल किरणोंका स्वामी चन्द्रमा स्वयमेव आशंका (कहीं डूब न जाऊँ) में पड़ गया था। फलतः डूबनेके भयसे सावधानीपूर्वक जाता हुआ-सा वह देखा गया था ॥ ५१ ॥

---

१. औपच्छन्दसिकं वृत्तम्। २. स्वागता वृत्तम्। ३. रथोद्धता वृत्तम्। ४. स्वागता वृत्तम्।

परं न दृष्ट्वाक्रममाणमिन्दुं प्रपूरयामास पयोधिराशाः ।
लावण्यधामा च्युतमानसीमा रागोऽप्यसंमान्हृदये जनस्य ॥५३॥

परमिति—न परं केवलं प्रपूरयामास पूरितवान्, कोऽसौ ? पयोधिः समुद्रः, काः ? आशा दिशः, किं कृत्वा ? पूर्वं दृष्ट्वाऽवलोक्य, कम् ? इन्दुं चन्द्रम्, किं कुर्वाणम् ? आक्रममाणमुदयन्तम्, कथम्भूतः ? लावण्यधामा पुनश्च्युतमानसीमा, किं कुर्वन् ? असंमान् अवकाशमलभमानः, क्व जनस्य हृदये । रागोऽपि प्रपूरयामास, काः ? आशा वाञ्छाः, किं कृत्वा ? पूर्वं दृष्ट्वा, कम् ? इन्दुम्, किं कुर्वाणम् ? आक्रममाणम्, कथम्भूतः ? लावण्यधामा, पुनः च्युतमानसीमा, किं कुर्वन् ? असंमान् अवकाशमलभमानः, क्व ? जनस्य हृदये[1] ॥५३॥

श्रवणाञ्जलिनेक्षणेन शुक्त्या प्रियवार्तां विधुमासवं पिबन्त्यः ।
मधुरत्रयसेवयेव जाता हृदि वध्वः समधातवश्चिरेण ॥५४॥

श्रवणेति—वध्वः बान्धव्यः जाताः, कथम्भूताः ? समधातवः, कथम् ? चिरेण बहुतरकालम्, क्व ? हृदि हृदये, कयेव ? मधुरत्रयसेवयेव, किं कुर्वन्त्यः ? पिबन्त्यः आस्वादयन्त्यः, काम् ? प्रियवार्तां वल्लभवार्ताम्, केन ? श्रवणाञ्जलिना कर्णाञ्जलिना, तथा पिबन्त्यः कम् ? विधुं चन्द्रम्, केन ? ईक्षणेन लोचनेन, तथा शुक्त्या चषकेणासवं मद्यम् पिबन्त्यः[2] ॥५४॥

रत्नाजिनेष्वाजिभरावशेषाद्विषादवद्बाष्पजलाविलानि ।
स्त्रैणं समुच्छ्वासतरङ्गितानि सीधूनि योधाः समपाययन्त ॥५५॥

रत्नाजिनेति—समपाययन्त समपाययन्ति[3] स्म, के ? योधाः धनुर्धराः, कानि ? सीधूनि मद्यानि, किम् ? स्त्रैणं स्त्रीसमूहम्, केषु ? रत्नाजिनेषु मणिमयचर्मसु[4], कथम्भूतं स्त्रैणम् ? विषादवत्, कस्मात् ? आजिभरावशेषात्, कथम्भूतानि सीधूनि ? बाष्पजलाविलानि अश्रुजलमिश्राणि, पुनः समुच्छ्वासतरङ्गितानि समुच्छ्वासास्तरङ्गाः संजाता येषु तानि तथोक्तानि[5] ॥५५॥

जलमार्गके विशेषज्ञों तथा भोगरूपी समुद्री यात्राके डकैतों अर्थात् कामुकोंको जीतनेके लिए ही शस्त्र उठाये हुए कामदेवने चन्द्रमण्डलरूपी छोटी-सी नौकापर सवार होकर प्रयाण किया था। जलमार्गके विशेषज्ञ समुद्री चोरोंके समान कामुक भी अविवेकी (डलयोरभेदः अतएव जडमार्ग) जीवनके यापनमें पारंगत होते हैं ॥ ५२ ॥

चन्द्रमाके ऊपर (कामदेवके) आक्रमणको देख कर ही खारे (लावण्य) पानीका भण्डार समुद्र ही ज्वाररूपसे किनारोंके ऊपर नहीं आया था और समस्त दिशाओंमें ही नहीं फैला था अपितु लोगोंके मनमें न समाते हुए प्रेमने भी अपनी सब आशाएँ (अभिलाषाएँ) पूर्ण कर ली थीं [क्योंकि चन्द्रमाके उदय (आक्रमण) होते ही ज्वारके समान रागका भी प्रवाह या सीमा नहीं रहती है तथा सारी सृष्टि ही सुन्दर (लावण्यमय) प्रतीत होने लगती है] ॥ ५३ ॥

कानोंसे प्रीतमकी बातोंको सुनती, आँखोंसे चन्द्रिकाका पान करती तथा शुक्तिके पात्रसे आसवको पीती हुई बहूके हृदयमें बहुत समय बाद, तीनों मधुरोंका सेवन करनेके कारण समस्त धातुओंका सामञ्जस्य हो गया था ॥ ५४ ॥

युद्धकालीन मानसिक त्रासके अवशेष स्वरूप विषादके सूचक आँसुओंसे मटमैले तथा

---

१. उपजातिर्वृत्तम् । २. औपच्छन्दसिकं वृत्तम् । ३. -यन्ते स्म । ४. चित्रकम्बलेषूपयुक्तः पाठः । ५. उपजातिर्वृत्तम् ।

उत्पलस्य शशिनोऽप्यवतारात्सौरभं हरतु कान्तिगुणं च ।
क्व स्वयं क्व मदनः किल येन प्राप मोहनविधिं मधुवारः ॥५६॥

उत्पलस्येति—किल लोकोक्तौ, क्व कस्मिन् स्थाने हरतु, कोऽसौ ? मधुवारः मदिरा, किम् ? सौरभं परिमलम्, कस्य ? उत्पलस्य कमलस्य, तथा च क्व हरतु, कम् ? कान्तिगुणम्, कस्य ? शशिनोऽपि चन्द्रस्यापि, कस्मात् ? अवतारात्, कयोर्द्वयोः ? उत्पलशशिनोरिति ग्राह्यम्, क्व स्वयं मधुवारो वर्तते तथा क्व वर्तते मदनः येन मदनेन प्राप को मधुवारः कम् ? मोहनविधिं मोहक्रियाम्, कथम् ? स्वयमात्मनेति[1] ॥५६॥

इन्दोः प्रियस्यापि कराग्रपातैर्मदस्य चित्तस्य तथार्द्रभावैः ।
पूर्वापराधस्मृतयो विनेशुर्जन्मापरं जातमिवाबलानाम् ॥५७॥

इन्दोरिति—इन्दोश्चन्द्रस्य कराग्रपातैः किरणाग्रपातैः पूर्वापराधस्मृतयो विनेशुः विनष्टाः, तथा प्रियस्यापि कराग्रपातैः नखक्षतैः तथार्द्रभावैः द्रवस्वरूपैः, कस्य ? मदस्य तथा चित्तस्य मनसः आर्द्रभावैः सदयभावैः, अत एव अबलानां कामिनीनाम् अपरं द्वितीयं जन्म जातमिव[2] ॥५७।

प्रतिमितविधुबिम्बसीधुपानादिव वदनं विशदारुणं वधूनाम् ।
श्रमजललुलितभ्रुकोपशङ्कानतशिरसः किल कामिनश्चकार ॥५८॥

प्रतीति—किलेति वाक्यालङ्कारे वधूनां कामिनीनां वदनं कामिनः कामुकान् कोपशङ्कानतशिरसः कोपभ्रान्तिनम्रमस्तकान् चकार कृतवत्, कथम्भूतं वदनम् ? श्रमजललुलितभ्रु स्वेदजललुलितभ्रु, पुनः विशदारुणं विशदं च तत् अरुणं च विशदारुणम्, कस्मादिव ? प्रतिमितविधुबिम्बसीधुपानादिव अत्र प्रतिभावो विभाव्यते प्रतिबिम्बितचन्द्रबिम्बाद्विशदं मद्यास्वादनादरुणं युगपद्द्वयोः पानाद्विशदारुणमिति[3] ॥५८॥

स्वच्छवृत्ति रसिकं मृदु चार्द्रं तत्तथापि मधुमानवतीनाम् ।
रूपयौवनमदस्य विकारैर्मत्तमत्तमिव विप्रललाप ॥५९॥

स्वच्छेति—तन्मधु मद्यं तथापि विप्रललाप विप्रलापितवान्, किमिवोत्प्रेक्षितम् ? रूपयौवनमदस्य

लम्बी-लम्बी साँसोंके आघातसे तरंगित मदिराको योद्धाओंने रत्नजटित कम्बलोंपर बैठकर पिया था ॥ ५५ ॥

मदिरा कमलकी सुगन्धिको और चन्द्रमाकी कान्तिको नीचा दिखा सकती है क्योंकि ये दोनों उतर जाते हैं। किन्तु मदिराकी स्वयं स्थिति क्या है ? तथा मदन की क्या है ? क्योंकि कामदेवके कारण ही मदिरापानका अवसर अत्यन्त मोहक हो जाता है ॥ ५६ ॥

चन्द्रमाकी किरणों (करों) के ऊपर पड़ने तथा वल्लभके नखक्षतों (कराग्र) के द्वारा, तथा मदिराकी द्रवता और चित्तकी सदयताके कारण कामिनियाँ प्रेमियोंके पुराने अपराधोंको भूल ही गयी थीं। मानो उनका दूसरा जन्म ही हो गया था ॥ ५७ ॥

चन्द्रमाकी परछाँही पड़नेसे निर्मल कान्तियुक्त तथा मदिरा पीनेके कारण लाल एवं थकानके पसीनेसे गीली-गीली भृकुटियुक्त बहुओंके झुके हुए मस्तकको देखकर कामियों-को ऐसा लगा था कि वे रुष्ट तो नहीं हो गयी हैं ॥ ५८ ॥

---

1. स्वागता वृत्तम् । 2. उपजातिश्छन्दः । 3. पुष्पिताग्रावृत्तम् ।

विकारैः मत्तमलमिव, कासाम्? मानवतीनाम्, यद्यपि स्वच्छवृत्ति तथापि रसिकं रसोऽस्यास्तीति रसिकं रसवत् तथा मृदुशरीरमार्दवविधायित्वात् तत्तयोक्तं तथा आर्द्रं द्रवरूपत्वात् तथोक्तम् ॥५९॥

मानो व्यतीतः कलहं व्यपेतं गतानि गोत्रस्खलितच्छलानि ।
गुरून्प्रहारान्मधु सन्दधीत यत्तं पुनः कामिषु तत्कियद्वा ॥६०॥

मान इति—मानो व्यतीतः कलहं व्यपेतं तथा गोत्रस्खलितच्छलानि नामस्खलितच्छलाः गतानि तथापि मधु गुरून् प्रहारान् सन्दधीत तत्कार्यं कियद्वा स्यात् पुनः, केषु? कामिषु कामुकेषु[2] ॥६०॥

परिपीडितमुक्तमङ्गनायाः परिरम्भेषु चिरादिव प्रियेण ।
हृदयोच्छ्वसितोष्मणा सहैव प्रतिसर्पत्कुचयुग्ममुन्ममज्ज ॥६१॥

परीति—अङ्गनायाः प्रशस्तमङ्गमस्याः पामादित्वान्नः अङ्गना तस्याः कामिन्याः कुचयुग्मं स्तनद्वन्द्वम् उन्ममज्ज उन्मग्नाम उच्छ्वसितम्, कथम्भूतं कुचयुग्मम्? परिरम्भेषु आलिङ्गनेषु प्रियेण परिपीडितं पश्चान्मुक्तम्, किं कुर्वदिव? प्रतिसर्पदिव, कथम्? चिरादिव बहुतरकालेन, कथम्? सहैव सार्द्धमेव, केन? हृदयोच्छ्वसितोष्मणा[3] ॥६१॥

निरुत्तरां कर्तुमनिंस्त दोषी योषामुपालिप्सुरनेकमागः ।
वाक्कर्मणोरन्यतरस्य मोहमन्यस्य रक्षत्यपरावबोधः ॥६२॥

निरुत्तरामिति—अनिंस्त चुचुम्ब, कोऽसौ? दोषी, काम्? योषां वल्लभाम्, किं कर्तुम्? निरुत्तरां कर्तुम्, कथम्भूतो दोषी दोषवान् वल्लभः? उपालिप्सुः प्रोञ्छितुमिच्छुः, किम्? आगोऽपराधम्, कथम्भूतम्? अनेकं नानाविधम् अथवा युक्तमेतत्, वाक्कर्मणोर्मध्येऽन्यतरस्य एकस्य मोहमन्यस्यापरस्यावबोधो ज्ञानं रक्षतीति[4] ॥६२॥

यद्यपि मदिरा अत्यन्त स्वच्छ थी, रसीली थी, कोमल (हल्की) थी और शीतल थी तथापि मानवती (रुष्ट) नायिकाओंके सौन्दर्य, यौवन और अहंकारके आवेशके कारण अत्यन्त उन्मत्तके समान अनर्गल आलापका कारण हुई थी ॥ ५९ ॥

धीरे-धीरे रोष शान्त हो गया था, कलह समाप्त हो गयी थी तथा दूसरे नायक-नायिकाका नाम लेकर चिढ़ानेकी प्रक्रिया भी नहीं चल सकी थी । मदिराके आवेशमें कामी युगल परस्परमें पूरी शक्तिसे उलझ रहे थे । ऐसी स्थितिमें दन्तक्षत और नखक्षतकी चिन्ता ही किसे थी ॥ ६० ॥

आलिंगनके समय प्रीतमके द्वारा पहले दबाया गया और बादमें छोड़ दिया गया कल्याणाङ्गी नायिकाका कुचयुगल हृदयके उच्छ्वासकी ऊष्माके साथ-साथ फैलते हुए के समान ही काफी देरमें ऊपर उठा था ॥ ६१ ॥

अनेक अपराधोंके कारण दोषी प्रीतमने अपने अपराधोंको क्षमा करानेकी इच्छासे अपनी प्रियतमाका चुम्बन कर लिया था ताकि वह कुछ कह न सके । उचित ही है वचन और कर्मों-से किसी एकके मोहको दूसरेकी जागृति छिपा देती है ॥ ६२ ॥

---

१. विधूत इति शेषः—प० द०, स्वागतावृत्तम् । २. उपजातिर्वृत्तम् । ३. औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।
४. उपजातिवृत्तम् ।

मध्यस्थितं मण्डलधर्मबद्धं मित्रं जिगीष्वोरिव पीड्यमानम् ।
सन्देहभाग्जि स्तनचक्रमासीत् साधारणं तत्प्रिययोर्मुहूर्तम् ॥६३॥

मध्येति—आसीत् सञ्जातं किम् ? तत् स्तनचक्रम्, कथम्भूतम् ? सन्देहभाग्जि-संशयरूपम्, कियत्कालम् । मुहूर्तं क्षणम्, कथम्भूतं सत् ? साधारणम्, कयोः ? प्रिययोः वल्लभयोः, किमिव ? जिगीष्वोः मित्रमिव, किं क्रियमाणम् ? पीड्यमानम्, कथम्भूतं सत् ? मध्यस्थितम् अन्तरालगतम्, पुनः मण्डलधर्मबद्धं देशधर्मबद्धम् ॥६३॥

आलिङ्ग्य गाढं मधुरं ध्वनन्ती मुखे मुखं न्यस्य वधूः प्रियस्य ।
विस्मृत्य कर्णान्तरमुन्मदत्वादास्ये जपन्तीव बभौ रहस्यम् ॥६४॥

आलिङ्ग्येति—बभौ शोभिता, का ? वधूः, किं कुर्वती ? गाढमालिङ्ग्य ध्वनन्ती कूजन्ती, कथं यथा भवति ? मधुरं कर्णसुखरूपम्, किं कृत्वा ? पूर्वं न्यस्यारोप्य, किम् ? मुखं, क्व ? मुखे, कस्य ? प्रियस्य वल्लभस्य किं कुर्वतीवोत्प्रेक्षिता ? आस्ये मुखे रहस्यं जपन्तीव निरूपयन्तीव, किं कृत्वा ? विस्मृत्य किम् ? कर्णान्तरम्, कस्मात् ? उन्मत्तत्वादुन्मत्ततायाः इति शेषः ॥६४॥

किञ्च मधुरसितां मुखात्प्रियां प्रशमयितुं रसमुत्पिबन्निव ।
अविरतिरुतनिस्वनच्छलादजनि जनः सकलां गिलन्निव ॥६५॥

किमिति—च अहो इति वितर्के, अजनि संजातः, कोऽसौ ? जनः, किं कुर्वन्निव ? उत्पिबन्निव ऊर्ध्वमास्वादयन् कम् ? रसं मधुरस्वभावम्, कस्मात् ? मुखात्, किं कर्तुमिव ? प्रियां प्रशमयितुमिव, कथम्भूताम् ? मधुरसितां मधुरक्तां किं कुर्वन्निव ? प्रियां गिलन्निव कथम्भूताम् ? सकलां साङ्गोपाङ्गतया समस्ताम्, कस्मात् ? अविरतिरुतनिस्वनच्छलात् रुतं रतिकूजितं निस्वनं चुम्बनं न विद्यते विरतिर्ययोस्ते अविरतिनी रुतं च निस्वनं च रुतनिस्वने अविरतिनी च ते रुतनिस्वने च ते तयोर्भावस्तयोः छलाद् व्याजात्[1] ॥ ६५ ॥

दोनों प्रेमियोंके आलिंगनके समय बीचमें दबा वर्तुलाकार स्वाभाविक स्तनचक्र क्षण-भरके लिए सन्देहमें पड़ गया था क्योंकि वह दो विजेताओंके मध्यस्थ मित्रकी स्थितिमें था [मित्र-मण्डलके कर्त्तव्योंकी भावनासे प्रेरित संघर्षरत दोनों पक्षोंका मित्र राजा जब संघर्ष रोकनेके लिए मध्यस्थ बनता है तो उसे दोनोंके आक्रमण सहने पड़ते हैं । तथा कुछ समय दोनों ही उसपर शंका करते हैं] ॥ ६३ ॥

प्रियतमका गाढ़ आलिंगन करके मधुर-मधुर गुनगुनाती वधूने उसके मुखमें अपना मुख डाल दिया था । और आनन्दके अतिरेकमें बेसुध होकर कान तथा मुखका अन्तर भूलकर वह मुखमें ही गुप्त बात कहती-सी लग रही थी ॥ ६४ ॥

मद्यपानके कारण रतिकेलिमें मस्त प्रियाको शान्त करनेके लिए उसके मुखमें मुख डालकर रति-रसको पीते हुए के समान, प्रेमी ऐसा लगता था कि वह पूरीकी पूरी प्रियतमाको ही निगले जा रहा है । क्योंकि रति-सुखमें लीन प्रियाकी भी मधुर गुनगुनाहट और चुम्बन शान्त हो गये थे ॥ ६५ ॥

अपने स्तनों तथा जंघाओंके विपुल भारके कारण भारी, प्रेयसी प्रेमीके विशाल शरीरमें समा गयी थी । किन्तु प्रकृतिसे चंचल तथा सब प्रकारसे छलिया प्रेमीके मनमें यह प्रेमिकाका शरीर कहाँतक और कितना समाता है यही प्रश्न था ॥ ६६ ॥

---

१. अपरवक्त्रम् वृत्तम्, तल्लक्षणं तु—"अयुजि नन रला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं ततो जरौ" [वृ० र० ४।१] ।

स्तनजघनभरेण भूरिणा दयिततनौ दयिता ममौ गुरुः ।
पृथुनि निजचले बहुच्छले मनसि हि माति कियत्यसौ तनुः ॥६६॥

स्तनेति—दयिता वल्लभा दयिततनौ वल्लभमूर्त्तौ ममौ अवकाशं लेभे, कथम्भूता ? भूरिणा गुरुणा स्तनजघनभरेण कुचनितम्बभारेण गुरुः, युक्तमेतत्, हि यतः कियती तनुरसौ माति क्व ? मनसि कथम्भूते ? पृथुनि विस्तीर्णे पुनः, निजचले स्वतश्चपले, पुनः बहुच्छले प्रचुरप्रपञ्चे इति ॥६६॥

क्षेपयन्निव मुखामुखिमानं मानसीं कलुषतां कुसुमेषोः ।
संबिभाषिषुरिवासवमत्तश्चुम्बनेषु रमणः क्वणति स्म ॥६७॥

क्षेपयन्निति—रमणो वल्लभः क्वणति स्म कूजति स्म, किं कुर्वन्निव ? मानं क्षेपयन्निव, त्याजयन्निव चुम्बितुमर्हं कुशलो भवामीत्यहङ्कारं क्षेपयन्निवेत्यर्थः, केषु ? चुम्बनेषु, कथं यथा भवति ? मुखामुखि मुखेन मुखेन आश्रित्य इदं प्रवृत्तं मानक्षेपणकर्म, किं कुर्वन्निव ? संबिभाषिषुरिव संभाषितुमिच्छन्निव, काम् ? कुसुमेषोः स्मरस्य मानसीं चित्तोद्भवां कलुषताम्, कथम्भूतो रमणः ? आसवमत्तः[1] ॥६७॥

कोपाश्रुभिः कालवणैः परीतः स्याद्वा स लावण्यमयः प्रियोष्ठः ।
कुतोऽन्यथा तं पिबतामुदन्या माधुर्यवत्प्रत्युत हन्ति तृष्णाम् ॥६८॥

कोपेति—यः पूर्वं मधुरमधुरमिति कृत्वा स्वादितः स प्रियोष्ठ, अत्र प्रियोष्ठयोर्विकास्यत्वादेकवद्भावः । लावण्यमयो वा लावण्यनिर्मित इव स्यात्, कथम्भूतः ? कोपाश्रुभिः कोपवशात् प्रवृत्तनेत्रजलैः परीतो व्याप्तः सिक्त इत्यर्थः, कथम्भूतैः सद्भिः ? कालवणैः ईषल्लक्षारैरत्र कोपाश्रुसिक्तत्वादीषल्लवणत्वममृतमयत्वात् प्रचुरमाधुर्यं चास्ति "प्रियोष्ठोऽमृत" इति श्रुतेः, ईषल्लवण(न) संस्कृतो मधुररसोऽमृतमेव स्यात् चिरंतनस्यास्वाद्यमानत्वात्केवलो हि मधुररसो विरसतां रसनायामुत्पादयति अचिरमास्वादने तस्य विरस्यमानत्वादितिभावः अन्यथा यद्येवं विधो न स्वरूपेण स्यात्तदा कुतः कस्मादुदन्या पिपासा तृष्णामभिलाषं हन्ति, केषाम् ? कामुकानां, किं कुर्वतां सताम् ? माधुर्यवत् माधुर्यमिव प्रत्युत विशेषतः प्रियोष्ठं पिबताम्[2] ॥६८॥

प्रथममधरे कृत्वा श्लेषं व्रणं निदधे वधू-
रतिविनिमयः प्रीतेनायं कुतोऽप्यनुशय्यते ।
स्वयमिति भयात्सत्यंकारं प्रदातुमिवोद्यता
ननु च सबलाः कृत्ये नाम्ना भवन्त्यबलाः स्त्रियः ॥६९॥

आसव पीनेके कारण मत्त प्रेमी अपने मुखसे प्रियाके मुखपर चुम्बन करते-करते कूंज उठा था। मानो वह कामदेवके मनकी कालिमाको फेंकने की दृष्टिसे वार्तालाप ही करनेको तैयार था ॥ ६७ ॥

बहुत थोड़े नमकीन प्रेम-कोपके आँसुओंसे भीगा प्रेमिकाका ओठ अत्यन्त सुन्दर (हलका नमकीन होनेसे सुस्वादु) हो गया था। यदि ऐसा न होता तो उसे पीनेवाले प्रेमियोंकी (प्रेमको) प्यास उसी प्रकार क्यों शान्त होती जैसी मधुर पानसे होती है ॥ ६८ ॥

प्रसन्न पतिदेव किसी कारणसे प्रेम-क्रीड़ाके अपरिवर्तनको लेकर पश्चात्ताप न करें इस भयसे तथा ठीक तौरसे प्रतिफल देनेकी इच्छासे ही प्रेमिकाने स्वयं पतिका आलिंगन

---

१. स्वागता वृत्तम् ।

२. उपजातिश्छन्दः ।

प्रथममिति—निदधे निखातवती, का ? वधूः कामिनी, कम् ? व्रणं दन्तक्षतम्, क्व ? अधरे दन्तच्छदे, किं कृत्वा ? पूर्वं आश्लेषमालिङ्गनं कृत्वा, कथं यथा भवति आलिङ्गनकर्म ? प्रथमं प्राक्, केवोत्प्रेक्षिता ? उद्यतेवोद्यमवतीव, किं कर्त्तुम् ? प्रदातुम्, कम् ? सत्यंकारम्, कस्मात् ? भयात्, कथम् ? इति कृत्वा दर्शयति कुतोऽपि कस्मादप्यनुशय्यते पश्चात्तापविषयीक्रियते, कोऽसौ ? अयमतिविनिमयः पुरुषसंभोगैकगुणस्य स्त्रियाः पुरुषायितसंभोगो द्विगुणस्त्रिगुणो वा स्त्रीपुरुषाश्रितसम्भोगैकगुणस्य पुरुषसद्भावणाद्गुणोपाधिपस्य विनिमयः, केन ? प्रीतेन हृष्टेन वलनभेन, (वल्लभेन) कथम् ? स्वयमात्मना, युक्तमेतत् ननु अहो भवन्ति, काः ? स्त्रियः, कथम्भूता ? अबलाः, केन ? नाम्ना भवन्ति, सबलाश्च, क्व ? कृत्ये कर्मणीति[१] ॥६९॥

चित्तं चित्तेनाङ्गमङ्गेन वक्त्रं वक्त्रेणांसेनांसमत्यूरुणोरुम् ।
एकं चक्रुः सर्वमात्मोपभोगे कान्ताः पङ्क्तौ हन्त लज्जां ववञ्चुः ॥७०॥

चित्तमिति—चित्तं चित्तेन अङ्गम् अङ्गेन वक्त्रं वक्त्रेण अंसं स्कन्धं अंसेन स्कन्धेन ऊरुणा ऊरुम् अपि एतत्सर्वं च एकम् एकतां नीतं चक्रुः कृतवत्यः, काः ? कान्ताः क्व ? आत्मोपभोगे हन्त अहो ववञ्चुः त्यजन्ति स्म, काम् ? लज्जाम्, कस्यां सत्याम् ? पङ्क्तौ अङ्गीकारे[३] रोत्यमिति[४] ॥७०॥

सहस्थितं विस्मृतमङ्गमंशुकं गतं पुनः किं सहजा सखीव सा ।
कदापि दृष्टेव न संस्तुतेव च त्रपा कुतस्त्यं कुपितं नतभ्रुवः ॥७१॥

सहेति—विस्मृतम्, किम् ? अङ्गम्, कथम्भूतम् ? सहस्थितम् एकत्रावस्थितम्, तथा गतम् अंशुकं क्षिप्तं वस्त्रं सहजा [५]सखीव वयस्येव लज्जा किं कदापि कस्मिंश्चित्काले दृष्टेव आसीत् न पुनः संस्तुतेव परिचयमागतेवासीत् न कुपितं कुतस्त्यम्[६] ॥७१॥

विलोकभावेषु सहस्रनेत्रतां चतुर्भुजत्वं परिरम्भणेऽभवत् ।
समागमे सर्वगतत्वमिच्छवः सुदुर्लभेच्छाकृपणा हि कामिनः ॥७२॥

विलोकभावेष्विति—कामिनः कामुकाः सुदुर्लभेच्छाः कृपणा लम्पटाः अभवन् सञ्जाताः कथम् ?

कर लिया था तथा ओठको काट लिया था। इस प्रकार काम-क्रीड़ामें सबला स्त्रियाँ नाममात्रके लिए ही अबला थीं ॥ ६९ ॥

अपनी भोग-क्रियामें लीन कान्ताने प्रियके चित्तमें चित्त, शरीरमें शरीर, मुखमें मुख, कन्धेपर कन्धा और जंघेसे जंघा समस्त बातोंको एकमेक कर दिया था। चिन्ताकी बात इतनी ही थी कि इस समय सबकी श्रेणीमें उसने केवल लज्जाको छोड़ दिया था ॥ ७० ॥

रतिके अतिरेकके कारण झपकी आँखोंवाली कान्ता क्यों एकमेक हुए अंगोंको नहीं भूली थी ? क्या फिर उसका वस्त्र नहीं खिसक गया था ? अपितु ये दोनों बातें हुई थीं। हाँ, भली स्नेहमयी सखीके समान केवल लज्जा ही न तो कहीं दिखी थी और न कहीं उसकी चर्चा ही आयी थी। फिरसे रुष्ट होनेकी तो सम्भावना ही क्या थी ॥ ७१ ॥

कामी पुरुष स्तन, जंघादि उद्दीपन भावोंको देखनेके लिए हजारों आँखें चाहने लगे थे। आलिंगन करते समय दो भुजाओंसे तृप्ति न होनेके कारण चार भुजाएँ चाहते थे।

---

१. पाश्रिगुणोऽयं-- द० ज०। २. हरिणी वृत्तम्। ३. रोत्यमिति-- प० द०। ४. शालिनी वृत्तम्। ५. सखीव नयन्तः वयस्येव विफला जाता, किं दृष्टेवासीत् कदापि कस्मिंश्चित्काले पुनर्न संस्तुतेव न पुनः परिचयमागतेवासीत्त्रपा तथासति किं न पुनरिति सर्वत्र सम्बन्धो बोद्धव्य इति शेषः प० द०। 'सा' 'नतभ्रुवः' इत्यनयोः पदयोः सम्बन्धोऽर्थो वा न कस्मिन्नपि टीका पुस्तके उपलभ्यते'। ६. वंशस्थवृत्तम्।

हि स्फुटम्, किं कुर्वन्तः ? विलोकमात्रेषु स्तनजघनकक्षान्तरालक्षणेषु द्रव्यपदार्थेषु सहस्रनेत्रताम् इच्छवः अभिलषन्त तथा परिरम्भणे आलिङ्गने चतुर्भुजत्वं समागमे सम्प्राप्तौ सर्वगतत्वमिति ॥७२॥

बद्ध्वासवे प्रेमवधूः प्रियेऽपि अप्तुं न धातुद्वयबद्धमैच्छत् ।
अगूढभावापि ततो विकल्पात्पण्याङ्गनेव द्विमनी बभूव ॥७३॥

बद्ध्वेति—नैच्छत वाञ्छितवती, का ? वधूः किं कर्त्तुम् ? अप्तुं तृप्तिं कर्त्तुम् आत्मनो लज्जितुं प्रियस्य, किं कृत्वा ? पूर्वं बद्ध्वा नियम्य, किम् ? प्रेम, क्व ? आसवे सुरायाम् अपि प्रयोगात् प्रिये वल्लभे, कथम्भूतं प्रेम ? धातुद्वयबद्धं तृप् प्रीणने त्रपूष् लज्जायां चेति यथाक्रमेण निर्मितम्, तथा द्विमनीबभूव अद्विमना द्विमनाः बभूव द्विमनीबभूव चित्तद्वैतं गताभूदित्यर्थः, का ? वधूः कस्मात् ? विकल्पाद्भेदोपलब्धेः, कस्मादपि विकल्पात् ? ततोऽपि प्रेम्णोऽपि, कथम्भूता भूत्वा ? अगूढभावा प्रकटभावा, केव द्विमनीव बभूव ? पण्याङ्गनेव वारवधूरिव । शेषं प्राग्वत्[1] ॥७३॥

व्रीडावासः स्वान्तमङ्गं समस्तं कामार्त्तानां प्राप शैथिल्यमेका ।
स्वप्नेऽप्यासीन्नश्लथा बाहुपीडा युक्तं द्राघीयस्सु मूर्खत्वमाहुः ॥७४॥

व्रीडेति—कामार्त्तानां कामेन आर्त्ताः कामार्त्ताः तेषां कामिनां सम्बन्धित्वेन व्रीडा लज्जा शैथिल्यं प्राप प्राप्तवती । तथा वासो वस्त्रं शैथिल्यं प्राप प्राप्तवत् । तथा स्वान्तं चित्तं शैथिल्यं प्राप समस्तम् अङ्गं शैथिल्यं प्राप । एका बाहुपीडा स्वप्नेऽपि श्लथा नासीत्संजाता, युक्तोऽयमर्थः, आहुर्वदन्ति चारुचन्द्रचन्द्रिकाचकोरा विद्वांसः किम् ? द्राघीयस्सु दीर्घतरेषु मूर्खत्वं युक्तम् अतिदीर्घो मन्दबुद्धिरिति वचनात्[2] ॥७४॥

रागं नेत्रे नैव चित्तं मुखं च स्त्रीणां पानान्मानजिह्मं जगाहे ।
द्वेधैकोऽभूद्बहुपानोऽपि पाण्डुः कान्तास्योष्मस्वेदभावादिवौष्ठः ॥७५॥

रागमिति—न केवलं नेत्रे एव रागं जगाहे, किं कर्तृ ? चित्तम्, कथम्भूतम् ? मानजिह्मम्, तथा च जगाहे, किं कर्तृ ? मुखम्, कम् ? रागम्, कासाम् स्त्रीणाम्, कस्मात् ? पानात्, एकोऽप्योष्ठो द्वेधाऽभूत्, कथम्भूतः ? पाण्डुः शुक्लः, कस्मादिव ? कान्तास्योष्मस्वेदभावादिव वल्लभवदनोच्छ्वासधर्मत्वादिव,

और समागमके समय उद्यान, गुल्म, नदी तीर आदि सब स्थानोंपर जाना चाहते थे। उचित ही है क्योंकि कामार्त्त बड़े स्वार्थी होते हैं और दुर्लभ (इन्द्रत्व, विष्णुत्व तथा सर्वव्यापकता) पदार्थोंकी इच्छा करते हैं ॥ ७२ ॥

पहले आसव पानमें आसक्त होकर फिर प्रीतमके प्रेममें विभोर होकर कुलवधूने क्या (तृप्) धातुके दोनों रूपोंको नहीं चाहा था ? [अपितु चाहा था क्यों आसव पानमें उसे तृप्ति न थी और पतिसे प्रेम करनेमें त्रपा नहीं थी] अतएव दोनों भाव स्पष्ट हो जानेसे तथा विकल्प न रहनेसे वह वेश्याके समान दोको चाहनेवाली (द्विमनी) हो गयी थी ॥ ७३ ॥

कामातुर युगलोंकी लज्जा, कपड़े, अन्तरंगकी रिरंसा ही शिथिल नहीं हुए थे अपितु समस्त अंग भी क्लान्त हो गये थे । थक कर सो जानेपर भी केवल भुजपाश ढीले नहीं पड़े थे । उचित ही है क्योंकि बहुत विशाल (–काय) मूर्ख ही होते हैं ॥ ७४ ॥

प्रेमासक्ति तथा लालिमा केवल नेत्रोंमें ही नहीं आयी थी अपितु अधरादि पानके कारण मानसे कुटिल स्त्रियोंके मुख तथा चित्तमें भी व्याप्त हो गयी थी। बार-बार पिये जाने पर भी केवल अधर ही के दो रूप (द्विविधा) हुए थे क्योंकि स्वरूपसे लाल होकर भी वह

---

१. उपजातिश्छन्दः । २. शालिनीवृत्तम् ।

कथम्भूतः सन् ? बद्धपानः अधरस्वरूपापेक्षया रक्तः पानवशात्पाण्डुश्चेति भावः ॥७५॥

देहेषु भोगाय विभक्तिमागतैः प्राणेषु चैक्यं निजमेव कामिभिः ।
न क्वापि दृष्टा इव मानवृत्तयस्तत्पूर्वदृष्टा इव वल्लभाः परम् ॥७६॥

देहेष्विति—न परं केवलमभूवन्, का ? मानवृत्तयः, का इव ? दृष्टा इव, कैः ? कामिभिः, क्व ? क्वापि कस्मिंश्चित् स्थानेऽपि, तथा अभूवन्, काः ? वल्लभाः कामिन्यः, कथम्भूता इव ? तत्पूर्वदृष्टा इव मानवृत्तिपूर्वदृष्टा इव, कैः ? कामिभिः, कथम्भूतैः ? आगतैः काम् ? विभक्ति भेदम्, केषु ? देहेषु शरीरेषु, कस्मै ? भोगाय स्रक्चन्दनानुशीलनाय, तथा आगतैः किम् ? ऐक्यमेकीभावं समरसीभावमित्यर्थः, कथम्भूतम् ? निजमात्माधीनम्, केष्वेव ? प्राणेष्वेव[1][2] ॥७६॥

असंमनन्ती व्यवधानमक्ष्णोरीचिक्षिषुः पक्ष्म कुचद्वयं च ।
चित्तव्यवायं परिरिप्सुरीशं प्राणत्प्रिया कान्तरिता प्रियेण ॥७७॥

असंमनन्तीति—का प्रिया प्राणत् जिजीव अपितु न कापि, कथम्भूता सती ? प्रियेण अन्तरिता व्यवहिता, किं कुर्वती सती ? असंमनन्ती अनिच्छन्ती असूयन्ती, किम् ? पक्ष्म नेत्रपत्ररोम, कथम्भूतम् ? व्यवधानम्, कयोः ? अक्ष्णो लोचनयोः, कथम्भूता सती ? ईचिक्षिषुः अवलोकितुमिच्छन्ती, तथा किं कुर्वती ? कुचद्वयं स्तनद्वयम् असंमनन्ती, कथम्भूतम् ? चित्तव्यवायं चित्तस्य व्यवायो यस्य तत् मनो व्यवधानमित्यर्थः, कथम्भूता सती ? परिरिप्सुरालिङ्गितुमिच्छन्ती, कम् ? ईशं स्वामिनमिति[3] ॥७७॥

तुल्यन्निवोभयरसं मदिरां दयितोष्ठमप्यभिपिबन्दयितः ।
अधरस्य नाल्पमपि सीधुनि तन्मधुनोऽधरेऽधिकमलब्धरसम् ॥७८॥

तुल्यन्निति—तत् तस्मात् कारणात् दयितो वल्लभः अधरेऽधिकं रसम् अलब्ध प्राप्तवान्, कस्मादधिकम् ? मधुनो मद्यात् सीधुनि मद्येऽधरस्य अल्पमपि रसं नालब्ध, किं कुर्वन् ? मदिरां तथा दयितोष्ठमपि अभि पिबन् सन्, किं कुर्वन्निव ? उभय रसं मदिराया दयितोष्ठस्यापि तुल्यन्निवेति[4] ॥७८॥

परस्परकी उष्ण श्वास लगनेके कारण सफेद भी हो गया था ॥ ७५ ॥

संभोगके लिए ही अलग-अलग शरीरोंका अनुभव करते हुए तथा प्रेमातिरेकके कारण स्वयमेव एक प्राण हुए कामियोंमें, रूठना ऐसा लगता था मानो पहले कभी उसे देखा-सुना ही नहीं है। और इसके बहुत पहलेसे ही उन्होंने केवल वल्लभाको ही देखा-सुना है ॥ ७६ ॥

सतत देखनेके लिए आतुर नायिका पलक मारनेके व्यवधानको भी नहीं सह सकती थी। गाढ़ आलिंगनके लिए उत्सुक नायिका कुच युगलको हृदय-मिलनमें बाधक मानती थी। अतएव प्रियसे दूर हुई कौन प्रिया वहाँ जीवित थी ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ ७७ ॥

तुलना करनेकी दृष्टिसे ही प्राणवल्लभ मदिरा और प्रेमिकाके अधरके रसका पान कर रहा था। किन्तु मदिरामें उसको अधर रसका जरा भी स्वाद नहीं आया था और अधरके पानमें मदिरासे बहुत अधिक स्वाद आया था ॥ ७८ ॥

---

१. प्राणेष्वप्राणेष्विति- प० । २. इन्द्रवंशावृत्तम् तल्लक्षणं तु 'स्यादिन्द्रवंशारसपुनैरिति (वृ० र० ३।४८) । ३. उपजातिश्छन्दः । ४. प्रमिताक्षरा वृत्तम् ।

घनयोः स्तनयोः स्मरेण तन्व्याः परिणाहं परिमातुमुन्नतिं च ।
रचितेव रसेन सूत्ररेखा नखलेखा विरराज कुङ्कुमस्य ॥७९॥

घनयोरिति—नखलेखा विरराज शुशुभे, केव ? सूत्ररेखेव, कथम्भूता ? स्मरेण मदनेन, रचिता विहिता, केन कृत्वा ? कुङ्कुमस्य रसेन, किं कर्त्तुम् ? तन्व्यास्तरुण्या घनयोर्निबिडयोः स्तनयोः परिणाहं वर्त्तुलत्वं तथा उन्नतिम् उत्सेधं परिमातुम्[1] ॥७९॥

इत्याशंसुर्नाभिगन्धं मृगाणामन्यद्रागं वीक्ष्य बालामुखस्य ।
नामोदो मे हा मृगस्यापि नाभेरित्यङ्कारमव्यङ्गमाधादिवेन्दुः ॥८०॥

इतीति—हा कष्टम् इन्दुः चन्द्रः अङ्कारमव्यङ्गं लाञ्छनस्वरूपं कलङ्कम् आधादिव धृतवानिवोत्प्रेक्षितः नाभिगन्धं कस्तूरीम् आशंसुरिव श्लाघमान इव, केषाम् ? मृगाणां हरिणानाम्, किं कृत्वा ? पूर्वं वीक्ष्यावलोक्य, कम् ? अन्यद्रागम् अन्यश्चासौ रागस्य अन्यद्रागस्तम् अपूर्वशोभाम्, कस्य ? बालामुखस्य नारीवदनस्य, कथमितिहेतोः कथमिति कृत्वा प्रदर्श्यते नास्ति कोऽसौ ? आमोदः, कस्याः ? नाभेः, कस्यापि ? मृगस्यापि, कस्य ? मे ममेति[2] ॥८०॥

ग्लानिं मुक्तामण्डपे तन्तुजालं व्यासीदन्तश्चन्द्रकान्ताः करेण ।
राज्ञां भोगे सुस्रुवन्तोऽपरोधं रोद्धुं चन्द्रेणाभिनुन्ना इवाभुः ॥८१॥

ग्लानिमिति—आभुः प्रद्योतन्ते स्म, के ? चन्द्रकान्ताः चन्द्रकान्तमणयः किं कुर्वन्तः ? व्यासीदन्तः गच्छन्तः, किम् ? तन्तुजालं तन्तुसमूहम्, केन ? करेण किरणेन अत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, एकैकेन करेण तन्तुजालं प्राप्य किरणसन्दोहं प्राप्नुवन्त इत्यर्थः, कस्मिन् ? मुक्तामण्डपे मौक्तिकजनाश्रये, कथम्भूताः सन्तः ? सुस्रुवन्तो बिन्दुशो जलं मुञ्चन्तः, कथं यथा भवति ? अपरोधं निरर्गलम्, कथम्भूता इवोत्प्रेक्षिताः ? अभिनुन्ना इव सामस्त्येन प्रेरिता इव, केन ? चन्द्रेण किं कर्त्तुम् ? ग्लानिं श्रमं भोगे सुरतव्यापारे रोद्धुम्, केषाम् ? राज्ञां नरेन्द्राणाम् ॥८१॥

अरण्यभूरोरुद्वासकर्मणः स पुष्पभाराहरणाच्च मारुतः ।
श्रमं विनिन्ये परिरभ्य कामिनीस्तयोऽन्तरेणासुलभा हि तादृशः ॥८२॥

स्तनोंके चारों ओर लगी नखक्षतकी रेखाएँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानो कामदेवने तन्वी नायिकाके कठोर और सघन स्तनोंकी गोलाई तथा ऊँचाई नापनेके लिए ही कुंकुमसे रंगे सूतके द्वारा रेखाएँ खींच दी हैं ॥ ७९ ॥

यौवनके मध्यमें स्थित इस नायिकाके मुखकी अभूतपूर्व कान्तिको देखे बिना ही चन्द्रमा पहिले कस्तूरी मृगोंकी नाभिकी सुगन्धिकी प्रशंसा करता था। किन्तु इसे देखनेके बाद वह बोल उठा, "मुझे कस्तूरीकी सुगन्धि अच्छी नहीं लगती" और इसी पश्चात्तापमें उसने कलंकको धारण कर लिया था ॥ ८० ॥

मुक्ता मालाओंसे सुसज्जित केलि-मण्डपमें अपनी किरणोंके जालको फैलाते हुए तथा बूँद-बूँद करके अनवरत पसीजते हुए चन्द्रकान्त मणि ऐसे लगते थे मानो राजाओंकी भोग क्रियामें थकावट अथवा उदासीनताको दूर करनेके लिए ही चन्द्रमाने इन्हें पूर्ण प्रेरणा करके भेजा है ॥ ८१ ॥

---

१. औपच्छन्दसिकं वृत्तम्। २. शालिनी वृत्तम्।

अरण्येति—मारुतो वायुः कामिनीः श्रमं खेदं विनिन्ये परित्याजितवान्, किं कृत्वा ? पूर्वं परिरभ्यालिङ्ग्य, कस्याः सकाशात् ? अरण्यवृत्तेर्वनवर्तनात्तथोदवासकर्मणो जलस्थितिविधानात् तथा पुष्पभाराहरणाच्च कुसुमनिकरानयनात् च एतेन मन्दत्वशीतलत्वसुरभित्वलक्षणैस्त्रिभिर्गुणैः श्रमं निराकृतवान् वातो नारीरालिङ्ग्येति भावो विभावितः युक्तमेतत्तयोऽन्तरेण तपश्चरणं विना तादृशः कामिन्योऽसुलभा-दुर्लभा भवन्ति, कथम् ? हि स्फुटमिति शेषः[1] ॥८२॥

इति विविधरतेन राजलोकैः क्षणमिव न क्षणदा गतापि जज्ञे ।
शशिनि शशकदर्शनस्य शङ्कां स्वमनसि मानयितुं कृतत्वरेव ॥८३॥[2]

इतीति—राजलोकैः नरेन्द्रजनैः, क्षणदा रात्रिः, विविधरतेन नानाप्रकारसम्भोगक्रीडया इति व्यावर्णनप्रकारेण क्षणमिव मुहूर्त्तमिव गतापि न जज्ञे न ज्ञाता, कथम्भूता ? कृतत्वरा विहितवेगा, किं कर्तुमिव ? मानयितुमिव संभावयितुमिव, काम् ? शङ्कां वितर्कम्, क्व ? स्वमनसि स्वकीयचित्ते, कस्य ? शशकदर्शनस्य क्व ? शशिनि चन्द्रे अत्र कलङ्किनः संसर्गात् सकलङ्को जनो भण्यते इत्यास्ताम्, "कलङ्किनः कलङ्कदर्शनादेव सकलङ्को जनो जायते" इति श्रुतेः, अयं शशो तावत् कलङ्को अस्य शशकस्तावत् कलङ्क एव तस्यावलोकनात् यावत्सकलङ्को न भविष्यामि तावद्गमिष्यामीति स्वचेतसि कृत्वा गन्तुमुत्सुकेव कृतत्वरेति भावोऽप्युपन्यस्तः[1] ॥ ८३ ॥

लघु मोद्गमद्द्युमणिरभ्युदियादिति कान्तयोर्विरहकातरयोः ।
पततोश्च दोहदमिदं समभूद्विविधाथवा विषयिणां हि रुचिः ॥ ८४ ॥

लघ्विति—समभूत् सञ्जातम्, किम् ? इदं दोहदम्, कथमिति कृत्वा प्रकाश्यते, मोद्गमत् मोद्गच्छतु, कोऽसौ ? द्युमणिः सूर्यः, कथम् ? लघु शीघ्रम् कयोः ? कान्तः स्त्रीपुंसयोः, कथम्भूतयोः ? विरहकातरयोः वियोगभीतयोः, तथा च समभूत् किम् ? इदं दोहदम्, कथमिति कृत्वा प्रकाश्यते । उदियादाक्रमतात् उद्गच्छतात्, कोऽसौ ? द्युमणिः रविः, कथम् ? लघु इति कयोः ? पततोः चक्रवाकयोः कथम्भूतयोः ? विरहकातरयोः, युक्तमेतदथवा हि स्फुटं विविधा रुचिः स्यात्, केषाम् ? विषयिणामिति[3] ॥ ८४ ॥

वनवासी होकर (मन्द) पानीमें रहनेकी विधिको करके (शीतल) तथा पूजाके लिए फूलोंका चयन करके (सुगन्धि) आये हवाके झोकोंने कामिनियोंको चारों ओरसे घेर कर (आलिंगन) उनकी थकान (पसीना) दूर कर दी थी । उचित ही है क्योंकि वैसा तप (वनवास, जलसमाधि और बलिदान) किये बिना ऐसी कामिनियाँ कहाँ मिलती हैं ॥ ८२ ॥

उक्त प्रकारसे भाँति-भाँतिके भोगोंमें लीन राजाओंने कामोल्लासकी जननी पूरी रातको क्षण भरके समान जाते न जाना था । चन्द्रमामें कलंक (शशक) देखनेसे हम भी कलंकी हो जायेंगे, मनमें ऐसा भाव आनेके कारण उन्होंने जल्दी की थी अर्थात् पूरी रातको क्षण मान लिया था ॥ ८३ ॥

अनागत विरहसे डरे प्रेमी-प्रेमिकाका आनन्द थोड़ा हो गया था तथा भोगाभिलाषा समाप्त हो गयी थी क्योंकि सूर्य निकल रहा था । किन्तु रात भरके विरहसे दुःखी चकवा-चकवीको शीघ्र ही सूर्योदय होनेसे आनन्द हो गया था तथा मिलनकी कामना पूरी होनेकी आशा हो गयी थी । ठीक है विषयी लोगोंकी रुचियाँ अलग-अलग होती हैं ॥ ८४ ॥

---

१. वंशस्थ वृत्तम् ।

२. पुष्पिताग्रावृत्तम् । ३. प्रमिताक्षरा वृत्तम् ।

आश्लेषमन्तः क्वथनं प्रणामं कामोपदेशानि च चुम्बनानि ।
दृष्ट्वाङ्गनानामसहा निसोढुं हासादिवासौ स्फुटिता प्रभासीत् ॥ ८५ ॥

आश्लेषमिति—आसीत् सञ्जाता, का ? असौ प्रभा प्रभातम्, कथम्भूता ? हासादिव स्फुटिता, किं कुर्वाणा ? असहा असहमाना संवरितुमसमर्था, किं कर्त्तुम् ? निसोढुम्, किं कृत्वा ? पूर्वं दृष्ट्वा कम् ? आश्लेषमालिङ्गनं तथा प्रणामं प्रणतिम्, कथं यथाभवति ? अन्तःक्वथनम् अन्तःकरणपाकं तथा च चुम्बनानि, कथम्भूतानि ? कामोपदेशानि कन्दर्पव्यञ्जकानि, कासाम् ? अङ्गनानां कामिनीनामिति[1] ॥ ८५ ॥

अन्योन्यनिद्रावसरं प्रतीच्छद्द्वन्द्वं न सुष्वाप कृतावधानम् ।
अध्यात्मतत्त्वानि कषायिताक्षं जागर्यया ध्यायदिव स्मरस्य ॥८६॥

अन्योन्येति—न सुष्वाप न शेते स्म, किं कर्त्तृ ? द्वन्द्वं मिथुनम्, कथं यथा भवति ? कृतावधानं विहिततत्परत्वं यथा, किं कुर्वत् ? प्रतीच्छत् परस्परमभिलषदित्यर्थः कम् ? अन्योन्यनिद्रावसरं परस्परशयन-प्रस्तावम्, कथम्भूतं ? कषायिताक्षं सरागलोचनम्, कया ? जागर्यया उन्निद्रतया, किं कुर्वदिव ? ध्यायदिव स्मरदिव, कानि ? अध्यात्मतत्त्वानि परमार्थरहस्यानि, कस्य ? स्मरस्य मदनस्य ॥ ८६ ॥

निधुवनमधुनिद्रामोदशेषैकभारं
पुनरुषसि स कामी योषितोऽङ्गं ललङ्घे ।
रुचिमपि विदधेऽस्याः क्षामभावं विनीय
प्रशमयति न कं वा लङ्घना शेषदोषम् ॥ ८७ ॥

निधुवनेति—ललङ्घे लङ्घितवान्, कोऽसौ ? स कामी किम् ? अङ्गम्, कस्याः ? योषितः कामिन्याः, कस्याम् ? उषसि प्रभाते, कथम्भूतमङ्गम् ? निधुवनमधुनिद्रामोदशेषैकभारं निधुवनं च मधु च निद्रा च निधुवन-मधुनिद्राः सुरतमदिरास्वापास्तासां य आमोदो गन्धस्तस्य यः शेषः लेशः स एव एको भारो यस्मिंस्तत् अपि शब्दः समुच्चयार्थः, विदधे चकार, ?कः ? स कामी, काम् ? रुचिमभिप्रीतिम्, कस्याः ? अस्या योषितः, किं कृत्वा, ? पूर्वं विनीय अपाकृत्य, कम् ? क्षामभावं रतिश्रमम्, युक्तमेतत्, पुनः कं वातादिदोषं लङ्घनाकर्त्री न प्रशमयति अपितु सर्वमपि[2] ॥ ८७ ॥

प्रेमिकाओंके विदाईके आलिंगन, मन ही मनकी उदासी, अभिवादन, रतिके समयके उपदेश तथा चुम्बन आदिको बहुत समय तक देखकर और चुप रहनेमें असमर्थके समान सूर्य या प्रभात खिलखिलाता-सा निकल आया था ॥ ८५ ॥

रतजग्गा करके कामदेवके गूढ़ रहस्योंका पूरी तत्परताके साथ ध्यान करनेके लिए ही कामी मिथुन सोया नहीं था । एक दूसरेको सुलानेका प्रयत्न करते-करते इसकी आँखें लाल और किरकिरी हो गयी थीं [ध्यानी भी द्विविधाको सुलाकर, सर्वथा सावधान होकर और आँखोंमें तीक्ष्ण (कपूर आदि) लगाकर रात भर जागता है । तथा आत्माके रहस्यकी चिन्ता करता है] ॥८६ ॥

कामलीला, कादम्बरी और जागरणके आनन्दके एक मात्र भारसे भारिल कामिनी की कायलताको भी उषा कालमें कामी लाँघ (जीत) गया था । अतएव कोमलांगीकी थकानको दूर करके उसको प्रसन्न करनेका भी प्रयत्न कर रहा था । ठीक ही है लंघन

---

१. इन्द्रवज्रा वृत्तम् । २. मालिनी वृत्तम् ।

रात्रिवृत्तमलमेवमनूद्य त्वं वधूः खलु विलज्जय खलेति ।
हुंकृतैः प्रविहितोऽपि सखीभिः स्त्रीरतान्यधिजगौ शुकशावः ॥८८॥

रात्रीति—अधिजगौ अन्वादीत्, कोऽसौ ? शुकशावः कीरपिल्लः, कानि ? स्त्रीरतानि, कथम्भूतोऽपि प्रतिहृतोऽपि प्रतिषिद्धोऽपि, काभिः ? सखीभिः वयस्याभिः, कैः कृत्वा ? हुंकृतैः, कथमिति कृत्वा प्रकाश्यते, एवं च सति हे शुकशाव ! अलमनूद्य त्वं मा अनुवादीर्मा अनुवदः, कोऽसौ ? त्वं भवान्, किम् ? रात्रिवृत्तं [1]रजनीवृत्तान्तम्, हे खल ! तथा खलु विलज्ज्य मा विलज्जय मा लज्जयेरित्यर्थः, कोऽसौ ? त्वम्, का ? वधूः कामिनीरिति[2] ॥ ८८ ॥

सूर्योऽभ्युदेष्यति कदाजिभरोऽथवेति
ध्यायन्निवाश्वनिवहः स्तिमितान्तरात्मा ।
पश्यन्निवाक्षिभिरसूचयदूर्ध्वसुप्तो
घोणापुटस्फुरणसूत्करणैर्विबोधम् ॥ ८९ ॥

सूर्य इति—असूचयत् निवेदितवान्, कोऽसौ अश्वनिवहः तुरङ्गसमूहः, कम् ? विबोधं प्रभातम्, कैः कृत्वा ? घोणा पुटस्फुरणसूत्करणैः नासापुटसञ्चरणसूत्करणैः, कथम्भूतः ? ऊर्ध्वसुप्तः[3] ऊर्ध्वनिद्राणः, कैः कृत्वा ? अक्षिभिर्लोचनैः, किं कुर्वन्निव ? पश्यन्निव कम् ? विबोधम्, पुनः कथम्भूतः ? स्तिमितान्तरात्मा निश्चलान्तरात्मा, किं कुर्वन्निव ? ध्यायन्निव, कथमिति कृत्वा प्रकाश्यते, कदा कस्मिन् काले अभ्युदेष्यति उद्गमिष्यति, कोऽसौ ? सूर्यः, अथवा कदा भविष्यति कोऽसौ ? आजिभरः सङ्ग्राम इति[4] ॥ ८९ ॥

नीत्वा पार्श्वेनोभयेनापि निद्रां युद्धोत्स्वप्नेनेव नागा विबुद्धाः ।
शत्रोश्छत्रं हैममाशङ्क्य बालं हस्तावृत्त्याक्रष्टुमैच्छन्निवार्कम् ॥९०॥

नीत्वेति—नागा हस्तिनः, ऐच्छन् वाञ्छन्तिस्म, किं कर्तुमिव ? बालमर्कं सूर्यं हस्तावृत्या शुण्डादण्डपरावर्त्तनेन आक्रष्टुमिव, किं कृत्वा ? पूर्वमाशङ्क्य, किम् ? छत्रम्, कथम्भूतम् ? हैमं हिरण्मयम्, कस्य ? शत्रोर्विपक्षस्य, किं विशिष्टा ? विबुद्धाः, केनेव ? युद्धोत्स्वप्नेनेव रणोद्गतस्वप्नेनेव, किं कृत्वा ? पूर्वं नीत्वा समाप्य, कम् ? निद्रां स्वापम्, केन ? पार्श्वेन, कथम्भूतेन ? उभयेनापि द्वयेनापीति शेषः[5] ॥ ९० ॥

(अवमर्दन) करनेवाला कौन-सा ऐसा दोष है जिसे शान्त नहीं करता है ? अर्थात् सर्व दोषी होनेके कारण मालिश करके प्रायश्चित करता है ॥ ८७ ॥

'रातको जो हुआ उसकी पुनरावृत्ति रहने दो । हे खल ? तुम क्यों बहुओंको लज्जित कर रहे हो कह कर' सखियोंके द्वारा 'हूँ-हूँ' करके रोके जाने पर भी तोतेके बच्चेने स्त्रियोंकी रतिकेलिको कह डाला था ॥ ८८ ॥

'सूर्य कब उगेगा अथवा घमासान युद्ध कब होगा' स्थिर चित्तसे यही सोचते हुए के समान खड़े-खड़े सोये घोड़ोंके समूहने आँखोंसे देखे गयेके समान नथुनोंकी फुंकारसे प्रातःकालकी सूचना दी थी [ध्यानलीन, अन्तरात्मामें मग्न योगी भी कर्म संग्रामके अन्तमें शुद्ध आत्मा रूपी सूर्यके उदयकी प्रतिभा करते हैं और मुक्त आत्मस्वरूपको साक्षात् आँखोंसे देखे गये समान करके कैवल्य प्राप्तिकी सूचना श्वासोच्छ्वास मात्रसे देते हैं] ॥ ८९ ॥

दोनों करवट सो लेनेके बाद हाथियोंने स्वप्नमें युद्धको ही देखा था और चौंककर

---

1. रजनी चेष्टितं प० द० । २. स्वागता वृत्तम् । ३. उद्धनिद्राणः–प; उन्निद्र नि–द० । ४. वसन्त-तिलका वृत्तम् । ५. शालिनी वृत्तम् ।

लक्ष्मीं खलामुभयभागितया विलोलां
स्वीकर्तुमेष गणिकामिव जागरूकः ।
संनह्य मुञ्च शयनं प्रधनं जयेति
स्तुत्यै परं हरिरबोध्यत सूतपुत्रैः ॥ ९१ ॥

इति श्री द्विसन्धानकवेर्धनञ्जयस्य कृतौ राघव-पाण्डवीये महाकाव्ये
रात्रिसम्भोगवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥

लक्ष्मीमिति—अबोध्यत प्रबोधितः, कोऽसौ ? कर्मतापन्नः ? एष हरिर्विष्णुः, कैः कर्तृभिः ? सूतपुत्रैः प्राभातिकमङ्गलपाठकपुत्रैः, कस्यै ? स्तुत्यै स्तवनाय, कथमिति कृत्वा प्रकाश्यते, हे देव ! मुञ्च अपाकुरु त्यजेत्यर्थः, किम् ? शयनं शय्यां तथा जय, किम् ? प्रधनं सङ्ग्रामम्, किं कृत्वा ? पूर्वं संनह्य सन्नहनं कृत्वा, कथम्भूतं प्रधनम् ? परं श्रेष्ठम्, अथवा परशब्देन केवलार्थो गम्यते, तेनायमर्थः परं केवलं स्तुत्यै सूतपुत्रैः हरिरबोध्यत इति लब्धम्, कथम्भूतो हरिः ? जागरूकः जागरणशीलः, किं कर्तुम् ? खलां प्रतारणपरां लक्ष्मीं स्वीकर्तुम्, कया ? उभयभागितया जिगीषुप्रतिजिगीषुद्वयजनितया, पुनः विलोलां चपलाम्, कामिव ? गणिकामिव वेश्याङ्गनामिव[1] ॥ ९१ ॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीण्डितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनय-
चन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भव-
चारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां द्विसन्धान-
कवेर्धनञ्जयस्य राघवपाण्डवीयापरनाम्नः काव्यस्य
पदकौमुदीनाम दधानायां टीकायां
रात्रिसम्भोगव्यावर्णनं नाम
सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

जाग गये थे । तथा बाल (उदीयमान) सूर्यको शत्रुओंका सोनेका छत्र समझकर सूँड़ बढ़ा दी थी तथा इसे झटककर खींचनेका प्रयास कर रहे थे ॥ ९० ॥

उभय पक्षों (राम-रावण तथा पाण्डव-कौरवों) की ओर झुकती और पलटती फलतः विलोल तथा गणिकाके समान खल (गुण-दोषके विवेकहीन) लक्ष्मीको अपनी बनानेके लिए सदैव जागरूक हरि (राम-कृष्ण) भी बन्दियोंके द्वारा जगाये गये थे । वे कह रहे थे हे विष्णो ! शय्याको छोड़िए, युद्धवेषको धारण करिए और विनाशक तथा परम भूतिके साधक संग्रामको जीतिए ॥ ९१ ॥

इति निर्दोष विद्याभूषणभूषित पण्डितमण्डलीके पूज्य, षट्तर्क चक्रवर्ती श्रीमान्
पण्डित विनयचन्द्र गुरुके शिष्य—देवनन्दिके शिष्य, सकलकलाचातुर्य-
चन्द्रिका-चकोर नेमिचन्द्र द्वारा विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्ड-
वीय नामसे ख्यात, द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी नामक
टीकामें रात्रिसम्भोग वर्णन नामक सप्तदश सर्ग समाप्त ।

---

१. वसन्ततिलका वृत्तम् ।

अष्टादशः सर्गः

प्रभावै रोचनीयस्य भीतेवोदेतुमोजसः ।
प्रभा वैरोचनी यस्य वीतोच्छ्वासेव चावनिः[1] ॥१॥

प्रभेति—इदानीं कुलकेन व्याक्रियते, बभूवेति क्रियाध्याहार्या, बभूव सञ्जाता, का ? वैरोचनी प्रभा भास्करीदीप्तिः, केव ? भीतेव, किं कर्त्तुम् ? उदेतुम्, कस्मात् ? ओजसः प्रतापात्, कस्य ? यस्य पुंसः, कथम्भूतस्य ? रोचनीयस्य भासनीयस्य दीप्तस्येत्यर्थः, कैः ? प्रभावैः माहात्म्यैः, तथा च बभूव का ? अवनिर्मेदिनी, केव ? वीतोच्छ्वासेव[2] गतोर्ध्वश्वासेवेत्यर्थः विषमपादाभ्यासो यमकः ॥१॥

तथापि स पुमानन्ते यद्व्यवस्थितमाकुलम् ।
सहास्य यशसा शुभ्रं यद्व्यवस्थित मा कुलम् ॥२॥

तथापीति—यद्यप्येवं यस्य प्रतापो विजृम्भते तथापि स पुमान् पुरुषो यत् यस्मात् कारणात् यद्यस्मात् पुरुषात्मा व्यवस्थित मातिष्ठद किम् ? कुलम्, कथम्भूतम् ? आकुलम्, कथम् ? सह सार्द्धम्, केन ? यशसा, क्व ? अन्ते अवसाने, कस्य ? अस्य पुंसः कथम्भूतं सत्कुलम् ? व्यवस्थितं विगतावस्था संजाता अस्य व्यवस्थितं तारकादित्वादितच् स्थिरास्थमित्यर्थः, पुनः शुभ्रम् । पादाभ्यासो यमकः ॥२॥

भवेयुरन्ते विरसाः समं देहा विभूतयः ।
राज्ञां माहंक्रिया भूवन्समन्देहाविभूतयः ॥३॥

भवेयुरिति—भवेयुः स्युः, के ? देहाः कायाः विरसाः, क्व ? अन्ते अवसाने, कथम् ? समं युगपत्, यतः यस्मात् तस्मात् मा भवन्तु, काः ? अहंक्रियाः अहङ्काराः, कथम्भूताः ? विभूतयो विनष्टा भुवः पृथिव्या ऊतिः प्रतिपालनं याभ्यस्ता विभूतयः, तथा मा भूवन् का ? विभूतयः संपदः, कथम्भूताः ? समन्देहाः मन्दा आसा बोहा च मन्देहा तया सह वर्तते इति समन्देहाः कार्पण्यवृत्तयः[3], केषाम् ? राज्ञां नरेन्द्राणामिति । पादाभ्यासो यमकः ॥३॥

प्रखर प्रतापी विष्णु (राम-कृष्ण) के माहात्म्यके कारण तथा उसके प्रज्वलित तेजके सामने सूर्यका प्रकाश उदयके समय ही डर गया था । तथा भयके कारण पूरी पृथ्वी की साँस ही रुक गयी थी (क्योंकि सन्ध्या समयमें वायुका वेग रुक जाता है) ॥१॥

तो भी यह पुरुषोत्तम चिन्ताकुल हो उठा था । क्योंकि [महासमरके] अन्तमें उसे व्यवस्थित, परम शुद्ध और अपने यशके आधार कुल धर्मकी अव्यवस्था (संकर) की आशंका हो उठी थी [महायुद्धके बाद ऐसा होता है इसीलिए गीतामें अर्जुन भी महाभारत से काँप उठा था] ॥२॥

अन्तमें पृथ्वीके पालनमें असमर्थ (भू-उति-वि) होकर शरीर भी नीरस हो जाता है इसलिए राजाओंको राज्यलक्ष्मीका अहंकार नहीं करना चाहिए तथा इसकी प्राप्ति की अभिलाषाको भी मन्द ही रखना चाहिये ॥३॥

---

१. सर्गेऽस्मिन्ननुष्टुप् वृत्तम् । २. वस्तस्थेवेत्यर्थः—द० ज० । ३. यः परोपकाराग्रवृत्तयः प० । परोपकारानिष्टा इत्यर्थः द० । परोपकारनिष्टा इत्यर्थः ज० ।

उत्तरेऽर्थे कृतार्थत्वं नान्तराले कृते परम् ।
लज्जालुत्वोत्तरीयेण नान्तरीयेण केवलम् ॥४॥

उत्तर इति—न परं केवलमुत्तरेऽर्थे प्रयोजने कृते सति कृतार्थत्वं स्यात् अन्तराले मध्येऽर्थे कृते सति कृतार्थत्वं स्यात् युक्तमेतत् न केवलम् उत्तरीयेण वस्त्रेण लज्जालुता स्यात् अन्तरीयेण अधोवस्त्रेणैव स्यादिति । समपादादियमकः ॥४॥

स्थेयान्माहाकुलः स्वान्ते निजमालम्ब्य पौरुषम्
स्थेयान्माहा कुलः स्वान्ते भीतं मुञ्चति नान्तकः ॥५॥

स्थेयानिति—हा कष्टं मा स्थेयात् मा तिष्ठतु अपितु तिष्ठत्वेव, कोऽसौ ? माहाकुलः महच्च तत् कुलं च महाकुलं तत्र जातो माहाकुलः कुलीनः, कथम्भूतः सन् ? आकुलो व्यग्रः, क्व सति ? स्वान्ते आत्मावसाने, किं कृत्वा ? निजं स्वकीयं पौरुषम् आलम्ब्य धृत्वा, स्थेयान् स्थिरतरः, क्व ? स्वान्ते चेतसि, युक्तमेतत्, अन्तको यमः भीतं पुरुषं न मुञ्चति न त्यजति । विषमपादयमकः ॥५॥

स्थिरप्रकृतिरादेयः केषांचन न चञ्चलः ।
पिङ्गलोऽप्यर्च्यते काको मङ्गलार्थं न केनचित् ॥६॥

स्थिरेति—स्थिरप्रकृतिः निश्चलस्वभावः केषांचन केषांचिन्न आदेयः आप्यायनीयो न भवति, अपितु सर्वेषामेव भवति, न चादेयश्चञ्चलश्चपलः, युक्तमेतत्, मङ्गलार्थं पिङ्गलोऽप्युलूकोऽपि अर्च्यते पूज्यते न काको वायसः केनचित् ॥६॥

असिं भुजमहं धैर्यं स मन्त्रिभ्योऽधिकोचितम् ।
गणयन्करवै शत्रुं समं त्रिभ्योऽधिकोचितम् ॥७॥

असिमिति—करवै करोमि, कोऽसौ ? सोऽहं कम् ? शत्रुम्, कथम्भूतम् ? अधिकोचितं सङ्कोचितम्, केभ्यः ? त्रिभ्यः असिभुजधैर्येभ्यः, किं कुर्वन् ? गणयन् मन्यमानः कम् ? असिं खड्गं तथा भुजं बाहुं तथा धैर्यम्, कथम्भूतं त्रितयम् ? अधिकोचितं योग्यम्, केभ्यः ? मन्त्रिभ्यः सचिवेभ्यः इति । समपादाभ्यासो यमकः ॥७॥

जिस प्रकार केवल दुपट्टे (उत्तरीय) से ही शरीरकी लज्जा नहीं ढंकती है अपितु परिधान (अधरीय) भी आवश्यक होता है उसी प्रकार लौकिक कार्योंमें कृतकृत्य होनेसे ही जीवन चरितार्थ नहीं होता, जन्मान्तरकी भी साधना आवश्यक है ॥४॥

महाकुलोंमें उत्पन्न लोगोंको भी अपने पुरुषार्थका सहारा लेकर अन्तरंगसे सुदृढ़ रहना चाहिए । और मनसे व्याकुल होकर कदापि नहीं रहना चाहिए क्योंकि अन्त समय आने पर अन्तक (मृत्यु) भीत पुरुषको भी नहीं छोड़ता है ॥५॥

सुदृढ़ स्वभावको धारण करना चाहिए और कभी भी किसीकी चंचल प्रकृतिका अनुकरण नहीं करना चाहिए । लक्ष्मीके लिए उल्लूकी भी पूजा की जाती है, पर कौएको कोई नहीं पूछता ॥६॥

सुयोग्य मन्त्रियोंकी अपेक्षा तलवार, भुजा और धैर्यको अधिक कार्यकरी मानकर इस त्रिगुटी (असि, भुजा और धैर्य) के द्वारा मैं शत्रुओंको सब तरफ (समधिक) से चाप (कोचितम्) दूंगा ॥७॥

नरघूर्णाविदाहेन न वाहानुमताद्रणात्
नाप्यद्य केशवक्लेशान्मत्कोपाग्निः प्रशाम्यति ॥८॥

नरघूर्णेति—(द्वि:) अद्यापि साम्प्रतमपि न प्रशाम्यति न विध्यायति, कोऽसौ ? मत्कोपाग्निः मम क्रोधवह्निः, केन ? रघूर्णाविदाहेन रघव एव ऊर्णा तस्याविदाहेन, तथा न प्रशाम्यति मत्कोपाग्निः, कस्मात् ? रणात्, कथम्भूतात् ? हानुमतात् हनुमतोऽयं हानुमतः तस्मात् वा तथा न प्रशाम्यति मत्कोपाग्निः, कस्मात् ? केशवक्लेशात् लक्ष्मणखेदात् ।

अथ भारतीय:—नरघूर्णाविदाहेन नरस्य अर्जुनस्य घूर्णाभ्रमणं विदाहः संक्लेशस्तेन, कथम्भूतात् रणात् ? वाहानुमतात् अश्वानामिष्टात्, केशवो नारायणः । अन्यत्सुगमम् ॥८॥

इत्यतो रावणो रोषसिद्धेस्ताम्यन्निवात्मनि ।
बहुधामागधैर्योऽसौ वीरैश्चक्री रणं ययौ ॥९॥

इत्यत इति—(द्वि:) ययौ गतवान्, कः ? असौ चक्री रावणः, किम् ? रणम्, कैः सह ? वीरैः, कथम्भूतः ? बहुधामा प्रचुरप्रतापः, पुनः अगधैर्यः न गच्छतीत्यगं स्थिरं धैर्यं यस्य सः, अथवा बहुधामागधैः बहुविधैर्वन्दिभिः, कस्याः सकाशात् ? अतोऽस्या रोषसिद्धेः कोपसंप्राप्तेः कथम् इत्युक्तप्रकारेण, किं कुर्वन्निव ? आत्मनि ताम्यन्निव तप्यमान इव ।

अथ भारतीय:—यः जरासन्धनाम्ना प्रसिद्धः सः चक्री रणं ययौ, कैः सह ? मागधैर्मगधदेशोद्भवैः क्षत्रियैः, किं कुर्वन्निव ? बहुधा बहुप्रकारेण आत्मनि निजे असौ खड्गे ताम्यन्निव आकाङ्क्षां कुर्वन्निवेत्यर्थः कस्याः सकाशात् ? अतोऽस्या रोषसिद्धेः क्व ? अरौ शत्रौ कथम्भूताया रोषसिद्धेः ? अणोः लघोः ॥ ९ ॥

जित्वारयः सुखं बन्धून्प्राध्वं कृत्यविचक्षणे ।
इति चित्तेऽमुना वैरं प्राध्वंकृत्य विचक्षणे ॥१०॥

जित्वेति—विचक्षणे हसितं विपूर्वकत्वात् क्षणु हिंसायामित्यस्य धातोः प्रयोगः उक्तं च—उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते । विहाराहारसंहारप्रतिहारोपहारवत् ॥ इति वचनात् । केन ? अमुना रावणेन, भारतपक्षे-जरासन्धेन, किं कृत्वा ? पूर्वं प्राध्वंकृत्य बध्वा, किम् ? वैरम्, क्व ? कृत्यविचक्षणे कार्यकुशले, चित्ते, कथम् ?

रघुवंशियोंकी ऊर्णा (भृकुटियोंके बीच नाकके ऊपरके रोम) में आग लगनेसे, अथवा हनुमान्‌के साथ हुए घोर युद्धसे अथवा लक्ष्मणजीको हुए अपार कष्टसे भी आज मेरी कोपाग्नि शान्त नहीं होती है [अर्जुन (नर) के भ्रमण (घूर्णा) तथा प्रतिशोधमें तपनेसे अथवा अश्व (वाह) सेनाको इष्ट घोर युद्धसे अथवा कृष्णजीको हुए परिश्रमसे भी आज मेरा क्रोध रञ्चमात्र कम नहीं हो रहा है] ॥८॥

इस प्रकारसे रोषकी पूर्णताके कारण मन-ही-मन जलतेके समान प्रचुर प्रतापी (बहुधामा), अचल धैर्यधारी (अग धैर्यः) और चक्रसे सज्जित रावण वीरोंको साथ लिये चल दिया था [अपनी तलवार पर (असौ) सब प्रकारसे (बहुधा) विश्वास करते हुए (ताम्यन्निव) के समान, मगध देशके प्रमुख वीरोंसे घिरा और शत्रु पर (अरौ) थोड़े प्रयत्न द्वारा (अणु) ही अपने क्रोधको उतारनेके लिए रथपर सवार होकर जरासन्ध युद्धभूमिमें आ गया था] ॥९॥

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके निर्णयमें कुशल रावण मन ही मन (कृत्यविचक्षणे-चित्ते) वैर बाँधकर यह सोचकर हँस दिया था (विचक्षणे) कि हे शत्रुओ, तुम मेरे भाइयोंको जीतकर सुखसे बैठनेकी सोचते हो ? [कार्यकुशल जरासन्धके चित्तमें भी वैरका

शत्रवः यूयं सुखं यथा भवति तथा प्राध्वं तिष्ठत्, किं कृत्वा ? पूर्वं बन्धून् बान्धवान् जित्वा । समपादाभासो यमकः ॥१०॥

पशुवच्छादयन्भीरूञ्शूरानच्छादयं समम् ।
हृद्यस्वच्छादयन्धातोरस्त्रैः स्वच्छादयन्नभः ॥११॥

पशुवदिति—पशुवत् भीरून् शादयन् अपवाजयन् शूरान् अय रावणः जरासन्धश्च समं युगपत् अच्छात् चिच्छेद, छो छेदने इति धातुः, तथा सः रावणः नभः गगनम् अस्त्रैः बाणैः स्वच्छादयत् अतिशयेन छादयति स्म, किं कुर्वन् ? अयन् गच्छन्, कस्मात् ? धातोरभिप्रायात्, कथम्भूतात् ? अस्वच्छात् कुटिलात्, क्व ? हृदि चेतसीति । चतुष्पादशब्दयमकः ॥११॥

वक्षसासौ पुरोभागं तेजसादित्यमुर्वराम् ।
शस्त्रैरघुक्षतोद्युक्तः कीर्त्या तस्तार दिङ्मुखम् ॥१२॥

वक्षसेति—रघुक्षतोद्युक्तः रघुवधोद्यतः असौ रावणः वक्षसा उरसा पुरोभागं भटानामुपसरणं तस्तार, आदित्यं तेजसा प्रतापेन तस्तार, उर्वरां भुवं शस्त्रैः तस्तार, कीर्त्या दिङ्मुखं तस्ताराच्छादितवान् ।

भारतीयः—अघुक्षत "गुह संवरणे" धातोः रूपम्, संवृतवान् स जरासन्धः, कम् ? पुरोभागं पर पणम् क्व ? असौ खड्गे, केन कृत्वा ? वक्षसा अत्र कोपाधिक्यं व्यज्यम्, 'कोपवशो हि प्राणी अन्यदपि विस्मृत्यान्यदपि गृह्णातीति' श्रुतेः । तथा तेजसा आदित्यं शस्त्रैरुर्वरामतः कारणात् अघुक्षत, किम् ? तारदिङ्मुखं विशददिग्वदनम्, कया ? कीर्त्या, कथम्भूतः ? उद्युक्तः ॥१२॥

स हस्ताभ्यां चमूहस्तौ सहस्ताभ्यामपीडयत् ।
बिभ्रजिभ्रपुः प्रतापाग्नौ बिभ्रत्संधित्सुतामिव ॥१३॥

स इति—अपीडयत् पीडितवान्, कोऽसौ ? स प्रतिविष्णुः कोशावयं रावणो जरासन्धश्च, कौ ? चमूहस्तौ सेनापार्श्वौ, काभ्याम् ? ताभ्यां लोकोत्तराभ्यां हस्ताभ्याम् कथम्भूतः ? सहक्षमः, पुनः बिभ्रजिभ्रपुः

प्रतिशोध दृढ़तर हो गया था । और वह सोचता था कि सम्बन्धी (बन्धून्) शत्रुओंको जीतकर मौजसे रहूँगा] ॥१०॥

रावण तथा जरासन्धने भीरु योद्धाओंको पशुओंके समान अनायास ही संत्रस्त कर दिया था (शादयन्) और इसके साथ ही साथ वीरोंको इसने काटकर फेंक दिया था (अच्छात्) तथा आकाशको बाणोंकी बौछारसे वैसा ही सब तरफसे ढँक दिया था (स्वच्छादयत्) जैसे मलिन (अस्वच्छ) विचारों (धातोः) के द्वारा हृदयको व्याप्त किया जाता है ॥११॥

रघुवंशियोंके बध (क्षत) के लिए तत्पर (उद्युक्त) रावणके वक्षस्थलको देखते ही शत्रुओंका पलायन प्रारम्भ हो गया था, प्रतापके कारण सूर्य छिप गया था, शस्त्रोंके प्रहारसे पृथ्वी व्याप्त हो गयी थी [उद्यत जरासन्ध ने कोपोन्मत्त चित्तसे सैन्यके अग्रभागको तलवारमें छिपा दिया था, तेजसे सूर्यको पछाड़ दिया था और हथियारोंसे पृथ्वीको पाट दिया था अतएव सर्वव्याप्त (तार) दिशाओंके अन्तको भी कीर्तिसे ढँक दिया था] ॥१२॥

समर्थ (सहः) रावणने अपनी लोकप्रसिद्ध भुजाओंके द्वारा शत्रुसैन्यके दोनों पार्श्वों (चमूहस्तौ) को चाप दिया था । मानो सन्धि करनेकी भावनाको वह प्रतापकी ज्वालामें

पक्तुमिच्छुः, क्व ? प्रतापाग्नौ, किं कुर्वाणमिव ? संधित्सुतां संधातुमिच्छुतां बिभ्रदिव बिभ्राण इव । पादादि यमकः ॥१३॥

प्रापूरयन्नभस्त्रातः शिक्षामार्गेण मार्गणैः ।
प्रापूरयं न भस्त्रातस्ते निपीताः पुरोगतैः ॥१४॥

प्रापूरयदिति—प्रापूरयत् अपूरितवान्, कोऽसौ ? प्रतिविष्णुः, किम् ? नभो गगनम्, कैः कृत्वा ? मार्गणैः, कथम्भूतः सन् ? त्रातः पालितः, केन ? शिक्षामार्गेण, ते मार्गणाः न प्रापुः न प्राप्तवन्तः अपि तु प्रापुरेव, कम् ? रयं वेगम्, कैः ? सह पुरोगतैरग्रगतैर्बाणैः सह, कथम्भूताः सन्तः ? निपीताः, कस्याः सकाशात् ? भस्त्रात् इषुधेर्भ्रशणमुक्तादित्यर्थः । विषमपादाभ्यासो यमकः ॥१४॥

प्रस्वापनास्त्रमसृजत्स तामसमयोऽदयम् ।
द्विषां तेनाकरोन्मोहं सतामसमयोदयम् ॥१५॥

प्रस्वापनेति—असृजन्मुक्तवान्, कोऽसौ ? स प्रतिविष्णुः, किम् ? प्रस्वापनास्त्रं प्रकृष्टनिद्राजनकशस्त्रम्, कथं यथा भवति ? अदयं निर्दयम्, कथम्भूतः ? तामसमयः कोपनिर्वृत्तः तथा अकरोत् कृतवान्, कः ? स प्रतिविष्णुः कम् ? द्विषां शत्रूणां मोहम्, केन ? तेन प्रस्वापनास्त्रेण, किं विशिष्टानाम् ? सतां विद्यमानानाम्, कथम्भूतं मोहम् ? असमयोदयम् अनवसरोद्भवमिति । समपादाभ्यासो यमकः ॥१५॥

मत्तसुप्तामिव चमूं तां तमोघमयोऽजयत् ।
शरभिन्नं धियारीणां तान्तमोघमयोजयत् ॥१६॥

मत्तेति—अजयत् जितवान्, कः ? स प्रतिविष्णुः काम् ? तां चमूं सेनाम्, कामिव ? मत्तसुप्तामिव पूर्वं मत्तां पश्चात्सुप्तामिव, कथम्भूतः सन् ? तमोघमयः अविवेकपापनिर्वृत्तः तथा अयोजयत् योजितवान्, कः स प्रतिविष्णुः, कम् ? अरीणाम् ओघं शत्रूणां समूहम्, कया ? धिया बुद्ध्या कथम्भूतं सन्तम् ? तान्तं खिन्नम्, पुनः शरभिन्नमिति । समपादाभ्यासो यमकः ॥१६॥

भूंज देना चाहता था (बिभ्रक्षिषुः) [शरीरमें जोड़ोंको धारण करनेवाले (सन्धित्सुतां बिभ्रत्) और अपनी क्रोधाग्निमें भुनता हुआ सा, वह समर्थ जरासन्ध अपनी लोक प्रसिद्ध पार्श्व सेनाओंके द्वारा शत्रुकी पार्श्व सेनाओंको चपेट रहा था] ॥१३॥

शस्त्र शिक्षाकी शैलीका पालन करनेके कारण स्वयं सुरक्षित रावण या जरासन्धने बाणोंकी वृष्टिसे आकाशको पाट दिया था। तथापि इसकी भस्त्रा (तूणीर) से निकले बाण पहले छोड़े गये बाणोंके समान तेजी (रयं) को क्या नहीं पा सके (प्रापुः) थे ? अर्थात् वे भी बहुत तेजीसे जा रहे थे ॥१४॥

तमोगुणप्रधान (तामसमयः) रावण और जरासन्धने निर्दयतापूर्वक (अदयम्) प्रस्वापन अस्त्रका प्रहार किया था। इसके द्वारा राम – और पाण्डव सेनाको असमयमें ही मूर्च्छित कर दिया था जो कि सज्जनोंके लिए बुरे समयके समान था ॥१५॥

तमोगुण और पापलीन प्रतिविष्णुने विष्णुकी सेनाको वैसे ही जीत लिया था जैसे नशेमें उन्मत्त होकर सोये हुए व्यक्तिको परास्त किया जाता है। बाणोंसे बिधे और खिन्न शत्रुओंके समूहको इसने, इस प्रकार बुद्धिबलसे फँसा लिया था ॥१६॥

अरयो भीरवश्चक्रे जाताश्चित्रार्पिता इव ।
अरयो भीरवश्चक्रे व्याकुलैस्तद्वधूकुलैः ॥१७॥

अरय इति—भीरवः त्रस्ता अरयः चक्रे चक्रव्यूहे चित्रार्पिता इव जाताः तद्वधूकुलैः शत्रुस्त्रीसङ्घैः अरयो मन्दः भीरवो भयध्वनिः चक्रे कृतः, कथम्भूतैः ? व्याकुलैः । विषमपादाभ्यासो यमकः ॥१७॥

अश्वोरसपतत्पत्तिः सुप्ताधोरणहस्तिका ।
सेनाक्षिपद्भियेवाङ्गमक्षधूः सुप्तसारथिः ॥१८॥

अश्वेति—सेना अङ्गम् आक्षिपत् आक्षिप्तवती, कयेव ? भियेव भयेनेव, कथम्भूता सेना ? अश्वोरसपतत्पत्तिः अश्वानामुरोग्रम् अश्वोरसं 'उरसोऽग्ने' [जै० सू० ४.२.९५] इत्ययं सान्तः, तेन पतन्तः पत्तयो यस्यां सा हयवक्षोग्रपतत्पदातिरित्यर्थः, पुनः सुप्ताधोरणहस्तिका सुप्ता आधोरणा येषु ते हस्तिनो यस्यां सा निद्राणमहामात्रगजा, पुनः अक्षधूः सुप्तसारथिः अक्षश्चक्रधाराकाष्ठं धूर्दुरा अक्षश्च धूश्च अक्षधूः समाहारापेक्षया[1] अक्षधुरि सुप्ताः सारथयो यस्यां सा ॥१८॥

ससास स स सांसासि यं यं यो यो ययुं ययौ ।
नानन्नानन्ननोनौनीः शशाशाशां शशौ शिशुः ॥१९॥

ससासेति—सः स पुरुषः ससास सुप्तवान्, कथं यथा भवति ? सांसासि सह अंसेन वर्तते असिर्यत्र स्वापकर्मणि तथोक्तं स स्कन्धखड्गं यथा भवति, यो यः पुमान् यं यं ययुम् अश्वं ययौ प्राप्तवान् तथा नानत् न श्वसिति स्म, कोऽसौ ? ना पुमान्, किं कुर्वन् ? अनन् श्वसन्, कथम्भूतः ? अनोनौनीः अनो नावं नयतीति अनोनौनीः रथप्रवहणप्रेरकः, तथा शिशुरज्ञः शशास प्लुतं गतवान् तथा शशौ तनूकृतवान् काम् ? आशां वाञ्छामिति एकाक्षरपादः । ॥१९॥

द्राग्दानोच्छेदभीत्येव प्रासं शक्तिमसिं शरम् ।
पाशं परश्वधं शस्त्रीं ववर्षास्त्रमयो रिपुः ॥२०॥

प्रस्वापन अस्त्रके द्वारा कायर बनाये गये शत्रु चित्रमें लिखोंके समान पड़े थे । तथा उनकी पत्नियोंके झुण्डके झुण्ड व्याकुल हो उठे थे । तथा तेजहीन (अरयः) होकर भयका चीत्कार (भी-रवः) कर उठे थे ॥१७॥

घोड़ोंकी पीठ परसे सवार गिर रहे थे । हाथियोंके ऊपर महावत आदि सो गये थे । रथ सेनामें धुराके ऊपर सारथी सो गये थे फलतः चक्र चलना बन्द हो गया था । इस प्रकार पूरीकी पूरी सेनाने भीत होकर शरीरको झुका दिया था ॥१८॥

[अन्वय—स स स-अस—असि ससास, यं यं—ययुं यो यो ययौ, न अनन अनो नौनी नानत्, शिशुः आशां शशौ (एवं) शशास]

प्रत्येक सैनिक कन्धे पर लटकी तलवारके साथ सो गया था । जिस-जिसने जिस किसी घोड़ेके पास जानेका प्रयत्न किया था वह स्वयं सांस लेकर भी रथके वाहकोंमें सांस नहीं पा सका था फलतः वह बच्चेकी भांति युद्ध करनेकी आशाको दबाकर तेजीसे भाग गया था ॥१९॥

---

१. समाहारपक्षेऽयं—प० दृ० ।

द्रागिति—ववर्ष, कोऽसौ ? रिपुः शत्रुः, कम् ? प्रासं यष्टि तथा शक्तिं शस्त्रविशेषं तथा असिं खड्गं तथा शरं बाणं तथा पाशं परश्वधं परशुं तथा शस्त्रीं छुरिकाम्, कथम्भूतः ? अस्त्रमयः, कयेव ? दानोच्छेदभीत्येव दानोच्छेदभीत्येव, शब्दच्छलात् खण्डनमेव ग्राह्यम्, द्राक् शीघ्रमिति शेषः ॥२०॥

रैरोऽरिरीरुरारा रोरुरारारिरैरिरत् ।
रुरूरोरुररारारुरु रुरूररेरुरः ॥२१॥

राविति—ऐरिरत् प्रेरितवान्, कोऽसौ ? अरिरीः अराः सन्त्यस्य अरि चक्रम् अरिणा रिणाति हिनस्ति रिपूनिति अरिरीः चक्री प्रतिविष्णुरित्यर्थः, काः ? आराः शस्त्रविशेषसंज्ञकाः, कथम्भूता ? उरूः बृहतीः कथम्भूतोऽरिरीः ? रैरः रायं राति इति रैरः द्रव्यदाता, पुनः रोरुः रोरवीति विचिप्रत्यये कृते सति रोरुरिति रूपं निष्पद्यते, अत्यर्थशब्दं कुर्वाण इत्यर्थः, पुनः, आरारिः अरीणां समूहः आरम् आरस्यारिः आरारिः शत्रुसमूहरिपुरित्यर्थः पुनः ... तथा आर गतवान कोऽसौ ? ऊरुः व्यापः, किम् ? अरुः वृणम्, कथम्भूतः ऊरुः ? उरुः गरिष्ठः, तथा आर, किं कर्तुं ? उरो वक्षस्थलम्, किम् ? अरुः व्रणं कस्य ? अरेः शत्रोः, कथम्भूतस्य ? रुरुरोः रुरोरिव मृगविशेषस्येव ऊरवस्य स रुरूरुः तस्य रुरूरोरिति । एकाक्षरबन्ध इति ॥ २१॥

याष्टीकन्ते स्मरव्यग्रा खेऽमरस्त्रीर्मृताश्च ताः ।
याष्टीकं ते स्म रव्यग्रास्तं प्रतीच्छन्ति नाभितः ॥२२॥

याष्टीकन्त इति—ये वीराः टीकन्ते लभन्ते, काः ? ता अमरस्त्रीर्देवाङ्गनाः, कथम्भूताः सन्तः ? मृताः याश्च सन्ति, काः ? अमराङ्गनाः, कथम्भूताः ? स्मरव्यग्राः कन्दर्पाकुलाः क्व ? खे गगने, तेन कारणेन ते वीरा न प्रतीच्छन्ति अपि तु प्रतीच्छन्ति स्मेवेत्यर्थः, कम् तं याष्टीकं यष्टिः प्रहरणमस्य तं याष्टीकम् कथम् ? अभितः सामस्त्येन, कथम्भूताः सन्तः ? रव्यग्राः सूर्यवत् प्रधाना इति विषमपादयमकम् ॥२२॥

एकः सर्वास्त्रसंग्राहः शिलेयं चालयन्नुरः ।
दिक्पालानां समाहारश्चलन्निव चचाल सः ॥२३॥

शस्त्रोंसे सुसज्जित शत्रुने भागते हुए अपने शत्रुओं पर प्रास (चौड़ी तलवार) बरछी, तलवार, बाण, नागपाश, और तेजीसे मारनेवाले फरसे, कटारी आदिकी वर्षा की थी। क्योंकि उसे यही डर था कि संहार (दान दा = दाने खण्डने च) रुक न जाय ॥२०॥

[अन्वय—अरारिः रोरुः रैरः अरिरीः उरुः आराः ऐरिरत्, रुरूरोः अरेः उरः उरुः अरुः उरुः आर ।]

शत्रुओंके समूह (अरा) का शत्रु (अरि) जोरसे गर्जनेवाला, कोष या धनका-प्रदाता और चक्रके द्वारा शत्रुओं [अ] के संहारक [रीः] प्रतिविष्णुने बहुत मात्रामें 'आर' चलाये थे। जिनके द्वारा रूरू मृगके समान उरयुक्त शत्रुका वक्षस्थल गम्भीर रूपसे आहत हुआ था। तथा उसे छेद कर अस्त्र निकल गये थे ॥२१॥

इस प्रकार से युद्धमें वीरगतिको प्राप्त योद्धा उन देवाङ्गनाओंको प्राप्त करते थे जो कामसे विह्वल होकर आकाशमें प्रतीक्षा कर रहीं थी। तथा सूर्यसे भी ऊपर [क्योंकि स्वर्ग ज्योतिष लोकसे बहुत ऊपर हैं] जाने के इच्छुक ये योद्धा भी क्या सर्व प्रकार से घोर यष्टि प्रहारकी इच्छा नहीं करते थे ? अपि तु करते ही थे ॥२२॥

एक इति—चचाल—कोऽसौ ? स प्रतिविष्णुः, कथम्भूतः ? एक एकाकी असहाय इत्यर्थः, किं कुर्वन् ? चालयन् स्वस्थानात् चालयन्, किम् ? उरो वक्षः कथम्भूतं सत् ? शिलेयं शिलासमानं शिलया सदृशम् 'उपमानार्थे ढः' पुनः सर्वास्त्रसंग्राहः सर्वास्त्राणां सङ्ग्राहोऽङ्गीकारो यस्य सः, किं कुर्वन् ? चलन् क्षोभं गच्छन्, क इव ? दिक्पालानां समाहार इव ॥२३॥

असत्क (असक्थ) मशिरोऽश्वीयं हास्तिकं चित्तमोहतः ।
पपात वञ्चन्न स्मासौ हास्तिकंचित्तमोहतः ॥२४॥

असक्थेति—पपात पतितम्, किम् ? अश्वीयमश्वानामिदं बलम् अश्वीयम्, कथम्भूतम् ? असक्थम्, अः सान्तः, अनऽष्ठीवत्कम्, कस्मात् ? चित्तमोहतः वैचित्यात्, तथा पपात, किम् ? हास्तिकं हस्तिनामिदं बलम्, कथम्भूतम् ? अशिरो मस्तकहीनम्, कस्मात् ? चित्तमोहतः तथा हा कष्टं नास्ति स्म न सञ्जातः, कः ? असौ अयं प्रतिविष्णुः, किं कुर्वन् ? वञ्चन् त्यजन्, कम् ? कञ्चित्, कथम्भूतः ? तमोहतः कोपवशः । समपादयमकम् ॥२४॥

अंसोत्सेधेन सोत्सेकस्त्रिमूर्ध इव केशवः ।
पापपाक इवामुष्य प्राभवत्पारिपन्थिकः ॥२५॥

अंसोत्सेधेनेति—प्राभवद् प्रकर्षेण सञ्जातः, कोऽसौ ? केशवो विष्णुः, कथम्भूतः ? पारिपन्थिकः परिपथं तिष्ठति पारिपन्थिकः प्रतिषेधक इत्यर्थः, कस्य ? अमुष्य प्रतिविष्णोः, क इव ? पापपाक इव, कथम्भूतः ? सोत्सेकः सगर्वः, क इवोत्प्रेक्षितः ? त्रिमूर्द्ध इव त्रिमस्तक इव, केन ? अंसोत्सेधेन स्कन्धोच्छ्रायेण ॥ २५ ॥

मणेः प्रत्युरसस्यासीत्सुप्रातीकुर्वता जगत् ।
रवेः सर्वपथीनेन तेजसेवोदयाचलः ॥२६॥

मणेरिति—आसीत् सञ्जातः, कोऽसौ ? विष्णुः, कथम्भूतः ? उदयाचलः, केन ? तेजसा प्रकाशेन, कस्य ? मणेः, कथम्भूतस्य ? प्रत्युरसस्य उरसि स्थितस्य कौस्तुभस्येत्यर्थः, किं कुर्वता सता ? सुप्रातीकुर्वता सुप्रभातीकुर्वता, कथम्भूतेन ? सर्वपथीनेन सर्वान् पथ आप्नोतीति सर्वपथीनं तेन, किम् ? जगद्भुवनम्, कस्येव ? रवेरिव तेजसा सूर्यस्येवेति ॥२६॥

समस्त शस्त्रोंसे सुसज्जित अथवा समस्त शस्त्रोंका आघात सहनेमें समर्थ शिलाके समान वक्षस्थलको ताने हुए एकाकी प्रतिनारायण चल पड़ा था । वह अकेला ही ऐसा लगता था जैसे समस्त दिग्पाल ही चल पड़े हों ॥२३॥

घोड़ों की सेना चित्त विभ्रमके कारण बिना जाँघ की होकर गिर पड़ी थी । तथा हाथियोंकी सेना मर्मस्थलमें प्रहार होनेके कारण मस्तकहीन होकर लुढ़क गयी थी । क्योंकि तमोगुणमय हो जानेके कारण इस प्रतिनारायणने किसीको भी नहीं छोड़ा था ॥२४॥

कन्धोंको ऊपर तानता हुआ, उत्साह और गौरवसे व्याप्त तथा तीन मस्तक युक्त के समान नारायणने इस (प्रतिनारायण) के मार्ग को रोक लिया था अर्थात् परम विरोधी हो गया था । ऐसा लगता था कि नारायण, प्रतिनारायणके पापके परिपाक रूपसे ही प्रकट हुआ था ॥२५॥

उर स्थलमें धारण किये गये कौस्तुभमणिके सब ओर फैलनेवाले तेजके कारण नारायण उदयाचलके समान हो गया था क्योंकि उदयाचलपर आये सूर्यका प्रकाश भी सब दिशाओंमें फैल जाता है । और जगत्में सुप्रभात हो जाता है [नारायणके द्वारा नैतिकताका प्रभात हुआ था] ॥२६॥

वीरारिवैरवारी वै वव्रे रविरिवोर्वराम् ।
विश्रोवरैरविवरैरवोवावाविराववान् ॥२७॥

वीरेति—वव्रे प्रच्छादितवान्, कोऽसौ ? विष्णुः, काम् ? उर्वरां पृथ्वीम्, कैः कृत्वा ? विश्रोवरैः तेजोमण्डलैः, कथम्भूतैः ? अविवरैः निबिडैः, कथम् ? वै स्फुटम् क इव वव्रे – रविरिव सूर्य इव, कथम्भूतो विष्णुः ? वीरारिवैरवारी वीराणामरीणां वैरं वृणोतीत्येवंशीलः सः वीररिपुवैरभञ्जक इत्यर्थः, पुनः अवोवावा अवः अपराधलक्षणं तमोऽत्र ग्राह्यम्, अवो वनति संभनक्तीति वन्प्रत्ययः, "वन्याः" [जै० सू० ४।४।४१] इति सूत्रेण वनिपरतो नकारस्याकारादेशे अवो वावेति सिद्धं रूपम्, अनीति तमोभञ्जक इत्यर्थः, पुनः विरावबान् गभीरध्वनिमानिति[1] ॥२७॥

योऽयेयाययियायायं पापापापोपपान्पपौ ।
नूननूनानिनोऽनेनास्ततत्तातोऽततातितिम् ॥२८॥

य इति—इयाय भगवान् प्राप्तवानित्यर्थः, कः ? यः इनः स्वामी विष्णुरित्यर्थः, कम् ? आयं द्रव्योत्पत्तिस्थानं वज्रादीनां रत्नानां खनिमित्यर्थः, कथम्भूतः ? अयेयायः अयेयः अयो यस्य सः अगम्यगमनः अलक्ष्यप्रवृत्तिरित्यर्थः, 'को बुद्ध्यते राजगतिं विचित्रामिति' वचनात्, अत्र संधौ रेफस्थाने यो यकारः तस्य लोपो न कृतः, पपौ प्रतिपालितवान्, कोऽसौ ? इनः, कान् ? नॄन् पुरुषान्, कथम्भूतः इनः ? अनेनाः पापरहितः पुण्यवानित्यर्थः, कथम्भूतान् ? पापापापोपपान् पापादपापाः पापापापाः पापापापेषु उपपा येषां तान् अनपराधरक्षकानित्यर्थः, पुनः अनूनान् प्रचुरान् तत् तस्मात् कारणात् अतत विस्तारयामास, काम् ? आततिं श्रेणीं ततेषां नृणां कथम्भूतः सन् ? तातः पिता, केषाम् ? तत्तेषामेव तदित्यव्ययपदमिति ॥२८॥[2]

छिन्नैः शफैः समीकेऽस्त्रैरर्वतां गोखुरैरिव ।
हस्तिहस्तक्रमैः कीर्णे मुसलोलूखलैरिव ॥२९॥
तेजिते तमसा जेरे रेजेऽसामततेऽजिते ।
भासिते रदनारीमे भेरीनादरतेऽसिभा ॥३०॥

छिन्नैरिति—जेरे जीर्णं विनष्टम्, केन ? तमसान्धकारेण, क्व ? समीके सङ्ग्रामे, कथम्भूते ? कीर्णे व्याप्ते, कैः ? शफैः खुरैः, केषाम् ? अर्वताम् अश्वानाम्, कथम्भूतैः ? अस्त्रैः छिन्नैः, कैरिव ? गोखुरैरिव

वीर शत्रुओंको वैरका शमनकर्त्ता (वीरारि वैरवारी), अनीतिके अन्धकारका विनाशक (अवोवा) गम्भीरस्वरमें ललकारते हुए नारायणने अपने सघन (अ-विवरैः) तेज-मण्डलके द्वारा (विश्रोवरैः) युद्धस्थलीको निश्चित रूपसे वैसे ही व्याप्त किया था जैसे सूर्य पूरी पृथ्वीको करता है ॥२७॥

स्वयं अप्राप्य अथवा गूढ़ताके कारण अगम्य (अयेयायः) वह (यः) विष्णु रत्नोंकी खान (आयं) को प्राप्त हुआ था (इयाय)। स्वयं पापों (इनः) से रहित होकर भी उस भगवान् (इनः) नारायणने पापोंसे बचे (अपाप) हुए तथा शरणागत [उपपा] जनोंकी रक्षा की थी (पपौ)। और उस जगद्रक्षक (तात) ने ही मानवों की (नॄन्) विविध (ततत्) विशाल (अनूनान्) एवं समग्र श्रेणियों (आततिम्) का विस्तार किया था (आतत) ॥२८॥

सर्वग्रासी (कीर्ण) संग्राममें शस्त्रोंके प्रहारसे चीरी गयी घोड़ोंकी टापें गोखुरके समान हो गयी थीं। और शस्त्रोंसे काटी गयी हाथियों की सूंड़ें तथा पैर मूसल और

---

१. द्व्यक्षरबन्धः । २. एकाक्षरपादबन्धः ।

तथा च कीर्णे, कैः ? हस्तिहस्तक्रमैः शुण्डाऽशुण्डाचरणैः, कैरिव ? मुसलोलूखलैरिव हस्तिहस्तैर्मुसलैरिव हस्तिक्रमैरुलूखलैरिवेत्यर्थः, कथम्भूते ? तेजिते प्रदीप्ते, पुनः असामतते न विद्यते साम येषां ते असामानः सकोपाः पुरुषाः असामभिस्तते विस्तृते, पुनः अजिते अनभिभूते, पुनः भासिते प्रकाशिते, पुनः अरदनारीभे न विद्यन्ते रदना येषां ते अरदनाः अरीणामिभा अरीभाः अरदना अरीभा यत्र तस्मिन् तथोक्ते, पुनः भेरीनादरते भेरीणां यो नादो ध्वनिस्तस्मिन् रते सक्ते, तथाऽसिभा रेजे खड्गदीप्तिः कर्त्री[1] ॥२९-३०॥

गर्भापोढा इव हयाः पङ्कात्यस्ता इव द्विपाः ।
उन्मत्ता इव तत्रासन्श्रैमताः शस्त्रपाणयः ॥३१॥

गर्भापोढेति—आसन् सञ्जाताः, के ? हयाः, क इवोत्प्रेक्षिताः ? गर्भापोढा इव गर्भनिर्गता इव, तथा आसन्, के ? द्विपाः हस्तिनः, क इवोत्प्रेक्षिताः ? पङ्कात्यस्ता इव कर्दमनिर्गता इव, तथा आसन्, के ? शस्त्रपाणयः शस्त्रहस्ताः सुभटाः, क इवोत्प्रेक्षिताः ? उन्मत्ता इव, क्व ? तत्र रणे, कथम्भूता हयादयः ? श्रैमताः श्रीरस्यास्तीति श्रीमान् विष्णुः श्रीमत इमे श्रैमताः वासुदेवसम्बन्धिन इति ॥३१॥

अत्यध्वान्तां महोपायां चमूमुत्सृज्य वैष्णवीम् ।
अत्यध्वां तां महोऽपायां वैरीयां तत्तमोऽविशत् ॥३२॥

अत्येति—अविशत् प्रविष्टं, तत् लोकप्रसिद्धं तमः, काम् ? तां चमूम्, कथम्भूताम् ? वैरीयां वैरिणामियं वैरीया तां वैरीयां शात्रवीम्, पुनः कथम्भूताम् ? महोपायां महसां तेजसां प्रतापलक्षणानामपायो विनाशो यस्यां ताम्, पुनः अत्यध्वाम् अध्वानमतिक्रान्ताम्, 'गेरध्वनः' [जै० सू० ४।२।८७] इति असान्त-सूत्रेण अः सान्तः, किं कृत्वा पूर्वं तमोऽविशत् ? उत्सृज्य विसृज्य परित्यज्य, काम् ? चमूम्, कथम्भूताम् ? वैष्णवीं विष्णोरियं वैष्णवी तां पुनः महोपायां महान् उपायो यस्यास्ताम्, उपायः सामादिः पञ्चाङ्गमन्त्रो वा त्रिशक्तिलक्षणोऽग्राह्यः, पुनः अत्यध्वान्तां ध्वान्तमुत्साहोऽत्र ग्राह्यः न ध्वान्तमतिक्रान्ता अत्यध्वान्ता तां सोत्साहामित्यर्थः[2] ॥३२॥

अयानि तव तिष्ठ त्वं गृहाणायुधमायुधम् ।
इत्येकवाक्यौ वैरेऽपि तावाह्वेतां परस्परम् ॥३३॥

ओखली के सदृश पड़े थे । इस प्रकार समता भावसे रहित भटोंके द्वारा बढ़ाये गये संघर्षके अपनी चरम सीमा पर पहुँच (तेजित) जाने तथा शत्रुओंके हाथियोंके काटे गये दाँतोंसे प्रकाशमान होनेपर भी विजयका निश्चय नहीं हुआ था । (अजिते) फलतः रणभेरियाँ जोरोंसे बज रही थीं तथा चलती तलवारोंकी चमकसे अन्धकार नष्ट हो गया था ॥२९-३०॥

लक्ष्मीके स्वामी विष्णुकी (श्रैमतः) सेना के घोड़े तुरन्त उत्पन्नोंके समान हो गये थे । हाथी ऐसे लगते थे मानो कीचड़में लोट कर आ रहे हैं । और हाथोंमें हथियार लेकर बढ़ते योद्धा मदोन्मत्त ऐसे प्रतीत होते थे ॥३१॥

रात्रि अथवा पराजयके अन्धकारने अत्यन्त उत्साह (ध्वान्त) पूर्ण और सामादि पाँचों उपायोंमें परिपूर्ण नारायणकी सेनाको छोड़ कर, पथभ्रष्ट होकर भागती हुई (अत्यध्वां) और सर्वाङ्ग विनाशको प्राप्त (महोऽपायं) वैरी प्रतिनारायणकी सेनामें प्रवेश किया था ॥३२॥

---

१. ३०तमे श्लोके गतप्रत्यागतबन्धः । २. विषमपादयमकम् ।

अयानीति—आह्वेतामाकारितवन्तौ, कौ ? तौ विष्णुप्रतिविष्णू, कथम् ? परस्परमन्योन्यम्, कथम्भूतौ सन्तौ ? एकवाक्यौ एकवचनौ, क्व सत्यपि ? वैरेऽपि कथमिति कृत्वा प्रकाशयते तव भवतः यदि अयानि अगमनं तदा तिष्ठ आस्व त्वं गृहाण आयुधमायुधं अस्त्रमस्त्रमिति ॥३३॥

लोलध्वजौ वहद्वाजिवेलौ तद्वत्तयो रथौ ।
युद्धाम्बुधौ द्विनावं चेदन्योन्यमभिपातुकम् ॥३४॥

लोलेति—तद्वत् द्विनाववत् स्यातामिति क्रियाध्याहार्या, कौ ? तयोः केशवप्रतिकेशवयोः रथौ, कथम्भूतौ ? लोलध्वजौ चलत्केतू, पुनः वहद्वाजिवेलौ वहन्तौ वाजिनौ वेला ययोः तौ, कस्मिन् ? युद्धाम्बुधौ रणसमुद्रे, चेद्भवेत्, किम् ? द्विनावं द्वयोर्नावोः समाहारः, "नावोरात्" [जै० सू० ४।२।१०२] इत्यनेन सूत्रेण अः सान्तः, कथम्भूतम् ? अभिपातुकमभिपतनशीलम्[1] अन्योन्यमितरेतरमभिगमनशीलम् ॥३४॥

स मेनेऽनेन सामर्थ्यमग्रे युधि दिवौकसाम् ।
समेनेऽनेन सामर्थ्यमीयमानमरातिना ॥३५॥

स इति—स विष्णुः सामर्थ्यं पौरुषं मेने ज्ञातवान्, क्व ? युधि सङ्ग्रामे, कथम्भूते ? अग्रे भाविनीत्यर्थः, पुनः समेने समस्वामिनि, किं क्रियमाणं सामर्थ्यम् ? ईयमानं गम्यमानं प्राप्यमाणमित्यर्थः, केन ? अनेनारातिना वैरिणा प्रतिविष्णुना सह, कथम्भूतम् ? अनेनसां पुण्यवतां दिवौकसां देवानाम् अर्थ्यं श्लाघ्यम् । द्विपादयमकम् ॥३५॥

अरिरस्त्रं रणेऽस्राक्षीदाग्नेयं धीरदीधिति ।
अक्षान्तिं हृदयेऽनेकां निःसहं लङ्घयन्यथा ॥३६॥

अरिरिति—अरिः शत्रुः रणे आग्नेयम् अग्निविकारम् अस्त्रं बाणम् अस्राक्षीत् मुक्तवान्, कथम्भूतम् ? धीरदीधिति स्थिरदीप्ति[2], कथं यथा भवति ? निःसहं दुःसहम्, यथाशब्दोऽत्र उत्प्रेक्षार्थोऽवगम्यते तेनायमर्थः, किं कुर्वन्निव ? हृदयेऽनेकां प्रचुराम् अक्षान्तिमक्षमां लङ्घयन्निवातिक्रामयन्निव ॥३६॥

कोपः कश्चिज्ज्वलत्यस्य कनकाश्मस्य किं द्रवः ।
किं किंशुकवनं फुल्लं किं जिह्वा समवर्तिनः ॥३७॥

कोप इति—ज्वलति दीप्तो जायते, कोऽसौ ? कश्चित् कोपः, कस्य ? अस्य शत्रोः किं द्रवः, कस्य ?

'मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ । तुम शस्त्रको उठाओ । मेरे सामने जमो ।' घोर वैर होनेपर या इस प्रकारके समान वाक्यों द्वारा उन दोनों (नारायण और प्रतिनारायण) ने एक दूसरेको ललकारा ॥३३॥

लहलहाती ध्वजाओंसे शोभित तथा जुते हुए घोड़ों रूपी तीर युक्त नारायण और प्रतिनारायणके रथ, युद्ध रूपी समुद्र में उन दो नौकाओंके समान लगते थे जो ध्वजा और पालसे युक्त होकर एक दूसरेपर आघात करनेके लिए बढ़ती हैं ॥३४॥

समान नायक (इन = नायक-प्रतिनायक) युक्त संग्रामकी पराकाष्ठामें उस नारायणने प्रतिनारायणकी तुलनामें अपनी शक्तिको स्पष्टतया जाना था । तथा उसकी इस सामर्थ्यकी पापाचाररहित (पुण्यात्मा) देवोंने भी कामना की थी ॥३५॥

धीर गम्भीर एवं तेजस्वी शत्रुने युद्धमें अग्निबाणको चलाया था । मानो उसने अपने हृदयकी बहुमुखी अशान्ति या क्रोधको ही सहन न करके उछाल दिया था ॥३६॥

शत्रुका धधकता हुआ क्रोध रूप वह अग्निबाण ऐसा लगता था मानो स्वर्ण-पाषाण

---

१. लं सम्मुखगमनशीलमित्यर्थः । कथम् ? अन्योन्यमितरेतरमिति शेषः प०, द०, ज० । २. धीरदीप्ति प० द० ।

कनकाश्मस्य कनकस्य अश्मा कनकाश्मः "सरोनोऽश्मा यशः खुजात्योः" [जै० सू० ४।२।९६] इत्यनेन सूत्रेण अः सान्तस्तस्य तथोक्तस्य सुवर्णपाषाणस्य, किं फुल्लं पुष्पितं किंशुकवनं पलाशकाननम्। किं समवर्त्तिनो यमस्य जिह्वा रसना ? ॥३७॥

इत्याशङ्क्य चिराज्जज्ञे संतप्तैर्भीरुकैः शिखी।
दृष्ट्वा शूरैः पराच्छेदि भिदेयं भीरुधीरयोः ॥३८॥

इत्येति—जज्ञे जातः, कोऽसौ कर्मतापन्नः ? शिखी दहनास्त्रम्, कैः ? भीरुकैः भीतैः पुरुषैः, कथम्भूतैः ? संतप्तैः कथम् ? चिराद्बहुतरकालेन, किं कृत्वा ? पूर्वमाशङ्क्य, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, पराच्छेदि परिच्छिन्ना, का ? इयं भिदा भेदः, कयोः ? भीरुधीरयोः, कैः कर्तृभिः ? शूरैः, कया कृत्वा ? दृष्ट्वा अवलोकनमात्रेणेत्यर्थः ॥३८॥

सामिमीलदहो चक्षुः सामिमीलद् द्विपावलिः।
नवपुष्करमस्याः किं न वपुष्करणं वपुः ॥३९॥

सामिमीलदिति—अहो आश्चर्यम्, अमिमीलत् विनिमेषितवती, का ? सा द्विपावलिः गजराजिः, किम् ? चक्षुर्लोचनम्, किं कुर्वत् सत् ? मीलत् सङ्कुचत्, कथम् ? सामि अर्द्धं तथा किं नामिमीलत् अपितु अमिमीलदेव, किं किम् ? नवपुष्करं शुण्डादण्डाग्रं तथा वपुः शरीरं तथा करणमिन्द्रियं तथा वपुः ओजः धातूनां तेजः, कस्याः ? अस्या द्विपावलेरिति। पादादियमकम् ॥३९॥

अत्यन्तीना हयालीयं सालिलङ्घिषत स्यदात्।
निसर्गः कश्चिदस्यास्ति सक्तस्यान्यस्य चाङ्गिनः ॥४०॥

अत्यन्तीनेति—अलिलङ्घिषत लङ्घितुमिष्टवती, का ? सा इयं हयाली हयपङ्क्तिः, कस्मात् ? स्यदात् वेगात्, कथम्भूता ? अत्यन्तीना गच्छन्ती युक्तमेतत्, अस्ति कः ? निसर्गः स्वभावः कश्चित् कस्य ? अङ्गिनः शरीरिणः, कथम्भूतस्य ? शक्तस्य समर्थस्य अन्यस्य[1] भीरोरिति। निरोष्ठ्यः ॥४०॥

रवेरावरणं चापी कुर्वाणः शरणं शरैः।
कृष्णो मेघो जगर्जोच्चैर्व्याप्योपककुभं भुवः ॥४१॥

रवेरिति—जगर्ज गर्जितवान्, कोऽसौ ? कृष्णो विष्णुः, किं कृत्वा ? पूर्वं व्याप्य, किम् ? उपककुभं प्रतिदिशम्, 'गिरिनदीपौर्णमासी' [जै० सू० ४।२।११२] इत्यनेन सूत्रेणाकारः सान्तः। कथम्भूतः ? चापी

पिघल कर फैल गया है, अथवा पलास-वन चारों ओरसे फूल पड़ा है, अथवा पापी-पुण्यात्मादिमें समदृष्टि यमराजकी जिह्वा ही लपलपा रही है ॥३७॥

इत्यादि प्रकारसे विकल्प करनेके बाद, तपाये गये अथवा डरे हुए भीरु लोगोंने बड़ी देरमें यह जाना था कि यह अग्नि बाण है किन्तु शूर-वीरोंने देखकर ही इसे पहचान लिया था। तथा इस प्रकारसे भीरु और धीरका अन्तर स्पष्ट कर दिया था ॥३८॥

आग्नेय अस्त्रके तेजके कारण उस गजसेनाने आधी (सामि) आँखें बन्द करते-करते आँखें ही बन्द कर ली थीं। क्या इस गजसेनाकी सूंड़ संकुचित नहीं हुई थी ? अवश्य हुई थी। साथ ही साथ इन्द्रियाँ, शरीर और तेज (वपुः) भी सँकुचा गये थे ॥३९॥

वेगके साथ भागती हुई अश्वपंक्तिने अग्निको तेजीसे पार करनेकी इच्छा की थी। [इसमें क्या आश्चर्य है] क्योंकि घोड़ेकी यह (फाँद जाना) प्रकृति ही है। और यही स्वभाव किसी भी सामर्थ्य युक्त दूसरे देहधारीमें देखा जाता है ॥४०॥

---

१. –ण तथा सति परा प०, द०। २. शक्तस्य विशेषरूपेण ग्राह्यमिति।

धनुष्मान्, किं कुर्वाणः रवेः सूर्यस्यावरणं प्रच्छादनं कुर्वाणः, कैः शरैर्वर्षैः, कथम् ? उच्चैरतिशयेन, तथा कुर्वाणः, किम् ? भुवो भूमेः शरैः शरणं विदारणम्, अत्र लुप्तोपमा ज्ञातव्या, क इव ? कृष्णो नीलः मेघ इव जलधर इव, किं कृत्वा ? पूर्वं उपककुभं व्याप्य, किं कुर्वाणः ? रवेरावरणं कुर्वाणः, कैः कृत्वा ? शरैः जलैः तथा कुर्वाणः, किम् भुवः शरणम्, कैः ? शरैर्जलैः कथम् ? उच्चैः, कथम्भूतः ? चापी इन्द्रधनुर्युक्त इति ॥४१॥

अमरिष्यज्जनः पूर्वं [1]धूमश्यामाग्निशङ्कया ।
विद्युत्वन्तं धनं वीक्ष्य नामोक्ष्यच्चेत्स विप्रुषः ॥४२॥

अमरिष्यदिति—अमरिष्यत् कोऽसौ ? जनः, कथम् ? पूर्वम्, कया ? धूमश्यामाग्निशङ्कया धूमश्यामलवह्निभ्रान्त्या, किं कृत्वा ? पूर्वं वीक्ष्यावलोक्य, कम् ? घनं मेघम्, कथम्भूतम् ? विद्युत्वन्तं तडिद्युक्तं चेद्यदि नामोक्ष्यत्, कोऽसौ ? सघनः काः ? विप्रुषो जलबिन्दून् ॥४२॥

भूरिरभ्रभरो रेभी कोऽनेकानीककाननम् ।
काकालिकी किलाकाले नोपापापोऽपिनापपुः ॥४३॥ [पादद्व्यक्षरी]

भूरिरिति—किलशब्दो [2]लोकोक्तौ अत्र, कः ? अभ्रभरो मेघसमूहः न उपाप न व्याप्नोति स्म, अपि तु सर्वोऽपि, किम् ? अनेकानीककाननं प्रचुरसैन्यकान्तारम्, कथम्भूतः ? भूरिः प्रचुरः, पुनः रेभी ध्वनिमान्, क्व ? अकालेऽसमये तथा का आकालिकी विद्युत् नोपाप अपि तु उपाप, किम् ? अनेकानीककाननं तथा का आपोऽपि जलान्यपि नापपुर्न पीतवत्यः अपि तु आपपुः किमनेकानीककाननम् ॥४३॥

रणमेकार्णवं कर्तुमारेभेऽभ्रं शनै रसन् ।
अभूद्वह्निरपां घोरैरारेभे भ्रंशनै रसन् ॥४४॥ [समपादयमकम्]

रणमिति—आरेभे प्रारब्धवत्, किं कर्तुं ? अभ्रं मेघः, किं कर्तुम् ? रणं सङ्ग्राम-भूमिं कर्तुम्, कथम्भूतम् ? एकार्णवं तथाभूतं सञ्जातः, कोऽसौ ? वह्निः, किं कुर्वन् ? रसन् शब्दन्, कथम् ? शनैर्मन्दम्, क्व सति ? आरेभे गर्जे, कथमभूद्वह्निः ? असन् अविद्यमानः, कैरभूद्वह्निः ? भ्रंशनैः संघट्टनैः, कासाम् ? अपां जलानाम्, कथम्भूतैः ? घोरैः भयानकैः, इत्यनेन विद्युत्पातादिति भावः ॥४४॥

धनुषधारी नारायणने मेघ-बाणोंकी वर्षाके द्वारा सूर्यको ढँक दिया था तथा पृथ्वीको फोड़ (शरण) दिया था। तथा युद्ध गर्जना करते हुए इसने काले बादलके समान समस्त दिशाओंको झंकृत या व्याप्त कर दिया था [कृष्ण मेघ भी सूर्यको छिपा देता है तथा मूसलाधार वृष्टिसे भूमिको विदीर्ण करता हुआ गरजता है तथा सब दिशाओंमें छा जाता है] ॥४१॥

अग्नि बाणके कारण लपटें छोड़ती अग्निकी शंकासे पहले ही अधमरे लोग बिजली चमकाते भयंकर मेघको देखकर [वज्रके भयसे] ही मर गये होते, यदि इस (मेघ बाणके बादल) ने तुरन्त वृष्टि न कर दी होती ॥४२॥

[मेघबाणके कारण] विविध सेनाओं रूपी जंगलपर कौन-सी उत्कट मेघघटा गरजती हुई नहीं आयी थी ? वर्षाऋतु न होनेपर (अकाले) भी कौन-सी वर्षाकालीन बिजली नहीं चमकी थी ? और यह सैन्यरूपी जंगल क्या वर्षाकालीन जलसे प्लावित नहीं हुआ था ? [अर्थात् समराङ्गण सर्वथा वर्षा ऋतुमय हो गया था] ॥४३॥

रुक-रुककर गरजते मेघोंने समरस्थलीको विशाल समुद्र बनाना आरम्भ कर दिया

---

१. –'द' पुस्तके 'धूममश्याग्निशंकया' इति पाठो वर्तते। तत्र टीकायामपि 'धूममश्याग्निशंकया धूममश्यामलवह्निशङ्कया' इति पाठः दृश्यते। २. –क्तौ श्लोकोऽत्र द०।

नागाननागा गगने सज्जाजिः सासृजोऽसृजत् ।
रिपुः प्रपपरुः पापाः परपारपरम्पराम् ॥४५॥

[द्व्यक्षरपादः]

नागानिति—रिपुः शत्रुः नागान् सर्पान् असृजत् मुक्तवान्, कथम्भूतान् ? सासृजः सरुधिरान्, कस्मिन् ? गगने, कथम्भूतः ? सज्जाजिः प्रगुणितरणः, पुनः अनागा अनपराधः तथा प्रपपरुः प्रपूरितवन्तः, के ते ? पापाः, काम् ? परपारपरम्पराम् परं विप्रतिचरन्ति "कर्मण्यण्" [जै० सू० २।२।१] इत्यनेन सूत्रेणाण्, परपाराः शत्रुभृत्याः परपाराणां परम्परा परपारपरम्परा तां विष्णुपदातिश्रेणिमित्यर्थः, कथम्भूता नागाः ? पापाः पापमूर्तय इति शेषः ॥४५॥

जलवेणीति संतुष्य तत्राऽऽदित सा हसम् ।
विष्णोश्चमूर्विभाव्याहिं तत्रासादित साहसम् ॥४६॥

[द्वितीयचतुर्थपादयमकम्]

जलवेणीति—तत्र रणे आदित गृहीतवती, का ? चमूः सेना कम् हसमुल्लासम्, किं कृत्वा ? पूर्वं संतुष्य, कथमिति ? जलवेणीति नागान् जलधाराप्रवाहभ्रान्त्या दर्शनान्तमवलोक्य तुष्टेति भावः, कस्य चमूः ? विष्णोः तत्रास, का ? सा चमूः, किं कृत्वा ? पूर्वं विभाव्य ज्ञात्वा, कम् ? अहिं सर्पम्, कथम्भूतम् ? आसादितसाहसं आसादितं प्राप्तं [1]साहसं प्राणनिरपेक्षं कर्म येन तं तथोक्तम् ॥४६॥

अधोऽधः पेतुरानीलाँल्लेलिहानान्कृशानवः ।
वर्षतो विषमम्भोदानशनेरिव राशयः ॥४७॥

अध इति—पेतुः पतिताः, के ? कृशानवोऽग्नयः, कथम् ? अधोऽधः अधस्तादधस्तात्, कान् ? लेलिहानान् सर्पान्, कथम्भूतान् ? आनीलान् आ सामस्त्येन कृष्णान्, किं कुर्वतः पुञ्जा इव, पेतुः कथम् ? अधोऽधः, कान् ? अम्भोदान् मेघान्, कथम्भूतान् ? आनीलान् सामस्त्येन कृष्णान् सजलत्वात्, किं कुर्वतः ? वर्षतः, किम् ? विषं जलमिति ॥४७॥

वर्माण्याप्रपदीनानि दीनानि बिभिदुः सदा ।
दुःसदा भुजगोपाया गोपाया दुर्मुखे वृथा ॥४८॥

[श्रृङ्खलायमकम्]

था। तथा मूसलाधार वृष्टिके लगातार पड़नेसे तड़कती हुई बिजलीका आतप और उद्योत भी फैल गये थे ॥४४॥

संग्रामके लिए सर्वथा तैयार शत्रुने आकाशमें नागपाशोंको छोड़ दिया था। तथा नागपक्षके इन पापी नागोंने भी रक्तरंजित होकर (सासृज्) पापविमुक्त अर्थात् पुण्यात्मा (अनागाः) नारायणके सैनिकोंकी दूर तक फैली पंक्तियोंको सब तरफसे घेर लिया था ॥४५॥

नागपाशोंसे व्याप्त समरस्थलीमें नागोंको जलकी धारा समझकर नारायणकी सेना सन्तुष्ट हो कर हँसने लगी थी। किन्तु थोड़ी ही देरमें इन्हें साहस तथा वेग युक्त साँप समझ कर डर गयी थी ॥४६॥

अग्निको उगलते अत्यन्त काले नागोंके समूह धीरे-धीरे पृथिवीपर आ रहे थे। और वज्र या बिजलीकी विपुल राशि युक्त मेघोंके समान नारायणकी सेनापर विषको बरसा रहे थे [काले और उमड़ते बादल भी जल (विष) की घनघोर वृष्टि करते हैं] ॥४७॥

---

१. साहसं यत्र नाहं न चेदं कार्यमित्यनुपचरितप्रत्ययः आसादितं साहसं येन तं तथोक्तमिति शेषः —प०, द०, ज० ।

वर्माणोति—बिभिदुः भेदितवन्तः, के ? भुजगोपायाः सर्पव्यापाराः, कानि ? वर्माणि सन्नहनानि, कथम्भूतानि ? आप्रपदीनानि आप्रपदं प्राप्नुवन्ति "आप्रपदम्" [जै०सू० ३।४।१३४] इत्यनेन सूत्रेण खः। आगुल्फप्रापानीत्यर्थः, पुनः दीनानि क्षीणानि, कथम् ? सदा सर्वकालम्, कथम्भूता भुजगोपायाः ? दुःसदा दुर्गम्याः, युक्तमेतत्, स्यात्, का ? गोपाया रक्षा, कथम् ? मुधा एवमेव निष्फलेत्यर्थः, दुर्मुखे दुर्जे इत्यर्थः ॥४८॥

सर्पवेणी विसर्पन्ती दानधारेव दन्तिनः ।
कटयोराकुला भेजे शृङ्खला पादयोरिव ॥४९॥

सर्पवेणीति—भेजे शोभिता, का ? सर्पवेणी पन्नगश्रेणिः। किं कुर्वन्ती ? विसर्पन्ती विजृम्भमाणा, कयोर्विषये ? दन्तिनो गजस्य कटयोः कपोलयोः, केव ? दानधारेव, कथम्भूता सती ? आकुला व्यग्रा तथा पादयोः विसर्पन्ती सती शृङ्खलेव भेजे शुशुभे ॥४९॥

नागायत्तं सुजित्याभिर्नभोऽभूदिव दारितम् ।
नागायत्तं सुजित्याभिर्मायाभिर्नोदितं जनः ॥५०॥

[पादयमकम्]

नागेति—नभो गगनं दारितमिव छिन्नमिव अभूत् सञ्जातम्, काभिः ? सुजित्याभिः सुमहद्बलैः, कथम्भूतं सत् ? नागायत्तं सर्पाधीनं तथा न नागा यदपि त्वगायद् गीतवान्, कोऽसौ ? जनो लोकः कम् ? तं प्रतिविष्णुम्, कथम्भूतम् ? आभिर्मायाभिः कौटिल्यैः तं शत्रुं सुजित्य पराजित्य उदितम् ॥५०॥

दददेऽदोऽदरिद्रोऽरिरद्रिरौद्रोऽरुरादरी ।
दूरादरं दरं दद्रुराद्रा दद्रुर्दरोर्दरी ॥५१॥

[द्व्यक्षरबन्धः]

ददद इति—दददे दत्तवान्, कोऽसौ ? अरिः शत्रुः किम् ? अद एतदस्त्रणम्, कथम्भूतः ? अदरिद्रः पुण्यवान्, पुनः कथम्भूतः ? अद्रिरौद्रः अद्रिरिव रौद्रः पर्वतवद्भयानकः इत्यर्थः, पुनः आदरी[1] आदरवान्, तथा

सदैव कठिनाईके साथ रोकी जाने योग्य नागोंकी प्रवृत्तिने नारायणके सैनिकोंके पैरों तक लटकते कवचोंको फोड़ दिया था। और जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। ठीक ही है क्योंकि दुर्जनके समान साँपका प्रतिरोध भी व्यर्थ है [सदैव दुष्टतापूर्ण भेदिये भी सर्वथा प्रहरियोंसे घिरे किलोंमें घुस जाते हैं। और सुरक्षाको नष्ट करके सब बल नष्ट कर देते हैं] ॥४८॥

कुटिलता तथा चंचलताके साथ फैलती हुई नागोंकी श्रेणियाँ हाथियोंके मस्तकपर मदजलकी धाराके समान लगती थीं। तथा तेजीसे पैरोंमें पहुँचकर शृंखलाकी शोभाको प्राप्त हुई थीं ॥४९॥

सर्पोंकी श्रेणियोंसे व्याप्त आकाश, सरलतासे विजयकी साधक इनके द्वारा विदारण किया समान हो गया था। इस प्रकारसे उठे हुए उस प्रतिनारायणकी क्यों लोगोंने प्रशंसा नहीं की थी ? [अपितु की ही] क्योंकि उसने इन छलोंके द्वारा आसानीसे विजय पा ली थी ॥५०॥

(अन्वय-अदरिद्रः, अद्रिरौद्रः, आदरी अरिः अद् अरुः दददे। अरं दरं दूरात् दद्रुः। आद्रा दरी दद्रुः)।

1. दरं अस्यास्ति दरो। समन्तात् दरी आदरी, सर्वथाभयवानिति व्याख्या प्रकरणानुसङ्गिनी।

ददर्द छिन्नवान्, किम् ? दरं भयम् कस्मात् दूरात्, कथम् ? अरमत्यर्थं तथा ददर्द रक्ष, कोऽसौ ? दरी भयवान्, किम् ? दरं भयं तथा ददर्भयं गतः, के ? आर्द्राः आर्द्रा भयवशात् स्वेदजलकणाङ्कितांगाः तथा च ददुर्गताः, के ? आर्द्राः का ? दरीः कन्दरा इति ॥५१॥

प्रौर्णवीदथ सौपर्णः कीर्णपर्णः फणाभृतः ।
कृष्णोदीर्णोऽर्णवस्याग्निस्तरङ्गानिव घूर्णतः ॥५२॥

प्रौर्णवीदिति—अथारिप्रौढिदर्शनानन्तरं सौपर्णो गरुडः फणाभृतः सर्पान् प्रौर्णवीत् प्रच्छादितवान्, कथम्भूतान् फणाभृतः ? घूर्णतः भ्रमतः, कथम्भूतः सौपर्णः ? कीर्णपर्णः प्रसारितपक्षः, पुनः कृष्णोदीर्णः विष्णुप्रेरितः, क इव प्रौर्णवीत् ? [1]अग्निरिव, कान् ? अर्णवस्य समुद्रस्य घूर्णतः तरङ्गान् ॥५२॥

अरुणत्फाणिनगणानुच्चचार समुद्धृतान् ।
सोऽन्त्राणीव रुषा कर्षन्नुच्चचार समुद्धृतान् ॥५३॥

(समपादयमकम्)

अरुणदिति—अरुणत् रुद्धवान्, कोऽसौ ? स सौपर्णः, कान् ? फणिनगणान् फणिनामिमे फाणिनाः ते च ते गणाश्च तान् सर्पसमूहांस्तथोच्चचार ऊर्ध्वं भक्षितवान् कः ? स सौपर्णः, कान् ? फणिनगणान् कथम्भूतान् ? हृतान् गृहीतान्, पुनः, उच्चचारसमुद्धृतान् उच्चैर्गमनसमुत्क्षिप्तान्, कया ? रुषा कोपेन, किं कुर्वाणि इव ? आकर्षन्निव, कानि ? अन्त्राणि, कथम्भूतः सौपर्णः ? समुत्सहर्षः ॥५३॥

गरो गिरिगुरुर्गौरैररागैरुरगैररम् ।
मुमुचेऽमी चमूमुच्चामाचाममुचोऽमुचन् ॥५४॥

(चतुरक्षरबन्धः)

गर इति—उरगैः सर्पैः गरो गरलं मुमुचे मुक्तः, कथम्भूतो गरः ? गिरिगुरुः पर्वतगरिष्ठः, कथम्भूतैः उरगैः ? गौरैः शुभ्रैः, पुनः, अरागैः दुष्टैः निस्नेहैरित्यर्थः, कथम् ? अरमत्यर्थम्, अमी उरगाः चमूं सेनाममुचन् मुक्तवन्तः, कथम्भूताम् ? उच्चाम्, कथम्भूताः सन्तः ? आचाममुचः भक्षणमुक्ताः, कथम् ? अमा युगपत् ॥५४॥

सर्वथा विभव सम्पन्न, पर्वतके समान कठोर और उग्र तथापि नारायण से भीत शत्रुने इस भीषण प्रहारको किया था। दूरसे ही उसने बहुत कुछ भय दिखाया था। तथापि वह भीत (दरी) था और भयजन्य पसीने आदिका अनुभव कर रहा था। [अथवा भयसे नम गुफाओंमें चला गया था] ॥५१॥

प्रतिनारायण द्वारा नागपाश चलाये जानेके बाद नारायणके द्वारा छोड़े गये और पंख फैलाकर उड़ते गरुड़ों (सौपर्णों) ने शत्रुके नागोंको वैसे ही दबा दिया था जिस प्रकार समुद्रमें लगी बड़वाग्निको लहराती हुई समुद्रकी लहरें दबा देती हैं ॥५२॥

उस गरुड़ने नारायणकी सेनाके ऊपर उड़ते (समुद्धृतान्) नागोंकी पंक्तियोंको रोक दिया था तथा उनको ऊपरसे रौंदता हुआ चला था (उच्चचार)। तथा इस प्रकार मरे हुए नागों (हृतान्) को आँतोंकी तरह क्रोधसे खींचकर चबा गया था (उच्चचार) तथा प्रसन्न (समुद्) था ॥५३॥

(अन्वय—गौरैः, अरागैः, उरगैः, गिरिगुरुः, गरः, अरम् मुमुचे। आचाममुचः अमी उच्चां चमूं अमा अमुचन्।)

---

1. ०च कान् ? तरङ्गान्, किं कुर्वतः ? घूर्णतः, कस्याग्निः ? अर्णवस्य समुद्रस्य वडवानल इत्यर्थः।

आधुनानः करं भानुरापतन्मण्डलस्थितिम् ।
प्रयोगं गारुडं प्राप्य नागदष्टोऽश्वसीदिव ॥५५॥

आधुनान इति—अश्वसीत् उल्ललास । कोऽसौ ? भानुः सूर्यः, किं कृत्वा ? पूर्वं गारुडं गरुडकृतं प्रयोगं प्राप्य, किं कुर्वन् ? मण्डलस्थितिं परिवेषम् आपतन्नागच्छन्, पुनः, करं किरणम् आधुनानः कम्पयन्, क इव अश्वसीत् ? नागदष्टः इव सर्पदष्टपुरुष इव, किं कृत्वा ? पूर्वं प्राप्य, कम् ? प्रयोगम्, कथम्भूतम् ? गारुडम्, किं कुर्वन् ? आपतन्, काम् ? मण्डलस्थितिं मन्त्रचक्रम्, किं कुर्वाणः ? करं हस्तं आधुनानः ॥५५॥

स दिदङ्क्षाममायासीत्पक्षिराजो रुरुत्सया ।
सदिदं क्षाममायासीच्चिन्तयेवाहिमण्डलम् ॥५६॥

स इति—स पक्षिराजो गरुडो दिदङ्क्षां दष्टुमिच्छाम् अयासीत् प्राप्तवान्, कया ? रुरुत्सया रोद्धुमिच्छया, कथम् ? अमा युगपत् तथा आयासीत् खेदमनुभवति स्म, किम् ? इदमहिमण्डलं सर्पवृन्दम्, कयेव ? चिन्तयेव, कथम्भूतं सत् ? क्षामं सत् क्षीणं सदिति ॥५६॥

पलायांचक्रिरे नागा नैव नागान्महानृपाः ।
निस्तुदन्नपि चञ्च्वा तान्गरुत्मान्पर्णवायुना ॥५७॥
वनेऽपूरिरिपूनेव नेयताक्षक्षतायने ।
पूतानेककनेता पू रिक्षकर्यर्यकक्षरि ॥५८॥ (गतप्रत्यागतं द्विकलम्)
(युग्मम्)

पलायाञ्चक्रिरे इति—पलायांचक्रिरे पलायिताः, के ? नागाः सर्पाः, नैव पलायांचक्रिरे महानृपाः नरेन्द्राः, तथा अपूरि आप्यायते स्म, कोऽसौ ? गरुत्मान् गरुडः कानेव ? रिपूनेव शत्रूनेव, क्व ? वने रणे, केन कृत्वा ? पर्णवायुना पक्षवातेन, किं कुर्वन् अपि ? निस्तुदन्नपि कान् तान् नागान् भोगिनः, कया ? चञ्च्वा, कथम्भूते वने ? नेयताक्षक्षतायने नेयाः रथास्तानि चक्राणि अक्षाश्चक्रभ्रमणहेतुकाष्ठानि क्षतानि खण्डितानि अयनानि मार्गाः, नेयानां तानि नेयतानि नेयतानामक्षाः नेयताक्षा नेयताक्षैः क्षतानि अयनानि मार्गा यत्र तत्तथोक्तं तस्मिन्, उक्तं च 'प्राप्ये गम्ये पदार्थे च रथे नेयः प्रवर्तते:, विस्तारे जनके चक्रे तच्छब्दोऽप्यभि-

---

गरुड़के भक्षणसे बचे अत्यन्त निर्मम श्वेत नागोंके द्वारा विपुल मात्रामें ऐसा गरल वमन किया गया था जो पहाड़ोंको भी भारी पड़ता [फोड़ देता] । गरल वमन करनेके साथ ही साथ (अमा) ये नारायणकी श्रेष्ठ सेवाको छोड़कर भाग गये थे ॥५४॥

साँपके द्वारा काटे गये पुरुषके समान नागपाशोंसे ढका गया सूर्य गरुड़-प्रयोगको प्राप्त करके फिर चमक उठा था तथा किरणों (कर) को फैलाता हुआ पूर्णवृत्त रूपको प्राप्त हुआ था [सर्प-दष्ट व्यक्ति भी विषापहार मन्त्रका प्रयोग होते ही साँस लेता है तथा हाथ हिलाने लगता है और फिर अपने वर्णमें लौट आता है] ॥५५॥

पक्षियोंके राजा गरुड़ने प्रतिनारायण द्वारा छोड़े गये नागोंको रोक देनेकी इच्छासे चारों ओर दृष्टिको दौड़ाया था । इसकी दृष्टि उठनेके साथ-साथ ही मड़राता नाग समूह चिन्ताके कारण बिलकुल क्षीण हो गया था ॥५६॥

(अन्वय–पूतानेक-कनेता, पूः गरुत्मान् नेयताक्ष-क्षतायने रिक्षकरि-अर्यकक्षरि वने चञ्च्वा निस्तुदन्नपि तान् नागान् पर्णवायुना । रिपूनेव अपूरि । महानृपाः नैव पलायाञ्चक्रिरे । नागाः पलायाञ्चक्रिरे) ।

अनेकानेक प्राणियोंके पावक विष्णु (क)के वाहन गरुड़ने चोंचसे बिना काटे या खाये उड़ते-उड़ते ही, अपने पंखोंकी वायुके द्वारा ही शत्रुके द्वारा छोड़े सर्प-समूहको उस वनमें

घोषते।' इति। पुनः कथम्भूते ? रिक्षकर्यर्यकक्षरी रिक्षाश्च ते करिणश्च रिक्षकरिणः दिग्गजा मन्दहस्तिन इत्यर्थः, अर्य ऐरावणः कक्षा स्पर्द्धा अर्येण सह कक्षां तुन्दन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति विचित्रत्यये लुप्ते सति अर्यकक्षरः ऐरावणस्पर्द्धाविद्धाः इत्यर्थः, रिक्षकरिणः अर्यकक्षरो यत्र तत् रिक्षकर्यर्यकक्षः तत्र, उक्तं च 'स्वामिनि वीरदे सूर्ये प्रधानेऽपि च वस्तुनि। देवदन्तिनि वै दर्शोर्यशब्दोऽभिधीयते' इति। कथम्भूतो गरुत्मान् ? पूतानेककनेता को विष्णुः पूता अनेके येन स पूतानेकः पवित्रितविश्वजन इत्यर्थः, पूतानेकश्चासौ कश्च पूतानेककः नेता वाहकः पूतानेककस्य नेता पूतानेककनेता, पुनः पूः पवते पूः क्विपि रूपम्, पवमानः स्वशासन इत्यर्थः ॥५७-५८॥

इति मोघं बभूवारिर्मन्त्रयुद्धमयुङ्क्त यत्।
प्रागनालोचितस्यास्मिन् मन्त्रस्यावसरः कुतः ॥५९॥

इतीति—बभूव सञ्जातम्। किम् ? तन्मन्त्रयुद्धम्, कथम्भूतम् ? मोघं निष्फलम् कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण यत् अयुङ्क्त प्रयुक्तवान् कः ? अरिः प्रतिविष्णुः, युक्तमेतत्, अस्मिन् शत्रौ प्राक् पूर्वमनालोचितस्य प्रमाणनयनिक्षेपैः न विचारितस्य मन्त्रस्य कुतः कस्मादवसरः प्रस्तावः स्यादपि तु नेत्यर्थः ॥५९॥

अविस्मरन्पराघातमित्थं कस्यचिदस्मरत्।
यदर्थं यतते शूरः तदर्थं विस्मरेत्कथम् ॥६०॥

अविस्मरन्निति—अस्मरत् कस्यचित् कश्चिच्चिन्तितवान् इत्यर्थः। कोऽसौ ? अरिः, किं कुर्वन् ? अविस्मरन्, कम् ? पराघातं परेषामाघातं शत्रुवधम् ? कथम् ? इत्थमुक्तप्रकारेण, युक्तमेतत्, यदर्थं यन्निमित्तं यतते यत्नपरो भवेत्, कः ? शूरः तदर्थं स चासावर्थश्च तदर्थः तम् कथं विस्मरेत् ॥६०॥

ननूधसि पयोऽस्तीति कुण्डोध्नीनां फलं भवेत्।
समेत्य भुक्तमात्मीयं तत्संभुक्तं मया फलम् ॥६१॥

नन्विति—ननु भवेत् न पुनः स्यात्, किम् ? फलम्, कासाम् ? कुण्डोध्नीनां गवाम्, कथमिति ? ऊधसि पयोऽस्तीति अतः कारणात् समेत्य मिलित्वा यद्धनमात्मीयं भुक्तं तत्संभुक्तमुच्यते तच्च मया प्रतिविष्णुना भुक्तमिति ॥६१॥

रणे प्राणाः सदातिथ्यं प्रीणितास्तथ्यमर्थिनः।
निःशेषास्तस्य ते मेऽस्य भुक्तशेषाः हि कीर्तयः ॥६२॥

उड़ा दिया था, जिसमें रथोंके पहियोंकी हालके द्वारा रास्ते खुद गये थे और बड़े-बड़े बालों वाले (रीक्ष) ऐरावत (अर्य) के समान विशाल हाथी घूम रहे थे। इस प्रकार सर्प ही भाग खड़े हुए थे, बड़े-बड़े राजा स्थिर थे ॥५७-५८॥

शत्रुने जो मन्त्रयुद्ध (अग्निबाण, आदिके द्वारा) चलाया था वह उक्त प्रकारसे निष्फल हो गया था। नारायणके साथ चल रहे युद्धमें विविध दृष्टियोंसे विचार किये बिना ही चलाये गये मन्त्रयुद्धकी सफलताकी संभावना भी कैसे हो सकती थी ॥५९॥

दूसरेके घोर प्रहारको न भूलकर प्रतिनारायणके भट इस प्रकारसे कह रहे थे 'वीरके द्वारा जिस प्रयोजनकी सिद्धिका प्रयत्न किया जाता है उसे कैसे भुलाया जाय ?' ॥६०॥

कुण्डके समान विशाल थन युक्त गायोंका यही फल है कि उनके ऊधस (थन) में दूध होता है। इस प्रकार हमने अपनी जिस सम्पत्तिका सबको बाँटकर उपभोग किया है वही हमारा पवित्र उपभोग है ॥६१॥

---

१. 'प्रहारम्' सुष्ठुतरः।

रण इति—तस्यास्य मे मम रणे सङ्ग्रामे ते प्राणा आतिथ्यं भजन्ते, कथम् ? सदा सर्वदा तथा निःशेषाः समस्ता अर्थिनो याचकाः प्रीणिताः सन्तर्पिताः । कथम् ? तथ्यं परमार्थतः युक्तमेतत्, हि यस्मात् भवेयुः, काः ? कीर्तयः कथम्भूताः ? भुक्तशेषाः भुक्ताच्छेषास्तास्तथोक्ताः भुक्तादुद्धृताः, कोऽयमर्थः ? भुक्तं द्रव्यशरीरादि यास्यति कीर्तयः स्वास्नवो भवन्ति ॥६२॥

भुज्यतेऽवारपारीणं मयैकेनार्जितं यशः ।
सोऽयं लोभो गुणो वस्तु सहभोगो न सह्यते ॥६३॥

भुज्यत इति—यदेकेन एकाकिना मया भुज्यते अनुभूयते, किं कर्मतापन्नम् ? यशः, कथम्भूतं सत् ? अर्जितम्, पुनः अवारपारीणं पारावारगामि सोऽयं लोभः कार्पण्यं गुणो वास्तु यतः कारणात् सहभोगः शत्रुणा सह मिलित्वा भोगो न सह्यते न सोढुं शक्यते मयेति ॥६३॥

अरावणञ्जगद्विश्वं करवै तदविष्णु वा ।
न योक्तव्याजरासन्धं वागितोऽन्या न वर्तते ॥६४॥

अरावणमिति—करवै करोमि, किम् ? तत् जगत् भुवनम्, कथम्भूतम् ? अरावणं रावणहीनं वाऽथवा अविष्णु लक्ष्मणवर्जितम्, कथम्भूतं जगत् ? विश्वं समस्तम्, इतोऽस्याः प्रतिज्ञायाः न वर्ततेऽन्या वाग् वाणी, कथं यथा भवति ? असन्धम् अप्रतिज्ञम् कथम्भूता सती वाणी ? न योक्तव्या व्येञ् संवरणे व्यानं व्यम् "आतः कः" [जै० सू० २।२।३] इत्यनेन सूत्रेण कः, संवरणमित्यर्थः नयेनोक्तं व्यं यथा सा तथोक्ता नीतिप्रतिपादितसंवरेणेत्यर्थः, पुनः कथम्भूता ? अजरा नूतनेति ।

अधुना भारतीयः—ततस्मात् कारणात् करवै, किम् ? जगत् कथम्भूतम् ? अविष्णु नारायणहीनं वाऽथवा अजरासन्धम्, किं कुर्वन् ? अणन् गर्जन् क्व ? अरौ कथम्भूतं जगत् ? विश्वं निखिलम् इतः प्रतिज्ञाया अन्या वाग् न वर्तते न च योक्तव्या न योजनीयेति ॥६४॥

इति चक्रस्य तत्कालमध्यगादभियोगतः ।
अकालचक्रं लोकोऽयमध्यगादभियो गतः ॥६५॥

इतीति—ततस्मात् कारणात् अध्यगात् स्मृतवान्, कोऽसौ ? प्रतिविष्णुः, कम् ? कालमवसरम्,

---

याचकोंकी समस्त इच्छाओंको प्रेमपूर्वक पूर्ण करनेवाले मेरे प्राण समाप्त होकर, निश्चित ही स्वर्गके आतिथ्यको प्राप्त करेंगे । किन्तु तब भी भोगोंसे बची हुई मेरी कीर्ति यहाँ स्थायी होगी तथा उसका कभी अन्त नहीं आयेगा ॥६२॥

मुझ अकेलेके द्वारा ऐसे विशाल यशका उपभोग किया जा रहा है जिसका ओर-छोर ही नहीं है । यह भले ही लोभ हो या गुण हो किन्तु दूसरेके साथ यशका सहभोग सह्य नहीं है ॥६३॥

नायक और प्रतिनायक क्रमशः यही कहते थे कि समस्त संसार बिना रावणका अथवा बिना रामका करता हूँ । इसके सिवा दूसरी प्रतिज्ञा (सन्ध) ही नहीं है और न नीतिशास्त्रके व्याख्यानकी ओटमें (नयोक्तव्या) कोई नयी (अजरा) व्याख्या करके ही इस शपथको तोड़ा जा सकता है ।

श्रीकृष्ण और जरासन्ध भी शत्रुपर (अरौ) गर्जते हुए (अणन्) निखिल विश्वको बिना जरासन्ध या बिना कृष्णका करनेके लिए सन्नद्ध थे । तथा इस प्रतिज्ञाके शब्दों या अर्थमें परिवर्तनके विरुद्ध थे ॥६४॥

इस प्रकारसे बड़ा प्रयत्न करनेपर प्रतिनायकको उस समय चक्रके प्रयोगके अवसर-

---

१. -षाः भुक्तशेषाः तास्तथोक्ताः, भुक्ता उद्धृताः—ज० । २. भवेयुरिति शेषाः—प० ज० ।

कस्य ? चक्रस्य । कस्मात् ? अभियोगतः उद्यमात्, कथम् ? इत्युक्तप्रकारापेक्षया तथा अध्यगात् ज्ञातवान् कोऽसौ ? अयं लोकः किम् ? अकालचक्रं कथम्भूतः सन् ? गतो नियतः, कस्याः सकाशात् ? अभियः अभयादिति ॥६५॥

तथायुधिष्ठिरन्तारं कीर्त्या बलमधिष्ठितम् ।
चिन्तागृहप्रवेशैकप्रारम्भो राममाविशत् ॥६६॥

तथेति—तथा आविशत् प्रविष्टवान्, कोऽसौ ? चिन्तागृहप्रवेशैकप्रारम्भः चिन्तैव गृहं चिन्तागृहं चिन्तागृहस्य प्रवेशश्चिन्तागृहप्रवेशः चिन्तागृहप्रवेशस्य एकः प्रारम्भो यस्य सः तथोक्तः, कम् ? रामं राघवम्, कथम्भूतम् ? रन्तारं क्रीडन्तम्, कया सह ? कीर्त्या, पुनः अधिष्ठितम् कम् ? बलं सैन्यम्, कथम्भूतम् ? आयुधिष्ठि प्रकृष्टानि आयुधानि आयुधिष्ठानि, "तमेष्ठावातिशायने" [जै० सू० ४।१।११४] इत्यनेन सूत्रेणेष्ठप्रत्ययः आयुधिष्ठानि अस्य सन्ति आयुधिष्ठि "ऊेनावतः" [जै० सू० ४।१।४१] इत्यनेन सूत्रेण इन् अतिनिशितास्त्रयुक्तमित्यर्थः ।

अथ भारतीयः—रामं तथा आविशत्, कम् ? युधिष्ठिरम् कथम्भूतम् ? बलम् बलभेदं अधिष्ठितम्, पुनः, कीर्त्या तारम् उच्चम्, शेषमशेषं प्राग्वत् ॥६६॥

असुग्रीवाभियोगार्तमनाशं नरि पौरुषम् ।
विदधेऽनाकुलं सैन्यमनाशं न रिपौ रुषम् ॥६७॥ (समपादयमकम्)

असुग्रीवेति—न विदधे न कृतवत्, किं कर्तृ ? सैन्यम्, किं कर्म ? पौरुषम्, कथम्भूतं सत् ? आकुलं व्यग्रम्, तथा न विदधे, किं कर्तृ ? सैन्यम्, काम् ? रुषम्, क्व ? नरि, कथम्भूते ? रिपौ शत्रौ कथम्भूतं पौरुषम् ? अनाशम् अनश्वरम्, कथम्भूतं सैन्यम् ? अनाशं न विद्यते आशा यस्य तत् अवाञ्छम् अनभिलाषं कलत्रपुत्रादौ अलोभितया स्वस्थम्, पुनः, असुग्रीवाभियोगार्तं सुग्रीवस्याभियोगः सुग्रीवाभियोगः न सुग्रीवाभियोगोऽसुग्रीवाभियोगः असुग्रीवाभियोगेन ऋतम् असुग्रीवाभियोगार्तम् असुग्रीवोद्यमादितम् इति ।

भारतीयः पक्षः—न विदधे न चकार किं कर्तृ ? नकुलस्येदं नाकुलम्, किं कर्म ? पौरुषम्, कथम्भूतम् ? अनाशम् अनश्वरम्, क्व ? नरि, कथम्भूते ? रिपौ, तथा न विदधे, किं कर्तृ ? नाकुलं सैन्यं काम् ? रुषम्, कथम्भूतं सत् ? अनाशमवाञ्छम्, पुनः कथम्भूतम् ? असुग्रीवाभियोगार्तं ग्रीवायामभियोगो येषां ते ग्रीवाभियोगाः असवश्च ते ग्रीवाभियोगाश्च असुग्रीवाभियोगास्तैः ऋतम् असुग्रीवाभियोगार्तं कण्ठगतप्राणादितमित्यर्थः ॥६७॥

की स्मृति आयी थी। किन्तु निखिल विश्व अभयको प्राप्त करके यम (काल) के चक्रके प्रहारकी समाप्तिको जान सका था ॥६५॥

और निर्मल कीर्तिके साथ खेलते (रन्तारम्) तथा तीक्ष्ण शस्त्रोंसे सज्जित (आयुधिष्ठि) सेनाके स्वामी रामका चिन्ता रूपी गृहमें प्रवेशका प्रारम्भ हो गया था [सत्य...के कारण सबसे उन्नत (तारं). बलरामके साहाय्ययुक्त तथा प्रकृत्या मनोहर युधिष्ठिरका भी चिन्ता-गृहमें प्रवेशका मुहूर्त प्रारम्भ हो गया था] ॥ ६६ ॥

श्रीरामने सुग्रीवकी सतत कर्मठताके कारण निःशंक और चिरस्थायी पुरुषार्थको शत्रुके विरुद्ध किया था। तथा घर-द्वारकी चिन्तासे मुक्त सेनाको निराकुल कर दिया था। क्या शत्रुपर क्रोध नहीं किया था ?

श्रीकृष्णने शत्रुके विरुद्ध नकुलका ऐसा पराक्रम कराया था जिससे उसकी सेनाको विजयकी आशा ही समाप्त हो गयी थी। शत्रुपर नकुलको क्रोध अनश्वर था तथा उसके प्राण ग्रीवामें आ गये थे (असु-ग्रीवा-अभियोगार्त) ॥ ६७ ॥

---

१. दन्—प० । २. सैन्यश्चेति सुष्ठुतरः । ३. आर्त—द० ।

योऽपि ना हनुमानाजेर्जुष्टो भेरिरवो गतिः ।
नोऽरुजे तीर्थनीत्याथोऽसौ सहायकमस्तुत ॥६८॥

(गोमूत्रिकागर्भश्लोकः)

य इति—अथ च अहो अस्तुत प्रार्थितवान्, कः ? असावेव हनुमान्, किम् ? सहायकं मित्रसमूहं योऽपि आसोत् कः ? ना पुरुषः हनुमान् कथम्भूतः ? जुष्टः प्रीतः, कस्याः ? आजेः सङ्ग्रामस्य कथम्भूतः ? भेरिरवः गभीररवः पुनः पुनरपि कथम्भूतः ? गतिः, कस्यै ? रुजे[2] सभङ्गाय, केषाम् ? नः अस्माकं भङ्गमुद्देतुं न ददात्यस्माकमित्यर्थः, कया कृत्वा ? तीर्थनीत्या पञ्चाङ्गमन्त्रेणेति ॥६८॥

गोमूत्रिकागर्भश्लोकेन भारतीयपक्षोऽप्यभिधीयते अस्य श्लोकस्य चतुरोऽपि पादान् अधोऽधो लिखित्वा पश्य गोमुत्रिकारूपगर्भः श्लोकः समुत्पद्यते स यथा—

यो	पि	ना	ह	नु	मा	ना	जे
र्जु	ष्टो	भे	रि	र	वो	ग	तिः
नो	रु	जे	ती	र्थ	नी	त्या	थो
सौ	स	हा	य	क	म	स्तु	त

थोऽर्जुनोऽसौ स रुष्टोऽपि नाभेजे हायतीरिह ।
नुरर्थकमनीवोमा नागत्यास्तु तथोतिजे ॥६९॥

(अन्वय—आजेर्जुष्टः, भेरिरवः, तीर्थनीत्या नः अरुजे गतिः यः ना हनुमान्, अथ असौ अपि सहायकम् अस्तुत उ)

युद्धमें तल्लीन, भेरियोंके समान गरजता तथा पंचांग मन्त्रणाके द्वारा हमारी विपत्तियोंका परिहारक जो यह हनुमान् नामका महापुरुष है उसने भी अपने सहायकोंकी प्रशंसा की थी [भारत पक्षमें शिखरयुक्त अर्थात् 'पर्वतोंके स्वामी' भी हनुमान्को जगह हो सकेगा] यही आश्चर्य है ॥ ६८ ॥

(अन्वय—असौ रुष्टोऽपि यः अर्जुनः स इह आयतीः न भेजे ? हा । तथा ऊतिजे अगत्या नुः उमा अर्थकमनीव नास्तु ।)

तलवारके प्रयोगसे दूर जो धनुषधारी अर्जुन था क्या उसने इस युद्धमें उज्ज्वल भविष्यकी नींव नहीं डाली थी ? अपितु अवश्य डाली थी । इस प्रकारके रक्षात्मक युद्धमें थोड़े अनौचित्यके कारण पुरुषकी कीर्ति क्या कमनीय उद्देश्यके लिए नहीं होती है ? अपितु होती ही है ।

यो पि ना ह नु मा ना जे
र्जु ष्टो भे रि र वो ग ति
नो *रु जे ती र्थ नी त्या थो
सौ स हा य क म स्तु त

---

१. -तः अगतिः—दि० ज० । २. -जे भङ्गाय दि० । —जे भयाय दि० ।

य इति—यः सोऽर्जुनः लोकप्रसिद्धः, हा कष्टं ना मेजे नाश्रितवान् ? काः ? आयतीरुत्तरफलानि, कस्मिन् ? इह रणे, क्व सति ? असौ खड्गे सति, कथम्भूतोऽपि ? यशोऽपि तथा नास्तु न भवतु, का ? उमा कीर्तिः, कस्य ? नुः पुरुषस्य अगत्या अनीत्या क्व सति ? इह रणे, कथम्भूते ? ऊर्जिते रक्षाजाते, इव शब्दोऽत्र यथार्थवाची यथा उमा कीर्तिः जायते, कथम्भूता कीर्तिः ? अर्थकमनो अर्थात् कमनी द्रव्यमनोहरा ॥६९॥

हस्तच्युतास्त्रमाकम्पं मीलिताक्षं बलं जलम् ।
वाताहतमिवोत्सृज्य न स्म वेद क्रियान्तरम् ॥७०॥

हस्तेति—न वेद स्म न जानाति स्म न वेदितवदित्यर्थः, किं कर्तृ ? बलं सैन्यम्, किं कर्म ? क्रियान्तरम्, किं कृत्वा ? पूर्वमुत्सृज्य परित्यज्य कम् ? आकम्पम्, कथम्भूतं सत् ? हस्तच्युतस्तास्त्रं करगलितशस्त्रम्, पुनः कथम्भूतम् ? मीलिताक्षं सङ्कुचितलोचनम्, किमिव न स्म वेद क्रियान्तरम् ? जलमिव, किं कृत्वा ? पूर्वमुत्सृज्य कम् ? आकम्पम्, कथम्भूतं सत् ? वाताहतमिति ॥७०॥

दूरक्षेशविभीमोऽस्मिन्निति वेपथुमीयुषि ।
त्रस्तं युद्धे परं सैन्यं विजगाहे विभीषणः ॥७१॥

दूरक्ष इति—विजगाहे विलोडितवान्, कोऽसौ ? विभीषणो रावणानुजः, किम् ? सैन्यम्, कथम्भूतम् ? त्रस्तम्, क्व ? अस्मिन् युद्धे, कथम्भूते वेपथुं कम्पं ईयुषि गतवति कथम् ? इत्युक्तप्रकारापेक्षया, कथम्भूतः ? दूरक्षेशविभीमः दुःखेन रक्ष्यते दूरक्षः घर्तुमशक्या इत्यर्थः दूरक्षश्चासावीशश्च दूरक्षेशः दूरक्षेशेन विभीमः दूरक्षेशविभीमः दुर्धररावणभयानकः इत्यर्थः, कथम्भूतं तत्सैन्यम् ? परमुत्कृष्टमिति ।

भारतीयः—विजगाहे कोऽसौ ? भीमः, किम् ? परमन्यत् सैन्यम्, कथम्भूतं सत् ? त्रस्तम्, क्व ? अस्मिन् युद्धे, कथंभूते ? वेपथुम् ईयुषि, कथम् ? इत्युक्तप्रकारापेक्षया, पुनः कथम्भूते ? दूरक्षे दुष्टरक्षे, कथम्भूतं सैन्यम् ? शवि शवान्यस्य सन्ति शवि मृतकयुक्तं कथम्भूतो भीमः ? विभीषणो रौद्रः ॥७१॥

अजित्वान्यं श्रिया विष्णोररिरंसोरसी सरत् ।
संमुखं चक्रमुच्चोतैररिरंसोरसीसरत् ॥७२॥ (समपादयमकम्)

अजित्वेति—असीसरत् प्रेरितवान्, कोऽसौ अरिः प्रतिजिष्णुः, किम् ? चक्रम्, किं कृत्वा ? पूर्वमजित्वा अनभिभूय, कम् ? अन्यं विष्णुम्, किं कुर्वन् ? सरत् गच्छत्, के ? अंसोरसी स्कन्धवक्षसी, कथं यथा भवति ?

सेनाने काँपनेके सिवाय और दूसरीको उस समय नहीं जाना था। उसके हाथोंसे शस्त्र गिर गये थे, आँखें बन्द कर ली थीं तथा वह हवासे बरसाये गये पानीके समान वायु-रोगसे पीड़ित होकर अचेतन (जड़म्) हो गयी थी ॥ ७० ॥

उक्त प्रकारसे घोर कम्पको करानेवाले इस दारुण युद्धमें दुष्ट राक्षसराज रावणसे सर्वथा डरे हुए विभीषणने डरते-डरते दूसरे (रामकी) सेना में प्रवेश किया था।

[(अन्वय—दूरक्षे, शवि वेपथुमीयुषि अस्मिन् युद्धे विभीषणः भीमः त्रस्तं परं सैन्यं विजगाहे।) बड़ी कठिनाईसे आत्म-रक्षा योग्य, शवोंसे पटे हुए, अतएव सर्वथा कँपा देनेवाले इस महाभारतमें अत्यन्त भयंकर भीम पाण्डवने डरी हुई शत्रुकी सेना पर आक्रमण कर दिया था] ॥ ७१ ॥

(अन्वय—अन्यं अजित्वा अंसोरसि उच्चोतैः संमुखं सरत् अरिः श्रिया अरिरंसोः विष्णोः चक्रम् असीसरत् ।)

शत्रुपर विजय पाये बिना ही कन्धों और छातीको फुलाकर विष्णुके सामनेसे

---

१. दुः दुष्टात् रावणात् विशेषेण भीतिं गतः इति सुष्ठुतरः ।

संमुखम्, कैः ? उद्योतैः प्रकाशैः, कस्यां सौरसौ ? विष्णोः, कथम्भूतस्य ? अरिरंसोः अक्रीडितुमिच्छोः, कया सह ? श्रिया लक्ष्म्येति ॥७२॥

स प्रभाविक्रमं भूमेः कामुको नमयन् परान् ।
वामोऽथ चक्रं वक्रोऽरिः प्रमुमोच न विक्रमम् ॥७३॥

(गूढचतुर्थपादः)

स इति—अथ चक्रग्रहणानन्तरं स अरिः प्रतिविष्णुः चक्रं प्रमुमोच प्रयुक्तवान्, कथम्भूतम् ? प्रभाविक्रमं प्रभवनशीलवृत्ति, किं कुर्वन् प्रमुमोच ? नमयन् नम्रीकुर्वन्, कान् ? परान् स्तब्धवृत्तान् शत्रून्, कथम्भूतोऽरिः ? भूमेः कामुकः कामी, पुनः वामः प्रतिकूलः, पुनः वक्रः कुटिलः, स अरिः विक्रमं पराक्रमं न प्रमुमोच ॥७३॥

सस्रेरुस्रैः सुसंसस्रे सीरिसीरासिरासरत् ।
सा रराम रसा सारा सुराः सस्रंसिरेऽसुराः ॥७४॥ (द्व्यक्षरश्चन्द्रः)

सस्रेरिति—सुसंसस्रे संकुचितम्, कैः ? उस्रैः किरणैः, कस्य ? सस्रेः सूर्यस्य तथा आसरत् विजृम्भते स्म, कोऽसौ ? सीरिसीरासिः सीरो हलं एव असिः खड्गो यस्य सः सीरासिः स चासौ सीरो हलधरो बलभद्रः तथा ररास ध्वनितवती काऽसौ ? सा रसा पृथ्वी, कथम्भूता ? सारा सारभूता तथा सस्रंसिरे पतिताः, के ? सुराः देवाः तथा सस्रंसिरे, के ? असुराः दानवाः ॥७४॥

अरथाश्वं हरिर्युद्धमध्यवासादसिन्धुरम् ।
वीक्ष्यास्त्रं विदधत्सैन्यमध्यवासादसिंधुरम् ॥७५॥ (समपादयमकम्)

अरथेति—अध्यवासात् गृहीतवान्, कोऽसौ ? हरिर्विष्णुः कम् ? असिं खड्गम्, कथम्भूतम् ? धुरं प्रधानम्, किं कुर्वन् ? विदधत् कुर्वन्, किम् ? युद्धं रणम्, कस्मात् ? अध्यवासात् निश्चयात्, किं कृत्वा ? पूर्वं वीक्ष्यावलोक्य किम् ? अस्त्रं चक्रम्, किं कुर्वत् ? विदधत् किम् ? सैन्यम्, कथम्भूतम् ? अरथाश्वं रथवाजिहीनम्, पुनः असिन्धुरं गजरहितम् ॥७५॥

गुजरनेवाले शत्रु (जरासन्ध और रावण) ने लक्ष्मीके संग विलाससे विमुख नारायणके चक्रको चलाये जानेकी प्रेरणा दी थी ॥ ७२ ॥

अधिकसे अधिक पृथ्वीको जीतनेके लिए आतुर, विपरीतगामी और कुटिल शत्रु प्रतिनारायणने भी अत्यन्त तीक्ष्ण तथा कार्यकारी चक्रको तेजीके साथ छोड़ दिया था। जिसे देखकर शत्रु स्तब्ध रह गये थे क्योंकि उसने विक्रमको नहीं छोड़ा था ॥ ७३ ॥

(अन्वय—सस्रेः उस्रैः सुसंसस्रे, सीरि सीरासिः आसरत्, सा सारा रसा ररास, सुराः असुराः सस्रंसिरे ।)

सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें पूरा तौरसे छिप गयी थीं, हलधर (बलराम) की हलरूपी तलवार चारों ओर वार कर रही थी, रत्नगर्भा समग्र पृथ्वी ही चीत्कार कर उठी थी तथा सुर और असुर दोनोंका ही मान मर्दन हो गया था ॥ ७४ ॥

(अन्वय—हरिः असिं वीक्ष्य धुरं अस्त्रं अध्यवासात् युद्धं विदधत, सैन्यं अ-रथाश्वं असिन्धुरं विदधत्)

नारायणने दारुण खड्ग-युद्धको देखकर सर्वश्रेष्ठ अस्त्र (चक्र) को ही उठा लिया था। तथा युद्धको करते हुए शत्रुसेनाको बिना रथोंको, बिना घोड़ोंको और बिना हाथियोंको कर दिया था ॥७५॥

आज्ञासमापनीयेन विष्णुनैवास्त्रमैक्ष्यत ।
तेनैव तद्यशः केन निःशेषं समभुज्यत ॥७६॥

आज्ञेति—ऐक्ष्यतावलोकितम्, किम् ? अस्त्रं चक्रम्, केनैव ? विष्णुनैव, कथम्भूतेन ? आज्ञासमापनीयेन प्रतिज्ञानिर्वाहिकेन, युक्तमेतत्, तेनैव विष्णुनैव तद्यशस्तस्य विष्णोः यशस्तद्यशः निःशेषं समस्तं केन समभुज्यत केन संभुक्तम् अपितु न केनापीति ॥७६॥

न तद्भुजतटं गच्छन्न रराज स्यदारुणम् ।
अर्कोऽञ्जनाद्रिपर्वेव नरराजस्य दारुणम् ॥७७॥ (समपादयमकम्)

नेति—न न रराज अपितु रराजैव द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति श्रुतेः । किं कर्तृ ? तत् चक्रम्, किं कुर्वत् ? गच्छत्, किम् ? भुजतटं, कथम्भूतम् ? दारुणम्, कस्य ? नरराजस्य, कथम्भूतम् चक्रम् ? स्यदारुणं स्यदे वेगेऽरुणं लोहितमित्यर्थः, क इव रराज ? अर्क इव, किं कुर्वन् ? गच्छन्, किम् ? अञ्जनाद्रि पर्व अञ्जनगिरितटमिति ॥७७॥

भियेदमिति नैकोऽपि जज्ञे तत्केशवः परम् ।
यस्यांसमगमच्चक्रं बोढा भारं हि बोधति ॥७८॥

भियेति—इदमितिकृत्वा एकोऽपि जनो न जज्ञे न ज्ञातवान्, किम् ? चक्रम्, कया ? भिया भयेन परं केवलं जज्ञे ज्ञातवान्, कोऽसौ ? स केशवः, किम् ? तच्चक्रम् अगमत् गतम्, किं कर्तृ ? चक्रं कम् ? अंसं स्कन्धम्, कस्य ? यस्य केशवस्य, युक्तमेतत्, बोधति जानाति, कोऽसौ ? बोढा वाहकः, कम् ? भारम्, कथम् ? हि स्फुटम् ॥७८॥

उत्तमोऽपरतो दुःखमुत्तमोऽभ्युदयोऽन्यतः ।
आसीदतिक्रमं तस्मिन्नासीदति रवाविव ॥७९॥ (अर्द्धपादादियमकम्)

उत्तम इति—आसीत्, किम् ? दुःखम्, कथम्भूतम् ? उत्तमः उद्गतान्धकारम्, कथम् ? अपरतः पृष्ठतः तथा आसीत् कोऽसौ ? अभ्युदयः, कथम्भूतः ? उत्तमः उत्कृष्टः अन्यतोऽग्रतः, क्व सति ? तस्मिन् चक्रे, किं कुर्वति सति ? अतिक्रमम् आसीदति आगच्छति, कस्मिन्निव ? रवाविव सूर्य इवेति ॥७९॥

अपनी प्रतिज्ञाके सफल निर्वाहकर्त्ता उस नारायणने ही इस अस्त्र (चक्र) के चमत्कारको जाना था । उनके सिवा इस अस्त्रके सम्पूर्ण यशका दूसरा कौन उपभोग कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं कर सकता है ॥ ७६ ॥

(अन्वय—नरराजस्य दारुणं भुजतटं, अञ्जनाद्रिपर्व अर्क इव गच्छन् स्यदारुणं तद्(अस्त्रं) न न रराज ?)

नरलोकके श्रेष्ठ नारायणकी भीषण भुजामें, आये उस अत्यन्त वेगशाली तथा अग्निज्वालाके समान लाल चक्रकी अद्भुत शोभा नहीं नहीं हुई थी ? अपितु वह अंजन-गिरिके तटपर पहुँचे सूर्यके समान देदीप्यमान हुआ था ॥ ७७ ॥

यह चक्र है, और कितना भयानक है यह एक भी व्यक्तिको पता न लगा था । केवल नारायण ही-ने इसके महत्त्वको समझा था, क्योंकि वह उसके कन्धेपर था । उचित ही है वाहक ही वस्तुके भारको जानता है ॥ ७८ ॥

सूर्यके समान अकस्मात् उड़ते हुए चक्रके चलते रहने पर उसके पीछे सर्वत्र फैले अन्धकारके समान दुःख छा जाता था । और उसके आगे-आगे सर्वोत्तम प्रकाश फैल जाता था ॥ ७९ ॥

चक्रं दुःसहमालोक्य चक्रन्दुः सहसारयः । (अर्द्धपादादियमकः)
मृतोत्पन्नेव साश्वा साश्वासा सा वैष्णवी चमूः ॥८०॥
(शृङ्खलायमकः)

अन्वयः दुःसहं दुर्द्धरं चक्रमालोक्य सहसा शीघ्रं चक्रन्दुः क्रन्दितवन्तः । तथा सा वैष्णवी चमूः मृतोत्पन्नेवासीत् पूर्वं मृता पश्चाल्लब्धजन्मेव कथम्भूता ? साश्वा सहया, पुनः साश्वासा[1] आश्वासवती ॥८०॥

हस्तच्युते गते क्वापि कीदृशोऽप्यनुशेरते ॥
साम्राज्यमूलेऽतीतेऽपि तादवस्थ्यं ययौ रिपुः ॥८१॥

हस्तच्युत इति—कीदृशोऽपि पुरुषाः अनुशेरते पश्चात्तापं कुर्वन्ति, क्व सति ? वस्तुनि हस्तच्युते करपतिते पुनः क्व ? क्वापि गते असौ रिपुः शत्रुः तादवस्थ्यं ययौ गतवान्, क्व सति ? साम्राज्यमूले हस्त्यश्वरथपदातिहेतुभूते चक्रेऽतीतेऽपि लोचनगोचरमतिक्रान्तेऽपि ॥८१॥

कृपया नापि मोहेन हस्तप्राप्तं हि दुस्त्यजम् ॥
किन्तु शत्रूत्तरप्रौढिं शुश्रूषुः स व्यलम्बत ॥८२॥

कृपयेति—हि यस्मात् कारणात् न स्यात् किम् ? वस्तु, कथम्भूतम् ? दुस्त्यजम्, कया ? कृपया तथा न स्याद्वस्तु दुस्त्यजम्, केनापि ? मोहेनापि, कथम्भूतं सत् ? हस्तप्राप्तं करगतं किन्तु व्यलम्बत कालयापनां चकार, कः ? स विष्णुः, कथम्भूतः सन् ? शुश्रूषुः आकर्णयितुमिच्छुः, काम् ? शत्रूत्तरप्रौढिं शत्रोरुत्तरकालीनसामर्थ्यम् द्वयोः श्लोकयोर्दृष्टान्तालङ्कारः ॥८२॥

अत्यन्तकोऽपकारेण निरास्थन्न तदानवम् ।
अत्यन्तकोपकारेण निरास्थं न तदानवम् ॥८३॥
(मुरजबन्धः गोमूत्रिकासमुद्गकम्)

अत्यन्तक इति—न निरास्थत् न निक्षिप्तवान्, कोऽसौ ? अत्यन्तको विष्णुः, किम् ? तदानवम् अनोः इदम् आनवं रथस्येदं चक्रमित्यर्थः, केन कृत्वा ? अपकारेण, कथम्भूतेन ? अत्यन्तकोपकारेण अतिशयेन कोपकारिणा, कथम्भूतं चक्रम् ? निरास्थं चञ्चलम्, पुनः नतदानवं नता दानवा येन तत् ॥८३॥

आते हुए चक्रको देख शत्रुसमूह एकाएक चीत्कार कर उठा था क्योंकि उसकी मार बड़ी कठिनाईसे झेली जा सकती थी। किन्तु अश्ववाहिनी प्रधान नारायणकी सेना मरके जी उठी थी तथा उसे अपनी विजयका भरोसा हो गया था ॥ ८० ॥

कैसा भी साहसी पुरुष हो किन्तु कोई वस्तु हाथसे गिर जाय और कहीं चली जाय तो पश्चात्ताप करता है। किन्तु साम्राज्यके मूलाधार हस्ति-अश्व-पदाति-रथके चक्र द्वारा समाप्त कर देनेपर भी शत्रु ज्योंका त्यों रह गया था अर्थात् जड़ हो गया था ॥ ८१ ॥

जिस पदार्थका छोड़ना असम्भव है यदि वह हाथकी पहुँचमें आ जाय तो दयाकी प्रार्थनाके कारण या मोहके उदयसे भी विलम्ब नहीं किया जाता है, तथापि नारायणने विलम्ब किया था क्योंकि वे शत्रुके उत्तर देनेकी कुशलता या डींगको सुनना चाहते थे ॥ ८२ ॥

(अन्वय—अत्यन्तकः निरास्थं, नत-दानवं तत् आनवं अत्यन्तकोपकारेण अपकारेण न निरास्थत् ।)

परम पुरुष नारायणने न रुकनेवाले और दानवोंको भी पराजित करनेमें समर्थ उस

---

१ सा सहाश्वेन वर्तमाना: प० ज० ।   २. —तिलकाणेऽतीतेऽपि प० ज० ।

व्यापिपद्व्यापिपक्षोऽसौ रूक्षोरू क्षोभपीवरौ ।
तौ भुजौ भूभुजौ पूर्वं वाचो वाचोद्धुरो विभुः ॥८४॥

(गोमूत्रिकागतानुगतिकबन्धः)

व्यापिपदिति—पूर्वं प्रथमम् उवाच उक्तवान्, कोऽसौ ? असावेव विभुर्लक्ष्मणः, कथम्भूतः ? उद्धुरः उत्कटः, कया ? वाचा वाण्या पश्चात् व्यापिपत् व्यापारितवान्, कः ? स लक्ष्मणः, कौ ? तौ भुजौ बाहू, कथम्भूतौ ? भूभुजौ भुवं भुञ्जाते इत्येवंशीलौ तथा व्यापिपत्, कः ? सः, कौ ? रूक्षोरू कर्कशोरू, कथम्भूतौ ? क्षोभपीवरौ क्षोभपुष्टौ, कथम्भूतः सन् ? व्यापिपक्षः व्यापी पक्षो यस्य स तथोक्तः प्रतिपक्षको रामो यस्येत्यर्थः ।

भारतीयः—पूर्वमुवाच, कः असावेव विभुर्नारायणः, कथम्भूतः ? उद्धुरः, कया ? वाचा तथा पश्चात् व्यापिपत्, कः ? सः, कौ ? तौ भुजौ, कथम्भूतौ भूभुजौ तथा रूक्षोरू, कथम्भूतौ ? क्षोभपीवरौ, कथम्भूतः सन् ? व्यापिपक्षः व्यापिनी पक्षा यस्य सः कामव्यापारचतुरा लक्ष्मीर्यस्येति ॥८४॥

भोगः स एव सा संपन्नम हानिश्च यस्यते ।
सीतार्पणेऽपवादो मे न महानिश्चयस्य ते ॥८५॥

(समपादयमकम्)

भोग इति—हे दशानन ! स एव भोगो दशाङ्गलक्षण चक्रिणोऽर्द्धचक्रिणोऽपि तस्य सम्भवात् उक्तं च "सैन्यनाट्यनिधिरत्नभोजनान्यासनं शयनभाजने परम् । वाहनेन सममित्थमीप्सितं भोगमाप स दशाङ्गमीश्वरः ॥" सैव संपल्लक्ष्मीः, तथा न स्यात्, कोऽसौ ? अपवादो अपकीर्तनम्, क्व सति ? सीतार्पणे जानकीदाने, कस्मै ? मे मह्यम्, किं कुर्वाणाय ? यस्यते यत्नं कुर्वते बाधका न स्यात्, का ? हानिश्च, कस्य ? ते तव, कथम्भूतस्य ? महानिश्चयस्य गृहीतप्रौढप्रतिज्ञस्य अतएव नम नमस्कुरु[1] ।

भारतीयः—हे जरासन्ध ! सीतार्पणे भूमिदाने मे नारायणायेति । अन्यत्समम् ॥८५॥

रथ (अनु) के अंग चक्र नहीं छोड़ा था, यद्यपि शत्रुके अपकारीके द्वारा इसे (नारायणको) अत्यन्त कुपित हो जाना चाहिए था ॥ ८३ ॥

(अन्वय—उद्धुरः व्यापिपक्षः, रूक्षोरुः असौ विभुः पूर्वम् उवाच वाचा क्षोभपीवरौ तौ भू-भुजौ भुजौ व्यापिपत् ।)

अत्यन्त उद्धत तथापि राम (पद्म) के वशीभूत और कर्कश जंघाधारी इस स्वामी (लक्ष्मण) ने पहले शत्रुको शब्दोंसे ही ललकारा था और वचनोंके साथ ही क्षोभके कारण तनी और पृथ्वीके भोगमें समर्थ अपनी दोनों भुजाओंका व्यापार भी किया था [संसारके उद्धारक लक्ष्मीसे सर्वदा अनुगत भगवान् (कृष्ण) ने पहले वचन कहे थे और बोलनेके साथ-साथ कर्कश जंघाधारी क्रोधमें सबसे प्रबल, उन दोनों शत्रु भूपतियोंने भुजाओंको चला दिया था] ॥ ८४ ॥

हे रावण ! जिसके दशों प्रकारके भोग तदवस्थ हैं तथा विभवपर आंच नहीं आती उस तुम्हें नमन करनेमें क्या हानि है ? यदि तुम सीताजीको मुझे वापस कर दोगे तो तुम्हारी कोई अकीर्ति नहीं होगी क्योंकि तुम दृढ़ तथा उदार निश्चय करनेवाले हो । [हे जरासन्ध, तुम्हारे समस्त भोग तथा लक्ष्मी कृष्णके सामने नत होने पर भी रंचमात्र नहीं घटेंगे । तथा भूमि (सीता) मुझे वापस कर देनेसे तुम महान् निश्चय करनेवाले ही कहलाओगे ॥ ८५ ॥

---

1. स मामिति शेषः । प० ज० ।

प्रत्याहतं सुराजानन्नामकीर्तिरिति स्म सः ।
प्रत्याह तं सुरा जानन्कथाक्षेपेण शात्रवः ॥८६॥

(विषमपादयमकम्)

प्रत्याहेति—प्रत्याह स्म प्रत्युत्तरं गोचरीकृतवान्, कोऽसौ ? स शत्रुरिति विगृह्य स्वार्थे ण: शात्रवः प्रतिविष्णुः, कम् ? तं विष्णुम्, किं कुर्वन् ? आनन् श्वसन्, केन ? कथाक्षेपेण, कथम्भूतः सन् ? सुराजा शोभनश्चासौ राजा च सुराजा नीतिज्ञ इत्यर्थः, कथम्भूतम् ? [1]प्रत्याहतम्, किं कुर्वन् ? जानन्, कथमिति ? नामकीर्तिरिति त्रैलोक्यकण्टककीर्तनमिति, कथम्भूतः सन् ? सुराः[2] कोमलध्वनिरिति ।

भारतीयः—नामकीर्तिरिति जरासन्धकीर्तनमिति शेषं सुगमम् ॥८६॥

रजश्छलेन दुर्दानं सुदानाः कृपयासवः ।
दृष्टोऽपन्थास्त्वया मार्गं दावाग्निर्नापि लङ्घ्यते ॥८७॥

रज इति—रजोऽविवेकलक्षणं दुर्दानं स्यात्, केन ? छलेन छद्मना तथा असवः प्राणाः सुदानाः स्युः, कया ? कृपया अतः मार्गमपि लङ्घ्यो नास्तीति, कोऽसौ ? अपन्थाः, कम् ? मार्गम्, कथम्भूतः सन् ? दृष्टः त्वया तथा दावाग्निरपि न लङ्घ्यत इति ॥८७॥

त्रासो विरूपरेखा वा छायाया यदि वा हृतिः ।
मानिनः शठ मन्यन्ते तृणायापि न नायकम् ॥८८॥

त्रास इति—हे शठ ! न मन्यन्ते, के ? मानिनः, कम् ? नायकं नेतारम्, कस्मै ? तृणायापि यदि चेद्विद्यते त्रास उद्वेजनं वा अथवा विरूपरेखा रौद्रत्वं वा अथवा छायाया लोकव्यवहारस्य हृतिः तथा मानिनो मानं ज्ञानमस्ति येषां ते मानिनः ज्ञानिनः परीक्षकाः न मन्यन्ते, कम् ? नायकं प्रधानरत्नम्, कस्मै ? तृणायापि यदि विद्यते त्रासो भङ्गः वा विरूपरेखा असौन्दर्यं वा छायायाः कान्तिविशेषस्य हृतिः ॥८८॥

(अन्वय—नामकीर्तिः सः शात्रवः सुराः कथाक्षेपेण प्रत्याहतं जानन् तं सुराजानं इति प्रत्याह स्म ।)

निन्दनीय ख्यातिका पात्र अथवा अपने विचित्र नामके कारण ही ज्ञात वह शत्रु रावण या जरासन्ध यह जानता था कि वार्तालापकी समाप्ति होते ही वह मृत है फलतः मदोन्मत्तकी भाँति उसने आगेके वाक्य कहे थे ॥ ८६ ॥

कपट करके यदि कोई धूल भी माँगे तो वह देना दुष्कर है और कृपाके लिए प्राण भी देना सुन्दर है । तुम्हारे द्वारा दिखाया गया मार्ग (नमन) विपरीत मार्ग है । उसपर उसी तरह नहीं चला जायेगा जैसे दवाग्निमें नहीं चला जाता है ॥ ८७ ॥

अरे दुष्ट, स्वाभिमानी व्यक्ति यदि दबाये जायें, अथवा उनके अनुरूप रंचमात्र आकृति भंग हो, अथवा उनकी परछाईंका भी पददलन हो तो वे अपने नेताको भी तिनका बराबर नहीं मानते हैं [रत्न-पारखी लोग नायक मणिमें यदि रंचमात्र दरार हो या असौन्दर्यजनक रेखा हो या चमकमें कमी हो तो उसे घास-फूसके बराबर भी नहीं कूतते हैं] ॥ ८८ ॥

---

१. 'सुराजानम्' विग्रहः सुगुत्तरः ।
२. सुरया अभिभूतः इति सुराः ।

शिश्रीषतोऽन्यमौत्सर्यि पारावारीणमात्मनः ।
यशः संकुचति व्याप्तं किं वा नेनार्जयिष्यते ॥८९॥

शिश्रीषत इति—संकुचति संकोचं प्राप्नोति, किं कर्तृ ? यशः, कस्य ? शिश्रीषतः सेवितुमिच्छोः पुरुषस्य, कम् ? अन्यमपरं जनं शत्रुमित्यर्थः, कस्यै ? ईत्सर्यि वर्द्धितुमिच्छायै, किम् ? यशः, कस्य ? आत्मनः, कथम्भूतम् ? व्याप्तं प्रसृतम्, पुनः कथम्भूतम् ? पारावारीणं पारावारमवगाहि अत एव वाथवा किमनेन परसेवनेनार्जयिष्यते अपितु न किमपीति ॥८९॥

विधुरास्ते अपापेतः पराश्रये च ये स्थिताः ।
विधुरास्ते अपापेतः पूष्णो नास्योदये रविः ॥९०॥

(विषमपादयमकम्)

विधुरिति—ये पुरुषाः विधुराः भीताः ये च पराश्रये स्थिताः, कथम्भूताः सन्तः ? अपापेतः अपामपयन्ति क्विप् पिति कृति तुक् अपापेत इति सिद्धं रूपं निर्लज्जा इत्यर्थः, युक्तमेतत्, आस्ते तिष्ठति, कोऽसौ ? विधुश्चन्द्रः, क्व ? उदये, कस्य ? पूष्णः सूर्यस्य, कथम्भूतः सन् ? अपापेतः [1]लज्जारहितः तथा नास्ते न तिष्ठति, कोऽसौ ? रविः सूर्यः क्व ? अस्य विधोश्चन्द्रस्योदये ॥९०॥

मा ज्ञाप्यस्मि निरस्त्रोऽहं हस्तेनास्त्रं हि मुच्यते ।
ततस्तलप्रहारेण मुञ्चास्त्रं क्राथयामि ते ॥९१॥

मेति—माज्ञासि हे विष्णो मा बुध्यतां त्वया अस्मि भवामि, कोऽसौ ? अहम्, कथम् ? निरस्त्रोऽस्त्ररहितः, हि यस्मात् कारणात् मुच्यते किं कर्मतापन्नम् ? अस्त्रम्, केन ? हस्तेन, ततस्तस्मात् मुञ्च कोऽसौ ? त्वम्, किम् ? अस्त्रं चक्रं ते तवास्त्रं तलप्रहारेण करतलघातेन क्राथयामि हन्मि ॥९१॥

इत्याकर्ण्य तमुत्साहं साहंकारं सुरावली ।
सुरावलीला साशंसं साशं संप्रशशंस तम् ॥९२॥

इतीति—सुरावली देवश्रेणी तं लोकोत्तरं प्रतिविष्णुं संप्रशशंस प्रशंसितवती, कथम्भूतम् ? साहंकारं सगर्वम्, किं कृत्वा ? पूर्वं तम् उत्साहं आकर्ण्य श्रुत्वा, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, पुनः साशंसं सप्रशंसम्, पुनः

दूसरेकी सेवा करनेकी इच्छा करनेवालेका सारे लोकमें व्याप्त तथा आसमुद्र गीत यश भी घट जाता है। तब परसेवा या नमनको करके अभ्युदयके लिए प्रयत्नशील व्यक्तिको क्या मिलेगा ? ॥ ८९ ॥

वे महाभीरु हैं और निर्लज्ज हैं जो दूसरोंके सहारेसे जीवन यापन करते हैं। सूर्यके उदय हो जानेपर कान्ति और त्रिवलिको छोड़कर भी चन्द्रमा (विधुः) रहता है (आस्ते)। किन्तु प्रतापी सूर्य इस (चन्द्रमा) के उदय होनेपर कदापि नहीं रुकता है ॥ ९० ॥

मैं निरस्त्र (खाली हाथ) हूँ ऐसा मत समझो, क्योंकि मैं हाथके द्वारा ही तुम्हारे शस्त्रको बेकार कर दूँगा। अपने चक्रको छोड़िये। मैं करतलके प्रहारसे ही उसे तोड़ देता हूँ ॥ ९१ ॥

प्रतिनारायणके इस साहसको सुनकर युद्ध देखने आयी तथा सुराके प्रभावसे विनोदलीन देवपंक्तिने स्वाभिमानको न छोड़नेवाले शत्रुका गुणानुवाद करते हुए (साशंसं) तथा आशाके साथ (साशं) इसकी प्रशंसा की थी ॥ ९२ ॥

1. त्रिपरिवेषरहित इति यावत् ।

सार्धं सवाञ्छम्, कथम्भूता सुरावली ? सुरावलीला[1] शोभनो रावो यस्याः सा सुरावा मधुरध्वनि लीला क्रीडा यस्याः सा ॥९२॥

शौर्यं ह्रीश्च कुलीनस्य स्वे नुः सन्मार्गलाञ्छनम् ।
वस्वितीवोक्तये भेर्यः स्वेनुः सन्मार्गलाञ्छनम् ॥९३॥

(समपादयमकम्)

शौर्यमिति—स्वेनुर्ध्वनन्ति स्म, काः ? भेर्यः, कथम् ? सन्मार्गलाञ्छनं मन्दिरार्गलोल्लङ्घनम्, कस्यै ? उक्तये उक्तिनिमित्तम्[2], कथं शौर्यं पौरुषं, ह्रीश्च लज्जा चेति द्वे स्वे आत्मीये स्यातां तथा स्यात् किम् ? वसु द्रव्यम्, किं स्यात् ? सन्मार्गलाञ्छनं संस्कारो मार्गश्च सतां सत्पुरुषाणां वा मार्गः सन्मार्गस्तस्य लाञ्छनम्, कस्य ? कुलीनस्य नुः पुंसः ॥९३॥

गाथका गाथकाबन्धैः सज्जगुः स्थाम सज्जगुः ।
राशिराशिश्रवन्नाम वन्दिनां गुणवन्दिनाम् ॥९४॥

(गतागतबन्धः)

गाथकेति—गाथकाः मङ्गलपाठकाः गाथकाबन्धैः सत् समीचीनं स्थाम बलं जगुर्गायन्ति स्म तथा वन्दिनां नागरिकाणां राशिः समूहः नामाभिधानम् आशिश्रवत् आश्रावितवान्, कथम्भूतानां वन्दिनाम् ? गुणवन्दिनां गुणस्तवनशीलानां कथम्भूतो राशिः ? सज्जगुः सज्जा गौर्वाणी यस्य स मधुरवचन इत्यर्थः ॥९४॥

देवैर्विमानशालायामास्थितैर्मत्तवारणीम् ।
रणरङ्गस्तयोस्तत्र पूर्वरङ्ग इवाभवत् ॥९५॥

देवैरिति—तयोः विष्णुप्रतिविष्ण्वोः तत्र युद्धे रणरङ्गोऽभवत् संजातः, क इव ? पूर्वरङ्ग इव कैः ? विमानशालायां मत्तवारणीं मत्तालम्बनम् आस्थितैः देवैः देवैरित्यत्र षष्ठ्यर्थे तृतीया ॥९५॥

नामोचितेन चक्रान्तं दोष्णवर्त्याशुचद्धरिः ।
नामोचि तेन च क्रान्तं धैर्यं जगति वैरिणा ॥९६॥

(विषयपादयमकम्)

नामेति—हरिः विष्णुः आवर्त्य भ्रमयित्वा चक्रान्तं चक्रस्वरूपम् अस्त्रम् अमुचत् मुक्तवान्, केनावर्त्य ? दोष्णा बाहुना, कथम्भूतेन दोष्णा ? नामोचितेन कीर्तनयोग्येन तथा तेन वैरिणा प्रतिविष्णुना जगति क्रान्तं प्रसृतं धैर्यं नामोचि न त्यक्तम् ॥९६॥

शिष्टाचार पालनके मुख्य लक्षण शौर्य और लज्जा ही कुलीन पुरुष (नुः) के सगे (स्वे) धन (वसु) हैं। इसकी घोषणा (उक्तये) करनेके लिए ही मन्दिरांचलके परिपार्श्व (अर्गला) को पार करके दूर तक सुनाई देनेवाली भेरियाँ बज उठी थीं ॥ ९३ ॥

मंगलपाठियोंने उत्तमसे उत्तम गुण-गाथाएं बनाकर भटोंकी दृढ़ताका व्याख्यान किया था। तथा शौर्य, औदार्य आदि गुणोंके पुजारी एवं मधुर तथा लयादि युक्त वाणीके धनी वन्दियोंकी श्रेणीने वीरोंके नाम लेकर गुणगान किया था ॥ ९४ ॥

युद्ध दर्शनार्थी एवं विमानशालाके छज्जोंपर जमे हुए देवोंके लिए नारायण-प्रतिनारायणका युद्ध प्रेम ऐसा लगा था मानो वे किसी अभिनयका 'पूर्वरंग' देख रहे थे ॥ ९५ ॥

नारायणने 'यथा नाम तथा गुण' भुजाको घुमाकर चक्रका प्रहार कर दिया था।

---

१. सुरया अवलीला विनोदशीलेति ।

२. –त्तम्, कथमितीव, कथमिति कृत्वा प्रकाश्यते शौर्यं । प० द० ज० । अस्मिन् श्लोके एकस्मिन् पादे सन्मार्गलाञ्छनमिति पाठोऽपेक्षितः व्याख्याकारमतेन ।

तेनार्जितात्मशिरसा श्रीः कथं सा बहिः शिरः ।
इतीवोत्सृज्य सोऽन्याङ्गमुत्तमाङ्गमतोऽग्रहीत् ॥६७॥

तेनेति—तेन वैरिणा आत्मशिरसा निजमस्तकेन श्रीः अर्जिता सा श्रीः कथं बहिः शिरः शिरसो बहिः इतीव हेतोः अतः कारणात् स विष्णुः अन्याङ्गमुत्सृज्य मुक्त्वा उत्तमाङ्गं मस्तकम् अग्रहीत् जग्राह ॥९७॥

ग्रीवा हते क्षरत्तन्त्री वैरराजे समन्ततः ।
धुनी सधातुस्यन्देव वै रराजे समं ततः ॥६८॥

(समपादयमकम्)

ग्रीवेति—ततः शिरच्छेदानन्तरं क्षरत्तन्त्री स्रवन्नाडी ग्रीवा रराजे शुशुभे, क्व सति ? वैरराजे प्रतिविष्णौ हते सति कथम् ? समन्ततः सामस्त्येन, कथम् ? वै स्फुटम्, केव रराजे ? स धातुनिस्यन्दो [1]गैरिकप्रस्रवणा धुनीव नदीव, कथम् ? समं युगपत् ॥९८॥

इत्यघानि द्विषन्देवैर्दिव्यघानिषतानकाः ।
जित्वाघानि स्थितोऽनर्तीदमोघानि स नारदः ॥६६॥

इतीति—विष्णुना द्विषन् वैरी अघानि हतः, कथम् ? इत्युक्तप्रकारापेक्षया देवैः दिवि गगने आनकाः पटहाः अघानिषत आहताः स लोकप्रसिद्धः नारदः ब्रह्मपुत्रः अनर्तीत् नर्तितवान्, कथम्भूतः ? अमोघानि निःफलानि अघानि पापानि जित्वा स्थितः ॥९९॥

सत्रा संभ्रमसंपातैः सत्रासं भ्रमरैश्चिता ।
ता माल्यमालिकाः पेतुस्तामाल्य इव नाकतः ॥१००॥

सत्रेति—ता माल्यमालिकाः पुष्पमालाः नाकतः स्वर्गात् पेतुः पतिताः, कथम्भूताः ? सत्रासं सभयं संभ्रमसंपातैः संभ्रमेण संपातो येषां तैः भ्रमरैः चिताः पुष्टाः, कथम् ? सत्रा [2]सार्द्धम्, कथम्भूता इव ? तामाल्य इव तमालसुमनोनिर्मिता इव ॥१००॥

किन्तु रावण या जरासन्ध रूपी शत्रुने सारे संसारमें फले हुए अपने दुःसाहसको नहीं ही छोड़ा था ॥ ९६ ॥

शत्रुने राजलक्ष्मीको अपने शिर (मस्तिष्क) से अर्जित किया था इसलिए वह शिरसे बाहर कैसे होगी। इस कारणसे ही अन्य अंगोंको छोड़कर उसने केवल उत्तमाङ्ग (शिर) को ही आक्रान्त किया था ॥ ९७ ॥

ग्रीवापर हुए आघातके कारण शत्रुका मस्तक कट जानेके बाद सब तरफ बिखरती हुई और रक्त बहाती हुई नसें देखकर ऐसा लगता था कि किसी नदीसे गेरूका घुला पानी बहाती हुई धाराएं फूट पड़ी हैं ॥ ९८ ॥

इस प्रकारसे नारायणने शत्रुका वध किया था। और देवताओंने आकाशमें पटह बजाये थे। पापोंको जीतकर आत्मस्वरूपमें लीन, लोकमें विख्यात नारद मुनि भी सफलताके उल्लासमें नाच उठे थे ॥ ९९ ॥

तमालके पुष्पोंसे गुंथी हुईके समान वे यशकी मालाओंकी लड़ियाँ फरफराती हुई आकाशसे गिर रही थीं। अत एव उल्लास और वेगके साथ लपकते हुए भौंरे इनके ऊपर मड़रा रहे थे ॥ १०० ॥

---

१. सकम्पम् इति यावत् ।

२. सत्राय यज्ञाय इमे इति सत्रा ।

अदृक्षेतामुभौ सेन्द्रैर्विशेषेण जगद्द्विषन् ।
पौरुषं पुरुषायत्तं मरणं हि विधेर्वशम् ॥१०१॥

अदृक्षेतामिति—सेन्द्रैः उभौ विष्णुप्रतिविष्णू अदृक्षेतां दृष्टौ तयोर्मध्ये जगद्द्विषन् प्रतिविष्णुः विशेषेण दृष्टः, युक्तमेतत् स्यात्, किम् ? पौरुषं पुरुषायत्तं पुरुषप्रयत्नाधीनं मरणं विधेर्वशमधीनं हि स्फुटमिति ॥१०१॥

शुद्धां शुद्धान्तवसतिं संगतः कर्मसङ्गतः ।
मुख्योघावो ददे मुख्यो बाष्पेण त्र्यञ्जलं जलम् ॥१०२॥

शुद्धामिति—ददे दत्तवान्, कोऽसौ ? मुख्योघावः मुख्यानां स्त्रीणाम् ओघावः राज्ञीसमूहः, किम् ? जलम्, कथम्भूतम् ? त्र्यञ्जलं त्रयोऽञ्जलयः परिमाणं यस्य तत्, केन ? बाष्पेणाश्रुणा, कथम्भूतः ? मुख्यः प्रधानः, पुनः कर्मसङ्गतः क्रियासम्बन्धात् शुद्धां पवित्रां शुद्धान्तवसतिम् अन्तःपुरमन्दिरनिवासं सङ्गतः प्राप्तः ॥१०२॥

पुरो रिपोरपारोऽपि तत्तूत्तापातपोऽतपत् ।
विवेशेवावशोऽवेशो नृमानं मानिनीमनः ॥१०३॥

(द्व्यक्षरपादबन्धः)

पुर इति—उत्तापातपः संतापातपः अतपत् जज्वाल, कस्मात् ? पुरोर्महतः तत् तस्मात् रिपोः शत्रोः तथा तु पुनः असौ उत्तापातपः मानिनीमनः विवेश प्रविष्टवान्, कथम्भूतोऽपि ? अपारोऽपि पुनः अवशः अपराधीनः, पुनः अवेशः अव सामस्त्येन गत ईशो यस्य सः निःस्वामिकः, कमिव ? नृमानमिव पुरुषाभिमानमिव ॥१०३॥

हरिः क्रान्तमतं भूतगरिमान्तगतं बत ।
वरिरंसुं तत्र तद्ध्वा तमरिणान्तरतप्यत ॥१०४॥

(अश्वप्लुतमुरजबन्धादितुरगबन्धादिः)

हरिरिति - बत खेदे अतप्यत स्वयं तप्यते स्म हरिः विष्णुः कथम् ? अन्तः अन्तःकरणे, किं कृत्वा ? तत्र रणे अरिणा चक्रेण तं प्रतिविष्णुं तद्ध्वा हत्वा, कथम्भूतम् ? [1]वरिरंसुं हन्तुमिच्छुम्, पुनः भूतगरिमान्तगतं भूतगरिमावसानगतं भूतव्यापारव्याप्तिविपर्ययं प्राप्तमित्यर्थः, पुनः क्रान्तमतम् अनुकूलकारिणम् ॥१०४॥

संसारका शत्रु बनकर आये उस प्रतिनारायणका विमर्द करके स्वर्गके इन्द्रोंने दोनों बातें देख ली थीं कि पुरुषार्थ करना मनुष्यके वशकी बात है और मृत्यु दैवके आधीन है ॥ १०१ ॥

पुण्यकर्मके फलस्वरूप सुरक्षित अन्तःपुरमें आकर विशिष्ट रानियोंके समूहमें भी प्रधानताको पायीं और शिष्ट कर्मकाण्डकी ज्ञाता पटरानियोंने अपने आँसुओंके जलके द्वारा ही मृत पतियोंको तीन अञ्जलियाँ दी थीं ॥ १०२ ॥

(पुरः रिपोः तत् उत्ताप-आतपः आतपत् तु, अपारोऽपि अवशः अवेश नृमानमिव मानिनीमनः विवेश ।)

पहले तो महान् शत्रु (नारायण) के उत्कृष्ट आतंकका वह अपार तेज भभक उठा था किन्तु बादमें विवश तथा नायकहीन मनुष्यके सम्मानके समान वह, मानिनी रानियोंके मनमें प्रवेश कर गया था ॥ १०३ ॥

लौकिक विभवकी चरम सीमाको प्राप्त, अपने ही दुराग्रहपर आरूढ़ तथा नारायण-पर आघात करनेके लिए उद्यत उस शत्रुका चक्रके द्वारा वध करके भी राम या कृष्णको मन ही मन अनुताप हुआ था ॥ १०४ ॥

---

१. विरिंसुं : ज० ।

सत्यतो विभया व्यूहे समुत्पत्या महोरसा ।
सत्यतो विभया व्यूहे समुत्पत्या महोरसा ॥१०५॥

(समुद्गकगोमूत्रिकामुरजादिबन्धः)

सत्यत इति—व्यूहे परिणीता, का ? आ लक्ष्मीः, केन ? पत्या स्वामिना विष्णुनेत्यर्थः, कस्मात् ? अतः प्रतिविष्णुतयात्, क्व ? व्यूहे रणे, कथम्भूता ? सती समीचीना, पुनः विभया विगतविधुरा, पुनः महोरसा तेजोरसा, पुनः समुत्सहर्षा, कथम्भूतेन पत्या ? महोरसा विस्तीर्णवक्षसा, कथं विष्णुना लक्ष्मीर्व्यूहे ? विभया विशिष्टप्रभया प्रतापेनेत्यर्थः, किं कृत्वा ? पूर्वं सत्यतः सत्यात् एनं प्रतिविष्णुं जेष्यामीति निश्चयात् व्यूहे समुत्पत्यागत्य ॥१०५॥

बलिमानर्चयावेद्य बलिमानर्च संयुगे ।
निर्ययौ भूतलोकं तं निर्ययौ भूतलोचितम् ॥१०६॥

बलिमिति—आनर्च पूजितवान्, कोऽसौ ? बलिमान् बलिनोऽस्य सन्तीति बलिमान् विष्णुरित्यर्थः, कम् ? भूतलोकं भूतसमूहम्, क्व ? संयुगे रणे, किं कृत्वा ? पूर्वमावेद्य संकल्प्य तं प्रतिविष्णुं कमावेद्य ? बलिम्, कया कृत्वा ? अर्चया पूजया, कथम्भूतम् ? भूतलोचितम् अवनीतलयोग्यम्, कथम्भूते संयुगे ? निर्ययौ निर्गतः ययुरश्वो यस्मात्तस्मिन् निरश्वे तुरङ्गरहिते तदनन्तरं निर्ययौ निर्गतवान् कोऽसौ ? विष्णुः, कस्मात् ? रणात् ॥१०६॥

याहतेशादृते सीता साह तेजोधिके रिपौ ।
व्याहते श्वसितै रागं प्राह तेन स्म संयुता ॥१०७॥

याहतेति—अह कष्टं प्राह स्म प्रोक्तवती प्रकटितवती, का ? सा सीता जानकी कम् ? रागं प्रीतिम्, कैः कृत्वा ? श्वसितैः कथम्भूता सती ? तेन रामेण संयुता संयुक्ता, क्व सति ? रिपौ प्रतिविष्णौ व्याहते सति कथम्भूते ? तेजोधिके प्रतापाधिके याहता खिन्ना कथम् ? ऋते कस्मात् ? ईशात् स्वामिनो रामं विनेत्यर्थः ।

भारतीयः—प्राह स्म, का ? सीता भूमिः, कम् ? रागं कथम्भूता ? तेन विष्णुना संयुता, कैः कृत्वा रागं प्राह स्म ? श्वसितैः, क्व सति ? रिपौ व्याहते सति, कथम्भूते ? तेजोधिके अह कष्टं याहता खिन्ना, कथम् ? ऋते, कस्मात् ? ईशात् प्रतिविष्णोरित्यर्थः ॥१०७॥

(महोरसा विभया पत्या, व्यूहे समुत्पत्य सत्यतः महोरसा, विभया, सती समुत् आ अतः व्यूहे ।)

विशाल वक्षस्थलधारी, अलौकिक प्रभाके स्वामी नारायणने युद्धमें आगे बढ़कर उचित मार्गसे पीन पयोधरधारिणी, निर्भय, सती और प्रमुदित विजयलक्ष्मीको प्रतिनारायणसे छीन लिया था ॥ १०५ ॥

(बलिमान् निर्ययौ संयुगे, भूतलोचितम् तं बलिं अर्चया आवेद्य भूतलोकं आनर्च निर्ययौ ।)

अश्वसेना विहीन उस घोर संग्राममें बलवान् सैनिकोंके स्वामी नारायणने, पृथ्वीतलपर सबसे श्रेष्ठ उस (प्रतिनारायण) की बलिको विधि-विधानपूर्वक समर्पित करके पंच महाभूतोंकी पूजा की थी । और युद्धसे बाहर चले गये थे ॥ १०६ ॥

(तेजोधिके रिपौ व्याहते, ईशात्, ऋते याहता सा सीता तेन संयुता, श्वसितैः रागं प्राह स्म, अह ।)

नारायण (राम-कृष्ण) से अलग हो जानेके कारण खेद-खिन्न वह सीता (भूमि) अत्यन्त उग्र शत्रु प्रतिनारायणके मारे जानेपर स्वामीसे मिल गयी थी । और धीरे-धीरे मुक्तिकी साँसें लेकर अपने रागको प्रकट कर रही थी ॥ १०७ ॥

कौरवीं गतिमुच्छेत्तुमदुर्योधनपाटवम् ।
ये ते सख्येन विक्रान्ताः स स्वां तेभ्यो ददौ भुवम् ॥१०८॥

कौरवीमिति—ये विभीषणादयो रावणबान्धवाः कर्त्तारः अदुर्दत्तवन्तः, किम् ? योधनपाटवं युद्धपटुत्वम्, किं कर्त्तुम् ? उच्छेत्तुम्, काम् ? गतिम्, कथम्भूताम् ? कौरवीं कुत्सितो रवः कुरवः कुरवाज्जाता कौरवी तां निर्दयत्वेन समुत्पन्नामित्यर्थः, तथा विक्रान्ताः संयोजिताः के ? ते विभीषणादयः, केन ? सख्येन मित्रत्वेन तथा च ददौ दत्तवान्, कोऽसौ ? स विष्णुः, काम् ? भुवं पृथिवीम्, केभ्यः ? तेभ्यो विभीषणादिभ्यः, कथम्भूतां भुवम् ? स्वामात्मीयामिति ।

भारतीयः—ये कौरवीं कुरूणामिमां कौरवीं गतिं उच्छेत्तुं सञ्जाताः, कथम् ? अदुर्योधनपाटवं न विद्यते दुर्योधनस्य पाटवं यस्मिन् कौरवगतिच्छेदनकर्मणि तद्यथा भवति विक्रान्ताः, के ? ते पाण्डवाः, केन ? सख्येन तेभ्यः पाण्डवेभ्यः स विष्णुः स्वां भुवं ददौ ॥१०८॥

सरक्षोवरजो राज्यं धर्मपुत्रोऽथ फल्गुनः ।
भीमोहतापरुद्धारि लब्ध्वासीद्वैरतः प्रभोः ॥१०९॥

स इति—अथ स्वभूमिदानानन्तरम् आसीत् संजातः, कः ? स रक्षोवरजः रावणलघुभ्राता, कथम्भूतः ? धर्मपुत्रः प्रतिपन्नपुत्रः, कस्य ? प्रभोः रामस्य, किं कृत्वा ? पूर्वं राज्यं लब्ध्वा प्राप्य, कथम्भूतं राज्यम् ? भीमोहतापरुद्धारि भयमोहतापैः रुद्धा अरयो यस्मात् त्रासविह्वलता [1]संतापनिरुद्धशत्रु इत्यर्थः, कस्मात् ? वैरतो वैरात्, कथम्भूतात् ? फल्गुनः तुच्छात् निःसारात् ।

भारतीयः—आसीत् संजातः, कः ? धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः अथ समुच्चयार्थः तथा फल्गुनोऽर्जुनः तथा भीमो भीमसेनः, कथम्भूतः ? रतः आसक्तः प्रीत इत्यर्थः, कस्य ? प्रभोर्नारायणस्य, कथम्भूतः ? सरक्षः सह रक्षया वर्त्तते इति सरक्षः, किं कृत्वा ? पूर्वं लब्ध्वा किम् ? राज्यम्, कथम्भूतम् ? अवरजः अवगतं रजो यस्य [2]तत् मनोमलरहितमित्यर्थः, पुनः हतापरुद्धारि हता दुर्योधनादयो मारिताः केचिदपरुद्धाः जीवावशेषं धृता[3] अरयो यत्र तत् निष्कण्टकमित्यर्थः, कथम् ? वै स्फुटमिति शेषः ॥१०९॥

जिन लोगोंने रावणकी पापपूर्ण वृत्ति (कौरवी) को समाप्त करनेके लिए रामके साथ लड़नेमें युद्ध-कुशलता दिखायी थी वे मित्ररूपसे रामके द्वारा माने गये थे और उन्हें नारायणने जीती हुई भूमि दी थी [दुर्योधनकी कुटिलतासे बढ़ी कौरवोंकी अनीतिको समाप्त करनेके लिए जिन्होंने मित्ररूपसे पाण्डवोंका पक्ष लिया था उन्हें कृष्णजीने राज्य दिये थे]॥ १०८ ॥

(अथ स रक्षोवरजः प्रभोः फल्गुनः वैरतः राज्यं लब्ध्वा भीमोहतापरुद्धारिः धर्मपुत्रः आसीत् ।)

इस प्रकारसे रावणका वह छोटा भाई विभीषण, नारायणके निस्सार वैरके कारण, रावणके राज्यको प्राप्त करके भय, मोह और तापसे त्राण करनेवाला धर्मपुत्र हो गया था ।

(अथ हतापरुद्धारि सरक्षः स धर्मपुत्रः, फल्गुनः भीमः अवरजः राज्यं लब्ध्वा प्रभोः रतः वै आसीत् ।)

इसके बाद शत्रुओंके मर जानेसे या वशमें हो जानेके कारण आत्मरक्षाको प्राप्त वह युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम उत्पातों (रज) से रहित विशाल राज्यको प्राप्त करके निश्चय से कृष्णजीके भक्त हो गये थे ॥ १०९ ॥

---

१. रुद्ध विपक्षमित्यर्थः । प० द० ज० । २. तत् मनोमल—प० द० ।
३. —त्वा चोरवरटसन्नयनादयो अ— प० द० ।

ततो विधातुमन्येषां निश्चक्रामवसुं धराम् ।
आत्मीयां रक्षितुं चक्री निश्चक्राम वसुंधराम् ॥११०॥
(समपादयमकम्)

तत इति—ततो विभीषणाय पाण्डवेभ्यश्च राज्यसमर्पणानन्तरं निश्चक्राम निर्गतवान्, कोऽसौ ? चक्री लक्ष्मणो नारायणश्च, किं कर्तुम् ? अन्येषां शत्रूणां धरां पृथिवीम् अवसुं निर्द्रव्यां तथा निश्चक्रां [1]निर्द्वादिक-विषयां विधातुं कर्तुं तथा आत्मीयां स्वकीयां वसुंधरां पृथिवीं रक्षितुम् ॥११०॥

हरितो हरितो बिभ्युराभ्यो राभ्यो विनारयः ।
तेऽभ्यस्तेभ्यः स्वदेशेभ्यः केवलं केऽवलन्न वा ॥१११॥
(गतागतबन्धः)

हरित इति—बिभ्युः भीताः, का ? हरितो दिशः, कस्मात् ? हरितो विष्णोः केवलं परम्, के तेऽरयो नावलन्न व्यावृत्ताः अपि तु सर्वेऽपि, काभ्यः ? आभ्यो दिग्भ्यो वाऽथवा अवलन् तेभ्यो लोकविख्यातेभ्यः स्व-देशेभ्यः, कथम् ? विना, केभ्यः ? राभ्यो द्रव्येभ्यः, कथम्भूताः सन्तः ? अभ्यो निर्भयाः, अत्र भावो विभाव्यते स्वकीयस्वकीयद्रव्याणि परित्यज्य दिग्भ्यः स्वदेशेभ्यो वा [2]निवृत्य विष्णुभयभीताः यत्र स्वजीवरक्षा तत्र गताः शत्रवः, 'स देशो यत्र जीव्यते' इति वाक्यात् ॥१११॥

आशिश्रियन्नदीनाथो गङ्गा सिन्धुश्च केशवम् ।
आशि श्रियं न दीनाथो दिग्भीता तेन बिभ्रता ॥११२॥
(विषमपादयमकम्)

आशिश्रियदिति—आशिश्रियत् सेवते स्म कः ? नदीनाथो मागधो देवः वरतनुदेवः प्रह्लादनदेवश्च, कम् ? केशवं तथा आशिश्रियत्, का ? गङ्गा गङ्गादेवी तथा सिन्धुश्च सिन्धुदेवी च, कम् ? केशवं विष्णुम्, अथो शब्दो आनन्तर्यार्थवाची, न आशि न व्याप्ता अपि तु व्याप्तैव, का ? दिग्, केन ? तेन विष्णुना, कथम्भूतेन ? श्रियं बिभ्रता, कथम्भूता दिग् ? दीना, पुनः भीतेति ॥११२॥

विभीषण तथा धर्मराजको राज्य समर्पण करनेके बाद चक्रधारी नारायण (लक्ष्मण एवं कृष्ण) शत्रुओंको शासन (चक्र)-विहीन और सम्पत्ति रहित भूमिको अपनी सम्पन्न राज्यभूमि बनानेके लिए तथा उसकी व्यवस्था और रक्षा करनेके लिए निकल पड़े थे ॥ ११० ॥

(हरितः हरितः बिभ्युः, राभ्यः विना के ते अरयः न केवलं आभ्यः अवलत् । तेभ्यः स्वदेशेभ्यः अभ्यः के न अवलत् ।)

नारायणसे समस्त दिशाएँ डर गयी थीं । और विषयभोग (रा) सम्पत्ति को छोड़कर शत्रु लोग केवल सब दिशाओंसे ही नहीं भागे थे अपितु अपने-अपने देशोंसे भी कौन नहीं भागा था, अर्थात् सब देश भी छोड़कर चले गये थे ॥ १११ ॥

शासन चक्रको स्थापित करनेके लिए निकले नारायण (मागध वरतनु, प्रह्लादन देवों) की नदीनाथने सेवा की थी तथा गंगा और सिन्धुकी अधिष्ठात्री देवियोंने भी उसका स्वागत किया था । लक्ष्मीके स्वामी नारायणके द्वारा दीन तथा भीत कौन-सी दिशा व्याप्त नहीं की गयी थी ? अर्थात् सभी दिशाएँ प्रणत हो गयी थीं ॥ ११२ ॥

---

१. निर्घाटकाविषयां –प० । सिद्धाटकाविषयां –द० । निष्कासकाविषयां –ज० । "ततः चक्री अन्येषां निश्चक्रां अवसुं धरां आत्मीयां वसंधुरां विधातुं (एवं) रक्षितुं निश्चक्राम" इत्यन्वयानुसारी व्याख्या सुष्ठुतरेति । २. निवृत्य –प० द० ।

वाजीभविपिनेऽयेये जीनाशवे रजोमये ।
भरादपेतै राजोने विवेपेऽरिशतैरपि ॥११३॥

(अर्धभ्रमः)

वाजीभेति—विवेपे कम्पितम्, कैः ? अरिशतैरपि, कथम्भूतैः ? भरादपेतैः भरात् रणतत्परतायाः अपेतैः अपगतैः, क्व ? वाजीभविपिने तुरङ्गमगजवने, कथम्भूते ? अयेये अगम्ये, पुनः जीनाशवे क्षीणशब्दे, पुनः रजोमये धूलिनिर्मिते वा, पुनः राजोने शत्रुहीने । अस्य श्लोकस्य चतुरोऽपि पादान् अधोऽधो लिखित्वा पूर्वापरक्रमेण वाचनया अर्द्धभ्रमलक्षणो विधो जायते ॥११३॥ यथा—

वा	जी	भ	वि	पि	ने	ये	ये
जी	ना	श	वे	र	जो	म	ये
भ	रा	द	पे	तै	रा	जो	ने
वि	वे	पे	रि	श	तै	र	पि

न नाम प्रतिसामन्तं त्रेसुः के संघवृत्तयः ।
ननाम प्रतिसामं तं प्रकृत्या प्रातिकूलिकः ॥११४॥

(विषमपादयमकम्)

नेति—नामाहो संघवृत्तयः सङ्घे वृत्तिर्येषां ते सङ्घवृत्तयः सामवायिका[1] क्षत्रियाः, के न त्रेसुः के नो त्रस्ताः अपितु सर्वेऽपि, कथम् ? प्रतिसामन्तं सामन्तं सामन्तं प्रति प्रतिसामन्तम् अतएव ननाम नमस्कृतवान् कोऽसौ? प्रातिकूलिकः प्रतिकूलं वर्तमानः, कम् ? तं विष्णुम्, कया ? प्रकृत्या स्वभावतः, कथं यथा भवति ? प्रतिसामं यथोपशममिति ॥११४॥

कमन्यं यः समुद्र तमकरोत्करदा मतः ।
गम्भीरां वार्धिविततिमकरोत्करदामतः ॥११५॥

(समपादयमकम्)

कमिति—यः अकरोत् कृतवान्, काम् ? वार्धिविततिं समुद्रविस्तारम्, कथम्भूताम् ? करदां करं ददातीति करदा तां सिद्धायदाम्, कथम्भूताम् ? गम्भीराम् अतः कारणात् कमन्यं तं करदं नाकरोत् अपितु

नायक राजाके मर जानेसे अपने दायित्वसे मुक्त सैकड़ों शत्रु घोड़ों और हाथियोंके वनमें जाकर भी काँप रहे थे। यद्यपि जंगल दुर्गम था। उसमें आवाज भी नहीं पहुँचती थी और धूल उड़ रही थी (अर्थात् छिपे व्यक्तिको देखा भी नहीं जा सकता था) ॥ ११३ ॥

संघ बनाकर रहनेवालोंमें कौन ऐसा संघ था जिसका एक-एक सामन्त न डर गया हो ? स्वभावसे नारायणके विरुद्ध चलनेवाले भी सन्धि करनेकी इच्छासे इसके सामने झुक गये थे ॥ ११४ ॥

हर्षपूर्वक माने गये नारायणने समुद्र तक फैली वसुन्धराको कर देनेवाली बना दिया

---

१. सामुदायिकाः—ज० द० ।

कृतवानेव, कथम्भूतः सन् ? समुत्पन्नहर्षः, पुनः करदा करदात्रा मतः इष्टः करदेत्यत्र तृतीया बोध्या क्विपि प्रत्यये आतो धातोरित्याकारलोपः ॥११५॥

त्रस्तेऽरावबरास्तेऽत्र केशवेन नवेऽशके ।
तेपे चारुरुचापेते नाधुते न नतेऽधुना ॥११६॥

(गतप्रत्यागतम्)

त्रस्त इति—अधुना सम्प्रति[1] न न तेपे न तप्तम् अपितु न तप्तमेव, केन ? केशवेन विष्णुना कथं यथा भवति ? चारु सर्वश्रेष्ठम्, क्व ? अत्र जगति, क्व ? अरौ शत्रौ, कथम्भूते ? त्रस्ते भीते, पुनः अवरास्ते अवराः अपराः शत्रवः आस्ताः क्षिप्ता येन तस्मिन्, अथवा अः विष्णुः अस्य वरो अवरः अज्येष्ठः बलभद्रः तेन अस्तः अवरास्तः तस्मिन्, पुनः नवे नूतने, पुनः नते नम्रे ॥११६॥

समजन्यायतोऽन्यान्गोसमजन्यायतोऽवयन् ।
समजन्यत हीनारेः समजन्यतयायतिः ॥११७॥

(पादयतप्रत्यागतबन्धः)

समजन्येति—समजनि समजातः, कोऽसौ ? विष्णुः, किं कुर्वन् ? अवयन् जानन्, कान् ? अन्यान् शत्रून्, किं कुर्वतः ? आयतः आगच्छतः, केन ? गोसमजन्यायतः गोसमूहन्यायेन तथा समजन्यत संजनिता कृतेत्यर्थः, का ? आयतिः उत्तरं फलम्, कथम्भूता ? हीना क्षीणा, कस्य ? अरेः शत्रोः, कया कर्त्र्या ? समजन्यतया समानरणतया ॥११७॥

लूनं खलीकृतं नैव कृष्टं न द्विगुणीकृतम् ।
तथापि यानेशालेयक्षेत्राणि ददिरे फलम् ॥११८॥

लूनमिति—तथापि ददिरे दत्तवन्ति, कानि ? यानेशालेयक्षेत्राणि यानानि हस्त्यश्वादीनि यानानाम् ईशाः यानेशाः यानेश्वराः आलिविद्यते येषां ते आलेयाः शत्रवः यानेशाश्च ते आलेयाश्च यानेशालेयाः तेषां क्षेत्राणि तानि तथोक्तानि, किम् ? फलं यद्यपि क्षेत्रं लूनं छिन्नं नैव खलीकृतं खलं धान्यमर्दनभूमिः अखलं

था । अतएव ऐसा कौन बचा था जो इसके सामने नत न हुआ हो या कर न देने लगा हो ? ॥ ११५ ॥

(अत्र त्रस्ते, अवरास्ते, नवे, अशके, चारुरुचापेते, नाधुते अरौ अधुना केशवेन न तेपे ।)

लोकमें डरे हुए, स्वमेव हीन (अवर) बने, नूतन किन्तु असमर्थ शत्रुपर भी नारायणने अब क्रोध नहीं किया था क्योंकि उसकी सुन्दर कान्ति समाप्त हो चुकी थी और वह ललकारको भी नहीं सह सकता था ॥ ११६ ॥

(गोसमजन्यायतः आयतः अन्यान् अवयन्, समजन्यतया अरेः क्षीणा आयतिः समजन्यत ।)

गायोंके समान झुण्ड बनाकर आते हुए शत्रुओंको जानकर ही नारायणने बराबरीके संघर्षकी तैयारी करके शत्रुके पुण्यको ही क्षीण कर दिया था ॥ ११७ ॥

यद्यपि झटक दिये गये थे किन्तु दुष्टोंके समान व्यवहार नहीं किया गया था, साम्राज्यमें खींच (मिला) लिये गये थे किन्तु दूसरा दण्ड नहीं दिया गया था अतएव

---

१. –तं न नपेतो न नतप्राप्तं अपितु न प्राप्तमेव, केन—द० । नं नमपेतो न नतप्राप्तं अपितु प्राप्तमेव, केन—ज० । अशके, रुचापेते, आधुते इत्यादि शब्दानां व्याख्या प० ज० द० पुस्तकेषु नास्त्येव ।

सखलं कृतं खलीकृतं तथा कृष्टं कर्षणीकृतं न द्विगुणीकृतं न द्विर्वाहितमिति सम्बन्धः। प्रकारान्तरमाह—तथापि ददिरे, कानि ? शालेयक्षेत्राणि, किम् ? फलम्, क्व ? याने प्रयाणे यद्यपि शालेयक्षेत्रं लूनं नैव खलीकृतं कृष्टं न [1]द्विगुणाकृतमिति सम्बन्धः ॥११८॥

अमरः खचरश्चक्रमत्रसत्समनद्ध तम् ।
कश्च पश्यञ्जगच्चक्रमत्र सत्समनद्धतम् ॥११९॥

(समपादयमकम्)

अमर इति—अमरो देवः खचरश्च विद्याधरो वा कः समनद्ध सन्नद्धवान् अपितु न कोऽपि, किं कुर्वन् ? तं प्रतिविष्णुम् अत्र लोके हतं व्यापादितं पश्यन् अवलोकमानः तथा जगच्चक्रं समनत् उच्छ्वसत् उल्लस-दित्यर्थः तथा चक्रम् अत्रसत् उद्वेगमगच्छत् पश्यन् सन्[2] ॥११९॥

येऽमी मायामयायामाः शार्ङ्गमारोप्य तैरयम् ।
शरैः शशार शूरोऽरीन्प्राप्य शैलमहागुहाः ॥१२०॥

य इति—अयं शूरो विष्णुः शशार हतवान्, कान् ? अरीन् शत्रून्, कैः कृत्वा ? तैः शरैः बाणैः, किं कृत्वा ? पूर्वं शार्ङ्गं धनुरारोप्य, किं कृत्वा ? पूर्वं शैलमहागुहाः विजयार्द्धपर्वतबृहत्कन्दराः प्राप्य येऽमी शराः मायामयायामा मायानिर्मितदैर्घ्याः अभूवन् ॥१२०॥

कन्याहेमपुरो लेभे मायी यायात्र कातरे ।
शुद्धयानपेतो यामायानयं यातो यमक्षत ॥१२१॥

(अर्धभ्रमगर्भश्लोकः)

कन्येति—लेभे प्राप्तवान्, कः ? स विष्णुः कः ? कन्याहेमपुरस्तनयासुवर्णपुराणि, कथम्भूतः ? मायी मायावान्, पुनः यायां अतिशयेन गमनशीलः, क्व ? अत्र रणे, पुनः कातरे भीरौ शुद्धयानपेतः अपरि-त्यक्तः यं कातरमक्षत हतवान् स विष्णुः, कथम्भूतः सन् ? यातः प्राप्तः, किम् ? अयं भाग्यम् । अयः शुभावहो

रथादिके स्वामी शत्रुओंके राज्योंने भी इसे उपायन आदि दिये थे [फोड़ कर फिर दुबारा न जोता गया अथवा काटकर खलियान भी न किया गया था तो भी शालिके खेतों ने पहुँचने पर फल दिये थे ।] ॥ ११८ ॥

(अत्र तं हतं पश्यन् अमरः खचरः कः चक्रं अत्रसन् समनद्ध, जगत् चक्रं अत्रसत् समनत् ।)

उस प्रतिनारायणको मरा देखकर, देवताओं या खेचरोंमें कौन ऐसा था जो नारा-यणके चक्रका भय न मानकर लड़नेको तैयार होता ? सारा संसार ही (रावण-कंसके) भयसे मुक्त होकर शान्तिकी साँस ले रहा था ॥ ११९ ॥

धनुष पर चढ़ाकर विजयार्ध पर्वतकी महागुफामें छोड़े गये, जो मायासे निर्मित विशालताको प्राप्त होते थे, उन बाणोंके द्वारा इस महाबली नारायणने शत्रुओंको भगा दिया था ॥ १२० ॥

(शुद्धयानपेतः, अनयंयातः, याया, मायी अत्र यं अक्षत कातरे कन्याहेमपुरः लेभे यां आयात् ।]

आचार-विचारकी शुद्धिसे युक्त, मांगलिक विधिका कर्ता और मायापति नारायण

1. सर्वस्मिन्नपि पुस्तके (प० द० ज०) द्विगुणाकृतमित्येवात्र पाठो दृश्यते ।
2. 'सन्' पदस्याधः प० द० ज० पुस्तकेषु नास्ति ।

विधिरित्यमरः, किं कुर्वन् ? आयान् आगच्छन्, काम् ? यां शुद्धिमिति, अस्य श्लोकस्य चतुरोऽपि पादानधोऽधो लिखित्वार्धभ्रमणवाचनयार्धभ्रमगर्भश्लोकः समुत्पद्यते ॥१२१॥

क	न्या	हे	म	पु	रो	ले	भे
मा	यी	या	या	श्र	का	त	रे
शु	द्ध्या	न	पे	तो	या	मा	या
न	यं	या	लो	य	म	क्ष	त

इदानीं स एव अर्द्धभ्रमगर्भश्लोकोऽभिधीयते ।

कमाशु न तयारेभे न्यायीद्ध्यायन्क्षमातले ।
हेयानयामयाकारोमयापेतो यतोऽत्रपु ॥१२२॥

कमिति—आशु शीघ्रं कं रिपुं नारेभे आरब्धवान् अपितु सर्वमपि उत्सुकीकृतवान्, कोऽसौ ? विष्णुः, कया कृत्वा ? तया ताशब्देन लक्ष्मीरभिधीयते तया लक्ष्म्या, कथम्भूतः ? न्यायी नीतिमान्, किं कुर्वन् ? अयन् गच्छन् प्रवर्त्तमान इत्यर्थः, क्व ? क्षमातले पृथिवीतले, कया ? इद्धया दीप्त्या प्रतापेनेत्यर्थः, पुनः हेयानयामयाकारः हेयश्चासावनयश्च हेयानयः हेयानय एव आमयः हेयानयामयः हेयानयामयस्येवाकारो यस्य किं तर्हि तदाभासो गृहीतः तद्धर्त्तृत्वादिति भावः, अथवा हेयाः शत्रवः आनाः प्राणाः याम उपरम-वृत्तिः हेयानाम् आनाः हेयानाः हेयानानां यामः हेयानयामः हेयानयामं याति प्राप्नोति, आत इत्यनेन सूत्रेण कः हेयानयामयः हेयानयामय इवाकारो यस्य सः तथोक्तः, अथवा हेयाः परित्याज्याः आनाः प्राणाः हेयाश्च ते आनाश्च हेयानाः हेयानैर्यान्ते प्राप्यन्ते हेयानयाः विचि कृते रूपं सिद्धम्, आ कीर्त्तिः, हेयानया चासौ आ च हेयानया हेयानयया निर्वृत्तः हेयानयामयः हेयानयामय आकारो यस्य स तथोक्तः, उक्तं च 'मर्यादायां श्रियां कीर्त्यामाकारः कथ्यते बुधैः' पुनः अमयोपेतः न मा अमा तया अमया अलक्ष्म्या दारिद्र्येण अपेतः परित्यक्तः, पुनः यतः यत्नपरः उद्यमी, कथम् ? अत्रपु अलज्जं निःशङ्कम् ॥१२२॥

श्रीधीनीतिस्थितिप्रीतेरुद्धेविरुचितोदिति ।
एषोऽजैषीद्द्विषोरोषै रुद्ध्वेति रुचितोदिति ॥१२३॥

(च्युतयोगवाहनिःकण्ठ्यः, समपादयमकम्)

इस दिग्विजयमें चलता हुआ जिस पर वार करता था वह भीरु होकर इसे कन्या, सोना और नगर भेंट करके शुद्धिको प्राप्त करता था ॥ १२१ ॥

(हेयानयामयाकारः, यतः, अत्रपुः, न्यायी, अ-मयापेतः क्षमातले अयन् इद्धया तया कं न आशु रेभे ।)

त्याग करने योग्य, निकृष्ट नीतियों रूपी महामारीका रोधक अथवा शत्रु (हेय) के प्राणों (आन) की ऊर्ध्वगति (यामया) का कर्ता (कारी) । अथवा जिसका रूप (आकार) परित्याज्य (हेय) प्राणों (आन) से प्राप्त (या) कीर्ति (आ) मय है, सदैव प्रयत्नशील, लज्जालु, न्यायकर्त्ता और लक्ष्मीसे वेष्टित नारायणने दिग्विजयमें पृथ्वी की परिक्रमा करते समय जगमगाती लक्ष्मीके द्वारा किसको तुरन्त उत्सुक नहीं बनाया था ॥ १२२ ॥

१. यस्य साक्षाच्च हेयानयामया इवाकारो यस्य किं—प० द० ।

श्रीति—अजैषीत् जितवान्, कः ? एषः विष्णुः, कान् ? द्विषः शत्रून्, कथम् ? अदिति अखण्डम्, किं कृत्वा ? रुचितोदिति इद्धोदयं यथा भवति रोषं कोपं: रुद्ध्वा संवृत्य, कथम् ? इत्युक्तप्रकारापेक्षया श्रीधीनीतिस्थितिप्रीतेः श्रीप्रमुखानां प्रीतिः उचितो योग्यः, पुनः उद्धेतिः उत्खातशस्त्रः ॥ १२३ ॥

श्रीतः सुरकुलं हीनमत्रासीदक्षमोहितम् ।
क्षात्रं तु वृत्ततः क्षिप्तमत्रासीदक्षमोहितम् ॥१२४॥

(समपादयमकम्)

श्रीत इति—सुरकुलं देववृन्दम् अक्षमोहितं अक्षेषु[1] स्पर्शनादिष्विन्द्रियेषु मोहितं निर्विवेकं तथा श्रीतः श्रियः सकाशात् हीनम् अत्र लोके आसीत् संजातम् । अत्रायं भावः विष्णोर्विभूतिमालोक्य स्वां विभूतिं विनिन्द्य सुरकुलं सचिन्तया लज्जितं बभूव इत्यर्थः । तु पुनः क्षात्रं क्षत्रियसमूहः वृत्ततः वृत्तात् क्षिप्तम् आचरणात् च्युतम्, पुनः अक्षमोहितं न विद्यते क्षमाया भूमेः ऊहितं वितर्कणं यस्य तत्, अत्रासीत् त्रस्तं स्वां मेदिनीं विहाय पलायनं चकारेत्यर्थः ॥ १२४ ॥

सर्वकर्मीणमूर्ध्वज्ञं दूतमुद्युक्तविक्रमम् ।
प्रहित्याश्वमपि म्लेच्छस्त्रीराज्यं तमशुश्रुवत् ॥१२५॥

सर्वेति—अशुश्रुवत् श्रावयति स्म, किं कर्तृ ? आश्वमपि अश्वबलमपि, किम् ? म्लेच्छस्त्रीराज्यं म्लेच्छाः क्षत्रियाः म्लेच्छा एव स्त्रियः म्लेच्छस्त्रियः म्लेच्छस्त्रीणां राज्यम्, कमशुश्रुवत् ? तं विष्णुम्, किं कृत्वा ? सर्वकर्मीणं सर्वकार्यसमर्थम्, ऊर्ध्वज्ञं भाविकार्यदर्शकम्, उद्युक्तविक्रमं प्रयुक्तपराक्रमं, दूतं प्रहित्य प्रेष्य, तथा आश्वमपि सर्वकर्मीणम् ऊर्ध्वज्ञम् ऊर्ध्वे जानुनी यस्य व्याघ्रीवादिति ज्ञः जानुशब्दस्य ज्ञादेशः तथा उद्युक्तविक्रमं[2] सर्वविशिष्टपादम् ॥ १२५ ॥

प्रजिघ्युः पार्वतीयाश्च चामरं दन्तमौषधिम् ।
चित्तेन कार्मणेनापि द्विषन्तो न तमद्विषुः ॥१२६॥

प्रजिघ्युरिति—प्रजिघ्युः प्रस्थापितवन्तः । के ? पार्वतीयाः पर्वतोद्भवा मन्नयनादयः, किम् ? चामरं दन्तं

सम्पत्ति (श्री) शिक्षा (धी) न्याय (नीति), स्थायित्व और प्रेमके लिए शस्त्र उठानेवाले एवं उचितकारी इस प्रखर तेजस्वी नारायणने समस्त (अदिति) शत्रुओंको अपने रोषसे ही कीलित कर दिया था और जीत लिया था ॥ १२३ ॥

(अत्र अक्षमोहितं, सुरकुलं श्रीतः हीनं आसीत्, अक्षमा ऊहितं वृत्ततः क्षिप्तं क्षात्रं अत्रासीत् ।)

विश्वमें इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें लीन देवकुल भी इसकी लक्ष्मीके कारण हीन हो गया था । हार जानेके कारण पृथ्वी या राज्यकी चिन्तासे मुक्त अतएव राजधर्मसे गिरा क्षत्रिय कुल इससे डर गया था ॥ १२४ ॥

म्लेच्छ रानियों द्वारा शासित राज्योंने सब प्रकारके वाहन-(कर्म) योग्य, पुष्ट उन्नत जंघा (ज्ञ) युक्त प्रशिक्षित चाल (विक्रम) वाले घोड़ोंकी भेंटसे साथ, सब कार्य करनेमें समर्थ, आगेकी जाननेवाले तथा प्रसिद्ध पराक्रमी दूतोंको भेजकर नारायणको समर्पण का समाचार दिया था ॥ १२५ ॥

पहाड़ी राजाओंने नारायणकी सेवामें चामर, हस्ति-सिंह दन्त और विविध जड़ी-

---

१. –षु इन्द्रियेषु मोहितं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रव्यापारेषु निर्विवेकमित्यर्थः—प० द० ज० ।
२. –मं समर्थविशिष्ट—प० द० ज० ।

तयौषधि च तथा चित्तेन द्विषन्तोऽपि नाद्विषुः न द्विष्टवन्तः, कम् तं विष्णुं केन ? कार्मणेन कथंभूतेन ? कर्मणा प्रयुक्तेनेत्यर्थः ॥ १२६ ॥

समयाचक्रिरे खेयं केऽरिमूलं यदम्बुधीन् ।
समया चक्रिरेखेयमलङ्घ्या सामवायिकैः ॥१२७॥

(विषमपादयमकम्)

समयेति—के शत्रवः समयाञ्चक्रिरे कालयापनां कृतवन्तः अपितु न केऽपीत्यर्थः, यत् यस्मात् कारणात् खेयं खननीयं खनितव्यम्, किम् ? अरिमूलम्, शत्रुमूलम्, कथम् ? समया समीपे, कान् ? अम्बुधीन् समुद्रान्, युक्तमेतत्, इयं चक्रिरेखा चक्रवर्तिमर्यादा सामवायिकैः सैनिकैरलङ्घ्या ॥ १२७ ॥

समयासीदसौ जन्यं समयासीदसौजन्यम् ।
समयासीदसौ जन्यं समयासीदसौजन्यम् ॥१२८॥

(सर्वपादयमकं गोमूत्रिकाकारम्)

समयेति—यदा समयासीत् सम्यक् प्रकारेण गतवान् कः ? असावयं विष्णुः, किम् ? जन्यं रणं तदा समयासीत् प्रयत्नविषयीकृतवान्, कोऽसौ ? विष्णुः, किम् ? असौजन्यम् अमैत्रीं तथा समयासीत् ग्रासवान् कः ? असौ विष्णुः, किम् ? जन्यमपवादम्, क्व असौ खड्गे, कथम्भूमं जन्यम् ? जनादनपेतं जन्यम्, कथम्भूतो विष्णुः, समयासीदयं भाग्यवहो विधिः असिः खड्गः सङ्गतमयं यस्माञ्जो समयः समयश्चासावसिश्च समयासिः समयासिना इन्दतीति इदेः क्विपि कृते सति सिद्धं समयासीत् इति रूपम् । सङ्गतभाग्यवहविधिना खड्गेन प्रतापीत्यर्थः ॥ १२८ ॥

व्यधादरीणां द्वीपेषु जयस्तम्भस्थितिं व्यधात् ।
व्यधाद्वेलावने धैर्याद्दण्डोऽस्य मधु भव्यधात् ॥१२९॥

(आद्यन्तयमकम्)

व्यधादिति—दण्डः सैन्यं द्वीपेषु जयस्तम्भस्थितिं व्यधात् कृतवान्, कस्मात् ? अरीणां व्यधात् ताडनात् तथा व्यधात् आस्वादितवान् कः ? दण्डः, किम् ? मधु मधुरसम्, क्व ? वेलावने, कस्मात् ? धैर्यात्, कथम्भूतात् ? भव्यधात् कल्याणधारकात्, कस्य दण्डः ? अस्य विष्णोः ॥ १२९ ॥

बूटियाँ भेजी थीं । यद्यपि उनके मनमें द्वेष था तो भी आचरणसे उन्होंने नारायणके प्रति शत्रुता नहीं दिखायी थी ॥ १२६ ॥

कौन ऐसे राजा थे जो शरणागत होनेमें विलम्ब करते ? क्योंकि चारों समुद्रों तकके शत्रुओंकी जड़ें खोदकर फेंकनी थीं । चक्रवर्तीकी इस राज्यसीमा (रेखा) का कौन सैनिक उल्लंघन कर सकता था ? ॥ १२७ ॥

(असौ जन्यं समयासीत्, असौजन्यं समयासीत्, समयासीत् असौ, असौ जन्यं, जन्यं समयासीत् ।)

इस नारायणने युद्धको सम्यक् प्रकारसे चलाया था । दुष्टता या आततायीपनका प्रयत्न करके प्रतिरोध किया था । और मंगलदायिनी (समया) तलवार (असि) से देदीप्यमान (इदि) इसने खड्गके विषयमें फैले जनापवाद (जन्य) को समाप्त कर दिया था ॥ १२८ ॥

दमन करके (व्यधात्) शत्रुओंके द्वीपोंपर इसकी सेनाने विजय-स्तम्भ बना दिये थे (व्यधात्) । तथा कल्याणकारी (भव्य) होनेके कारण इसके शासन (दण्ड) ने समुद्र तटके वनोंमें साहस और निश्चिन्तताके साथ मधुका स्वाद लिया था ॥ १२९ ॥

इत्यादाय दिनैः कैश्चिद्दिशो दण्डधनं नृपः ।
सदयोध्यामतो रागाद्ययौ द्वारवतीं पुरीम् ॥१३०॥

इतीति—द्विः । अतः अततीति अत् क्विपि कृते सति रूपं सिद्धं तस्मात् विजृम्भमाणात् रागात् प्रीतेः ययौ नृपो लक्ष्मणः काम् ? पुरीम् । किमाख्याम् ? अयोध्याम्, कथम्भूताम् ? द्वारवतीम्, किं कृत्वा ? दिशो दण्डधनम् आदाय गृहीत्वा कैः ? कैश्चिद्दिनैः, कथम् ? इत्युक्तप्रकारेण, कथम्भूतं दण्डधनम् ? सत् समीचीनम् अव्यभिचारीत्यर्थः ।

भारतीयः—नृपः कृष्णः, सदयोध्यां सती चासौ अयोध्या च सदयोध्या योद्धुमशक्या तां शत्रुभिरलङ्घ्याम् पुरीं अथवा द्वारवतीं रागात् ययौ, कथम्भूताद् रागात् ? अध्यामतः विशदात् कथम्भूतो नृपः सदयः सानुग्रहः । शेषं सुगमम् ॥१३०॥

वियोगे लघुमुत्तुङ्गमानीताशार्थमात्मजम् ।
सा तं मातेव संवोढुं मुदामान्त्यपि नाशकत् ॥१३१॥

वियोग इति—नाशकत् न शक्ता, का ? सा पुरी, किं कर्तुम् ? आनीताशार्थम् आनीतदिग्द्रव्यं तं विष्णुं संवोढुम्, कथम्भूतम् ? किं कुर्वती सत्यपि ? मुदा सन्तोषेण अमान्त्यपि क्वाप्यवकाशमलभमानेत्यर्थः । केव ? मातेव जननीव, किं कर्तुम् ? संवोढुं कम् ? आत्मजं पुत्रम्, कथम्भूतम् ? आनीताशार्थम्, आहृताभिलषितार्थम्, पुनः लघुम्, क्व ? वियोगे, पुनः कथम्भूतम् ? उत्तुङ्गम्; क्व ? संयोगे, किं कुर्वती सत्यपि ? मुदा हर्षेण अमान्त्यपि ॥१३१॥

अवाष्टभञ्जनाश्चारुशेषाभिस्तं चमूः पुरम् ।
अवाष्ट भञ्जनाश्चाराज्ञया न तृणान्यपि ॥१३२॥

(विषमपादयमकम्)

अवाष्टभनिति—जनाः चारुशेषाभिर्मनोहराशीर्वादैः तं विष्णुम् अवाष्टभन् अवष्टब्धवन्तः स्तुतवन्त इत्यर्थः तथा चमूः सेना पुरम् पुरीं अवाष्ट व्याप्तवती तथा च न आरुर्नगतवन्ति कानि ? तृणान्यपि, काः ? भञ्जनाः आमर्दनक्रियाः, कया ? आज्ञया आदेशेन ॥१३२॥

इस प्रकारसे कुछ ही दिनोंमें समस्त दिशाओंकी समीचीन व्यवस्था करके तथा सम्पत्तिको लेकर प्रतिदिन बढ़ते (अतः) गृहप्रेमके कारण राजा (राम) अनेक तोरणोंसे सज्जित अयोध्यापुरीको लौटे थे [इस प्रकारसे ···प्रतिदिन बढ़ते रागके कारण राजा (कृष्ण) शत्रुओंके द्वारा अनाक्रमणीय शिष्टपुरी द्वारकाको लौटे थे। अथवा स्पष्ट (अध्यामतः) रागके कारण परम कारुणिक राजा (कृष्ण) द्वारकापुरीको लौट पड़े थे] ॥ १३० ॥

बिछुड़नेके समय छोटे किन्तु लौटनेके समय लम्बे-चौड़े तथा समस्त दिशाओंकी सम्पत्तिके साथ लौटे पुत्रको हर्षसे प्रफुल्लित माता जिस प्रकार गोदमें नहीं उठा सकती है, उसी प्रकार जाते समय हलके और लौटते समय दशों दिशाओंके विभवसे लदे सर्वोपरि (उत्तुङ्ग) चक्रवर्ती राजा (राम-कृष्ण) को सुविस्तृत किन्तु उत्सवमें मस्त अयोध्या या द्वारका भी नहीं सम्हाल सकी थी ॥ १३१ ॥

मनोहर स्वागत या आशिष वचनोंके द्वारा नागरिकोंने उस नारायणकी स्तुति की थी। विजयी सेनाएँ पूरी नगरीमें फैल गयी थीं। और राजाकी आज्ञा हो गयी थी कि तृणोंको भी न रौंदा (भञ्जन) जाय (आरुः) ॥ १३२ ॥

प्रविश्य पुरमाराध्य चक्रमारुह्य विष्टरम्
परं मित्राणि देशाय नामुञ्चत्तदनुस्मृतिम् ॥१३३॥

प्रविश्येति—विष्णुः विष्टरमासनमारुह्य चक्रम् आराध्य प्रपूज्य पुरं प्रविश्य मित्राणि देशाय परं केवलं अमुञ्चत् मुक्तवान् तदनुस्मृतिं मित्रानुस्मरणं नामुञ्चत् ॥१३३॥

एकभुक्तिमलुब्धिं च कुलोपकरणं हितम् ।
सामाधिकमसाधुं च राज्यभारं बभार सः ॥१३४॥

एकभुक्तिरिति—स विष्णुः राज्यभारं बभार भृतवान् पुष्टिं निनाय, कथम्भूतम् ? अलुब्धिं न विद्यते लुब्धिर्यत्र सः तं निर्लोभं तथा च एकभुक्तिम् एकानुभवगोचरमिति विरोधः[1] परिह्रियते, अलुब्धि विमोहहीनं तथा एकभुक्तिम् एकस्य भुक्तिः रक्षा यस्य तमेकच्छत्रमित्यर्थः,[2] पुनःहितं हितोपकरणं कुलोपकरणं भूमिच्छेदकरम् इति विरोधः[1] परिह्रियते हितं सुखदं कुलोपकरणं वंशोपकारम्, पुनः सामाधिकं साम्ना अधिकम् असाधुं न चेतो रञ्जकमिति विरुद्धं परिह्रियते, सा लक्ष्मीः माज्ञानं पञ्चाङ्गमन्त्रः ताभ्यामधिकम्, असाधुम् अः विष्णुः तस्य साधुं मनोहरम् ॥१३४॥

नानेष्टसहितादोहि स्वयं गौर्वसु भूपतिः ।
नानेष्ट स हिताऽदो हि स्थानं तीर्थान्तरात्परम् ॥१३५॥

(विषमपादयमकम्)

नानेति—स्वयमात्मना अदोहि दुग्धा का ? गौर्मेदिनी, किम् ? वसु द्रव्यम्, कथम्भूता सती ? नानेष्टसहिता विविधाभिलषितयुक्ता, पुनः हिता हितदायिनी तथा नानेष्ट न प्रार्थितवान् कोऽसौ ? भूपतिर्विष्णुः, किम् ? अद एतद्वसु, किं नानेष्ट ? स्थानं कथम्भूतम् ? परमन्यत्, कस्मात् ? तीर्थान्तरात् धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनः पुरुषात्तीर्थम् एकस्मात्तीर्थादपरं तीर्थं तीर्थान्तरं तस्मात्तथोक्तात् कथम् हि ? स्फुटम् ॥१३५॥

राजधानीमें प्रवेश करके नारायणने चक्ररत्नकी पूजा की थी । और राजसिंहासन पर बैठकर केवल मित्र राजाओंको अपने-अपने देश जानेके लिए विदा किया था । तो भी उन (मित्रों) की स्मृतिको अपने पास ही रखा था ॥ १३३ ॥

नारायणने राजभारको ऐसे वहन किया था कि [उसमें लोभ न था तो भी लोग एक बार खा पाते थे, सबके लिए हितकारी था तो भी भूमि या वंश बँटते जाते थे और समाधि द्वारा चलाया जा रहा था किन्तु दुर्जन बहुत थे] एकच्छत्र (भुक्ति) होनेपर भी कोषादिके बढ़ानेका लोभ न था, सबके लिए सुखद था तथा वंशोंकी वृद्धि हो रही थी और लक्ष्मी (सा) तथा ज्ञान (मा) खूब बढ़नेसे नारायण (अ) के लिए वह प्रिय (साधु) था ॥ १३४ ॥

विविध प्रकारके अभिलषितोंसे भरी और मंगलमयी भूमि स्वयमेव विभव दे रही थी । वह राजा भी इस स्वयं प्राप्त सम्पत्तिके द्वारा (सुव्रत या नेमि) के धर्म (तीर्थ) को छोड़कर किसी दूसरे स्थानको नहीं चाहता था ॥ १३५ ॥

---

1. विरुद्धं प—प० द० ज० ।
2. -र्थः कथम्भूतं सन्तं ? हितं किल कथम् ? कुलोप—प० द० ज० ।

स्वपुरग्रामतायत्तं वस्वदिक्षञ्जनं जनम् ।
स्वपुरग्रा मता यत्तं भूपास्तस्याधिकारिणः ॥१३६॥

(विषमपादादि-यमकम्)

स्वपुरीति—भूपाः अदिक्षन् दिष्टवन्तः किम् ? स्वपुरग्रामतायत्तम् आत्मनगरग्रामसमूहाधीनं वसु द्रव्यम्, कस्य ? तस्य विष्णोः तथा अतः तस्य स्वपुः सुष्ठु यान्ति स्म यथोक्तन्यायेन रक्षितवन्त इत्यर्थः, के ? अधिकारिणो नियोगिनः, कम् ? तं जनं जनम्, कस्य ? तस्य विष्णोः, कथम्भूताधिकारिणः ? अग्राः उत्तमाः पुनः मताः इष्टाः ॥१३६॥

परस्परमपश्यन्तः सामन्ता ददृशुः प्रभुम् ।
नमन्तस्तं नवोत्थानं भानुं दूरस्थिता इव ॥१३७॥

परस्परमिति—सामन्ताः तं प्रभुं विष्णुं ददृशुः दृष्टवन्तः, कथम्भूताः ? दूरस्थिताः, कमिव ? भानुमिव सूर्यमिव, किं कुर्वन्तः ? नमन्तो नमस्कुर्वन्तः अपश्यन्तः अनिरीक्षमाणाः, कथम् ? परस्परमन्योन्यम्, कथम्भूतं प्रभुं भानुं च ? नवोत्थानं नूतनोदयमिति ॥१३७॥

निजतो हि धराराधी सदा नाम रवी रुचा ।
वेधसा जनितो भूयो योगे वेगनयेन सन् ॥१३८॥

निजत इति—हि स्फुटो नामाह्वो जनितः, कः कर्मतापन्नः ? सन् सज्जनः विष्णुः, केन ? वेधसा ब्रह्मणा, कथम् ? भूयः, पुनः केन कृत्वा ? वेगनयेन, क्व सति ? योगे समाधौ सति, कथम्भूतेन वेगनयेन ? निजतः स्वाधीनेन, कथम्भूतः ? रविः सूर्यः कया ? रुचा दीप्त्या, कथम्भूतः ? धराराधी धरां राध्यतीति इत्येवंशीलः भूमिविवर्द्धकः, अथवा धरां राध्नोतीत्येवं शीलः भूमिसंसिद्धिकारकः, कथम् सदा सर्वदा । प्रतिलोमानुलोमेन[1] द्वैतम् ॥१३८॥

सन्नयेन गवे गेये यो भूतो निजसाधवे ।
चारुवीरमना दास धीराराधहितोऽजनि ॥१३९॥

यतः नारायणके प्रधान लोकप्रिय अधिकारी जनताकी भलीभाँति (सु)से रक्षा करते थे (अपुः) फलतः उसके सामन्त राजा भी अपने अपने नगरों और ग्रामोंसे होनेवाली आयको जनता (जनं) का धन मानते थे और उनके विकासमें ही व्यय करते थे ॥१३६॥

नूतन अभ्युदयको प्राप्त चक्रवर्ती राजा नारायणके साथ सामन्त राजा लोग नवोदित सूर्यके समान दूरसे ही साक्षात्कार करते थे। नमस्कार करनेमें लीन सामन्त लोग आपसमें एक दूसरेकी ओर दृष्टि भी नहीं डालते थे ॥१३७॥

वेधरूपी प्रजापतिने अपने तेजके द्वारा सूर्यको बनाया था, जो सदैव बिना नागाके पृथ्वीकी आराधना करता है। तथा योगमें स्थित उसने ही अपने नीति प्रवाहसे साधु राजाको सृष्टि की थी जो अनादि कालसे जगत्की व्यवस्था करता आया है ॥१३८॥

---

1. लोम द्वैतम्–द० ज० ।

सदिति—यो विष्णुर्भूतः समुत्पन्नः, कथम्भूतः ? गेयः स्तुत्यः, कस्यै ? गवे भूमये, केन कृत्वा ? सन्नयेन समीचीननीत्या, कथम्भूतायै गवे ? निजसाधवे निजाः साधवो यस्याः सा तस्यै तथा अजनि सञ्जातः, कथम्भूतः ? चारुवीरमनाः चारवो अव्यभिचारिणो ये वीराः सुभटास्तेषु मनो यस्य सः, पुनः कथम्भूतः ? अदासधीराराधहितः दो छेदने इत्यस्य प्रयोगः, अः विष्णुः अद्यतीति अदः, आदः कप् इत्यनेन सूत्रेण कः, विष्णुशत्रुः रामायणपक्षे रावणः भारतपक्षे जरासन्धः, अदमस्यति कर्मण्यणित्यनेन सूत्रेण, अदासः विष्णुशत्रुक्षेपक इत्यर्थः, धीराः निःक्षोभाः आराः शस्त्रविशेषसंज्ञकाः आरा दधतीति आराधाः, आतः क इत्यनेन सूत्रेण कः, आराधरा इत्यर्थः, अदासाश्च ते धीराश्च आराधाश्च ते अदासधीराराधा अदासधीराराधा हिता यस्य, तेषु तेभ्यो वा हितस्तथोक्तः ॥१३९॥

स्वपत्यं विधिनिग्राहं स्वपत्यन्तेऽकरोद्द्विषाम् ।
आजिजीवाधि कृत्वा नमाजिजीवारवाहतम् ॥१४०॥

(प्रथमपदयमकम्)

स्वेति—अकरोत् कृतवान्, कः ? विष्णुः स्वपत्यं शोभनमपत्यम्[1] आज्ञाविधायिनं पुत्रमित्यर्थः, कथम्भूतम् ? विधिनिग्राहं दैवविध्वंसकम्, क्व सति ? स्वपत्यन्ते स्वस्वामिविनाशे, केषाम् ? द्विषां शत्रूणां तथा आजिजीव प्राणानधारयत्, किम् ? अपत्यम्, किं कृत्वा ? पूर्वं कृत्वा, किम् ? तमधि तं विष्णुं स्वामिनं कृत्वेत्यर्थः, कथम्भूतं विष्णुम् ? आजिजीवारवाहतम् आजेर्जीवो यस्मात् स आजिजीवः आरवः सर्वव्यापी ध्वनिः आजिजीवश्चासावारवश्च आजिजीवारवः आजिजीवारवेण आहतः स तथोक्तः तं रणोल्लासगभीरध्वनि-जर्जरितमिति ॥१४०॥

अमा रणं महामात्रैर्महाब्रह्मैरमारणम् ।
अध्यायन्कविभिः काव्यमध्यायन्कर्म चाकरोत् ॥१४१॥

(पादयमकम्)

अमेति—अकरोत् कृतवान्, कः ? विष्णुः, किम् ? कर्म कार्यं किं कुर्वन् ? अध्यायन् अभिगच्छन्, कम् ? रणम्, कथम् ? महामात्रैः हस्तिसाधनकैः अमा सह, किं कुर्वन् ? अध्यायन् परामृशन्, किम् ? महाब्रह्मैः महाब्रह्म येषां ते महाब्रह्माः महाब्रह्मणोराष्ट्रेभ्य इत्यनेन सूत्रेण टस्तैस्तथोक्तैः जितेन्द्रियैः पुरुषैः अमा सार्द्धम् अमारणम् अहिंसां तथा चाध्यायन्, किम् ? कविभिरमा सार्कं काव्यम् ॥१४१॥

जो नारायण उत्कृष्ट नीतिका प्रवर्तक होनेके कारण समस्त उस लोकके लिए स्तुत्य है जिसके साधु हो रहे हैं, वही नारायण सदाचारी वीर पुरुषोंका स्नेही होनेके कारण विष्णुके (अ)विरोधियों (रावण-जरासंध) के मर्दक, धीरजशाली और चक्र (आर) के धारकोंका कल्याणकर्ता बन गया था ॥१३९॥

शत्रुओंके अपने-अपने प्रभुओंका अस्त हो जानेपर नारायणने इनके ऊपर अपनी प्रभुताको स्थापित किया था जो कि दैवका भी निग्रह कर सकती थी। युद्ध (आजि) में होनेवाले जीवोंके शोर (आराव) की समाप्ति करके शत्रु मण्डलपर अधिकार जमा कर वह सुखसे जी रहा था ॥१४०॥

नारायण प्रधान मन्त्रियोंके साथ युद्धका प्रतीकार सोचता था, बड़ी वय (महामात्र) के विद्वानोंके साथ अहिंसा तत्त्वकी विवेचना करता था, विपुल धन व्यय करनेपर सुलभ कवियोंके साथ काव्यचर्चा करता था तथा समस्त कार्योंको शास्त्रके अनुसार करता था ॥१४१॥

---

१. स्वस्य पत्यं प्रभुत्वं प्रासंगिकम् ।

अर्थानपेक्षानद्राक्षीत्काले करणमात्रिकान् ।
स पौरानङ्गहारांश्च नमत्क्रमकटीकरान् ॥१४२॥

अर्थानिति—स विष्णुः काले उचिते यथोचितावसरे अपेक्षान् अर्थान् अद्राक्षीदवलोकितवान् तथा करणमात्रिकान् अधिकारिणः अद्राक्षीत् तथा पौरान् नगरनिवासिन अद्राक्षीत् तथा अङ्गहारान् अद्राक्षीत् कथम्भूतान् ? नमत्क्रमकटीकरान् नम्रीभवच्चरणनितम्बहस्तान् ॥१४२॥

ततसारतमास्थासु सुभावानभितारधीः ।
धीरताभिनवाभासु सुस्थामा तरसाततः ॥१४३॥

(सर्वगतप्रत्यागतम्)

ततसारेति—आततः विस्तृतवान्, कः ? स विष्णुः, कान् ? सुभावान् सुष्ठुपरिणामान् कासु ? ततसारतमास्थासु विस्तृतसारतमप्रतिज्ञासु, कथम्भूतासु ? धीरताभिनवाभासु धीरताभिनवा आभा यासां तासु तथोक्तासु निःक्षोभ[1]वत्तरुणप्रतापासु, कथम्भूतः स विष्णुः ? सुस्थामा बलीयानिति कथम् ? तरसा शीघ्रम्, कथम्भूतः अभितारधीः अभिगता तारधीर्यस्य सः सकलशास्त्ररसास्वरसरसिकबुद्धिरित्यर्थः, पुनः ॥१४३॥

क्षयलोभविरागहेतवः प्रकृतीनामभवन्न यत्र यः ।
रिपुमध्यकृतास्य केवलं परवध्वः परकीयतां ययुः ॥१४४॥

क्षयेति—यत्र विष्णौ नाभवन्न सञ्जाताः क्षयलोभविरागहेतवः क्षयो बलाभावः, लोभः सर्वेषु पदार्थेषु व्यामोहः, विरागः अनुरागाभावः, क्षयश्च लोभश्च विरागश्च क्षयलोभविरागाः, क्षयलोभविरागाः, क्षयलोभविरागाश्च ते हेतवश्च ते तथोक्ताः, कासाम् ? प्रकृतीनां दुर्गाध्यक्षधनाध्यक्षसेनापतिपुरोधोमन्त्रिदैवज्ञलक्षणानाम् । आसां विपरीततया स्वरूपं निरूपयति क्षीणा हि प्रकृतिरकिञ्चित्करा जायते, लुब्धा खलु तमेव पतिं ग्रसते अहेरपत्यभक्षणवत्, लुब्धस्य विरक्ता सती राज्यभङ्गाय जायते इति, एतेन राजनि प्रकृतेः स्वाधीनता कथितेति, तथा यः अध्यकृत अधिकृतवान्, कम् ? रिपुं शत्रुं यः शत्रोः स्वामी बभूवेति भावः । एवं सति केवलं परं ययुर्गताः, काः ? परवध्वः अन्यकामिन्यः, काम् ? परकीयतां पराधीनत्वम्, कस्य ? अस्य विष्णोः अत्र विष्णोः परनारीसोदरत्वं प्रदर्शितमिति भावः[2] ॥१४४॥

वह उचित और निश्चित समयपर राजकाजको देखता था, याचकोंकी सुनता था, अधिकारियोंसे प्रतिवेदन लेता था, नागरिकोंसे मिलता था तथा शिक्षित और पादविन्यासमें पटु नर्तकोंका नृत्य देखता था जिसमें कमर और हाथोंका लोच दर्शनीय होता था ॥१४२॥

स्वयं आस्था (सम्यग्दर्शन)में दृढ़ और विपुल (तार) बुद्धिको प्राप्त नारायणने स्थिरताकी नयी ज्योतिसे दैदीप्यमान मूल तत्त्व (सारतम)में श्रद्धाको बढ़ानेवाले लोगोंमें, पवित्र भावोंका बड़ी तेजीसे संचार कर दिया था ॥१४३॥

जिसके राज्यमें प्रजाको क्षय, लोभ, अप्रीतिके कारणोंका सामना नहीं करना पड़ता था, जिसने केवल शत्रुओंका दमन किया था और दूसरोंकी पत्नियाँ ही जिसके राज्यमें परकीया दूसरोंकी पत्नी थीं अर्थात् कोई परस्त्रीपर दृष्टि नहीं डालता था ॥१४४॥

---

१. भवत् तरुण प० द० ज० ।

२. वैतालीयं छन्दः ।

चम्वाजिस्थिरया धरानमननिश्चिन्तस्थितोऽनश्चरन्
• प्रज्ञानस्थिति कर्मजातमवनिस्वामी सुखानां कृते ।
मत्वामा सचिवैरिहत्यमवसि स्थानं सतामर्चितौ
तौ जैनौ चरणौ प्रजाशमकृतौ रत्यास्तुतेन्द्रस्तुतौ ॥१४५॥

(षडरचक्रगर्भम्)

चम्वेति—अवनिस्वामी विष्णुः जैनौ चरणौ अस्तुत स्तुतवान्, कथम्भूतौ चरणौ ? प्रजाशमकृतौ प्रजानां शमं शान्ति कुरुत इति क्विप एतौ तथोक्तौ, पुनः इन्द्रस्तुतौ, पुनः अर्चितौ पुनः सतां सत्पुरुषाणाम् अवसि अक्षयं स्थानम् आस्पदम्, किं कुर्वन्नस्तुत ? कर्मजातं कार्यसमूहं चरन्नभुवन्, कथं यथा भवति ? अनः सोल्लासम् अन प्राणन इत्यस्य धातोः असप्रत्ययान्तः प्रयोगः, किमर्थं सुखानां कृते शर्मार्थे कथम्भूतं कर्मजातम् ? इहत्यं इह लोकोद्भवम्, पुनः कथम्भूतम् ? प्रज्ञानस्थितिं, किं कृत्वा ? पूर्वं मत्वा विचार्य्य, कथम् ? सचिवैः अमात्यैः अमा सार्द्धं कथम्भूतः सन् ? धरानमननिश्चिन्तस्थितः धरानमनेन पूर्वं निश्चिन्तः पश्चात् स्थितः मेदिनीप्रह्वी-करणनिश्चिन्त इत्यर्थः, कया ? आजिस्थिरया सङ्ग्रामस्थिरया चम्वा सेनया[1] षडरचक्रगर्भम् ॥१४५॥

नीत्या यो गुरुणा दिशो दशरथेनोपात्तवान्नन्दनः
श्रीदेव्या वसुदेवतः प्रतिजगन्न्यायस्य मार्गे स्थितः ।
तस्य स्थायिधनंजयस्य कृतितः प्रादुष्यदुच्चैर्यशो
गाम्भीर्यादिगुणापनोदविधिनेवाम्भोनिधींल्लङ्घते ॥१४६॥

नेत्येति—त्रिः । तस्य लक्ष्मणस्य यशः अम्भोधीन् समुद्रान् लङ्घते, केनेव ? गाम्भीर्यादिगुणापनोद-विधिनेव, कथम् ? उच्चैरतिशयेन, किं कुर्वत् ? प्रादुष्यत् प्रचुरीभवत्, कस्याः सकाशात् कृतितो विधानात्, कस्य ? जयस्य, कथम्भूतम् ? स्थायिधनं यो नन्दनः पुत्रः स्थितः, क्व ? मार्गे, कस्य ? न्यायस्य, केन सह ? दशरथेन गुरुणा पित्रा, किं कुर्वतो न्यायस्य ? अवतो रक्षतः, कथम् ? प्रतिजगत् लोकं प्रति कथम्भूते मार्गे ? वसुदे कथम्भूतो नन्दनः ? नीत्या दिशः ककुभः उपात्तवान् गृहीतवान्, कथम्भूतया नीत्या ? श्रीदेव्या श्रिया दीव्यति विलसतीति श्रीदेवी तया ।

अथ भारतीयः—तस्य विष्णोर्यशः कर्तृ लङ्घते, कान् ? अम्भोनिधीन्, केनेव ? गाम्भीर्यादिगुणा-

---

युद्धमें डटनेवाली सेनाके द्वारा समस्त पृथ्वीको वशमें करके निश्चिन्त हुए और आसमुद्र धराके स्वामी नारायणने, भव्योंके द्वारा पूजनीय, इन्द्रके द्वारा स्तुति किये गये और प्रजामें सुख एवं शान्तिके कारण जिनेन्द्र देवके लोकमान्य चरणोंकी श्रद्धा और प्रेमके साथ स्तुति की थी। तथा अक्षय (अवसि) पदके भण्डार (स्थानं), सम्यग् ज्ञानके कारण लौकिक (इहत्यं) अनुष्ठानोंकी परम्पराको भी वह मन्त्रियोंके साथ विमर्ष करके अपने और प्रजाके सुखोंके लिए सहर्ष (अनः) करता रहता था ॥१४५॥

जिस नारायणने लक्ष्मीकी क्रीडाभूमि (देव्या) नीतिके द्वारा दशों दिशाओंपर अधिकार किया था, जो पिता दशरथके द्वारा आनन्दवर्द्धक, संसारके रक्षक और न्यायकी सम्पत्तिदाता मार्गपर लगाया गया था, जिसके विजयरूपी पुरुषार्थके कारण स्थिर सम्पत्ति बढ़ी थी और जिसका यश गाम्भीर्य, आदि शिष्ट गुणोंके साथ खेलता हुआ समान चारों समुद्रोंको लाँघ गया था।

---

1. शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

पनोदविधिनेव कथम्भूतं यशः ? स्थायि स्थिरतरम्, कथम् ? उच्चैरतिशयेन, किं कुर्वत् ? प्रादुष्यत्, कस्याः सकाशात् ? कृतितः विधानात्, कस्य ? धनंजयस्यार्जुनस्य यः स्थितः क्व ? मार्गे, कस्य ? जगन्न्यायस्य, कथम्भूतः ? वसुदेवतः प्रति वसुदेवस्य प्रतिनिधिः वसुदेवेन सदृश इत्यर्थः, पुनः कथम्भूतः ? नन्दनः समृद्धः, कया ? श्रीदेव्या पुनरपि कथम्भूतः ? उपात्तवान्, काः ? दिशः, कया ? नीत्या, कति संख्योपेताः ? दश तथा रथेन स्यन्दनेन च, कथम्भूतेन ? गुरुणेति । अथ ग्रन्थकारपक्षोऽभिधीयते—तस्य धनंजयस्य कृतितः कृतेः प्रादुष्यत् स्थायि यशः कर्तृ लङ्घते, कान् ? अम्भोनिधीन्, केनेव ? गाम्भीर्यादिगुणापनोदविधिनेव । कथम् ? उच्चैः यः श्रीदेव्या मातुर्नन्दनः पुत्रः स्थितः, क्व ? जगन्न्याये कथम्भूतः ? वसुदेवतः प्रति वसुदेवस्य पितुः प्रतिनिधिः, पुनः कथम्भूतः ? दिशः उपदेशान् उपात्तवान्, कस्याः ? नीत्या नीतेः, केन ? गुरुणा, किमाख्येन ? दशरथेनेति ॥१४६॥

इति निरवद्यविद्यामण्डनमण्डितपण्डितमण्डलीडितस्य षट्तर्कचक्रवर्तिनः श्रीमद्विनयचन्द्रपण्डितस्य गुरोरन्तेवासिनो देवनन्दिनाम्नः शिष्येण सकलकलोद्भवचारुचातुरीचन्द्रिकाचकोरेण नेमिचन्द्रेण विरचितायां द्विसन्धानकवेर्धनंजयस्य राघवपाण्डवीयाभिधानस्य महाकाव्यस्य पदकौमुदीनामदधानायां टीकायां नायकाभ्युदयरावण जरासन्धवधव्यावर्णनं नामाष्टादशः सर्गः ॥१८॥

■

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

श्री देवीके नन्दन और वसुदेवकी प्रतिमूर्ति जो नारायण (कृष्ण) संसारमें न्यायके ही मार्गपर आरूढ़ था, जिसने पवित्र राजनीति और विशाल रथके द्वारा दशों-दिशाओंके स्वामित्वको प्राप्त किया था, धनञ्जय अर्जुनके पराक्रमके हेतुसे उसका स्थायी यश फैला था तथा गम्भीरता आदि समस्त गुणोंकी क्रीडस्थली होनेके कारण उसकी कीर्ति समुद्रके पार चली गयी थी ।

श्री देवी (माता) और वसुदेव (पिता) के न्यायशास्त्र प्रेमी जिस पुत्रको दशरथ गुरुने नीतिपूर्वक साहित्यकी दिशा प्राप्त करायी थी । उस धनञ्जय कविकी कृति (द्विसन्धान काव्य)के कारण स्थायी कीर्ति हुई है । गाम्भीर्य, माधुर्य, प्रसाद, आदि काव्यके गुणोंके द्वारा वह समुद्रोंकी गहराई, निर्मलता, आदि गुणोंकी भरपूर हँसी करती है ।

निर्दोषविद्या भूषण भूषित; पंडितमण्डलीपूज्य, षट्तर्कचक्रवर्ती श्रीमान्, पण्डित विनय-चन्द्रगुरुके प्रशिष्य, देवनन्दिके शिष्य, सकलकला चातुरी-चन्द्रिका चकोर नेमिचन्द्र द्वारा विरचित कवि धनञ्जयके राघव-पाण्डवीय नामसे ख्यात द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी टीकामें नायकाभ्युदय वर्णन नामका अष्टादश सर्ग समाप्त ॥१८॥

■

श्लोकानुक्रमणिका

[अ]

अग्रतो भव शुभे पथि १०।१०
अजरोऽवनिवृत्तचेष्टित- ४।३२
अजित्वान्यं श्रिया विष्णोः १८।७२
अज्ञातचरितं शत्रुं ९।४
अत्यन्तीना ह्यालीयम् १८।४०
अत्यय्वान्तां महोनायाम् १८।३२
अत्यन्तकोऽपकारेण १८।८३
अत्र समेता मृदुरसमेता ८।३०
अत्र स्नुताधिकमनोजवधू- ८।५२
अत्रान्तरे शरच्छन्न- ७।१
अत्रासन[illegible]रचनाविलो- ८।२२
अथ कदानुवशा नु ८।१
अथ जातु न यौवनोदये ४।१
अथ वानराधिपतिभिः १२।१
अथ वनमनुकूलमङ्गनाभिः १५।१
अथ वारुणीरुचिरभाजि १७।२८
अथ संयुगं सुतरसासयुगम् १७।१
अथाभवत्स दशरथोग्रविक्रमः २।१
अथापरागोऽप्यपरागतां १।९
अथास्य राज्ञः प्रियधर्मपत्नी ३।१
अर्थान् प्राणान् स्वान् विनयन्ते
१३।१८
अदृश्यपारापतनाभिहेतुषु १।२७
अदृश्येतामुभौ सेन्द्रैः १८।१०१
अध्यासीना निश्चला ८।१०
अध्वान्तेऽसौ चेतसि वैरं १३।३
अधिजलमधिकुङ्कुमं बभौ १५।३९
अधिरुह्य जनेन पश्यता ४।२६
अधिष्ठितोऽस्त्रविद्याभि- ९।३४
अधोऽधः पेतुरानीलान् १८।४७
अत्र कोऽपि वरुणोऽपि कुबेरो
१०।३४
अन्तःपुरे राजनि राजधान्यां ३।१७
अन्तरङ्गमनुभावमाकृतिः १०।२३
अन्वेति रत्नोल्लसितेन्द्रचापः
८।१८
अन्यदा रसमिवेक्षवं १०।१
अन्यदा साहसगते ९।११
अन्यात्मदर्शे मुखमीक्षमाणा ८।३८
अन्तर्बहिःसंप्रतिकालरात्री
१३।३५
अन्योन्यनिद्रावसरं प्रतीच्छत्
१७।८६
अन्योन्यमुत्पीडयतोः सजीव
१६।२३
अनन्यसाधारणरूपकान्तिषु १।३९
अनारतं तिसृषु सतीषु २।१४
[illegible] ८।४
अनुजं तु मृत्युमिव हन्तुम् १७।७
अनुजग्मुरेनमनुकूलतया १२।२
अनुकूलफलासु भूभुजा ४।४३
अनुद्धतान् युवजरतः २।२६
अनुरहसमुपैति मन्मथ १३।४१
अनेकमन्त्रार्णवारितातपं १।२३
अभ्यङ्गसंचारकमङ्गरागम् १६।४४
अप्यज्ञात्वा रावणावार्यशक्ति
११।२१
अप्रारम्भात्कार्यमकौशलाद्वा ११।३
अपसले जगैरसाः ९।४७
अपाण्डुरं रागनिबद्धमङ्ग- ३।५
अपि चामी करिकुलैः ७।५२
अपि धीरिकया द्विषोऽभवन् ४।३९
अपि दूरमपैष्यती प्रदेशं १३।३१
अपि यस्य जगाम मुद्रया ४।३८
अभ्यादत्ते कार्यजं योनिजं वा
११।९
अभ्येत्य निर्भर्त्स्य जगाद ५।२३
अभिमुखमवलम्बितोऽम्बुना
१५।३७
अभिषेचकं निपतता हरिणा
१२।२३
अभिवृद्धिमियति विप्रिये- ४।१९
अभिषेकजलप्लवेन सा ४।२७
अभूत्प्रकाशं विपिनं प्रचारैः ५।४४
अभूद्गुरुर्बहुरूपदेशगुमतः २।६
अभूम शौर्यस्य पदं रणेऽस्मिन्
१६।७८
अमरः खचरश्चक्रम् १८।११९
अमरित्वञ्जनः पूर्वम् १८।४२
अमा रणं महामात्रैः १८।१४१
अमुतश्च पुण्यशयनं १२।१७
अमुत्र मकरैः करैर्विरचिता ८।२४
अमुनाभिशयन्यनं रुदन् ४।४९
अयमगाधगभीरगुरुर्गुणै- ८।२
अयानि तव तिष्ठ त्वम् १८।३३
अर्थानपेक्षानद्राक्षीत् १८।१४२
अरण्यवृत्तेरुदवासकर्मणः १६।८२
अरयाश्वं हरिर्युद्धम् १८।७५
अरयो भीरवश्चक्रे १८।१७
अरान् घटीयन्त्रगतान् ११।३
अरावणञ्जगद्विश्वम् १८।६४
अरिरहन् रणेऽज्ञाक्षीत् १८।३६
अरुणरक्तमणिनगणानुच्च- १८।५३
अलङ्घितव्योमगमार्यभूमिम्
१६।४
अलस इव गतं कुतोऽपि चित्तं
१५।२८
अलीककलहाकृष्ट- ७।३८
अव्यक्तभावोऽप्यमलव्यदेह- ३।८
अव्यालोलङ्कायमानो यश- १३।४
अवचनमविहाय्यमन्यु- १५।१३
अवचितकुसुमावशिष्टवृत्तं १५।८
अवन्यायपथं चीप्सन् ७।९१
अवलोक्य तं कलकलं मुमुचु-
१२।४४
अवलोकितुं हरिविघातमसह
१७।२१
अवाष्टभञ्जनात्स्वाद- १८।१३२
अवाहयत्तुरगमवाहितं गजं २।१८
अविलिप्तकुतामोदा- ७।७९

अविस्मरन्पराघातम् १८।६०
अश्वोरसपतत्पत्तिः १८।१८
अशिरः शवं शरणमेष वियाति १७।२
अशेषमाकीर्णमुपैति ६।४६
अशोकसंसच्छन्ननागकेशरैः १।२८
अस्त्रशवयमपि दूरमर्जुनः १०।१७
अस्त्राणि यन्त्रमुक्तानि ९।३७
अस्ति नानाप्रकारोऽसौ ७।२६
अस्याम्बुवेर्यातिनिवृत्तमार्गे ८।२८
अस्मिन्नद्राविलस्थाने ७।३२
असृग्वसामांसरसेन भग्ना १६।८२
असत्यसन्धाः परलोकवञ्चकाः १।४८
असत्कमशिरोऽश्वीयम् १८।२४
असि भुजमहं धैर्यम् १८।७
असुग्रीवाभियोगार्तम् १८।६७
असुलरां सुतरां स्थितिमुन्नता-८।२
असूययाऽऽगम्य निशाम्य १।१९
असंस्तुतं प्राप्य ततो ५।३२
असंमनन्ती व्यवधानमक्ष्णोः १७।७७
अहो परमरौद्रत्व- ७।५९
अहो रूपमहो कान्ति- ७।८३

[आ]

आकृष्टचापं द्रुतमुक्तबाणम् १६।१४
आकृष्य हस्तं विधृतं ८।४३
आकारमादाय विनीतवेषं ५।१६
आक्रीडशैलाः कुलपर्वतास्ते ११।३२
आज्ञासमापनीयेन १८।७६
आत्मपादशरणं कुमुदौघम् १७।५०
आत्मैव स्वयमवधार्यते १४।१३
आद्रौ बालादिचक्षिपुस्तस्य शोभा- ८।५०
आदित्सया मानवतस्य ५।५३
आदिप्रजापतिः स्वाच्छे- ७।७३
आधूनानः करं भानुः १८।५५
आन्वीक्षिकीं शिष्टजना- ३।२५
आनीकं द्विपमधिरुह्य रामभद्रः १४।६
आपृच्छमाना इव नादवस्वान् १६।८१
आपातुं जलमिदमिन्द्र- ८।८
आभिरूप्यस्य निष्पत्तिः ७।७१
आमण्डलीभूतशरासनस्य ३।३८
आवारितो मध्यगतैः ५।३५
आरावं दिशि दिशि तं निशम्य १४।३
आलिङ्गन्निव वेलाभिः ७।९४
आलिङ्ग्य गाढं मधुरं ध्वनन्ती १७।६४
आलीकपदविन्यास- ९।४३
आश्लेषमन्तः क्वथनं प्रणामम् १७।८५
आश्रयस्त्वमसि सर्वलघूनां १०।६
आश्रमः सर्वशास्त्राणा- ७।७०
आशङ्कसे चेत्परिभावमर्थ- ५।२५
आशा मुक्ता बन्धनेनेव ६।४९
आशीतिका वर्षवराः ३।१५
आशिश्रियन्नदीनाथः १८।११२
आशुशुक्षणिरिवाशु स १०।१४
आस्थायुकः स्यन्दनमन्तरिक्षम् १६।४६
आस्येषु जिह्वा हृदयेषु हस्तान् १६।२६

[इ]

इच्छातिमङ्गेन न रन्तुकामं ५।५
इत्थं तेन व्यापृतनेत्रेण ८।१९
इत्थं हिरण्यकशिपूदयपक्षपाती १२।५२
इत्यर्जुनोक्तां मनसा प्रसन्नः ८।३४
इत्यधायि द्विषन्देवैः १८।९९
इत्यद्रिकुञ्जान्तरितः ५।४९
इत्यतो रावणो रोष- १८।९
इत्यपायवदुपायनत्रये- १०।२१
इत्यस्य वाचमभिनन्द्य ११।४१
इत्याकर्ण्य तमुत्साहम् १८।९२
इत्याकूतं तस्य भीमोहितस्य ११।२२
इत्यादाय दिनैः कैश्चित् १८।१३०
इत्याशङ्क्य चिराज्जज्ञे १८।३८
इत्याशंसुर्नाभिगन्धं मृगाणाम् १७।८०
इत्युक्तासौ तस्य विरागं १३।३६
इत्युक्तेऽस्मिन्पादमुपात्तं १३।२१
इत्युच्चकैः स्तुतिशतं १२।५१
इत्युद्यतं राजकमन्यपक्षम् १६।७१
इत्युपायमविचार्य तदार्यः १०।३२
इत्येतस्मिन्मुक्तवत्येतदेवं ११।१३
इतस्ततः संविवरीषतां ६।१९
इतस्ततोऽभ्रंलिहशृङ्गकोट्यो १।२०
इति किमपि विकोपितास्तरुण्यः १५।३१
इति चपलविलासिनी १५।१६
इति चक्रस्य तत्कालम् १८।६५
इति तस्य निशम्य १०।४१
इति दिग्विमूढमिव तत्र १७।३५
इति प्रतापादवगाढयो- ६।१४
इति मोघं बभूव वारिः १८।५९
इति रतिमनयानुरुध्यमानो २।३४
इति वनमभितो विहृत्य १५।३३
इति विनययन्नुच्चैस्तत्कथा- ३।४३
इति विविधरतेन राजलोकैः १७।८३
इति स पूतनां दृष्ट्वा- ५।६९
इति स मरुतः शक्रयास्तोकं १३।२९
इति सङ्कथां निशमयन्सुहृदः १२।२९
इतीदमभिधाय तां १३।४४
इतीदमाकर्ण्य स पावभंजये- ११।३१
इतीरयित्वाऽहितकम्पवेगं ५।३०
इतीश्वराः केशवतो भवन्तः १६।६२
इदमन्यच्च कलयन् ७।९०

इदं मया नयमपदिश्य २।१९
इदमित्यनुशिष्य मेदिनी- ४।२१
इदमेवमनादिगोचरं ४।५०
इन्दोः प्रियस्यापि कराग्रपातैः- १७।५७
इन्द्रो विभूत्या स बृहस्पतिर्वा ३।२
इयत्तया वक्तुमहं न शक्तः १६।२५
इषुन्विमर्देऽमुचतां ६।९
इह किंपुरुषाः पश्य ७।४२
इह भान्ति मण्डपभुवः १२।२५
इह सैकतं तरङ्गितमिदं १२।१५
इहावापत्कीर्ति हरिदवधिमन्यत्र १६।८४
इहैव जम्बूतरुमालवालवत् १।१०

[उ]

उक्तेन पीनःपुनिकेन किं वा १३।३२
उच्छ्वासाद्विविधभरं लघुं १४।२०
उच्चैरंहाः प्रतापेन ९।१८
उत्कर्ण्य मौर्वीनिनदं नृपाणाम् १६।२०
उत्कार्तस्वररुचयोऽपि १४।१०
उत्कीर्णा इव कुलपर्वता ५।६५
उत्कीर्णैरिव विधुभिर्मुखैः- १४।९
उत्खातरोपणमिदं निजमेव १२।४७
उत्तमोऽपरतो दुःखम् १८।७९
उत्तुङ्गश्यामलकुचा ९।१९
उत्तरेऽर्थे कृतार्थत्वम् १८।४
उत्प्रेक्षणे लक्ष्यविधौ ३।३७
उत्पलस्य शशिनोऽप्यवतारात् १७।५६
उत्पलायत लोलाक्षः ७।५
उत्सवरगौरवकुलः ९।१२
उदियरश्मिव सन्ताप- ९।१४
उद्दीपितोऽर्यमायासि- ९।२९
उदधूतापाण्डुरश्याम- ७।४८
उदबिन्दूनां मुहुरनुबद्धं ८।१७
उद्यत्कक्षा गोपुरशालध्वजमाला १३।८
उद्युक्तानामुदधिमहत्त्वस्तुत्या ८।१३
उद्योतितदिशः पक्वा ७।४४
उदयमद्रिव तत्पराभिमर्शा- १५।२०
उदयाद्रिभूतिरिव भोगगतिः १७।११
उदर्कसंक्लेशभरं स्वयं १।१४
उदः[illegible] ५।२८
उन्नतोऽसि विशदोऽसि १०।२६
उन्नेतुं तपनवितापमङ्गनानां १४।११
उन्मग्नशङ्खं श्रमफेनमुक्त- ५।३६
उन्मील्य रूपं सह सामि ८।४४
उभयपार्श्वगतान्तिशिता- ५।६८
उपकर्ण्य तथा नरेश्वरं ४।३०
उपवन्यभूम्युपगिरं च १७।३०
उपवनमभिरामवल्लभां १३।३७
उपवीणयन्दृषदि सिद्धवदं १२।३३
उपसान्त्वय कृत्यमारभन- ४।१६
उपाददे परसुखदुःखचिन्तया २।९
उरसा निपीड्य भुजयो- १२।३९
उरः श्रियः स्थलकमलं २।२
उल्कान्तरं शक्रधनुस्तडिज्ज्यम् १६।६६

[ऊ]

ऊर्जस्वलः पर्वतभित्तिवक्षा-३।३२
ऊढवान्यदपि गण्डशैलकं १०।४४

[ऋ]

ऋजुप्रकारेषु गुणेषु ५।६०
ऋजुस्वभावादवदातवृत्ताः १६।५६
ऋजूपकारिनिर्व्याजं ९।४४
ऋतं वचो-विसमुदितं २।२७
ऋषिकोटिभीत इति जन्यभिया १२।३०

[ए]

एकमुक्तिमलुर्थं च १८।१३४
एकः सर्वास्त्रसंग्राहः १८।२३
एतान् प्रवालविटपान् ८।९
एनां घनकुचोच्छ्राय- ७।८७
एभिः शिरोभिरति- ११।३८
एवं चूडाताडितपादं ३।३९
एवं नानाक्षत्रियवर्गैः १४।२६
एवं वाक्यं विष्टरविष्ट- १३।१५
एष चापगुणोन्मुक्त- ७।५७
एषा कटाक्षपातेन ७।८९
एषा पक्वफलाशालि- ७।५१
एषा पुलिनम् विलसति मुक्ता- ८।११
एषा विलासभावेन ७।७४

[अं]

अंसाग्रविश्रान्तकुचान्तचक्र- ८।४२
अंसोत्सेधेन सोत्सेकः १८।२५

[क]

कृत्याकृत्येष्वन्यदीयेषु योज्यो ११।२७
कृत्वा सपर्यां कुलदेवताभ्यो ३।२६
कृत्वोच्चैरथ वेगेन ९।४१
कृतातिपातावधिकौ ६।२
कृतपाणिपीडनविधिः प्रथमं १२।४०
कृतमुच्छ्रितं तदनुदात्तम् १७।३२
कृतार्थसाराम् व्यवहारघोषिणो १।३५
कृतावतारायतिपुण्य—१।८
कृपया नापि मोहेन १८।८२
कृषीबलं कृषिभुवि वल्लवं २।१६
क्वचनातिपातमटवीमटवीं १२।८
क्व नृपो भरतोऽमरार्चितो ४।८
क्रमशोऽतिजगाम नर्मदां ४।४२
कञ्जकिञ्जल्कगन्धान्धैः ७।१४
कर्णोत्तंजास्तेन विलूनपुष्करा ६।२४
कथमपि नमयन्नुपेत्य १५।१९
कथां तदीयां स निशम्य ५।२२
कदाचित्कृतनैपथ्यं ९।८
कन्याहेमपुरी लेभे १८।१२१
कपोलयोर्मूर्द्धनि पादयोस्तं ३।२२

कम्बुग्रीवालघुश्रोणि: ७।६७
कमन्यं य: समुन्न–१८।११५
कमला च दलान्तरस्थ–४।२८
कमाशु न तथारेभे १८।१२२
कर्णश्रुति गच्छति तूर्यनादे १४।३३
कर्मोपायं प्रक्रमं तत्फलासिं ११।१४
कवेरपार्थमधुरा न १।५
करतलपिहितं प्रियाननं १५।४०
करीव सोऽपास्तमुखच्छदोऽयम् १६।७६
कल्लोला: सपदि समुद्‌धृता ८।६
कल्लोलैरिह जलधे: ८।२६
कल्याणनिक्वणा वीणा ९।९
कलत्रपुत्रमित्राणि ९।३८
कलमलिकुलकोकिला प्रलापं १५।६
कलागमानामधिदेवतेव २।३१
कस्यात्यन्तं भिन्नमेकान्ततो वा ११।८
कान्तोन्नतस्तननितम्बनिपीडनेन १५।४६
कामिपरीता मधुविपरीता ८।३१
कायस्य त्वचि कठिनस्य १४।१९
कार्यस्यादौ य: प्रयुङ्क्ते ११।७
काष्ठां गिलन्तीव भुवं ५।२७
किञ्चित्पूर्वप्रियाद्‌बाल्यं ७।८०
किमतिविपिनमन्तरे नदी १५।२९
किमभुक्तमनुष्ठितं जनै–४।४
किमु मधुरसितां मुखातिप्रियाम् १७।६५
किमु मे भुजेन भुवनस्य १२।५
किमु विलुलितकुङ्कुमावलि १५।४२
किं मर्यादामेष जलात्मा ८।१४
किं व्यायामो यो विहीन: ११।१५
किं विग्रहेणोभयजन्मनाशा— १०।४०
किंशुकाकुलभूमीनां ७।१९
कुकाव्यबन्धे यतिवृत्त–१।४७
कुचयुगमतुलं कुतोऽस्य भार: १५।१२
कुमारभृत्याकुशल: स तस्मि-३।६
कुपितमवचनं शिर:प्रणाम: १५।३२
कुर्वन्स्वरं हस्त उदारवृत्तिम् १६।१५
कुलजं शमिनं बहुश्रुतं ४।४१
कुलपर्वता: कुलपराभवत: १२।१३
कुशासनोदीरितचेतसश्चला १।१६
कुसुमं धनुर्मधुलिहोऽस्य १२।२७
कुसुममिषुचयो गुणोऽलिमाला १५।५
केऽपि वृष्णिकुलजा: १०।१५
केशवो बलदेवश्च ९।५०
कैश्येन कुर्वतीं मुक्त—७।७७
कोऽपि क्षोभीभूतलक्ष्मेशवारी ११।२८
कोटिश: कुञ्जरबलं ९।४५
कोपरक्तकपिलालसद्‌दृष्टि- १०।२२
कोपाश्रुभि: कालवर्गै: परीत: १७।६८
कोप: कश्चिज्ज्वलत्यस्य १८।३७
को वा कवि: पुरमिमां १।५०
कौरवीं गतिमुच्छेत्तुम् १८।१०८

[क्ष]

क्षतजप्रवाहनिवहस्य १७।२७
क्षणभङ्गुरमङ्गमङ्गिनां ४।६
क्षयलोभविरागहेतव: १८।१४४
क्षीरधिप्लवकृतोद्‌गमैरिव १७।५१
क्षुपविपिन लतान्तरे १५।१८
क्षेपयन्निव मुखामुखिमानम् १७।६७

[ग]

गृहवापीषु सोपान–९।२६
ग्रीवाहते क्षरत्तन्त्री १८।९८
ग्लानि मुक्तामण्डपे तन्तुजालम् १७।८१
गतवत्यरौ तमनुमत्य १७।२४
गतेन राजहंसीय–७।८८
गता हयेभ्योऽप्यसवो–६।४३
गतावशिष्टेषु बलेषु ६।१५
गतारिपुत्रा सगुणा १।४९
गजगण्डघट्टितमदच्छुरितां १२।३४
गजा नियन्तृन्करशीकरोत्करै- ६।३२
गजेषु नष्टेष्वगजेष्वनायकं ६।३०
गर्भपीडा इव हया: १८।३१
गरो गिरिगुरुगौरै: १८।५४
गाङ्गाहिता: प्रतिजयैर्जल- १४।३९
गायका गाथकाबन्धै: १८।९४
गाढाकल्पकनिघ्नत्वं ७।९२
गुणेन मुक्तं गुरुपर्वरिक्तम् १६।५२
गुणेन लोकं निनदेन ६।६
गुणोऽखिलो वसु च २।५
गोक्षुराहत इवायमेकतो ८।१२
गौरक्षिकामिमां स्रष्टुं ७।८२

[घ]

घनसारसुगन्ध्ययाचितं ४।४०
घनयो: स्तनयो: स्मरेण तन्व्या: १७।७९
घाताय कर्तुं द्विषतां प्रवीरै: १६।२२

[च]

च्युताधिकारा इव चिन्तयाकुला १।४५
चकम्पिरे किंपुरुषा ५।३१
चक्रं दु:सहमालोक्य १८।८०
चतुर्दशद्वन्द्वसमानदेह: ३।३३
चन्द्रो वात: शीतकं चन्दनं च १७।४७
चन्दनस्यन्दसान्द्राङ्गी ९।२०
चमरा व्यजनेन वीजयन्ति ४।५४
चम्वाजिस्थिरया धरानमन- १८।१४५
चलत्परिमलासक्त- ७।४१
चलत्पताकामुद्‌बद्ध ९।५१
चित्तं चित्तेनाङ्गमङ्गेन वक्त्रम् १७।७०
चिरं निबद्धो नियमेन सोऽयम् १६।४५
चिरन्तने वस्तुनि १।३

रमेष चेतसि निरुद्धमुदितम् १७।८
रस्य युद्ध्वा स पपात ६।३६
रानवस्थाननियोगखिन्न- १४।२७

[छ]

ध्वजानामितरेतरस्य १६।५७
न्नैः शर्कैः समीकेऽस्त्रैः १८।२९
ीत्कारच्छातजठरै- ७।१०

[ज]

यथोविरिञ्चं विनिशाम्य ६।५
वलत्यमुष्मिन्कुपिते ६।२३
याचकरुद्धं स्थितमङ्गमेव १६।२१
ायते च भवतः परिरुच्चै- १०।२८
घनं निबध्य वसनेन १२।३६
जघन्यवृत्तिं पुरि यत्र १।४३
जडेषु क्वाह्योष्वपि १।३८
जनमाकलस्य भुवि १२।१२
जयश्रियं दक्षिणमंसमंसलौ ६।३
जलवेणीति संतुष्य १८।४६
जलपरिचयैरुत्सुकत्वं १५।४५
जलाशयं दिशि दिशि २।२३
जातं रणरणोपेतं ९।१६
जानामि किञ्चित्त्रपया ५।१७
जाने हि मृत्स्नाऽभ्यवहारमात्रं ३।७
जिगाय षड्विधमरि- २।११
जित्वारयः सुखं बन्धून् १८।१०
जीवाभिघातं कृतधर्मपीडम् १६।६१

[त]

तृणकौतुककङ्कणोचितां ४।४८
त्यजतो न जहाति ४।५
त्रस्तेऽरावबरास्तेऽत्र १८।११६
त्रिदिवेच्छया व्रतमिहत्यजनैः १२।२८
त्रासो विरूपरेखा वा १८।८८
त्रेपे नृपाणां ८।५५
त्वामभ्युपैतु पुनरभ्युदयाय ४।५५
त्वं जीविकाकृत्य ५।२०
त्वं हिमाद्रिरपि तां १०।५
त्वमिहात्य यथा तथा सतो १०।४२
त्वं श्रीमहामङ्गल कुम्भकर्णं ११।३६
तन्वेकैकं यन्मुखेनैककेन ११।५
तत्याज्यं गतधृतिमत्स्य १४।२३
तत्याज पुत्रो वितयं ३।३४
तत्संहारो मा स्म भूद्बन्धुतायाः ११।४०
तत्सर्वं वा रम्यमल्पाल्पमेव ११।६
ततसारतमास्थासु १८।१४३
ततो विधातुमन्येषाम् १८।११०
ततोऽभ्यमित्रीयमिदं गरीयो १६।७४
ततो यदूनां बलमभ्यवस्थाम् १६।३०
ततो गभीरश्चरितैरगाधै- ५।५०
ततोऽधिके तादृशि १।७
ततो बलेन बाल्येऽपि ९।२९
ततो वनं देशमनेकमेव ५।१
ततः समीपे नवमस्य विष्णोः १६।१
ततः प्रयुक्तभ्रुकुटिः ६।१
ततश्चकाङ्क्ष स्मरमोहहेतुं ५।१५
ततः स्फुटं पञ्चकमीक्षमाणौ ६।४७
ततः समाधिष्विव तौ ६।४
ततः सुमित्रोदयहेतुभूता ३।२९
तथाचार्यं चर्यापरिणत- १२।५०
तथा द्विपेन्द्रास्तुरगाः ६।४४
तथा तं वीक्ष्य वियति ७।४
तथायुधिष्ठिरस्तारम् १८।६६
तथावधूतोऽपकृतिं ५।३३
तथावस्थं समालोक्य ९।३०
तथाविधेऽभ्युद्यति धूलिजाले १६।५४
तथा विराधितं ९।२
तथा वेदं तेषां कुसुमरचितं १५।४९
तथापि न ... १।८२
तथा हरीणां कलहायमाना १६।३१
तथाहि भोगाः स्तनयित्नु- ६।४५
तथोभयेषामपि भूपतीनाम् १६।५५
तथातथ्यं तत्प्रकृत्यानुकूल्यं ११।१६
तद्दानेमद्विपमदमरुद् १४।३०
तदाशंसे रणभूमिरेषाम् १६।३२
तदितो निरूप्य पयोधरयो- १२।१४
तदेव गाम्भीर्यमदः १४।३४
तदेव संदर्शनसंकथाः १३।३९
तद्दंशभीताधररागसङ्गात् १६।२
तन्मध्यं हरिकुलनायकं- १४।२४
तनुरक्षया परिणतेव कुपितम् १७।४
तेनाजितात्मशिरसा श्रीः १८।९७
तनुं नटन्त्याः किल काचकुट्टिमे १।३०
तमधूममग्निमिव दृष्टिविषम् १७।३
तमुदीक्ष्य नवोदयस्थितं ४।२३
तमुदीक्ष्य शैलमुपयन् रभसा १२।३५
तमूर्जसारावणिमभ्यपेतौ १६।११
तयोः पतन्त्यः शरपञ्जरान्तरं ६।३४
तरवो न सन्त्यफलिनो १२।२४
तरलयसि दृशं किमन्यचेता १५।२७
तुलयन्निवोभयरसं मदिराम् १७।७८
तव पूर्वजेन यदुनोपनताः १२।११
तस्यानृतमिति श्रुत्वा ७।८४
तस्यावतंसोत्पलपत्रमैत्रीं ५।१३
तस्या विशेषेण कृताभिलाषा- ५।१२
तस्मिन्कालेऽनुजोपायात् ७।२०
तस्मिन्काले जरासन्धो ९।१
तस्मिन् काले लीलया ३।४१

तस्मिन् सुते तत्क्षणजातमात्रे
३।१२
तत्रैव चेतोनयनेन्द्रियेषु ५।१४
तादृशं प्रशमितं ननु १०।८
तान्प्रावृषेण्याम्बुदभाषि पांशौ
१६।५३
तीक्ष्णो नादः साधयेद्यन्मदीयान्
११।१८
तीरद्रुमेषु करिणः पटमण्डपेषु
१४।३८
तीव्रोद्भवं क्रुद्धमनेकसैन्यम् १६।३९
तुलितरसनमौपनीविकं १५।३६
तेजिते तमसा जेरे १८।३०
तेऽप्यातयन्मार्गणमेष वाहम् १६।५१
ते रोपणैरावृषतार्कभासः १६।६७
तेषु ग्रहेषूच्चगतेषु ३।११
तेषां धनुर्मण्डलितं यशो न
१६।२९
ते सायकाः संयति संनिवृत्य
१६।५८
तैस्तरङ्गाकुलितास्तुरङ्गाः
१६।६८
तं सत्यकोपाहतशत्रुमुच्चैः
१६।४२
तं द्रोणसंशब्दनमादधानं ३।३५
तं विलोक्य सहदेवविक्रमं
१०।१९
तं समुद्रविजयं प्रतापतः १०।२०
तां श्रीवधूं ८।५४

[द]

दृष्ट्वा दम्पत्यङ्घ्रिशृङ्खलबन्धेन
१३।७
ददर्देऽद्रोऽदरिद्रोऽरि १८।५१
दन्तान्तरसमासक्त– ७।१५
द्विषि मित्रमति हितप्रिये ४।७
द्विषतां भयेन सुहृदां १२।४३
द्विषन्मारीचोद्यप्रबल ११।३७
द्विषो जगद्विलयभया २।१०
द्राग्दानोच्छेदभीतेव १८।२०
द्राघिम्नि बाह्वोरुरसः प्रथिम्नि
१६।४९
द्युमणौ प्रतापिनि गते १७।३१
दयामनोद्दीपनमात्रहेतो– १३।३०
दशां दधानाः खलु– १।१५
दष्टदन्तच्छदं बद्ध ९।४६
दृष्ट्वाथ स दशास्यतेजसो
१०।३३
दष्टाधरं तिष्ठतु सम्प्रहारः ८।४१
दहनास्त्रपाणिरपमूर्धं विदधत्
१७।६
दारुण्यमात्मन्यनुदाय्य १७।४५
दाहप्राकारोऽप्युताहो १३।५
दिदृक्षमाणस्य जनस्य ८।४७
दिदृक्षुराहतमिव जनौ: १५।२८
दिधक्षवे लोकमरातिसैनम्
१६।३८
दिनानि लब्ध्वा ववृधे ३।२१
द्विपदन्तपत्रमदमौक्तिकवद्धतः
१२।२२
दिवि दुन्दुभिः प्रणिननाद
१२।४२
दिशि विदिशि परस्परं न दृष्टं
१५।२
दिशः प्रसेदुर्विमलं नभोऽभूत्
३।१४
दीर्घेन्यस्तं हस्तमधिष्ठायुकमीषत्
१३।१२
दीप्तान्तरङ्गा शिखिनारणीव
३।४
दीप्त्यानिष्टं यस्य निष्कम्पमारं
११।३०
दीप्त्यारविन्दितं लोकं ७।२
दुर्गं राष्ट्रं तीर्थमरण्यं १३।२
दुःखमोचनमिष्टस्य ७।२२
दुर्जनेऽप्यनुनयः स्वभावतः
१०।७
दूरक्लेशविभीमोऽस्मिन् १८।७१
देव किं बहुनानेन ७।६४
देवाददातवितता ७।२८
देवाङ्गनापदन्यास–७।४३
देवैर्विमानशालायाम् १८।९५
देशकालकलया बलहीनः १०।३०
देहेषु भोगाय विभक्तिमागतैः
१७।७६
ध्वनत्सु तूर्येषु शिवाङ्गनासु
१६।७०
ध्वजमारुरोह गरुडोऽस्य रणमिव
१७।१२
धनुर्गुणग्राहिषु नम्रवृत्तिषु १।४०
धवलातपत्रमपि तस्य हृतम्
१७।१५
ध्रुवस्य शौर्यायतनस्य कर्तुम्
१६।५९
धीरस्तुं गां गत्वा स ८।२७

[न]

न्याय्यं सुखावहमहो भुवि २।३०
न्यूना वाणी नोपकुर्यज्जडाना
११।२३
नृणामसीनां वसुनन्दकानां ५।४०
नृपतिं तमवेक्ष्य तापसाः ४।४४
नृपहेतुरगात् पश्य ७।६१
नृपौ नृपत्वं न शराः ६।२९
नृपास्तिरीटेषु समुन्नतेषु १६।६१
नृपौ रुषाऽपातयतां ६।८
न कानि कुम्भासुरभावमाजौ
१६।१३
न किलास्ति कोऽप्यवनिमानम्
१७।२५
नखैः कुरबकच्छायैः ७।६८
न गुर्णैर्वधूभिरभितो ८।५६
न तद्भुजतटं गच्छन् १८।७७
न न्यूनानां भीतिरनूनादिति
१३।२५
न नाम प्रतिज्ञामन्तम् १८।११४
न निजो न परोऽस्ति ४।२०
ननूधसि पयोऽस्तीति १८।६१
न पुनरिदमहं करोमि १५।२४
नमस्यया संप्रति कुम्भकर्णम्
१६।१२
नयस्य शौर्यस्य धनस्य ११।३५
नयस्यावद्यस्य व्यपनयमुखेन
१३।३४

निर्याणमार्गेष्विषुभिर्विभिन्नाः १६।२७
नरचूर्णविदाहेन १८।८
न विक्रमः शरभनिपातसन्निभः २।२०
न विधुः स्मरशस्त्रशाणबन्धः १७।४९
न विषादितया यदागमत् ४।३४
नष्टं भीतैः स्थितं धीरैः ९।४८
न सोढवैराभितरौद्रहेतिः १६।४१
न संभ्रमे दिशि दिशि २।४
नागाननागा गगने १८।४५
नागायत्तं सुजित्याभिः १८।५०
नातिक्रामन्ति सरितो ७।३३
नाथोऽभ्युपेत्य विनयेन १०।४६
नानामार्गः पांसुलो दीर्घसूत्रः ११।२०
नानेष्टसहितादोहि १८।१३५
नापत्यघाते प्रतिमुच्य ५।२८
नामाददानैः पृथ्वं परेषां ५।६४
नामोचितेन चक्रान्तम् १८।९६
नालं न्यधित्सद् भुवि ३।१३
निकटसुलभमुद्गमं विहाय १५।१०
निचितमलकमल्पमौक्तिक- १५।४१
निजतो हि धराराधो १८।१३८
निजदुःसुतं कुलमिवाशु १७।३२
निजपौरुषं हि पुरुषस्य कवचम् १७।१०
निभुवनमधुनिद्रामोदशेषैकभारम् १७।८७
निनदेन तस्य मिहिरस्य शरभ १७।१३
निपीड्यासनमावेद्य ९।१५
निपीय रक्तं सुरपुष्पवासितं ६।३७
निर्बद्धोच्चैरावतमुच्छीकरसेकं १३।६
निश्वासमुष्णं वचनं निरुद्धं ५।८
निशम्याक्रान्तजगतः ७।१६
निःशेषोऽप्यधिवृषि १४।१४
निषेकदिवसः ९।४२
निहत्य निस्त्रिंशशर्गलि तदीयाम् १६।७७
निगमाभिनदैः शिखण्डिनां ४।४६
निजपूर्वया रुचिरपाण्डुरुचा १७।४३
नीत्वा पार्श्वेनोभयेनापि निद्राम् १७।९०
नीत्या यो गुरुणा दिशः १८।१४६
निरुत्तरां कर्तुमनिष्ट १७।६२
निवेदयद्भ्यः सुतजन्म ३।१६

[प]

पृथ्व्याः पातालकक्ष्यान्तः ९।३
पृथु विहितव्रता वनं १५।३
प्रकोपनिर्मीलितरक्तलोचनं १।४२
प्रजिष्णुः पार्वतीयाश्च १८।१२६
प्रणयकलहकैतवं प्रणामं १५।७
प्रणिपतदिव वारि पादयो– १५।३५
प्रत्याहृतं सुराजानन् १८।८६
प्रतिकर्त्तुं परीभावं ७।२१
प्रतिनिनदमयासीद्देवतूर्य- ६।५१
प्रतिमितविधुबिम्बसीधुपानात् १७।५८
प्रतिरोप्यतां तदियमत्र शिला १२।४५
प्रथममधरे कृत्वाश्लेषम् १७।६५
प्रथमस्तनयोऽभिषिच्यतामिति ४।२
प्रपासभासार्थनटाश्रमव्रजे- १।१८
प्रभञ्जनाकुलाशोक- ७।६०
प्रभविष्यतः कलियुगाद्भयतो १२।३१
प्रभिन्नकक्षीवति लोल- ६।१८
प्रभावतो बाणचयस्य मोक्तरि ६।३१
प्रभावितारातनयस्य वीर्यम् १६।३५
प्रभा विमानं समुपेत्य ५।४२
प्रभाविरामस्य सपत्नसन्ततेः १।१७
प्रभाविशारदं वीर्यं ७।२७
प्रभावे रोचनीयस्य १८।१
प्रमत्तानेकपालोल- ९।३३
प्ररोपयप्रयभुवि २।२२
प्रवालमुक्ताफलशङ्खशुक्तिभि- १।३२
प्रविश्य पुरमाराध्य १८।१३३
प्रशमय रुषितं प्रिये प्रसीद १५।२२
प्रस्वापनास्त्रमसृजत् १८।१५
प्रसह्य ताभ्यां परलोक- ६।२२
प्रसार्य पादावधिरोप्य ६।३८
प्रसेदुषि स्थितिमति यत्र २।२८
प्राणान्कृत्वान्यत्र कथंचित्तव १३।२३
प्रासव्योमासङ्गमोघं १४।३२
प्रापूरयत्प्रभस्त्रासः १८।१४
प्रियमद इदमेतदित्यपूर्वं १५।४
प्रियसंगमात्प्रथमसङ्गमरिक्त १७।९
प्रियेषु गोत्रस्खलितेन- १।३१
प्रौढे मन्त्रिणि तन्त्राज्यं ९।१०
प्रोर्णवीदथ सौपर्णः १८।५२
पञ्जरे किल करोति किं शुकः १०।२९
पटलः पटक्षौमदुकूलकम्बलं १।३३
पटुः सुपटविस्तार - ७।६५
पणवाः प्रणिनेदुराहता ४।२२
पतत्रिनादेन भुजङ्गयोषितां ६।१६
पतितस्तरोः शकुनिविश्लिचितः १२।२६
पतिर्मृगाणां गजबृंहितेन ५।५१
पतितसकलपत्रा तत्र,कीर्णारिमेदा १६।८५
पद्मपाणिरशोकाङ्घ्रिः ७।६६
पद्मरागप्रभाजालं ७।४९
पद्मस्योदर्कसन्तापं ७।३
पदघातजासदरि मुक्तवरं १२।३७
पदप्रयोगे निपुणं ३।३६
पथिपाण्डुराजकुलवृद्धिमतः १२।९
पथि पथि परिरक्षतो दिगन्ता- १३।३८
पथि सोऽवरजोऽग्रजं ४।५१

पथः श्रमं नेतुमपेतभारैः- १४।३६
पयसि भयमवेत्य योषितां १५।३४
पयोधरभराक्रान्त- ७।३४
परतस्तमांसि पुरतोऽस्य १७।२९
परतो नतं जघनपार्ष्णि- १२।१६
परितः पतद्भुजगपंक्तिरसौ १२।४१
परदारग्रहाविष्टः ९।४०
परभृतशुकसारिकाविरावाः १५।२१
परस्परं वेंगितमाप्नुवन्तौ १६।२४
परस्परमपश्यन्तः १८।१३७
परिचितमभिगम्य लीलया १५।३८
परित्रया बहुभरणेन च २।३
परिमोह्यमाणमाशयम् १७।४२
परिपीडितमुक्तमङ्गनायाः १७।६१
परिषजति परस्परं समेत्य १५।१९
परिहृषितमुखं कुचद्वयं १५।४४
परिहृतैरिह तैः कृतबुद्बुदैः ८।५
परेऽपि ये यैर्विघृता नरेन्द्राः १६।८०
परोत्तापनशीलस्य ९।२५
परं न दृष्ट्वाक्रममाणमिन्दुम् १७।५३
परं वचित्वा पुरि देवदारु १।३६
पलायांचक्रिरे नागा १५।५७
पश्यन्निव पुरःशत्रु- ९।३१
पशुवच्छादयन्भीरून् १८।११
पादघातविहितं चिरभाग-१४।३७
पुरतः स्थितं परिचितम् १७।३४
पुरी पयोधीन् कुलपर्वतानपि १।११
पुरो रिपोरपारोऽपि १८।१०३
पुरोहितावर्तितजातकर्मा ३।१९
पुरः प्रसक्ते धनुषा द्विषद्भ्यः १६।५०
पुष्पं प्रवालमखिलं स्ववनस्य १५।५०
पूर्वं परं ज्योतिरुपार्च्य देवं ३।२०

[ब]

बद्ध्वासवे प्रेमवधू प्रियेऽपि १७।७३
बभुः पुराणाः स्फुटिता ५।५५
बभौ महल्लोहितसम्भृतं ६।४२
बलिमानर्चयावेद्य १८।१०६
बलेन यः स्वयमनिलोऽपि २।२९
बलीयसोऽपि द्विषतां निहन्तु- ११।३३
बहुविधमवलोक्य नाथमानं १५।२५
बहुधातुगणाकीर्णान् ७।५५
बाजी वायुमयं जवं जवमयं १४।३१
बिभ्रत्सदाशाननिरूढदीप्तिम् १६।७१
बुद्धिसत्त्वबलभाग्ययोग्यतां १०।३१
बोधातिरेकाय सरस्वतीव ३।३
बोधाम्भोधौ यः समाधीन्दुवृद्धे १२।४९

[भ]

भ्रूभङ्गमात्रेण परस्य भङ्गम् १६।४७
भटा जुहुराणरथद्विपं नृपाः १।३७
भयादवेदोद्गतमङ्गनानां ६।४८
भवेयुरन्ते विरसाः १८।३
भरतः स्थितः स खलु यत्र १७।३७
भान्त्येतस्मिन्मणिकूलरङ्गा– ८।७
भियेदमिति नैकोऽपि १८।७८
भीमः क्रमात् धर्महरः ३।२८
भुज्यतेऽवारपारीणम् १८।६३
भुवस्तलं प्रतपति संभ्रमन् २।१५
भुवि दिशि दिशि कश्चित् १६।८३
भुवि कोकनिष्ठ इव तत्र १७।३८
भुवि पुष्पमपूरि गुल्फकं ४।२५
भूर्जद्रुमस्येव विहायसश्चेत् ५।४१
भूर्जायते प्रदेशेऽस्मिन् ७।४५
भूरिरभ्रभरो रेभौ १८।४३
भूरिस्तम्बेरमेकान्ते ७।१०
भेत्तुं नारिः शक्यतेऽरातिगुह्या ११।२६
भोगसागरपरिक्रमचौरान् १७।५२
भोगः स एव सा संपत् १८।८५
भोजकाः सुखनिबद्धसम्पदः १०।१३

[म]

मृगनाभिजं परिमलं १२।१९
मृत्वा जीवित्वैव च यस्मिन् १३।१९
मृदुरासवाराजननः ७।२९
मञ्जुलमुक्त्या मृदुगलमुक्त्या ८।३३
मज्जनेषु मनो गूढं ९।१७
मतङ्गजानामधिरोहका ६।४१
म[illegible]सु[illegible] चमूम् १८।१६
मत्तवारणमारुह्य ९।७
मदच्युतानीरदनादबृंहिता १।४४
मदोत्तमाद्रेयबलेभसारे १४।२५
मध्यस्थितं मण्डलधर्मबद्धम् १७।६३
मध्यस्थवृत्तमपि वञ्चति १५।४७
मधुरमभिहितो न भाषते १५।३०
मन्दरागः स्वयं साक्षात् ७।५६
मन्दोदर्यामिच्छसि चित्तव्यतिपातं १३।२०
मनोभिरामप्रमदां विशन्तीं ८।३५
मणेः प्रत्युरसस्यासीत् १८।२६
मम यदि युवतिं विशङ्कसेऽन्यां १५।२३
महाकुचभराक्रुष्ट- ७।११
महानिवेशं कुचभारमेका ८।३९
महीक्षितां दाक्षणबाहुवेशो १६।६०
महीं समुहन्तमिवाक्षिपन्तं ५।२६
मा ज्ञाप्यस्मि निरस्त्रोऽहम् १८।९१
मातङ्गप्रभृतिपदाभिघातधूतः १४।१७
मातरिश्वैकवृत्तेऽस्मिन् ९।२४
माधवेन मधुना स्मरेण वा १७।४८
मानो व्यतीतः कलहं व्यपेतम् १७।६०

मामूरं गतयुतनौप्लवं १४।१२
मिलिताङ्गदं पतिसुखाय १७।३६
मुखकृतकपटाः प्रमत्तचित्ताः ५।६७

[य]

यत्रोद्वेगे मूर्छति शोकेन यमस्त्री १३।९
यथायथं विजिषु २।८
यद्दूरं निकटतरं हयाः १४।१५
यदपायि पयः सुतेन ४।१०
यद्यप्युक्तं दूतमवध्यं हृदि १३।२४
यद्वंशस्य प्राभवं लोकरूढं ११।१०
यदा ध्वरित्सदरिमदित्सदेव २।२१
यद्धातकी यद्वलिभस्सरङ्गी ८।२३
यदि रजतयाविना नृपाः ४।५३
यदीदृशमिदं रूपं ७।८६
यदेष राज्ञः प्रथमं परिग्रह- १०।४३
ययुर्विदेशं विदिशं ६।१२
यशोऽवकाशस्य विधित्सया ६।७
यस्यां नाथाः सप्रभावा- ११।१
यस्य द्विषां शृङ्खलखङ्कृतानि १०।३९
यस्याः समीपेऽम्बुनिधि- ८।२९
यः पूतनामादरमुक्तवृत्ति १०।३६
यः साम्राज्यं प्राज्यमध्यक्षमेवा ११।२९
या कौशल्या रूपशीलेन २।३२
यावन्निमेषः पतितोऽपि १६।६१
याष्टीकन्ते स्मरव्यग्रा १८।२२
याहत्तेशादृते सीता १८।१०७
युक्ताः कुशलताभोगै- ७।३६
युगबद्धमिमं भरं भुव- ४।१२
येऽस्मी मायामयायामाः १८।१२०
ये कुन्त्यां अननमिताविभासवन्तो १४।७
येन श्रीरुद्धता मुक्ता- ९।१३
योऽधःस्थितोऽशोकतरोरभासीत् १२।४८
योऽन्यमर्थमणमप्यतिक्रम- १०।३५
योऽपि ना हनुमानाजेः १८।६८
योऽयेयायथियायायम् १८।२७
योऽर्जुनोऽसौ स कृशोऽपि १८।६९
योऽलक्कर्मीणोऽपि स एवं १३।२६
योनलोमरमितः कदनेषु १०।१८
यो लङ्केशीत्यापतिमायाद्दिशि १०।३७
यौवनं तव न वैकृतं १०।३

[र]

रत्नोपायः शक्यते केन कर्तुं ११।१२
रजश्छलेन दुर्दानम् १८।८७
रत्नाजिनेष्वाजिभराबशेषात् १७।५५
रथप्रयुक्तस्य हयस्य ६।२५
रथाङ्गनामा विरही १।४६
रथानिमेऽन्ये च समम् १६।१७
रथान्ततूच्चैः पदतोऽवतेरुः १६।६५
रथान्वसावेशविवृत्तचक्रान् १६।७३
रथेषु तेषां जगतीभुजां ६।२०
रथो वरूथस्य हयस्य वाजी १६।८
रणमेकार्णवं कर्तुम् १८।४४
रणे प्राणाः सदातिथ्यम् १८।६२
रम्यभावोदयादिक्षु ७।५३
रम्याः पदार्था इव ५।६३
रविमण्डलोत्थित इवान्य- १२।३
रवेरावरणं चापी १८।४१
रसेषु हेमे कुसुमेषु कुङ्कुमे १।३४
रागादेः सह वसतोऽपि तापवृते- ५।४४
रागं नेत्रे नैव चित्तं मुखं च १७।७५
राज्ञां सरेणुः कलुषः स्वभावो १६।९
राज्ञस्तथा सुप्रजसः कुलस्य ३।३०
राजसन्दर्शने व्याघ्रौ ७।२४
रात्रिवृत्तमखिलमेवमनूद्य स्वम् १७।८८
रुद्धं शिलोत्कीर्णं- ५।६२
रूपमेव तव शीलमुदारं १०।२४
रैरोऽरिरीरुरुरारा १८।२१
रोमराजिलतावृद्धे- ७।७५

[ल]

लक्ष्मीं खलामुभयभागितया १७।९१
लघु मोद्गमद्द्रुमणिरप्युदियात् १७।८४
लिपिं स संख्यामपि ३।२४
लूनम्लानमृणालाभ- ७।८१
लूनं खलीकृतं नैव १८।११८
लोकातिरिक्तमनयोर्बल- ६।५२
लोको वितपमानेन ९।२३
लोलध्वजौ बहुद्वाजि- १८।३४

[व]

व्यद्धं परागानतपूर्वकायाः १६।२८
वृत्तस्कन्धः पत्रसमृद्धः १३।१६
व्यवादरीणां द्वीपेषु १८।१२९
व्यापिपद्व्यापि पयोऽसौ १८।८४
व्रततिषु गहनासु कापिलानं १५।१४
वक्रशीलां भ्रुवोरेव ७।७८
वक्रोक्तिमुत्प्रेक्षणमङ्गबन्धं ८।४५
वक्षसासौ पुरोभागम् १८।१२
वज्रावर्त्तं धनुर्मित्र- ९।३५
वणिक्पथे खनिषु २।१३
वर्ष्मीभिर्विमथितमग्रय- १४।१६
वधूगृहे वधिरकिरातवामनं २।१७
वनराजौ प्रवालोष्ठ- ७।७६
वनेऽसूरिरिपूनेव १८।५८
वप्राणां रम्यतालक्ष्मीः ७।१८
वर्मोप्यात्रपदीनानि १८।४८
वरमिह ततः स रामो- १०।४५
वरूथिनीलङ्घनमन्यसैन्यम् १६।३६
वरैन्तुङ्गो वर्धनमिच्छ- १०।३८
वयांसि मुष्टेरगतानि ५।५८
वसुनोपचितेन सम्भवेदिह ४।१८
वाचमेवमुपकर्ण्य कर्णयोः १०।११
वाजीभविपिनेऽप्यैये १८।११३

वादयितारं प्रियदयितारं ८।३२
वाराङ्गनानृत्यपतिता:पताकाः १६।८७
विकाशः कोऽपि कान्तीनां ७।७२
विक्षिप्तपुष्पशयनाः ७।३७
विगणय्य परस्य चात्मनः ११।३९
विगणय्य तदैवमंहसो ४।११
विचित्ररत्नप्रतिभाविशालं १४।३५
विजयाय जय स्वमादितो ४।१३
विद्यानवद्यैः कवचानि शस्त्रैः १६।७५
विद्याबलेन विभवेन ११।३४
विद्याधराधिगुरुणा ७।८५
विदेहसङ्कल्पजसम्भवायाः ८।३६
विधिना खलु दीयतेऽखिलं ४।१७
विद्युतव्ययः क्षणमवाप भुवि १७।१८
विद्युतोऽभ्युदितो दिगन्तरम् १७।४१
विधुरास्ते भयापेत: १८।९०
विधूय लीलाम्बुजमुत्पलाशं ८।४०
विनिपातितं विनिहितं १२।६
विनिरूप्य स दर्पणे जरां ४।३
विनिवार्य तं निजकरेण १७।३९
विनीतवेषमाकारं ७।६९
विभीषणाभ्युन्नतकुम्भकर्ण- ८।५१
विमुक्तं दूरमभ्रान्तै- ७।९
विमुखः फलं विधिरिवाशु १७।१६
वियति सिद्धगणोऽप्युपवीण- ६।५०
वियोगे लघुमत्तुङ्गम् १८।१३१
विवर्ज्य यः प्रियमहिषीं २।१२
विवशोऽपि चित्रमवलोकमयम् १७।१७
विवर्धितानतिकठिना २।२५
विवांसि भान्वीरिव ६।१३
विविधानि वसूनि वाहनं ४।१५
विरथश्चिरेण विहितोऽपि १७।२०
विरामभूमिः कमनीयतायाः ५।३
विलासभावेन विलम्बमानं ५।४
विलोकभावेषु सहस्रनेत्रताम् १७।७२
विलोलनेत्रेषु कुशाग्रवृत्तिषु १।४१
विश्वेन वारिणा तस्मिन् ७।१७
विश्लेषणं वेत्ति न ५।१०
विशदं यशोऽखिलदिशं १२।४
विशश्रीरनितां चञ्चु ७।१३
विशालकूटाः सुखवासहेतवः १।२४
विशीर्णहारा हतकीर्णशेखरा- १।२६
विशुद्धवंशानि गुणानतानि ५।५७
विशेषसूत्रैरिव पत्रिभिस्तयोः ६।१०
विसारिभिः स्नानकषाय- १।१२
विहाय सारमुद्वेगं ७।९३
विहाय स्वानि सद्मानि ९।२७
विहाय चापव्यवहारमुग्रं ५।२
विहिताखिलसत्त्वरक्षणं ४।१४
वीचिबाहुभिरालिङ्ग- ७।७
व्रीडावासः स्वान्तमङ्गं समस्तम् १७।७४
बीभत्सं रणरुचिरङ्गदोर्जित- १४।२२
वीरारिर्वैरवारी वै १८।२७
वेगिनीमिह पश्यामि ७।६२
वेगोऽस्त्येति प्रतिदिश- ८।१५
वेलया विहितकार्यसाधनं १०।२५
वैरायते मे मतिरस्ति ५।२९
वैरं तु कामं समुपेत्य ५।७
वैशाखोन्मथनोत्कम्पाद् ७।४७
वंशावतारं जगतीपतीनां ५।४६

[श]

श्वासानुबन्धात्परिताप-५।९
श्लथं द्विरेफाकुलपुष्पभारं ८।३७
शङ्खानकारावमयी पतीनां ५।४८
शङ्खा निनेदुः पटहा- ५।५४
शत्रूणां दण्डकक्षेत्र-७।३१
शनैः समारुह्य नभोऽनुरागम् १७।४६
शवाः शिवानां मुखतीय-६।४०
शरधाराभिवर्षेण ७।२३
शरप्रवाहदुर्गेऽस्मिन् ७।५८
शरेण चूडामणयः ६।२१
शरैः समस्तः खरदूषणो रिपुः ६।३५
शशिनस्तुलां समुपयाति १२।१०
शस्यकं हरितग्रास-७।५०
शार्ङ्गं पिनाकं धनुरिन्द्रचापं ५।११
शार्ङ्गाणि चापानि समुत्क्षिपन्त- ५।३१
शान्ताराये सारिकाद्यप्रवेशे ११।२
शालस्य हर्म्यस्य च गोपुरस्य ८।४६
शिथिलय हृदयं न मेऽनु- १५।२६
शिरोषतोऽन्यमीत्सायि १८।८९
शिष्टैर्जुष्टं रक्षितं दण्डनीत्या- ११।४
शीतोऽम्भःकरिणां ७।९५
शुद्धं निसर्गेण कलङ्कवद्यम् १६।७
शुद्धां शुद्धान्तवसतिम् १८।१०२
शौर्यस्थितिविषमाभयादवोत्थं १४।८
शौर्यं ह्रीश्च कुलीनस्य १८।९३
श्रव्याणि वाचालतयैव ५।१८
श्रवणाञ्जलिनेक्षणेन सुभ्रुवा १७।५४
श्रवणेषु मृदङ्गनिस्वना-४।२४
श्रवसि शिरसि कृत्स्न-१५।१५
श्रिया विलोलो भरतो ३।४०
श्रियं जगद्बोधविधौ १।१
श्रीदशार्हकुलजाः किल १०।१२
श्रीधीनीतिस्थितिप्रीतेः १८।१२२
श्रीपार्थः सपदि हरिस्तथा १४।१
श्रीमत्तरलतोपेताः ७।४६
श्रीमतां श्रुतवतां १०।२
श्रीवधूहरणवैरबन्धनः १०।९
श्रीवाग्देव्योर्वक्षसि वाचि १३।१४

श्रीतः सुरकुलं हीनम् १८।१२४
श्रुत्वा भग्नान्द्रुत १३।२७

[स]

स्कन्धस्था मदकरिणः १४।२
स्तनतापसूनमवनम्रनलं १२।१८
स्तनजघनभरेण भूरिणा १७।६६
स्तनभारोविकगुरु- ९।६
स्त्रीणां शुक्लैः सामिकटाक्षैः १३।१३
स्थाने मातुलपुत्रस्य ७।२५
स्थलकमलपरागपिञ्जरागः १५।१७
स्थिते समर्थे सति दक्षिणाङ्गे १६।४८
स्थिरप्रकृतिरादेयः १८।६
स्थिरसमुद्गसमुद्गकौतुका- ८।२०
स्थिराक्षरान्तं युधिशब्दपूर्वम् १६।३३
स्थेयान्माहाकुलः स्वान्ते १८।५
स्नेहाद्वहन्ती क्षणमुत्कटाक्षा ५।३७
स्मरार्ता वारुणीभूत- ७।४०
स्वकुलं समलंकृतं गुणै-४।५२
स्वगोचरं जल्पमविस्त्रि- ८।४९
स्वच्छवृत्तिरसिकं मृदु चार्द्रम् १७।५९
स्वजानि कार्याणि निरूप्य ५।३४
स्वजीविते निर्विजसे ५।२४
स्वम्मलमान्तरङ्गमखिलं ८।१६
स्वमर्पयन् गुरुमधिदेवतामिव २।७
स्वयं समानम्य शरासनानि ५।५९
स्वप्नेन सोमं निशि वीक्ष्य ३।१०
स्वपत्यं विधिनिग्राह्यम् १८।१४०
स्वयं परान्नामयसीति- १६।१८
स्वपुरग्रामतायत्तम् १८।१३६
स्वपूर्वकायं प्रविशद्भिरर्वैः १६।७२
स्वक्षया सहोच्छ्वसितसूतगतिः १७।१४
स्वस्यारेश्चायोधयन्मित्रमित्रं ११।११
स्विन्नवान् स हरिचन्दन-१०।१६
स्वैरञ्जनानन्दनमाशुकारैः १६।३४
स एष संभूय समुद्यतात्मा १६।४३
सकलत्रमुपेक्ष्य सत्कुलं ४।३५
सघनागमो निजशुचिः १२।७
सङ्क्रीडितं स्यन्दनचक्रजातं ५।४७
सङ्ग्रामरङ्गं शवनृत्यरम्यम् १६।६
सञ्ज्ञानकोनाशमतेरपेता ३।२७
सज्जाम्बवः क्षोभणमभ्यगच्छन् १६।४०
स जातिमार्गो १।४
स मञ्जिहीर्षन्निव जीवलोकं ५।५२
सत्यतो विभया व्यूहे १८।१०५
सत्यग्रेसरसीतापहारि-९।५
सद्यः संभ्रमसंपातैः १८।१००
स तिर्यगन्वक्पुरतश्च ६।११
सतीं श्रुतस्कन्धयने १।२
सदृशोदयास्तमयवृत्तिरजनि १७।२६
सदृशौ बलेन समकालमधिकृत १७।१९
सद्गुणास्तव नृपैः १०।४
स दरीमुखेन नतकुब्जतनुः १२।३८
स दिदृक्षाममायासीत् १८।५६
स दुरानमकोदण्डो ९।४९
स धृतव्यजनेन जनेन ८।४८
सन्तापवर्द्धितं जातं ९।२८
सन्तिष्ठन्ते सान्त्वमात्रेण ११।२५
सन्दिग्धेऽस्मिन्सत्पथे ११।२४
सन्नयेन गते गेये १८।१२९
स नवाजिषु लब्धविक्रमः ४।३१
स निवर्त्य समन्वितान् ४।३७
सपदि न तदवेयुषी १५।४३
स पताकमुदात्तनायकं ४।२३
स परेण तदा जितां महीं ४।३६
सपुष्पशय्याजगतीलतागृहाः १।२२
स प्रभाविक्रमं भूमेः १८।७३
स प्राज्ञमाहाकुलशूरसङ्गं ३।२३
सबलाकिका नवतृणा १२।२१
सभ्रूयुग्मं वैरविरुद्धं १३।२२
सम्भाषणेनापि न मे ५।२१
समन्ततोऽभ्युद्गतधूमकेतवः ६।१७
समजन्यायतोऽन्यान् १८।११७
समयासीदसौ जन्यम् १८।१२८
समयाचक्रिरे खेयम् १८।१२७
समागधैर्योऽनुगतः सहायैः १६।५
समातुलानीतनयैः स्वबन्धुभिः १३।३३
समासवदसौ लोपं ९।३६
समुद्गिरन्ती नु शकान् ५।६१
समुच्छ्रिते यत्परिधौ १।२१
समुत्पतन्तो दिवि रेणवो-६।३९
समुन्नताम्भोजकुलाभिनन्द्यां ८।२५
समुद्रं हा न्यायं विदधद-१४।२९
स मेनेऽनेन सामर्थ्यम् १८।३५
समं द्विषन्तः शुकसारिकाभि- ३।१८
सर्पवेणी विसर्पन्ती १८।४९
सर्वकर्मीणमूर्ध्वज्ञम् १८।१२५
सर्वत्र विषयेऽमुष्मिन् ७।६३
सर्वज्ञमभ्यर्च्य महामहेन ३।९
सर्वस्यास्मिञ्जन्मनि जातस्य १३।१७
सर्वस्वादुर्योधनेनार्जयित्वा ३।४२
सर्वः कुमारः सुकुमारमूर्तिः ३।३१
सरक्षोवरजो राज्यम् १८।१०९
सरसीजलप्लवहिमस्तमसौ १२।४६
सरसीह मज्जति करिण्यलिनां १२।२०
सरितः सरितो नगान् ४।४५
स रुषायुधं विषमिवाहिः १७।५
स रोपणान्वञ्च मयि ५।११
सलाक्षिकपदन्यासाः ७।३९

सव्यात्युक्षौ नाडिविमुक्ते- १३।२८
स वानराणां पतिरप्रसेनः १६।३७
स वामङ्क्षु द्रोणोऽथविलम् १७।४०
सवितापि संहृतिमियाय १७।२३
स विपन्नबन्धुमुपदृश्य १७।२२
स विषाणविधूतरोषसं ४।४७
स वैरिणा श्रीमदनेन ८।५७
स शात्रवाणां हृदि शल्यमुद्धरन् ६।२८
स श्रीशैलोदीर्णबलेन प्रजिहानः १३।१
स सदसि हृषीकेशेनोच्चै- ८।५८
स सागरावर्तधनुर्धरो ६।२३
ससास स स सांसासि १८।१९
स सूर्यहासं किमसि ६।२७
ससेरस्रैः सुसंसस्रे १८।७४
स हस्ताभ्यां चमूहस्तौ १८।१३
सहस्थितं विस्मृतमङ्गमंशुकम् १७।७१
सहसा वल्लकीहस्ता ७।८
स हरिप्रबोदयमुदीक्ष्य १७।४४
सस्ताः स्रजः शिथिलितानि १५।४८
साकूतोच्छ्वसितावद्यं ९।२१
साक्षादलङ्घ्यो दिवसो नु सोऽयम् १६।१०
साङ्गुल्यायेऽप्यमस्तुच्चै- ७।६
सान्ध्यं रागं रत्नमयूखैर्विदधानं १३।११
सानुवृत्तोरुसम्भोगा ७।३५
साम्नारब्धे शात्रवे किं ११।१९
साम्ना मित्रारातिपातो ११।१७
सामजा मदवशान्मतिहीना ५।६६
सामाजिकैर्नृपजनैः पिशिताशिवर्गैः १६।८६
सामिमीलदहो चक्षुः १८।३९
सारङ्गैर्द्वं संगतसत्त्वैरयथुक्तं १३।१०
सारङ्गैः कृतमणिमण्डनैः १४।५
सिञ्चद्भिरिव लावण्य- ७।१२
सितासिताम्भोरुहसारितान्तराः १।२६
सिन्दूररेणुः करिकर्णतालैः- ५।४३
सुग्रीवः सपदि पराक्रमेण ९।५२
सुनिश्चितमपि शून्यमाभासते १३।४०
सुवर्णमय्यः शुचिरत्नपीठिका १।२५
सुरभिवितरितुं प्रसूनमेका १५।११
सुरासुरातिक्रमविक्रमस्य ५।६
सुसाहायतया सुसहायतया ८।५३
सुहृज्जनं कर्शयति यः २।२४
सुहृदयमसुदेयं प्रेम मेऽन्योऽन्य- १३।४२
सूता नृपाणां युधि ५।५६
सूर्योऽभ्युदेष्यति कदाजिभरः १७।८९
सेनां विष्णोरथरमयौ १३।४३
सेनैवं विरचितपार्श्ववाजि- १४।२१
सैव्याग्रामानरहिताः ७।५४
संकेतेषु प्रियोपेता ९।२२
सोऽयं नगर्याः परिखायमाणो ८।२१
सौदामिनीदामचितेव ५।४५
सौन्दर्यवर्ग्येऽप्यवरोधवर्गे २।३३
संतप्तस्तपनमरीचिभिः १४।१८
संविधाय बहुमानमुच्चकैः- १०।२७
संरम्भिणाधान्वनवेन मुक्तः १६।१६
संहरन्निव भूतानि ९।३२

[ह]

हता हया न द्विषतां प्रतापा १६।६४
हतः करेणुः पतितः पदातिः १६।६९
हतैकपादं युधि तस्य ६।२६
हरितो हरितो बिभ्युः १८।१११
हरिः क्रान्तमतं भूत १८।१०४
हरिणा जिनाभिषवणोन्मनसा १२।३२
हरिविष्टरमध्यमास्थितः ४।२९
हस्तच्युतास्त्रमाकम्पम् १८।७०
हस्तच्युते गते क्वापि १८।८१
हस्तं कृपाणे हृदयं स्थिरत्वे १६।३
हिममुष्णहतस्य यत्सुखं ४।९
हृतोऽपि चित्ते प्रसभं १।६